सत्यनाम.

+ उपहार +

श्रीमान्........................................

आपको यह ग्रंथ सादर भेंट किया जाता है। आशा है, इसे स्वीकृत कर कृतार्थ करेंगे।

आपका,

........................................

॥ स्वामी हनूमानदासजी कबीरपंथी ॥

श्रीसद्गुरुचरणकमलेभ्यो नमः ।

नमोस्तु सर्वपूज्येभ्यः । सत्यं विजयतेतराम् ॥

# ॥ भूमिका ॥

यस्यात्र स्मरणादेव क्षीयन्ते विघ्नराशयः ।
उल्लसन्ति च सौख्यानि तं वन्दे चिद्घनं गुरुम् ॥१॥
नैदाघकिरणे वारि यथा यस्मिन्निदं जगत् ।
इच्छामात्रेण संजातं तं वन्दे पावनं परम् ॥२॥
सच्चिदानन्दरूपो योऽज्ञामलाक्षयविग्रहः ।
परिणामाद्यलिप्तस्तं सदा स्वान्ते स्मराम्यहम् ॥३॥
प्रणमामि परं सत्यं पौनःपुन्येन सद्गुरुम् ।
कबीरं यत्कृपालेशात्सन्मार्गे मे मनो गतम् ॥४॥
निरतिशयसुखाय जन्तवो ह्यपहृतये च शिवेतरस्य वै ।
यवहृतिमखिलां हि कुर्वते गुरुकरुणादि विना न सिद्ध्यति ॥५॥

चित नभ माया मन घन छाया ।

विमल भान भानू ढकि सो पुनि, हृदय भूमि नियराया ॥
दुर्वासना कुकर्म वायु पुनि, मिलिया ताहि सहाया ।
सुखदुःख विपत वारि धारा करि, सब जीवन जहडाया ॥
काम दमक दामिनि जिमि छिनछिन, क्रोध वज्र घहराया ।
तृष्णा तरुण तिमिर की वृद्धि, कामिन के मन भाया ॥
मत्सर मर्मभेदि चल मारुत, ईर्ष्या शीत समाया ।
ताते थर थर काँपे सब जग, भ्रमत कुशल नहिं पाया ॥

हरिगुरु कृपा विमल मारुत से, जो घन सहित सहाया।
नशै उगै पुनि विमल भानु नभ, नशै दुखद जडताया॥
हनूमान हरिभक्ति शरण गुरु, जाय करहु तजि माया।
दीनबन्धु हरिहैं सब संकट, श्रुति सब सन्तन गाया॥१॥

यह अति प्रसिद्ध और सर्वमान्य सर्वानुभवसिद्ध बात है कि सब जीव अपनी २ समझ और शक्ति के अनुसार सर्वोत्तम अविनाशी सुख की प्राप्ति और दुःख की अत्यन्त निवृत्ति की इच्छा करते हुए कुछ न कुछ व्यापार विचारादि अवश्य करते हैं; परन्तु ज्ञानविज्ञान के हेतु पूर्व के अतिशुभ कर्म भक्ति सुवासना हरिगुरु की कृपा आदि बिना उक्त सुख की प्राप्ति और दुःख की अत्यन्त निवृत्ति कदापि हो नहीं सकती। जो सत्पुरुष पूर्वजन्म के शुभ कर्म भक्ति आदि के बल से इस जन्म में शुभ वासना का और हरिगुरु की कृपा का पात्र, दयालु, अहिंसक, सत्य क्षमा सतोषादि का आश्रय हैं, उनके लिये महात्मा लोग विराग विचारादि का उपदेश देते हैं, शमादिनिष्ठा फरमाते हैं। और विरागशमादिनिष्ठ होने पर उनको आत्मपरमात्मोपदेश के उत्कृष्ट अधिकारी समझते हैं, और उनके ही लिये वस्तुतः सर्वांश अद्वैत तत्त्व का उपदेश प्रधानरूप से करते हैं।

इसी प्रकार सद्गुरु कबीर साहब ने अपने बीजक ग्रन्थ में, उक्त मुख्य अधिकारियों के लिये, आत्मतत्त्व का निरूपण किया है। और उसका श्रुति आदि से समन्वय किया है। जैसे कि " तत्त्वमसी इनके उपदेशा॥ जाको मुनिवर तप करैं, वेद थके गुण गाय। सोई देव सिखापना, कहिं न कोइ पतिआय॥ वेद कहै सो नहिं करै, समुझै ओर कि ओर। चौरासी के धार में, कबहि न पावै ठौर॥" औ

वेदादि से निजवाक्य का समर्थन करने पर भी सद्गुरु की महिमा को वेद से भी अधिक बताया है । जैसे कि " वेद नकल है जो कोइ जानै । जो समझै तो भलो जु मानै ॥" भा. स्क. ११ अ. २०।६ इत्यादि के वचन हैं कि–" योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयो विधित्सया । ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित् ॥ निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु । तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम् ॥ यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान् । न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः ॥ " कर्मादिसाध्य विषयलोकादिविषयक वैराग्ययुक्त त्यागी के लिये ज्ञानयोग है । विरागरहित आसक्त पुरुष के लिये निष्काम कर्मयोग उपासनादि हैं । जो न अत्यन्त विरक्त है न अत्यन्त आसक्त है, दैवयोग से हरिकथादि के प्रेमी हुआ है, सो भक्तियोग के अधिकारी हैं । आसक्ति आदि रहित विवेकी अत्यन्त विरक्त को जब हरिगुरु कृपा से ज्ञान की प्राप्ति होती है, तो वह दुश्चरित्र रहित शान्त समाहितात्मा अविनाशी सुख की प्राप्तिपूर्वक दुःख से नित्यमुक्त हो जाता है । ज्ञान विना वास्तविक मुक्ति किसीकी नहीं होती, यह सब वेद और सत्-शास्त्र और सन्त महात्माओं का अटल सिद्धान्त है । ज्ञान रहित केवल विराग या सगुण सकाम भक्ति जपतपदानादि से प्रकृति में विलय या लोकान्तर में प्राप्ति आदिरूप दु:खशून्यावस्था सुखविशेषावस्था स्वर्गादि की प्राप्ति भले ही होती है, परन्तु गमनागमनादि रहित अखण्ड जीवन्मुक्तिपूर्वक विदेहमुक्ति ज्ञान विना नहीं हो सक्ती । "तरति शोकमात्मवित् । छा. ७।१।३॥ ब्रह्मविदाप्नोति परम् । तै. २।१॥ तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति । श्वे. ३।८॥ तमेव ज्ञात्वा मृत्युपाशाञ्छिनत्ति । श्वे. ४।१५॥" आत्मा को जान करके ही पुरुष शोकरहित होता है । ब्रह्मरूपता को प्राप्त करता है, मृत्युरहित होता है । मृत्युपाश को नष्ट करता है, इत्यादि ।

सद्गुरु कबीर साहब इस अर्थ का इस प्रकार कथन करते हैं कि "ज्ञान अमरपद बाहरे, नियरे ते है दूर। जानै ताको निकट है, अनजाने को दूर॥ रमयणी ३०॥ तीनि लोक टीड़ी भया, ऊड़ा मन के साथ। जाने बिन भटकत फिरै, परै काल के हाथ॥ साखी ९८॥ अबकी बार जो करै चुकाव। कहहिं कबिर ताकि पूरी दाव॥" ज्ञान ही अमर (अमृत–मोक्ष) पद (स्थान) है। उससे बाहर (रहित) रहनेवाले, नियर (पास) की वस्तु से दूर हैं। ज्ञानी के लिये पास में ही मोक्ष सुख है, अज्ञों के लिये दूर लोकान्तरादि में कल्पित मोक्षसुख है। "दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च, पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम्। मुण्डक. ३।१।७॥" इस आत्मतत्त्व के ज्ञान विना तीनों लोक के वासी जीव वनपतङ्ग के समान भटकते हैं, और काल के वश में पड़ते हैं। जो इस मनुष्य जन्म में ही ज्ञानाग्नि से कर्मवासनादि बीजों का चुकाव (चुन्ती–नाश) करते हैं, उन्हींकी दाव पूरी होती है, पूर्णपद मिलता है, इत्यादि॥

इस रहस्य को जानने विना ही बहुत लोग, कबीर साहब को भी गमनागमनशील लोकान्तर के वासी मानकर ऊपर२ लोकों की मिथ्या कल्पना किया करते हैं। यों तो निवृत्तिमार्ग के परम प्रधान अधिकारी आचार्य होने के कारण, सद्गुरु कल्पान्त पर्यन्त हम दासों का निरीक्षण करते हुए भी जीवन्मुक्त असङ्गस्वरूप से सदा वर्तमान हैं; परन्तु वे किसी एक देश के अभिमानी नहीं हैं, सब देश उन्हींका है, और सब देश में वही सत्य हैं॥ जहाँ उत्कट भक्ति से खोजो वहाँही हाजिर हजूर हैं। जैसे भगवान् विष्णु शिव कहीं चले नहीं गये हैं। वे भक्तों की रक्षा के लिये प्रवृत्तिमार्ग के अधिकारी ईश्वर हैं। ऐसे ही सद्गुरु

को निवृत्तिमार्ग के अधिकारी ईश्वर समझना चाहिये। नहीं तो भक्तों को कैसे मिलते हैं? आज जो कोई उनकी स्तुतिवन्दना करता है, उसे वे कैसे सुनते हैं? यदि वर्तमान नहीं हैं।

यदि कोई कहे कि वे तो विदेहमुक्त सर्वथा कर्तव्यरहित हो गये, उनके रूप से माया मिलती है, तो सो कहना ठीक नहीं। जडस्वरूपा केवल माया गुरु का काम नहीं कर सकती। उसका फंसाने का काम है, उबारने का नहीं। यदि कहो कि माया जिनके वश में है, सो अनन्तशक्तिवाला भी ईश्वर गुरुरूप से मिलते हैं, तो वस्तुतः तो ईश्वर में जगत् की साधारण (सामान्य) कारणता है। विशेष कार्यों के लिये विशेष अधिकारी ही सदा संसार में नियमित हैं। ईश्वर में सर्वशक्ति है, और हम सबके हृदय में सर्वात्मा ईश्वर वर्तमान हैं; परन्तु आँख का काम आँख ही करती है, कान या नाकादि नहीं कर सकते।

यदि मान भी लिया जाय कि ईश्वर सद्गुरुरूप से मिलते हैं, तो सदा शुद्ध ईश्वर ही भक्तेष्ट संपादन के लिये परगुरुरूप होते हैं, और महान्२ आचार्य गुरु नेता बनकर संसार का समय२ के अनुसार उपकार-उद्धार करते हैं, ऐसा मानने में क्या क्षति है? इसी आशय से तो सनकादि शंकराचार्यादि को भी ईश्वरावतार कहा गया है। शिष्य भक्त के लिये ऐसा मानना उचित ही है। यदि कोई अनीश्वरवादी नास्तिक हो, तब तो फिर कहना ही क्या है। जैनी भी अपने तीर्थंकर को ईश्वर कहते हैं। केवल संसार की उत्पत्ति आदि के लिये ईश्वर को नहीं मानते हैं।

मैं तो अपनी भक्तिदृष्टि से सद्गुरु कबीर साहब को भी निवृत्तिमार्ग का अधिकारी ईश्वर सदावर्तमान मानता हूं, गुरु का नाश नहीं मानता

हू। शरीर के व्यक्ताऽव्यक्तभाव होते हैं, सो ब्रह्मस्वरूप गुरु की महिमा है इत्यादि। यदि कहा जाय कि ब्रह्मा विष्णु आदि के मरण का तो कबीर साहब ने ही वर्णन किया है, फिर उनमें वर्तमानता कैसे हो सकती है? तो इसका यह समाधान है कि अनन्त कल्प में अनन्त ब्रह्मा आदि अधिकारी होते हैं, और कल्पान्त में लीन होते हैं। इस से भूत कल्पों की दृष्टि से, उनके अभाव का वर्णन है, और वर्तमान कल्प के सब वर्तमान हैं, परन्तु व्यक्तरूप से नहीं रहने से उनकी मृत्यु भी व्यक्त दृष्टि से कही जा सकती है। तथा उनका भी कितने प्रकार का स्वरूप है, सो आगे मूल के टिप्पण से समझिये।

और सद्गुरु ने कहीं विराग के लिये, देवभावादि की वासना का निवारण के लिये, और कहीं २ अभ्युपगमवादादि से अनेक प्रकार से वर्णन किया है। अच्छीतरह पूर्वापर प्रकरण मिलाइये स्वयं शंका नष्ट हो जायगी। और भक्ति उपासना के विषय में सद्गुरु ने कहा है कि "अर्व खर्व ले द्रव्य है, उदय अस्त ले राज। भक्ति महातम ना तुलै, ई सब कौने काज॥ एक शब्द में सब कहा, सबही अर्थ विचार। भजिये निर्गुण राम को, तजिये विषय विकार॥ कहहिं कबिर जो रामहि जानै, सो मोहि नीके भाव।" इत्यादि।

कबीर साहब प्रधानरूप से निर्गुण भक्ति बताते हैं, और कहते हैं कि जिस राम ओंकार की भक्ति से सर्वथा कल्याण होता है, सो राम सर्वत्र व्यापक तो है ही; परन्तु गुरु ज्ञानी के हृदय देह में वह प्रगट है। इसलिये ज्ञानी गुरु को परमात्मा रूप ईश्वर का नित्यवर्तमान अवतार रूप जानकर उन्हें सेवो, पूजो इत्यादि। परन्तु ऐसे

नहीं कि देहदृष्टि से सेवो, किन्तु देह को तो मायामय मन्दिर समझो, और उसमें वर्तमान प्रभु को पूजो। फिर दूसरा मन्दिर और मूर्ति बनाने की कोई जरूरत नहीं समझो। दश अवतार को भी माया कहने का सद्गुरु का यही तात्पर्य है कि व्यक्ति-व्यवहारादिरूप मन्दिर माया का है। फिर कुछ आगे चलकर अपने देह मनोमन्दिर में प्रभु का दर्शन करो और प्रथम नाम को ही उस प्रभु की सुन्दर मूर्ति समझकर एकान्त में उसका यथाशक्ति जप सुमिरण करो; परन्तु ऐसा न हो कि तुच्छ विषयों के लिये नामादि का जप सुमिरण करके भक्तादिपन के अभिमानी बन जावो; क्योंकि "साँची नेह विषय माया सें, हरि-भक्तन की फांसी। कहहिं कबिर एक राम भजे बिनु, बाँधे यमपुर जासी॥" मायिक विषयों में सत्य बुद्धिपूर्वक प्रेम ही हरिभक्त कहाने-वालों के लिये फांसी तुल्य है। इससे सांसारिक स्नेह का त्यागपूर्वक केवल निर्गुण राम की भक्ति बिना अवश्य बंधायकर यमपुर जाते हो। इससे सब लोक विषय आकारादि को त्याग कर, या लोक आकारादि को निर्गुण प्रभु के मायिक मन्दिर जानकर नामादि द्वारा उसे भजो, और अन्त में नाम को भी कल्पित मायिक ही समझो— "दश अवतार ईश्वरी माया। दशरथ सुत तिहुँ लोकहुं जाना। रामनाम का मर्म ही आना॥ हृदय बसै तिहि राम न जाना॥ चौंतिस अक्षर से निकले जोई। पापपुण्य जानैगा सोई॥" इत्यादि कथनों का उक्त भाव है और "माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद" इस महाभारत के भगवद्वचन का भी उक्त ही भाव है।

निष्काम जप सुमिरण से ही सब काम भी सिद्ध होते हैं, और अन्तः करण की शुद्धि सर्वदेवमय सगुण निर्गुण हरिगुरु का अनायास ही

दर्शन . कल्याण होता है–" कहहि कबिर कामो नहीं, जीवहिं मरण न होय।" जीव के हृदय में विषय लोक मानबड़ाई आदि की कामना न हो तो इसको पुनः मृत्यु न हो, यह सद्गुरु की प्रतिज्ञा है। ज्ञानी गुरु मूर्ति में ईशभक्ति के विषे भी इतनी विशेष बात है कि जो कोई ज्ञानी भी राजस तामस त्याग वेष चालवाला होता है, उसके द्वारा ईशभक्ति करने से मन पर राजस तामस भाव प्रथम अवस्था में अवश्य प्रगट होते हैं। इसलिये सात्विक गुरु का सेवन करना चाहिये, और वस्तुतः सब गुण के अभिमान रहित साधरण वेष कपटमायादि रहित हों तो उन्हें साक्षात्परस्वरूप समझो। ऐश्वर्य विभूति आदि की जरूरत मुमुक्षु को नहीं रहती, ज्ञान शान्ति वैराग्य मात्र से मुमुक्षु को जरूरत है। बुमुक्षु अपनी इच्छा के अनुसार सेवता ही है इत्यादि।

निर्गुण सगुण भक्ति का यह गुप्त रहस्य है कि जैसे पक्षी या हवाई जहाज आकाश मार्ग से गमन करता है। तहाँ उसका मार्ग आश्रयादि तो शून्य आकाश ही सर्वथा गमनकाल में रहता है; परन्तु आकाश के निश्चिन्ह होने से मार्ग भूल न जाय, इसलिये वृक्ष नदी आदि भूमि के पदार्थों द्वारा सब आकाशगामी अपने मार्ग का स्मरण करते हैं; परन्तु चलते निश्चिन्ह आकाश ही में हैं।

इसी प्रकार निर्गुणोपासक भक्त केवल अवलम्ब मार्ग स्मरण के लिये नाम आकारादि को मानते हैं; परन्तु शून्य आकाश की नाईं निरवयव परिपूर्ण सच्चिदानन्द में उनका मन विचरता है। पूर्णब्रह्मनिष्ठा काल में नामाकारादि स्वयं छूट जाते हैं। नामाकारादि में वे लोग कभी आसक्त नहीं होते। और जैसे भूमिगामी को अवकाश के लिये आकाश की जरूरत अवश्य होती है;

परन्तु यह चलता भी भूमि पर है, मार्ग भूमि पर रहता है, चिन्ह भूमि पर रहता है तैसे सगुणोपासक भक्त भी विभुत्वादि से निर्गुण का आश्रयण अवश्य करते हैं; परन्तु उनका मन रूप ऐश्वर्य लीला विभूति आदि में ही विचरता है इत्यादि।

जो पुरुष पूर्वजन्म के अतिशुभ कर्मवाला, वर्तमान काल में अति वैराग्यादि युक्त नहीं हैं वे यदि सकाम भक्ति कर्मादि भी करें तो हिंसा झूठादि से रहित होकर करें। हिंसा आदि कभी नहीं करें। इस आशय से सद्गुरु ने कहा है कि–"जिव जनि मारहु बापुरा, सबका एके प्राण ॥ सांच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप। जाके हृदया साँच है, ताके हृदया आप ॥" इत्यादि। "सत्यं वद। धर्मं चर ॥ नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः। नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥" इत्यादि श्रुतियों का भी उक्त ही भाव है। दुश्चरित्र का त्यागपूर्वक शान्त समाहित मन से सत्य धर्म परायणता विना न परमात्मप्राप्ति होती है, न लोक में सुखादि मिलते हैं। हिंसा असत्य चोरी व्यभिचारादिक ही दुश्चरित्र कहे जाते हैं।

भाव है कि जो पुरुष पूर्व के अतिसुकर्मा नहीं भी है, परन्तु इस जन्म में किसी संस्कार ईश्वरकृपा गुरु–अनुग्रह से यदि कहीं श्रवण करले कि– "अहिंसासत्यमस्तेयमकामक्रोधलोभता। भूतप्रियहितेहा च धर्मोऽयं सार्ववर्णिकः ॥" अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अकामिता, अक्रोध, अलोभ, सब प्राणी के प्रिय और हित की इच्छा करना, सबका हित की कामना करना, यह सब मनुष्य, सब वर्ण का धर्म है। इत्यादि। और गुरु शास्त्र में श्रद्धा होनेके

कारण यदि वह पुरुष हिंसा आदि का त्याग करे, तो इस जन्म में वा भावी जन्म में अवश्य सुवासना गुरुहरिकृपा का पात्र बन जाता है।

और धर्म के निवृत्ति प्रवृत्ति दो रूप हैं। तिनमें हिंसा लोभ चोरी झूठ व्यभिचार परद्रोहादि से निवृत्तिरूप कर्म प्रधान हैं। इनसे निवृत्त होने बिना दान पूजापाठादि प्रवृत्ति कर्म गजस्नान की नाईं व्यर्थ हो जाते हैं। इसी आशय से सद्गुरु ने कहा है कि– "पण्डित वेद पुराण पढत हैं, मोलना पढैं कुराना। कहहिं कबिर दोउ नरक परे, जिन हरदम राम न जाना॥ मुअरहिं दूध पिलायके, राखा पलँग सुताय। गुरु के शब्द चीन्है नहिं, फिर चहले को जाय॥" इसलिये दुश्चरित्ररूप पापकर्म हिंसादि से निवृत्त होकर ही यथाशक्ति दानदयाभक्ति पूजापाठादि सत्कर्म आदि श्रेष्ठ फल के हेतु होते हैं इत्यादि।

और एकेश्वर एकात्मतत्त्वादि का इस बीजक ग्रन्थ में अति सुन्दरता से प्रतिपादन किया है, तथा परस्पर की प्रीति आदि का निष्पक्षपात भाव से जैसा इस ग्रन्थ में उपदेश दिया है, उस विषय में यही कहना उचित होगा कि इस अंश में ऐसा कोई ग्रन्थ नहीं है। अस्तु। ऐसे अपूर्व ग्रन्थ के ऊपर कई टीका प्रथम से वर्तमान हैं। फिर मेरी प्रवृत्ति क्यों हुई? इस विषय पर कुछ कहना आवश्यक है, इससे थोड़ी बात कहता हूं। बिना टीका और अर्थ के ही इस ग्रन्थ से जो बचपन से ही मुझे उपकार हुआ सो वचनागोचर है, हृदय ही जानता है। कुछ अधिक अवस्था होने पर जब इसका अर्थ जानने की इच्छा हुई तो बहुत पूछनेताछने पर कुछ पता नहीं लगने से इसीके अर्थ को समझने के ही लिये शास्त्राध्ययन में प्रवृत्त हुआ; परन्तु

रोगादि वश जब उससे भी चित्त उपराग हुआ, तो परमपूज्य प्रातः-स्मरणीय निजाध्यापक महामहोपाध्याय पं. श्रीहरिहरकृपालु गुरुजी महाराज बहुत ढाढस सतोष देकर शास्त्राध्ययन में प्रवृत्त रखा और पुत्र-प्रेम से पढ़ाया। फिर कुछ विचारादि करके इस बीजक का अर्थ मैं कुछ समझ पाया। उसके बाद उक्त गुरुजी महाराज बीजक के विषय में दैवयोग से कुछ पूछ पड़े। फिर एक ९ वीं रमयणी का अर्थ सुनाने पर उनकी आज्ञा हुई कि इसकी टीका आप लिखें। तो प्रथम मेरी इच्छा नहीं थी परन्तु गुरु-आज्ञा को शिरोधार्य करके एक हिन्दी वृहद् टीका लिखी। जिसमें यह भी लिख दिया कि मैं इसके बाद कुछ नहीं लिखूंगा। गुरुजी सब टीका बाचते रहे जब वह पंक्ति आई तो उसे काट दिये, और कहे कि 'यह नहीं निबहनेवाली बात है। फिर फतुहा के महन्तजी महाराज उसे छपवाये, परन्तु वह टीका बहुत विस्तृत होनेके कारण सर्वोपयोगिनी नहीं हुई। इससे अपने मन में उसके सुधारा की इच्छा हुई। फिर कभी थोड़ा साखी प्रकरण के श्लोक बनाकर गुरुजी को देखाया, तो उनकी आज्ञा हुई कि सम्पूर्ण ग्रन्थ पर ऐसे ही श्लोक लिख जाइये। फिर उनकी ही आज्ञा को शिरोधार्य करके श्लोक लिखे गये हैं। सब श्लोकों को बाँचने सुधारने वास्ते भी श्रीमान् कष्ट उठाये हैं। कोई २ श्लोक छपने से पहले नहीं देख पाये हैं। और कुछ टिप्पण भी नहीं देख पाये हैं। उनके देखने के बाद महामान्य शास्त्री **श्रीविचारदासजी साहब** ने भी छपते समय भी यथाशक्ति सुधारा किया है। अपनी भूल अपने को शीघ्र नहीं मालूम होती, इसलिये उक्त महापुरुषों से इसे सुधरवाया गया है। और प्रुफ (पूर्वरूप) देखने आदि में श्रीमान् **पं. मोतीदासजी** तथा श्रीमान् **पं. किशोरदासजी** छपते समय

निःस्वार्थ भाव से बहुत सहायता किया है। इससे इन महापुरुषों का मैं कृतज्ञ हूं।

सर्वोपयोगिता के वास्ते मैंने अपने मन से बड़ी टीका के सारभूत हिन्दी टीका भी किया है, परन्तु यह सब बात सर्वेश्वर सद्गुरु और उक्त गुरुजी की कृपा से ही हुई है। अपूर्व २ टीका बनी हुई हैं, मैं तो केवल गुरु-आज्ञा का पालन, और इसीद्वारा मनन किया हूं। जो कोई सज्जन इसमें व्याकरण कोशादि की त्रुटि पायेंगे, सो सुधार लेंगे, और सूचना देंगे कि जिससे द्वितीयावृत्ति में सुधारा हो जायगा। यद्यपि मैं व्याकरणवन के बीच होकर एक बार निकल गया था, परन्तु कोश साहित्यसागर का तो कुछ भी अवगाहन नहीं किया। उसमें कारण है कि बहुत अधिक अवस्था में शास्त्र में प्रवृत्ति हुई। इससे इस ग्रन्थ में अशुद्धि रहना आश्चर्य नहीं है। अशुद्धि न होना ही आश्चर्य है। यद्यपि श्रीमान् गुरुजी तथा शास्त्रीजी देखे हैं, तथापि देखने के लिये अधिक अवसर नहीं मिलने से तथा दृष्टिदोषादि से जो अशुद्धि रह गई हो, उसका सुधार के लिये उक्त नम्र निवेदन है। और उनके देखने पर छपते समय भी बहुत हेरफेर किया गया है। इससे मेरी अनवधानता से ही अशुद्धि की आशंका है, इत्यादि।

लोकहित और प्रचार के वास्ते इसे छापने का अधिकार बडोदा-सियाबाग, कबीर प्रेस को दिया गया है। इस ग्रन्थ के मूल और संस्कृत टीकाटिप्पण में रहे हुए अशुद्ध अक्षरों के सिवाय पाठ में हेर-फेर नहीं कर सकेंगे। और फोटो भी इसी प्रकार का रहेगा। भाव की रक्षा करते हुए हिन्दी टीका का सुधार कर सकेंगे और यदि मेरा

शरीर रहते द्वितीयावृत्ति का अवसर आवेगा, तो हिन्दी सुधारा को भी मुझे देखा लेंगे। और सद्गुरु कबीर साहब के उपदेश का प्रचार के लिये योग्य मूल्य में अधिकारियों को देंगे। किसी कारणवश जब यह प्रेस नहीं छाप सकेगा, तभी दूसरे सज्जन कबीर प्रेम की अनुमति से छाप सकेंगे, अन्यथा नहीं।

और अबकी बार इसके प्रकाशन में जो धर्मप्रेमी सद्गुरु कबीर साहब के कृपापात्र सज्जन लोग तन मन धनादि से सहायता किये हैं, उनके नामादि निम्न लिखित हैं, और उन्हें अनेकों धन्यवाद हैं।

१ सेठ मानचन्ददास कुबेरदास, बजाजरोड़, कुबेरभवन, वीलेपारले, मुम्बई.

२ डाह्याभाई चुनीलाल, सीतापुर (यू. पी.)

३ मेहता मणिलाल तुलसीदास, रावपुरा कोठी, बड़ोदा.

४ पटेल परसोत्तमदास सांकलचन्द, वडनगर (उत्तर गुजरात)

५ कबीरप्रेस, सियाबाग, बडोदा.

इन पाचों स्थानों में अबकी यह पुस्तक मिलेगी।

लेखक, सर्वजनशुभाकाङ्क्षी, हनुमानदास, पो. मु. स्थान फतुहा, जि. पटना.

---

सत्यनाम ।

# संशोधकस्यावेदनम् ।

अयि मोक्षमार्गपथिकाः ! किमालोकि भवद्भिः करुणावरुणालयानां संसाराब्धिनिमग्नजीवोद्धरणैकव्रतानामार्य्यानार्य्यसमात्मतत्त्वोपदेशकानां प्रातः स्मरणीयपूतनाम्नां धीराणामाध्यात्मिकवीराणां सद्गुरुकबीराणां विश्वविश्रुतोऽयं बीजकाभिधो ग्रन्थः ?

अत्र हि– द्वैताद्वैतसमुद्भेदैर्वाक्यविन्यासविभ्रमैः ।
क्रीडन्त्यबुद्धाः शिशवो बोधवृद्धा हसन्ति तान् ॥

तथा—ज्ञाततत्त्वावबोधस्य यथाभूतात्मदर्शिनः ।
बुद्धिर्भवति चिन्मात्ररूपा द्वैतैक्यवर्जिता ॥

इत्याद्यभियुक्तोक्तदिशा—

अद्वैतं समपेक्षते श्रुतिजुषां द्वैतं परं भेदकृत्,
द्वैतं द्वन्द्वकरं न मोक्षपथिकश्रेयस्करं कर्हिचित् ॥
इत्यालोच्य विशेषतो गुरुवरैस्तत्तद्वचोभिर्मुदा,
द्वैताद्वैतभिदापसारणपरैस्तत्त्वं परं वर्णितम् ॥

परमतत्त्वस्य नितरां निगूढत्वात्तदीयद्वैताद्वैतविनिर्णये,

'न विजानामि यदि वेदमस्मि निण्यः सन्नद्धो मनसा चरामि ।
यदा मागन् प्रथमजा ऋतस्यादिद्वाचो अश्नुवे भागमस्याः ॥

( ऋ. सं. २।३।२२।२ )

इत्यादिरूपेण वेदमूर्धन्य ऋग्वेदोऽपि संदेग्धि किमन्यस्येत्यलं पल्लवितेन ।

ग्रन्थरत्नस्यास्य हिन्दीभाषोपनिबद्धा बह्वयष्टीकाः सन्ति । श्रुतिस्मृति-प्रमाणोपबृंहिता श्रीमद्गरीबमाहश्चपथप्रथिकेन श्रीबोधानन्देन विनिर्मितास्त्येका प्रौढा संस्कृतगद्यमयग्रन्थस्य व्याख्या । तस्या हि मुद्रितानि सन्ति मत्सविधे द्वित्राण्येव पत्राणि । मन्ये कालहतकेन निरुद्धमुद्रणा सा तावत्पर्यन्तमेव संमुद्रय विनष्टा । परं संस्कृतपद्यमयी न कापि व्याख्यास्याद्यावद्दृक्पथ-मवतीर्णा । एतद्विरचनेन श्रीस्वामिहनुमद्दासमहोदयैः संस्कृतज्ञानां महोपकारः कृतः । व्याख्येयं श्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासादिप्रमाणैः संवलिता सरलया सरण्यार्थबोधनपरा च । मन्ये बीजकार्थपारावारस्य परे पारे संयातुं सेतुरूपैव ।

सेतुर्यथा हनुमता जलधेर्व्यधायि,
पारे प्रयातुमखिलस्य हि संघकस्य ॥
व्याख्या तथेयमखिलार्थसुबोधदक्षा,
सेतूपमा हनुमता विहिता सुधन्या ॥

प्रस्तुतग्रन्थव्याख्यानरूपस्य महानिबन्धस्यास्य संशोधनकार्ये महता प्रेमाग्रहेण स्वामिमहोदयैर्नियुक्तोऽहं यथाशेमुषि संशोधनमकरवम् । तथानुष्ठितेऽपि दृष्टिदोषाद्बुद्धिदोषान्मुद्रणादिदोषाद्वा संजातास्त्रुटयो विज्ञ-पाठकैः क्षम्यन्तामित्यभ्यर्थयेऽत्रभवतां वशंवदो— विचारदासः

गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः ।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः ॥

शुभमितिवैशाखशुक्ला पूर्णिमा, संवत् १९९६ वैक्रमवत्सरः ।

# विषयानुक्रमणिका ।

# अथ शब्दानुक्रमणिका ।

## रमयणी प्रकरण ।

## शब्द प्रकरण।

## शब्द प्रकरण।

# अथ प्रकरणानुक्रमणिका

रमयणी प्रकरण ।

शब्द ।

## शब्द परिशिष्ट.



## कहरा.



## विप्रमतिसी.



## हिंडोला.

पृष्ठ

# । शुद्धिपत्रम् ।

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृ | प |
|---|---|---|---|
| यदन्येना | यदन्नना | ८ | २० |
| दशगुणा सि | दशगुणसि | ३१ | १७ |
| नाशयति | नाशयन्ति | ४७ | ३ |
| तृ फल ८ | तृण फल | ५८ | ८ |
| सम्य | सम्प | १२१ | ६ |
| स्वकल्याण | स्वकल्याण | १२७ | ३ |
| मात्रशुभेच्छाराला | शुभेच्छामात्राला | १३१ | १४ |
| रात दिन च | रातदिन की नाई | ,, | १४ |
| स्वरूप च | स्वरूप को | १३६ | १४ |
| तल्लाभौ | तल्लाभो | १४० | ३ |
| झूठी ही म | झूठी ही में | १४८ | १६ |
| ऽत्रयासूछति | प्रवासूछति | १८१ | २३ |
| तुरुङ्गिन का | तुरुङ्गिनी | २०० | २४ |
| ऽत्रशोभते | सुशोभते | २१६ | २० |
| सद्गुरु वाक्य | सद्गुरु क वाक्य | २२१ | २२ |
| किमु | किल | २३६ | १५ |
| षड्डुर्मि | षड्डूर्मि | २४५ | १२ |
| करते हा | कहतेहो | २५३ | १३ |
| प्रज्ञपा | प्रज्ञेपा | ४७० | ७ |

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृ. | पं. |
|---|---|---|---|
| द्या त्रिंशत् | द्याऽऽत्रिंशत् | ४५४ | २२ |
| ये हि कुवर्तते | कुरुते हि यः | ४६५ | १५ |
| जीवन्चेव | जीवन्तो वै | ४६७ | १८ |
| युक्तप्रिय | युक्तः प्रिय | ४७६ | ७ |
| स्यन्दशीलो | स्यन्दनशीलो | ४७९ | १३ |
| वावनाश्रव | वागनाश्रैव | ४९४ | १५ |
| स्त्गॅ | सर्गे | ४९८ | २२ |
| तस्माच्छवः | तस्माच्छ्वः | ५०८ | १९ |
| वासो वृक्ष | वासोवृक्ष | ५२५ | २१ |
| वाणी गति | वाणी की गति को | ५३६ | ४ |
| टढो | टेढो | ५४६ | १८ |
| खलो | खैलो | ५६९ | ५ |
| का च्छये | काच्छ्ये | ,, | १६ |
| श्रति | श्रुति | ५७५ | |
| निश्चल | निश्चय | ५७६ | |
| पद | पद | ५८० | २ |
| ऽसये | ऽमत्ये | ५८७ | १ |
| विद्यापतन् | विद्यादातृन् | ५९२ | १ |
| न्यमजज् | न्यमजन् | ६०५ | १ |
| तृष्णादि | तृष्णाशादि | ६०८ | |
| कवट | केवट | ६२२ | |
| यत्न | रत्न | ६२४ | |
| तारूप | तापरूप | ६२५ | |

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृ. | पं. |
|---|---|---|---|
| तटस्यैव | तटस्थस्यैव | ६२८ | १५ |
| भीतर | भितर | ६३० | १९ |
| पानी या प | या पानी प | ६४२ | ११ |
| एके कु | एक कु | ६६५ | ६ |
| ह कु | है कु | ६८९ | १७ |
| दास्यन्यं | दासीन्यं | ६९२ | १६ |
| शोधिनी | शोधिनीं | ६९३ | १५ |
| बन्धनात् | बन्धात् | ७०४ | ५ |
| तत्रस्थाप्य | तत्राऽऽस्थाप्य | ७५३ | ४ |
| विध्यैव | विद्ध्यैव | ,, | ५ |
| भविष्यति | भविष्यसि | ७५९ | १७ |
| मृतिमुखं | मृतिमुखं | ७६८ | ६ |
| रात्रृत्ति | रात्रृत्ति | ७७५ | ९ |
| मेरापन | मेरापन | ७९६ | १० |
| निग्रही | निग्रहीतं | ८११ | ११ |
| अविवेकंकृतं | अविवेककृतं | ८१६ | ५ |
| जलते२ | चलते२ | ८२२ | ३ |
| संसारो | संसारे | ८३८ | २० |
| माहाग्नि | महाग्नि | ८४० | ३ |
| एक | एकत्व | ८८५ | १ |
| स्याऽनन्तान्त | स्यानन्तानन्त | ८८८ | ४ |
| गन्यते | गन्यन्ते | ९१८ | २३ |
| कश्चिद् | कश्चिद् | ९२२ | १६ |

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृ. | पं. |
|---|---|---|---|
| ोति, होती .... .... | होती, होति .... .... | ९४७ | ११ |
| सत्यसनरो .... .... | सत्यसगरो .... .... | ९९८ | ११ |
| शक्ता .... .... | सक्ता .... .... | १००६ | ४ |
| सत्वस्य .... .... | तत्त्वस्य .... .... | १०४० | ९ |
| लव्ववान्न .... .... | लब्धवान्न .... .... | ११०० | २१ |

भवन्ति, विदन्ति, इत्यादि प्रयोक्तव्ये, भवंति विंदति, इत्यादि प्रयोगोऽशुद्धो बहुल इति न तच्छोधन कृतम्। सच प्रयोगः प्रायः प्रेसदोषादेवेति ॥

५८२ पृष्ठे ११२ शब्दश्लोके १ इत्यादि सख्यास्थाने १३ इत्यादि बोद्धव्या। एवं ७४७ पृष्ठे २५ इत्यादौ ३१ इत्यादि बोद्धव्या ॥

शरण गृहरक्षित्रोरितिकोशानुसारेणार्थद्वये शरणशब्दस्य प्रयोगः प्रसगानुसारेण बोद्धव्यः ॥

अवगुण दोष हुं मोर सव, गुण गुरु सद्गुरु केर ।
इमि विचारि सव सुजन जन, पढि हिं विमल मति हेर ॥१॥

सपरिशिष्टमूलग्रन्थसख्या ७२१ विद्यन्ते। ७१ इत्येतावत्परिशिष्टत्यागे वृद्धवचनप्रसिद्ध्यनुसारेण ६५० संख्याः समीचीना भान्ति। न जाने १० साक्षिवचनानि कथं प्रक्षिप्तत्वेन प्रसिद्धान्यभवन्॥ (सर्वजनहिताकाङ्क्षी हनुमानदास)

सस्कृतश्लोकसंख्या वक्ष्यमाणा ज्ञेया ।

| | |
|---|---|
| रमणीव्याख्या | १४५६ |
| शब्दव्याख्या | १९५७ |
| कहरादि | १०४० |
| साखी | १६६९ |
| परिशिष्टसाखी | २१ |

श्रीसद्गुरुचरणकमलेभ्यो नमः ।

# अथ रमयणीरसोद्रेकः प्रारभ्यते ।

## मङ्गलाचरणम् ॥

स्मारं स्मारं निखिलभुवनेऽसारतां +तद्विरक्तः,
ध्यायं ध्यायं परमविमलं देवमन्तर्निषण्णम् ।
पायं पायं निजहृदि लसत्सच्चिदानन्दपेयं,
गायं गायं निजगुरुगुणान् सर्वदा निर्वृतः स्याम् ॥१॥
विश्वस्योद्धृतिहेतुः स्थितिलयविधौ यः समर्थोऽद्वितीयः,
सत्याऽशोकस्वरूपः सकलकरणाऽगोचरः स्वप्रकाशः ।
जाग्रत्स्वप्नादिसाक्षी निरवधिपरानन्दरूपोऽविनाशी,
हृत्काशीवासिदेवस्तमहमविदं *यत्कृपातो गुरुस्तान् ॥२॥
अध्येतव्या निखिलनिगमा यस्य सद्बोधसिद्ध्यै,
कर्तव्यं तद्विविधविधिना कर्मजातं सदैव ।
मीमांसा सा श्रुतिशिखरिणां ×मस्तकानां यदर्थां,
भक्त्या *भव्ये ‡तदतिलघुना ह्यर्पयद्भ्यो नमोस्तु ॥३॥

---

+तेभ्यो विरक्तस्तद्विरक्त इत्यत्र कर्तृकरणे कृता बहुलमित्यत्र बहुलग्रहणाद्विभक्त्यन्तराणामपि क्वचित्कृदन्तेन समासः ॥

*अपादाने चाहीयरुहोरिति तसिः ॥

×उपनिषदामित्यर्थः ॥

*भवतीति भव्यो, भव्यगेयेत्यादिना कर्तरि यत्, भव्ये योग्ये, इत्यर्थः ॥

‡उपायेनेत्यर्थः ॥

यद्वाचमाकर्ण्य × सुधावधीरणीं नैवाद्रियन्तीह बुधाः सुधामपि।
तं दैशिकेन्द्रं प्रणमामि योगिनं ज्ञानावतारं खलु ब्रह्मणोऽपि हि ॥४॥
मायाकृतं द्वन्द्वमनन्तपारं भयावहं §नर्तुमपारयन्तम् ।
विलोक्य योऽद्वन्द्वपदं प्रदर्श्य भयापहस्तं गुरुमाश्रयेऽहम् ॥५॥
वाणीं यस्य बुधा निपीय विमलां गायंति सर्वोज्वलम्,
सर्वानन्दकरं ह्यलौकिकयशः स्वानन्दमग्ना मुहुः ।
ध्यायन् यस्य पदारविन्दमनघं भक्तश्च मोमुच्यते,
ग्राहाज्जन्मजगादितो द्रुततरं वन्दे कबीरं हि तम् ॥६॥
मूर्तिर्यस्य मनीषया हृदि धृता धैर्यं च धर्मं क्षणाद्,
दत्ते शान्तिमनुत्तमां च विततां विस्तारयन्ती यशः ।
स्वर्गं ×मोक्षसुखं च मोक्षमतुलं तद्धेतुविद्याधनम्,
अन्यद्यच्च सुवांछित तमनघं वन्दे कबीरं गुरुम् ॥७॥
पेयं सुधासमरसं वचनं यदीयं गेया गुणाश्च सततं भवबन्धमुक्त्यै।
ध्येया सदेव विमला सुजनैर्यदीया मूर्तिर्वरा तमहमाप्तवरं प्रपद्ये ॥८॥
समरसं विरसं + भववारिधौ सुशरणं * रसशालिनमव्ययम् ।
श्रुतिविदा विदितं विदुषां वरं कविवरं हि कबीरमहं श्रये ॥९॥
कलुपह करुणाकरसत्कथं त्वकथकायविराजितमोक्षदम् × ।
करुणया धृतकायमकायकं कविवरं हि कबीरमहं श्रये ॥१०॥

---

× सुधाया अवधीरण च स्वर्गतमत्यविषयसुखादीना तुच्छत्वबोधने-
प्रियतमात्मबोधकत्वेन च ॥

§ पर्याप्तिवचनेष्विति तुमुन् ॥ ,

× जीवन्मुक्तिसमाधिज सुखम् ॥ विदेहनिर्विशेषमोक्षम् ॥

+ रागविषयादियुक्तेऽपि समारे सर्वथा तैरसम्बद्धम् ।

* आत्मानन्दस्वरूपब्रह्मानन्देन सदैव दीप्यमानम् ॥

× यस्य शरीरविषये ह्रीदमित्थतया निश्चिद्वक्तु वैरपि न शक्यत
सर्वथाऽलौकिकविग्रहत्वाच्चिद्विग्रहत्वाच्च ॥

कुसरणौ प्रतिपद्य विमोहतः कुरमणे रमणाय कृतेहितम् ।
§निजदृशि प्रतिपाद्य प्रबोधकं कविवरं हि कबीरमहं श्रये ॥११॥
समुदायास्तविहीनमनीहं विमलबोधमयं गततापम् ।
गतमलं क्षयवृद्धिविहीनं विधुवरं हि भजे सुकबीरम् ॥१२॥
न वज्रधारी नच योऽसुरारिर्गतिर्न यस्याभ्रमुवल्लभेन ।
तथापि धीरं परमं कबीरं भजेऽहमिन्द्रं खलु देवदेवम् ॥१३॥
विरक्तं सुशीलं गतग्रन्थिवर्गं गतस्नेहसंदेहलेशं परेशम् ।
पवित्रं परं पावनं पापदूरं नमस्यामि तं शाश्वतं श्रीकबीरम् ॥१४॥
उदारं गुणागारसंतोषयुक्तं दयागारदैन्यादिहीनं सुशान्तम् ।
+गरिष्ठं वरिष्ठं सदा ब्रह्मनिष्ठं हितं भाषमाणं भजेऽहं कबीरम् ॥१५॥
असक्तं जितद्वन्द्वदोषं सुयुक्तमहिंसाक्षमासत्यसौम्यैकमूर्तिम् ।
शमाद्यैः सुयुक्तं मदाद्यैर्वियुक्तं गतक्रोधलेशं भजेऽहं कबीरम् ॥१६॥
गुरुं ब्रह्मभावेन वै मन्यमानं वदन्तं तथा शिष्यवर्गेषु शश्वत् ।
मुनिं ज्ञानविज्ञाननिष्ठं §स्वविष्ठं समं निस्पृहं संश्रयेऽहं कबीरम् ॥१७॥
यद्दर्शनं * दोषगणान्विहन्ति करोति सर्वं खलु मङ्गलं च ।
तं निर्मलं शुद्धतमं सुवृत्तं वन्दे सदाऽहं सुगुरुं कबीरम् ॥१८॥
शमो दमस्तोषविशुद्धसत्त्वाऽहिंसादयामैत्रिमनीषितादि ।
तपःक्षमासत्यविवेकिनादिसद्रत्नपूगोऽस्ति भजे हि यस्य ॥१९॥
स्पर्द्धादिहीनं × गतगर्वसर्वं सदैव मान्यं बुधसज्जनानाम् ।
दीने दयादानयुतं शरण्यं भजे सदाऽहं सुगुरुं कबीरम् ॥२०॥

---

§ निजटकूटरूपे स्वकीयज्ञानमार्गे वा ॥

+ अतिशयेन गुरुम्–गाभीर्यसात्विकधैर्यादियुक्तम्–अतिमहान्तम् ॥

§ विभुस्वरूपम् ॥

* यदीयस्वरूपस्य प्रत्यक्ष ज्ञान यदीयविचारात्मको ग्रन्थश्च ॥

× भावप्रधानो निर्देशः, गतो गर्वात्मकः सर्वो हृदयता यस्मात् ॥

संसाराब्धौ प्रचलितमहाकामकोपादिभङ्गैः,
त्रस्तान् ×स्रस्तान् स्वपरमगुरो पाहि लालप्यमानान् ।
जीवान् दृष्ट्वा +सपदि करुणाव्याप्तचित्तोऽभवद्यो,
मोहध्वान्तावरणहरणे संप्रवृत्तो नुमस्तम् ॥२१॥
अहिंसाशौचाद्यैः शमदमदयादाननिवहै-
र्विमृष्टस्वान्ता ये विगतमदमोहाः सुमनसः ।
असारं पश्यन्तो जगदिदमपारं त्वनुपलं,
हितं तेषामुक्तं गुरुवरकबीरैश्च जगतः ॥२२॥
‡ब्रह्मा चतुर्मुखो यो नो विष्णुर्यो न चतुर्भुजः ।
शिवस्त्रिनयनो यो नो तं कबीरं नमाम्यहम् ॥२३॥
स्वाम्नायशिखरैस्तुल्या वाणी यस्य विराजते ।
तं सर्वसुहृदं हृद्यं कबीरं गुरुमाश्रये ॥२४॥
यत्पादकमलं पोतं विधायैवात्र सज्जनाः ।
भवन्ति भवपारं तं कबीरं गुरुमाश्रये ॥२५॥
यच्चरणं हरते भवतापं यच्चरणं तरणं भवसिन्धोः ।
यद्धरणं वरमानसतोषं तं हि भजे *करुणाभकबीरम् ॥२६॥
पूर्वेषां स ×गुरुरिति वचनाद्यः परः शास्ति सत्यम्,
आचार्यस्य वपुषि स विलसत्यागमोऽप्याह तथ्यम्।

---

× स्वलक्ष्याच्च्युतान् ॥

+ शीघ्रम् ॥

‡ यश्चतुर्मुखो नास्ति तथा ब्रह्मेत्यादिभावः ।

* करुणया भातीति करुणाभः ।

× स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्, इति योगसूत्रम् ।

परिपक्वमला ये तानुत्सादनहेतुशक्तिपातेन, योजयति परे तत्त्वे दीक्षयाऽऽचार्यमूर्तिस्थः ॥ स ईश्वरः ।

देवानां च परतमरमणः सत्तमोऽद्वैतपथ्यो +,
वन्दे तं हि निखिलनिगमैर्ज्ञेयमेकं कवीरम् ॥२७॥
पठित्वा सकृदेवाहं यद्वाक्यं श्रद्धयाऽभवम् ।
महाग्राहाद् भ्रमान्मुक्तस्तस्मै किन्तु ददाम्यहम् ॥२८॥
मनो नास्ति वशेऽस्माकं कायश्च क्षणभंगुरः ।
किञ्चिद्धनादिकं नास्ति यदस्ति तत्कृतं तव ॥२९॥
अतो मे प्रणतिः शश्वत्पादयोस्ते दयानिधे ।
विधेयं मे मनस्तादृक् त्वत्स्वरूपे हि यद्वसेत् ॥३०॥
मन्त्रं यदीयमवलम्ब्य भवाब्धिमध्ये,
शिक्षातरिं च सुतरां गुरुकर्णधाराम् ।
लब्धुं सदास्मि सबलो भवभीतिमुक्त–
स्तं नौमि तं च गुरुमद्वयमात्मरूपम् ॥३१॥
* दीक्षाप्रदं गुरुवरं खलु मोहनाख्यं,
शिक्षाप्रदं च रमितागुरुमाशुतोषम् ।
विद्याप्रदं हरिहरं बुधबोधनालं,
वन्दे च यैर्गुरुवरैः प्रतिबोधितोऽहम् ॥३२॥
गुरुरात्मवतामात्मा शास्ता धाता पितामहः ।
वन्द्यश्च पूजनीयश्च तस्मै अस्तु नमो नमः ॥३३॥
ईशो मेशः सुरेशश्च गणेशः सर्वदेवताः ।
विधिः सरस्वती सूर्यस्तस्मिन्नेव समाहिताः ॥३४॥

---

+ पथोऽनपेतः पथ्योऽद्वैतश्चासौ पथ्य इति विग्रहः ॥

* दीयते विमलं ज्ञानं क्षीयते कर्मवासना । व्याख्याता तेन दीक्षेति विद्वद्भिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ इति क्वचित् शाम्बपुराणे, अ. ३९ चोक्तम् । स्नानाद्दानाज्जपाद्धोमात्संयोगादेवकर्मणः । शिरसो वपनाच्चैव दीक्षितः पुरुषो भवेत् ॥

## अथ सम्बन्धः ।

इयं प्रवृत्तिर्मननात्मिका मम श्रुतस्य वाक्यस्य गुरोर्गरीयसः ।
उपासनैव क्रियते मया त्वियं स्मृतिर्यथा स्यात्सततं गुरोर्गुरोः ॥३५॥
लब्ध्वाऽत्र मानुष्यमतीव दुर्लभं§योषिद्धिरण्यादिपरैः कुबुद्धिभिः ।
शिरःस्थितो मृत्युरतीव दुर्धरो न दृश्यते नैव च सोऽत्र वार्यते॥३६॥
मृत्युं प्रपश्येद्यदि चान्तिकस्थं भयंकरं × दुर्विषहं च सर्वैः ।
आहारनिद्रादिसुखं न + भायात् कथं नरः स्यात्तु विकर्मकारी॥३७॥
वैराग्यसद्बोधविवर्जितो नरः काम्यादिकर्मादिषु संरतः सदा ।
बद्धः पुनः कर्ममयैः कुपाशकैः प्रपच्यते वै नरकेषु *जन्मसु ॥३८॥
अतश्च बोधाय तथा विरक्तये कुर्यात्सुयत्नं खलु सद्विवेकवान् ।
ताभ्यां च भक्त्या×परमात्मलाभतो भवेत्सुतृप्तो ननु निर्वृतःसदा॥३९॥
† आर्ताश्च जिज्ञासुजनार्थकामुका बुधा भजन्त्येव परेश्वरं सदा ।
आर्ताः सुखार्थं निजबोधलब्धये जिज्ञासवो बोधविशुद्धये बुधाः॥४०॥
+ अज्ञानतो यद्धि विकर्म जायते तन्नाश्यते जातु सुकर्मणा ह्यपि ।
ज्ञानं विना नैव तु कर्मसंचयः संक्षीयते जातु सुकर्मणा क्वचित् ॥४१॥

---

§ योषिदादिः परः श्रेष्ठो येषां तैः ॥

× दुःखेन विषह्यते, खलप्रत्ययः परिनिविभ्य इति षत्वम् ॥

+ न भायात्—न रोचेत—तस्मै इति ॥

*जन्मसु—सत्सु ॥

×साक्षात्कारतो निष्ठातश्च ॥

†चतुर्विधा भजन्ते मामित्यादि गी. ।

+ प्रायश्चित्तैरपैत्येनो यदज्ञानकृतं भवेत् । कामतो व्यवहार्यस्तु वचनादिह जायते ॥ याज्ञवल्क्यस्मृ. ॥

अनन्यभावेन बुधो भजंस्ततो विशुद्धविज्ञानयुतो विराजते ।
न तत्र भेदो न च कामजं भयं जन्मादिजं तत्र भयं न जायते ॥४२॥
ज्ञानं विना मुक्तिसुखस्य कामुका ज्ञेया जनैस्ते ननु बालिशा नराः ।
कर्मानुसारेण भवन्ति ते सदा सुखस्य दुःखस्य च भाजनानि वै ॥४३॥
न कर्मणा कर्मनिबर्हणं भवेदनन्तकल्पार्जितकर्मसंचयः ।
अनन्त एवास्ति तथैव वासनाऽप्यनन्तरूपा खलु विद्यते सदा ॥४४॥
ज्ञानाच्च तुष्टो नहि कर्म तिष्ठति सवासनं नश्यति मूलनाशतः ।
तुष्टाश्च तिष्ठंति हि दम्भवर्जिता बन्धेऽमृतत्वं ह्यवबुध्य तत्त्वतः ॥४५॥
ज्ञानाद्विमुक्तिं श्रुतयो वदंति बन्धेऽमृतत्वं स्फुटमेव तेन *।
तथैव शास्त्रबहुत्वो वदंति ज्ञानस्य सिद्ध्यै लघुसाधनानि ॥४६॥
शमादिसिद्ध्यै ननु योगमभ्यसेन्निष्कामकर्मादिकमाचरेत् सदा।
शमादिसिद्धौ गुरुपादसेवया बन्धाद्विमुक्तो निजबोधतो भवेत् ॥४७॥
सद्भक्तिकर्मादिषु योगवर्त्मसु सदाऽप्रवृत्ताविह मूढचेतसाम् ।
भवेत् प्रवृत्तिर्विवशं कुवर्त्मसु बलात्प्रकृत्या नरके निपातनम् ॥४८॥
ततो ह्यहिंसादियुतेषु कर्मसु सद्भक्तियोगेषु शमादिलब्धये ।
भवेत्प्रवृत्तो न नरो विकर्मसु नात्मावघातेषु कदापि संचरेत् ॥४९॥

---

* उत्तरज्ञानादिभिः पूर्वज्ञानादीनां सुहृद्दर्शनेन शोकस्य च निवृत्तावपि तत्र नातिव्याप्तिः, तत्त्वज्ञानत्वेन विमोचकत्वस्य विवक्षितत्वात् । तेषां तु विरोधिगुणत्वादिना निवर्तकत्वं न तु तत्त्वज्ञानत्वेन । ये तु सत्ख्यातिवादिनः सत्यस्याप्यन्तःकरणादिबन्धस्य भक्त्या निवृत्तिमभिदधति तैर्हि "नासतो विद्यते भावो नाऽभावो विद्यते सतः" इत्यादि शास्त्रमथ तमेवेति मन्तव्यम् । या च सतो रोगस्यौषधिभिर्निवृत्तिं कथयन्ति तत्कारणे लयमात्रं पुनरपि रोगोत्पत्तेः प्रकृते च पुनरुत्पत्तिरहितः सकारणबाधो मोक्षशब्दार्थत्वेन विवक्षित इति संक्षेपः ॥

सत्यात्ममिथ्यात्मभिदां निरीक्ष्य गौणात्मभेदं निपुणो विलोक्य ।
तेषामहिंसामथ तद्विहिंसां निरीक्ष्य तेषां हननं न कुर्यात् ॥५०॥

मुख्यात्मनोऽज्ञानमथो विपर्ययो हिंसा तदीया कथिता कवीश्वरैः।
अखण्डसौख्यैकरसेन बोधनं भवेदहिंसा विहिता मुनीश्वरैः ॥५१॥

+विकर्मवृत्त्या तमसा प्रवृत्त्या हठैर्विपीडश्चास्य विघातनं वा ।
मिथ्यात्मदेहस्य भवेद्विहिंसा ततोऽन्यथा स्यादविहिंसनं च ॥५२॥

गौणात्मपुत्रस्य च ×शिष्यवृत्तेरशिक्षणं स्यादतिलालनं च ।
विहिंसनं तस्य च शिक्षणादि भवेदहिंसा विहिता श्रुतौ या ॥५३॥

आत्मावहिंसनमिदं त्रिविधं वदन्ति,
तस्मात्परं च विविधं मनसा वचोभिः ।
कायेन हिंसनमिदं कथितं परेषां,
हेयं सदा भवति तच्च बुधैर्विविच्य ॥५४॥
हित्वैव हिंसनमिदं स्वपरात्मनोर्वै,
कुर्याद्धितं सुमनसा वचसा शरीरैः ।
एतद्धि * धर्ममनघाः परमं वदन्ति,
तस्यैव साधनमिमे खलु सर्वधर्माः ॥५५॥

यथाशक्ति ह्यहिंसैव कर्तव्या सर्वसज्जनैः ।
अशक्ये लघु चाश्रित्य महत्तद्धिसनं त्यजेत् ॥५६॥
आत्महिंसा न कर्तव्या कदाचिदपि सज्जनैः ।
जीवन् सर्वं नरः कुर्यान्मृतः किं स करिष्यति ॥५७॥

---

+ विकर्मणि– विरुद्धे निन्दिते कर्मणि वृत्तिः स्थितिस्तया, किम्वा विकर्मणो वर्तनमाचरणं तेन। तमसा तमोगुणेन मोहेन या प्रवृत्तिस्तयेत्यर्थः॥

× शिष्यस्य वृत्तिर्यस्मिन् तस्य ॥

* इज्याऽऽचारदमाऽहिंसा दानं स्वाध्यायकर्म च। अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ॥याज्ञ. स्मृ. अ. १। ८।

अहिंसाद्यैः सुसंसाध्य शुद्धं चेतो निजात्मनि ।
स्थापयेन्नैव चान्यत्र भवबन्धविमुक्तये ॥५८॥
कायेन विहितं कर्म + हिंसाकल्कादिवर्जितम् ।
कामदम्भादिकं त्यक्त्वा शुद्धयै कुर्यादगर्वितः ॥५९॥
शास्त्रैश्च विहिते मार्गे जुगुप्सा चेद्भवेत् क्वचित् ।
*स्वप्रियत्वाद्धि धर्मस्य तमधर्मं परित्यजेत् ॥६०॥
अशक्तो विहिते मार्गे निन्दितं न समाचरेत् ।
तत्रापि च परीक्षेत देशकालादि सर्वतः ॥६१॥
कायेन मनसा वाचा यद्यत्कर्म समाचरेत् ।
बुद्ध्या विशुद्धया नित्यं तद्ब्रह्मणि समर्पयेत् ॥६२॥
सर्वं करोति वै ब्रह्म मायया सुविकल्पितम् ।
वस्तुतः क्रियते नैव न करोत्यद्वयत्वतः ॥६३॥
द्वितीयाऽभिनिवेशेन* भयं भवति नान्यथा ।
आभजेत ततोऽद्वैतं गुरुदेवात्मविन्मुनिः ॥६४॥
योऽस्त्यात्मा यश्च रामो विभुविभवशाली × गुणनिधिः,
यश्चास्ते सर्वदेवो दिवि भुवि विलासी सुखनिधिः ।

---

+ कल्कः– पापाशयः ।

* वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः । एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥ मनुः अ. २।१२॥

* अभिनिवेशोऽनाग्रहः (भेदबुद्धौ भवेदेतदवश्यं विदुषामपि । रागो द्वेषो भयं मोहो मदो द्वन्द्वानि सर्वशः ॥ इति निश्चित्य सद्वाक्यैर्वेदान्तैः स्वमनीषया । भेदबुद्धिं परित्यज्य सदद्वैतं सदाश्रयेत् ) ॥

× विभवैः सर्वशत्वादिभिः शलते सर्वान् संवृणोतीति विभवशाली, विभुश्चासौ विभवशालीति ॥

सर्वं भूत्वा प्रकृत्या विलसति सदा यो गुणपरः,
तद्देवस्यैव भक्त्या पुनरपि गुणान्धो न भवति ॥६५॥
वेधोविष्णुहरेष्वेवं त्रिगुणेष्वपि कुत्रचित् ।
तावन्मात्रे ह्यलं बुद्धिं कृत्वा सक्तो निबध्यते ॥६६॥
तत्रापि च विवेकेन परिपश्यंश्चिदव्ययम् ।
§तत्तत्तत्त्वमपि ध्यायन् मुच्यतेऽहिंसको नरः ॥६७॥
सर्वेभ्यः सारमादद्यान्मध्ये नैव वसेत् क्वचित् ।
अन्तप्राप्तौ सयत्नः स्यान्मानुष्यं तस्य शोभते ॥६८॥

गुरुं हि मत्वा भवमानवं जना भवंति तुच्छस्य फलस्य भागिनः ।
शुद्धं विदित्वा ननु बोधदप्रितो महाफलं प्राप्य पलायते भवात् ॥६९॥
लोकेषु देवेषु जनेषु चैवं शनैर्विदित्वा परमात्मरूपम् ।
स्वान्तेषु चैवं परिचिन्तयन् तं जनो विमुक्तो भवति त्वसङ्गः ॥७०॥
आत्मैव वेधा च हरो हरिश्च गुणं समाश्रित्य पृथङ् न तादृक् ।
इदं समस्तं जगदात्मरूपं तेष्वस्ति बोधश्च बलं नचाऽन्न ॥७१॥
यदा जनो भिन्नतया निषेवते *गुणांस्तदा सेव्यतया स पश्यति ।
गुणात्मिकेयं ननु बन्धनप्रदा माया तयाऽसौ त्ववशं निबध्यते ॥७२॥
यदा जनो भेदमपास्य दूरतो निषेवते क्वापि परं चिदव्ययम् ।
तदा विधूयात्मविबोधतो ह्यमूं परात्परे ब्रह्मणि मोदते सदा ॥७३॥

---

§ एतदभिप्रायेणैव सद्गुरुणोक्तम् ( रजगुण ब्रह्मा तमगुण शंकर सत्त्वगुणी हरि सोई ) सर्वात्मा राम एव तत्तद्गुणैर्ब्रह्मादिनामको भवतीत्यर्थः । तत्तन्नामका देवविशेषा जीवास्त्वन्य एव, तत्रापि च तत्तद्गुणविशिष्टस्य रामस्य ब्रह्मण एव शक्तयोऽभिव्यज्यन्ते, इति भावः ॥

* बीजकग्रन्थे ब्रह्मादीनां जन्ममृत्युवश्यतादिवर्णनं गुणाभिमानिदेवाभिप्रायकं न स्वरूपाभिप्रायकमिति मन्तव्यम् ॥

आत्मैव ×रामः स च कृष्ण उच्यते ब्रह्मैव चात्मा न ततः पृथग्घि सः।
योग्यादिभिर्ध्येयतया विवक्षितो रामेति शब्देन निगद्यते परः ॥७४॥

अरींश्च कर्षन् स हि कृष्णशब्दभाग्,
ब्रह्मेति वृद्धेरभियोगतो भवेत्।
प्राणान् विकर्षन् स च जीवशब्दको,
मायां वशीकृत्य परेश्वरो भवेत् ॥७५॥

स्वयं न जीवो न च वा परेश्वरस्तथापि रामो रमतेऽत्र सज्जनः।
धैर्येण सद्धारणया च संयुतो विभेदमुक्तः स यतिर्विराजते ॥७६॥
उपाधिभेदान्निखिला भिदा भवेदुपाधिभेदो हि गुणप्रभेदतः।
गुणेषु भेदो मलशुद्धिभेदतस्तयोस्तु भेदः कृतकर्मतो भवेत् ॥७७॥
कर्मादिभेदः खलु पूर्वदोषत उपाधिभेदाच्च हि तत्र भिन्नता।
चक्रेण तुल्या परिवर्तमानता हीत्थं त्वनादिः किल वर्तते भवे ॥७८॥
तत्रैव मूढः परिवर्तमानो बिभेति शश्वन्निजकर्मदोषात्।
विद्वान् विलूयात्र विभेदजातं विराजते दोषभयादिमुक्तः ॥७९॥
अनादिभेदस्य भवस्य मूलतो निवृत्तये वित्तिरलं निजात्मनः।
विचारवैराग्यशमादितश्च सा प्रलभ्यते +कामकलाविवर्जितैः ॥८०॥

---

× एतदभिप्रायेणैव [ राम कृष्ण की छोड़िन आशा। पढ़ि गुणि भये कृतम के दासा ॥ ] इत्यादि वर्णनम्। लिङ्गपु. अ. ७०।९६ इत्यादौ च ॥ यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह। यच्चास्य संततो भावस्तस्मादात्मेति गीयते ॥ ऋषिः सर्वगतत्वाच्च शरीरी सोऽस्य यत्प्रभुः। स्वामित्वमस्य यत्सर्वं विष्णुः सर्वप्रवेशनात् ॥ भगवान् भगवद्भावा-न्निर्मलत्वाच्छिवः स्मृतः। परमः संप्रकृष्टत्वादवनादोमिति स्मृतः इत्यादि ॥

+ कामांशकामकलनामूलवृद्धिरहितैः ॥

निजात्मनस्तावदयं विचारः सर्वैर्विधेयो ननु बोधसिद्ध्यै ।
आत्मास्त्यणुः किं स हि देहमात्रे किंवा विभुः सर्वजनानुविद्धः ॥८१॥
तस्यात्यणुत्वे हि कथं त्विहस्थाः सूर्यं प्रपश्यंति जना दिविस्थम् ।
गत्वेन्द्रियं नैव निवेदयेत्तं जडत्वतो नैव मनोऽपि तस्मात् ॥८२॥

गत्वा न चात्माऽपि हि बुध्यते तं,
गत्वाऽऽगतौ + संहननं विनश्येत् ।
आलातवद् भ्राम्यति * चात्मचेतः,
कथेति वेद्या ननु वेदवाह्या ॥८३॥

स्वान्तस्य नेत्रस्य तु तैजसत्वात्स्वच्छत्वतो वृत्तिरथो प्रदीप्तिः ।
मूलं ह्यहित्वैव तु वर्ततेऽलं दूरात्सुदूरे × सति तायमाना ॥८४॥
प्रदीपवत्तच्च निजात्मनोऽन्यथा संकोचविस्तारयुतं विवेकिभिः ।
प्रदृश्यते नात्मनि संभवेत्तथा ध्रुवं ह्यनित्यत्वमुखास्तथा सति ॥८५॥
अतो नचात्मा खलु देहमात्रे विभुः सदा सर्वत एव विद्यते ।
तेन त्विहस्थोऽपि रविं प्रपश्यति वित्तेर्व्यवस्था ननु बुद्धिभेदतः॥८६॥
आत्मा न देहो न मनो न बुद्धिर्नवेन्द्रियं प्राणमुखा न केऽपि ।
जडत्वदृश्यत्वविकारयोगादात्माऽस्त्यसङ्गश्चितिमात्ररूपः + ॥८७॥
ज्ञातत्वयुक्तं च स एव पश्यति ततोऽन्यथा सर्वजगत्स पश्यति ।
सर्वान् विकारांश्च विकारिणं तथा स्वयंप्रकाशः स विकारहीनः ८८॥

---

+ शरीरम् ॥

* आत्मसहितं चेतः आत्मनो वा चेतश्चित्तम् ॥

× सर्वस्य सत्तादिप्रदे सति—आत्मनि कर्मवासनादिभिस्तायमानेत्यर्थः । जीवात्मभिन्नेश्वरे तायमानता तु न जीवभोगव्यवहारादीनां सिद्धये समर्था स्यादित्यनुसंधेयम् ॥

+ अस्यैवात्मनः तत्त्वमसि । छा. ६।८।७ प्रज्ञानं ब्रह्म । ऐतरे. ३।५।३ अयमात्मा ब्रह्म । बृहदा. २।५।१९। इत्यादिश्रुत्यैकत्वबोधनम् ॥

भूमेः परोऽयं च ततः परोऽयमित्थं प्रधावन् हि जनस्त्विहान्ते ।
नेतः परं वेद्मि किमस्ति किन्नो ह्यास्ते त्वनन्तं किमपि प्रजाने ॥८९॥

इत्थं ह्यनन्तं प्रवदन्ति सर्वे जानन्ति सर्वे च विकारसंघान् ।
मनोमुखानां नहि ते विकारैर्जातु प्रवेद्या ह्यखिला भवेयुः ॥९०॥

रविश्चक्षुषो देवतेत्याह शास्त्रं '' प्रकाशो रविर्नास्ति तेनानवस्था ।
तथैवाऽयमात्मा स्वयं ज्ञानरूपो जगद्भासयन् वर्तते तेऽसङ्गः ॥९१॥

सदेकं विभुं निर्भयं निर्विकारं,
श्रुतं यच्छ्रुतौ ज्ञानमात्रं निरीहम् ।
तदेवाभयं निर्गुणं निर्विकल्पं,
निजात्माऽस्ति देवोऽद्वयो दोषहीनः ॥९२॥

योऽसङ्गः सर्वसाक्षी निरवधिपरानन्दरूपोऽद्वितीयः,
इच्छादिद्रष्टृरूपस्तनुमतिमन:प्राणसंघप्रदीपः ।
सर्वेस्मात्प्रेष्ठरूपो विहरति किरन् सौख्यलेशं पुरेषु,
सर्वैर्ज्योतिःप्रशान्तौ विलसति च यो ज्योतिषा स्वेन सात्मा ॥९३॥

---

साधो सो सद्गुरु मोहि भावै, यह मन जाय जहाँ लगि जबहीं परगातम दरशावै, इत्यादि च ॥

'' सूर्यस्य स्वयप्रकाशरूपत्वात्सजातीयप्रकाशान्तरापेक्षा नास्ति, न वा देवतारूपस्य तस्य चक्षुषो देवतान्तरं सम्भवति । तथैवात्मनि सजातीय-प्रकाशान्तराभावो ज्ञातव्यः । विजातीयप्रकाशस्य तु मायिकत्वेन मिथ्यात्व-जडत्वादिभि: पराहतत्वात्तदपेक्षाशङ्कैव नोदेति विदुषामिति तत्त्वम् । छान्दोग्यभाष्ये, अ. ५ । १ । १५। प्राणसंवादीये, तु कार्यकरणवतीनां देवतानामकरण ईश्वरो नियन्ता प्रोक्त स च "अपाणिपाद" इत्यादि श्रुत्यनुसारेण सर्वकार्यकरणहीनोऽपि सर्वं कर्तुं समर्थ इति ॥

यश्चेन्द्रियैर्बाह्यगुणान् प्रपश्यति,
बुद्ध्येन्द्रियं तामपि भासयन् स्वयम् ।
शुद्धो ह्यसौ तत्र गुणस्य विस्तृति-
र्मायामनोऽध्यासमयैरुपाधिभिः - ॥९४॥
यस्मादुदेति लयमेति च यत्र विश्वं,
मायामयं हि सुचिरं परिपाल्यते च ।
शास्त्रैकवेद्यसुखबोधसदात्मको यो,
ज्ञात्वा तमेव सुचिरं परिमोदतेऽलम् ॥९५॥
पृष्टस्तमेव निजशिष्यवरेण सादरं,
तन्वादिसर्वविरसेन रसात्मलब्धये ।
हृष्टो दयादिगुणपूर्णकलेवरो गुरु-
स्तत्त्वं शुवाच तदिदं सुजनैर्निशम्यताम् ॥९६॥
अथवाऽपृष्ट एवेदं प्रोक्तवान् सर्वसिद्धये ।
श्रुत्वा मत्वा च तत्सर्वं सर्वे सिद्धा भवन्तु वै ॥९७॥

---

÷ यत्तु केचित् सूर्यवत् स्वयप्रकाशे ज्ञानरूपे ब्रह्मणि नाध्यासरूपाया अविद्यायाः संभवो ज्ञानाऽज्ञानयोर्विरोधादतस्तद्भिन्नेऽल्पशक्तौ जीवेऽध्यासादिसर्वसंसार इत्यादि वदन्ति । तैस्तावदिद नालोचित यद्यथा स्वयप्रकाशे सूर्ये तमः सत्तां न लभते तथा तदाश्रिते तत्सन्निधावपि क्वचित्तमो न दृश्यते, तद्वद्ब्रह्माश्रिते जीवे ब्रह्मसन्निधौ वाऽविद्या कथ सत्ता लभेत । यदि ब्रह्मरूप ज्ञान तद्विरोधि स्यादित्यनेनापि ब्रह्माविद्याया अविरोधित्वाऽविद्यात्मकस्य सर्वस्य साधक साक्षिस्वरूपमेवेत्यभ्युपगन्तव्यम् । तथा च ब्रह्माकारवृत्तीद्धचेतनेनैव व्याप्याविद्यानिवृत्तौ जीवाना मुक्तत्वमप्युपपद्यते, इति सर्वं सुस्थमेव । ब्रह्मणि चाज्ञानादीना कल्पनासत्त्वेऽपि तत्स्वरूपप्रकाशसर्वविदेव, जीवानामेवाशक्तात् । ज्ञाऽज्ञौ द्वावजावीशाऽनीशौ, इत्यादि श्रुतयोऽपि संगच्छन्तेतरामिति दिक् ॥

तत्त्वमस्यादिवाक्येन दशमोऽसीति वाक्यतः ।
सोऽयमित्यादि सद्वाक्यैरपरोक्षा मतिर्यथा ॥९८॥
तथैव सद्गुरोर्वाक्याद्विचारसहितादिह ।
अपरोक्षात्मविज्ञानमुत्तमस्योपजायते ॥९९॥
उत्तमस्य प्रबोधार्थमाद्यं काण्डं शुभं कृतम् ।
द्वितीयं मध्यमार्थं तच्छब्देति यन्निगद्यते ॥१००॥
कनिष्ठार्थानि चान्यानि सन्ति यानि लघूनि वै ।
अन्त्यं सर्वस्य सारात्म सर्वार्थं विद्यते शुभम् ॥१०१॥
श्रुत्वा सर्वं नरो भक्त्या ध्यात्वा गुरुपदाम्बुजम् ।
आत्मानं हरिमव्यक्तं ज्ञात्वाऽध्यक्षं विमुच्यते ॥१०२॥
हिंसां दम्भं मदं हित्वा लब्ध्वा सुकृतमुत्तमम् ।
शोधयित्वा स्वकं स्वान्तं हरिमन्त्राञ्जसा मिलेत् ॥१०३॥
रसोद्रेकं जनः श्रुत्वा कृतं हनुमता शुभम् ।
×रसान्मुक्तो रसं प्राप्य रसायामपि राजते ॥१०४॥

इति सम्बन्धग्रन्थः संपूर्णः ॥

---

× रसात्–रागात् । रसं–ब्रह्मानन्दम् । रसायाम्–पृथिव्याम् । राजते –जीवन्मुक्तो भवति ।

श्रीसद्गुरुचरणकमलेभ्यो नमः।

—: सद्गुरु :—

# कबीर साहेब कृत बीजक।

[ स्वानुभूतिसंस्कृतव्याख्यासहित ]

## ॥ अथ प्रथम रमयणी प्रकरण ॥

### रमयणी १, सृष्टि प्रकरण १.

जीवरूप एक अन्तर–वासा। अन्तर जोती, कीन्ह प्रकाशा ॥

× जीवात्मेको वसत्यन्तर्भासयन्निखिलं जगत् ।
* अन्तर्ज्योतिर्हि भूतानां सर्वेषां विमलं महः ॥१॥
प्रकाशकोऽद्वयः सैव ह्यन्तर्यामी परेश्वरः ।
साक्षी सर्वस्य विश्वस्य स सत्यानन्दविग्रहः ॥२॥
वाय्वग्निरविवत्सैक उपाधिषु विभिद्यते ।
आभासैर्बुद्धिमायासु तच्छास्त्रेऽत्रापि च स्फुटम् ॥३॥

---

× अत्र परमानन्दस्वरूपवस्तुनो निर्देशाद्वस्तुनिर्देशात्मकं मङ्गलमनुष्ठितं वेदितव्यम्। मध्यादिकृतदोषाश्च निराकृता वेदितव्याः। जीवस्वरूपदेशोपक्रमस्तु वेदितव्ये परमपावने वस्तुनि परोक्षत्वात्यप्रसिद्धत्वादिभ्रमनिरासाय, भ्रमेणैवाप्राप्तप्रतीतिनिराकरणाय चेति स्वयमूहनीयम् ॥ जीवानामात्मेति विग्रहः ॥

* योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः । बृ. ४।३।७॥
तं देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम् । बृ ४।४।१६॥

अनौपाधिकतत्त्वस्य ज्ञानान्मोहतिरस्कृतौ ।
जीवन्मुक्तो विमुक्तश्च जीवो ब्रह्मत्वमश्नुते ॥४॥

---

चिदानन्दघन ब्रह्मका, सद्गुरुका धरि ध्यान ।
मायाभणितकि भणितिशुभ, माया सुनहु सुजान ॥१॥

सब जीवों का स्वरूप आत्मा एक है, सो सभी भूत भौतिक के अन्दर बसनेवाला है। और भीतर ज्योतिरूप होकर सबका प्रकाश कर रहा है। बुद्धि आदि उपाधियों में भेद है, आत्मा में नहीं, सो ९४ वें शब्द और १० वें बहरा आदि में स्पष्ट है ॥

इच्छा रूप नारी अवतरी । तासु नाम गायत्री धरी ॥
तिहि नारि के पुत्र तिनि भाऊ । ब्रह्मा विष्णु महेश्वर नाऊं ॥

×मायाऽऽविष्टस्य तस्यैव त्विच्छात्मैवोत्तमा वधूः ।
अवतीर्णा हि गायत्री नाम्ना स्मासीद्युता सती ॥५॥
त्रयस्ते भ्रातरस्तस्याः पुत्रा जाता अयोनिजाः ।
प्रभावैरसमाः सर्वे +ब्रह्मविष्णुहराभिधाः ॥६॥

मायी उस ज्योति स्वरूप से इच्छारूप नारी ने अवतार लिया (उत्पन्न हुई)। उसका गायत्री नाम धरा गया ॥ उसीके पुत्र ब्रह्मा, विष्णु, महेश नामवाले तीनों भाई हुये ॥

---

× मायाशब्देनात्रानिर्वचनीय भावभूत वस्त्वभिधीयते, यद्धि, 'न सदासीन्नासदासी' दित्यादिश्रुतौ तमःशब्देन प्रसिद्धम् । लोकेऽपि मायाविनिर्मिते बाधार्हे गन्धर्वनगरादौ मायाशब्दवाच्यत्व प्रसिद्धम् ॥

+ ब्रह्मणोऽपि गुणसम्बन्धविवक्षया ब्रह्मविष्ण्वादिपदवाच्यत्वं भवति,
— ( [illegible] )

तव ब्रह्मा पूछल महतारी । के तव पुरुष तुं केकर नारी ॥
हम तुम तुम हम और न कोई । तुमहिं पुरुष हमहिं तोर जोई ॥१॥

जनिं लब्ध्वा विकल्प्यैतज्जगच्चैव चराचरम् ।
जिज्ञासायां पुरा ब्रह्मा त्वपृच्छद् भ्रातृसन्निधौ ॥७॥
मातरं विनयेनैव को भर्ता तव विद्यते ।
भवति ! कस्य भार्याऽसि ब्रूहि श्रोतुं क्षमं यदि ॥८॥
श्रुत्वा नचाब्रवीन्माता तत्त्वदृष्ट्या न लोकतः ।
यस्त्वं साहमहं त्वं च नान्यः सत्योऽत्र विद्यते ॥९॥
आवयोरात्मरूपे हि भिदालेशो न विद्यते ।
मदेव मत्स्वरूपस्त्वं त्वदात्माऽहं न संशयः ॥
पुरुषो ब्रह्मदृष्ट्या त्वं भार्या तेऽहं गुणात्मिका ॥१०॥

तव ( जन्म लेने पर ) ब्रह्माजी ने माता से पूछा कि 'तेरा पुरुष कौन है, और तूं किसकी स्त्री है ?' ॥ तव माता बोली कि 'हम तेरा रूप हैं, और तूं मेरा रूप है, हम तुम में भेद नहीं है । और अन्य कोई भी नहीं है; इससे तूंही पुरुष ( चेतन ) हो, और मैं मायारूप तेरी ( चेतनात्मा ) की स्त्री हूं ॥'

साखी ।

बाप पूत की एके नारी, एके माय बियाय ।
ऐसा पूत सपूत न देखा, बापहिं चीन्हे माय ॥१॥

---

प्रसिद्धम् । जीवरूपा अपि ब्रह्मादिपदवाच्या भवन्ति, ते च साधारण-जीवेभ्यो विलक्षणाः सामर्थ्यविशेषयुक्ता भवन्ति, तद्य ( ब्रह्मा को दीन्हो ब्रह्मण्डा ) इत्यादिना निरूपितम्, इति दिक् । अत्रत्यो विषयो देवीभागवते स्क. ३ अ. ३, ४, ५, ६ द्रष्टव्यः ॥

ईशजीवात्मनोरेव मायैका महिला मता ।
जननी पुत्रवर्गस्य सैवावस्थाप्रभेदतः ॥११॥
तादृशाश्च सुपुत्रा + नो दृश्यन्ते भुवनत्रये ।
बहवो ध्यानतो येऽत्र जानीयुः पितरं निजम् ॥१२॥
असङ्गं सच्चिदानन्दं भिन्नं तु मतिविभ्रमात् ।
स्वात्मनश्च सदाऽभिन्नं कर्तारं मायया किल ॥१३॥
आत्मैव योषा पुरुषो निगद्यते, कार्श्यादिकामादिसमाश्रयात् किल ।
स्वयं न योषा पुरुषश्च कथ्यते, मारयन् जगन्मातृतया स उच्यते ॥१४॥
स एव मायापरिमोहितश्च, तोकादिभावैः परिवर्त्तमानः ।
कर्मादियोगं विदधन् पितापि, ज्ञानेन मुक्तः परितृप्तिमेति ॥१५॥१॥

ईश्वर और जीवरूप पिता और पुत्र की मायारूप एक ही नारी है (ईश्वर उसीमें कर्मबीज को धरता है, और जीव उसीसे भोग पाता है)। और वही एक माता होकर सब पुत्रों (देहियों) को बिआती (पैदा करती) है। ऐसे सुपूत (लायक पुत्र) नहीं दीख पड़ते, जो शुद्ध पिता का ध्यान करके प्रत्यक्ष समझें। अर्थात् ऐसे बहुत कम लोग होते हैं ॥१॥

## रमयणी २.

अन्तर जोति शब्द एक नारी । हरि ब्रह्मा ताके त्रिपुरारी ॥

एकोऽयं वर्तते ह्यन्तर्ज्योतिरात्मा * परं महः ।
सत्यश्चापरिणामी वै ह्यखण्डानन्दविग्रहः ॥१६॥

---

+ अनाज्ञप्तोऽपि कुरुते पितुः कार्यं स उत्तमः । उक्तः करोति यः पुत्रः स मध्यम उदाहृतः ॥ उक्तोऽपि कुरुते नैव स पुत्रो मल उच्यते ॥ अध्यात्मरा. का. २।३।६१॥

* तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिः । तमेव भान्तमनुभाति सर्वम् । मुण्ड २।२।

द्वितीया वर्त्तते माया शब्दादिजननी च सा।
परिणामिन्यनित्या चासत्याशब्दादिरूपिणी ॥१७॥
ताभ्यामेव च जायन्ते हरिब्रह्ममहेश्वराः।
यशस्विनो महावीर्यास्तपःस्वाध्यायतत्पराः ॥१८॥

सबके अन्तर (भीतर) वर्तमान ज्योतिस्वरूप आत्मा एक है। तथा शब्दादि रूपवाली नारी (माया) भी एक है। इन दोनों के पुत्र हरि, ब्रह्मा और शिवजी हुये ॥

ते तिरिये भगलिङ्ग अनन्ता। तेउ न जानल आदिउ अन्ता ॥

सत्त्वादिगुणशालिन्या मायया सहिता हि ते।
सृजन्ति विविधं लोके वनितापुंमयं जगत् ॥१९॥
तेभ्यश्च जज्ञिरे चातः × स्त्रीपुंसाः स्त्वनन्तशः।
तेऽपि ह्या नाविदुर्देवं सर्वस्याद्यन्तलक्षणम् ॥२०॥

फिर माया आदि सहित उन हरि आदि तिरिये (तीनों) से अनन्त भगलिङ्गवाले स्त्रीपुरुष हुए। परन्तु विचारादि के बिना सबके आदि और अन्तरूप आत्मा को वे लोग भी नहीं जान सके ॥

वाखरि एक विधाते कीन्हा। चौदह ठहर पाठ सो लीन्हा ॥
हरि हर ब्रह्मा महत्तो नॉऊं। तिन पुनि तीन बसावल गाऊं ॥

विचाराद्यैस्तथा मातुर्ज्ञात्वा तं श्रवणाद्विधिः।
अन्येभ्य उपदेशार्थं दयया प्रेरितो मुहुः ॥२१॥

---

१-१० ॥ येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः। तै. ब्रा. ३।१२।९।७ ॥ ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते। भ. गी. १३।१७ ॥

× अचतुरेत्यादिसूत्रेणाजन्तःस्त्रीपुंसशब्दो निपातितः ॥

×वेदांश्चकार शुद्धात्मा पश्यन्त्यादिक्रमेण सः ।
पराया ब्रह्मरूपाया वैखरीशब्दलक्षणान् ॥२२॥
तेषामेव तु वेदानां पठनं पाठनं तथा ।
भुवनेषु हि सर्वेषु प्रावर्तत पुरा सदा ॥२३॥
स्वभूशंभुविधातारो महान्तस्तावदीरिताः ।
तेषां वाचस्ततः सर्वैः प्रमाणत्वेन संधृताः ॥२४॥
देवमानवपातालॅल्लोकॉश्च त्रींस्त एव हि ।
सर्वेषां वासयामासुर्लोकानां वृद्धिहेतवे ॥२५॥

विधाता (ब्रह्मा) ने वेदात्मक एक बाखरी ( वैखरी ) वाणी रची। चौदह ठहर ( भुवनों ) में लोगों ने उसीका पाठ लिया ॥ हरिहरादि महान् नामवाले हुए, उन्होंने फिर तीन लोक रूप तीन गाम बसाये ॥

तिन पुनि रचल खण्ड ब्रह्मण्डा । छौ दर्शन छयानवे पाखण्डा ॥
पेटहिं काहु न वेद पढ़ाया । सुनत कराय तुरुक नहिं आया॥
नारी मोचित गर्भ प्रसूती । स्वाँग धरे वहुते करतूती ॥

अज्ञानां भोगसिद्ध्यर्थं तज्ज्ञमोक्षार्थमेव च ।
ब्रह्माण्डं सह खण्डैस्ते रचयामासुरादृताः ॥२६॥
षड्दर्शनानि+ पाषण्डा*स्तथा षण्णवतिः पुरा ।
जातानि गुणभेदेन किञ्चित्तत्रोच्यते शृणु ॥२७॥

---

×पराया ब्रह्मरूपाया सकाशात् पश्यन्तीमध्यमाक्रमेण वैखरी शब्दलक्षणान् वेदाश्चकार । 'सर्वं परात्मक पूर्वं ज्ञप्तिमात्रमिद जगत् । ज्ञप्तेर्बभूव पश्यन्ती मध्यमा वाक् ततः परम् ॥ वक्त्रे विशुद्धचक्राख्ये वैखरी सा मता ततः ।' नन्दिकेश्वरकारिका ॥

+धर्मा । दर्शन नयनस्वप्नबुद्धिधर्मोपलब्धिषु, इति मेदिनी ॥

*प डाः सर्व े ि न' इत्यमर' ॥

केचिद्गर्भे न वै वेदान् पठित्वा लेभिरे जनिम्।
लभन्ते न तथा केऽपि छिन्नशिश्नाग्रका बुध ॥२८॥
सर्वे प्रसूतिकाले वै जाता गर्भाः समाः सदा।
प्रकल्प्य विविधान् वेषान् श्रैष्ठ्यं तैरेव मन्वते ॥२९॥
तावद्भिः कृतकृत्यत्वमहो मोहस्य विस्तृतिः।
अज्ञानादेव संजाताः पाषण्डा नैव तत्त्वधीः ॥३०॥

फिर ब्रह्मा आदिकों ने खण्ड ब्रह्माण्ड को रचा। और योगी, जङ्गम, शेवड़ा, संन्यासी, दरवेश और ब्राह्मण नामधारी छौ दर्शन हुए॥ फिर १२ योगी, १८ जङ्गम, २४ शेवड़ा, १० सन्यासी, १४ दरवेश (शेख) और १८ ब्राह्मण रूप ९६ पाखण्ड हुए॥ माता के पेट से कोई वेद पढ़कर या सुन्नत कराके नहीं आया॥ किन्तु प्रसव (जन्म) काल में स्त्री से त्यागा गया गर्भ (लड़का) फिर बहुत करतूत (कल्पित) स्वाग (वेष) धरता है, वही वस्तुतः पाखण्ड है॥

तहिया हम तुम एके लोहू। एके प्राण वियापै मोहू॥
एके जनी जना संसारा। कौन ज्ञान से भयऊ न्यारा॥

जन्मकाले वयं यूयं ह्यसृङ्मांसादिसंहतौ।
शरीरे प्राणसंघे च कृतात्मधिषणाः खलु ॥३१॥
*आत्म भेदस्तु*[+] *बोधेन मनुष्ये नान्यथा क्वचित्।*
ततो बोधं विना सर्वे स्त्रियोऽपि पुरुषाश्च वा ॥३२॥

[+] श्रैष्ठ्यादिप्रयुक्तो विभाग इत्यर्थः। "आहारनिद्राभयमैथुनानि सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्। ज्ञान नराणामधिको हि लोके ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः॥" नरसिंहपु अ. १६। १३॥ यद्यपि (जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्कारैर्द्विज उच्यते। विद्यया याति विप्रत्व श्रोत्रियस्त्रिभिरेव च)

तुल्या नास्त्यत्र संदेहो मोहाद्यैरावृतस्त्वतः ।
केन ज्ञानेन चात्रैते जन्मना भिन्नतां गताः ॥३३॥
मायैका जननी वाऽमून् जनयामास देहिनः ।
आत्मबोधं विना केन बोधेन भिन्नता भवेत् ॥३४॥

उस जन्मकाल में हम तुम सभी एकसे रुधिरप्राणादिवाले शरीर के अभिमानी थे । और सबको मोह घेरे था ॥ ससार के सब जनी (स्त्री) और जना ( पुरुष ) समान थे । वा एक मायारूप जनी (स्त्री) से सब जना ( उत्पन्न ) हुआ है । तो जन्मकाल में किस ज्ञान से कोई न्यारा ( श्रेष्ठ पुरुषादि ) हुआ ॥

भौ बालक भग द्वारे आया । भगभोगी के पुरुष कहाया ॥
अविगति की गति काहु न जानी । एक जीभ कित कहौं बखानी ॥

सुबोधेन हि ये पूर्णाः *पुरुषास्त उदाहृताः ।
सर्वश्रेष्ठाश्च मान्यास्ते तथा वेदा वदन्ति वै ॥३५॥

---

इत्यत्रिस्मृतावभिहित, तथापि तत्सामान्यमात्रम् । 'शमो दमस्तपःशौच'मित्यादि गीतालक्षणलक्षित ब्राह्मणत्वादि जन्मना नैव सभवति । वसिष्ठस्मृतौ च अ. ६ । २१ अभिहितम् ॥ "योगस्तपो दमो दान सत्य शौच दया श्रुतम् । विद्याविज्ञानमास्तिक्यमेतद् ब्राह्मणलक्षणम् ॥" अ. ३। ४। 'नानृग् ब्राह्मणो भवति न वणिग् न कुशीलवः । न शूद्रप्रेषण कुर्वन् न स्तेनो न चिकित्सकः ॥"

* शुक्लयजुर्वेद–अ. ३१ । २ । पुरुष एवेदऽ सर्व यद् भूत यच्च भाव्यम् । उतामृतत्त्वस्येशानो यदन्येनातिरोहति ॥ अमृतत्त्वस्य–मोक्षस्य । अन्नेन–अमृतेन । अतिरोहति–अतिरोध करोति । आत्मपु. अ. ५। ३४२। " आत्मबोधेन ये पूर्णा. पुरुषास्त उदाहृता. । यादृशास्तादृशा. सन्तु शरीरेण द्विजोत्तम ॥ "

अहो तथापि मोहेन जनित्वैव भगाद्वरः ।
बालो भूत्वा पुनस्तत्र सक्तः पुंस्त्वं प्रमन्यते ॥३६॥
इत्थं भूता नराः × केऽपि नाद्वय सर्वसाक्षिणम् ।
आत्मानं घापि विन्दन्ति कर्हि वर्षशतैरपि ॥३७॥

आश्चर्य है कि यह जीवात्मा भगद्वारा संसार में आकर बालक हुआ, और फिर भगभोग में आसक्त होकर वे ही पुरुष कहाने लगा ॥ इसीसे अविगति ( अग्राह्य–अदृश्य ) आत्मा की गति ( मर्म–महिमा ) को किसीने नहीं पाई ( नहीं जाना ) । उसकी महिमा अनन्त है, और अज जीव भी अनन्त हैं, पर जीभ से कहाँतक व्याख्या करके इनका वर्णन किया जाय ॥

जो मुख होय जीभ दश लाखा । तो कोइ आय महन्तो भाखा ॥

अनन्तो महिमा तस्याग्रहस्य वै निजात्मनः ।
एकया जिह्वया तावत् कथङ्कारेण कथ्यते ॥३८॥
जिह्वावक्त्राणि चेत्कस्य नियुतानि दशात्र वै ।
तथाप्यस्याल्प एवाऽसौ महिमा कथ्यते हि तैः ॥३९॥

यदि किसीके मुख और जीभ दश लाख हों, तौभी कुछ ही महत्व ( महिमा ) उस महान पुरुष से भी कहा जा सकता है, सम्पूर्ण नहीं ॥

---

× ऋग्वेद–म १० । ६ । ८२ । ७ । "न त विदाथ यत इमा जजानान्यद् युष्माकमन्तर बभूव । नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति ॥" इमा–इमानि भूतानि । युष्माकमह प्रत्ययगम्याना मन्तरमन्यत् तत् । नीहारेणाऽज्ञानेन यूयमावृता । जल्प्या मिथ्याज्ञानेनावृता । प्राणान् तृप्यन्त ,उक्थ शासन्तश्चरन्ति, न परमात्माऽन्वेषणपरा भवन्तीत्यथ ॥

साखी ।

कहहिं कबीर पुकारि के, ई बैली व्यवहार ।
रामनाम जाने बिना, बूड मुआ संसार ॥२॥

इत्थं भूतात्मतत्त्वं हि न लभ्यं पशुधर्मिभिः ।
अहो तथापि लोकोऽयं पशुधर्मे प्रवर्तते ॥४०॥
भगसक्त्यभिमानादि पशुधर्मो निगद्यते ।
तेन रामं नरोऽज्ञात्वा संसारेऽत्र निमज्जति ॥४१॥
रामं ज्ञात्वा महाप्राज्ञा ह्युत्तरन्ति भवार्णवम् ।
रामनाम विना, मूढो मुहुर्भ्रान्त्वा निमज्जति ॥४२॥
सकृदेव प्रपन्नस्य सर्वभूताऽभयं यतः ।
स रामः सर्वभृत् साक्षी ज्ञानमात्रेण रक्षति ॥४३॥
यस्याज्ञानेन केऽप्यत्र संतरन्ति भवार्णवम् ।
तं सर्वसुहृदं रामं वन्दे सच्चित्सुखात्मकम् ॥४४॥

यन्नामविद्या सततं च भक्त्या स्मृत्या च यस्यात्र निजात्मरूपम् ।
सदाऽप्रबुद्धं त्वधुनाऽनुबुद्धं स्यात्तं भजे राममजं हरिञ्च ॥४५॥ ॥२॥

कबीर साहेब पुकार के कहते हैं कि ये भगभोगादि में आसक्ति, मिथ्या अभिमानादि बैल सदृश जड़ पुरुषों के व्यवहार हैं । ये ससारी लोग रामनाम को जाने विना ससारसागर में डूब मरे ॥२॥

## रमयणी ३.

प्रथम अरम्भ कौन के भाऊ । दूसर प्रगट कीन्ह सो ठाँऊँ ॥
प्रगटे ब्रह्म विष्णु शिव शक्ती । प्रथमहिं भक्ति कीन्ह जिव उक्ती ॥
प्रगटे पौन पानि औ छाया । बहु विस्तार के प्रगटी माया ॥

× आरम्भो ह्यभवत्केषां तावदेतद्विचार्यताम् ।
प्रभवन्ति यतश्चैते द्वितीयो विद्यते स कः ॥४६॥
अभिव्यक्तविचारो हि प्रथमः क्रियतां त्वया ।
अभिव्यक्ताश्रयस्याथ द्वितीयः स विधीयताम् ॥४७॥
वेधोविष्णुहराः शक्तिर्ब्रह्मणोऽपरिणामिनः ।
मायया परिणामिन्या ह्याविरासन् युगादिषु ॥४८॥
जीवत्वं स्वेषु संकल्प्य भक्तिं चक्रुश्च ते पुनः ।
मातरिश्वा पयश्चैव तेजोऽपि व्यान्नगात्मनः ॥४९॥
महाकाशस्वरूपेण स्वयं मायाऽभवत् किल ।
आत्मसत्ताप्रकाशाभ्यां जानीहि मतमुत्तमम् ॥५०॥

सत्यात्मा के बोध के वास्ते प्रथम यह विचार करो कि सृष्टि के आदिकाल में किसका आरम्भ ( जन्म ) हुआ। दूसरा यह विचार करो कि इन कार्यों से भिन्न इन्हें जन्म देनेवाला दूसरा ठाम ( ठिकाना ) कौन है॥ और समझो कि ब्रह्मा, विष्णु, शिव, शक्ति ये सब प्रगट (उत्पन्न) हुए हैं, अधिष्ठानरूप नहीं हैं। इसीसे जीवभाव की कल्पना करके ये लोग प्रथमही भक्ति किये हैं॥ वायु, जल और छाया ( कान्ति–तेज ) उत्पन्न हुए। बहु विस्तार ( आकाश ) रूप से माया स्वयं प्रगट हुई॥

प्रगटे अण्ड पिण्ड ब्रह्मण्डा । पृथिवी प्रगट कीन्ह नौ खण्डा ॥
प्रगटे सिद्ध साधक संन्यासी । ये सब लागि रहे अविनाशी ॥
प्रगटे सुरनर मुनि सब झारी । ताही खोज परे सब हारी ॥

---

× पूर्वमसतः पश्चात्कारणव्यापारात्कारणाद्भिन्नत्वेनात्मलाभ आरम्भ इति न्यायवैशेषिकमतम् । सतस्ततोऽन्यथाभावः कारणसमसत्ताकः परिणाम इति सांख्ययोगमतम् । अतत्त्वतोऽन्यथाभावो विवर्त इति वेदान्तमतम् ।

जरायुजाण्डजातानि ब्रह्माण्डानि सहस्रशः ।
पृथिवी तत्र खण्डानि प्रादुरासन् पुरा ततः ॥५१॥
सिद्धाश्च साधकाः सर्वे जनाः संन्यासिनस्तथा ।
प्रादुर्भूयालगन् सर्वे देवे नाशविवर्जिते ॥५२॥
देवा नरा मुनीनां च संघा वै भूतजातयः ।
प्रादुर्भूय तमन्विष्य परां ग्लानिमुपागताः ॥५३॥
अनात्मानं हि यं मत्वा लेभिरे नैव केचन ।
तमात्मत्वेन मत्वा तु लभन्तेऽत्र विवेकिनः ॥५४॥

ब्रह्माण्ड प्रगट हुए और उनमें अण्डज, पिण्डजादि हुए । पृथिवी प्रगट हुई । उसमे नौखण्ड हुए ॥ सिद्ध, साधक और सन्यासी प्रगट हुए । ओर ये सब अविनाशी आत्मदेव में लगकर स्थिर हुए । अर्थात् उसी अधिष्ठान के आश्रित सब वर्तमान हुए ॥ सुर, नर, मुनि सबके सब प्रगट होकर और उसे दूर समझकर उसकी खोज में हैरान हुए ॥

साखी ।

जीव शीव सब प्रगटे, वह ठाकुर सब दास ।
कबिर और जानै नहीं, रामनाम की आस ॥३॥

तटस्थेशाश्च जीवाश्च सर्वेऽमी मायिनो निजात् ।
प्रादुरासन्नजाद्देवादतः सर्वेश्वरो हि सः ॥५५॥
ज्ञानिनो न तमन्यं तु पश्यन्ति वै निजात्मनः ।
विविक्तं तं परिज्ञाय वर्तन्ते निश्चिताः स्वयम् ॥५६॥
अविनाशिनमात्मानं ज्ञात्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
श्रेयःप्रेयस्तनश्चैव पश्यंति ज्ञानिनः खलु ॥५७॥

अन्तयोर्मतयोः सत्कार्यवादस्वीकारादभिव्यक्तिरेव कार्यस्य भवति । तत्र साङ्ख्यादौ स्वरूपस्य सत्यम्, वेदान्ते तु कारणात्मना कार्यसत्यम् इत्यन्यदेतत् ॥

सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं च तम् ।
विज्ञायैतन्मया भूत्वा जायन्ते नैव ते पुनः ॥५८॥
सर्वमुत्पद्यते यस्माद्यस्मिंस्तिष्ठति लीयते ।
तस्याशां कुर्वते तेऽत्र त्वाशामुक्ता भवन्ति च ॥५९॥
रामं ज्ञात्वा मरुन्नाथं मायानाथं जगत्पतिम् ।
अनाथं सर्वनाथं च जीवन्मुक्ता भवन्ति ते ॥६०॥
श्रुतं श्रुतौ स्मृतं सर्वस्मृतिसंघे परं महः ।
यत्तं राममहं वन्दे स्वनुभूतं महात्मभिः ॥६१॥३॥

इति हनुमद्दासविरचिते रमैयणीरसोद्रेके सृष्टिनिरूपणं नाम प्रथमः प्रवाहः ॥१॥

अण्डजादि जीव और ब्रह्मा आदि तटस्थ शिव (ईश्वर) सब प्रगट हुए। परन्तु वस्तुतः वह एक अविनाशी सच्चा ठाकुर (स्वामी) है। और अन्य सब उसीके दास हैं। इसीसे कबीर (ज्ञानी) गुरु और को जगदीशादि नहीं समझते हैं। किन्तु एक सर्वात्मा राम की ही आशा रखते हैं ॥३॥

इति सृष्टिप्रकरणम् ॥ १ ॥

---

## रमयणी ४, रमणादिनिरूपण प्रकरण २.

प्रथम चरण गुरु कीन्ह विचारा । कर्ता गावै सिरजनिहारा ॥
कर्महिं कै कै जग बौराया । शक्ति भक्ति लै बान्धिन माया ॥

विश्वस्य प्रथमे भागे काले कृतयुगात्मके ।
येऽभूवन् गुरवस्ते वै विचारं व्यदधुर्मिथः ॥१॥

विचारेण परिज्ञाय साश्चर्यं ते त्विदं विदु ।
अहो स्वयमय कर्ता स्रष्टार मन्यतेऽन्यकम् ॥२॥
संगायन् भजते त च तस्यैव प्राप्तये मुहु ।
वित्ताद्यर्थं च कर्माणि कुरुते नात्मचिन्तनम् ॥३॥
कर्माण्येव + तु कुर्वाणो लोक कामादिनाऽमुहत् ।
शक्तिभक्त्या ततो मायाऽबध्नादेन गुणात्मिका ॥४॥

ससार के प्रथम चरण (पाद–भाग) रूप कृतयुग के गुरु लोगों ने विचार कर समझा, कि स्वय कर्तारूप जीव किसी अन्य (अनात्मा) को *सृष्टि का कर्ता जानकर उसे गाता है ॥* और उसीकी *प्राप्ति आदि* के लिये सकाम कर्म कर २ के ससारी लोग बौरा हो गये । तब माया ने भी शक्ति की भक्तिरूप रस्सी से वाममार्गादि में जीवों को दृढ बन्धन से बाँध दिया ॥

अब्बुद रूप जाति की वाणी । उपजी प्रीति रमयणी ठानी ॥
गुणि अनगुणी अर्थ नहिं आया । बहुतक जने चीन्हि नहिं पाया ॥
जो चीन्हे तिहि निर्मल अगा । अनचीन्हे नर भये पतगा ॥

अनिर्वाच्यस्वरूपा सा मिथ्याऽऽश्चर्यात्मिका खलु ।
शब्दमाधात्मिका जाता सदा लोकाय रोचते ॥५॥

+ कर्मणा मृत्युमृषयो निषेदु प्रजावन्तो द्रविणमीहमाना । अथापरे ऋषयो ये मनीषिण पर कर्मभ्योऽमृतत्वमानशु । श्रुतिरनिशांतस्थाना ॥ अविद्यायामन्तरे वर्तमाना वय कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बाला । यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्तेनातुरा क्षीणलोकाश्च्यवन्ते । कठो १। २। ९॥
नैकान्तत प्रतीकार कर्मणा कर्मणेऽल्पम् । भा स्क ७। २९। ३४॥

प्रीतौ तस्यां तु जातायां तत्रैव रमणं जनाः ।
प्रारभन्त विमोहेन न कदापि चिदात्मनि ॥६॥
मायया रममाणाश्च सगुणं वाऽगुणं विभुम् ।
तत्त्वं नैव व्यजानँश्च स्वार्थोऽपि सिद्धयति स्म नो ॥७॥
बहवो गुणिनो ये वा मायया बद्धमानसाः ।
विचार्यापि न जानीयुरर्थतत्त्वं कदापि ते ॥८॥
अजानन्तो जनाः सर्वे महत्यग्नौ पतङ्गवत् ।
नश्यन्ति ज्ञानिनो नैव निर्मलाङ्गा भवन्ति ते ॥९॥

वह शक्ति तथा माया अदबुद (आश्चर्य) रूपवाली है। उत्पन्न होकर वही शब्दादि स्वभाववाली होती है। या आश्चर्यरूप होने से वह वाणी (शब्द) मात्र स्वरूप है। या उसमे सत्यादि वाणी (शब्दों) की प्रवृत्ति नहीं होती है। अज्ञान से उस विषयक प्रेम के उत्पन्न होने से लोगों ने उसीमें रमण (क्रीडा) करना शुरू किया ॥

माया में आसक्त होने से सगुण निर्गुण वस्तु समझ में नहीं आई। और न प्रयोजन ही सिद्ध हुआ। या बड़े२ गुणी लोगों ने भी गुना (विचारा) परन्तु मायाबन्धन से अर्थतत्त्व समझ नहीं पड़ा। बहुत लोग माया को भी नहीं समझ सके ॥

जो लोग सत्यार्थ और माया को विवेकपूर्वक जान लिये, उनका अंग (स्वरूप) निर्मल होगया, अन्य लोग जानने के बिना पतङ्ग तुल्य हुए ॥

साखी।

चीन्ह चीन्ह क्या गावहू, बाणी परी न चीन्ह ।
*आदि अन्त उत्पति प्रलय, आपुहिं के कै लीन्ह ॥१॥*

ज्ञायतां ज्ञायतामत्र तस्मादात्मानमात्मना ।
मायां ज्ञात्वा जहीह्येनां शब्दगानेन किं भवेत् ॥१०॥
यावच्च सद्गुरोः सारशब्दः परिचितस्त्वया ।
शब्दखन्यात्मिका माया यावत्परिचिता न च ॥११॥
आत्मनस्तावदाद्यन्तौ स्वयमेव * करोषि च ।
उत्पत्तिप्रलयौ स्वस्य संकल्पयसि चात्मना ॥१२॥

मायामयं सर्वमिदं विदित्वा त्यक्त्वा च मोहं ममतां सुदूरे।
ज्ञात्वा निजैकं शिवबोधरूपं संसारबन्धाद्विनिमुच्यसेऽङ्ग ॥१३॥४॥

उस आत्मा और माया को विवेकपूर्वक अवश्य पहचानो, गाते क्या हो। तुम्हें तो अभी भी वाणी ही नहीं समझ पड़ी है, बिनु समझे ही गाते हो। और आत्मा से अन्य आदि अन्त की कल्पना, तथा अपने उत्पत्तिप्रलयादि तुम अपने ही अज्ञान से कर लिये हो ॥४॥

## रमयणी ५.

कहँ ले कहौं युगन की बाता । भूला ब्रह्म न चीन्है बाटा ॥
हरि हर ब्रह्मा के मन भाई । बिवि अक्षर लै युक्ति बनाई ॥

अनन्तयुगमारब्धं वर्तते खल्विदं जगत् ।
उच्यतामस्य किं वृत्तमनन्तं वर्तते हि तत् ॥१४॥
ब्रह्मात्मैव + स्वयं जीवो ब्रह्मा वाऽनन्तकालतः ।
भ्रान्तत्वान्नैव सन्मार्गमपश्यद्धि कदाचन ॥१५॥

---

* आत्मनो जायते विश्वमत्रैव प्रविलीयते । स मायी मायया बद्धः करोति विविधास्तनूः ॥ स्वयं कर्म करोत्यात्मा स्वयं तत्फलमश्नुते । स्वयं भ्रमति संसारे स्वयं तस्माद्विमुच्यते ॥ ईश्वरगी. अ २।६॥

+ स एव मायापरिमोहितात्मा शरीरमास्थाय करोति सर्वम् ॥ कैवल्यो ॥

सारशब्दादिकं मत्यामपि यो नैव बुद्धवान्।
किं तेन ज्ञायते स्वात्मा ब्रह्मरूपो निरामयः ॥१६॥
कदाचिन्मातृवाक्येन विचारध्यानतस्तथा।
हरिब्रह्महराणां हि मनस्सु प्रत्यभादयम् ॥१७॥
सत्यात्मा नित्यनिर्बोधश्चिदानन्दघनात्मकः।
निर्द्वन्द्वो · निर्मलः शश्वदजरामरविग्रहः ॥१८॥
अन्येषामुपदेशाय ते मनस्सु व्यचिन्तयन्।
अकारोकारयोः संधिं चक्रुश्चोङ्कारसिद्धये+ ॥१९॥

अनन्त युग की बात कहाँतक कहा जाय। ब्रह्म स्वरूप जीव तथा ब्रह्मा भी आत्मतत्त्व को भूले रहे, विवेकादि सन्मार्ग को नहीं समझ सके॥ फिर माता के उपदेश तथा विचारादि से हरिहरादि के मन में सत्तत्त्व और सन्मार्ग का भास (ज्ञान) हुआ। तब अन्य के प्रति उपदेश के वास्ते अकार उकार दो अक्षरों की संधि (योग) करके ओंकार अक्षर को सिद्ध किया। तथा दो २ अक्षरों के रामादि नाम बनाये॥

नेवि अक्षर का कीन वधाना। अनहद शब्द जोति परमाना॥
अक्षर पढि गुणि राह चलाई। सनक सनन्दन के मन भाई॥

सेमाध्योंकारशब्दं ते तं च हृत्सु समादधुः।
तस्य च शब्दमुख्यस्य शब्दगम्ये निरञ्जने॥
ज्योतिरात्मनि निःसीमे× संकेतं व्यदधुर्बुधाः ॥२०॥

+ओंकारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा। कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ ॥ नारदीयपु. ५१। १०॥

× सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्। कठ. १।२।१५॥

तमक्षरं पठित्वा ते विचार्य च पुनः पुनः ।
ज्ञानोपासनयोर्मार्गाश्चक्रुश्चरमचारुदान् ॥२१॥
सनकस्य मनस्येवं सनन्दनमतौ तथा ।
प्रत्यभात् प्रत्यगात्माख्यं चित्स्वरूपो निरञ्जनः ॥२२॥
अन्येषां च मनस्स्वेवं कश्चित्कालं सनातनः ।
सनातनेन * मार्गेण भाति स्म परमेश्वरः ॥२३॥

उस सधियुक्त दो अक्षरों का अनहद ( सीमारहित ) ज्योतिमात्र शब्दोपदेश से जानने योग्य वस्तु में वैधान ( सकेत नियम ) किया ॥ और उसीको पढ़गुणकर कर्म, उपासना और ज्ञान के मार्गों को सिद्ध किया । सो मार्ग और आत्मतत्त्वादि सनकसनन्दन के मन में भी भाये ( ठीक जँचे और प्रगट हुए ) ॥

वेद कितेब कीन्ह विस्तारा । फैलि गेल मन अगम अपारा ॥
चहुं युग भक्तन बाँधल बाटी । समुझि न परल मोटरी फाटी ॥

ततो बुद्धिभ्रमादन्ये वेदशास्त्राण्यनेकशः ।
सविस्तराणि × संचक्रुर्मनसो विस्तृतिर्यतः ॥२४॥

* सत्य दमस्तपः शौच संतोषश्च क्षमार्जवम् । ज्ञान शमो दया दान मेष धर्म सनातन. ॥ गरुडपु. आचारका. १।२२१।२४॥ अद्रोहश्चाप्य लोभश्च दमो भूतदया तपः । ब्रह्मचर्यं तथा सत्यमनुक्रोशः क्षमा धृति सनातनस्य धर्मस्य मूलमेतद्दुरासदम् ॥ वायुपु १८।११६॥

× निस्ताराः क्लेशसयुक्ताः सक्षेपास्तु सुखावहाः । परार्थ विस्तरा सर्वे त्यागमात्महित विदु । म भा. शा. अ. २९८ ॥३७॥ वेदश्चैकश्चतुर्धा तु व्यस्यन्ते द्वापरादिषु । ऋषिपुत्रैः पुनर्वेदा भिद्यन्ते दृष्टिविभ्रमैः. मत्स्यपु. अ. १४४।११॥

तेन संशयसंग्रस्तं जनस्यैतन्मनोऽभवत् ।
अगम्यापाररूपं सद् विकल्पाकारसंकुलम् ॥२५॥
मनसो निग्रहायाऽलं सज्जनास्तु चतुर्युगे ।
भक्ता मार्गान् हि संचक्रुः शम्बल व्यदधुस्तथा ॥२६॥
तथापि विस्तृतेस्तेषां तत्त्व नैवेह गम्यते ।
लभ्यते न कश्चिच्छान्तिर्विस्तारान्मतिविभ्रमात् ॥२७॥
"द्विधा श्रुतिः स्मृतिश्चैव निश्चयो नाधिगम्यते ।"
महाविचारसद्भाग्यान्निश्चय * कोऽपि गच्छति ॥२८॥

फिर लोगों ने वेद, किताब (ग्रन्थों) का विस्तार किया, जिससे मन भी उस अगम अपार शब्दसमुद्र में अगम अपार रूप से फैल गया ॥ चारों युगों के भक्तों ने उस मन को समेटने और तत्व समझने के लिये बहुत मार्ग और बाटखर्च (भक्तियोगादि) को सिद्ध (सम्पादन) किया, तौ भी बहुतों को समझ नहीं पड़ा, कारण है कि मोटरी फाट गई । बात बहुत बेढब रूप से फैल गई ॥

भय भय पृथिवी दहु दिशि धावै । थिर न होय न औषध पावै ॥
होय भिस्त * जो चित न डोलावै । खसम छोडि दोजखको धावै ॥

निश्चयाभावतश्चान्ये भयभीता जना मुहुः ।
पृथिव्यां दिक्षु धावन्ति लभन्ते न स्थितिं क्वचित् ॥२९॥

* एकं यदि भवेच्छास्त्र ज्ञान सुनिश्चित भवेत् । बहुत्वादिह शास्त्राणा ज्ञान तत्त्व सुदुर्लभम् ॥ नरसिंहपु. ॥

* तुरुष्काणा मते विहिस्तपदेन मोक्ष एव कथ्यते, तेषा च मोक्षो वैष्णवादीनामिव लोकविशेषप्राप्त्यात्मक एव । वैष्णवादयश्च लोकविशेष एव "यन्न दु खेन सम्भिन्नं नच ग्रस्तमनन्तरम् । अभिलाषोपनीत च तत्सुख स्व पदास्पदम्" इति वचन योजयन्ति ॥

सद्गुरोः शरणे सम्यक् स्थितेर्लाभं विना नराः।
आत्मज्ञानौषधं नैव लभन्ते क्वापि कर्हिचित् ॥३०॥
गुरुं सुहृदमन्विष्य शरणे स्थीयते यदि।
लभ्यते वै जनैर्मोक्ष स्वर्गलाभे किमस्त्युत ॥३१॥
हा तथापि जना मूढाः स्वामिनं गुरमीश्वरम्।
असङ्गं स्वं परित्यज्य धावन्ते नरके स्वयम् ॥३२॥
पुष्णन्ति देहं ममताश्च कुर्वते सर्वेण भावेन कुबुद्धयो नराः।
ज्ञानं विना रागमदान्धबुद्धयो घोरातिघोरे नरके पतंति च ॥३३॥

नहीं समझ पड़ने से लोग सब भयभीत होकर पृथ्वी पर दशों दिशाओं में दौड़ते हैं, और सद्गुरु स्वामी के शरण में स्थिर नहीं होते हैं। इसीसे भवरोग की नाशक ज्ञानौषधि भी नहीं पाते हैं ॥ यदि यह जीव विवेक से सद्गुरु के शरण में स्थिर होय, और उनके उपदेश से मन को नहीं हटावे तो इसको अवश्य भिस्त (विहिस्त) स्वर्गमोक्ष प्राप्त होय। परन्तु यह सच्चे स्वामी को त्याग कर स्वयं विवेकादि बिना नरक में जाता है ॥

पूरब दिशा हंस गति होई। है समीप सँधि बूझै कोई ॥
भक्ता भक्तिन कीन्ह शिंगारा। बूड़ि गेल सब माँझहि धारा ॥

पूर्वकाये हृदि स्वस्मिन्नत्यन्तं + निकटेऽस्ति या।
तस्या हंसगतेर्मर्म * केऽपि पश्यन्ति सज्जनाः ॥३४॥

+ अंगुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति। कठ. २।४।१२॥ एष म आत्माऽन्तर्हृदयेऽणीयान्। एष म आत्माऽन्तर्हृदये ज्यायान्। छा. ३।१४।३॥ यदा पूर्वदले विभ्रमते तदा भक्तिपुरःसर धर्मे मतिर्भवति, इत्यादि। ध्यानबिन्दु. ९४॥ आत्माऽस्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्। कठो १।२।२०॥

* आत्मप्रबोधतो यस्माद्धन्त्यविद्यामयं पुमान्। तस्माद्धंस इति प्रोक्तः पण्डितैर्वेदवादिभिः ॥ आत्मपु. अ. १।६०२॥

ज्ञानिनां च विमुक्त्यैं रहस्यं नैव बुध्यते।
भक्तवेषं विधायापि ते ब्रुडन्ति भवार्णवे ॥३५॥
स्त्रियो वा पुरुषा वापि शृङ्गारैकपरायणाः।
वेषासक्तिविमोहाभ्यां भवमध्ये ब्रुडन्ति हि ॥३६॥

शरीर के पूर्व भाग हृदय में ही हंस ( जीव वा ज्ञानी ) के मोक्ष का स्थान है, सो अत्यन्त समीप है, परन्तु उसका मर्म कोई २ पुरुष समझते हैं ॥ भक्त और भक्तिन लोगोंने तो बहुविध शृङ्गार (विचित्र वेष) को ही धारण किया। परन्तु उससे भवार्णवपार नहीं हुए, किन्तु मध्य धार में अभिमानादि से डूब गये ॥

साखी।

विन गुरु ज्ञान द्वन्द्व भई, खसम कही मिलि वात।
युग युग, सोइ कहवैया, काहु न मानी वात ॥५॥

गुरुं ज्ञानं विना चैवं द्वन्द्वानि जज्ञिरे यदा।
स्वामिनो रक्षकाः सर्वे मिलित्वा गुरवस्तदा ॥३७॥
हितं तथ्यं प्रियं वाक्यं प्रोचुः स्थिरयै जनान् प्रति।
प्रतियुगे च वक्तारो वचः कैश्चिन्न मन्यते ॥३८॥
आत्मना वा प्रकल्प्यात्र मिथ्याभूतं पतिं निजम्।
मोहात्तस्यैव वक्तारो भवन्ति सर्वदा जनाः ॥३९॥
वाचारब्धं वदन्तीमे तं तथा मन्यते नहि।
सद्गुरोरुपदेशं वा तत्त्वं शृण्वन्ति नो शठाः ॥४०॥
गुरुं विना नैव सदा हृदिस्थं तत्त्वं जनैर्जातु निभाल्यते वै।
द्वन्द्वैस्ततस्ते परिभूयमाणा वावद्यमाना विमुखा भ्रमन्ति ॥४१॥५॥

इति हनुमद्दासविरचिते रमयणीरसोद्रेके रमणादिनिरूपणं नाम तीयः प्रवाहः ॥२॥

गुरु और ज्ञान बिना जब संसार में द्वन्द्व मचा, तब रक्षक स्वामी (गुरुलोगों) ने मिलकर सत्य बात समझाई। और सोई बात गुरुलोग सदा कहते हैं। परन्तु कोई भी अविवेकी उस बात को नहीं माना। या गुरु ज्ञान बिना द्वन्द्व होने पर भी सब मिलकर मिथ्याभूत पति की बात कहने लगे। वाचाऽऽरब्ध को मानने लगे, और सदा मानते, कहते हैं। सची बात को किसीने भी नहीं मानी, न वाचारब्ध को समझा इत्यादि॥५॥

इति रमणादिनिरूपण प्रकरण ॥२॥

## रमयणी ६, मोक्षावस्थाप्रकरण ३.

बरणहु कौन रूप औ रेखा। दूसर कौन आहिं जो देखा॥
औ ॐकार आदि नहिं वेदा। ताकर कहहु कौन कुल भेदा॥

ब्रह्म सर्वशरीरेषु बाह्ये चाभ्यन्तरे स्थितम्।
आकाशमिव भूतेषु रूपाकृतिविवर्जितम् * ॥१॥
निर्भेदं सुमनोगम्यमवाच्यं × जातिवर्जितम्।
स्वप्रकाशं निराधारं नामादिभ्यः परं शिवम् ॥२॥
वर्ण्यते किं तदा तत्र रूपं संस्थानमेव वा।
कश्चान्योऽस्ति ततो यो वै तज्जानीयाद्विचक्षणः ॥३॥
ओंकारमूलको + वेदो यस्मिन्नैव प्रवर्तते।
कुलगोत्रादिभेदा हि कथं तत्रेति कथ्यताम् ॥४॥

---

* अपाणिपादो जवनो ग्रहीता। श्वे. ३। १९॥

× मनसैवेदमाप्तव्यम्। कठो. २। ४। ११॥

+ वेदः प्रणव एवाग्रे। भा स्क. ११। १७। ११॥ यतो वाचो निवर्तन्ते यो मुक्तैरवगम्यते। तस्य चात्मादिकाः संज्ञाः कल्पिता न स्वभावतः॥ वा [illegible] प्र स ५। ३॥

विदितः प्रतिबोधं योऽमतश्चारते स्वयंप्रभः ।
अमृतत्वं भवेत्तस्य ज्ञानात्स्वान्तनिरोधनात् ॥५॥
एवं सति यया बुद्ध्या देहोऽहमिति मन्यते ।
अनात्मन्यात्मताभ्रान्त्या सा स्यात्संसारबन्धिनी ॥६॥

ब्रह्मात्मा में किस रूप रेख ( आकार ) का वर्णन करते हो । उसके रूपादि को देखा सो दूसरा कौन है ॥ ॐकार जिसका आदि है, सो वेद भी जिसको वस्त्वन्तर की नाई नहीं कह सकता, उसमें कुलगोत्रादि का भेद क्या कहते हो ॥

ाहिं तारागण नहिं रवि चन्दा । नाहिं कछु होत पिता के बिन्दा ॥
ाहिं जल नहिं थल नहिं थिर पवना । को धरु नाम हुकुम को वरना ॥
ाहिं कछु होत दिवस औ राती । ताकर कहहु कौन कुलजाती ॥

यत्र * सूर्यो न वै भाति चन्द्रस्तारागणो न च ।
नास्ति जनयिता यस्य वीर्यबिन्द्वादिकारणम् ॥७॥
भूमेरपां न सम्बन्धो वियत्पवनयोर्न च ।
तस्य नामानि के चक्रुः प्रभोः कस्याऽऽज्ञयाऽथवा ॥८॥
दिवारात्र्यादिभेदो नो यस्मिन् तत्त्वे हि विद्यते ।
तस्य जातिः कुलं वाऽपि किं कथं चेति कथ्यताम् ॥९॥
विदिताऽविदितस्थूलह्रस्वादिभ्यो विलक्षणम् ।
जन्मादिविक्रियाहीनं ज्ञायतां तत्परं पदम् ॥१०॥

* न यत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥ श्वे. ६।१४॥

† अन्यदेव तद्विदितादथोऽविदितादधि । केन. १।३॥ अस्थूलमनणुः । बृ. ३।८।८॥

अस्य मतिर्न तर्केणाऽवरेण गुरुणा न च ।
लभ्यते सद्विवेकाद्यैः सद्गुरोर्वचनाद् ध्रुवम् ॥११॥

तारागण सूर्यचन्द्रादि का सम्बन्ध वा प्रकाश जिसमे नहीं है । न पिता के बिन्दु आदि किसी कारण का सम्बन्ध है ॥ न जल, पृथिवी, थिर ( आकाश ), वायु का सम्बन्ध है । उसका नाम कौन धर सकता है । और किसके हुकुम से नामादि का वर्णन कर सकता है ॥ दिनरातादि का कुछ भी भेद जिसमे नहीं है, उसका कुल जाति कौन है सो कहो ॥

साखी ।

सहज शून्य मन सुमिरते, प्रगट भई एक जोत ।
बलिहारी ता पुरुष की, निरालम्ब जो होत ॥६॥

सहजधारणयाऽथ समाधिना विषयशून्यकृते मनसि स्वयम् ।
स्मृतिपथे च कृता मनसाऽमुना स्फुरति वै चितिरद्वयलक्षणा* ॥१२॥
विषयभावमपास्य तदात्मना + भवति यः पुरुषः सुविचक्षणः ।
स्तुतिगिरां विषयः स हि मुक्तधीरहह कुत्र जनैः खलु लभ्यते ॥१३॥

सहजेन स्वभावेन शून्ये स्वहृदयेऽथवा ।
सुविचारे कृते ज्योतिरात्मानन्दोऽभिलक्ष्यते ॥१४॥
ज्ञात्वा तं यो निरालम्बो वर्तते भेदवर्जनात् ।
स एव पुरुषो धन्यो विमुक्तो × भवबन्धनात् ॥१५॥

---

* यत्र नान्यत् पश्यति नान्यद्विजानाति स भूमा । छा. ७।२४।१।

\+ स्थिर इति शेषः ।

× अशरीरं वावसन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः । छा.।८।१२।१॥
उभे हैवैष तरति नैनं कृताकृते तपतः । बृ. ४।४।२२॥

ये वीतरागाश्च जितेन्द्रियास्तथा सुखे च दुःखे च समानवृत्तयः ।
यत्कारिमित्रादिकुबुद्धयो नरास्सुखेन ते शांतिपदस्य भागिनः॥१६,६.

सहज धारणा आदि के द्वारा मन को विषयादिकों से शून्य करने पर जिनके हृदय में एक अखण्ड ज्योति प्रगट हुई है । और जिनकी निरालम्ब स्थिति हुई है, उनहीं महापुरुषों की मैं बलिहारी मानता हू ॥६॥

## रमयणी ७.

तहिया होत पवन नहिं पानी । तहिया सृष्टि कौन उतपानी ।
तहिया होते कलि नहिं फूला । तहिया होत गर्भ नहिं मूला ॥

आलम्बे* तं निरालम्बं सर्वालम्बविवर्जितम् ।
यस्यैवालम्बनाद् भूयः क्वापि लम्बो न लभ्यते ॥१७॥
निरालम्बे+ स्थितौ तावन्निरालम्बबुधस्य वै ।
जन्मादौ न समर्थः स्याच्छ्वसनो वारि वा क्वचित् ॥१८॥
विधया बाधितः सर्वो भूतसङ्घस्तदा भवेत् ।
शरीरस्य समुत्पत्तिर्विपत्तिर्वा कुतो भवेत् ॥१९॥
कर्मात्मा मुकुलो नैव जन्मात्मकुसुमं न च ।
कलहादिविवादश्च तदानीं नैव जायते ॥२०॥
सर्वेषां मूलभूतं यदज्ञानं तच्च नश्यति ।
गर्भे वासः कुतस्तस्य कुतः कामादिसंभवः ॥२१॥

तहिया (निरालम्बाऽवस्था में) पवन, पानी आदि जन्मादि के लिये समर्थ नहीं रहते हैं । तो फिर उस अवस्था में सृष्टि ( शरीर ) को

* आलम्बे ( आश्रये ) निरालम्बम् ( निराधारम् ) सर्वालम्बविवर्जितम् ( सर्वद्वन्द्वाऽस्पर्श्यम् ) लम्बः (अवलंबः) न लभ्यते (न प्राप्नोति) ।
+ ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति । छा. २।२३।१॥

कौन उत्पन्न करे ॥ इसीसे उस अवस्था में कर्मवासना आदि रूप कली और जन्मादिरूप फूल नहीं होते हैं। न किसी प्रकार गर्भवास होता है, न कामादिरूप गर्भ रहते हैं; क्यों कि सबोंकी मूल अविद्या ही नहिं रहने पाती है ॥

तहिया होत विद्या नहिं वेदा । तहिया होत शब्द नहिं स्वादा ॥
तहिया होत पिण्ड नहिं वासू । नहिं धर धरणी गमन अकाशू ॥
तहिया होते गुरु नहिं चेला । गम्य अगम्य न पंथ दुहेला ॥

कामादीनामभावे हि भवबन्धो × न विद्यते ।
खिद्यते न जनो भूयो विद्या वेदा निरर्थकाः ॥२२॥
शब्दादिविषया नैव तेषां स्वादो न विद्यते ।
न शरीरं न तत्रास्य भवेद्वासः कथंचन ॥२३॥
शरीराभावतो नात्र क्रिया काप्युपयुज्यते ।
भ्वाकाशगमनाद्यात्मा गात्रत्राणाय सम्मता ॥२४॥
नापि तत्रोपयुक्तः स्याद्गुरुः शिष्योऽपि कश्चन ।
गम्यागम्यौ न मार्गौ स्तः सर्वेषां बाधितत्वतः ॥२५॥

निरालम्बावस्था में विद्या, वेदादि की जरूरत नहीं रहती है। न शब्दादि विषय, न उनके स्वाद रहते हैं ॥ शरीर में बसना नहीं होता, न शरीर के धारण के वास्ते पृथिवी, आकाश में गमनादिरूप क्रियायें होती हैं ॥ गुरु शिष्य भाव भी नहीं होते हैं, न गम्यागम्य दो प्रकार के मार्ग रहते हैं ॥

× योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रमन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति । बृ.४।४।६॥ यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति । एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम । कठ. २।४।१५॥

साखी।

अविगति की गति का कहौं, जाके गाम न ठाम।
गूण विहूना पेखना, का कहि लीजै नाम ॥७॥

ग्रामो न विद्यते यस्य चासो चाऽपि कथञ्चन।
अदृश्याग्राह्यरूपस्य निरालम्बस्य तत्त्वतः ॥२६॥
जातिक्रियागुणाद्यैश्च विहीनस्यात्मनः खलु।
प्राप्तिः का कथ्यतां धीरैर्ह्यप्तिर्वोऽविषयाऽऽत्मनः ॥२७॥
गुणत्रयात्परश्चायं सर्वोपाधिविवर्जितः।
इति ज्ञप्तिर्भवेत्तस्य नेति नेत्यादिवाक्यतः ॥२८॥
गुणक्रिये च सम्बन्धो जातिरूढी तथैव च।
नात्मन्येते हि विद्यन्ते नाम किं प्रोच्य गृह्यताम् ॥२९॥
न यस्य नामापि च नो गुणादयो विशुद्धविज्ञानघनस्य सर्वथा।
न देशकालौ नहि सङ्गसंकथा तदात्मने वै विदुषे नमोनमः ॥३०॥७॥

इति हनुमद्दासविरचिते रमणीरसोद्रेके मुक्तिदशावर्णनं नाम तृतीयः प्रवाहः ॥३॥

अविगति ( अदृश्यादि ) स्वरूप निरालम्ब आत्मा या ज्ञानी की गति ( प्राप्ति वा आश्रय ) क्या कहा जाय, कि जिसका कोई गाम ठाम भी नहीं है। गुणमय सब पदार्थ से विहीन ही उसे पेखना (जानना) चाहिये। किस गुणादि के द्वारा उसका नाम लिया जाय ॥७॥

इति मुक्तिदशावर्णन प्रकरण ॥३॥

## रमयणी ८, महावाक्योपदेशादि प्रकरण ४.

तत्त्वमसी इनके उपदेशा । ई उपनिषद कहै सँदेशा ॥
ई निश्चय इनके बड़ भारी । याहि कि वर्णन करु अधिकारी ॥
परम तत्त्व के निज परमाना । सनकादिक नारद शुक माना ॥

एव नामादिहीनस्य निर्गुणस्योपदेशनम् ।
तत्त्वमसीति वाक्येन सम्यक् सद्भिर्निगद्यते ॥१॥
त्रिगुणेभ्यः पर यत्तत्त्वैवात्मा न संशयः ।
सर्वे वेदा वदन्त्येवं वेदान्ताः संदिशन्ति च ॥२॥
निरालम्बादिरूपो यः सोऽस्मदात्मेति निश्चयः ।
महानिश्चय एतेषां शिष्याणां च विमुक्तये ॥३॥
अतश्चास्यैव वाक्यस्य वर्णनाऽप्यधिकारिभिः ।
व्यासाद्यैः क्रियते लोके तस्यार्थो ध्रियते हृदि ॥४॥
सनकाद्यैः शुकेनापि नारदेन तथैव च ।
प्रमाणं परतत्त्वस्य त्विदमेवाहृतं सदा ॥५॥

इन ( निरालम्ब स्थितिवाले महात्माओं ) का शिष्यों के प्रति यह उपदेश है कि त्रिगुणपर नामादिरहित निरालम्बस्वरूप तू ही है । अर्थात् तेरा आत्मा ही अविगति निर्गुण है । यही सदेश ( खबर ) सब उपनिषद कहती हैं ॥ इन महात्माओं का तथा परतत्त्व का यही भारी निश्चय है । इसीका वर्णन अधिकारी (मुख्याचार्य) लोग करते हैं ॥

* तत्त्वमसि श्वेतकेतो । छा. ६।८।७॥ एवम्, अयमात्मा ब्रह्म । बृ. ४।४।५॥ अहं ब्रह्मास्मि । बृ. १।४।१०॥ प्रज्ञानं ब्रह्म । ऐतरेय. ३।३।३॥ इत्यादि बोध्यम् ॥

परम तत्त्व के इसी रास प्रमाण को सनकादि नारदशुकदेवादिकों ने भी माना है ॥

यागवल्क्य औ जनक सँवादा। दत्तात्रेय वही रस स्वादा ॥
वही वसिष्ठ राम मिलि गाई। वही कृष्ण उद्धव समुझाई ॥
वही बात लै जनक दृढाई। देहे धरे विदेह कहाई ॥

याज्ञवल्क्यस्य संवादे जनकेन वृते पुरा।
इदं वै दृश्यते तत्त्वमद्वैतानन्दलक्षणम् ॥६॥
अयमेव रसस्तावद्दत्तात्रेयेण धीमता।
स्वादितः कृतकृत्येन विरक्तेन समाधिना ॥७॥
श्रीरामेण मिलित्वा च वसिष्ठोऽपि महामुनिः।
संजगावमुमेवार्थं श्रीकृष्ण उद्धवेन च ॥८॥
श्रीकृष्णो बोधयामास यमर्थं ह्युद्धवं प्रति।
तत्तत्त्वं निधिवज्ज्ञात्वा जनको राजसत्तमः ॥
सति देहे विदेहत्वं जीवन्मुक्तो ह्यवाप्तवान् ॥९॥

याज्ञवल्क्य और जनक के सम्वाद में यही बात है। दत्तात्रेय ने इसी रस (आनन्द) का स्वाद लिया ॥ यही बात वसिष्ठ और राम ने मिलकर गाया है, तथा कृष्णजी ने इसी अर्थ को उद्धव के प्रति समझाया है। जनकजी इसी बात का दृढ निश्चय करके देहधारी रहते विदेह कहलाये ॥

साखी।

कुल अभिमाना खोयके, जियत मुआ नहिं होय।
देखत जो नहिं देखिया, अदृष्ट कहावै सोय ॥८॥

देहाभिमानिनां मृत्युः प्राणोत्कान्त्यादिलक्षणः ।
दिग्क्षये भवत्येव नैव स ज्ञानिनां क्वचित् ॥१०॥
अभिमानानि संत्यज्य स्वात्मनिष्ठो भवेदतः ।
अन्यथा भवचक्रोऽयं कदापि न नशिष्यति ॥११॥
अभिमानं समं त्यक्त्वा यो जीवति विमुक्तधीः ।
म्रियते न कदाप्येष साक्षिरूपेण तिष्ठति ॥१२॥
स हि पश्यति सर्वं चित् दृश्यते नैव केनचित् ।
अदृश्योऽसौ स्थितः स्वात्मा साक्षिरूपो निरञ्जनः ॥१३॥
तस्य ज्ञानाद् भवेत्तज्ज्ञः साक्षिरूपोऽव्ययःस्वयम् ।
अदृश्यश्चाप्रमेयश्च विदेहो नात्र संशयः ॥१४॥८॥

कुल ( कुलगोत्रादि के वा सब ) अभिमान को त्याग कर जो ज्ञानी जीवित रहता है, सो कबही मुआ नहीं होता । जो सबको देखनेवाला साक्षी है, जो किसीसे देखा नहीं जाता, वही अदृष्ट ( अदृश्य ) कहा जाता है ॥ अथवा जो कुल अभि[illegible] त्याग [illegible] न मुआ ( जीवित वा मृतक ) किसी रूप न [illegible] जीव [illegible] रहित पुरुष सबको देखता हुआ [illegible] अदृष्ट ( [illegible] ) कहाता है ॥८

सिद्धयो * निधयश्चैवाऽविद्यादिक्लेशसंयुताः ×।
पुर्यष्टकप्रकृत्यष्टसमूहा + ये भवन्ति ह ॥१६॥
सकामा भक्तयो वाऽपि ह्यष्टधा नवधा गुणाः ।
सूत्रभूता भवन्त्येते बध्नाति तैर्यमो जनान् ॥१७॥
तथैव ये भवन्त्येतामुपासनपरा नराः ।
एतेषां पुत्रवद् भक्तास्तान् बध्नाति स्वयं यमः ॥१८॥
अजायाः प्रकृतेर्भक्तास्तत्पुत्रा इव ये नराः ।
तान् बध्नाति तथैवासौ यमो वै बलवत्तमः ॥१९॥
जनिमन्तं तु बध्नन्ति सर्वे तद्वाहनानि वै ।
तमःकाममुखान्यङ्ग सृष्टिं च कलयामि किम् ॥२०॥

---

* अणिमा लघिमा प्राप्तिः प्राकाम्यं महिमा तथा । ईशित्वं च वशित्वं च सर्वकामावसायिता ॥ सार्वज्ञं दूरश्रवणं परकायप्रवेशनम् । वाक्सिद्धिः कल्पवृक्षत्वं स्रष्टुं संहर्तुमीशता ॥ अमरत्वं च सर्वाग्र्यं सिद्धयोऽष्टादश स्मृताः ॥ ब्रह्मवैवर्तपु. ब्र. ख अ ६। १८–१९॥ चादजरत्वम् ॥ अन्यत्र तु–अनूर्मिमत्वं देहेऽस्मिन् दूरश्रवणदर्शनम् । मनोजवः कामरूपं परकायप्रवेशनम् ॥ स्वच्छन्दमृत्युर्देवानां सहक्रीडाऽनुदर्शनम् । यथासङ्कल्पसंसिद्धिराज्ञाऽप्रतिहता गतिः ॥ इति दशगुणाः सिद्धित्वेन वर्णिताः, सिद्धयोऽष्टावेवेति ॥

× पद्मोऽस्त्रियां महापद्मः शङ्खो मकरकच्छपौ । मुकुन्दकुन्दनीलाश्च खर्वश्च निधयो नव ॥ शब्दार्णवको. ॥ अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः । योगसू. २।३॥

\+ मनोबुद्धिरहङ्कारस्तथा तन्मात्रपञ्चकम् । इति पुर्यष्टकं प्रोक्तं देहोऽस्माधातिवाहिकः ॥ यो. वा. नि. स. ५१।५॥ भूतेन्द्रियमनोबुद्धिवासना कर्मवायवः । अविद्या चाष्टकं प्रोक्तं पुर्यष्टमृषिसत्तमैः ॥ यद्वा, ज्ञानेन्द्रियाणि खलु पञ्च तथा पराणि कर्मेन्द्रियाणि मन आदि चतुष्टयं च । प्राणादि

देहाभिमानिनां मृत्युः प्राणोत्क्रान्त्यादिलक्षणः ।
दिग्भ्रक्षये भवत्येव नैव स ज्ञानिनां क्वचित् ॥१०॥
अभिमानानि संत्यज्य स्वात्मनिष्ठो भवेद्यतः ।
अन्यथा भवचक्रोऽयं कदापि न नशिष्यति ॥११॥
अभिमानं समं त्यक्त्वा यो जीवति विमुक्तधीः ।
म्रियते न कदाप्येष साक्षिरूपेण तिष्ठति ॥१२॥
या हि पश्यति सर्वं चित् दृश्यते नैव केनचित् ।
अदृश्योऽसौ स्थितः स्वात्मा साक्षिरूपो निरञ्जनः ॥१३॥
तस्य ज्ञानाद् भवेत्तज्ज्ञः साक्षिरूपोऽव्ययःस्वयम् ।
अदृश्यश्चाप्रमेयश्च विदेहो नात्र संशयः ॥१४॥८॥

कुल ( कुलगोत्रादि के वा सब ) अभिमान को त्याग कर जो ज्ञानी जीवित रहता है, सो कबही मुआ नहीं होता। जो सबको देखनेवाला साक्षी है, जो किसीसे देखा नहीं जाता, वही अदृष्ट ( अदृश्य ) कहा जाता है॥ अथवा जो कुल अभिमानादि को त्याग कर जियत मुआ ( जीवित वा मृतक ) किसी रूप नहीं होता, सो जीवनादि के अभिमान रहित पुरुष सबको देखता हुआ भी किसीको नहीं देखता है, इसीसे अदृष्ट ( जितेन्द्रिय ) कहाता है ॥८॥

## रमयणी ९.

बांध्यो अष्ट कष्ट नव सूता। यम बाँध्यो अजनी के पूता ॥
यम के वाहन बाँध्यो जनी। बाँध्यो सृष्टि कहाँ लौं गनी ॥

जीवन्मुक्तेरसंप्राप्तौ बध्यन्ते सर्वजन्तवः ।
यमेनापरिमेयेन कालरूपेण सर्वदा ॥१५॥

सिद्धयो * निधयश्चैवाऽविद्यादिक्लेशसंयुताः ×।
पुर्यष्टकप्रकृत्यष्टसमूहा + ये भवन्ति ह ॥१६॥
सकामा भक्तयो वाऽपि ह्यष्टधा नवधा गुणाः।
सूत्रभूता भवन्त्येते बध्नाति तैर्यमो जनान् ॥१७॥
तथैव ये भवन्त्येतमुपासनपरा नराः।
एतेषां पुत्रवद् भक्तास्तान् बध्नाति स्वयं यमः ॥१८॥
अजायाः प्रकृतेर्भक्तास्तत्पुत्रा इव ये नराः।
तान् बध्नाति तथैवासौ यमो वै बलवत्तमः ॥१९॥
जनिमन्तं तु बध्नन्ति सर्वे तद्वाहनानि वै।
तमःकाममुखान्यङ्ग स्पृष्टिं च कलयामि किम् ॥२०॥

---

* अणिमा लघिमा प्राप्तिः प्राकाम्यं महिमा तथा। ईशित्वं च वशित्वं च सर्वकामावसायिता ॥ सार्वज्ञ्यं दूरश्रवणं परकायप्रवेशनम्। वाक्सिद्धिः कल्पवृक्षत्वं स्रष्टुं संहर्तुमीशता ॥ अमरत्वं च सर्वाग्र्यं सिद्धयोऽष्टादश स्मृताः ॥ ब्रह्मवैवर्तपु. प्र. ख. अ. ६। १८—१९॥ चाद्जरत्नम् ॥ अन्यत्र तु—अनूर्मिमत्त्वं देहेऽस्मिन् दूरश्रवणदर्शनम्। मनोजवः कामरूपं परकायप्रवेशनम् ॥ स्वच्छन्दमृत्युर्देवानां सहक्रीडाऽनुदर्शनम्। यथासङ्कल्पसंसिद्धिराज्ञाऽप्रतिहता गतिः ॥ इति दशगुणाः सिद्धित्वेन वर्णिताः, सिद्धयोऽष्टावेवेति ॥

× पद्मोऽस्त्रियां महापद्मः शङ्खो मकरकच्छपौ। मुकुन्दकुन्दनीलाश्च खर्वश्च निधयो नव ॥ शब्दार्णवको. ॥ अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः। योगसू. २।३॥

\+ मनोबुद्धिरहङ्कारस्तथा तन्मात्रपञ्चकम्। इति पुर्यष्टकं प्रोक्तं देहोऽसावातिवाहिकः ॥ यो. वा. नि. स. ५१।५॥ भूतेन्द्रियमनोबुद्धिवासनाकर्मवायवः। अविद्या चाष्टकं प्रोक्तं पुर्यष्टमृषिसत्तमैः ॥ यद्वा, ज्ञानेन्द्रियाणि खलु पञ्च तथा पराणि कर्मेन्द्रियाणि मन आदि चतुष्टयं च। प्राणादि

उपासकः स्वसेव्यस्य गुणनामादिकं स्मरन् ।
अवलम्बेन तेनैव तत्त्वं स्मरति वै बुधः ॥२४॥
शनैः पान्थ इव प्राप्य स्वात्मदेवं निरञ्जनम् ।
तत्रस्थो मोदते चासौ सावधानो भवेत्तथा ॥२५॥

तैंतिस कोटि देवों को भी यम और यमवाहन बाधते हैं, इनमें से जो कोई स्मरण विचारादि किये, वे लोग लोह बन्धन तुल्य दृढ बन्धन को भी तोड़कर मुक्त होगये ॥ राजा (स्वतंत्र ज्ञानी) तुरिया (चतुर्थ) अवस्था में प्राप्त होकर स्मरण सुधार करते हैं। पन्थी (पथिक—उपासक) अपने उपास्य का नाम लेता हुआ, और आगे की अवस्थाओं में बढता (प्राप्त होता) हुवा स्मरण सुधार करता है ॥

अर्थ विहूनी सँमरी नारी । परजा समरे पुहुमी झारी ॥

अर्थेच्छारहितो यश्च नारीवाऽस्ववशो नरः ।
कर्मठः सोऽपि संस्मृत्या परं तत्वमवाप्नुयात् ॥२६॥
अलमत्र बहूक्तेन त्वेतावन्तं विनिश्चिनु ।
अर्थत्यागेन × निष्कामाः सर्वे शुद्धा भवन्ति हि ॥२७॥
पृथिव्यां सन्ति याः काश्चि*द्देवलोकेऽपि सन्ति याः ।
प्रजास्ताः प्रविशुद्धेयुरर्थेच्छादिविवर्जनात् ॥२८॥

× शुक्लय. सं. अ. ७।४८। कोऽदात् कस्मा अदात्, कामोऽदात् कामायादात्। कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता कामैतत्ते ॥ कृष्णय. तैतिरीयब्रा. २।८।८। कामो भूतस्य भव्यस्य सम्राडेको विराजते ॥

*तद्यो यो देवाना प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत् तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम्। बृ. १।४।१।

न यत्र रागो न च मोहमत्सरौ मानादिहीने गुणबन्धवर्जिते ।
न द्रोहरोषौ भयभोगभावना ज्ञेयः सदा सोऽत्र विमोक्षभाजनम् ॥२९॥

अर्थ ( द्रव्यादि ) की कामना रहित नारी ( परवश कर्मकण्डी ) भी सत्य स्मरण सुधार करता है। और निष्काम होने पर पुहुमी ( पृथिवी ) पर रहनेवाली झारी ( सब ही ) प्रजा सुधर जाती है; क्योंकि काम ही सब अनर्थों का हेतु है ॥

साखी, दोहा ।

• बन्दि मनावे ते फल पावे, बन्दि दिया सो देइ ।
कहहिं कबीर तेइ ऊबरे, निशिदिन नामहि लेइ ॥९॥

बन्धयुक्ता यतः सर्वे कामेनैव निरन्तरम् ।
शुभाशुभफलं तेन भुञ्जते च भ्रमन्ति च ॥३०॥
ईश्वरो देववर्गो वा जीवैर्दत्तं ददाति हि ।
यतश्चैतैः कृतस्यैव फलदाता भवेत् प्रभुः ॥३१॥
देहि × मे ते ददाम्येवं यजुर्वेदे स्फुटं श्रुतम् ।
दत्तमेव परस्मै च सुखं दुःखं च लभ्यते ॥३२॥
रागद्वेषौ व्युदस्यात्र यो नरः सततं स्मरेत् ।
गृह्णीयात् सारशब्दं च स तरेद् भवसागरम् ॥३३॥
सद्गुरुः कृपया प्राह संदेशं तं सनातनम् ।
यच्छ्रवणादितो धीरो भवबन्धाद्विमुच्यते ॥३४॥

× शुक्लय. ३।५१ इन्द्रोक्तिः । देहि मे ददामि ते, नि मे धेहि नि ते दधे । निहारं च हरासि मे, निहारं निहराणि ते स्वाहा ॥ मे निधेहि-नितरां धारय । अर्द्धेन यजमानोक्तिः । मे निहार-मूल्येन दातुं योग्य-हरासि-प्रयच्छ ॥

ध्रुवादिकं यो निपुणं विहाय कामादिमुक्तः सततं परेशाम् ।
भजपेत्तद्विमलं च नाम स बन्धमुक्तो हि नरेन्द्र वाब्धिम् ॥३५॥९॥

बन्दी ( भवबन्धनयुक्त या दास ) जीव मनावेते ( इच्छा से ) ही
ध्रुवादि फलों को पाता ( भोगता ) है, क्योंकि सो (ईश्वर, देवादि)
इस जीव के दिया ही देते हैं। जो पुरुष इच्छा आदि को त्याग कर
सदा नाम का स्मरणोच्चारणादि करता है, सोही भवफाँस से छूटता है॥९॥

## रमयणी १०.

राही है पिपराहीं बही। करगी आवत काहु न कहीं ॥
आई करगी भौ अजगूता। जन्म जन्म यम पहिरे बूता ॥
बुता पहिरि यम कैरे समाना। तीन लोक महँ करै पयाना ॥

पथिकोपासकोऽप्यर्थं गृहीत्वोपास्ति सम्भवम् ।
पिप्पलं × श्रुतिसंप्रोक्तं भवनद्यां निरुह्यते ॥३६॥
बन्धप्रदस्य तस्यात्र ग्रहणे समुपस्थिते ।
न कोपि प्रोक्तवानेनं पथिकं सज्जनोऽपि हि ॥३७॥
करग्राहमिमं + त्यक्त्वा भवनद्यास्तटं श्रय ।
न यापय वृथा कालं न कामवशगो भव ॥३८॥
अतः काम्यफलान्येनं प्राप्य चाश्चर्यरूपताम् ।
प्राप्नुवन् सर्वजन्मादौ कालवेषं विधाय हि ॥३९॥

× तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति । मुण्ड. ३।१।१॥

+ कर गृह्णातीति कर्मण्युपपदेऽण् ।

तेषां वेषात्मकः कालः कृत्वा परिकरं * स्वयम् ।
ईयिवाँस्त्रिपु × लोकेषु लोकानांरन्धनाय हि ॥४०॥

राही (उपासक भक्त) जीव भी पिपरा (कर्मफल) लेकर (उसकी इच्छा करके) ही ससार समुद्र में बहा, और बहता है। उस इच्छा ने करगी (पास) में आते समय ही किसीने अज्ञों को समझाया भी नहीं॥ इससे इनके पास (अन्त.करण) में आकर सो अजगूत (आश्चर्य) रूप को धारण किया। और हरेक जन्मों में वही यम के बूता (स्वाग वा बल) को धारण किया॥ और यम के स्वाँगादि पहिर (धर) करके वह समाना (तैयारी) किया। तथा तीनों लोकों में पयाना (यात्रा) किया और करती है॥

बाँध्यो ब्रह्मा विष्णु महेशू। सुर नर मुनि सब बाँधु गणेशू॥
बाँध्यो पवन पावक थल नीरू। चान्द सूर्य बाँध्यो दुइ बीरू॥
साँच मन्त्र बाँधिन सब झारी। अमरित वस्तु न जानै नारी।

ब्रह्मविष्णुमहेशान् स बबन्धैव महाबलः।
देवान् मुनीन् मनुष्यांश्च बबन्धैव न संशयः ॥४१॥
गणेशं भूतसंघांश्च पवनं पावकं महीम्।
नीरं च चन्द्रमस्सूर्यौ वीरौ सैव बबन्ध ह ॥४२॥
सत्यमन्त्रविचारादीन् सर्वानन्विष्य हेलया + ।
बबन्ध सोऽतिवेगेन कलनाय * समुद्यतः ॥४३॥

* आरम्भ परिवार वा कृत्वा।

× उपेयिवानित्यादावुपेत्यस्याविवक्षितत्वादीयिवानिति ॥

+ अवज्ञया–अनादरेणेत्यर्थः।

* परिगणनाय–प्रमापनाय–मृत्यवे वा सम्यगुद्यतः।

सर्वेऽतः कामिनो मोहात्कान्तावत् परकामुकाः *।
अस्वतन्त्रा न जानन्ति ह्यमृतत्वं निजात्मकम् ॥४४॥

इस इच्छा ने ही ब्रह्मा, विष्णु और महेश को भी बाँधा। तथा सब
व, मनुष्य, मुनि और गणेश को भी बाँधकर वश में किया॥ वायु,
ग्नि, पृथिवी और जल को बाँधा। तथा बड़े वीर चन्द्र और सूर्य दोनों
ो बाँधा॥ सत्यमन्त्र सबको भी उसने खोज २ कर बाँध दिया, कामी
ीवों के हृदय में सत्यमन्त्रादि को प्रगट नहीं होने दिया। इससे परवश
री तुल्य जीव अमृत वस्तु ( आत्मतत्त्व ) को नहीं जान सका॥

साखी।

अमृत वस्तु जाने नहीं, मगन भया सब लोय।
कहहिं कबिर कामो नहीं, जीवहिं मरण न होय ॥१०॥

अमृतत्वस्य चाज्ञानात् सर्वे मग्ना भवार्णवे।
कामेन विषमेनात्र नोन्मज्जन्ति कदाचन ॥४५॥
इदानीमपि चेत्कामं§ त्यजेत्सर्वात्मना जनः।
अस्य नैव पुनः क्वापि मरणं स्यात्कदाचन ॥४६॥
स्मृत्य चात्मानमनन्तचिद्घनं कामेन सर्वे खलु संसरन्ति हि।
ह्मा शिवो विष्णुमुखा हि देवताः कामेन बद्धा नहि तद्विपर्यये ॥४७॥

* दृश्यन्ते हि महात्मान ऋषयो दिव्यचक्षुषः। संसक्ताः सूक्ष्मभावेषु
ो दोषास्तेषु सशिताः। वायुपु. १२।२९॥

§ अथर्ववेद–का. १।४।८।४४। अकामो धीरो अमृतः स्वयम्भू रसेन
ृप्तो न कुतश्चनोनः। तमेव विद्वान् न विभाय मृत्योरात्मान धीरमजर
ुवानम्॥ आत्मपु. ६।१३०३॥ कामाना हृदये वासः संसार इति
ोर्तितः तेषा सर्वात्मना नाशो मोक्ष उक्तो मनीषिभिः॥

यत्रैव मेदोऽपि विभिद्यते तथा वियुज्यते रागमदक्रुधादिकम् ।
हृद्येव नित्यामृतपानतः सुधीर्मृत्योः सुदूरे वितते स मोदते ॥४८॥१०॥

इति हनुमद्दासविरचिते रमयणीरसोद्रेके महावाक्योपदेशनिष्काम-कर्मादिवर्णन नाम चतुर्थ. प्रवाह॰ ॥४॥

अमृत वस्तु को नहीं जानने के कारण सब लोग ससार समुद्र में मग्न हो रहे हैं और डूए । साहब का कहना है कि यदि अब भी काम का सर्वथा अभाव हो जाय, तो इस जीव का फिर मरण नहीं होय ॥१०॥

इति महावाक्योपदेशादि प्रकरण ॥४॥

## रमयणी ११, मनोमायामहिमा प्रकरण ५.

ऑधरि गुष्टि सृष्टि भई बौरी । तीनि लोक महँ लागु ठगौरी ॥
ब्रह्महिं ठग्यो नाग कहँ जारी । देवन सहित ठग्यो त्रिपुरारी ॥
राज ठगौरी विष्णुहिं परी । चौदह भुवन केर चौधरी ॥

तामस्याः खलु मायाया गोष्ट्या कामेन वै जगत् ।
उन्मत्तं वर्तते ×सर्वं वञ्चनाऽतो जगत्त्रये ॥१॥
वञ्चकैः क्रियते सा च मनसाऽमार्गगामिना ।
मायया कर्मणा चैव कामेनापि दुरात्मना ॥२॥
ब्रह्माणमपि* मायैपाऽवञ्चयत्सृष्टिलालसा ।
अदहत्सर्वनागान् सा कुभोगैः कामरूपिणी ॥३॥

× यस्मिन् यस्मिंश्च सयुक्तो भूत ऐश्वर्यलक्षणे । तत्रैव सङ्ग भजते तेनैव प्रविनश्यति । वायुपु. अ. १२।२८॥

* मुनीनामपि देवाना ब्रह्मादीना हि शास्त्रतः । अनुमानाच्च गम्येत सुपद्दु सोपभोगिता ॥ आत्मपु. अ. १। ८५०॥

देवांश्च सुखलोभेन वामासक्तान् विभूतिभिः ।
शंभुं वञ्चयते स्मैवं संहारेणैव कर्मणा ॥४॥
सर्वेषां भुवनानां तु पालनाकर्मणा हरिम् ।
सर्वलोकप्रधानं साऽवञ्चयद्राजधर्मिणम् ॥५॥

काम के अभाव से जीवों का कल्याण हो सकता है, परन्तु काम का अभाव कैसे हो। यह सृष्टि तो आँधरि ( तामसी माया-कुबुद्धि ) की गुष्टि (कथा) से बौरी हो रही है। इसीसे तीनों लोकों में मनमायाकृत ठगौरी (वञ्चना) लगी है ॥ इस आँधरी की गुष्टि आदिकों ने ब्रह्मा को भी ठगा, और नागों को जलाया। तथा देवताओं के सहित शिवजी को मोहित किया ॥ चौदहों भुवन के चौधरी (स्वामी) विष्णु भगवान् में भी राज्यकार्य रूप वञ्चना ही माया से प्राप्त हुई ॥

आदि अन्त जाकि जनक न जानी। ताकी डर तुम काहे मानी ॥
वे उतङ्ग तुम जाति पतंगा। यम घर कियहु जीव को संगा ॥
नीम कीट जस नीम पियारा। विष को अमरित कहै गमारा ॥

यस्या धाताऽपि नाद्यन्तौ स्वयं वेत्तीह तत्त्वतः ।
अनिर्वाच्यस्वरूपायास्तस्यास्त्वं किं बिभेषि वै ॥६॥
तस्या नैव भयं युक्तं प्रीतिस्तत्र न युज्यते ।
भयेन वशगो भूत्वा भ्रान्तो भ्रमति सर्वदा ॥७॥
उद्यताग्निशिखातुल्या माया तस्यां पतङ्गवत् ।
प्रेम्णा पतति मूढो यः स याति यमसद्मनि ॥८॥
निम्बजातस्य कीटस्य प्रियो निम्बो भवेद्यथा ।
तथैव विषयासक्तो विषं वै मन्यतेऽमृतम् ॥९॥
मोहेनैव त्वया सौम्य यमगेहे निजात्मनः ।
सम्बन्धः क्रियते तद्वद् विषयो भुज्यते विषम् ॥१०॥

यथा कोप्यतिमूढो हि विषं वै भाषतेऽमृतम् ।
अकृतात्मा तथैवायं विषयान् भाषते हितान् ॥११॥

जिस अनादि माया के आदि अन्त को लोकजनक ब्रह्माजी ने भी नहीं जाना । उसका डर तुम क्यों मानते हो ॥ डर ( भय ) मानने पर तो वह उत्तग ( उची )। अग्निशिखा की नाई होती है, और तुम पतङ्ग जाति के तुल्य होते हो । और इसीसे यमघर रूप ससार में अपने जीवात्मा का सग ( सबन्ध ) किये हो ॥ जैसे नीम के कीटों को नीम ही अच्छा लगता है, तैसे ही ससार में आसक्तिवाला गँवार ( अज्ञ ) विषयविष को ही अमृत ( सुखद ) कहता है ॥

विष अमरित गौ एकै सानी । जिन जानी तिन विष कै मानी ॥
विष के संग कौन गुण होई । किञ्चित लाभ मूल गौ खोई ॥

पीयूषविषसम्बन्धं यत्र जानाति बुद्धिमान् ।
एकस्मिंस्तत्र चादत्ते विष ज्ञात्वा तमञ्जसा* ॥१२॥
सुखदुःखसमायोगं ज्ञात्वैवं विषयादिषु ।
बुधा नाददते तांस्तु ज्ञात्वैव मरणप्रदान् ॥१३॥
विषेण च यथा सङ्गादमृतस्य निजा गुणाः ।
विनश्यन्ति तथा सङ्गात्सौख्यादिदुःखतां व्रजेत् ॥१४॥
विषयाख्यविषैः सङ्गाल्लाभः क+ इह देहिनाम् ।
अल्पेन सुखलाभेन मूलं सौख्यं विनश्यति ॥१५॥

* अञ्जसा—तत्त्वतो झटिति वा ।

+ विषमिश्रं यथैवान्नं मूढस्य सुखदं भवेत् । एवं प्रेयं इदं सर्वं मूढस्य सुखदं स्मृतम् ॥ आत्मपु. अ. ९।२७१॥

विष और अमृत जहाँ एकत्र मिले हों, वहाँ जाननेवाले उसे विष ही समझेंगे ॥ क्योंकि विष के साथ मिलने पर अमृत का अपना कौन गुण रह सकता है? विषयुक्त अमृत के खाने से बहुत थोड़ा लाभ (उदरपूर्ति) होता है। और तुरन्त मूल (देह) भी नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार विषयसंग से भी आत्मानन्द की थोड़ी अभिव्यक्ति होती है, फिर वह आनन्द अत्यन्त आवृत्त हो जाता है ॥

काह भयो नर शुद्ध विशुद्धा। बिनु परिचय जग बूड न बूझा ॥
मति के हीन कौन गुण कहई। लालच लागी आशा रहई ॥

मूलसौख्यविनाशे च वंशशुद्धया भवेत् किमु।
आचारादिविशुद्धो वा किं करिष्यति मन्दधीः ॥१६॥
सर्वानन्दनिदानस्य स्वात्मनोऽनुभवं विना।
भवाब्धावेव मज्जन्ति + सर्वे नैव तु पण्डिताः ॥१७॥
यश्चात्ममतिहीनः स गुणं कं वा वदिष्यति।
शमादिलक्षणं किम्वा ह्यमानित्वादिलक्षणम् ॥१८॥
स लोभेन स्वयंग्रस्त आशया पीड्यते सदा।
यतोऽप्राप्तेऽविरक्ते च लोभाशे सह तिष्ठतः ॥१९॥

यदि विषयसंगादि रहित परमानन्द की प्राप्ति नहीं हुई तो कुल-गोत्रादि से शुद्ध विशुद्ध होने से भी क्या फल मिला। आत्मपरिचय बिना शुद्ध विशुद्ध भी ससार सागर में डूब ही गया। केवल बुद्ध (बुध–ज्ञानी) ही नहीं डूबे या बूडते हुए अपने को भी नहीं बूझा (नहीं समझा) ॥ जो पुरुष संग करके मतिहीन है, वह शमादि, अमानित्वादि

+ सर्वे निमज्जन्त्येव, पण्डिता एव तु न निमज्जन्ति ॥

किस गुण को कह सकता है, उसके मन में तो सदा लोभ लगा रहता है, और आशा बनी रहती है ॥

साखी ।

मूये हौ मरि जाहुगे, मुये कि बाजी ढोल ।
स्वप्न सनेही जग भया, सहिदानी रहि बोल ॥११॥

कामलोभादिभिर्विद्वन् बहुकृत्वो मृतो भवान् ।
सत्यज्ञाने पुनस्त्वं हि मरिष्यसि पुनः पुनः ॥२०॥
एतस्य मरणस्यैव भेरी लोके निहन्यते ।
अतो यत्नो विधातव्यो येन मृत्युर्न बाधते ॥२१॥
हा लोकास्तं+ परित्यज्य स्वप्नवन्मायिकेषु ये ।
स्नेहं बध्नन्ति नश्यन्ति तेषां नामैव शिष्यते ॥२२॥
न ज्ञानं लभ्यते तैश्च न सौख्यं न परं पदम् ।
खिद्यन्ते ते मुधा शश्वत् कालपाशवशंगताः ॥२३॥
मायावशे प्राप्य विमूढमानसाः सुवञ्चिताः कामविमोहजालकैः ।
भीताः प्रतीताश्च विलज्जिताः कचित् स्निग्धाः क्वचिन्मृत्युमुखे प्रयान्ति हि ॥२४॥११॥

साहब का कहना है कि इन सगकामलोभादि के वश में होकर तुमलोग अनन्त वार मरे हो, और फिर मरोगे। इस मरण का ही ढोल बाज रहा है। इसलिये अब भी संगादि को त्यागो। जो संसारी लोग संगादि को नहीं त्याग कर स्वप्नतुल्य मिथ्या संसार में स्नेह किये, वे लोग नष्ट ही हो गये। उनकी बोल (नाममात्र) सहिदानी (निशानी) रह गई ॥११॥

+ तम्-आत्मानं शमादिगुणं वा ॥

## रमयणी १२.

माटिक कोट पषाणक ताला । सोई बन सोई रखवाला ॥

आत्मनो राजवर्यस्य* बुद्धिर्वै नगरी शुभा ।
सत्त्वांशोऽस्य गृहं तत्र स सुव्यक्तोऽत्र+ तिष्ठति ॥२५॥
मृण्मयश्चास्य देहोऽयं प्राकारो× विद्यते महान् ।
क्षणे‡ भङ्गुरतायुक्तो वालुकागृहवन्मतः ॥२६॥
मनः पाषाणवच्चैतल्लिङ्गं देहस्तथैव च ।°
आमुक्तेः स्थायिरूपत्वाद् व्यक्ताव्यक्तस्वरूपतः ॥२७॥
मन एव वनं चेदमशुद्धस्याद्धिकल्पनैः ।
विषयार्क† भयस्थानं जीवसंसृतिकारणम् ॥२८॥
लिङ्गे चास्मिन् गृहे देहे कपाटयन्त्रिकादिकम्§ ।
रक्षकं चास्य देहस्य जीवस्याविषयो* मनः ॥२९॥

---

* राजा चासौ वर्य उत्तम. प्रधानमिति यावत्। अथवा राज्ञां वर्यः, पुरुषोत्तमवत्समास., न निर्धारण, इति निषेधो नेतिभाव.। राजभी राजभ्यो वा वर्य इति बोध्यम् ॥

+ अत्र ससारे ॥

× वरण इति ॥

‡ क्षणे व्यतीते सति भङ्गुरतायुक्त. ॥

† विषयैरक्त व्याप्तमित्यर्थ ॥

§ तालेति प्रसिद्धम्। ह्रस्व यन्त्र यन्त्रिका, गुधूवीपचीत्याद्युणादित्र-प्रत्ययान्ताद् ह्रस्वार्थे कप्रत्ययः। स्त्रीत्व लोकात् ॥

* उत्तरपदप्राधान्यात्पुंस्त्वम् ॥

स्थूल देह माटी का कोट है। चिरस्थायी पाषाण तुल्य मोक्ष पर्यन्त स्थायी सूक्ष्म देह मन, उस कोट के फाटक ताला आदिक रूप है। और सो सूक्ष्मदेहादिक ही सघन वन तुल्य भय का स्थान है और रक्षक भी है॥

सो वन देखत जीव डराना। ब्राह्मण वैष्णव एकै जाना॥
ज्यों रि किसान किसानी करई। उपजै खेत बीज नहिं परई॥

विकल्पवन्मनो दृष्ट्वा वनभूतं हि जीवकाः।
तस्माद् भीता अनात्मानममन्वत हि रक्षकम् ॥३०॥
ब्राह्मणं वैष्णवं सर्वं ह्येकं कृत्वा त्वमन्वत।
पूज्यं नैव स्वमात्मानं सर्वदुःखभयापहम् ॥३१॥
ब्राह्मणा वैष्णवाद्या वा ह्येकमन्यं स्म जानते।
भुक्तये मुक्तये चैव स्वात्मानं नैव मुक्तये ॥३२॥
यथा कृषीवलः कश्चित् कृषिं कुर्याद्विचक्षणः।
पलालस्यातिवृद्धिः स्यात्तत्र चान्नं लगेन्नहि ॥३३॥
तथैवानात्मभानेन ध्यानाद्येन + भवेत् सदा।
शरीरक्षेत्रवृद्धिर्वै × बोधबीजं * न जायते ॥३४॥

उस वन को देखकर जब जीव को डर (भय) हुआ, तब ब्राह्मण, वैष्णवादि लोगों ने एक किसी तटस्थ देव को रक्षक समझा॥ जिससे ऐसी दशा हुई कि जैसे कोई किसान खेती करे, और खेत में डाँठ–

+ ध्यानमाद्यं यत्रेति॥

× देहात्मकक्षेत्रस्य तत्र कामतृष्णाकर्मादेश्च वृद्धिरित्यर्थः॥

* बोधात्मकं बीजं बोधस्य वा बीजं वैराग्यविचारशमादिकमिति॥

घास उपजे; परन्तु उसमें बीज (अन्न) नहीं लगे। तैसे ही तटस्थ देव के ज्ञान, भक्ति आदि से शरीर रूप खेत में पुत्रपौत्रादि, धनादि की वृद्धि होती है, परन्तु ज्ञान मोक्षरूप फल नहीं लगते हैं ॥

छाड़ि देहु नर झेलिक झेला। बूड़े दोउ गुरु औ चेला ॥
तीसर बूड़े पारथि भाई। जिन वन दाह्यो दावा लाई ॥

भो नरास्त्यज्यतामस्माद् भवाम्भोधौ विचेष्टनम्।
क्रीडितव्यं * तु नैवैवमत्रत्यैर्वस्तुभिः क्वचित् ॥३५॥
अत्रैव क्रीडमानौ द्वौ गुरुशिष्यौ न्यमज्जताम्।
व्यर्थवादविवादाद्यैः कालस्य यापने रतौ ॥३६॥
ज्ञानाभ्यासं विना यस्तु हठयोगरतो नरः।
रक्षकः स्वेन्द्रियादीनां विकल्पवनबाधने ॥
हठेनैव प्रवृत्तोऽभूत् स न्यमज्जत् तृतीयकः ॥३७॥
एवं ये रक्षकाः केचित् क्रोधदावाग्निनाऽदहन्।
संसारवनमेतेऽपि न्यमज्जन् वै महाह्रदे ॥३८॥

हे मनुष्यो! इसलिये तुम अब भी इस संसार झेलिक (झील-अगाध जल के) झेला (क्रीड़ा) को छोड़ दो। इसमें क्रीड़ा करनेवाले गुरु और चेला दोनों बूड़ गये ॥ और जिन्होंने क्रोधादि रूप दावानल लगा कर संसारवन को जलाया (प्रजा को पीड़ित किया), वे पारधि (रक्षक) राजा आदि, वा हठ से उक्त वन को दग्ध करने की इच्छावाले योगी आदि तीसरे डूबे ॥

* येषु येषु प्रदेशेषु मनो मज्जति बालवत्। तेभ्यस्तेभ्यः समाहृत्य तद्धि तत्त्वे नियोजयेत्। यो. वा. उपशमप्र. २९।५४॥

भूँकि भूँकि कूकुर मरि गयऊ । काज न एक स्यार से भयऊ ॥

विवेकेन विना श्वेव भषित्वेवेह मानवः ।
अज्ञस्य जम्बुकस्येव श्रुत्वा वाचो विनश्यति ॥३९॥
श्रुतिपाठादि कुर्वाणा निष्फलं सफलं यथा ।
लभन्ते न फलं सत्य मोक्षं विज्ञानमन्तरा ॥४०॥
नैकं कार्यं समीचीनं वञ्चकादभवत् कचित् ।
कस्यापि भुवने लोकास्तं तथाप्यनुयान्ति हि ॥४१॥
सालोक्यसामीप्यसरूपतादिभेदस्तु सत्कर्मविशेषसिद्धः ।
नकर्मसिद्धस्य तु नित्यतेति विचार्य विज्ञो विरतिं × भजेद्धि ॥४२॥

अज्ञ गुरुआ रूप सियार के वचन सुनकर, प्राप्य देव को दूर समझ कर, अविवेकी लोग, कुत्ता की नाईं भूँक २ कर मर गये । परन्तु सियार (जम्बुक) तुल्य कुगुरु से एक भी सत्य प्रयोजन की सिद्धि नहीं हुई ॥

साखी ।

मूस विलाई एक संग, कहु कैसे रहि जाय ।
अचरज एक देखु हो, हस्ती सिंहहिं खाय ॥१२॥

मार्जारेण समं यद्वन्मूषिको न वितिष्ठते ।
धूर्तैश्चैव कुदेवैश्च + तथैवायं जनो नहि ॥४३॥

---

× वैराग्याभ्यासयत्नतस्तथा तत्त्वावबोधनात् । संसारस्तीर्यते तेन तेष्वेवाऽभ्यासमाहर ॥ सम्यक् तत्त्वावबोधेन दुर्बोधे क्षयमागते । गलिते वासनाबेशे विशोकं प्राप्यते पदम् ॥ यो वा. नि. स. २। २१-२२॥ अनर्थार्थार्थसम्पत्तिर्भोगौघो भवरोगद । आपदः सम्पदः सर्वाः सर्वत्रानादरो जय । शिवः स. ३२।१८॥

+ यथा ह वहवः पशवो मनुष्यं भुञ्ज्युरेवमेकैकः पुरुषो देवान् भुनक्ति बृ १।४।१०।

साधो निरीक्ष्यतामेतदाश्चर्यं विद्यते महत्।
हरिवत्सज्जनान् क्लिश्यन् धूर्ताः खादन्त्यनेकपाः ॥४४॥
नाशयन्ति ह्यमार्गेण स्वयं नष्टा भवन्ति च।
न तत्संगो विधेयोऽतः सावधानेन भूयताम् ॥४५॥

कुसङ्गमाच्चैव कुदेवपूजनात् सुखं न तिष्ठन्ति हि जातु दुर्धियः।
सिंहोप्यमार्गेण हि संपतन्नगे विनाश्यते धूर्तगजेन्द्रलीलया॥४६॥१२.

इति हनुमद्दासविरचिते रमयणीरसोद्रेके मनोमायामहत्त्ववर्णन नाम पञ्चमः प्रवाहः ॥५॥

कहो तो भला कि अज्ञ जीवरूप मूस (चूहा) कुदेवादिरूप विलाई के साथ कैसे सुखी रह सकता है। और वञ्चक गुरु उन्हींके साथ अचल स्थिति के लिये उपदेश देते हैं। और यह एक आश्चर्य देखो कि सिंह तुल्य जिज्ञासु सज्जन को वञ्चक गुरु आदि रूप हाथी कुमार्ग में लेकर उसे नष्ट कर रहे हैं ॥१२॥

इति मायामनमहत्त्व प्रकरण ॥५॥

## रमयणी १३, माया से सावधानी ६.

नाहिं प्रतीजै यहि संसारा। द्रव्यक चोट कठिन कै मारा॥
सो तो शेपहुं जाय लुकाई। काहू को परतीति न आई॥
चले लोग सब मूल गमाई। यम की वाढ़ि काटि नहिं जाई॥

संसारिणो न सत्यं वै विश्वसन्ति कदाचन।
यतो द्रव्येच्छया ह्येते वर्तन्ते विह्वला इव ॥१॥
भोः साधो न त्वया किञ्चित्सत्यमन प्रतीयताम्।
सुगदं वा पवित्रं वा कथञ्चिदप्यनामयम् ॥२॥

सत्यत्वादिप्रतीतौ हि बाधतेऽस्य स्पृहा भृशम् ।
कठोराऽऽघाततुल्या च स्पृहा भवति दुःखदा ॥२॥
अनयैवाविनाश्यात्मा शिष्यमाणो न लक्ष्यते ।
कस्यापि प्रत्ययो जातु नानया सुदृढोऽभवत् ॥४॥
मानुष्यमात्मतत्त्वं च मूलतत्त्वं विहाय ये ।
यान्त्यन्यत्र जनास्तेषां यमबन्धो न खण्ड्यते ॥५॥

ससारा लोग सत्य बात में प्रतीति ( विश्वास ) नहीं करते, इन्हें द्रव्य की इच्छारूप चोट कठिन मार के तुल्य लगी है, जिससे बदहोश हुए हैं। अथवा हे मनुष्यों ! इस ससार का विश्वास नहीं करो, इसके विश्वास से द्रव्यादि की इच्छा कठिन मार की नाईं पीड़ित करती है ॥ इससे ससार में सत्यता आदि के विश्वास से, तथा सत्योपदेश में विश्वास के अभाव से, वह शेष ( अविनाशी ) । आत्मा छिप जाता है । इसीसे उसकी प्रतीति ( ज्ञान ) किसी को नहीं प्राप्त हुई ॥ लोग अपने मूल धन को गमाकर चल दिये, यम की वृद्धि वा बन्धन इनसे काटा नहीं जाता है ॥

आजु काज है काल्ह अकाजा । चलेउ लादि दिगन्तर राजा ।
सहज विचारे मूल गमाई । लाभ ते हानि होय रे भाई ॥

मृत्युर्वधविमेश्वात्मस्वात्मानन्दातिलक्षणम् ।
कार्यं सिद्ध्यति चात्रैव नान्यत्रेति विनिश्चयः ॥६॥
अहो प्राप्य स्वतन्त्रत्वं राजा जीवः प्रतिष्ठते ।
अन्यत्र पुण्यपापादि गृहीत्वा दुःसहं भरम् ॥७॥
साधयत्यत्र न स्वर्गं मोक्षं वा न कथञ्चन ।
स्वभावसिद्धसिद्ध्यर्थं विचारान् कुरुते सदा ॥८॥

प्रारब्धेन हि सिद्ध्यन्ति स्वभावात् सर्वसम्पदः।
तल्लाभार्थविचाराद्यैस्तल्लाभेन सुखेन च ॥९॥
तुच्छेन महती* हानिर्जायते सर्वदा नृणाम्।
एतावद्धि न जानन्ति मूढाः कर्मविमोहिताः ॥१०॥

यमबन्धनादि का नाश (छेदन) और मूलधन परमानन्द की प्राप्ति रूप कार्य आजु (इस देह के रहते ही) हो सकता है। और काल्ह जन्मान्तर में अकाज (उक्त कार्य के असामर्थ्य, विघ्नादि) प्राप्त होते हैं। इस जन्म में कार्य की सिद्धि नहीं होने पर इस तन के राजा जीव, कर्मवासनादि दुःसह बोझ लादकर किसी दिग् देशान्तर में चलता है॥ और मूल धन को गमाकर, प्रारब्धाऽनुसार सहज (स्वभाव से) ही होनेवाली बातों को बार २ विचारता है। हे भाई! इससे समझो कि लौकिक तुच्छ लाभ से महाहानि होती है॥

ओछी मती चन्द्र गो अथई। त्रिकुटी संगम स्वामी बसई॥
तबही विष्णु कहा समुझाई। मैथुन अष्ट तुंग जीतहु जाई॥

द्रव्यादिसङ्गमाचेयं मतिस्तुच्छा विनश्यति।
ह्रस्वो बुद्ध्यात्मचन्द्रो वा स्वेन्द्रियेषु विलीयते ॥११॥
एवं जाते त्वयं स्वामी * भ्रूमध्यं प्राप्य तिष्ठति।

* इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहाऽवेदीन्महती विनष्टिः। केन. २।५॥

* स्वामी—जीवो जाग्रदवस्थायां भ्रूमध्यं प्राप्य तिष्ठतीत्यर्थः॥ तत्र-इन्द्रतामहान्वितैः श्रोत्रादिज्ञानेन्द्रियैः शब्दाद्यर्थविषयग्रहणज्ञानं जाग्रदवस्था भवति। तत्र भ्रूमध्यंगतो जीव आपादमस्तकं व्याप्य कृषिश्रवणाद्यखिल-क्रियाकर्ता भवति॥ पैङ्गलोप. अ. २॥ नेत्रस्थं जागरितं विद्यात् कण्ठे स्वप्नं समाविशत्। सुषुप्तं हृदयस्थं तु तुरीयं मूर्ध्नि संस्थितम्॥ नारदपरि। उ. ५।३॥

गृह्णन् सदेन्द्रियैरर्थान् मोदं बाह्येषु × मन्यते ॥१२॥
तं निरीक्ष्य तथा विष्णुः सात्त्विकः पुरुषोत्तमः + ।
उवाच सर्वजीवेभ्यः सादरं तत्त्वमुत्तमम् ॥१३॥
गत्वा स्वे हृदये स्थित्वा त्वष्टधा मैथुनानि वै ।
त्यज्यन्तामात्मनश्चैव विचारः क्रियतां सदा ॥१४॥

स्त्री द्रव्यादि के संग से तुच्छ बुद्धि चन्द्रमा भी नष्ट हो गया था इन्द्रियों में लीन हुआ। फिर बुद्धिरहित स्वामी ( जीव ) सदा त्रिकुटी संगम में वास करने लगा। हृदय में स्थिर होकर कभही सद्विचार नहीं किया॥ इसकी ऐसी दशा देखकर विष्णु (सात्विक पुरुषोत्तम)ने समझाकर कहा कि तुम सत्संगादि में जाकर प्रथम अष्टविध मैथुन का त्याग करो॥

तब सनकादिक तत्त्व विचारा। जैसे रंक पाव धन पारा॥
भौ मर्याद बहुत सुख लागा। यहि लेखे सब संशय भागा॥

सनकाद्यैरिदं यैस्तु श्रुत्वा त्यागपुरस्सरम्।
सुविचारः कृतस्तैर्हि स्वात्मा लब्धोऽजरोऽमरः ॥१५॥
यथा रङ्को लभेत क्वाप्यपारं धनमुत्तमम्।
अञ्जसा तेन मोदेत तथैते मोदमाप्नुयन् ॥१६॥
त्यागार्थं मैथुनादीनामुपदेशेन केऽपि वा।
वेगिणस्त्यागमात्रेण तत्त्वप्राप्तिं प्रमेनिरे ॥१७॥

× पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूः। कठ. २। १। २॥

+ योऽन्यदुःखानि विज्ञाय साधुवाक्यैः प्रबोधयेत्। स एव विष्णुः सत्त्वस्थो यतः परहिते स्थितः॥ नारदीयपु. अ. ७। ६८॥

यथा रङ्कोऽतितुच्छेन धनेनापि हि मन्यते ।
धनिकत्वं तथैतेऽपि मोक्षप्राप्तिं प्रमेनिरे ॥१८॥
सुविचारेण ते मान्याः प्रतिष्ठां लेभिरे सदा ।
अक्षयं च सुखं तेन ज्ञानाच्च संशया गताः ॥१९॥
वेषिणो वा प्रतिष्ठां च लब्धवन्तः सुखं तथा ।
संशयो गतवत्तेन विचारः क्रियतां कथम् ॥२०॥

फिर जिन सनकादिकों ने मैथुन के त्यागपूर्वक तत्त्व विचार किया, उन्होंने उस मूल धन को इस प्रकार प्राप्त किया कि जैसे कोई दरिद्र कहीं पड़ा हुआ बहुत धन अनायास ही पा जाय। अथवा विष्णु के उपदेश को सुनकर सनकादिकों ( त्यागाश्रम के वेषधारियों ) ने त्याग मात्र को तत्त्व समझा। और जैसे रङ्क पड़ा हुआ तुच्छ धन को पाकर आनन्द हो, तैसे ये लोग उतने ही से आनन्द हुए॥ विचार करनेवाले ज्ञानियों की लोक में भी प्रतिष्ठा हुई। बहुत सुख प्राप्त हुआ। और उसी विचार द्वारा मूल तत्त्व के ज्ञान से सब संशय नष्ट हो गये। अथवा वेषधारियों को मैथुन के त्याग मात्र से लोक में जो प्रतिष्ठा हुई, इसीसे वे लोग बहुत सुख मान लिये। मानो इस प्रतिष्ठा को देखते ही इनके सब संशय ही भाग गये, विचारादि कैसे करें॥

छिन उतपति लागु न बारा। एक मरै एक करै विचारा॥
मुये गये की कोइ न कहई। झूठी आश लागि जग रहई॥

आत्मनोऽनुभवादेव क्षणादुत्पत्तयोऽखिलाः ।
यैर्हि दृष्टास्तत्त्वेन तेषां स्युः संशयाः कुतः ॥२१॥
विवेकेन विनैतेनाऽत्र एको म्रियतेऽपरः ।
विचारं वै धनाद्यर्थं कुरुते नात्मनः खलु ॥२२॥

प्रकृतौ वा विलीयाऽपि स्वोत्पत्तिं लेभिरे पुनः ।
स्वल्पेनैव हि कालेन वेपादेरभिमानिनः ॥२३॥
पुनश्चान्यान्यदेहाय विचार ते प्रकुर्वते ।
न ज्ञानाय न मोक्षाय वेषाद्यैर्मुक्तताधियः ॥२४॥
मृतानां च धनाद्यर्थं त्यक्त्वैव गच्छतां सदा ।
वार्ता कोऽपि न ब्रूतेऽतो जगदाशां न मुञ्चति ॥२५॥
आशयाऽनृतयेवाऽयं मृत्वा मृत्वाऽपि जायते ।
कुतः शान्तिं कुतो मोक्षं लभतां वै कुधीर्जनः ॥२६॥
मृतानां चाऽत्र देहानामनन्तानां न केऽपि वा ।
वार्ता संकथयन्तीह मिथ्याशा बाधते ततः ॥२७॥

विचारादि करनेवाले ज्ञानी लोग ससार की उत्पत्ति आदि को देख लिये कि, यह एक अज्ञ मरता है, एक दूसरा मरण के ही साधनों का विचार करता है । मोक्ष का नहीं करता । इसीसे बार २ उत्पत्ति होती है । अथवा केवल विरागवाले वेषधारी मरकर फिर अपनी उत्पत्ति (जन्म) को देखिन । इसमें वार (देर) भी नहीं लगा । वे लोग सदा एक शरीर से मरते हैं, और एक दूसरे देह के लिये विचार करते हैं । ज्ञान विना मुक्त नहीं होते ॥ आश्चर्य है कि धनादि सब छोड़ कर जो मर कर गये, उनकी बात कोई नहीं कहता, इसीसे झूठी वस्तुओं की आशा संसार में लगी रहती है ॥

साखी ।

जरत जरत ते बाँचेहु, काहु करहु गोहार ।
विष विषया कहँ खायेहु, रात दिवस मिलि झार ॥१३॥

भोः सौम्यानन्तयोन्यादौ गर्भाग्नौ पुनः पुनः ।
तापत्रयेण संतप्य भाग्येन मानवो भवान् ॥२८॥

भूत्वा तिष्ठति सुस्वस्थ इदानीं सद्गुरोः खलु ।
कस्यापि स्तुतिमाह्वानं कुरुतां वै समादरात् ॥२९॥
भुक्तस्य हृदि सक्तस्य विषयाख्यविषस्य × च ।
वासनाद्यात्मना शश्वन् मिलित्वा तेन वै सदा ॥३०॥
निवृत्तावेव सयत्नः कर्तव्यो नान्यभक्षणे ।
अन्यथा भवबन्धस्ते प्रत्यहं सुदृढो भवेत् ॥३१॥

अनन्तयोनौ नरकाग्निसंघके,
तापैस्त्रिभिस्त्वं मुहुरत्र संज्वलन् ।
केनापि पुण्येन हि कर्मणा सखे,
मनुष्ययोनाविह जन्म लब्धवान् ॥३२॥
पुनर्यथा नो. नरके निपातनं,
न यातना स्याच्च तथा विधीयताम् ।
सद्यश्च मोहो ममता विधूयतां,
सवासनोऽसौ विषयो विरज्यताम् ॥३३॥१३॥

हे मनुष्यो ! अनन्तों वार गर्भादि में तापत्रय से जलते २ इस मानवतन में कुछ बचे ( शान्ति पाये ) हो । किसी सद्गुरु का गोहार (पुकार स्तुति) करो, और उनसे मिलकर, जो विषयविष खा चुके हो, उसीके वासना आदि विषों को रातदिन झारो ( नष्ट करो ) और फिर नहीं खावो । फिर ऐसा अवसर शीघ्र नहीं मिलेगा ॥१३॥

---

× न विषं कालकूटाख्यं संसारो विषमुच्यते । तस्मात्सर्वप्रयत्नेन संहरेत सुदारुणम् ॥ लिंगपु. अ. ८६।९॥ विषया विषवैषम्या वामा कामविमोहदा । रसाः सरसवैरस्या लुठत्स्वेषु न को हतः ॥ यो. वा. नि. पू. स. ९३।३९॥

## रमयणी १४.

बड़ सो पापी आहिं गुमानी । पाखण्ड रूप छल्यो नल जानी ॥
वामन रूप छल्यो बलिराजा । ब्राह्मण कीन्ह कौन को काजा ॥
ब्राह्मण हीं सब कीन्हो चोरी । ब्राह्मण हीं कहँ लागल खोरी ॥

अविद्या वासनाद्यात्मा माया सा मलिनाशया ।
महापापात्मिका शश्वदहङ्कारविधायिनी ॥३४॥
अहङ्कारस्वरूपा च पाषण्डच्छलरूपिणी ।
तत्परा वञ्चनेऽज्ञानां विज्ञाच्च भयमेति सा ॥३५॥
विकृतां मानवाकारैर्मानव ये तु जानते ।
तान् सा वञ्चयते माया बहुरूपं विधाय वै ॥३६॥
खर्वरूपेण मायैव बलिराजमवञ्चयत् ।
मायिनो ब्राह्मणाश्चैवं * कस्य कार्याण्यसाधयन् ॥३७॥
वाच्यर्थो नियतास्तेषां स्तेनेनैन हि ते द्विजाः ।
कृतवन्तोऽखिलं चौर्यं तद्दोषभागिनोऽभवन् ॥३८॥

सो ( विषयवासना, अविद्या, पाखण्डछलादि रूपवाली तामसी माया भारी पापात्मिका तथा अहंकारात्मिका है । मनुष्यरूपता को प्रा उस माया को विवेक विना जिन्होंने मनुष्य समझा, उन्हें उसने ठ लिया । अथवा पाखण्डरूप होकर माया ने मनुष्यों को ठगा । इस या

* क्षितिं वा देवलोकं वा गम्यतां यदि रोचते । अप्रमादश्च कार्यो ब्रह्म हि प्रचुरच्छलम् ॥ म. भा. शा. अ. ३३१।५५॥ हिमालय भूमि पर जाने के लिये, जैमिनि शुकादि चार शिष्यों ने व्यासदेव से आ मागी, तो उन्होंने कहा कि पृथिवी या देवलोक में जहाँ इच्छा हो त जाओ । परन्तु सावधान रहना, ब्रह्म ( ब्राह्मण ) बहुत छली हैं ॥

को महात्माओं ने ही समझा ॥ उसने वावनरूप होकर बलिराजा को ठगा। बावन सदृश मायारूप वा मायावी ब्राह्मणों ने भी किसका काम किया ॥ बल्कि वे ही ब्राह्मण सब चोरी किये। उसके खोरी (दोष) भी उनहीं ब्राह्मणों को लगा ॥

ब्राह्मण कीन्हो ग्रन्थ पुराणा। कैसहूं के मोहिं मानु जाना ॥
इकसे ब्रह्मे पन्थ चलाया। इकसे हंस गोपालहिं गाया ॥
इकसे शंभू पंथ चलाया। इकसे भूत प्रेत मन लाया ॥

केचिदल्पश्रुता ग्रन्थान् पुराणाद्यान्विजेच्छया।
चक्रुर्मानवताया वै कथञ्चित्स्वेषु सिद्धये ॥३९॥
मायत्वस्य हि गुप्त्यर्थं सन्तो मायामयाश्च ते।
यद्वा ग्रन्थान् विनिर्माय तेऽन्येषु सज्जनेष्वपि ॥४०॥
कथञ्चिद् मानवत्वं हि मेनिरे नाधिकारिताम्।
स्वर्गाऽपवर्गयोस्तद्वच्छास्त्राणां वा कथञ्चन ॥४१॥
ते चैकेन प्रबन्धेन ब्रह्ममार्गं विनिर्ममुः।
हंसं गोपालमेकेन गीतवन्तश्च सर्वथा ॥४२॥
शम्भुमार्गं तथैकेन चक्रुरेकेन ते पुनः।
पुंसां मनांसि भूतादौ प्रेतादौ समयोजयन् ॥४३॥

उन ब्राह्मणों ने बहुत ग्रन्थ पुराण बनाये, और मायामय होते हुए भी ऐसा लेख लिखा कि किसी प्रकार लोग हमें भी मनुष्य समझें। या उन ब्राह्मणों ने किसी प्रकार मुझे मनुष्य समझा, मेरा वास्तविक रूप नहीं जाना, न हमलोगों के लिये कुछ अधिकार ही रखा ॥ उन लोगों ने किसी एक ग्रन्थ पुराण से ब्रह्मा के उपासनादि मार्ग को सिद्ध किया, किसीसे हंसावतार को गाया, किसीसे गोपाल को गाया ॥ एक से शैवमार्ग को चलाया। एक ग्रन्थ से मनुष्यों के मन को भूतप्रेतादि में लगाया ॥

इकसे पूजा जैनि विचारा । इकसे निहुरि निवाज गुजारा ॥
कोउ काहू का हटा न माना । झूठा खसम कबीरन जाना ॥
तन मन मारि रहु मोर भक्ता । सत्य कबीर सत्य है वक्ता ॥

एवं ·पूजाविचारं च जैनतन्त्रविचारणाम् ।
नम्रीभूय निमाजं यत् तत्सर्वं समसाधयन् ॥४४॥
एकैकेन प्रबन्धेन साधयन्तश्च ते खलु ।
कस्यापि वारणं नैवामन्यन्तैते कुमार्गतः ॥४५॥
असत्यं स्वामिनं चैतेऽमन्यन्त खलु जीवकाः ।
गुरुभक्तजनेभ्यस्तु सत्यं सद्गुरुरुक्तवान् ॥४६॥
शरीरं स्वं मनश्चैवासत्यात्संरुध्य यत्नतः ।
सत्ये सर्वात्मरूपे * हि ध्रियतां तन्मनः खलु ॥४७॥

एक ग्रन्थादि से पूजा का तथा जैनमत का विचार किया । एक से निहुर (नम्र हो) कर निमाज गुजारा (करना सिद्ध किया) ॥ कोई भी किसीका हटा (वारण) को नहीं माना । किन्तु सब कबीरन (जीवों) ने झूठा खसम (स्वामी) को ही जाना ॥ साहब का कहना है कि हे गुरुभक्त लोगों ! उन झूठा खसम और मार्गों से अपने तन, मन को मारे (रोके, रहो । सत्य कबीर ( सद्गुरु ) की बातों को ही सुनो, क्यों कि वे ही सत्यवक्ता हैं ॥

* सर्वं खल्विद ब्रह्म । छा. ३। १४।१॥

मायाद्वैतमुपाश्रित्य सत्ताऽद्वैतमयात्मकम् । कर्माऽद्वैतमनादृत्य द्वैताऽ‌द्वैतमयो भव ॥ यो. वा. उपशमप्र. २७॥ मायाऽद्वैत सदा कुर्यात् क्रि‌द्वैत न कर्हिचित् । अद्वैत सर्वभूतेषु नाऽद्वैत गुरुणा सह ॥ टीकास्था स्मृ

आपुहिं देवा आपुहिं पाती। आपुहिं कुल आपुहिं है जाती ॥
सर्व भूत संसार निवासी। आपुहिं खसम आपु सुखवासी ॥
कहइत मोहि भेलयुग चारी। काके आगे कहौं पुकारी ॥

यः स्वयं सर्वदेवात्मा × पत्राद्यात्मा च विद्यते ।
कुलजात्यादिरूपश्च सर्वभूतगुहाशयः ॥४८॥
सर्वभूतनिवासी यः सर्वस्य प्रभुरव्ययः ।
न्यायकारी स राजाऽस्ति राज्यवासी सुखी च सः ॥४९॥
स एवास्ते स्वयंज्योतिः सत्यानन्दादिलक्षणः ।
ब्रुवतां तं गुरूणां च ह्यवर्तत चतुर्युगम् ॥५०॥
कस्याग्रे कथ्यतां चायं दुर्लभाऽस्याधिकारिता ।
अन्येभ्यः कथितं सर्वं निष्फलं भवति ध्रुवम् ॥५१॥

सत्यात्मा आपही देव है, देव पर जो चढाई जाती है, उस पत्ती रूप भी वह आप है। सब कुल जाति में वही है। अर्थात् वह सबकी आत्मा है और एक है ॥ वह सब भूत (प्राणी) में और ससार में निवास करनेवाला है, और वह आप खसम (स्वामी–राजा) है, तथा राज में सुख से बसनेवाली प्रजा भी वही है ॥ साहब का कहना है कि मोहि (सद्गुरु महात्माओं के) कहते चारों युग बीत गये, परन्तु कोई समझता नहीं है। किसके आगे पुकार कर कहा जाय ॥

साखी।

साँचहिं कोइ न मानई, झूठा के संग जाय ।
झूठहिं झूठा मिलि रहा, अहमक खेहा खाय ॥१४॥

× पुरुष एवेदं विश्वं कर्मतपोब्रह्मपरामृतम्। मुण्ड. २।१।१०॥

सत्यं केऽपि न मन्यन्ते यान्ति चासत्यभाषिभिः ।
मिलित्वा तैश्च तिष्ठन्ति सर्वेऽसत्यपरायणाः ॥५२॥
नाप्नुवन्ति तनः सौख्यं मोक्षं चाज्ञाः कथञ्चन ।
भुञ्जते विषयान् तुच्छानहो मायाकदर्थना ॥५३॥
मायामये स्वप्नसमे हि जन्तवः सत्यादिबुद्ध्या खलु सक्तचेतसः ।
सत्यं न शृण्वन्ति न साधुसङ्गमे तिष्ठन्ति मूढा विषयेषु संङ्गताः ॥५३॥
कुवञ्चकैर्वञ्चितबुद्धयस्ततः सुखैर्विहीनाः परितो भ्रमन्ति ते ।
स्वकर्मणा चार्जितमेव भुञ्जते तृणं फलं नैव सुखं सदव्ययम् ॥५५-१४॥

इति हनुमद्दासविरचिते रमयणीरसोद्रेके द्रव्यदेवादिरूपमायाया विश्वासाऽनर्हतावर्णनं नाम षष्ठः प्रवाहः ॥६॥

सत्य बात सत्पुरुष को कोई नहीं मानता है । सब झूठा के साथ जाता है । और एक झूठा दूसरे झूठों से मिलकर रहता है । इससे यह अहमक ( नादान–अविवेकी ) खेह ( तुच्छ विषय ) खाता ( भोगता ) है । मानो धूली फॉकता है ॥१४॥

इति द्रव्यदेवादिरूप माया में अविश्वास प्रकरण ॥६॥

## रमयणी १५, भवपंथखेद प्रकरण ७.

उनइ बदरिया परिगौ संझा । अगुआ भूले बनखंड मंझा ॥

आनतो मोहमेघोऽयं तृष्णाविद्युत्समन्वितः ।
आलम्ब्यते हृदाकाशे मायया जनितः सदा ॥१॥
तावता वृद्धतात्मा या संध्या मरणरूपिणी ।
उपस्थिताऽतिवेगेन सर्वस्वहरणाय वै ॥२॥

तस्मिन् भयावहे काले प्रधानं कुगुरुस्तथा ।
भेदभावरतश्चाज्ञो विश्वखण्डे, विमोहतः ॥३॥
भ्रान्तो भ्रमति सद्बुद्ध्या† सुखबुद्ध्या वनैः समे ।
तच्छिष्याणां कथा कास्ति सदैतं ह्यनुगच्छताम् ॥४॥

कुमग, कुविचारादि से मोहकामादिरूप बदरी (मेघ) सबके हृदयाकाश मे उमड़ आई । और इसी दशा में वृद्धत्व, मरणावधि रूप सध्याकाल भी उपस्थित हुआ । तबतक भी अगुआ (अग्रगामी—गुरुआ) लोग संसारवन के ही खण्ड (भाग) रूप लोकों में भूले रहे, उसे सत्य मानकर उसमें आसक्त रहे ॥

पिय अन्ते धनि अन्ते रहई । चौपरि कामरि माथे गहई ॥

एतेषां सम्मतः स्वामी स्वर्गादाववतिष्ठते ।
एतेऽत्र मर्त्यलोके तु पत्युर्विरहकातराः * ॥५॥
आत्मा पतिर्महिम्नि स्वे तिष्ठत्येते न तत्र च ।
अहो दौर्भाग्यमेतेषामन्तिकस्थो न लभ्यते ॥६॥
अलाभादन्तिकस्थस्य पत्युः सत्यस्य मानवाः ।
अवस्थाभिर्युते देहे वेद संख्याभिरात्मताम् ॥७॥
प्रकल्प्य करणे यान्ति दुःखवृष्टिभिरार्द्रिताः ।
लभन्ते न क्वचिच्छर्म भ्रमन्तोऽत्र × निरन्तरम् ॥८॥

†जनस्तपस्तथा सत्यमिति चाकृतक त्रयम् । ब्रह्मपु. २१।१९॥ वैकुण्ठः शिवलोकश्च गोलोकश्च तयोः परः । नित्यो विश्वबहिर्भूतश्चात्मा काशादिशो यथा ॥ ब्रह्मवैवर्तपु. ७।२०. इत्यादिस्तावकवाक्यैः सद्बुद्ध्येति ॥

*विरहेण—वियोगेन—कातराः अधीरा—व्याकुलमनस इत्यर्थः ॥

× अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते । ईश. १०॥

ज्ञानिनोऽज्ञानिनश्चात्र समे प्रारब्धकर्मणि । न क्लेशो ज्ञानिनो धैर्यान्

वनखण्ड में भूले रहने के कारण, इनके पिया (पति–स्वामी) अन्ते (अन्यत्र) रहता है। धनी (धन्या स्त्री) रूप ये लोग कहीं अन्यत्र रहते हैं। तथा चौपरि (चार अवस्थायुक्त) देह रूप कम्बल को अपने शिर पर धरे रहते हैं। अर्थात् इसीमें आत्मता का अभिमान रखते हैं॥

साखी।

फुलवा भार न ले सके, कहैं सखिन सो रोय।
ज्यों ज्यों भीजै कामरी, त्यों त्यों भारी होय ॥१५॥

यदा च पुष्पवत् फल्गु भरो न शक्यते हि तैः।
ग्रहीतुं स्वेष्टमित्रेभ्यो रुदित्वा कथ्यते तदा ॥९॥
शरीरकम्बलोऽयं भो दुःखौघैः पीड्यते मुहुः।
यथा यथा तथाऽयं वै भराक्रान्तो भवत्यलम् ॥१०॥
कर्ममार्गेषु गत्यर्थं सामर्थ्यं नैव विद्यते।
कथंकारं हि कर्तव्यं येन संप्राप्यते पतिः ॥११॥
वृद्धाः स्मो मृतकल्पाः स्मो लब्धो नैव पतिः प्रियः।
मृत्वा * लप्स्यामहे नो वा चेत्यादि कल्पयन्ति ते ॥१२॥
जीवन्मुक्तेरभावाच्च शान्तिर्नैवेह लभ्यते।
न सुखं न समं ब्रह्म कालपाशवशंगतैः ॥१३॥
यैर्नेह लब्धोऽखिललोकवल्लभः सदाऽन्तिकस्थः परमः प्रियः प्रभुः।
ते व्याधिभिश्चैव जरादिभिर्हता रोरुद्यमानाः सततं व्रजन्ति हि ॥१४॥९५॥

मूढः क्लिश्यत्यधैर्यतः॥ मार्गे गन्त्रोर्द्वयोः श्रान्तौ समायामप्यदूरताम्। जानन् धैर्याद् द्रुतं गच्छेदन्यस्तिष्ठति दीनधीः॥ पञ्चदशी ।७।३३–३४॥

* विषादयुक्तो विषमामवस्थामुपागतः कायवयोऽवसाने । भावाः

अत्यन्त वृद्ध वा रोगादि से पीडित होने के कारण जब फूल का भार भी नहीं ले सकते, उस समय अपने मित्रों से रो २ कर लोग कहते हैं कि यह देहकम्बल ज्यों २ भींजता ( पीडित होता ) है, त्यों २ भारी होता है, और अबही कर्तव्य बहुत है इत्यादि ॥१५॥

## रमयणी १६.

चलत चलत अति चरण पिराना। हारि परे तहँ अति रिसियाना ॥
गणगन्धर्व मुनि अन्त न पाया। हरि अलोप जग धंधे लाया ॥

कुवासनभराक्रान्तो देहाभिमितिमाश्वरः ।
काम्यकर्मादिमार्गेषु व्रजत्रास्ते सुवत्मसु ॥१५॥
तत्रैवं गच्छतस्तस्य मनोबुद्ध्यादिलक्षणः ।
चरणो व्यथितोऽत्यन्तं सोऽपि खिन्नोऽतितप्यते* ॥१६॥
खेदात्तापाद्विवेकस्य त्वभावेन स मन्दधीः ।
क्रुध्यत्यजस्रमन्येभ्यः+ स्वापराधं न पश्यति ॥१७॥
प्रकल्प्य चेश्वरं भिन्नं तत्र चायं विमूढधीः ।
प्रकल्प्य बहुदोषांश्च तस्मै क्रुध्यति वै भृशम् ॥१८॥
मुनयो गणगन्धर्वा यस्यान्तं न विदन्ति हि ।
व्यक्तोऽसौ हरिरस्मांश्च संसारेषु क्षिपत्यलम् ॥१९॥

---

स्मरन् स्वानिह धर्मरित्तान् जन्तुर्जरावानिह दह्यतेऽन्तः । योगवा–वैराग्य- प्र. स. २७॥

* कर्माणि दुःखोदर्काणि कुर्वन् देहेन तैः पुनः । देहमाभजते तत्र किं सुखं मर्त्यधर्मिणः ॥ भा. स्क. ११ । १० । २९ ॥

+ स्वकर्मफलयोगेन प्राप्य दुःखमचेतनः। निमित्तकारणे वैरं करोत्यल्पमतिः किल ॥ देवीभा. स्क. ३ । २० । ४४ ॥

अव्यक्तो वा स भूत्वाऽलं स्वक्रीडार्थं जगज्जनान् ।
व्यवहारे क्षिपन्नास्ते वदत्येव क्रुधा जनः ॥२०॥

काम्यकर्मादि मार्गों में चलते २ जब जीवों के मन आदि चरण अत्यन्त पीडित हुए, और पति नहीं मिला, तो ये लोग तहाँ ( उस वनखण्ड मे) ही हार कर पड़ गये, और अत्यन्त क्रुद्ध हुए ॥ और कहने लगे कि जिस हरि के गण गंधर्व देव मुनि भी अन्त नहीं पाये, सो गुप्त या प्रगट रह कर ससारी जीवों को अनेक धन्धा (व्यापारों) में लगा दिये हैं ॥

गहीन बन्धन वाणि न सूझा । थाकि परे तहँ कछु नहि बूझा ॥
भूलि परे जिव अधिक डराई । रजनी अन्धकूप व्हे आई ॥

हा स्वयं × बन्धनं कृत्वा गृहीत्वा बन्धनप्रदम् ।
वाचाग्म्भणमात्र न संपश्यति जगत् खलु ॥२१॥
सद्गुरोः सारशब्द च विवेकेन न पश्यति ।
नात्मान न पर चापि तत्वेनातो भ्रमत्यसौ ॥२२॥
भ्रमणाद् व्यथितोऽमार्गे वृद्धत्वं समुपागतः ।
प्रष्टुं चापि न जानाति नैव किञ्चित्तु पश्यति ॥२३॥
एवस्थिते महामोहे संसारेऽत्र स्थितो जनः ।
अन्धकूपे महारात्रौ मृत्युकाले ह्युपस्थिते ॥
स विभेत्यधिक तत्र त्रातार नेव पश्यति ॥२४॥

साहेब का कहना है कि इन लोगों ने स्वय बन्धन को पकड़ लिया है । मोहादि में फसने के कारण इन्हें सद्गुरु की सत्य वाणी नहीं सूझ

× स्वय कर्म करोत्यात्मा स्वय तत्फलमश्नुते । स्वय भ्रमति ससारे स्वय तस्मादिमुच्यते ॥ यो वा. नि. उ स. १४३ । ४० ॥

पड़ी। न यह ससार मिथ्यावाणी मात्र समझ म आया। और यदि स्वस्थ दशा म ये सब बातें नहीं समझ में आई, तो थाक पड़ने पर तो वहाँ कुछ समझ ही नहीं सके॥ इस प्रकार जो जीव इस वनखण्ड में भूल पड़ा सो अधिक डरता है। और मरण काल तो मानो उसके लिये अन्धकूप रात्रि ही आई है॥

माया मोह वहाँ भरपूरी। दादुर दामिनि पोन अपूरी॥
बरपै तपै अखण्डित धारा। रैनि भयावनि कछु न अहारा॥

मायामयी विमोहाख्यजलैः पूर्णा जगत्सरित्।
महाभयावहा तीक्ष्णा तत्र * भाति सुदुस्तरा॥२५॥
दुःश्राव्यो दर्दुरादीनां शब्दोऽपि श्रूयते तदा।
विद्युद्व्द्यचलस्तत्र प्रकाशो दृश्यते तथा॥२६॥
स्थिरं न लभते ज्ञानं न प्रकाशं कथञ्चन।
अतिवेगेन वातश्च वाति प्राणान् विघूर्णयन्॥२७॥
प्राणश्चापूर्णतामेति वर्षवातैर्विधूयते।
तापैश्च तप्यतेऽजस्रं कोऽप्याहारो न लभ्यते॥
महाभयावहा रात्रिर्मृतिरेषाऽतिदुःखदा × ॥२८॥

* सुचिराऽभ्यस्तभाव तु वासनावलित मन। यत्र तत्र भ्रमत् स्वर्गनरकादि प्रपश्यति॥ निर्वाणप्र. स. १११२८॥ स्वय स्वप्न इवाभाति मृतस्य परलोकधी। तमेव पश्यति चिर न तत्राप्यस्ति सत्यता। नि. उ. स. १४३।४०॥

× विद्यार्या यादृश दुःखमसह्य जायते कृमेः। तादृश ब्रह्मलोकेऽपि मरणादौ प्रजायते॥ आत्मपु. अ ४।७३९॥

तत्र मोहेन वर्षश्च भाति तापश्च संततम् ॥
बुभुक्षा चातितीव्राऽत्र नाहारो न सुखं तथा ॥२९॥

अज्ञों के हृदयों में मरणकाल में माया, मोह अत्यन्त पूर्ण हो जाते हैं, मेढकादि के भयावह शब्द सुन पड़ते हैं, बिजुरी के समान चञ्चल प्रकाश दीख पडता है, वायु झकोरता है, और प्राणवायु की शक्ति घट जाती है ॥ वर्षा और ताप की अखण्ड धारा प्रतीत होती है, और भयावह रात्रि के समय क्षुधा अत्यन्त पीड़ित करती है; परन्तु कुछ भी आहार नहीं मिलता ॥

साखी ।

सबै लोग जहँडाइया, अन्धा सबै भुलान ।
कहा कोइ नहिं मानये, एकहिं माहँ समान ॥१६॥

कामान्धा हि जनाः सर्वे संमोहमिहिकाहताः ।
मायाचैर्वञ्चिता भ्रष्टाः सत्यं शृण्वन्ति नाऽमृतम् ॥३०॥
अतश्च खल्विमे सर्वे ह्येकस्मिन् यममन्दिरे ।
महामाये भ्रमे चैव संविशन्ति परे नहिं ॥३१॥
एकस्मिन् वा परे तत्त्वे विद्यन्ते सर्वशः समे ।
अर्थो इति न कस्यापि जनाः शृण्वन्ति भाषितम् ॥३२॥
आजन्म यैर्नैव सतां सुवाक्यं,
श्रुतं न दत्तं सुगुणेषु चेतः ।
ते ह्यन्तकाले यममन्दिरेषु,
स्वयं मजन्त्यन्धधियो मनुष्याः ॥३३॥१६॥

इति हनुमद्दासविरचिते रमयणीरसोद्रेके मोहान्धधावनभ्रान्त्यादि वर्णनं नाम सप्तमः प्रवाहः ॥७॥

अगुआ लोग इस वनखण्ड में भूल कर अन्य सब लोगों को भी जहँडाये (पीडित किये–धोखे में डाले)। इससे सब जीव अन्ध होकर भूले। और कोई भी सद्गुरु का कहा नहीं माना, किन्तु एकही यम-मन्दिर में सब समाते (पैठते) हैं ॥१६॥

इति मोहान्धकारजन्य दुःखादि प्रकरण ॥७॥

## रमयणी १७, अविवेकादि प्रकरण ८.

जस जिव आपु मिलै अस कोई। बहुत धर्म सुख हृदया होई॥
जासो बात राम की कही। प्रीति न काहू सो निर्वही॥

भ्रान्तश्चाऽयं जनो यद्वच्छोकसूर्येण तापितः।
वर्ततेऽवर्त्मना गच्छन् मुह्यमानः स्खलन् पतन् ॥१॥
उत्पतन् निपतंश्चापि विसर्पन् सर्वतो भयात्।
तथा चेदस्य मिलति धर्मं सौख्यं च मन्यते ॥२॥
तस्यैव वचनं ग्राह्यं मन्यते च विमूढधीः।
सार्द्धं गच्छति तेनैव विवेकेन विना सदा ॥३॥
अतो यस्मै हितं शश्वच्छ्रीरामेत्यमृताक्षरम्।
महद्भिः कृपया प्रोक्तं तच्च तस्मै न रोचते ॥४॥
रोचनेऽपि न च प्रीतिः स्थिरा भवति वै हृदि।
पुनर्मिलति कामेन कामिभिर्न तु सज्जनैः ॥५॥

यह जीव जैसे आप अविवेकी है, वैसाही कोई जब इसको मिलता है, तब इसके हृदय में बहुत धर्म और सुख भासता है॥ इससे किसीसे यदि सर्वात्मा राम की बात कही जाती है, तो उस बात में किसीकी प्रीति (प्रेम–श्रद्धा) नहीं निर्वहती (स्थिर होती) है॥ और अन्य की

उपासना आदि के लिये सदा तत्पर रहता है ॥ [ सत्यन्य ह्रद्गुहेशान देवमन्य प्रयान्ति ये। ते रत्नमभिवाञ्छन्ति त्यक्तहस्तस्थकौस्तुभा ॥ उपशमप्र. स ८।१४॥ ]

एके भाव सकल जग देखी । बाहर परु सो होय विवेकी ॥

यश्च सर्वं जगद् दृष्ट्वा मायारूपं ततो बहिः ।
ज्ञात्वाऽऽत्मानं वसेत्तत्र स विवेकी भवेद् ध्रुवम् ॥६॥
अथवा योऽखिले विश्वे सत्तत्त्वमेकमद्वयम् * ।
दृष्ट्वा भवति निर्द्वन्द्वः स विवेकी भवेन्मुनिः ॥७॥
सद्विवेके च वैराग्ये शमिताद्युदये तथा ।
अपरोक्षं हि विज्ञान भवत्येव न संशयः ॥८॥
इय च लभ्यते दृष्टिः सद्गुरोः समुपासनात् ।
सद्विवेकादिपूर्वं हि नान्यथा जन्मकोटिभिः ॥९॥

जो पुरुष सब संसार को एक भाव से मिथ्या मायामय देख इससे बाहर प्राप्त होता है। अर्थात् किसी लोकादि में आसक्त न होकर आत्माराम का विचारादि करता है, सो पुरुष विवेकी होता है ॥

विषय मोह की फन्द छोडाई । तहाँ जाय जहँ काटु कमाई
आहिं कमाई छूरी हाथा । कैसहु आवे काटे माथा

* सर्वभावपदातीत सर्वभावात्मक च या । यः पश्यति सदात्मा स समाहित उच्यते। यो. वा. उपश. स. ५६।२७॥ सर्वमेवाहमेवेत्यत्रशो नावसीदति । न गृह्णाति पदार्थेषु विभागाऽनर्थभावनाः स. ४९।३५॥

त्यक्त्वा गृहादिकं मूढा द्रव्याणि विविधानि च ।
तत्र गच्छन्ति यत्रैनान् हन्त्यज्ञो मासिको यथा ॥१०॥
अज्ञोऽस्ति कौटिको नूनं क्षुरो हस्तेऽस्य विद्यते ।
कथञ्चिदागतस्यासौ शिरश्छेदं करोति हि ॥११॥
वञ्चयित्वा हि वेषेण मुण्डनं प्रविधाय च ।
आत्मनो विमुखं कृत्वा शिरो हन्तीति मन्महे ॥१२॥

अविवेकी लोग गृहवित्तादि विषय के मोहरूप फन्दे को किसी प्रकार त्यागकर भी वहाँ जाते हैं कि जहाँ इन्हें कसाई काटता है। अर्थात् अज्ञ के पास जाने से वह इन्हें आत्माराम से विमुख करके पीड़ित करता है॥ अविवेकी गुरु कसाई रूप ही है। इसके हाथ में भी छूरी रहती है। और किसी प्रकार जो मनुष्य इसके पास आता है, उसका शिर यह काटता है। अर्थात् केवल माथ मूड़कर वेषधारी बना देता है। अधिकार की परीक्षा वा ज्ञानोपदेश देना यह नहीं जानता है॥

मानुष बड़े बड़ा व्है आया। एकहिं पण्डित सबहिं पढाया॥
पढना पढहु धरहु जनि गोई। नहिं तो निश्चय जाहु बिगोई॥

महद्भ्योऽपि महान् भूत्वा वेषाद्यैरबुधो नरः ।
मन्ये ह्रन + इव लोकेऽस्मिन्नभूदेकः पण्डितो ह्यसौ ॥१३॥
स पाठयति सर्वांश्च विद्यस्तान् हन्ति सर्वशः ।
हा नरैर्ज्ञायते नैवाऽविवेको खलवद्रिपुः ॥१४॥
नरेभ्यो चोत्तमा देवा देवेभ्यश्चोत्तमास्तु ये ।
जनिं लब्ध्वाऽभवन् प्राज्ञा एक तेऽध्यापयन्ति हि ॥१५॥
अतोऽन्यत् पठनेऽप्यत्र पठितव्यं हि शिष्यते ।
तेभ्यश्चान्यत्पठताऽजस्रं कालक्षेपो न युज्यते ॥१६॥

+ ह्रन —चाण्डाल ।

पठित्वा तच्च सद्युक्त्या सत्सङ्गाद्यैर्विचार्यताम् ।
छादितव्यं न तत्सद्भ्यो विस्मर्तव्यं न कर्हिचित् ॥
अन्यथा पठितं सर्वं निश्चितं नाशमेष्यति ॥१७॥

गुरुआ लोग भी मनुष्यों में बड़े से बड़े बनकर आये हैं । और वे ही एक अद्वितीय पण्डित कहाकर सबको पढ़ा रखे हैं ॥ साहब का कहना है कि जो बात अवश्य पढ़ने लायक है, सो अभी बाकी है । उसे पढ़ो, पढ़ने पर भी गोकर ( छिपाकर ) नहीं रखो । किन्तु सन्तसभा, सच्छिष्यों के अन्दर उसका प्रचार करो । नहीं तो निश्चय समझो कि तुम उसे भूल जाओगे ॥

## साखी ।

सुमिरण करहु राम के, छाड़हु दुख की आश ।
तर ऊपर धरि चाँपि हैं, कोल्हू कोटि पिचास ॥१७॥

रामं स्मरत भो नित्यं त्यजताशां सुदुःखदाम् ।
अन्यथा सैव सर्वत्राप्यऽधश्चोर्ध्वं बहिस्तथा ॥१८॥
गर्भेऽन्तश्च सदा चक्रे तिलपीडसमा* मुहुः ।
कोटिधा पीडयित्वा च भवतो नाशयिष्यति ॥१९॥
बन्धाद्विमुक्तेर्यदि वर्तते स्पृहा तदाऽखिलाशां त्यजतातिदूरतः
रामं सदा तं स्मरतान्तरात्मनि सकृद्विभातं परतः परं शिवम् ॥२०॥

---

* स्निग्धत्वात्तिलवत्सर्वं चक्रेऽस्मिन् पीड्यते जगत् । तिलपीडैरिवाक्रम्य भोगैरज्ञानसम्भवैः ॥ म. भा. शा. अ. २११।९॥ तदेव सक्तः सह कर्मणैति लिङ्गं मनो यत्र निषक्तमस्य । बृ. ४।४।६॥ परित्यजति यो दुःखं सुखं चाप्युभयं नरः । ब्रह्म प्राप्नोति सोऽत्यन्तमसङ्गेन च गच्छति । म. भा. वनप. अ. २१३।३९॥

वान्तरात्माप्ययभाति दूरतः कामादिदोषाहतबुद्धितः सदा ।
ात्मनश्चैव सुखस्य लब्धये परिभ्रमञ्जीवगणश्च पीड्यते ॥२१॥१७॥

पढना है उसे पढ़कर सर्वात्मा राम का स्मरण सदा करो । और
ःखमय लोकविषयादि की आशाओं को त्यागो । नहीं तो वे आशा
ंपयादि ही तुझे गर्भादि के भीतर और बाहर धरकर चापि हैं ( पीड़ित
रेंगे )। जैसे कोल्हू तिलादि को करोड़ों बार पींचता है, तैसे तुझे
ाशा आदि पींचेंगे ॥१७॥

## रमयणी १८.

ादभुत पंथ बरणि नहिं जाई । भूले राम भुले दुनिआई ॥
ो चेतहु तौ चेतहु भाई । नाही तो जिव यम ले जाई ॥

अद्भुतानन्तमार्गा हि मूढैरेव प्रवर्तिताः ।
मानितास्तादृशैरेव चित्रवाक्यैः * सुसंस्कृताः ॥२२॥
वर्तन्ते वर्णनाऽनर्हा विस्ताराच्चित्ररूपतः ।
परस्परं विरुद्धत्वान्मार्गाभासा विमोहदाः ॥२३॥
तत्र सन्मार्गबुद्ध्या च रामं विस्मृत्य दुर्जनाः ।
सक्ता व्यवहृतौ सन्ति लौकिक्यां न निजात्मनि ॥२४॥
चेतितव्यं त्वया साधो चेत्यतां यदि रोचते ।
सावधानेन संचिन्त्य सतां मार्गेण गम्यताम् ॥२५॥
अन्यथा त्वां यमो जीव ! यमधाम्नि प्रणेष्यति ।
सर्वं निर्यातयित्वा च संसारे क्षेपयिष्यति ॥२६॥

---

* शास्त्रं यदि भवेदेकं श्रेयो व्यक्तं भवेत्तदा । शास्त्रैश्च बहुभिर्भूयः
ो गुहां प्रवेशितम् ॥ म. भा. शा. अ. २८७।१०॥

आश्चर्यमय अनेकों पथ ( सम्प्रदाय-मत ) ससार मे प्रचलित हैं। जिन करके लोग निजात्मा राम को भूलकर, दुनिआई ( ससार के व्यव हारों ) में भूले ( फसे ) हैं ॥ हे भाई ! यदि तुम चेतना चाहो तो अवही चेतो। सावधान होकर राम को जानो। याद ( स्मरण ) करो। नहीं तो हे जीव ! कुछ ही देर मे तुमको यम ले जायगा, तो कुछ कर नहीं सकोगे॥

शब्द न चीन्है कथये ज्ञाना। तातें यम दीयो है थाना ॥
सशय सावज वशे शरीरा। ते खायल अनवेधल हीरा ॥

सद्गुरोः सारशब्द यो विवेकेन न पश्यति।
नैवालोचयति ज्ञान सद्भिश्च भाषित भृशम् ॥२७॥
प्रकल्प्य निजमत्याऽयमसारं + भाषते सदा।
तमेव मन्यते ज्ञानं तत्त्वं सर्वहित तथा ॥२८॥
ततो यमोऽस्य नाशाय स्थान कृत्वेह तिष्ठति।
संशयाख्यमृगोऽप्यस्य हृदयान्नापसर्पति ॥२९॥
तिष्ठंश्चासौ शरीरेऽस्य बोधसस्यं विनाशयन्।
मर्दयन् सद्विवेकाद्रींश्चखादाखण्डरत्नकम् ॥३०॥
स्वप्रकाशं सदानन्दं सर्वस्य ज्योतिरव्ययम्।
अच्छिद्रं मनसा ग्राह्यमग्राह्यं परमं शिवम् ॥३१॥

लोग सद्गुरु के सारशब्द को विवेकपूर्वक चीन्हते नहीं हैं। और अपने। मनमानित ( कल्पित ) ज्ञान का कथन करते हैं। इसीसे इन्हें

+ विवेकोऽस्ति वचस्येन चित्रऽग्निरिव भास्वर। यस्य तेनाऽपरि त्यक्ता दुःखायैवाविवेकिता ॥ यो वि० १८।६७॥ कुशला ब्रह्मवार्तायां वृत्तिहीना सुरागिणः। तेऽप्यज्ञानितया नून पुनरायान्ति यान्ति च॥ तेजो बिन्दूप १।४६॥

पकड़ने के लिये यम ने डेरा गिराया है। और संशयरूप मृग सदा हृदय में बसता है। सो संशय ही अनबेधा (अखण्ड) हीरा (अद्वैतानन्दरूप राम) को खाया (छिपाया) है॥

साखी।

संशय सावज शरीर महँ, संगहि खेल जुआर।
ऐसा घाई बापुरा, जीवहिं मारै झार॥१८॥

संशयात्मशरव्यं च स्थित्वा सर्वकलेवरे।
क्रीडित्वा कैतवैर्जीवैस्तान् पराजयते ध्रुवम्॥३२॥
संशयो × घातुकः नूरो वर्तते बलवान् खलः।
पराजित्यापि सर्वान् यदयं हन्ति जनान् सदा॥३३॥
यथाऽयं गृहयालुब्ध शरारश्चेह विद्यते।
विद्यते न तथा कोपि दुष्टो दोषगणेष्वपि॥३४॥
देहयुक्तैर्नहि लभ्यते कचित् सुखं न शान्तिः स्थितिरक्षयाऽथवा।
ह्या न सद्गतिविचारणादिकं ततो जन! त्वं त्यज त विवेकतः॥
३५॥१८॥

संशयरूप सावज अर्थात् संशययुक्त मन शरीर के अन्दर हृदय में रहता है। और इस जीव के साथ जूआ खेलता है। और ऐसा बापुरा

---

× संशयात्मा विनश्यति। भ. गी ४।४॥ असंशयवता मुक्तिः संशयाविष्टचेतसाम्। न मुक्तिर्जन्मजन्मान्ते तस्माद्विश्वासमाप्नुयात्॥ नैष्युव. २।१६॥ सर्वेषामेव दोषाणामज्ञानं परमो मतः। अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति॥ विष्णुधर्मोत्तरपु. ३।२३९।२॥ यत्तु निःश्रेयस सम्यक् तच्चैवाऽसंशयाऽऽत्मकम्। म. भ. शा. अ. २८७॥

( दुष्ट ) घाई ( घातक–पड़दा की टट्टी ) है कि यही सब जीवों को खोज २ कर मारता है ॥१८॥

## रमयणी १९.

अनहद अनुभव की करि आशा । ई देखहु विपरीत तमाशा ॥
इहै तमासा देखहु भाई । जहवाँ शून्य तहाँ चलि जाई ॥

मोहं नैव मृदित्वाऽयं शातयित्वा न संशयम् ।
नादाभ्यासरतो लोके लययोगपरो नरः ॥३६॥
करोति महदाश्चर्यं नादानुभवनाशया ।
तत्पश्यन्तु बुधाश्चित्रं विपरीतं हि कौतुकम् ॥३७॥
आनन्दं चिद्घनं त्यक्त्वा शून्ये गच्छत्यसौ नरः ।
विवेकादि विना नैव गच्छेत् स परमात्मनि ॥३८॥
प्रकृतौ गगनादौ वा महत्तत्त्वमुखेऽथवा ।
लीयतेऽसौ विमूढात्मा * ज्ञानी ब्रह्मणि लीयते ॥३९॥

राम का अनुभव से संसय का निवारण नहीं करके, बहुत लोग अनहद शब्द के अनुभव की आशा करते हैं । इस उलटा तमाशा को देखो ॥ हे भाई ! इस तमाशा को देखकर इसे त्यागो । क्यों कि इस तमाशा से जहाँ शून्य है तहाँ वे लोग जाते हैं । अर्थात् आनन्दशून्य प्रकृति आकाशादि में लीन होते हैं ।

शून्यहिं बाँछे शून्यहिं गयऊ । हाथा छोड़ि बेहाथा भयऊ ॥
संशय सावज सब संसारा । काल अहेरी सांझ सकारा ॥

* सत्सङ्गश्च विवेकश्च निर्मलं नयनद्वयम् । यस्य नास्ति नरः सोऽन्धः कथं न स्यादमार्गगः ॥ गरुड़पु. अ. ४९।५७॥

हा तथापि च लोकोऽयं वांछित्वा शून्यमेव हि ।
तत्र गच्छति ×/संत्यज्य हस्तस्थमिव कौस्तुभम् ॥४०॥
आत्मानं तस्य बोधं च हृदिस्थं मणिमुत्तमम् ।
संशयैर्मस्यते चातः कालपाशैर्न मुच्यते ॥४१॥
संशयात्मा मृगो लोके ज्ञानसस्यं ग्रसत्यलम् ।
कालश्च लुब्धको नित्यमाखेटं कुरुते ह्यतः ॥४२॥
मृगं त्यक्त्वा जनस्यैव करोति मृगयामसौ ।
अहर्निशं जनस्यैतद् दौर्भाग्यमतिदुःसहम् ॥४३॥

आश्चर्य है कि वे लोग इस अमूल्य अवसर में भी आनन्द शून्य की ही इच्छा किया करते हैं। और उसीमे प्राप्त होते हैं। इससे हाथ में प्राप्त अवसर तथा वस्तु को छोड़ देने से वे दोनों बेहाथ (अप्राप्त) होगये। इसीसे संशय रूप सावज सब संसार में व्याप्त हो रहा है, और काल भी साँझ सबेरे शिकारी होता है॥

साखी।

सुमिरण करहु राम के, काल गहे हैं केश।
नाहिं जानहु कब मारि हैं, क्या घर क्या परदेश ॥१९॥

महाकालाच्च सर्वस्मात्त्रातारं ज्ञानमात्रतः ।
भक्त्यैव सुलभं रामं स्मरतान्यो न चिन्त्यताम् ॥४४॥
गृहीत्वैवेह केशेषु कालस्तिष्ठत्यतंद्रितः ।
ज्ञायते न कदा चायं मारयिष्यति कुत्र वा ॥४५॥

× यथा क्रतुरस्मिन् लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति। छा. ३।१४।१॥ संत्यज्य हृद्गुहेशानं देवमन्यं प्रयान्ति ये। ते रत्नमभिवान्छन्ति त्यक्तहस्तस्थकौस्तुभाः॥ यो. वा. उपश. स. ८।१४॥

भक्ति श्व.* करणीयां त्वमद्यैव कुरु सत्वरम् ।
माभूत्तेहि विलम्बोऽत्र लौकिके कर्मणि क्वचित् ॥४६॥
ज्ञात्वा हरिं त्वं सुविवेकतोऽञ्जसा ह्यत्यन्तिकस्थं शमनं तथोर्ध्वेत ।
मूर्धस्थितं दुर्विषह विबुध्य वै भजस्व तूर्ण हरिमात्मरक्षकम् ॥४७-१९॥

इति हनुमद्दाविरचिते रमयणीरसोद्रेके कुमार्गगतिवर्णनपूर्वक रामभक्त्युपदेशवर्णन नामाष्टम प्रवाह ॥८॥

सर्वात्मा राम के स्मरण, भक्ति विचारादि शीघ्र करो । काल चोटी पकड़कर बैठा है । यह नहीं जानते हो, कि वह कब मारेगा । क्या घर मे मारेगा या परदेश में ॥१९॥

इति अविवेकादि प्रकरण ॥८॥

## रमयणी २०, दुःखमययातना प्रकरण ९.

अब कहु राम नाम अविनाशी । हरि छोड़ि जियरा कतहुं न जासी ॥
जहाँ जाहु तहँ होहु पतंगा । अब जनि जरहु समुझि विष संगा ॥

यो गतः सो गतस्तात ! समयः स न चिन्त्यताम् ।
इदानीं भज रामं त्वं ह्यविनाशिनमव्ययम् ॥१॥
स्मर ब्रूहि च तन्नामार्तिंसादिव्रतमाचर ।
सर्वात्मानं हरिं त्यक्त्वा क्वचिन्न याहि भद्र हे ॥२॥
यत्र गच्छसि तत्रैव भवसि त्वं पतङ्गवत् ।
तद् भूयो भव मा देव त्वात्मनाऽऽत्मनि शम्यताम् ॥३॥

* न श्व समुपासीत को हि मनुष्यस्य श्वो वेद । शतपथब्रा. २।१।३।९॥ श्वः कार्यमद्य कुर्वीत पूर्वाह्णे चापराह्णिकम् । नहि प्रतीक्षते मृत्यु कृतमस्य नवाऽकृतम् ॥ म भा. शा अ १७५।१५॥

शलभो हि यथा दीप्ते वह्नौ मोहेन दह्यते।
तथा त्वं विषये जन्तो दह्येथाः स्वाविवेकतः ॥४॥
पुनः पुनः सुदग्धोऽसि गर्भादौ विषयेषु + च।
इदानीमपि चात्मानं ज्ञात्वा त्रायस्व सुव्रत ॥५॥
विषयैः संगमादङ्ग दह्यतां मा न गृह्यताम्।
मनसा जागती लोलकल्लोलभंगुरा गतिः ॥६॥

हे अविनाशी जीव! जो समय गया सो गया। अब भी अविनाशी राम का नाम कहो (भजो)। और उस हरि को छोड़कर कहीं नहीं जाओ॥ क्योंकि अग्नितुल्य विषय लोकादि में जहाँ तुम जाते हो, वहाँ ही पतंगे के समान होते हो (उनके संग से नष्ट होते हो)। जान बूझकर, अब विषयों के संग से नहीं जलो (नहीं नष्ट होओ)। अभाग दशा में जो हुआ सो हुआ॥

रामनाम लौ लाय सो लीन्हा। भृङ्गी कीट समुझि मन दीन्हा॥

रामनाम्नि मनो धृत्वा भक्त्या ज्ञात्वा तु तत्त्वतः।
भृङ्गं कीटो यथा ध्यात्वा गृहीत्वा स्वात्मभावतः॥
भृङ्गो हि जायते तद्वद्विद्वान् रामो हि जायते ॥७॥
हरौ तद्भावतां प्राप्ता विद्वांसो निर्मलेऽद्वये।
नावर्तन्ते + पुनस्तेऽत्राविद्यामूलप्रहाणतः ॥८॥

---

+ नष्टात्मस्थितयो भोगवह्निषु प्रज्वलन्त्यलम्। दैवा दिवि दवेनाद्रौ दह्यमाना द्रुमा इव॥ यो. वा. उ. स. ९७।६७॥

+ इष्टं दत्तं तपोऽधीतं व्रतानि नियमाश्च ये। सर्वमेतद्विनाशान्तं ज्ञानस्यान्तो न विद्यते॥ म. भा. अश्वमेधप. अ. ४४।२१॥ न च पुनरावर्तते। छा. ८।१५।१॥ तेषां न पुनरावृत्तिः। बृ. ६।२।१५॥ यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥ भ. गी. १५। ६॥ धामशब्दार्थ आत्मैव॥

नाममात्रे * हि मूढास्तु मनो धृत्वा कथञ्चन ।
गृह्णन्ति विषयादीन् वा देवादीन् न हरिं हृदि ॥९॥
यथा भृङ्गो मनो दध्यात् कीटे तत्त्वाय मोहत ।
तथैते विषयादौ हि मनो दधति मोहत ॥१०॥

विवेकियों ने रामनाम में ला (प्रम) लगाकर उस राम को ही प्राप्त किया। और कीट जैसे भृग को समझ कर, उसमें मन देता (लगाता) है और तद्रूप ही हो जाता है। तैसे विवेकी लाग राम में मन लगाकर राम होगये। अथवा अविवेकी लोगों ने केवल राम के नाम मात्र में प्रेम लगाकर, सो ( ग्राह्य विषयादि ) लिया। और जैसे भृङ्ग ही भ्रम से कीट को ध्येय समझकर उसम मन लगावे, तैसे अविवेकियों ने माया विषयादि को ध्येय समझकर उनमें मनोयोग किया ॥

भौ अति गरु जे दुख के भारी। करु जिय यतन जो देखु विचारी॥
मन की बात है लहर विकारा। ते नहिं सूझै वार न पारा॥

* अय भाव । निष्कामस्यैव रामनाम्नि सवनामभ्य श्रेष्ठेऽपि रतस्य शान्तिविज्ञानादीना शीघ्र लाभो भवति नान्येषाम् । निरतिश यमुनिरमणविषयार्थत्वाद् भक्ताऽभीष्टार्थप्रदत्वादेश्च रामनाम्न सर्व श्रेष्ठत्व नोध्यम् [ राशब्दो विश्ववचनो मश्चापीश्वरवाचक । विश्वेषामी श्वरो यो हि तेन राम प्रकीर्तित ॥ ब्रह्मवैवर्तेषु ] तत्र शुद्ध सच्चिदानन्द मात्र निर्गुण ब्रह्म रामशब्दस्य लक्ष्यार्थ एव। तस्य कस्यापि शब्दस्य वाच्यत्वाऽभावात्। मायिन सर्वशक्तित्वपूर्णकामत्वभक्ताभीष्टप्रदत्वानन्त महिमत्वादिविशिष्टस्य सगुणस्यैवेश्वररामादिशब्दवाच्यत्व भवति। निर्गुणो हि स्वरूपेण सर्वविद् भवति। ईश्वरस्तु मायावृत्त्येति विशेष । निर्गुण एव तत्तद्गुणोपाधिमेर्यादिविवक्षाया ब्रह्मविष्ण्वादिशब्देनाप्यभिधीयते ।

मोहाद् दुःखभरोऽत्यन्तं भवत्यत्र पुनः पुनः।
तद्वेगेनातिखिद्यन्ते सर्वे वै मोहभागिनः ॥११॥
अतो बुद्ध्या विविच्यैव सत्याऽसत्यादितत्त्वतः।
यत्नो विधीयतां मुक्तौ मनो नैवानुगम्यताम् ॥१२॥
अप्रबुद्धं मनो विद्धि सर्वानर्थस्य भाजनम्।
भवाब्धि तत्र जायन्ते कामाद्या वीचयः खलु ॥१३॥
विकाराश्चेह कल्लोलास्तैर्ब्रुडन्ति कुबुद्धयः।
दृश्यते नास्य पारश्च भङ्गं नानाविधैरिह ॥१४॥

विषयाग्नि के सम्बन्ध से ही अत्यन्त भारी दुःख का बोझ जीवों को प्राप्त हुआ है। इससे विचार कर जो सुखप्रद मार्ग देखो, उस मार्ग में चलने के लिये शीघ्र यत्न करो॥ विचार रहित अपने मन की बात (समझ) तो विकारात्मक (दुःखप्रद) लहर ( ज्वाला–तरंग ) रूप है। और इसीके मारे ससाराब्धि का वार पार भी नहीं सूझता है॥

साखी।

इच्छा करि भवसागरे, बोहित राम अधार।
कहहिं कबिर हरि शरण गहु, गोखुर बच्छ विस्तार ॥२०॥

मनः संकल्पसंभूता काङ्क्षैव भवसागरः।
सम्पदस्तत्र सर्वात्मा राम* एव तरिर्दृढा ॥१५॥

---

अवतारास्तु सगुणात् सगुणा भवंति। भक्तभक्त्यधीना यथा शैत्याधीना जले हिमतेत्यादि स्वयमूहनीयम्॥

* रमन्ते योगिनो यस्मिन् स सर्वात्मा रामः। हलश्चेति घञ्प्रत्ययान्तः॥ रमते सर्वस्मिन्निति रामः। ज्वलादित्वाण्णान्तः। रमणं रामस्तं करोतीति भावघञन्तादच्प्रत्ययान्तोऽपि रामशब्दो बोध्यः। अत्र सर्वत्र पक्षे विशुद्धा-

सर्वस्याधारभूतोऽसौ सर्वस्य परमः प्रियः ।
तस्यैवाज्ञानतः कामस्ततोऽयं भवसागरः ॥१६॥
गतानां शरणं तस्य सर्वोऽयं भववारिधिः ।
वत्सीयखुरवत्तस्य स्वचनाशो भवेद् ध्रुवम् ॥१७॥
" युक्त्या × वै चरतोऽशस्य संसारो गोष्पदाकृतिः ।
दूरसंत्यक्तयुक्तेस्तु महामत्तार्णवोपमः" ॥१८॥
इच्छाकृतोऽय ननु ते भवार्णव आधाररूपो हरिरत्र नौस्तव ।
तस्यैव सम्यक् शरण प्रपद्यतां भजेत्तदा वत्सखुरेण तुल्यताम् ॥१९॥२०॥

'अशुद्ध मन से जो जीव ने इच्छा किया, सोई इसके लिये भव सागर हुआ । सबके आधार स्वरूप राम ही इसमें नौका है । इससे साहेब का कहना है कि अन्य इच्छाओं को त्याग कर और भी उसही (राम) की शरण पकड़ो तो यह ससार का विस्तार गौ के बछड़े के खुर के समान सुतर हो जायगा ॥२०॥

## रमयणी २१.

बहुते दुःख दुःख की खानी । तब बचिहहु जबै रामहिं जानी ॥
रामहिं जानि युक्ति जो चलई । युक्तिहिं ते फन्दा नहिं परई ॥

अनन्तदुःखरूपेयमिच्छा दुःखाकरात्मिका ।
तज्जन्योऽयं भवस्तद्वद् दुःखमेव* न संशयः ॥२०॥

---

खण्डसचिदानन्दप्रत्यगभिन्नाद्वितीयब्रह्मण एव रामशब्देन बोधो भवति । स एवामज्ञोऽपि कल्पितया मायया मायीश्वरः सन् सत्वाश्रयामित्यविवक्षाया हरिरित्यभिधीयते ॥

× यो वा. स्थिप्र. स. ५७।३७॥

* परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ॥ योगसू. पाद. २। १५॥

भक्त्या ह्यनन्यया रामं ज्ञात्वैवास्मात्सुदुःसहात् + ।
सद्युक्त्या मुच्यते सम्यग् गुरुवाक्येन लब्धया ॥२१॥
रामं ज्ञात्वा सुयुक्त्या यस्त्वमानित्वादिरूपया ।
सम्यग् याति विवेकेन स बन्धं बाधते तया ॥२२॥
युक्त्या वै चरतोऽस्य शान्तिदान्त्यादिनिष्ठया ।
वर्द्धते ज्ञानवह्निर्वै यदि मन्दो भवेदसौ ॥२३॥
अपरोक्षानुभूतित्वं दृढं प्राप्य स एव तु ।
पापं दहति वै सर्वं भवबीजं भयावहम् ॥२४॥

युक्तिहिं युक्ति चला संसारा। निश्चय कहा न मानु हमारा ॥
कनक कामिनी घोर पटोरा। सम्पति बहुत रहल दिन थोरा ॥

सर्वे संसारिणश्चेह कान्ताकनककामुकाः ।
स्वयुक्त्या विचरन्तीह गुरूक्तं ± सच्च मन्यते ॥२५॥
कनकं कामिनीमश्वं वासांसि विविधानि च । –
सम्पदैव समे लोकाः सम्पत्तिं मन्वते पराम् ॥२६॥
न चिरं वर्तते साऽत्र तिष्ठत्यल्पवासरान् ।
चौरादिभयसंयुक्ता दुःखमुक्ता न कर्हिचित् ॥२७॥
दुःखहानाय सम्पाद्य दुःखमूलमनर्थदाम् ।
अहो मूढतमो लोक एनयैवोन्मदायते ॥२८॥
निर्गर्वत्वं सुसम्पत्तौ वैदुष्येऽपि सुनम्रता ।
शक्तौ दानादिशीलत्वं यस्यास्ति मुक्त एव सः ॥२९॥

---

+ यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षं ओतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः ।
तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः ॥ मुण्ड० २।२।५॥

± आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापयति । छा. ४।९।३॥

अपने मन से कल्पित युक्ति २ से तो सब संसार ही चल रहा है। परन्तु हमारा (सद्गुरु का) कहा निश्चय करके जब तक नहीं मानता है, तबतक भव फन्द से नहीं बच सकता ॥ अपनी युक्ति से चलनेवाला कनक, कामिनी, घोड़ा, पटोर (वस्त्रविशेष) को ही बहुत सम्पत्ति समझता है। जो सम्पत्ति बहुत थोड़े ही दिन इसके साथ रही और रहती है। जिन शमदमादिरूप सम्पत्तियों से अविनाशी सुख मिलता है, उनका मर्म यह नहीं जानता ॥

थोरेहि सम्पति गौ बौराई । धर्मराय की खबरि न पाई ॥
देखि त्रास मुख गौ कुम्हिलाई । अमरित धोखे गौ विष खाई ॥

अल्पयैव हि सम्पत्या मदान्धाः सर्वदुर्जनाः ।
उन्मत्ता * अभवन्नैव सन्मार्गं तेऽविदुः क्वचित् ॥२०॥
उन्मत्तत्वाच्च ये मूढाः संजह्रुरन्तकस्य हि ।
वृत्तान्तमतितीव्रं ते त्रेसुर्दृष्ट्वैव तं भृशम् ॥२१॥
अशुष्यंश्च मुखान्येषां शुशुचुस्ते तदा तथा ।
अहो पीयूषबुद्ध्यैव भक्षितं विषमुल्बणम् ॥२२॥
विषयाख्यं न चात्माऽसौ हरिर्ज्ञातो महामृतम् ।
भुज्यतेऽफलमस्माभिः कृतं न सुकृतं यतः ॥२३॥

कनकादिरूप तुच्छ सम्पत्तियों से ही अविवेकी लोग बौराय गये। इससे धर्मराज के न्यायादि का भी इन्हें होश नहीं रहा ॥ परन्तु जब अन्तकाल आया तो यमराज को देखते ही त्रास (भय) हुआ, और मुख-

* विषयो बहुलः कस्य चेतः संक्षोभदो नहि । अपि ब्रह्मविदां चित्तं क्षोभयेत् किं कुटुम्बिनाम् ॥ दरिद्रो धर्मविज्ञानगन्धेन रहितोऽपि यः । न सोऽपि कुरुते पापं धर्मशः किं पुनः पुमान् ॥ आत्मपु. ५।६१–७१॥

कुम्हिला गया । और पश्चात्ताप करने लगे कि हा ! मैंने तो अमृत के धोखेसे विषयविषको खा लिया या जिन्होंने अमृतके धोखेमें विषयविषको खाया है उनकाही मुख यमको देखनेसे कुम्हिलाता है, अन्यका नहीं ॥

इसके प्रथम चरण का अर्थ वहां छूटा है सो यहां दिया है—

इच्छाजन्य संसार में बहुत प्रकारके दुःख हैं। यह दुःख की खानि (आकर) ही है। इससे तब बचोगे कि जब अन्य सबकी आशा आदि को त्यागकर राम ही को ध्येय ज्ञेय आत्मा जानोगे ॥ राम को जानकर भी जो उस सद्युक्ति-सद्धारणा से मानदम्भादि रहित होकर विचरता है, सो उस कहीं से फिर कहीं मायामनोजाल में नहीं फंसता है, अन्यथा नहीं ॥

साखी– मैं सिरजौं मैं मारऊं, मैं जारौं मैं खाँव ।
जल थल नभ महँ रमि रहौं, मोर निरञ्जन नाँव ॥२१॥

सत्ताप्रकाशमायाभिः सर्वकारी निरञ्जनः ।
कर्माद्यैर्यमरूपेण सदा भाति च वक्ति च ॥३४॥
सृजाम्यहमिदं विश्वं मारयामि चराचरम् ।
संदह्य प्रलये सूर्यैरग्नि सर्वं न संशयः ॥३५॥
सर्गकाले जलं भूमिमाकाशं च जगत्त्रयम् ।
व्याप्यैवात्र सुवर्तेऽहं मन्नामास्ति निरञ्जनः ॥३६॥
पापिनां दण्डदश्चाहं धन्येभ्योऽहं च नाकदः ।
भव्यानां भोगदश्चास्मि ज्ञानान्मोक्षो ह्यवाप्यते ॥३७॥
विना नैव विमुच्यते नरो ज्ञानं नहि स्याच्च शमादिकं विना ।
[illegible]पहीनस्य शमादिकं न च न दोषदृष्ट्यादि विना विरक्तता ॥३८॥
[illegible]न्मदैर्मत्तधियो न दोषान् पश्यन्ति न स्यान्नवशे चरन्तः ।
[illegible]ऽपि तेषां परिदर्शनार्थं सम्यग्बभुवाचाय गुरुर्दयालुः ॥३९॥२१॥

यह यमराज पापी निरञ्जन से कहता है कि मैं ही सबको उत्पन्न करता हूं, मारता हूं और महाप्रलय में सूर्याग्नि से जला देता हूं। [illegible]

पृथिवी, आकाश में रमा (व्यापक) हू। मेरा ही निरञ्जन (असङ्ग ईश्वर) नाम है। ( जल थल में हीं रमि रहा ) ये पाठ भेद हैं ॥२१॥

## रमयणी २२.

अलख निरञ्जन लखै न कोई। जेहि बन्धे बन्धा सब कोई।
जेहि झूठे बन्धाय अयाना। झूठी बात साँच कै माना॥
धन्धा बन्धा किन व्यवहारा। कर्म विवर्जित बसै निआरा॥

मन्दप्रज्ञैरलक्ष्योऽयं× सर्वाऽऽहारी निरञ्जनः।
केऽप्यतस्तं न पश्यंति बन्ध्यन्ते येन बन्धनैः ॥४०॥
तस्यैव मायया* ह्यज्ञा मनसा चातियंत्रिताः।
प्रपञ्चे ह्यनृते सक्तास्तथ्येनाऽऽमेनिरेऽनृतम् ॥४१॥
वितथे तथ्यबुद्ध्या ते त्वात्मनो बन्धनप्रदान्।
चक्रिरे व्यवहारांश्च नैव जातु विमुक्तिदान् ॥४२॥
अहो तेऽद्यापि सत्कर्मभक्तिज्ञानविवर्जिताः।
गोचरेषु वसन्त्यज्ञे नैव तिष्ठंति सत्सु च ॥४३॥

वह निरञ्जन अज्ञ पुरुषों से अलख (अज्ञेय–अदृश्य) है। बाहरी की दृष्टि से उसे कोई जान नहीं सकता। कर्मानुसार उसीके बन्धन से सब बँधे हैं। वह परमात्मा भी उन्हीं को बाँधता है कि जो अज्ञ स्वय झूठे में बँधे हैं। और विवेकसत्संगादि के बिना जो झूठी बातों को साँच करके

× मृत्युर्यस्योपसेचन क इत्था वेद यत्र सः। कठो. १। २।२४॥

*अहिते हितसंज्ञ. स्यादध्रुवे ध्रुवसंज्ञकः। अनर्थे चार्थविज्ञान· स्वमर्थं यो न वेत्ति स· ॥ पश्यन्नपि प्रस्खलति शृण्वन्नपि न बुध्यति। पठन्नपि न जानाति देवमायाविमोहितः ॥ इद कृतमिद कार्यमिदमन्यत्कृताऽकृतम्। एवमीहासमायुक्त कृतान्तः कुरुते वशम् ॥ गरुडपु .अ. ४९।३३ ३४।४०॥

मानते हैं ॥ और जिन्होंने बन्धनरूप ही धन्धा ( कार्य ) का व्यवहार किया है, और अवश्य कर्तव्य सत्कर्मों से विवर्जित (रहित) रहकर जो सत्पुरुषादि से न्यारा ही बसते हैं ॥

पट दर्शन औ आश्रम कीन्हा । पट रस बात पट वस्तुहि चीन्हा ॥
चारि वृक्ष छौ सखा बखानै । विद्या अगणित गणै न जानै ॥
औरौ आगम करै विचारा । ते नहिं सूझै वार न पारा ॥
जप तीरथ व्रत कीजै पूजा । दान पुण्य कीजै बहु दूजा ॥

सद्भ्योऽन्यत्रैव ये स्थित्वा चक्रिरे दर्शनानि पट् ।
आश्रमान् षड्विधां चर्चां षड्वस्तूनि च भेजिरे ॥४४॥
ते वेदांश्चतुरोऽधीत्य षडङ्गानि प्रपठ्य च ।
विचार्य विविधां विद्यां नात्मानं न यमं विदुः ॥४५॥
विचार्याऽप्यागमान् सर्वान् यावत्स्वं नो विदुर्यमम् ।
नैवास्य दृश्यते तावत् पारावारो हि तैरिह ॥४६॥
कामं कुर्वन्तु तीर्थानि जपं च व्रतपूजनम् ।
दानं पुण्यानि चान्यानि नैतैरस्ति विमुक्तता× ॥४७॥
मृत्योः कदर्थनां ज्ञात्वा वैराग्यज्ञानमन्तरा ।
न कश्चिन्मुच्यते जन्तुर्दृढाद्धि भवबन्धनात् ॥४८॥

जिन्होंने छौ दर्शन (मत) और आश्रम के वेषादि को धारण किया। परन्तु एक सत्य बात सत्य वस्तु को नहीं पहचाना, किन्तु छौ भेद युक्त बात छौ वस्तु को सत्य समझा; उन्हें भी यम बाँधता है॥ जो लोग चार

× न तीर्थानि न दानानि न व्रतानि न चाश्रमाः। दुराशय दम्भरुचिं न पुनन्त्यजितेन्द्रियम् ॥ ब्रह्मपु. २३।५। रागाद्युपहिते चित्ते व्रतादि क्रियते हि यत्। तद्दम्भः प्रोच्यते तस्य फलमस्ति मनाङ् न च ॥ उत्पत्तिप्र.६।२३॥

वृक्ष (वेद) और छौ साखा ( शास्त्र–वेदाङ्ग ) के व्याख्यान करते है, अगणित (अनन्त) त्रियाओ को गिनते (विचारते) हैं, एक सत्यवस्तु का नहीं जानते, न यमराज को याद रखते हैं ॥ वे लोग चाहे और भी अनेक आगमों का विचार करें, किन्तु ते–उन सब से ससार सागर का वारपार नहीं सूझ सकता है ॥ आत्मज्ञानादि के बिना चाहे जप, तीर्थ, व्रत पूजा करें, या दूसरे दान पुण्य बहुत करें, तौ भी समार से रहित नहीं हो सकते ॥

साखी ॥

मन्दिर तो है नेह का, मति कोइ पैठु धाय ।
जो कोइ पैठु धाय के, विनु शिर सेतिहि जाय ॥२२॥

शरीराख्यगृहं चेयं स्नेहेनैवेह जायते* ।
तत्र केऽपि न गच्छन्तु द्रुतं मोहेन जन्तवः ॥४९॥
ये विशन्त्यत्र मोहेन सुखं मत्वा कुबुद्धयः ।
आसक्ताश्च भवन्त्यत्र पुनर्व्यर्थं व्रजंति ते ॥५०॥
उत्तमाङ्गो महानात्मा तमप्राप्यैव गच्छताम् ।
मानुष्यं निष्फलं नूनमेवं जन्मान्तराणि च ॥५१॥
'नान्यत्र ज्ञानतपसो नान्यत्रेन्द्रियनिग्रहात् ।
नान्यत्र सर्वसंत्यागात् सिद्धिं विन्दति मानवः' ॥५२॥

*को गृहेषु पुमान् सक्तमात्मानमजितेन्द्रियम् । स्नेहपाशैर्दृढैर्बद्धमुत्सहेत विमोचितुम् ॥ भा. स्क. ७। ६। ९॥ यावतः कुरुते जन्तुः सम्बन्धान् मनसः प्रियान् । तावन्तोऽस्य निखन्यन्ते हृदये शोकशङ्कवः ॥ गरुडपु. ४९। ४९॥ नि.स्नेहो याति निर्वाणं स्नेहोऽनर्थस्य कारणम् । नि.स्नेहेन प्रदीपेन तदेतत्प्रकटीकृतम् ॥ सुभाषितभा. ॥

नाऽज्ञानैः स्नेहजालः कृतोऽत्र कृत्वा देहं तत्र बध्वा क्षिपेद्धि।
स्मात् स्नेहं सर्वयत्नेन हित्वा त्वात्मारामोऽन्वेषणीयः सदैव ॥५३॥
ऐ स्याच्चेत्क्षणमप्यस्य रूपं सर्वं बन्धं सनिदानं दहेत्सः ।
संसारेऽस्मिञ्छमनो हन्त्यवश्यं बध्वा स्नेहैः कुगुणैरन्यथा वै ॥५४॥२२॥

इति हनुमद्दासकृते रमयणीरसोद्रेके रामभक्त्यादि विना दुःखयातनादि-वर्णनं नाम नवम. प्रवाहः ॥९॥

यह देहरूप मन्दिर अज्ञानजन्य स्नेह का कार्य है । इसमें कोई दौड़ कर मत पैठो (इससे रहित होने के लिये यत्न करो। इसमें आसक्त नहीं होवो) जो कोई इसमें दौड़ कर पैठता (आसक्त होता) है, वह सेतिहि (व्यर्थ हि) शिर कटाकर जाता है ॥२२॥

इति दुःखमययातना प्रकरण ॥९॥

## रमयणी २३, संसार की असारता प्रकरण १०.

अलपे सुख दुख आदि हुं अन्ता । मन भुलान मैगर मै मन्ता ॥
सुख बिसराय मुक्ति कहँ पावै । परिहरि साँच झूठ कहँ धावै ॥

दुःखै ग्रस्तमिदं * सर्वं सौख्यमल्पं तु वर्तते ।
आदावन्ते + च सौख्यस्य नामापीह न लक्ष्यते ॥१॥

* नाल्पे सुखमस्ति । छा. ७।२४।१॥

+ निष्क्रामन् भृशदुःखार्तो रुदन्नुच्चैरधोमुखम् । यन्त्रादिव विनिर्मुक्तः पत्युत्तानशाय्यथ ॥ वार्तिके. आ. व. १।१८९॥ कोट्यर्धसहितास्तिस्रः स्यः सूच्यः सुतीक्ष्णकाः । यादृक् शरीरिणः कुर्युस्तादृग्दुःख मृतौ नृणाम् ॥

हा तथापि मनश्चेदं महोन्मत्तो मत्तङ्गजः ।
दुःखानि खलु विस्मृत्य धत्ते सौख्याभिमानिताम् ॥२॥
यदि नेदं स्मरेत् सौख्यमभिमानं विवर्जयेत् ।
प्राप्नुयाद्वै तदा मोक्षमक्षयां शांतिमेव च ॥३॥
मनश्चेदं सुखं सत्यं त्यक्त्वैव कुरुते रतिम् ।
असत्ये मुच्यते नातः सुदृढाद् भवबन्धनात् ॥४॥

इस ससार मे सुख बहुत अल्प है, और दुःख अति महान् है । और जन्म मरणरूप आदि अन्त में तो सुख का नाम भी नहीं रहता है। केवल दुःख ही रहता है, तौ भी मैमन्ता ( अहता ममता करनेवाला अभिमानी ) मैगर ( मस्त हाथी ) तुल्य मन उस दुःख को भूला रहता है और सुख ही समझता है । यदि यह सासारिक सुख को ही बिसर ( भूल ) जाय, और दुःख को याद रखे, तो मुक्ति को प्राप्त करे । परन्तु यह दुष्ट मन तो सच्चे सुखादि को त्यागकर झूठे सुखादि का ही ध्यान करता है, फिर मोक्ष कैसे हो ॥

अनल जोति दाहै एक संगा । नयन नेह जस जरै पतंगा ॥
करु विचार जे सब दुख जाई । परिहरि झूठा केर सगाई ॥
लालच लागे जन्म सिराई । जरा मरण नियरायल आई ॥

यं ध्यायति मनश्चेदं तेनास्यैकोऽत्र संगमः† ।
ओपयेद् दह्यते तस्मान्नेत्रस्नेहात्पतङ्गवत्§ ॥५॥

---

आत्मपु. अ. १।५७६॥ आदिमध्यावसानेषु दुःख सर्वमिदं जगत् । तस्मात्सर्वं परित्यज्य तत्त्वनिष्ठो भवेत् सदा ॥ पञ्चीकरणवार्तिकम् ॥

† सगात्संजायते कामः । भ. गी. अ. २।६२॥

§ स्नेहपाशैर्बहुविधैरासक्तमनसो नराः । प्रकृतिस्था विषीदन्ति जले सैकतवेश्मवत् ॥ म. भा. शा. २९८।३५॥

असत्यैः सङ्गमं त्यक्त्वा विचारः स* विधीयताम्।
येन दुःखानि सर्वाणि समूलानि भवन्ति नो ॥६॥
असत्यस्यैव लोभेन जन्मानि सुबहूनि ते।
व्यतीतानि पुन र्मृत्यु र्जरा चोत्तिष्ठतेऽन्तिके ॥७॥

जिस विषय का यह ध्यान करता है, उसका एक (केवल) राग ही इसको अग्नि की शिखा की नाईं जलाता है। तो भी यह इस प्रकार स्वयं जाकर जलता है कि जैसे नेत्र के विषय में प्रेमवश पतंग जलता है॥ साहब का कहना है कि झूठा की सगाई (सम्बन्ध) को छोड़कर अब भी विचार करो, कि जिससे सब दुःख नष्ट हो जावें॥ लोभ में लगे २ तो अनन्त जन्म बीत गये, इस जन्म का भी बहुत समय बीत गया। जरामरण पास में आ पहुंचे, अब भी होश करो॥

साखी।

भ्रम के बाँधल ई जगत्, यहि विधि आवै जाय।
मानुष जन्महिं पाइ नर, काहे को जहड़ाय ॥२३॥

भ्रमेणैव सुसंनद्धाः सर्वे संसारिणो जनाः।
एवं लोभाभिमानाभ्यां× पुनरायांति यांति च ॥८॥

---

* मनागपि विचारेण चेतसः स्वस्य निग्रहः। मनागपि कृतो येन तेनात्मनः फलम्॥ सम्यग्विचारिणं प्राज्ञं यथाभूतावलोकिनम्। आसादन्त्यपि स्फारा नाविद्यानिभवा भृशम्॥ यो. वा. उपशम. ९३।१–४॥

×मनसा कर्मणा वाचा परस्वादानहेतुतः। प्रपतंति नराः सम्यग् लोभोपहतचेतनाः॥ देवीभा. स्क. ३।१६।४९॥ विभवे सत्यहंकारः प्रबलः भवत्यपि। अहंकाराद् भवेन्मोहो मोहान्मरणमेव च॥ दे. स्क. ४।४।२

मानुष्यं प्राप्य किं सौम्य पुनर्मोहेन पीड्यसे ।
विचारेण परित्यज्य मोहं सौख्यं समाप्नुहि ॥९॥
मोहं लोभं परिहर तरसा सङ्गं त्यक्त्वा भजहरिमरसम् ।
मानुष्यं स्वं सफलय नर हे किं त्वं भ्रान्तो भ्रमसि विहर हे ॥१०॥
अर्थादिमूलं × परमार्थदर्शकं मानुष्यमेतद्बहुजन्मनोऽन्ततः ।
लब्ध्वा तथा यत्नपरो भवान्भवेद्यतो न यायान्नरके विमुक्तितः ॥११॥
विमुक्त्यलाभेऽपि च मूलरक्षणे कुर्यात्सुयत्नोहि विचक्षणो भवान् ।
मूलस्य सत्वे तु विमुक्तिलक्षणा स्यादेव वृद्धिर्हि कदाचिदक्षया ॥१२॥२३॥

भ्रम से स्वयं बँधा हुआ यह संसारी जीव, इस पूर्व कही रीति से सदा आताजाता ( जन्मता मरता ) है । साहब का कहना है कि हे नर ! मानुष जन्म पाकर तुम पशु आदि के समान क्यों जहड़ते ( परवश होते ) हो ॥२३॥

## रमयणी २४.

चन्द्र चकोर अस बात जनाई । मानुष बुद्धि दीन्ह पलटाई ॥
चारि अवस्था सपने कहई । झूठो फूरो मानत रहई ॥
मिथ्या बात न जानै कोई । यही विधिहिं सब गेल बिगोई ॥

विचारादीनुपेक्ष्यान्ये चन्द्रं चाकरको यथा ।
ध्यायतीह तथा ध्यानमुपदिशंति जनान् प्रति ॥१३॥

× सर्वस्य मूलं मानुष्यं तद्धि यत्नेन रक्षयेत् । तद्वृद्धौ नास्ति चेद्यत्नो मूलं तु परिरक्षय ॥ गरुडपु. । निष्कामतादिभिर्मानुष्यं रक्षितं भवति

तेनैषां मानवीं बुद्धिं चक्रिरे विपरीतगाम् ।
अविवेकपरां नित्यं विचारविमुखां सदा ॥१४॥
बाल्यकौमारतारुण्यस्थाविरेषु चतुर्ष्वपि ।
अवस्थासु ततः सर्वे भाषन्ते स्वप्नमेव हि ॥१५॥
असत्यं मन्वते सत्यं जगज्जानंति नाऽनृतम् ।
विस्मृत्यैवं परं तत्त्वं विलोप्यानुभवं निजम् ॥१६॥
परित्यज्य सुखं सत्यं शांतिमुत्सृज्य दूरतः ।
दुःखपूर्णां गताः सर्वे गन्तारोऽथ विवेकिनः ॥१७॥

वञ्चक गुरुओं ने तो जैसे चकोर चन्द्रमा का ध्यान करता है, तैसे ही किसी अनात्मा के ध्यान के लिये बात जनाई है ( उपदेश दिया है ) जिससे मनुष्यों की मानवी बुद्धि को पलटा ( उल्टा कर ) दिया है, विचार, सत्सगादि से विमुख कर दिया है ॥ इससे अज्ञ जीव बाल्यादि चारों अवस्थाओं में स्वप्न तुल्य ससार की ही बात करता है, और झूठ को ही फुर ( सत्य ) मानता रहता है । या विवेक विना सत्य झूठ दोनों को तुल्य मानता है ॥ मिथ्या ससार वा बात को कोई मिथ्या नहीं समझता है । इस प्रकार सब लोग सत्य सुख शाति को गमा कर गये, और मनुष्य तन पाने पर भी जड़ हुए इत्यादि ॥

आगे दै दै सबन गमाया । मानुष बुद्धि न सपनेहु पाया ॥
चौंतिस अच्छर से निकलै जोई । पाप पुण्य जानैगा सोई ॥

भाविन्यर्थे मनो दत्त्वा ह्याशापाशैः सुयन्त्रितैः ।
तृष्णामोहादिभिः सर्वे विचाराद्या विनाशिताः ॥१८॥

---

नान्यथा । तथा च शास्त्रम्– "कामक्रोधसमायुक्तो हिंसालोभसमन्वितः । मनुष्यत्वात्परिभ्रष्टस्तिर्यग्योनौ प्रजायते" इति ॥

अतो न मानवी ¹ बुद्धिः स्वप्नेऽपि लंभिता हि तैः ।
कामक्रोधपरैर्मूढैराशालोभहतैर्मुहुः ॥१९॥
चतुस्त्रिंशन्मितेभ्यो यो वर्णेभ्यः परमं निजम् ।
परं जानाति सत्तत्त्वं विवेकेन विचक्षणः ॥२०॥
अवाच्यं परमानन्दं ज्ञात्वा सत्त्वेन तत्त्वतः ।
स हि वर्णानतिक्रम्य विविक्ते स्वे स्थितः सदा ॥२१॥
पुण्यं पापं च जानीयादात्मानं च जगत्तथा ।
विविक्तः सर्वसंगेभ्यः परां मुक्तिं स चाप्नुयात् ॥२२॥

¹ आगे की आशा दे २ कर सब लोग सद्विचारादि को गमाये। और विवेकवाली मानुषी बुद्धि को स्वप्न में भी नहीं पाये ॥ जो कोई चौंतिस अक्षर के जाल से निकलता है ( वाच्य नामरूप को मिथ्या जानकर शुद्ध साक्षी को तथा सब पद के लक्ष्य को जानता है ) सोई पापपुण्य को विविक्तरूप से अपरोक्ष कर सकेगा ॥

साखी–दोहा ।

सोइ कहते सोइ होहुगे, निकरि न बाहर आव ।
हो हजूर ठाढ कहते हो, धोखे न जन्म गमाव ॥२४॥

यं यं वदसि नाऽसौ त्वं वर्तसे न भविष्यसि ।
वाचामविषयत्वाच्च* साक्षित्वाच्चैव सर्वशः ॥२३॥

* बुद्ध्याऽध्यस्तमनैरस्य यः पदार्थेषु दुर्मतिः । बध्नाति भावना भूयो नरो नासौ स गर्दभः ॥ यो वा. प्र. ५।८।१६॥

* यद्वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते । तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ केन. १।४॥ यतो वाचो निवर्तन्ते । तै. २।९॥

अतो वदसि यान् सर्वान्निष्कृष्यैव ततः स्वयम् ।
स्वात्मानं निर्मलं युक्त्या सदा तिष्ठ तदात्मना ॥२४॥
इत्येवं गुरुभिः प्रोक्तमात्मभूतै हि देहिनाम् ।
श्रुत्वा पुनरसत्येन स्वायु र्गमय सुव्रत ॥२५॥
मानुषी सुधिषणाऽत्र गृह्यतां त्यज्यतां निखिलवाच्यमात्रकम् ।
नैव यं वदसि सोऽसि कर्हिचि न्नैव जातु भवितासि सुव्रत ॥२६-२४॥

साहब का कहना है कि क्या जिसे तुम कहोगे, सोई होगे, अर्थात् नहीं होगे। जैसे द्रष्टा दृश्य नहीं होता, तैसे वक्ता वक्तव्य (वाच्य) नहीं हो सकता। इससे तुम जो २ कहो उन सबसे बाहर न निकल आवो। अर्थात् मायादिविशिष्ट में ब्रह्मादि शब्द की शक्ति जानकर, मायादि से उपलक्षित शुद्ध अपने स्वरूप को मनोवृत्ति मात्र से अभिव्यक्त करो। हौं (मैं) प्रत्यक्ष उपस्थित होकर कह रहा हूं। तुम धोखे (नामरूप) में जन्म नहीं गमावो ॥२४॥

## रमयणी २५.

चौंतिस अछर क यही विशेखा। सहसो नाम याहि महँ देखा॥
भूलि भटकि नर फिरि घट आया। हता जान सो सबन गमाया॥

चतुस्त्रिंशच्च ये वर्णास्तद्विशेषा+ इमानि वै ।
अनन्तानि हि नामानि रूपाणि विविधानि च ॥२७॥
अत्रासक्तो नरो भ्रान्त्या भवाटव्यामटाट्यते ।
अटित्वा पुनरायाति शरीरेष्वेव भुक्तये ॥२८॥
कर्मवासनयाऽऽगत्य तिर्यग्योनिषु मानवः ।
धर्माधर्मादिबोधं स्वमसंशयमनीनशत् ॥२९॥

+वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्। छा. ६।१।३॥

चौंतिस अक्षरों का यह विशेष ( स्वभाव–प्रकार ) है, कि जिससे सहस्रो ( अनन्त ) नाम इन अक्षरों में देख पड़ते है ॥ जो मनुष्य केवल इन नामों में ही भूला, सो भूल भटककर फिर घट ( देह) में ही आया । और इस मानव तन म जो कुछ जान ( ज्ञान ) था, उसे भी वह मूढ गमाया । अर्थात् नामदेहाभिमानादि से तिर्यगादि योनि में प्राप्त हुआ, इत्यादि ॥

खोजहिं ब्रह्म विष्णु शिवशक्ती । अनन्त लोक खोजहिं बहु भक्ती ॥
गणगंधर्व खोजहिं मुनि देवा । अनन्त लोक खोजहिं बहु सेवा ॥

स्वं ज्ञानं नाशयित्वा तु केचिद् ब्रह्माणमेव हि ।
केचिद्विष्णुं शिवं केचिच्छक्तिं चैवापरे नराः ॥
अनन्तलोकमन्ये च भक्त्या मृग्यन्ति मानवाः ॥३०॥
गणान् गन्धर्वदेवांश्च मुनींल्लोकांश्च वै बहून् ।
बहुधा सेवया ह्येते मृग्यंति सुखलब्धये ॥३१॥
यद्वा ब्रह्मा × हरि र्भर्गो दुर्गाऽनन्ता इमे जनाः ।
बहुभक्त्या विशेषान् हि मृग्यंति न निजं सुखम् ॥३२॥
गणगन्धर्वदेवाश्च लोकाश्च मुनयस्तथा ।
विमृग्यंति विशेषान् वै यावद्बोधो न लभ्यते ॥३३॥

जब तक इन नामों में भूले रहते हैं, तबतक ब्रह्मा, विष्णु आदि भी किसी विशेष नामी की खोज में हैरान रहते हैं । और अन्य जीव

× विष्णुश्चरत्यसावुग्रं तपो वर्षाण्यनेकशः । ब्रह्माहरस्त्रयो देवा ध्यायन्त' कमपि ध्रुवम् ॥ कामयाना. सदा काम ते त्रयः सर्वदैव हि । यजन्ति यज्ञान् विविधान् ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ॥ देवीभा स्क. १।८।४५–४६॥ देवापि मार्गे मुह्यन्ति अपदस्य पदैषिण. । शान्तिप. अ. २३९।२३॥

ब्रह्मा आदि को खोजते हैं । तथा बहुत भक्तिपूर्वक अनन्त लोकों की खोज में पड़े रहते हैं ॥ गणदेव, गन्धर्वदेव, मुनि और अन्यदेव भी भक्ति सेवापूर्वक अनन्त लोकों में खोजते हैं, तथा अन्य जीव बहुत सेवा भक्ति से गणादि देवों को ढूढ़ते हैं ॥

साखी ।

यती मती सब खोज ही, मनहिं न मानै हार ।
बड़ बड़ जीव न बाँचहीं, कहहिं कबीर पुकार ॥२५॥

यतिसत्यमनाः सत्यो ह्यमनोनिग्रहं सदा ।
अन्वेषयंति चाबोधं विरलोऽस्माद्विमुच्यते ॥३४॥
बोधं विना न विद्वांसो महान्तोऽपि च बन्धनात् ।
विशेषात्स्याद्विमुच्यन्ते हीत्युच्चैर्घोषते गुरुः ॥३५॥
नैर्विशेषसौख्यसान्द्रचिद्घनं पावनं सदैव दोषवर्जितम् ।
तानगम्यविश्वबंधविग्रहं ह्याशया विहाय यांति सर्वतः ॥३६॥
अन्तर्गतं यस्य हि पापपञ्जरं * भवेद्विवृद्धा च तथा सुवासना ।
वेशुद्धभावोऽपि सदैव वर्तते तत्रैव धीरे निजबोधलब्धये ॥३७॥
श्रीवालशूद्रादश्वपचाधमा अपि भावैर्विशुद्धा ननु बोधभागिनः ।
स्यंति तूर्णं हि सुसाधुसंगमात्प्राग्जन्मसंस्कारवशान्न संशयः ॥३८॥
वेस्मृत्य चात्मानमनन्तचिद्घनं संसारिणो जीवगणा भवंति हि ।
ब्रह्मा + शिवो विष्णुमुखाश्च देवता आशादिसत्त्वे भवबन्धभागिनः
॥३९॥२५॥

इति हनुमद्दासविरचिते रमयणीरसोद्रेके संसारासारतावर्णनं नाम दशमः प्रवाहः ॥१०॥

---

* ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः । यथाऽऽदर्शतलप्रख्ये पश्यत्यात्मानमात्मनि ॥ म. भा. शा. अ. २०४।८॥

+ किं विष्णुः किं शिवो ब्रह्मा मघवा किं बृहस्पतिः । देहवा—

यति (सन्यासी), सती ( सत्यवक्ता—या पतिव्रता ) ये सब नामरूप विशेष की खोज में लगे हैं। जबतक मन इस खोज से हार नहीं मानता तबतक इस खोज से बडे २ जीव भी नहीं बचते। मनोनिग्रह विवेकादि होने पर तो सब जीव निर्विशेष आनन्द में मग्न होते हैं। सो कबीर साहब पुकार के कहते हैं ॥२५॥

इति संसार की असारता प्रकरण ॥१०॥

## रमयणी २६, सत्यकर्ता प्रकरण ११.

आपुहिं कर्ता भया कुलाला। बहुविधि बासन गढै कुम्हारा॥
विधिने सबहि कीन्ह इक ठाऊं। अनेक यत्न कै बने कनाऊं॥

विशेषेभ्यः परं यत्तत्सत्तत्त्वमस्ति चेतनः।
स्वयमेव मनोमायायोगात्कर्तृत्वमाप्तवान् ॥१॥
घटादीनिव देहादीनास्ते स रचयन् प्रभुः।
उच्चावच्चाश्च संदेहो विधिना साध्यतेऽखिलम् ॥२॥
साधनानां समाहारो विधितन्त्रोऽस्ति यद्यपि।
कर्त्रा* यत्नैस्तथाप्येतच्छरीरं बहुभिः कृतम् ॥३॥

जो सब विशेषों से परे असङ्ग आत्मा है, सो आपही कल्पित मनोमाया के कल्पित सम्बन्ध से कुलाल के समान कर्ता हुआ। और

प्रभवत्येव विकारैः सयुतः सदा ॥ देवीभा. स्क. ४।१३-१५॥

* आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किञ्चन मिषत् स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति। ऐतरेयो. १।१॥ मिषत्—चलदित्यर्थः॥

वही कुम्भकार शरीर रूप अनन्तो प्रकार से वासन ( पात्र ) को बहु विधि से गढ़ता ( बनाता ) है ॥ प्रारब्ध कर्मादि रूप विधि ने यद्यपि सब साधनों को एकत्र किया है, तथापि उस कर्ता के ही अनेक यत्नों से यह कनाऊ ( कार्य–काया ) बनकर तैयार हुआ है । अथवा क नाम वाला आत्मदेव बहुत यत्न से शरीरी बना है ॥

जठर अग्निमहँ दीन्ह प्रजारी । तामहँ आपु भये प्रतिपाली ॥
बहुत यतन के बाहर आया । तब शिव शक्ती नाम धराया ॥

सम्पाद्यैनच्छरीरं स * जठराग्नावपक्षत ।
रक्षकोऽथाभवत्तत्र प्रकाशाद्यैः स्वयं प्रभुः ॥४॥
बहुभिश्चास्य यत्नैस्तु गर्भाद्बहिरजायत ।
तदास्यैव पुमान्§ स्त्री वा नाम स्वस्याकरोदयम् ॥५॥
इत्येवं जीवरूपेण प्रविष्टस्य स्वयंभुवः ।
कार्यमस्ति जगत्कर्तृत्वं विग्रहस्तु विशेषतः ॥६॥

माता के जठरानल में उस देह को जलाया ( पकाया ), और वहाँ आपही देह का प्रतिपालक ( रक्षक ) हुआ ॥ फिर जन्मकाल म बहुत

* प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते । तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥ शुक्लयजु ३१। १९॥ सर्वात्मा प्रजापतिर्गर्भे प्रविशति, अजायमानोऽपि भूतेषु बहुधा मायया विजायते, तस्य योनिं ( स्थान ) धीराः ( ब्रह्मविद ) पश्यन्ति । तस्मिन्नेव च सर्वाणि भुवनानि स्थितानीत्यर्थः ॥ एषो ह देवः प्रदिशोऽनुसर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः ॥ श्वे २।१६॥

§ नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः । यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते ॥ श्वे ५।१०॥ तेन २ व्यवहारेणेत्यर्थः ॥

मल करके गर्भ से बाहर आया। तब शरीरी बनकर वह अपनाही शिव (पुरुष) और शक्ति (स्त्री) नाम धारण कराया। अर्थात् आभास-प्रतिबिम्बादि द्वारा निर्विशेष चेतन ही जीव होकर स्त्रीपुरुषादिरूप शरीरी हुआ है॥

घर के सुत जो होय अयाना। ताके संग न जाय सयाना॥
साँची बात कही मैं अपनी। भया दिवाना और कि सपनी॥

यथा लोके भवेदत्र कुले जातोऽपि कस्यचित्।
पुत्रोऽज्ञः पतितो धर्मात् पिता तेन न × गच्छति॥७॥
तथेदं वर्ष्म विज्ञाय मायामोहमनोमयम्।
अपवादावधूतं च बुधस्तेन न गच्छति॥८॥
आसक्तो न भवत्यत्र तदर्थं यतते न च।
आत्मार्थं कुरुते सर्वं ज्ञात्वा किञ्चित् करोति नो‡॥९॥
आत्मना रचितं सर्वमिति सत्यं गुरो र्वचः।
स्वप्नतुल्यान्यवाण्याहो प्रमत्तं वर्तते जगत्॥१०॥
कुलजात्यभिमानेन मोहे र्बहुविधैरपि।
विस्मृत्यैतं स्वमात्मानं वर्तते विग्रहे सदा॥११॥

जैसे यदि अपने घर का पुत्र अज्ञानी (अधर्मी-पतित) हो जाता है, तो विवेकी पिता उसके साथ नहीं जाता। तैसे ही अपने ही से

× त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्। ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथ्वीं त्यजेत्॥ चाणक्यनी.॥ त्यजेत्कुलार्थे पुरुषम्, इत्यादि॥ म. भा. वनप. ६३। ११॥

‡ तद्यथाऽहिनिर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीतैवमेवेदं शरीरं शेतेऽथायमशरीरोऽमृतः प्राणो ब्रह्मैव तेज एव। बृ.४।४।७॥

उत्पन्न शरीरेन्द्रियादि अज्ञानादु सादिमय हैं। विवेकी लोग इनमें आसक्त नहीं होते ॥ साहब का कहना है कि मैंने तो अपनी सच्ची बात कही है कि अपने ही मनोमाया से यह शरीर-ससार हुआ है, परन्तु लोग अन्य की स्वप्नतुल्य असत्य बातों को सुनकर तथा तटस्थ कर्ता की बातों से दिवाना (उन्मत्त) हुए हैं ॥

गुप्त प्रगट है एकै दूधा । काको कहिये ब्राह्मण शूधा ॥
झूठी गर्व भुलो मति कोई । हिन्दू तुरुक झूठ कुल दोई ॥

अव्यक्ते+ व्यक्तरूपे वा सत्यप्रकाशलक्षणा ।
जातिरात्मनि चैकैव तत्र गर्वो न युज्यते ॥१२॥
कल्पनामात्रजन्यस्तु गर्वो मिथ्यैव बाधते ।
ब्राह्मणोऽयमयं शूद्रः शुद्धोऽयं नास्त्ययं तथा ॥१३॥
आत्मदृष्टौ हि कश्चैव कथ्यतां कः प्रशस्यताम् ।
को वाऽत्र निंद्यता जीवः सर्वः शुद्धो न संशयः ॥१४॥
देहदृष्ट्यापि सर्वोऽयमेको वर्णोऽभिमानवान् ।
कर्माद्यैः भिन्नता याति नान्यथा वै कथञ्चन ॥१५॥
केऽपि मिथ्याऽभिमानेन भ्राम्यन्तु नाऽत्र सज्जनाः ।
आर्यानार्यप्रभेदोऽपि मिथ्यैव वर्तते कुले ॥१६॥

गुप्त तथा प्रगट दशा में उस कर्ता के लिये एक ही दूध (जाति) है। अर्थात् वह सदा एक स्वभाववाला चेता स्वरूप है ॥ फिर आत्म

---

+एषो ह देव प्रदिशोऽनुसर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः ।
स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ्जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः ॥
शुक्लय ३२। ४॥ एष देवः सर्वाः दिशो व्याप्य वर्तते, स एव गर्भे भवति, प्रतिपदार्थमञ्चतीति प्रत्यङ्, भो जनाः स एव सर्वतोमुखः ॥

दृष्टि होने पर जिसको शुद्ध ब्राह्मण या शूद्रादि कहा जाय ॥ शुद्ध ब्राह्मणादिपन का गर्व झूठ है, इस गर्व में कोई नहीं भूलो। हिन्दू तुरुक ये दो कुल भी झूठ ही हैं।

साखी।

जिन यह चित्र बनाइया, साँचा सो सुत धारि।
कहहिं कबिर ते जन भले, चित्रहिं लेहिं विचारि ॥२६॥

येनेदं रचितं चित्रं सर्वमुच्चावचं खलु।
तं सत्यं सूत्रधारं च जानीत सज्जनाः सुखम् ॥१७॥
त एव सज्जना लोके सुखिनश्च + विशेषतः।
यैश्चित्राणि विचार्यैवं चित्रवॅल्लक्ष्यते स्वयम् ॥१८॥
निरन्तरं निर्गुणं निर्विकारं निरञ्जनं नित्यमाकारहीनम्।
सन्मात्रकं ज्ञानगम्यं स्वसिद्धं स्वयंप्रभं सुप्रभं ज्ञप्तिमात्रम्॥१९॥
एतद्धितं ह्यात्मविदो वदंति सर्वात्मभावेन तु भावयंति।
सर्वाश्रयं सर्वपरं विदित्वा तत्रस्थिताश्चेतनया भवति ॥२०-२६॥

जिसने शरीरादि रूप चित्रों को बनाया है। केवल वही सूत्रधार (सर्वनियन्ता) सत्य है। अथवा हे सुत (शिष्य)! उसी सत्य को धारण करो। साहब कहते हैं कि वे ही जन भले (सुखी, सच्चरित्र) हैं, कि जो

---

१ त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी। त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः ॥ श्वे. ४।३॥ त्वम्–आत्मा वञ्चसि–गच्छसि, विश्वतोमुखः–सर्वावस्थः ॥

+ एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति। तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥कठ. २।५।१२॥ ज्ञानवानेव सुखवान्। उपशमप्र स. ९२।४९॥

इस चित्र को विचार कर सत्य को धारण करते हैं, दूर नहीं दौड़ते इत्यादि ॥२६॥

## रमयणी २७.

ब्रह्मा को दीन्हो ब्रह्मण्डा। सात द्वीप पुहुमी नौ खण्डा ॥
सत्य सत्य कै विष्णु दृढाई। तीनि लोकमहँ राखिन जाई ॥

जीवत्वमनुभूयापि स्वरूपेण पृथक् स्थितः।
देवोऽसावीशतां प्राप्य मायया विद्यते स्वतः ॥२१॥
वेधसे स ददौ सप्तद्वीपैः खण्डैश्च संयुताम्।
नवभिर्वै महीं सर्वां ब्रह्माण्डं सकलं तथा ॥२२॥
विधाताऽधिकृतश्चात्र × ह्यन्तर्यामिपरात्मना।
वर्तते कुरुते कार्यं स्वतन्त्रो नैव विद्यते ॥२३॥
सत्यनामा हि विष्णुश्च सत्त्वेन स्थापितस्तथा।
तेनैव रक्षितः शश्वत्त्रिलोक्यां स विवर्तते ॥२४॥

उक्त मायी कर्ता ने ही सातद्वीप नौखण्ड सहित पृथ्वी आदि युक्त ब्रह्माण्ड की रचना आदि का अधिकार ब्रह्मा आदि को दिया॥ तथा सत्यनामवाला विष्णु को लोक में सत्य निश्चय कराया। तथा तीनों लोकों में रक्षक रखा ॥

× हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वम् ॥ श्वे. ३।४॥
यो देवानामधिपो यस्मिँल्लोका अधिश्रिताः ॥ श्वे. ४।१३॥
यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम् ॥ श्वे. ६।१८॥
यस्माद्विष्ण्वादयो देवाः सूर्यादिव मरीचयः। यस्माज्जगन्त्यनन्तानि बुद्बुदा जलधेरिव ॥ यो. वा. ३।५।७॥

लिङ्गरूप तब शंकर कीन्हा। धरती खिला रसातल दीन्हा॥
तब अष्टाङ्गी रची कुमारी। तीनि लोक मोहिन सब झारी॥
द्वितिय नाम पारवती भयऊ। सो कर्ता शंकर कह दयऊ॥

तयो मोंहे समुत्पन्ने स्वे प्रभुत्वे कदाचन।
लिङ्गरूपं शिवं सोऽत्र रचयामास चाञ्जसा ॥२५॥
आपातालं च तत्कीलं महामस्थापयत् प्रभुः।
तस्यान्तमविदित्वा तौ मोहमुक्तौ बभूवतुः ॥२६॥
महादेवविमोहेऽसावष्टाङ्गीमकरोद्धरिः ।
सा त्रिलोकीं विमोह्याशु चकार स्ववशेऽखिलान् ॥२७॥
द्वितीयनामधेया सा पार्वती समभूत्सती।
तपस्यन्तीं पुनस्तां स शङ्करायाददात्किल ॥२८॥

उन दोनों के मन में स्वतन्त्र ईश्वरता का अभिमान होने पर, यह कर्ता लिङ्गरूप शङ्कर को रचा। और रसातल तक धरती में उसे खिला (कील) दिया॥ फिर अष्टाङ्गी नामक कुमारी को रचा। उसने त्रिलोक-वासी सबही को मोह लिया॥ वही दूसरी पार्वती नामवाली हुई, तब कर्ता ने शङ्कर के प्रति उसका प्रदान किया॥

एकहिं पुरुष एक है नारी। ताते रची खानि भौ चारी॥
शर्मन वर्मन देव औ दासा। सत रज तमगुण धरती आकाशा॥

अस्त्येवं × पुरुषश्चैकश्चेतनात्मा परश्शिवः।
नारी मायात्मिका चैका वर्तते सा गुणात्मिका ॥२९॥

× एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा॥ श्वे. ६।११॥ माया तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्॥श्वे. ४।१०॥

अण्डजादिप्रभेदेन जाता वै खनयस्ततः।
चत्वारोऽपि तथा वर्णा ब्रह्मविष्णुपुरस्सराः ॥३०॥
ब्राह्मणाद्याः समुद्भूताः शर्माद्युपाधिसंयुताः।
सर्वे ते मानवाः सन्तः कर्माद्यै भिन्नतां गताः ॥३१॥
तत एव समुद्भूता रजःसत्वतमोगुणाः।
परस्परस्य सान्निध्याद् भूमिखान्तश्च सर्वशः ॥३२॥

वस्तुतः सब्रा पुरुष एक ही है, और उसकी शक्तिरूप नारी (माया) भी एक है, उन दोनों से ही रचना होने से चार खानि हुई है। शर्मन–(ब्राह्मण), वर्मन (क्षत्रिय), देव (वैश्य), दास (शूद्र) और सत्वरजतमोगुण के विस्तार, पृथिवी से आकाश तक सब ही वस्तु उक्त एक मायी पुरुष से ही हुई है॥

साखी।

एक अंड ओंकार ते, सब जग भया पसार।
कहहिं कबिर सब नारि के, अविचल पुरुष भतार॥

ओंकारादेव ह्येकस्माद् ब्रह्माण्डं निखिलं जगत्।
जातं च विस्तृतं तत्र रामनाम्नश्चिदव्ययात् ॥३३॥
भर्ता स एव सर्वेषामचलश्चाद्वयः प्रभुः।
नारीयच्च जगत्सर्वं तदायत्तं प्रवर्तते ॥३४॥
ओंकारात्मन एकस्माज्जगतो विस्तृतिर्यतः।
ब्रह्माण्डपूर्विका तस्मात्सर्वेषां स पतिः प्रियः ॥३५॥
अक्रियः स च भर्ताऽस्ति सर्वेषां जगतां प्रभुः।
नान्यस्तत्सदृशोऽप्यस्ति ह्यधिकस्तु कुतो भवेत् ॥३६॥
सर्वभूतेषु गूढः स सर्वव्यापी निरञ्जनः।
कर्माध्यक्षश्च साक्षी च सर्वात्मा केवलोऽद्वयः ॥३७॥

ब्रह्माणं व्यदधात्तस्मै वेदान् यः प्राहिणोत्प्रभुः ।
सर्वबुद्धिप्रकाशोऽसौ मुमुक्षोः शरणं सदा ॥२८-२७॥

एक ओंकार ( मायी परब्रह्म ) से ही ब्रह्माण्ड और सब जगत् का विस्तार हुआ है, इससे साहब का कहना है कि ब्रह्मा, विष्णु आदि सब नारी ( परवश जीव ) के एक अविचल ( अक्रिय-अविनाशी ) पुरुष ओंकार ही भतार ( भर्ता-स्वामी है । ( है नारी सब राम की ) यह तृतीय चरण का पाठान्तर है, अर्थ स्पष्ट है ॥२७॥

## रमयणी २८.

अस जुलहा का मर्म न जाना । जिन जग आनि पसारिन ताना ॥
धरति अकाश द्वि गाड़ खनाया । चान्द सूर्य दो नरी बनाया ॥

अत्यद्भुतः कुविन्दोऽयमोंकारात्मा विचक्षणः ।
रहस्यं तस्य नो * विदु युक्तिमन्तोऽपि पण्डिताः ॥३९॥
स जगत्पटवानार्थं भूततन्तुततिं तताम् ।
अकरोज्जीवभोगाय तत्कर्माद्यनुसारतः ॥४०॥
जगत्यां काम्यकर्मादि कृतं यै भोगसिद्धये ।
तै र्न ज्ञातः कुविन्दोऽसौ यो भर्ता जगतः स वा ॥४१॥
कृतौ तेनैव लोकौ द्वावध ऊर्ध्वात्मकौ खलु ।
गर्तभूतौ समुद्भूतौ पादांशस्थापने हितौ ॥४२॥
नालिके चन्द्रसूर्यौ स्तः कर्मतन्तुप्रतिष्ठिते ।
सुकृतौ भ्रमतः शश्वत्तावध्यात्माधिभूतकौ ॥४३॥

*को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं सृष्टिः ॥ इत्यादि ऋग्वे. १०।११।१२९।६॥ सर्वेच्छारहिते मानौ यथा व्योमनि तिष्ठति । जायते व्यवहारश्च सति देवे तथा क्रिया ॥ यो. वा. ४।५६।२९॥

उक्त अविचल भर्ता ऐसा अद्भुत जोलाहा है, कि उसके रहस्य को बड़े २ लोग भी नहीं जान सके। जिसने जग में आकर तत्त्वादि रूप ताना का विस्तार किया है। और यहा ही है तौ भी लोग उसे नहीं जान सके॥ उसने धरती और आकाश (स्वर्ग) दो गाड़ (गडहा) बनाया है, तथा अध्यात्माधिदैव रूप चन्द्र सूर्य दो २ नाड़ी बनाया है। (कपड़ा बुनने के समय जिसमें पैर देकर यन्त्र चलाया जाता है, उसे गाड़ कहते हैं, और सूत्र का आधार नाड़ी होती है)॥

सहस तार लै पूरिन पूरी। अजहूं बिनै कठिन है दूरी॥
कहहिं कबीर कर्म से जोरी। सूत कुसूत बिनै भल कोरी॥

तारकाणां सहस्रैः स भौर्ती*ततिमपूरयत्।
विश्वं च श्वासतारामिः सर्वमेव कलेवरम् ॥४४॥
वयत्येव कुविन्दोऽयमद्याऽप्येयं न संशयः।
अनादियुगमारभ्य यावज्ज्ञानं न लभ्यते ॥४५॥
तावद् दूरं च वानेन काठिन्यं सर्वदेहिनाम्।
सर्वत्र वर्तते साधो! कर्मादिपारवश्यतः ॥४६॥
संधाय × कर्मभिर्यस्मात्तन्तुवायः परेश्वरः।
उच्चावचशरीरादि सम्पादयति सर्वदा ॥४७॥
तं कः सत्यं नरो वेद प्रब्रूयाद्वा कथञ्चन।
काम्यकर्मादि कुर्वाणो मोहद्रोहादितत्परः ॥४८॥

---

* भूताना विकारोऽयमिति विग्रहेऽणन्तान् ङीप्।

× पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन॥ बृ. ३।२।१३॥
वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथाहि दर्शयति॥ उत्तरमीमांसा।३४॥

सूर्याचन्द्रमसौ यो वै यथापूर्वमकल्पयत् ।
तं यो वेद स वेदाऽत्र सत्यं नान्यस्तु कश्चन ॥४९॥२८॥

इति हनुमद्दासविरचिते रमयणीरसोद्रेके सत्यकर्तृवर्णनं नामैकादशः प्रवाहः॥११॥

उस कर्ता ने सहस ( अनन्त ) तारों से आकाशरूप पूरी ( थान ) को पूर्ण किया । और श्वासोच्छ्वास से शरीर को भरा है । इस प्रकार चराचर पट को वह अब भी बिनता है । तथा मोक्ष विना कठिन दूर समय तक उसे बुनना है ॥ साहब का कहना है कि जीवों के कर्म से ही टूटे हुए तन्तुओं को जोड़ कर वह कर्ता रूप कोरी ( जुलाहा ) सूत कुसूत सभी को भलीभांति बिनता है । ( सुकर्म कुकर्म के अनुसार शरीर बनाता है ) ॥२८॥

इति सत्यकर्ता प्रकरण ॥११॥

## रमयणी २९, सद्गुरु विना भ्रान्ति प्रकरण १२.

यहि विधि कहौं कहा नहिं माना । मारग माहिं पसारिन ताना ॥
रात दिवस मिलि जोरिन तागा । ओंटत कातत भरम न भागा ॥

उक्तेन विधिना शश्वदस्माभिः सन्तु कथ्यते ।
सर्वात्मेवाव्ययः कर्ता जनै र्नाय तु मन्यते * ॥१॥
प्रकल्प्यान्यं तु कर्तारं भ्रमेणैव जना इमे ।
तत्प्राप्त्यर्थानि कर्माणि प्रतन्वंति हि कामुकाः ॥२॥

---

* यद्यदालोच्यते किञ्चित्कश्चित्तत्र विद्यते । ईप्सितानीप्सितादन्यत्र तत्र यतते जनः ॥ यो. वा. ४।५७।३०॥

संसारसरणावेवं काम्यकर्मादिलक्षणाम् ।
वितर्ति ते वितन्वानाः संदधत्यनिशं त्विमाम् ॥३॥
कर्मादिलक्षणाँस्तन्तून् संदधाना इमे नराः ।
विब्रुवन्तो विवर्तन्ते वादान् बहुविधान् सदा ॥४॥
विचारेण विना नैषां गुरुपादं × विना न च ।
भ्रमोऽनोऽपगमनात्ययपर्यन्तं वाऽपगच्छति ॥५॥

पूर्व कही रीति से सत्यकर्ता के उपदेश देने पर भी जिन मनुष्यों ने इस कहना (उपदेश) को नहीं माना, उन लोगों ने गमनागमन के मार्ग में काम्यकर्मादि रूप ताने को पसारा ॥ और रातदिन कर्मादि तागों को ही वे जोड़ते हैं। तथा ओटतेकाटते ( विवादादि करते ) हैं। परन्तु इस से इनके हृदयों से संदेह नहीं दूर हुआ ॥

भरमा सब घट रहल समाई। भरम छोड़ि कतहूं नाहिं जाई ॥
परै न पूरि दिनहुं दिन छीना। तहँई जाय जहँ अंग विहीना ॥
जो मत आदि अन्त चलि आया। सो मत सब उन प्रगट सुनाया ॥

सर्वेषां हृदये चैता वासना भ्रमराशयः ।
प्रविश्यात्रावतिष्ठन्ते नश्यंति न कदाचन ॥६॥
एतेऽपि च न तास्त्यक्त्वा यान्ति कुत्रापि मानवाः ।
गुरूणां शमनिष्ठानां शरणे बोधसिद्धये ॥७॥
अतो न लभ्यते पूर्णं पदं न शांतिरुत्तमा ।
संतोषोऽपि कुतस्तेषां येषां ज्ञानं न विद्यते ॥८॥

× तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् ॥ मुण्ड. १।२।१२॥ न विना ज्ञानविज्ञाने मोक्षस्याधिगमो भवेत् ।. न विना गुरुसम्बन्धं ज्ञानस्याधिगमः स्मृतः ॥ म. भा. शा. अ. १७४।४६॥

भ्रमेणैव च सर्वेऽमी निबद्धा अण्डजादयः ।
संमूके स्थावरे चैव बन्धसक्ता चतुर्गुणा ॥१७॥
तमसोऽत्यतिरेकेण विवेकाऽभावतस्तथा ।
स्थावरे जङ्गमे वाऽपि बन्धवृद्धि र्भवत्यलम् ॥१८॥

हे भाई ! विवेकादिरहित वे षट्दर्शनी भी भूले हैं। केवल पाखण्डमय वेष ही इनके देहों में लिपटा है, तथा ये लोग पाखण्ड वेष में अरुझे हैं ॥ और सो पाखण्ड वेष जीवों के शिव ( कल्याण ) के नाश करनेवाले हैं। कल्याण के नष्ट होने से ही चारों खान के जीव बँधे हैं। उनमें भी मौन ( मूक-स्थावर ) जीव चौगुण बन्धनयुक्त हैं, अत्यन्त तमश्छन्न हैं। या योगी आदि चार दर्शनी बद्ध हैं। पचम मौन (बुद्ध मतानुयायी ) चतुर्गुणा बन्धन में फसे हैं। अनीश्वरवादी तामस बने हैं॥

जैनी धर्मक मर्म न जानै। पाती तोरि देव घर आनै॥
दमना मरुआ चम्पक फूला। मानहु जीव कोटि सम तूला॥

दया सर्वत्र भूतेषु सत्याऽहिंसाक्षमादयः ।
धर्मः परतमः सद्भि र्गीतो बोधः सनातनः * ॥१९॥
जैना अपि न तं धर्मं सरहस्यं विदुस्ततः ।
पुष्पपत्रादि संछिन्न जीवयुक्तास्तरोरपि ॥२०॥

---

पाखण्डास्ते प्रकीर्तिताः ॥ १ ॥ धर्मकारणम् ॥
मनु ६।६६॥ न च सन्यसन गी. ३।४॥
*इज्याऽऽचारदमाऽहिं धर्मो

भ्रमेणैव च सर्वेऽमी निबद्धा अण्डजादयः ।
संमूके स्थावरे चैव बन्धसत्ता चतुर्गुणा ॥१७॥
तमसोऽत्यतिरेकेण विवेकाऽभावतस्तथा ।
स्थावरे जङ्गमे वाऽपि बन्धवृद्धि र्भवत्यलम् ॥१८॥

हे भाई! विवेकादिरहित वे षट्दर्शनी भी भूले हैं। केवल पाखण्ड-मय वेष ही इनके देहों में लिपटा है, तथा ये लोग पाखण्ड वेष में अटके हैं॥ और सो पाखण्ड वेष जीवों के शिव ( कल्याण ) के नाश करनेवाले हैं। कल्याण के नष्ट होने से ही चारों खान के जीव बँधे हैं। उनमें भी मौन ( मूक—स्थावर ) जीव चौगुण बन्धनयुक्त हैं, अत्यन्त तमश्छन्न हैं। या योगी आदि चार दर्शनी बद्ध हैं। पंचम मौन (बुद्ध-मतानुयायी ) चतुर्गुणा बन्धन में फसे हैं। अनीश्वरवादी तामस बने हैं॥

जैनी धर्मक मर्म न जानै। पाती तोरि देव घर आनै॥
दमना मरुआ चम्पक फूला। मानहु जीव कोटि सम तूला॥

दया सर्वत्र भूतेषु सत्याऽहिंसाक्षमादयः ।
धर्मः परतमः सद्भि र्गीतो बोधः सनातनः * ॥१९॥
जैना अपि न तं धर्मं सरहस्यं विदुस्ततः ।
पुष्पपत्रादि संछिद्य जीवयुक्तास्तरोरपि ॥२०॥

---

पाखण्डास्ते प्रकीर्तिताः ॥ भक्तमालस. १ ॥ न लिङ्गं धर्मकारणम् ॥ मनु. ६।६६॥ न च सन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ भ. गी. ३।४॥

*इज्याऽऽचारदमाऽहिंसादानं स्वाध्यायकर्म च। अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ॥ याज्ञव. स्मृ. अ. १।८॥ सत्यं दमस्तपः शौचं संतोषश्च क्षमार्जवम्। ज्ञानं शमो दया दानमेष धर्मः सनातनः ॥ गरुड-पु. खं. १।२२१।२४॥

मंदिरादौ नयन्त्येव मूर्तये मन्दचेतसे ।
चम्पकप्रस्थपुष्पाणां दमनानां तथैव च ॥२१॥
पुष्पाणि यैस्तु मन्यन्ते जीवकोटियुतान्यपि ।
तानि तैरपि चार्प्यन्ते मूर्तये स्वल्पचेतसे ॥२२॥

जैनी भी धर्म के मर्म ( रहस्य-भेद ) को नहीं जानता है। इसीसे सजीव वृक्ष की पत्ती तोड़ कर देवमन्दिर में लाता है। और निर्जीव मूर्तियों पर उसे चढ़ाता है॥ दवना मरूआ चम्पा के फूल तो मानो करोड़ों जीव के तुल्य हैं। या जैनी उसे करोड़ों जीव तुल्य मानते हैं। तो भी अहिंसा धर्म को माननेवाले जैनी उसे तोड़ कर लाते हैं। इससे धर्म के मर्म को नहीं जानते हैं॥

औ पृथिवी के रोम उपारे। देखत जन्म आपनो हारे॥
मनमथ निन्दु करै अमरारा। कल्पै बिन्दु खसै नहिं द्वारा॥
ताकर हाल होय अदभूता। छौ दर्शन महँ जैनि विगूता (र्चा)॥

किश्च देहस्य लोमानि लुञ्चन्त्येते कुबुद्धयः ।
पृथिव्या लोमभूतांश्च लुञ्चन्ति ते वनस्पतीन् ॥२३॥
पश्यन्तोऽपि च ते तस्मादपश्यन्त इव स्थिताः ।
जीवितं व्यर्थयन्तीव नो कुर्वन्त्यात्मनो हितम् ॥२४॥
चञ्चोल्यादिरताः कैचिन्मन्मथस्यापि विन्दुना ।
कुर्वन्तीवातिविद्रोहं सुवीभत्सेन वर्त्मना ॥२५॥
यत्र क्षुभ्यति विन्दुश्च पतति द्वारतो नहि ।
तस्य चित्रा दशाऽवश्यं जायते नाऽत्र संशयः ॥२६॥
एवं च कुर्वतां तेषां जैनानां गतिरद्भुता ।
भवेद् दुःखकरी नूनं नश्यंति ते कुयोगतः ॥२७॥

दर्शनेषु निहीनास्ते यतो धर्मादिसाधनम् ।
त्यजन्त्यनवधानेनाऽधर्मं धर्मं च मन्वते ॥२८॥

और पार्थिव देह के लोमों को जैनी उखाड़ते हैं, जिससे जीव को दु:ख देते हैं। तथा पृथिवी के लोमरूप वनस्पतियों को उखाड़ते हैं। इससे अहिंसा को धर्मरूप देखते रहने पर भी रहस्य ज्ञान विना अपने जन्म को कुमार्ग में हारते ( नष्ट करते ) हैं॥ और वज्रोली मुद्रा आदि के प्रेमी जैनी मन्मथ (काम)के विन्दु के साथ ऐसा रार (हठ विद्रोह) करते हैं कि जिससे विन्दु कलपता ( स्थानच्युत होता ) है, परन्तु लिङ्गद्वार से गिरने नहीं पाता॥ ताकर ( उस विन्दु का—और उसके दुरुपयोगी जैनी का ) अद्‌भुत ( विचित्र ) हाल होता है। इससे छौ दर्शन में भी अनीश्वरवादी जैनी सबसे अधिक अपने कल्याण को विगोता ( नष्ट करता ) है॥

साखी।

ज्ञान अमर पद बाहरे, नियरे ते हैं दूर।
जाने ताको निकट है, अनजाने को दूर॥३०॥

ज्ञानरूपस्य शुद्धस्यामृतस्याद्वयरूपिणः।
ज्ञानं दर्शनकर्मभ्यो बहिरेवावतिष्ठते॥२९॥
अन्तिकस्थाद्यतो दूरे वर्तन्ते तानि सर्वदा
अतस्तत्त्वं न तैरत्र लभ्यते न मनोजय
आत्मज्ञानामृताद्येऽत्र बहिस्तिष्ठन्ति
अन्तिकस्थात्सुदूरे ते वर्तन्ते नाऽत्र
ज्ञातुरत्यंतिकस्थोऽसौ सर्वात्मा
चित्स्वरूपः सदा भाति मूढेभ्यो

* तद् दूरे तद्वन्तिके। ईशोप. ५॥

"दवीयसां× दविष्ठं तदंतिकानां तदंतिकम् ।
कनीयसां कनीयस्तज्ज्येष्ठं च ज्यायसामपि ॥३३-३०॥

ज्ञानस्वरूप अमरपद से जो बाहर है ( विषय लोकादि में सत्य बुद्धि से फँसा है ) सो पास की ही वस्तु से बहुत दूर है, क्योंकि जो जानता है उसके लिये अमरपद मोक्षस्थान बहुत निकट है, अनजान के ही लिये दूर आकाशादि में है ॥

## रमयणी ३१.

वज्रहुं ते तृण क्षिण महँ होई। तृण ते वज्र करे पुनि सोई॥
निझरू नीरु जानि परिहरिया। कर्मक बाँधल लालच करिया॥
कर्म धर्म मति बुधि परिहरिया। झूठी नाम साँच लै धरिया॥

वज्रतुल्योऽपि दुर्भेद्यस्तृणेन तुल्यतां क्षणात् ।
प्रयाति प्रलयादौ * यस्तं वज्रं च करोति यः॥ ॥३४
निर्झरा बुद्धिहीनाश्च त्यक्त्वा तं ह्यविनाशिनम् ।
कर्मरज्जुसुसंनद्धा लोभं कुर्वंति वस्तुनः ॥३५॥
धर्म्यां कर्म परित्यज्य मतिं× त्यक्त्वा तु भाविनीम् ।
सुबुद्धिं दूरतस्त्यक्त्वा यत्र कापि व्रजंति हि ॥३६॥

---

तिस्रोऽ ' गुहायाम् ॥ मुण्ड. ३।१।७॥ एष ब्रह्मलोकः । एषाऽस्य
...स्य परमो लोकः । बृ. ४।३।३२॥
...।११८॥

दर्शनेषु निहीनास्ते यतो धर्मादिसाधनम् ।
त्यजन्त्यनवधानेनाऽधर्मं धर्मं च मन्वते ॥२८॥

और पार्थिव देह के लोमों को जैनी उखाड़ते हैं, जिससे जीव को दुःख देते हैं। तथा पृथिवी के लोमरूप वनस्पतियों को उखाड़ते हैं। इससे अहिंसा को धर्मरूप देखते रहने पर भी रहस्य ज्ञान विना अपने जन्म को कुमार्ग में हारते ( नष्ट करते ) हैं ॥ और वज्रोली मुद्रा आदि के प्रेमी जैनी मन्मथ (काम)के विन्दु के साथ ऐसा रार (हठ विद्रोह) करते हैं कि जिससे बिन्दु कलपता ( स्थानच्युत होता ) है, परन्तु लिङ्गद्वार से गिरने नहीं पाता ॥ ताकर ( उस विन्दु का—और उसके दुरुपयोगी जैनी का ) अद्भुत ( विचित्र ) हाल होता है। इससे छौ दर्शन में भी अनीश्वरवादी जैनी सबसे अधिक अपने कल्याण को विगोता ( नष्ट करता ) है ॥

साखी ।

ज्ञान अमर‥पद बाहरे, नियरे ते है दूर ।
जाने ताको निकट है, अनजाने को दूर ॥३०॥

ज्ञानरूपस्य शुद्धस्यामृतस्याद्वयरूपिणः ।
ज्ञानं दर्शनकर्मभ्यो वहिरेवावतिष्ठते ॥२९॥
अन्तिकस्थाद्यतो दूरे वर्तन्ते तानि सर्वदा ।
अतस्तत्त्वं न तेरत्र लभ्यते न मनोजयः ॥३०॥
आत्मज्ञानामृताद्येऽत्र वहिस्तिष्ठन्ति मानवाः ।
अन्तिकस्थात्सुदूरे ते वर्तन्ते नाऽत्र संशयः ॥३१॥
ज्ञातुरत्यंतिकस्थोऽसौ सर्वात्मा हरिरव्ययः ।
चित्स्वरूपः सदा भाति मूढेभ्यो * दूरतोऽपि च ॥३२॥

* तद् दूरे तद्वन्तिके । ईशोप. ५॥ दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च पश्य

"दवीयसां× दविष्ठं तदंतिकानां तदंतिकम्।
कनीयसां कनीयस्तज्ज्येष्ठं च ज्यायसामपि ॥३३-३०॥

ज्ञानस्वरूप अमरपद से जो बाहर है ( विषय लोकादि में सत्य बुद्धि से फँसा है ) सो पास की ही वस्तु से बहुत दूर है, क्योंकि जो जानता है उसके लिये अमरपद मोक्षस्थान बहुत निकट है, अनजान के ही लिये दूर आकाशादि मे है ॥

## रमयणी ३१.

वज्रहुं ते तृण क्षिण महँ होई। तृण ते वज्र करै पुनि सोई॥
निझरू नीरु जानि परिहरिया। कर्मक बाँधल लालच करिया॥
कर्म धर्म मति बुधि परिहरिया। झूठी नाम साँच ले धरिया॥

वज्रतुल्योऽपि दुर्भेचस्तृणेन तुल्यतां क्षणात्।
प्रयाति प्रलयादौ * यस्तं वज्रं च करोति यः§ ॥३४.
निर्झाना बुद्धिहीनाश्च त्यक्त्वा तं ह्यविनाशिनम्।
कर्मरज्जुसुसंनद्धा लोभं कुर्वंति वस्तुनः ॥३५॥
धर्मं† कर्म परित्यज्य मति×त्यक्त्वा तु भाविनीम्।
सुबुद्धिं दूरतस्त्यक्त्वा यत्र क्वापि व्रजंति हि ॥३६॥.

---

तिरहैव निहितं गुहायाम्॥ मुण्ड. ३।१।७॥ एष ब्रह्मलोकः। एषाऽस्य परमा गतिः। एषोऽस्य परमो लोकः। बृ. ४।३।३२॥

× यो. वा. ५।११।११८॥

* संसारः॥ § परमात्मा॥ † चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः। पू. मी. १।१।२॥ अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा। अनुग्रहश्च दानं च सतां धर्मः सनातनः। म. भा. शा. १६२।२१॥

× बुद्धिस्तात्कालिकी ज्ञेया मतिरागामिगोचरा। कोशः॥

असत्यं नाममात्रं वा गृह्णन्ति सत्यबुद्धितः ।
नो सत्यं रोचते तेभ्यो ह्यतेभ्यो रजसा खलु ॥३७॥

वज्र तुल्य दुर्भेद्य संसार प्रलयादि के आरम्भ में क्षणमात्र में तृणतुल्य सुभेद्य होता है । उसको फिर वह निकटवर्ती कर्ता तृण से वज्र करता है ॥ उस निहरू ( अविनाशी ) को निरुजानि ( अज्ञ ) लोगों ने त्याग दिया है, और रागकर्मादि में बँधाकर वे लोग नश्वर पदार्थों का लोभ करते हैं ॥ और लोभ मोह में फँसने के कारण इन लोगों ने धर्मयुक्त कर्मों को त्याग दिया । तथा आगामीगोचर सुमति और वर्तमानगोचर सुबुद्धि से सर्वथा रहित हो गये । और झूठ बात और वस्तुओं को सत्य मानकर उन्हींको धारण किया ॥

रजगति त्रिविध कीन्ह प्रकाशा । कर्म धर्म बुधि केर विनाशा ॥
रवि के उदय तार भौ छीना । चर बीहर दूनों महँ लीना ॥

त्रिविधां× राजसीमेव द्योतयंति गतिं हि ते ।
यतो धर्मस्य बुद्धेश्च विनाशः कर्मणो भवेत् ॥३८॥
यथा सूर्योदयेऽवश्यं लीयन्ते तारकागणः ।
रजसश्चोदये तद्वत्सत्कर्मादि विनश्यति ॥३९॥
ततस्ते हि पुनः शश्वत्स्थावरेषु चरेषु च ।
लीयन्ते मानवा नैते भवंति किमु मुक्तिगाः ॥४०॥

× भल्ला मल्ला नटाश्चैव पुरुषाः शस्त्रवृत्तयः । द्यूतपानप्रसक्ताश्च जघन्या राजसी गतिः ॥ राजानः क्षत्रियाश्चैव राज्ञश्चैव पुरोहिताः । वादयुद्धप्रधानाश्च मध्यमा राजसी गतिः ॥ गन्धर्वा गुह्यका यक्षा विबुधानुचराश्च ये । तथैवाप्सरसः सर्वा राजसीषूत्तमा गतिः ॥ मनु. अ. १२।४५॥ इत्यादि ।

" कामक्रोधसमायुक्ता* लोभमन्मन्विताः ।
मनुष्यत्वात्परिभ्रष्टास्तिर्यग्योनौ भवंति हि ॥४१॥
ब्रह्मचर्यविहीनेभ्यो + शिक्तिभ्य एव च ।
आनन्दात्मापि चित्तस्थोऽपि नैव कथञ्चन "॥४२॥

इन को धारण करके उत्तम ने कनिष्ठ राजसी गति का प्रकाश
ा, और सात्विक निष्काम कर्मादि का लोगों ने नाश किया।
ाजसी तामसी गति के प्रकाश। सात्विक कर्मादि का नाश हो
॥ जैसे सूर्य के उदय से तारे छिपते हैं। तैसे राजस तामस
त्यों से सत्कर्मादिका के नष्ट्रे पर, जीव मर चर ( जंगम )
थी-र ( कठिन बंधनयुक्त र ) इन दोनों योनियों में ही
हुये। मुक्त नहीं हुए ॥

के खावे विष नाहि जावै कहू सो जो मरत जिआवे ॥

विषस्य भक्षणान्नैव वेगो निवर्तते।
तथा न भोगतो जातु कर्म नश्यति कचित् ॥४३॥
यथा गारुडमन्त्रेण धैन परेण वा ।
विषं शाम्यति तद्वद्धि मन्त्रेण बोधनः ॥
समानित्वादिलब्धेन कर्म नश्यति ध्रुवम् ॥४४॥
गारुडादिप्रयोगेण मर आयते हि यः ।
गारुडिः स भवेत्तद्वन्मृत्यु रक्षको गुरुः ॥४५॥

* महाभा वनप. १८१।१२

+ आत्मपु. १४।२९९॥ कि ब्रह्मचर्यम्। गोपथब्रा २।५॥

‡ न जातु काम. कामानामुप शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव
भूय एवाभिवर्धते ॥ मनुस्मृ. ॥

" गुरु* न स स्यात्स्वजनो न स स्यात्,
पिता न स स्याज्जननी न स स्यात् ।
दैवं न स स्यान्न पतिश्च स स्यात्,
न मोचयेद्यः समुपेतमृत्युम् " ॥४६॥

जैसे विष के खाने से विषकी शान्ति नहीं होती, वैसे ही राजसी प्रवृत्ति भोगादि से कामवासना आदि निवृत्ति नहीं होती है। और जैसे विष से मरते हुए को जिलाने वाला गरुड़ कहा जाता है। वैसे ही विषयभोगमग्न आदि से मरते हुए को करनेवाला गुरु कहाता है॥

साखी

अलख जु लागा पलक में, पलकहिं में डँसि जाय।
विषहर मन्त्र न मानये, गारुड़ काह कराय ॥३१॥

अलक्ष्या खलु मायैषा दंदष्टि क्षणाज्जनम्।
कामादिरूपतो यस्य लिंगति चञ्चला ॥४७॥
सोऽपि चेन्न गुरोर्मन्त्रं मायाविषहारिणम्।
मन्यते संशृणोत्यत्र गुरुर्यः करोतु किम् ॥४८॥
लोकवासनया कामादेतनया क्रुधा।
शास्त्रवासनया ज्ञानं नैव जायते ॥४९॥
त्यक्त्वा प्रभुं सुविमलालं विमूढा,
धर्म्यं सुकर्म सुमतिं कलां विहाय।
आदाय तुच्छविषयान् गुणदन्दनेचा,
मायाप्रभिन्नधिषणा हि भवन्ति ॥५०-३१॥

इतिहनुमद्दासविरचिते रमयणीरसे सत्यवस्तुज्ञान बिना कुगुरुप्रपञ्च-वश्यतादिवर्णनं नाम द्वादशः प्रवाहः॥

---

* भा, स्क. ११।५।१८॥ समुपेयुम्-समुपेता मृत्युर्येन तम्॥

अविवेकियों से अलक्ष माया। जिसके पलक (नेत्र) में लगी या जिसके हृदय में पलमात्र भी पैठी उसके नेत्र या हृदय से पलमात्र ही में दगा (घात) कर चल दिया। फिर कामादि विष से व्याकुल यह जीव यदि सद्गुरु के निर्णय मन्त्र को नहीं मानता है, तो सद्गुरु गारुड़ी भी क्या कर सकते हैं॥८॥

इति सत्यसत्ता के ज्ञान बिना भ्रमादि प्रकरण ॥१२॥

## रमैणी ३७, 'सत्यानुभव बिना दुर्दशा प्र. १३'

सुमृति आहिं गुणन के चीन्हा । पाप पुण्य का मारग कीन्हा ॥

शोभनाः स्मृतयः* सन्ति शमादिगुणलक्षिकाः ।
सद्धर्मबोधिकास्तद्वत् पुण्यपापविवेचिकाः ॥१॥
दैवाऽसुरप्रभेदेन मार्गौ यौ द्विविधौ खलु ।
स्मृतिसम्पादितौ तौ हि बोध्येते स्मृतिभिस्तथा ॥२॥
वेदाः सन्ति स्मृतेर्मूलं सुविचाराश्च हेतवः ।
स्मृतिर्लिङ्गं गुणानां च सत्तर्कोऽपि तथा मतः ॥३॥
"आर्षं× धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना ।
यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः" ॥४॥

सुन्दर स्मृतियाँ गुणों (शमदमादि) के चिह्न बतानेवाली हैं। और उन स्मृतियों ने पापपुण्य के मार्गों का भी निर्णय कर दिया है॥ सिमृति या सुमृति पाठान्तर का भी यही भाव है। स्मरण विचारादि को स्मृति कहते हैं॥

---

* धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः। मनु अ २।१०॥ × मनु अ १२।१०६॥

सुस्मृति वेद पढ़ै असरारा । पाखण्ड-रूप करै हकारा ॥
पढ़े वेद औ करै बड़ाई । सशय गांठि अजहुं नहिं जाई ॥
पढ़े सत्य से जिव बध करई । मूड़ काटि अगमन के धरई ॥

पठंति ताः स्मृती वेदानहो एते शठा नराः ।
क्रूरा धर्मं न जानंति नात्मानं पांति ते ततः ॥५॥
स्मृती वेदानधीत्यापि धर्माऽज्ञानेन मानवाः ।
पाखण्डाऽडम्भिनो भूत्वाऽभिमानं कुर्वते मुधा ॥६॥
पठंति खलु ते वेदान् स्तुतिं च कुर्वते स्वकाम् ।
मुधैव न यतोऽद्यापि विचिकित्सा विनश्यति ॥७॥
विच्छेदः सशयग्रन्थे र्गीवध जायते खलु ।
धर्मादिविषयस्यात्र वैदुष्यं तावदस्ति नो ॥८॥
वैदुष्याभावतः सत्यं शास्त्रं चाधीयते हि ये ।
तेऽपि कुर्वति जीवानां वधं मोहेन लोलुपाः ॥९॥
छागादिशिरसां छेदं विधाय पिशितेच्छया ।
स्थापयंति निजाग्रे तच्चैते पललकामुकाः ॥१०॥

आश्चर्य है कि जो स्मृतियों और वेदों को पढ़ता है, सो भी ऐसा शठ (हठी कर शठ) है कि वह भी केवल पाखण्डरूप का धारण और अहंकार करता है ॥ वेद पढ़ता है, तथा अपनी बड़ाई आप करता है, परन्तु सशय कामादि ग्रंथि इसके अभीही नष्ट हुए नहीं दीख पड़ते हैं ॥ क्यों कि जो सत्य शास्त्रादि पढ़ता है, वह भी तुच्छ स्वार्थवश जीवों का वध करता है, और बकरा आदि का शिर काटकर अपने आगे धरता है ॥

साखी ।

कहहिं कबिर ई पाखंड, बहुतक जीव सताव ।
अनुभव भाव न दरशये, जिअत न आपु लखाव ॥३२॥

जीवसंघान् हि पाषण्डाः पीडयन्त्येव सर्वदा।
अतः स्वानुभवाऽभावाच्छ्वसन्तः स्वं न पांति ते ॥११॥
नैवानुकंपा हृदि वर्ततेऽमला हिंसाद्यभावो नहि विद्यते तथा।
तावन्निजात्माऽनुभवो न जायते नावन्न रक्षाऽपि जनस्य कालतः॥१२॥
जीवश्च यः स्वं खलु पालयेदिह किं पालयेन्मृत्युमुखे प्रविश्य सः।
शक्तस्तदाऽसौ न भवेत् कथञ्चन कुर्यात्कथ किं ननु मोमुहन् व्रजन्
॥१३॥
यावन्न मोहो व्यपनुद्यतेऽलं मायामयः सत्यविचारयोगात्।
यावन्न नित्या गुरुपादभक्तिस्तावद्धतिः स्यान्नहि वासनायाः॥१४-३२॥

साहब का कहना है कि ये पाखण्डी लोग इसी प्रकार बहुत जीव को सताते (पीड़ित करते) हैं। सद्धर्म आत्मानुभव का भाव (सत्ता) इन में नहीं दीख पड़ता। इससे जियते जी ये लोग अपनी रक्षा आप नहीं कर सकते॥

'कहहिं कबिर पाखण्ड ते' यह प्रथम चरण का पाठभेद है॥३२॥

## रमयणी ३३.

अन्ध सो दर्पण वेद पुराणा। दर्वी काह महारस जाना॥
जस खर चन्दन लादे भारा। परिमल वास न जानु गमारा॥
अन्धमादर्शवद् वेदाः पुराणानि च सर्वशः।
दर्शयन्त्यर्थतत्त्वं नो धर्मं वा स्वाविवेकिनम् ॥१५॥
" यस्य§ नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम्।
लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति " ॥१६॥

---

§ नीतिग्रन्थे॥

दर्वीवच्च रसं केन जानीयुस्तामसा नराः ।
चन्दनोद्वाहिवालेयै * स्तुल्याः शास्त्रविदोऽथवा ॥१७॥
स्वानन्दं नैव जानंति मोहेन विवशीकृताः ।
प्रविष्टाः कामकूपेषु लोभगर्ते निपातिताः ॥१८॥
" अधीत्य × चतुरो वेदान् सर्वशास्त्राण्यनेकशः ।
ब्रह्मतत्त्वं न जानंति दर्वी पाकरसं यथा " ॥१९॥
भारवाही खरो यद्वद् भारं वेत्ति न चन्दनम् ।
भक्तिहीनोऽपि विद्वान् सन् शास्त्रं वेत्ति सुखं नहि ॥२०॥

अन्धों के आगे दर्पण के समान पाखण्डियों, अविवेकियों के आगे वेद पुराण निरर्थक होते हैं । दर्वी (करछी) तुल्य तामसी शठ महारस (ब्रह्मानन्द) को क्या जान सकता है ॥ चन्दन के भार को ढोनेवाला गदहा के समान शास्त्र का भार ढोनेवाला अविवेकी परिमल तुल्य विचारादिलभ्य आनन्द को नहीं जानता ॥

कहहिं कबिर खोजे असमाना । सो न मिला जु जाय अभिमाना॥३३॥

सुखरूपस्य चाज्ञानाद् हृदिस्थस्य निजात्मनः ।
मार्गयत्यम्बरे तत्त्वं सुखमन्यत्र मन्यते ॥२१॥
यस्य ज्ञानेन संप्राप्य स्वभिमानोऽभिभूयते ।
विकीर्यन्ते विकाराश्च समूलं लूयते मलम् ॥२२॥
उदेति चास्य शांतिः क्रोधः क्वापि पलायते ।
उल्लसंति न लोभाश्च मन्युश्च + मुच्यते क्षणात् ॥२३॥

---

* वालेयो गर्दभः ॥ स्वरूपानुसंधानव्यतिरिक्तान्यशास्त्राभ्यास उष्ट्रः कुंकुमभारवद् व्यर्थः । सन्यासोप. २। ५९॥

× मुक्तिकोप. २। ६५॥ + शोकः ॥

अमूया* शुष्यति क्षिप्रमभिध्या† ध्वंसमेति च ।
पाशाः × सर्वे विपिष्यन्ते क्लेशाः छिद्यन्त एव हि ॥२४॥
जन्ममृत्युभयं भ्रांति * भ्रंशो भेदश्च भिद्यते ।
खिद्यते न नरो येन स्वानन्दं वेत्ति सर्वदा ॥२५॥
हा मूढ नैव लब्धोऽसौ सोऽप्येनान् मिलते न च ।
यस्य ज्ञानं परो धर्मो हिंसा यत्र न संभवेत् ॥२६॥
न तच्छास्त्रं न वा ज्ञानं यत्र हिंसा प्रवर्तते ।
यस्माद् भवति संसारः सर्वानर्थपरम्परः ॥२७॥
" सर्वतीर्थेषु यत्पुण्यं सर्वयज्ञेषु यत्फलम् ।
अमांसभक्षणे" हिंसाऽभावे स्याच्च ततोऽधिकम् ॥२८-३३॥

साहब का कहना है कि वे लोग असमान ( स्वर्ग, वैकुण्ठादि ) में आनन्द खोजते हैं । और हृदयस्थ वह समरस चिन्तामणि उन्हें नहीं मिला, कि जिससे अभिमानादि नष्ट हो जायँ । या अस ( ऐसे लोग ) मान ( प्रतिष्ठा ) खोजते हैं, इत्यादि ॥३३॥

## रमयणी ३४.

वेद की पुत्री स्मृती भाई । सो जेवँरि कर लेतहि आई ॥
आपुहि वरि आपन गर बँधा । झूठी मोह काल के फन्दा ॥

वेदानां कन्यकात्वेन भ्रात याः स्मृतयः स्मृताः ।
तासां वाक्यकरे संति काम्यकर्मादिरज्जवः ॥२९॥

---

* गुणे दोषारोपः ॥ †परविषयस्पृहा ॥ × मोहादिबन्धनानि नश्यन्ति । अविद्यादयश्च पीड्यन्ते ॥ * उचिदाद् भ्रशः ॥

स्मृतयो वेदबाह्या [*] यास्तास्तु केऽपि कुबुद्धयः ।
वेदानां पुत्रिका मत्वा तत्राऽऽसक्ता भवंति हि ॥३०॥
तासां वाक्येषु हिंसाद्या विमोहाद्याः कुदृष्टयः ।
गुणाः संति यतस्तेऽत्र बध्यन्ते मूढमानसाः [+] ॥३१॥
गृहीत्वैव वटी जाताः करे ताः स्मृतयोऽपि हि ।
ये कर्मादीन् स्वयं सृष्ट्वा स्वं बध्नंति हि मानवाः ॥३२॥
धीशिरोधौ स्वयं सृष्ट्वा बध्वा च बन्धनानि ते ।
कल्पयन्ति मुधा मोहात् कालपाशमहर्निशम् ॥३३॥
असत्ये मोह एवास्ति कालपाशः सदातनः ।
तेन बद्धाः पुन र्बन्धान् कुर्वन्ति बहुधा जनाः ॥३४॥

हे भाई ! वेदों की पुत्रीरूप मानी गई, बहुत स्मृतियाँ भी ऐसी हैं कि जो मानो जीवों को बाधने के लिये जेवरी ( रस्सी ) अपने हाथ ( वाक्य ) मे लेते ही आई हैं ॥ बन्धनप्रद उन कुवाक्यों को कोई जीव आपही बरि ( रचकर—या स्वीकार करके ), अपने गलों मे मोह से बाधा है । और मोहवश कालपाश की झूठी कल्पना करता है । या झूठी बात आदि में जो मोह है, सोई इसके लिये कालपाश है ॥

बांधत बंधन छोरि न जाई । विषय स्वरूप भूलि दुनिआई ॥
हमरहि निरखत सकल जग लूटा । दास कबीर राम कहि छूटा ॥

---

[*] या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्चकाश्च कुदृष्टयः । सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः ॥ मनुः १२।९५॥

[+] कर्मणा मनसा वाचा बाधते यः सदाऽपरान् । नित्य कामादिभि र्युक्तो मूढधीः प्रोच्यते तु सः ॥ नारदीयपु. ४।७२॥

कुर्वन्ति बन्धनं चेत्थं यथैवोन्मुच्यते दृढम् ।
त्यज्यते न गृहीतं च मूढैरेतैः कदाचन ॥३५॥
कृत्वेत्थं बन्धनं चैते विषयात्मशरीरके ।
संसारे व्यवहारेऽस्य भ्रान्ता भ्राम्यंति सर्वदा ॥३६॥
आत्मीयत्वेन पश्यन्तो जगच्चैते जनास्तथा ।
लुण्ठ्यन्ते स्मृतिभिस्तद्वत्सम्यक्चैषां विलुण्ठ्यते ॥३७॥
अस्मासु चात्र पश्यत्सु दैशिकेन्द्रेषु साधुषु ।
लुण्ठितं वै जगत्सर्वं कामाद्यैश्चैव कुस्मृतैः ॥३८॥
देवादिदासभूताश्च केचिद्धिंसादिबन्धनात् ।
रामं मत्वा स्वदेवं तमुक्त्वा मुक्तिं हि मेनिरे ॥३९॥
तथाप्यज्ञानकामेभ्यस्तेषां मुक्तेरभावतः ।
मुक्तास्ते नेति मन्तव्यं कामाद्यैः संयता यतः ॥४०॥

यह जीव ऐसा दृढ बन्धन बांधता है कि जो फिर छोड़ा ( खोला ) नहीं जा सकता । और बन्धन के नहीं खुलने से विषयस्वरूप ( देहाभिमानी, विषयासक्त ) होकर दुनिआई ( सांसारिक व्यवहार ) में भूला ( फंसा ) रहता है । या दुनियाई में भूलकर विषयरूप बना रहता है ॥ इस संसार की वस्तु को हमारी २ समझते २ सब संसारी कामादि से लूटे गये । या हम लोगों के देखते २ लूटे गये । देवादि के दास मात्र कोई कोइ ( जीव ) रामादि नामों को रट ( जप ) कर, लोकव्यवहार हिंसादि से कथंचित् छूटे ॥

साखी ।

रामहि राम पुकारते, जिह्वा परिगौ रौस ।
सूधा जल पीवै नहीं, खोदि पियन की हौस ॥३४॥

तेषां रामेति रामेति सदैवाऽऽह्वयतां मुहुः ।
अभ्यासवलमार्गो वै जिह्वायां संबभूव ह ॥४१॥

सुधातुल्यं ततो वाक्यं ते शृण्वन्ति न सद्गुरोः ।
पिबंति चामृतं नैव रसं स्वानन्दमद्वयम् ॥४२॥
अनायासेन लभ्यं तं रसं त्यक्त्वा समीपगम् ।
कर्मणोद्घात्य पातालं भित्त्वा स्वर्गस्य वाऽर्गलाम् ॥४३॥
भित्त्वा छित्त्वा जनान् हत्वा प्राणिनां क्रन्दनं बहु ।
अमृतं पातुमिच्छन्ति स्मृतिकामादिवञ्चिताः ॥४४॥
रामो न दूरे न चानात्मरूप आह्वानलभ्यो न स ध्यानलभ्यः ।
सर्वान्तरात्मा चिदानन्दरूपः सत्यः सदा भक्तिभावैकगम्यः ॥४५॥
भक्तौ च नामास्य सद्भिः प्रयुक्तं नैवातितारं हि दूरस्य यद्वत् ।
ध्यानेन युक्तः शनैस्तत्प्रयुञ्ज्यात् तेनैव सारेण तत्त्वं प्रपद्येत् ॥४६॥
मायामयं तस्य रूपं दिदृक्षुस्तं संस्मरंस्तस्य नामैव सम्यक् ।
जप्त्वैव संपश्यति प्राज्ञजीवो दीव्येन वै चक्षुषा नान्यथा हि ॥४७-३४॥

इति हनुमद्दासविरचिते रमैणीरसोद्रेके सत्यानुभव विना शास्त्रज्ञ दुर्दशावर्णनं नाम त्रयोदशः प्रवाहः ॥१३॥

राम २ कहकर हिंसादि से छूटने वालों की भी विवेक बिना यह दशा हुई कि राम २ पुकारते २ उनकी जिह्वाओं में रौम ( ठेला ) पड़ गया । इससे दूर समझकर सदा पुकारते हैं, और सब तापों को शान्त करने वाला शुद्ध अमृतरूप अनायास उपस्थित जल को नहीं पीते हैं । विचारादि से प्राप्त नहीं करते हैं, किन्तु कर्मादिरूप कुद्दाल से खोदकर पाताल के जल को पीने की हाम ( इच्छा ) रखते हैं ॥३४॥

इति ज्ञान विना दुर्दशा प्रकरण ॥१३॥

## रमयणी ३५, मोक्षस्थानाभावादि प्रकरण १४.

पढ़ि पढ़ि पंडित करु चतुराई। निज मुक्ति मोहि कहु समुझाई॥
कहँ वस पुरुष कहाँ सो गाऊँ। पंडित मोहि सुनावहु नाऊँ॥

अधीत्याधीत्य नामानि स्मृतीश्चैव भवान् यदि।
नैपुण्यं कुरुते विद्वन् क्रियतां नैव वार्यते ॥१॥
नामादिमात्रतो मुक्तिं यां सालोक्यादिलक्षणाम्।
प्रब्रूते हि भवान् स्वस्य सा विवृत्य निरुच्यताम् ॥२॥
यस्य लोकादिषु प्राप्त्या मुक्तिं मन्मन्यते भवान्।
पुरुषः कुत्र वस्ता स कुत्र ग्रामोऽस्य विद्यते ॥३॥
यस्मात्सर्वं न चैतद्धि निश्चितं विद्यते क्वचित्।
वक्तुं न शक्यते तस्मात् कल्पनैव विजृम्भते ॥४॥
"मोक्षस्य नहि वासोऽस्ति न ग्रामान्तरमेव वा।
अज्ञानहृदयग्रन्थिनाशो मोक्ष इति स्मृतः" ॥५॥
अतएव न मुक्तस्य प्राणाः क्वाप्युत्क्रमन्ति च।
स ब्रह्मैव तु सन् ब्रह्माप्येति चेत्यब्रवीच्छ्रुतिः ॥६॥

राम ( परमात्मा ) को दूर माननेवाले पण्डितों के प्रति साहब का कहना है कि हे पण्डितो! आप लोग पढ़ २ कर अन्य चतुराई भले ही करो। परन्तु अपनी मुक्ति भी तो मुझे समझाकर कहो॥ वह मोक्ष दाता पुरुष कहाँ बसता है? उसका ग्राम कहाँ है? हे पण्डितो! सो नाम मुझे सुनावो। अर्थात् अनेक मतवादी, अनेक लोकों की कल्पना मिथ्या ही करते हैं। सर्वसम्मत कोई लोक ग्रामादि नहीं कह सकते हैं, इससे जीवन्मुक्ति ही सिद्ध होती है, इत्यादि॥

*चारि वेद ब्रह्मा निज ठाना । मुक्तिक मर्म उनहुं नहिं जाना ॥*

ब्रह्मा हि चतुरो वेदान् संस्मृत्य कृतवान् पुरा ।
मरणात्साद्यमुक्तेश्च रहस्यं स न जज्ञिवान् ॥७॥
जीवन्मुक्तो हि मुक्तः स्याद्विमुक्तश्च विमुच्यते ।
इत्यादिश्रुतयः प्राहु र्बुधा मुह्यति वै भवान् ॥८॥
क्रममुक्तौ च देवोऽपि विमुक्तः सन् विमुच्यते ।
जीवन्नेव न तत्रातोऽव्याप्तिदोषेण दुष्टता ॥९॥
नावेद् ब्रह्मापि यां तां त्वं चेद्वेत्थ शोभसे तदा ।
अहो ते कुशला बुद्धि र्वाणी ते राजते स्वयम् ॥१०॥
किम्वाऽभ्युपेत्य वादोऽयं प्रौढ्या संभाव्यते गुरोः ।
यदि ब्रह्मापि पञ्चत्वे मुक्तिं विज्ञातवान् स्वयम् ॥
तदा वेदविदामग्र्यः स रहस्यं न बुद्धवान् ॥११॥

लोक पितामह ब्रह्माजी ने चार वेद को ठाना ( वेद का निर्माण-स्मरण किया ) परन्तु वादियों से कल्पित मुक्ति के मर्म को उन्होंने भी नहीं जाना । अर्थात् उन्होंने (विमुक्तश्च × विमुच्यते, अत्र ब्रह्म समश्नुते ) इत्यादि श्रुतियों के अनुसार जीवन्मुक्ति विदेहमुक्ति का ही वर्णन किया । सालोक्यादि का नहीं ॥

*दान पुण्य उन बहुत बखाना । अपने मरण कि खबर न जाना ॥*
*एक नाम है अगम गँभीरा । तहवाँ अस्थिर दास कबीरा ॥*

दानानि पुण्यकर्माणि मरणे फलदानि वै ।
बहूनि प्रोक्तवान् धाता निजां मुक्तिं न मृत्युजाम् ॥१२॥

× कठोप. २।२।१॥-२।६।१४॥

आश्चर्यं महदेतद्यदस्मै वेदान् हि सर्वशः ।
प्राहिणोद्देवसर्वात्मा न रहस्यं न चेद्वेत् ॥१३॥
कर्मकाण्डेन वेदेन नाममात्रेण वा ह्यमौ ।
अवेदैव परं मोक्षं व्यवहारी पितामहः ॥१४॥
एकोऽद्वितीयनामा यो गम्भीरग्राह्यवपुः ।
तत्र न स्थिरतां याति देवदासा ह्यबोधतः ॥१५॥

आश्चर्य है कि मरने पर फल देनेवाले दानपुण्यादि का ब्रह्माजी ने बहुत व्याख्यान किया। तो क्या अपने मरने पर होनेवाली मुक्ति की खबर वे नहीं जानते थे॥ एक अद्वितीय नामवाला चेतन देव वाहेन्द्रियादि से अप्राप्य और गम्भीर है (अगह अपार स्वरूप है)। तिस चेतनदेव में ये देवादि के दास कबीर (जीव) अस्थिर हैं। न उसमें प्राप्त हुए, न स्थिरता पाये हैं। इससे मरने पर मुक्ति मानते हैं॥

## साखी।

चिउँटी जहाँ न चढ़ि सकै, राई नहिं ठहराय।
आवागमन कि गम नहीं, तहाँ सकल जग जाय॥३५॥

सर्वात्मत्वाऽतिसूक्ष्मत्वनिरंशत्वादिभिस्तथा ।
यत्रारोढुं न शक्नोति सूक्ष्माऽप्येषा पिपीलिका ॥१६॥
तिष्ठेच्च राजिका नाऽत्र स्तो नैव गमनाऽऽगती ।
सर्वं गच्छति* सुप्त्यादौ जगत्तत्रैव चाञ्जसा ॥१७॥
अक्षेत्रज्ञा यथा नैव हिरण्यनिधिमक्षयम् ।
तस्योपरि चरन्तोऽपि विंदन्तेऽत्र तथैव च ॥१८॥

* स ता सौम्य तदा सम्पन्नो भवति। छा. ६।८।१॥ सति सम्पद्य न विदुः सति सम्पद्यामहे। छा. ६।९।१॥

संगच्छेति प्रजाः सर्वा × ब्रह्मलोकमहर्निशम् ।
प्रत्यक्षं नैव विन्दन्तेऽज्ञानेनैव पृथक्कृताः ॥१९॥
इत्येवं श्रुतिसंवादात्समीपे पुरुषः स्थितः ।
सर्वात्मत्वाच्च ह्येव तस्य ज्ञानं विमुक्तिदम् ॥२०॥
" कामत्यागात्तु विज्ञानं + सुखं ब्रह्मपरं पदम् ।
कामिनां नहि विज्ञानं सनत्कोद्गीतमेव तत् ॥२१॥
ब्रह्मचर्यविहीनाय विषयासक्तचेतसे ।
आनन्दात्मापि चित्तस्थो नैव भाति कदाचन" ॥२२-२७॥

इति हनुमद्दासविरचिते रमयणीसोद्बके मोक्षस्थानाद्यभाव वर्णन नाम चतुर्दश प्रवाह ॥१४॥

*निश्चयकर विभु सर्वात्मा के अति सूक्ष्म होने के कारण, जिसमें चींटी* नहीं चढ़ सकती, गाई नहीं ठहर सकती, आनाजाना आदि क्रिया नहीं हो सकती, तहां सुषुप्ति काल में सब संसारी प्रतिदिन जाते हैं। और अज्ञानता से संसारी भी बने रहते हैं, इत्यादि ॥ इसी प्रकार कल्पित लोकस्थानों में संसारी मन से जाते हैं ॥३५॥ •

इति मोक्षस्थानाभावादि प्रकरण ॥१४॥

## रमयणी ३६, ज्ञान विना मिथ्याऽहंकार प्र. १५.

पंडित भूले पढ़ि गुणि वेदा । आपु अपन पौ जानु न भेदा ॥
सन्ध्या तर्पण औ षटकर्मा । ई बहुरूप करहिं अस धर्मा ॥

---

× सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विदन्ति ॥ छा. ८। ३। २॥

+ अग्निपु ३८२।१०॥ आत्मपु. १४।२१॥

अधीत्याप्यखिलान् वेदानभ्यस्य च पुनःपुनः ।
नाधियंति स्वमात्मानं पण्डिता ह्यविचारिणः ॥१॥
स्वकल्याणपदस्यस्य रहस्यं स्वं विदन्ति नो ।
नातस्ते त्ववगच्छंति सर्वानन्दमहोदधिम् ॥२॥
संध्यासंतर्पणादीनि षट्कर्माणि प्रकुर्वते ।
एवं बहुविधश्चान्यो धर्मस्तै र्हि वितन्यते ॥३॥
नैव चात्मविचारादीनहिंसादींश्च कुर्वते ।
येन लब्ध्वा परात्मानं सद्यो ह्यत्रैव * मुच्यते ॥४॥
" स्वरूपावस्थिति+ र्मुक्तिस्तद्भ्रंशोऽहंत्ववेदनम् ।
इति संक्षेपतः प्रोक्तं तज्ज्ञत्वाज्ञत्वलक्षणम् ॥५॥
न योगेन न सांख्येन कर्मणा नो न विद्यया ।
ब्रह्मात्मैकत्वबोधेन मुक्तिः सिद्ध्यति नान्यथा" ॥६॥

जिसमें सब संसारी भी प्राप्त होते हैं वह परब्रह्म आत्मस्वरूप ही है। पण्डित लोग वेदों को पढ़गुणकर भी उसको भूले हैं। और अपना पौ ( निज मोक्षज्ञान ) का भेद ( मर्म ) को आप नहीं जानते हैं। अथवा अपना पौ आप हैं, परन्तु उसका भेद नहीं जानते। इससे दूर मोक्षस्थान समझते हैं ॥ और ( ये ) लोग संध्यातर्पण और अध्ययन, अध्यापनादि षट्कर्म तथा इसी प्रकार के अन्य भी बहुरूप ( बहुत प्रकार ) के धर्म करते हैं, परन्तु आत्मज्ञान बिना मोक्ष नहीं पा सकते हैं ॥

* ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः । श्वेता. १।११॥

+ यो. वा. ३। ११७।५॥ विवेकचूडामणि. ।

ज्ञानवृक्षाङ्कुरं तस्य बीजं मोक्षफलप्रदम् ।
नाशयित्वा म्रियन्तेऽतः सर्वे खल्वभिमानिनः ॥१९॥
किम्वा सर्वाभिमानादि त्यक्त्वैवान्वेषितं* हि यैः ।
निर्वाणफलमत्रैव विनाश्याङ्कुरबीजके ॥२०॥
वासनाकर्मरूपे वा बुद्ध्यविद्यादिरूपिणी ।
ते जीवन्मुक्ततां प्राप्य विदेहत्वं प्रपेदिरे ॥
नान्यथा जन्मजन्मान्तेऽप्येतद्वेदानुशासनम् ॥२१॥
विरागयोगयुक्तेन सुभक्तेन सुचेतसा ।
देवं पश्यत्यथात्मानमेकरूपमनामयम् ॥२२-३६॥

इति हनुमद्दासविरचिते रमयणीरसोद्रेके ज्ञानं विना विदुषा मिथ्याऽहंकारवर्णनं नाम पञ्चदशः प्रवाहः ॥१५॥

जिन पण्डितों ने अपने कुल के शमदमादिरूप मर्यादाओं को खो (नष्ट) करके निर्वाणपद को खोजा, वे लोग ज्ञानवृक्ष के अंकुरबीज को भी नष्ट करके मृत्युस्थान को प्राप्त हुए ॥ या कुलवर्णादि के व्यर्थ अभिमानों को त्यागकर जिन्होंने निर्वाण पद को खोजा वे लोग कर्म-वासना आदिरूप अंकुरबीज को नष्ट करके जीवन्मुक्तिपूर्वक विदेह मोक्ष के भागी हुए ॥३६॥

इति ज्ञान बिना मिथ्याहंकार प्रकरण ॥१५॥

## रमयणी ३७, ज्ञानभूमिकादि प्रकरण १६.

ज्ञानी चतुर विचक्षण लोई । एक सयान सयान न होई ॥
दुसर सयान को मर्म न जाना । उतपति परलय रैनि बिहाना ॥

* अथ देवाः । अन्योऽन्यस्मिन्नेव जुह्वतश्चेरुस्तेभ्यः प्रजापतिरात्मानं प्रददौ यज्ञो हैषामास यज्ञो ह देवानामन्नम् ॥ शतपथ. ५।१।१-२॥

ज्ञानिन· कुशलाः सर्वे विचक्षणजनास्तथा ।
जानन्तु त्विति नैवासौ ज्ञानी प्रथमभूमिक· ॥१॥
एकत्वादिविहीनस्य निर्विशेषस्य सर्वथा ।
ज्ञातैव कथ्यते ज्ञानी विचारादिसमाश्रयात् ॥२॥
द्वितीयभूमिकस्यापि रहस्यं यावदेति नो ।
स्तां जन्ममरणे तावदवश्यं वै शुभेच्छिन· ॥३॥
शास्त्रज्ञाः पण्डिता ये वा सर्वज्ञं त्वेकमीश्वरम् ।
तटस्थमेव मन्यन्ते स सर्वज्ञो न विद्यते ॥४॥
ततोऽन्योऽस्ति द्वितीयो यः सर्ववित् सर्वशक्तिमान्।
कुशलोऽपि न तं वेत्ति ततो रात्रिदिवं यथा ॥
अवश्यं जन्ममरणे भवतो ह्यनिवारिते ॥५॥

हे ज्ञानी चतुर विचक्षण लोगो ! एक सयान (मात्र शुभेच्छावाला) वस्तुत सयान ( ज्ञानी ) नहीं होता है ॥ जबतक दूसर सयान ( सुविचारी ) के मर्म को मनुष्य नहीं जानता है, तबतक रातदिन के अनिवार्य उत्पत्ति प्रलय ( जन्म मरण ) होते रहते हैं ॥

वाणिज एक सबन मिलि ठाना । नेम धर्म संयम भगवाना ॥
हरि अस ठाकुर तेजि न जाई । बालन निहिस्त गाव दुलहाई ॥

विचारणाद्यभावेन काम्यकर्मादिलक्षणम् ।
संयमं नियमं चैव भगवद्विषयं नराः ॥६॥
प्रारभन्ते स्म वाणिज्यं × कामकर्मादिमोहिता· ।
नैव जातु स्वमात्मानं हरिं पश्यंति वै हृदि ॥७॥

---

× किं वेदैः स्मृतिभिः पुराणपठनैः शास्त्रैर्महाविस्तृतैः । स्वर्गग्राम कुटीनिवासफलदैः कर्मक्रियाविभ्रमैः । मुक्त्वैकं भवबन्धदुःखरचनाविध्वंसकालानलं, स्वात्मानन्दपदप्रवेशकलनं शेषा वणिग्वृत्तयः ॥ भर्तृहरि – नै ॥

तटस्थहरितत्तुल्यास्त्यक्तुं शक्या न तादृशैः ।
अतस्तेभ्यो हि तैः स्वर्गो गीयते न हरिः स्वयम् ॥८॥
किम्वा स्वात्मा हरिस्त्यक्तु शक्यते न कथञ्चन ।
गत्वा लब्धु न शक्यश्च सर्वात्मत्वान्महेश्वरः ॥९॥
बालैस्तथापि गत्वैवाऽन्यत्र परमुश्च लाभत. ।
स्वर्गं मोक्ष च मन्यन्ते नात्मलाभात्कथञ्चन ॥१०॥

विचारवान् ने मर्म को नहीं जानने से सब लोगो ने काम्यकर्मादि रूप एक प्रकार का वाणिज्य ठाना ( किया ) है । और भगवान् विषयक नियम धर्म संयम भी वाणिज्यरूप ही किया है । तटस्थ हरि भी ऐसा विचित्र ठाकुर ( स्वामी ) है कि इनसे त्यागे नहीं जा सकते । इसी कारण वे बालन ( अज्ञ सब ) दुलहा ( उक्त पति ) से निहिस्त (स्वर्ग ) की प्राप्ति गाते हैं । अथवा सर्वात्मा हरि तो ऐसा ठाकुर है कि जिनका त्याग ग्रहण कभी हो नहीं सकता, तथापि अज्ञ लोग उस दुल्हा को स्वर्ग में गाते हैं ॥

साखी ।

ते नर कहहु कहाँ गये, जिनहिं दीन्ह गुरु घोंटि ।
रामनाम निज जानिके, छाड़हु वस्तुहिं खोंटि ॥३७॥

उच्यन्तां ते गताः कुत्र येभ्यः सद्गुरुभिः स्वयम् ।
दत्तं ज्ञानामृतं शुद्धं मातृभिरौषधं यथा ॥११॥
तेऽत्रैव स्वात्मलाभेन रागादिरोगवर्जिताः ।
मुक्ता × आसन्न कुत्रापि गता मायादिवर्जनात् ॥१२॥

× स यो ह वै तत्परम ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति । मुण्ड. ३।२।९॥

अतश्च रामनामानं ज्ञात्वैव स्वं निरञ्जनम् ।
त्यज्यतामखिलं विश्वं दुष्कर्माद्यभिमानिता ॥१३॥
" विचारोपशमाभ्यां* हि न विना साध्यते हरिः ।
विचारोपशमाभ्यां च मुक्तस्याञ्जकरेण किम्" ॥१४-३७॥

कोई कहो तो भला कि वे मनुष्य कहाँ जाकर मुक्त हुए, जिन्हें सद्गुरु ने हितैषिणी माता की नाईं ज्ञानबूटी की घोटी पिलाई। अर्थात् जैसे माता की औषधि से बच्चा यहाँ ही रोगमुक्त होता है। तैसे गुरुमुख यहाँ ही मुक्त हो गये। इसलिये निजात्मा का ही राम यह नाम जानकर खोटि वस्तु ( देहाभिमान, विषय, हिंसादि ) को छोड़ दो और जीवन्मुक्त होवो ॥३७॥

## रमयणी ३८.

एक सयान सयान न होई। दुसर सयान न जानै कोई ॥
तिसर सयान सयानहि खाई। चौथ सयान तहाँ लै जाई ॥

" ज्ञानभूमिः * शुभेच्छाख्या प्रथमा समुदाहृता ।
विचारणा द्वितीया तु तृतीया तनुमानसा ॥१५॥

---

* यो. वा. ५।४३।२३॥

* यो. वा. उत्पत्तिप्र. स. ११८। स्थितः किं मूढ एवास्मि प्रेक्ष्येऽहं शास्त्रसज्जनैः। वैराग्यपूर्वमिच्छेति शुभेच्छेत्युच्यते बुधैः ॥ शास्त्रसज्जनसम्पर्कवैराग्याभ्यासपूर्वकम् । सदाचारप्रवृत्तिर्या प्रोच्यते सा विचारणा ॥ विचारणाशुभेच्छाभ्यामिन्द्रियार्थेष्वसक्तता । यात्र सा तनुताभावात् प्रोच्यते तनुमानसा ॥ भूमिकात्रितयाभ्यासाच्चित्तेऽर्थविरतेर्वशात् । सत्यात्मनि स्थितिः शुद्धे सत्वापत्तिरुदाहृता ॥ दश।

सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात्ततोऽसंसक्तिनामिका।
पदार्थाभाविनी षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता" ॥१६॥
प्रथमां भूमिकां प्राप्तो ज्ञानी नैवाभिधीयते।
द्वितीयभूमिकस्तत्त्वं नैव जानाति किञ्चन ॥१७॥
तृतीयभूमिकश्चैतज्ज्ञानितायास्पदं मन.।
करोति तनु तेनैतत् खादतीव स लक्ष्यते ॥१८॥
चतुर्थभूमिकः सत्ये स्वात्मनि स्थितिमेति वै।
तत्पर्यन्तं हि गत्वेव वासनाविलयान्मुनिः ॥१९॥

एक सयान ( प्रथम भूमिकावाला ज्ञानी ) वस्तुत सयान ( ज्ञानी ) नहीं होता है। दूसरी भूमिकावाला दूसर सयान भी कोई ( किसी ) तत्त्व को नहीं जानता है। तीसरी भूमिकावाला, सब सयान के आश्रय मन को तनु ( सूक्ष्म ) करने से मानो सयान ही को खाता है। चतुर्थ सयान तहाँ ले ( सत्यात्मा तक ) पहुँच जाता है, इससे वह ज्ञानी होता है, और प्रथम की तीन भूमिकायें ज्ञान के साधन होने से ज्ञान की भूमिका ( अवस्था ) कही जाती हैं। उन तीनों की प्राप्ति से ही अल बुद्धि भूलकर भी नहीं करनी चाहिये, यह तात्पर्य है॥

---

भ्यासादसमङ्गफलेन च। रूढसत्त्वचमत्कारात् प्रोक्ताऽसंसक्तिनामिका॥ शुद्धसन्मियमानदरूपा भवति पञ्चमी। अर्द्धसुप्तप्रबुद्धाभो जीवन्मुक्तोऽत्र तिष्ठति॥ भूमिकापञ्चकाभ्यासात् स्वात्मारामतया दृढम्। अभ्यन्तराणां बाह्याना पदार्थानामभावनात्। पदार्थाभावना नाम्नी षष्ठि सञ्जायते गति॥ भूमिषट्कचिराभ्यासाद् भेदस्यानुपलम्भत। यत्स्वभावैकनिष्ठत्व सा ज्ञेया तुर्यगा गति॥ तुर्यावस्थोपशान्ताऽथ मुक्तिरेवेह केवलम्। समता स्वच्छता सौम्या सप्तमी भूमिका भवेत्॥

पँचय सयान न जाने कोई । छठय मॉह सब गेल बिगोई ॥
सतय सयान जु जानहु भाई । लोक वेद महँ देहु दिखाई ॥

पञ्चमीं भूमिकामेत्य जगत् मिथ्या प्रपश्यति ।
अविकल्पमनाश्रातः स्वानन्दे वर्तते सदा ॥२०॥
असंपश्यञ्जगत्सर्वं निर्वासनमना मुनिः ।
अनासक्तो हि सर्वत्र वर्तते विगतज्वरः ॥२१॥
षष्ठभूमौ तु संप्राप्ते पुंसि सर्वो विलीयते ।
पदार्थसंघ इत्यत्र दुःखलेशो न विद्यते ॥२२॥
सप्तमीं भूमिकामाप्तः स्वरूपस्थो भवेत् सदा ।
ज्ञानस्य विषयो नासौ कथञ्चिल्लक्ष्यते क्वचित् ॥२३॥
चर्चाऽपि दुर्लभा तस्य विद्यते लोकवेदयोः ।
यदि जानाति कश्चित्तं स दर्शयतु सज्जनान् ॥२४॥
दर्शनात्पुण्यलाभः स्याच्छान्तिश्चेहोपजायते ।
तद्दृष्टिगोचरो जन्तुर्मुच्यते सर्वकिल्बिषात् ॥२५॥

पञ्चम भूमिकावाला सयान भी आत्मसत्ता विना किसीको सत्य नहीं जानता। इसीसे किसीमें आसक्त नहीं होता। और छठवीं भूमिका में तो सब ही पदार्थ बिगोय जाते हैं। अर्थात् सब अनात्म पदार्थ का प्रत्यक्ष अभाव दीखता है॥ और सप्तम भूमिकावालो का तो दर्शन भी कठिन है। हे भाई! यदि उन्हें जानते हो तो लोक वेद में उनकी चर्चा प्रत्यक्ष देखावो। अर्थात् वे अत्यन्त दुर्लभ हैं॥

साखी।

विजक बतावे वित्त को, जो वित गुप्ता होय।
शब्द बतावे जीव को, बूझै विरला कोय ॥३८॥

पुस्तिका बीजकाख्या हि वित्तं बोधयते यथा ।
निखातं निहितं क्वापि न्यासं चैवमृणादिकम् ॥२६॥
तथा बोधयते सारशब्दश्च निहितं हृदि ।
जीवस्य सत्स्वरूपं तदज्ञानादतुलं सुखम् ॥२७॥
चिदानन्दस्वरूपं तमदृश्यं साक्षिरूपकम् ।
निर्विकारं च पश्यंति केप्यत्र त्वधिकारिणः ॥२८॥
निखिलभुवनकोशे व्यापको यो निजात्मा,
जनिमृतिगतिहीनः शुद्धचैतन्यमूर्तिः ।
शमविरतिविशुद्धे ज्ञानभूमिप्रलभ्यो,
निगमयति तुरीयं तं सुशब्दोऽहैवित्तम् ॥२९॥३८॥

इति हनुमद्दासविरचिते रमयणीरसोद्रेके ज्ञानभूमिकाबोधन नाम षोडशः प्रवाहः ॥१६॥

जैसे गुप्त वित्त को बीजक ( बही ) बताता है, तैसे ही सद्गुरु के शब्दरूप बीजक जीव का स्वरूप के बताता है। परन्तु उससे भी कोई विरला विवेकी ही बूझते ( समझते ) हैं ॥३८॥

इति ज्ञानभूमिकादि प्रकरण ॥१६॥

## रमयणी ३९, ज्ञान विना यवनदुरवस्था प्रकरण १७.

जिन कलमा कलिमाँह पढ़ाया । कुदरत खोजि तिनहुं नहि पाया ॥
कर्म ते कर्म करै करतूता । वेद कितेब भया सब रीता ॥

यैः कलौ कल्पितो मन्त्रो मुहम्मदमुखे किल ।
पाठितश्च * जनान् तेऽपि शक्तिं नैवेशितुर्विदुः ॥१॥

* पठधातोः शब्दार्थकत्वादण्यन्तावस्थायाः कर्तुः कर्मत्व शब्दकर्मकत्वेन च निजेच्छया प्रधाने कर्मणि प्रत्ययः ॥

अन्विष्यापि बहुष्वत्र स्वविचाराद्यभावतः ।
जात्यादेरभिमानेन नेशं मत्सरिणो विदुः ॥२॥
कुर्वंति कर्मणः कर्म कल्पितं न तु वैदिकम् ।
सच्छास्त्रसम्मतं नैव कुर्वंति ते कदाचन ॥३॥
कल्पितेषु प्रवृत्त्यैवं वेदशास्त्रैः सुकर्मभिः ।
ते रिक्ताः संबभूवु वै व्यर्थाश्चैवागमास्तथा ॥४॥
स्मृतिभिः किन्तु वेदैश्च पुराणैः शास्त्रविस्तरैः ।
स्वर्गदैः कर्मभिः किञ्च यदि ज्ञानं न तात्त्विकम् ॥५॥

जिन्होंने कलियुग में कलमा नामक मन्त्र पढ़ाया, उन्होंने भी तत्स्थ कुदरत ( ईश्वर–ईश्वर की शक्ति ) को खोजा, परन्तु पाया नहीं ॥ न सर्वात्मा ईश्वर को पाया ॥ लोग अब भी करतूत ( कल्पित ) सकाम कर्म पर कर्म करते जाते हैं, अहिंसा आत्मविचारादि नहीं करते। इससे आत्मतत्त्व का उपदेश देनेवाले वेद किताब की रीती मात्र है। वस्तुत वे व्यर्थ हुए हैं, क्यों कि लोग ज्ञान के साधनरूप निष्काम शुभ कर्म, भक्ति आदि भी नहीं करते हैं ॥

कर्मत सो जो गर्भ अवतरिया। कर्म तो सो जो नामहि धरिया ॥
कर्म ते सुन्नत ओर जनेऊ। हिन्दू तुरुक न जाने भेऊ ॥

जातकर्म च नामादि कृतमेते विदु शुभम् ।
सुन्नतं यज्ञसूत्रं वा कर्म सौख्यप्रदं खलु ॥६॥
किं वा तत्कुर्वते कर्म येन गर्भाज्जनि र्भवेत् ।
नामानि विविधान्येव सुन्नतादिप्रकल्पनम् ॥७॥
एतादृशानि कुर्वाणा आर्याश्च यवना अपि ।
अहिंसादे रहस्यं नो विदु नैवात्मनस्तथा ॥८॥

"+तत्कर्म यन्न बन्धाय सा विद्या या विमुक्तिदा।
आयासायापरं कर्म विद्याऽन्या शिल्पनैपुणम्" ॥९॥
इत्यादिशास्त्रसद्वाक्यं प्रोक्तं शृण्वन्ति केऽपि न।
कुर्वते मूढबुद्ध्युक्ता कथं मर्म विदन्तु ते ॥१०॥

कर्म भी सो करते हैं जो गर्भ से अवतार हुआ अर्थात् जातकर्म करते हैं। या सोई कर्म करते हैं कि जिससे गर्भवास जन्म हो। तथा जो नाम धरा गया उसे भी कर्म समझते हैं, या सो कर्म करते हैं कि जिससे अनेकों नाम धरे जायँ॥ इसी प्रकार सुनत और जनेऊ को सुकर्म समझते हैं, या इनकी प्राप्ति कर्म से करते हैं। और अहिंसा, सत्य, शौचादि, सुविचार, सत्संग, भक्ति, ध्यानादि रूप ज्ञानप्रद कर्मों के भेद को हिन्दू तुरुकपन के अभिमानी जानते ही नहीं हैं॥

साखी।

पानी पवन सजोय के, रचिया ई उतपात।
शून्यहिं सुरति समोय के, कासो कहिये जात ॥३९॥

रजोरेतोऽभिसम्बन्धात्प्राणस्येदं कलेवरम्।
दुःखमूलं निजोपाधि निष्पन्नं मोहमूलकम् ॥११॥
विवेकेन विविक्ते तु तच्छून्ये सच्चिदात्मनि।
मनोवृत्ति स्थिरीकृत्य कस्मै का जातिरुच्यताम् ॥१२॥
"मनुष्याणां न रक्तस्य न मांसस्य न चास्थिनः।
प्राणस्य नात्मनो जाति र्व्यवहारो हि कल्पितः" ॥१३॥
स्वविवेकाद्विविक्ते च तच्छून्ये वै निजात्मनि।
मनोवृत्तेः स्थितौ शश्वज्जातिकार्यं न विद्यते ॥१४॥

+विष्णुपु. अ. १९।४१॥

सोऽत्र कर्मजालकं तनोतु तापपूरितं,
यो न जातिवर्जितं हि वेत्ति पूर्णतृप्तिदम्।
साधु तत्र मानसं निधाय योगवित्तमाः,
किं वदन्तु जातिज क्रियादि वातिविभ्रमम् ॥१५॥३९॥

रजोवीर्यादि रूप पानी और प्राण रूप पवन के सम्बन्ध से यह शरीर रूप आत्मा की उपाधि रचा गया है। इस उपाधि से शून्य शुद्ध आत्मा में सुरति ( मनोवृत्ति ) को स्थिर करने के बाद फिर किसीसे कौन जाति की बात कही जाय। अनात्मपरायणता से ही जातिपाँति का झगड़ा खड़ा होता है, अन्यथा नहीं हो सकता ॥३९॥

## रमयणी ४०.

आदम आदि सूधि नहिं पाई। मागा हौवा कहँ ते आई ॥
नहिया होते तुरुक न हिन्दू। न माके रुधिर पिता के बिन्दू ॥

आदमाद्या न चैतस्य स्वात्मनो लेभिरे मतिम्।
किञ्चादमस्त्रिया हव्यवत्या* नैव विदु र्गतिम् ॥१६॥
कुतोऽत्र साऽऽगता कस्माज्जाता विश्वविमोहिनी।
नैतदेते विदु र्वेद्यं मिथ्याकल्पनमोहिताः ॥१७॥
आर्येतरप्रभेदो हि तदा नासीन्न जातयः।
न रजोवीर्यतः सृष्टिरासीद्यत्र न कर्म च ॥१८॥
किन्तु मनोमयी सृष्टि र्यदाऽऽसीत्प्राणिनां तदा।
आर्यानार्यादिभेदोऽपि कुतः कस्यापि संभवेत् ॥१९॥
अज्ञै र्हि कल्पितो भेदो मिथ्याभूतो विमोहनः।
अनर्थायैव सर्वेषां सर्वत्रैवाविवेकिनाम् ॥२०॥

* इन्द्रियाणि दमित्वा यो ह्यात्मध्यानपरायणः। तस्मादादमनामाऽसौ ... जी हव्यवती स्मृता। भविष्यपु. प. ३।४।२१।

आदम आदि ने भी इस आत्मतत्व की सुधि ( भेद-ज्ञान ) नहीं पाये। आदमजी को यह पता नहीं लगा कि हौवा ( हव्यवती ) नामक उनकी मामा ( स्त्री ) कहाँ से आई। भाव है कि आदम के गाढ़ नीन्द से सोने पर माया से एक स्त्री आई। फिर जागने पर कल्पना किया कि मेरा पसली से खुदा ने इस बनाया है। इत्यादि इञ्जिल * की कथा का अभ्युपगमवाद में माहर का यहाँ का कथन है॥ उस सृष्टि के आदिकाल में तुरुक हिन्दू जाति का भेद नहीं था। न मातापिता के रजोवीर्य से सृष्टि थी। किन्तु मानस सृष्टि थी। भेदादि बीच में हुए हैं॥

तहिया होत न गाय कमाई। तब कहु विसमिल किन फरमाई॥
तहिया होत न कुल औ जाती। दोजख विहिस्त कौन उतपाती॥
मन मुसले की खबर न जानै। मति भुलान दो दीन बखानै॥

तदा चासन्न वै गावो न चैते मांसिकास्तथा।
विसमिल्लेति मन्त्रेण हिंसां कस्योपदिष्टवान्॥२१॥
कश्च कस्य फलस्यार्थे स्वालोच्यैवावगम्यताम्।
अबुधै कल्पितो मध्ये नायं धर्मः सनातनः॥२२॥

---

* "तब परमेश्वर ने भूमि की धूलि से आदम को बनाया। और उसके नथुने में जीवन का श्वास फूका, और आदम जीता प्राण हुआ। और परमेश्वर ने आदम को बड़ी नीन्द में डाला, और वह सो गया तब उसने उसकी पसलियों में से एक पसली निकाली, और उसके सेंती मास भर दिया। और परमेश्वर ने आदम की उस पसली से एक नारी बनाई, और उसे आदम के पास लाया" इत्यादि कथाका अभ्युपगम॥

कुलजात्यादिभेदो हि तदा नासीद्यतस्ततः।
स्वर्गनारकयो र्भेदो जातिभेदात्कुतो भवेत् ॥२३॥
यवनानां मनश्चैतद्रहस्यं नैव वेत्ति यत्।
स्वबुद्ध्या भ्रान्तया तस्माद्धर्मौ द्वौ निवदंति ते ॥२४॥
अहिंसादि र्हि सद्धर्मः स्यात्मज्ञानादिकस्तथा।
एकधैव मनुष्याणां विभेदो मतिविभ्रमात् ॥२५॥

उस समय गाय कसाई नहीं थे, तो कहो कि बिसमिल्ला कहकर हिंसा करनेके लिये कौन किसके प्रति फरमाया। अर्थात् यह ईश्वर का हुकुम नहीं है, किन्तु जिह्वास्वादादि वश हिंसा की कल्पना हुई है॥ उस समय कुल जाति के भेद नहीं थे तो जातिभेद से स्वर्ग नरकादि का उत्पात कौन मचाया॥ मुसले (मुसल्मानों) का मन इस उपदेश को नहीं जानता है, उन्हें इस बात की खबर नहीं है। उनकी मति (बुद्धि) भ्रान्त है, इससे दो दीन (दो धर्म) का कथन करते हैं। तथा मुसल्मान के लिये स्वर्ग और अन्य के लिये नरक बताते हैं॥

साखी।

संयोगे का गुण रवै, वीयोगे गुण जाय।
जिह्वा स्वाद के कारणे, कीन्हो बहुत उपाय ॥४०॥

अहिंसासत्यधर्मादेः सद्गुणादेश्च संग्रही।
भवेद्यः सुजनो धीमान् ख्यायन्तेऽस्य गुणा भुवि ॥२६॥
संयमे स्वेन्द्रियाणां यः मनसा तत्परो भवेत्।
एधन्तेऽस्य गुणास्तस्य प्रज्वलंति यशांसि च ॥२७॥
अन्यथा तु कृते सर्वे गुणा धर्मा यशांसि च।
संप्राप्तान्यपि नश्यंति यात्यधोऽधो जनस्तु सः ॥२८॥

हा तथापि जना मूढा जिह्वासंतृप्तिहेतवे ।
कुयत्नं बहुधा कृत्वा गुणान् सर्वान् व्यनाशयन् ॥२९॥
न धर्मलेशसंभवो द्रुहादिदोषशालिनि,
दयादिहीनमानवे तु मांसभुक्तिसंयुते ।
न मानवेऽस्ति भिन्नता शुचिर्दयालुरस्ति चेद्,
इमं सुधर्मसाम्यता सुखावहा च विज्ञता ॥३०-४०॥

इति हनुमद्दासविरचिते रमयणीरसोद्रेके ज्ञान विना यवनदुरवस्थावर्णनं नाम सप्तदशः प्रवाहः ॥१७॥

जो लोग अहिंसादि धर्म और इन्द्रियसंयमादि को सम्पादन करते हैं, उनके सद्गुण रवता ( प्रसिद्ध होता ) है तथा बढ़ता है । इन धर्मों के त्यागने से सचित धर्म भी भोगादि से नष्ट होते हैं तो महान् कष्ट भोगना पड़ता है । तौभी कामान्ध लोलुप मनुष्यों ने जिह्वास्वाद के वश होने के कारण हिंसादि अधर्ममय भोगों के ही लिये बहुत उपाय किया है ॥४०॥

इति यवन मत दुरवस्था प्रकरण ॥१७॥

## रमयणी ४१, देवादि मोहविडम्बना प्रकरण १८.

अम्बु कि राशि समुद्र कि खाई । रवि शशि कोटि तैतिसो भाई ॥
भँवर जाल महँ आसन माँड़ा । चाहत सुख दुख संग न छाड़ा ॥

अहो सूर्यशशाङ्काद्यास्त्रिंशत्कोटिमरुद्गणाः ।
गोचराम्बुसमायुक्ते संसाराख्ये महोदधौ ॥१॥
रागद्वेषग्रहै र्युक्ते व्याप्ते चेन्द्रियजन्तुभिः ।
जन्माद्यैश्च महावर्तैरावर्तै गहने तथा ॥२॥

सुखलोभेन तिष्ठंति स्वासनं प्रविधाय ते ।
महाऽऽवर्तस्य§ चक्रेऽपि स्थैर्यं बुद्ध्वा विमोहतः ॥३॥
सत्सौख्यं ते च × वाञ्छन्ति दुःखानि तांस्त्यजंति नो ।
तेऽपि दुःखकृतां सङ्गं नो त्यजंति यतोऽबुधाः ॥४॥
शरीराद्यभिमानेन युक्ताः केऽपि न जन्तवः ।
सुखिनो ये भवन्तीह दुःखमुक्ता न निर्भयाः ॥५॥

मनुष्यों की तो कथा ही क्या, भोग की वासना रहने पर, सूर्य-चन्द्रादि तैंतिस कोटि देवगण भी विषयात्मक जल की खाई भयावह संसारसमुद्र में ही आसन लगाये बैठे रहते हैं ॥ और इसके जन्मादि रूप भँवर ( आवर्त ) समुदाय में आसन मॉड़ ( जमा ) कर सदा विषयादि से सुख चाहते हैं। परन्तु इसमें रहने पर दु.ख इनका साथ भी कभी नहीं छोड़ता है ॥

दुख के मर्म न काहू पाया । बहुत भाति के जग बौराया ॥
आपुहि बावर आपु सयाना । हृदय बसै तिहि राम न जाना ॥

दु.खस्यैतद्रहस्यं नो जानन्त्येवाभिमानिनः ।
केऽप्यतो बहुधा चैते भ्रमंति भवसागरे ॥६॥

---

§ आवर्तश्चिन्तने वारिभ्रमे चावर्तने पुमान् इति कोश.॥

× इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढा॰ । नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशंति ॥ मुण्ड. १।२।१०॥ कामान् य. कामयते मन्यमान. स कामभि र्जायते तत्र तत्र । मु. ३।२।२॥ कामक्रोधौ स्थितौ यत्र तत्र दोषास्तदात्मका. । दु.खानि च समस्तानि स्थितानि न संशय ॥ पद्मपु २.६६।२१७॥

अधर्माऽज्ञानमोहाद्यै र्भुग्यो यो भवति स्वयम् × ।
सैव ज्ञानविरागाद्यैः र्शांनित्वं च प्रपद्यते ॥७॥
अहो ज्ञानाद्यभावेन यो रामो हृदये स्थितः ।
तं देवा * यन्न जानंति मुह्यन्ति तेन सर्वशः ॥८॥
भेदाऽज्ञानान्निखिलभुवनावर्तिनो + दुःखराशे,
नित्यस्फूर्जन्निरवधिपरानन्दवित्तेरलाभात् ।
मोहध्वान्तैरनिशमवनौ देवलोकेऽपि कामैः,
जीवाः शश्वत्सुमतिविकला धावमाना विनष्टाः ॥९॥

भोग के लोलुप होकर संसार में रहने से जो दुःख अवश्य होता है, उसके रहस्य को किसी लोलुप अविवेकी ने नहीं समझा। इसमें बहुत प्रकार इस संसार में भ्रान्त होकर भटका खाया॥ और आप स्वय चावर और स्थावर के हृदय में बसनेवाला जो राम, तिस सर्वात्मा राम को इन लोगों ने नहीं जाना॥

साखी।

तेई हरि तेइ ठाकुर, तेई हरि के दास।
याम भया नहि यामिनी, भामिनि चली निराश॥४१॥

× गुरुशिष्यादिभेदेन ब्रह्मैव प्रतिभासते। ब्रह्मैव केवलं शुद्धं विद्यते तत्त्वदर्शने॥ आत्मोप.॥

* सत्त्वोत्कटाः सुराः सर्वे विषयैश्च वशीकृताः। प्रमादिनि क्षुद्रसत्त्वे मनुष्ये चाऽत्र का कथा॥ दक्षस्मृ. अ. ७॥

+ भेदो विशेषः॥

सर्वात्मा‡ योऽस्ति रामोऽसौ हरिः सेव प्रभुः परः ।
सर्वात्मत्वात्स एवास्ति हरेर्दासोऽपि वल्लभः ॥१०॥
मोहरात्रौ न तल्लाभो यतोऽभूदविवेकिनाम् ।
अतस्तेऽन्यत्र गच्छन्ति बाला गत्वा हताशताम् ॥११॥
मायया परिमोहेन शरीरी सर्वकृद् भवेत् ।
आत्मैवासौ च भोगेन तृप्तिमेति च जाग्रति ॥१२॥
कामान् कामयमानो हि यत्र तत्रैव जायते ।
पूर्णां तृप्तिं न चाप्नोति यावज्ज्ञानं न लभ्यते ॥१३॥
कामाः पर्याप्तकामस्य विलीयन्तेऽत्र सर्वशः ।
अक्षयां तृप्तिमापन्नो नैव याति स कुत्रचित् ॥१४-४१॥

सर्वात्मा राम ही हरि तथा ठाकुर (स्वामी) है, और हरि के दास है। मोहाज्ञान रात्रि में उस राम के याम (प्राप्ति-अनुभव) नहीं हुआ। इससे भामिनी (स्त्री) तुल्य परवश जीव हताश होकर, योन्यन्तर देशान्तर में जला और चलता है॥ 'न यम भया न यामिनी' इस पाठान्तर का अर्थ है की सर्वेश्वररूप राम के जानने पर यम (मृत्यु), यामिनी (अविद्या, रात्रि) का अभाव हो जाता है। इससे माया भामिनी भी निराश होकर चल देती है ॥४१॥

## रमयणी ४२.

जन हम रहलि रहल नहिं कोई। हमरहिं माँह रहल सब कोई ॥

---

‡ आत्मैव देवताः सर्वा. सर्वमात्मन्यवस्थितम्। आत्मा हि जनयत्येषां कर्मयोग शरीरिणाम् ॥ मनु. १२।११९॥ अनादिरात्मा कथितस्तस्यादिस्तु शरीरकम्। आत्मनस्तु जगत्सर्वं जगतश्चात्मसंभवः ॥ याज्ञव. ३। ११७॥

यतो रामो हरिः स्वामी दासोऽपि विद्यते स्वयम् ।
अतस्तदात्मनैकोऽहं भेदः सर्वो विकल्पितः ॥१५॥
× यदासमहमेवैकः सदात्मैवाऽद्वितीयकः ।
तदा नासन्निमे केऽपि देवाद्यास्त्रिजगंति च ॥१६॥
आसन् मयि स्वरूपेण तादात्म्येनाद्वितीयके ।
अधिष्ठाने न भेदेन नामरूपात्मना खलु ॥१७॥
नामरूपात्मकं सर्वं मायारूपमिदं जगत् ।
माया चेयाऽस्त्यनिर्वाच्या मिथ्यामोहस्वरूपिणी ॥१८॥
अतः सति न सत्यस्य भेदस्य विद्यते तदा ।
लेशमात्रं तथैवानीं भेदाभावो विमृश्यताम् ॥१९॥

सर्वात्मा रामरूप से जब मैं सृष्टि के प्रथम था तब कोई भेद नहीं रहा । किन्तु मेरे ही स्वरूप में कारणरूप से सब अभिन्न थे ॥

कहहु राम कौन तोर सेवा । सो समुझाय कहहु मुहि देवा ॥

---

× इय सद्गुरूक्ति प्रत्यगभिन्नब्रह्मदृष्ट्या, शास्त्रीयात्मदृष्ट्येति यावत् न तु व्यक्तात्मदृष्ट्या । एवमेव रामकृष्णशिवब्रह्मादीनामप्युक्तिरवगन्तव्या अतएव "राम. शस्त्रभृतामहम् । वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि । रुद्राणां शङ्करश्चास्मि । धाताऽहम्" इत्यादि गीताऽध्याये १० प्रभोर्विभूतिषु रामादीनां वर्णन सगच्छते । अन्यथा स्वस्यैव स्वविभूतौ वर्णन विरुद्ध स्यात् अवयभेशात्मदृष्ट्या तु नास्ति विरोधो व्यक्ताऽव्यक्तयो र्भिन्नत्वात् व्यक्तस्य मायामात्रत्वादव्यक्तचित्स्वरूपस्यैव सत्यत्वादित्यादि स्वयमेवोह्यम् एवमपि ब्रह्मविष्ण्वादिषु पूर्वकृततपोमहिम्नेश्वरीयशक्तिसद्भावात्तेषूपास्य साधारणजनै नैव वार्यते । तच्च सद्गुरुणाप्युक्तम्– "ब्रह्मा को दी ब्रह्मण्डा" इत्यादिना । तथापि तत्तद्व्यक्तरूपेणैव सर्वेश्वरत्व सर्वात्म

यदा न वर्तते भेदवार्ता सत्यात्मनि ध्रुवा ।
तदा भो राम सेवेयं विद्यते का कृता त्वया ॥२०॥
संबोधयतु महां तत् सर्वं तत्त्वं विविच्य वै ।
भो देवेति महत्त्वेन प्रोवाच सादरं गुरुः ॥२१॥
विचाराद्यैः स्वमात्मानमज्ञात्वा क्रियते हि या ।
स्वर्गादिकामतः सेवा सैव बन्धप्रदा भवेत् ॥२२॥
यद्वा सर्वेश्वरं प्राह त्वया देव निरूच्यताम् ।
स्वत्सेवा विद्यते काऽन्या सर्वविस्मरणादृते ॥२३॥
तदर्था भक्तिरन्याऽस्तु कर्माणि विविधानि च ।
तानि नैवेह वार्यन्ते मुख्या भक्ति विंधीयते ॥२४॥

---

तु नैव मन्यन्ते महात्मानः, उपासका. पर मन्यन्ते, ते मन्यन्तातराम् । उक्त हि सूतगीतादौ " परतत्त्वादपि श्रेष्ठो रुद्रो विष्णुः पितामहः । इति निश्चयबुद्धिस्तु सत्य ससारकारणम् ॥ रुद्रो विष्णुः प्रजाना च स्वराट् सम्राट् पुरन्दरः । परतत्त्वमिति ज्ञान नराणा मुक्तिकारणम् ॥ अमात्ये राजबुद्धिस्तु न दोषाय फलाय हि । तस्माद् ब्रह्ममति मुंख्या सर्वत्र नहि सशयः " ॥ निष्कृष्टस्वरूपदृष्ट्या ब्रह्मविष्ण्वादिष्वेकत्वमन्यथा तु भिन्नत्वमिति पुराणादिषूभयथा वर्णनमपि सगच्छते । अवतारा अपि विष्ण्वादि-देवविशेषाणामेव भवन्ति । तत्र चैकस्य प्रभो. शक्तेस्तारतम्येनाविर्भावमात्र भवति । विभो. सकुचितैकदेशे प्रवेशाऽसम्भवात् पूर्णावतारासम्भवः, निरवयवस्याशावतारादिप्रसङ्गाऽसभवाच्च । साशोपाधिकैकदेशिजीवानाम-वतारेऽनिर्वाच्यायाः शक्तेरानन्दादेश्च तत्राविर्भावमानात्प्रभोर्बहुविधोऽवतारः शास्त्रे कथ्यते, इति दिक् ॥

वास्तविक अभेद दृष्टि होने पर हे राम! तेरी सेवा कौन है? हे देव! सो मुझे समझाकर कहो। अर्थात् अपरोक्ष अद्वैत आत्मज्ञान होने पर आत्मचिन्तन, ब्रह्मनिष्ठा, समाधि से भिन्न, राम से की गई वा रामविषयक भेदभाववाली सेवा नहीं हो सकती॥

फुर फुर कहत मारु सब कोई। झूठहिं झूठा साधुति होई॥
आँधर कहै सबै हम देखा। तहाँ दिठार बैठि मुख पेखा॥

> उच्यमाने हि सत्तत्त्वे त्वेव सर्वेऽविवेकिन।
> सेव्यादिवर्जिते रामे क्रुध्यन्ति ताडयन्ति च॥२५॥
> मिथ्यावादिषु सर्वेऽमी मिथ्यावादरता नरा।
> साधुत्व प्रतिपद्यन्ते सत्यवादिषु नेव च॥२६॥
> इत्यज्ञा विवदन्त्येते प्रपश्यामो वय खलु।
> सर्वं तत्त्व न संदेहो ज्ञो वृथेवाऽत्र तिष्ठति॥२७॥
> मुख्यं पश्यन् विपश्यन् वा मुखमज्ञजनस्य हि।
> स शृणोति न तद्वाक्य कामाद्यै विवशीकृत॥२८॥

इस सत्य ही सत्य बात के कहने पर अविवेकी सब मारता है, और झूठों को झूठी ही में साधुता की प्रतीति होती है॥ अज्ञानी भी कहता है कि मैं सब कुछ देखता हू, और उस मोहान्ध के वचन में ही सब विश्वास करते हैं। इससे वहाँ आत्मज्ञानी बैठे २ मुख देखते हैं, या मुख्य तत्त्व को जानते हैं, विवाद में नहीं पडते॥

यहि विधि कहौं मानु जो कोई। जस मुख तस जो हृदया होई॥
कहहिं कबीर हस मुसुकाई। हमरे कहल छूटिहहु भाई।

अहमेवं सदा वच्मि मन्वते ते जना इदम् ।
येषां हृद्य मुखं चैव सदैकत्वं गतं भवेत् ॥२९॥
कबीरो वक्ति हंसेभ्यो यूयं शृणुत सादरम् ।
गाढबन्धनबद्धाः स्थ मुच्यध्वे मम शासनैः ॥३०॥
"*ऊर्ध्वबाहु विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति तत्।
असंकल्पः परं श्रेयः स किमन्तर्न धार्यते ॥३१॥
एतावानेव संसार इदमस्त्विति यन्मनः ।
अस्य तूपशमो मोक्ष इत्येवं ज्ञानसंग्रहः"॥३२॥
"शास्त्रादिषु+ सुदृष्टापि साङ्गा सहफलोदया ।
न प्रसीदति वै विद्या विना सदुपदेशतः" ॥३३॥४२॥

मैं तो सदा इसी प्रकार उपदेश देता हूं। जो कोई इसे मानेगा, उसका जैसा मुख तैसा ही यदि हृदय होगा, तबही सदा मान सकेगा। अर्थात् शुद्ध हृदयवाला सत्यवक्ता ही में ज्ञान स्थिर होता है॥ साहेब का कहना है कि हे मुमुक्षु, बन्धनयुक्त हंसो! इस हमरे (गुरु के) कहल (कथनानुसार व्यवहार) से ही छूटोगे। या हमहीं हैं, ऐसा कहने से भी क्या सद्गुरु विना छूटोगे? इत्यादि ॥४२॥

## रमयणी ४३.

-जिन जिव कीन्ह आपु विश्वासा। नरक गये ते नरकहिं-वासा॥-
आवत जात न लागै वारा। काल अहेरी साँझ सकारा॥

---

* यो. वा. ६।१२६।८५–९४॥
+भारद्वाजसं. अ. १।३५॥

गुरो× र्वाक्यमनादृत्यासत्ये प्रत्ययिनो नराः ।
अविवेककुसङ्गाद्यैः पतन्ति निरये स्वयम् ॥३४॥
विश्वस्ता ह्यपतंस्तत्रावात्सुस्तत्रैव ते चिरम् ।
अद्यापि निवसन्त्यज्ञास्तत्र गच्छन्ति सादरम् ॥३५॥
ततो निर्गत्य ये त्वत्रागच्छन्ति हि कथञ्चन ।
तेषां पुन र्गतौ तत्र विलम्बो नैव विद्यते ॥३६॥
जन्ममृत्युप्रवाहेण ह्यहान्ते चानिशं जनाः ।
भवाब्धौ विनिपात्यन्ते खाद्यन्ते कामदुर्ग्रहैः ॥३७॥
कालश्चाखेटकस्तेषां सदा भवति सर्वतः ।
बाल्ये वार्द्धक्यकाले वा सायंकल्येऽथवाऽवशम् ॥३८॥

जिन जीवों ने, सद्गुरु के बिना अपना मनमाना विश्वास किया, वे लोग भी नरक में गये, और नरक ही में बसे ॥ उन्हें आते जाते (जन्मते मरते) भी देर नहीं लगता। उनके लिये साँझ सकारे ( सवेरे ) सदा काल अहेरी बना रहता है ॥

चौदह विद्या पढ़ि समुझावै। अपने मरण कि खबर न पावै ॥
जाने जिव को परा अँदेशा। झूठ आनि के कहा सँदेशा ॥
संगति छोड़ि करै अस रारा। उबहे मोट नरक के भारा ॥

× गुरोरवज्ञया मृत्यु र्मन्त्रत्यागाद्दरिद्रता। गुरुमन्त्रपरित्यागी सिद्धोऽपि नरकं व्रजेत् ॥ गुरुगी. ॥ ऋतस्य दातारमनुत्तमस्य निधिं निधीनामपि लब्धविद्यः। ये नाद्रियन्ते गुरुमर्चनीयं पापाँल्लोकांस्ते व्रजन्त्यप्रतिष्ठाः ॥ म. भा. आदिप. ७६।६४॥

चतुर्दशविधां* विद्यां पठित्वा पाठयंति ये।
तेऽन्यानुपदिशन्तोऽपि स्वमृत्यो नं गतिं विदुः ॥३९॥
विचारादि विना तद्वत्सद्गुरोः शरणं विना।
सर्वा विद्याः पठित्वापि जायन्ते ते पुनः पुनः ॥४०॥
विचारादि विना तेषां जीवानामविवेकिनाम्।
संशया उल्लसन्त्येव हृदयेषु निरन्तरम् ॥४१॥
स्वयं हि संशयाक्रान्ता येभ्यस्तु संदिशन्ति ते।
तेभ्यो मिथ्यैव संकल्प्य वदन्ति न तु तत्त्वतः ॥४२॥
हा तथापि जनः सर्वो हित्वैव गुरुसङ्गतिम्।
सतां सङ्गमनादस्य कुसङ्गे रमते हठात् ॥४३॥
तेनैते नरकाणां च भरं धृत्वा निजात्मनि।
कामादिलक्षणं शश्वदुद्वहन्ति तमादरात् ॥४४॥

चाहे मन्मुखी लोग चौदह विद्या पढ़कर औरों को समझावें, परन्तु रलोक की खबर नहीं जानते। अपने मरने पर क्या होगा सो नहीं मझते॥ उलटा पुस्तकपाठियों के कथन से जाननेवालों के मन में देशा (संशय) पैठ जाता है, तौभी ये लोग झूठही संदेशा आनिके हते ही हैं। या झूठ सदेशा इन्होंने लाकर कहा, जिससे जाननेवालों मन में संशय पड़ा॥ तौभी ये लोग सद्गुरु की संगति को छोड़कर

* अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः। धर्मशास्त्रं पुराण विद्या ह्येताश्चतुर्दश। भविष्यपु. २।६॥ वायुपु. ६१।७८॥ अन्यत्र -ब्रह्मज्ञानं रसज्ञानं वेदाः स्वरधरं तथा। व्याकृति ज्योंतिष चैव धनुर्विद्या ा मता॥ जलोच्चारणकं न्यायः कोकाश्वारोहणे तथा। नटविद्या कृपि । विद्या ह्येताश्चतुर्दश॥

ऐसा ही रार ( हठ, विवाद ) करते हैं, और नरक की भारी मोंटरी को ढोते हैं ॥

साखी ।

गुरुद्रोही औ मनमुखी, नारि पुरुष विविचार ।
ते चौरासी भरमहीं, जौं लगि चन्द दिनकार ॥४३॥

मनोऽनुगामिनो मूढा × गुरुद्रोहादितत्पराः ।
विचारविकला मर्त्याः कुनार्यो वा तथाविधाः ॥४५॥
वेदसिद्धिषु लक्षासु + तावद् भ्राम्यंति योनिषु ।
म्रियते शशभृद्यावत्स तिष्ठति दिवाकरः ॥४६॥
नैतस्मात्पापं गुरुतरमिह ज्ञातपूर्वं त्रिलोक्यां,
द्रोहो विद्वेषः सह गुरुभिर्जायते यो विमोहात् ।

---

× य आतृणत्यवितथेन कर्णावदुःखं कुर्वन्नमृतं संप्रयच्छन् । तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत् कतमच नाह । वसिष्ठस्मृ. २।१६॥ कृतघ्नानां हि ये लोका ये लोका ब्रह्मघातिनाम् । मृत्वा तानभिसंयाति गुरुद्रोहपरो नरः ॥ आत्मपु. ८। ८६७॥

+ स्थावरं विंशति लक्षं जलजं नवलक्षकम् । कृमिश्च रुद्रलक्षं वै दशलक्षं च पक्षिणः ॥ त्रिंशल्लक्षं पशूनां च चतुर्लक्षं च वानराः । ततो मनुष्यतां प्राप्य ततः कर्माणि साधयेत् ॥ यथा माला शिरोभागोल्लङ्घनात्पुनरुद्भ्रमः । तथैव नरदेहस्य वियोगाद्योनिसंभ्रमः ॥ इति क्वचित् ॥ अन्यत्र तु–जलजा नवलक्षाणि स्थावरा लक्षत्रिंशतिः । कृमयो रुद्रलक्षाणि दशलक्षाणि पक्षिणः । पशवो विंशलक्षाणि चतुर्लक्षाणि मानवाः ॥ अत्र मानवेषु वानराणां ग्रहणं प्रतिभाति ॥

मूढस्वान्ताग्र्यं विरसविषयासक्तताऽसत्यभावा,
ख्याशा मूढानां स्थितिरसुजनैः सत्यवाक्येष्व-
नास्था ॥४७-४३॥

इति हनुमद्दासविरचिते रमणीरसोद्रेके यावदशानं देवादिमोहवर्णनं नामाष्टादशः प्रवादः ॥१८॥

गुरु से द्रोह करनेवाले तथा विचाररहित मनमुखी स्त्रीपुरुष सब ही चौरासी लक्ष योनियों में तबतक भ्रमते हैं कि जबतक चन्द्र और सूर्य वर्तमान हैं ॥४३॥

इति देवादि मोहदिग्दर्शना प्रकरण ॥१८॥

## रमयणी ४४, सत्संगादि विना दुःखादि प्र. १९.

कबहुं न भयउ संग औ साथा। ऐसेहि जन्म गमायो हाथा (आछा) ॥
बहुरि न पैहहु ऐसो थाना। साधु संगति तुम नहिं पहिचाना ॥
अब तो होइ नरक महँ बासा। निशिदिन रहहु लबारक पासा ॥

न यूयं शरणेऽभूत साधूनां न गुरोः क्वचित् ।
रोचते न सतां सङ्गो भवद्भ्यश्चात्र जन्मनि ॥१॥
तदा व्यर्थमयं याति देहो मानुष्यसंयुतः ।
अमूल्यो महते लब्धः कार्यायाऽऽशु महत्पदम् ॥२॥
पुन नैत्थं हि सुस्थानं लभ्यते खल्वनन्तरम् ।
न जानामि कदा कुत्र मानुष्यं लभ्यते जनैः ॥३॥

न तथापि भवन्तश्चेत्पश्यंति साधुसङ्गतिम् § ।
आत्मत्राणाय सौख्यायेत्यहो मोहस्य वैभवम् ॥४॥
साधूनां संगमाऽभावे त्वस्माद्देहादनन्तरम् ।
भविता नरके वासो ह्यसतां संगमाद् ध्रुवम् ॥५॥
भवन्तोऽहर्निशं तत्र तिष्ठन्ति स्वप्रमादतः ।
तेन शश्वद्विनश्यंति गाहन्ते मोहगह्वरम् ॥६॥

हे मनुष्यो ! आप लोग कबही साधु गुरु की संगति में यदि नहीं गये, न उनके साथ लगे, तो ऐसेही ( व्यर्थ ही ) इस अमूल्य अवसर और जन्म को हाथ से गमाय दियो ॥ फिर तुरन्त ऐसा स्थान नहीं पावोगे। तहाँ भी साधु सगति करके सद्वस्तु को नहीं पहचानते हो, न सत्सग की महिमा समझते हो ॥ तो आगे नरकही में वास होगा, क्यों कि रातदिन लवारों के साथ रहते हो ॥

साखी ।

जात सबन कहँ देखिया, कहहिं कबीर पुकार ।
चेतुवा व्है तो चेतहु, दिवस परतु है धार ॥४४॥

कुसङ्गाद्विषयासक्ते नंश्यन्तः सर्वदेहिनः ।
दृश्यन्ते गुरुभिश्चैवमुच्चैस्तेभ्यो हि कथ्यते ॥७॥
मुमुक्षा विद्यते श्रेष्ठा जिज्ञासाऽनुत्तमा यदि ।
आत्मतत्त्वं तदा ज्ञात्वा लभन्तां कृतकृत्यताम् ॥८॥

§ यत्नमापस्तिलान् भूमिं गन्धो वासयते यथा । पुष्पाणामधिवासेन तथा संसर्गजा गुणाः ॥ मोहजालस्य योनिर्हि मूढैरेव समागमः । अहन्यहनि धर्मस्य योनिः साधुसमागमः ॥ म. भा. वनप. अ. १।२४-२५॥

मुमुक्षादेरभावे च तदर्थं यत्यतां दृढम्।
प्रमादः + क्रियतां नैव मतो सङ्गो विधीयताम् ॥९॥
अन्यथा घस्रतुल्येऽस्मिन् मानुष्ये दिवसेऽथवा।
सुप्रकाशेऽपि कामाद्यास्तस्कराः पश्यतोहराः ॥१०॥
विलुण्टन्ति हि सर्वस्वं नाशयन्ति जनानपि।
प्रमादिनो विकर्मास्थान् कुविचारपराङ्ग्छठान् ॥११॥४४॥

कुसंग के कारण सबही को नष्ट होते और नरक में जाते महात्माओं ने देखा है। इससे साहब पुकार के कहते हैं कि यदि चेतना है तो शीघ्र चेतो, नहीं तो दिन ही में धारा (कामादि डाकू) प्राप्त होते हैं ॥४४॥

## रमयणी ४५.

हिरणाकश रावण गौ कंसा। कृष्ण गये सुर नर मुनि वंशा॥
ब्रह्मा गये मर्म नहिं जाना। बड़े गये जे रहे सयाना॥

हिरण्यकश्यपो यातो रावणोऽपि महाबली।
कंसो मृत्वाऽगमत् क्वापि श्रीकृष्णोऽप्यगमत्तथा ॥१॥

+ इतः कोऽन्योऽस्ति मूढात्मा यस्तु स्वार्थे प्रमाद्यति। दुर्लभं मानुषं जन्म प्राप्य तत्रापि पौरुषम् ॥ विवेकचूडामणिः ॥ इहैव नरकव्याधेश्चिकित्सां न करोति यः। गत्वा निरौषधं स्थानं सरुजः किं करिष्यति ॥ आयुषः क्षण एकोऽपि सर्वरत्नै र्न लभ्यते। नीयते तद्वृथा येन प्रमादः सुमहानहो ॥ यो. वा. नि. उ. स. १०३।५१। स- १७५।७८॥

सुरा नराश्च तद्वंश्या वंद्याश्च मुनयो मुनेः ।
सर्वे ते ह्यगमन् मृत्या ब्रह्मा लोकपितामहः ॥१३॥
गतो वै तद्रहस्यं नो यतो जानन्ति मानवाः ।
ततो नैवेह तिष्ठंति साधूनां संगमे शुभे ॥१४॥
अक्षयं धनमिच्छन्ति पुत्रदारगृहादिकम् ।
शाश्वतत्त्वं शरीरे च नैव बोधं कथञ्चन ॥१५॥
यद्वा ब्रह्मापि देहादेः स्थास्नुत्वस्य प्रसाधने ।
उपायमविदित्वैव गतो यास्यति च क्षये × ॥१६॥
एवं ज्ञात्वेह को विद्वान् + देहादीनां प्रसाधने ।
प्रवर्तेत विना मूढं न तु बन्धप्रबाधने ॥१७॥
महान्तो योगिनो ये च सर्वथा कुशला नराः ।
तेऽपि मृत्वा गताः क्वापि तदान्येषां कथैव का ॥१८॥

हिरण्यकश्यपादि बड़े २ गये । शरीर को सदा रखने का उपाय कोई ने नहीं जाना । न सद्गुरु बिना कोई गुप्त रहस्य पाया । या ब्रह्मा आदि भी गये । इस रहस्य को मनुष्यों ने नहीं जाना । इसीसे सत्संगादि नहीं करते हैं । और बड़े २ सयान जो योगी आदि रहे सो भी गये, तो अन्य की कथा ही क्या है ॥

समुझ परी नाहिं राम कहानी । निरबक दूध कि सरबक पानी ॥
रहि गौ पन्थ थकित भौ पवना । दशो दिशा उजारि भौ गवना ॥

× प्रलय इत्यर्थः ।

+ अनित्यं जीवितं रूपं यौवनं धनसंचयः । आरोग्यं प्रियसंवासं मुह्यन्त्येषु न पण्डिताः ॥ इतिहाससमुच्चये, १।१३॥

बन्धनाय तु तस्यायं संसारो मीनजालवत् ।
ब्रुडनाय तु तस्यैव महाब्धिरिव विद्यते ॥२६॥
अहो मोहेन काम्यं वै कर्मध्यानादिकं नराः ।
कृत्वा पारं तितीर्षन्ति वासनादियुताः सदा ॥२७॥
यथा लौहीं तरिं कृत्वा या समर्था न तारणे ।
पाषाणभरमादाय तितीर्षन्ति तथाऽबुधाः ॥२८॥
काम्यकर्मादि कुर्वाणा ह्यभिमानं प्रकुर्वते ।
संसारतारणोपायं जानीम इति निश्चयात् ॥२९॥
निमज्जन्तो वदन्त्येते ह्युन्मज्जामो वयं भृशम् ।
महान्तस्तांस्तु पश्यंति निमज्जन्ति यथा च ते ॥३०॥

जिनका मार्ग वार्ता रहा उनके लिये यह ससार मछलियों के जाल तुल्य हुआ। जहाँ गये वहाँ ही फँसे, सकाम कर्म शास्त्रादि अनगढ लोहे के नाव तुल्य हुए। मनोरथ वासनादि पाषाण के भार समान हुए॥ इस अवस्था में भी सबके सब उक्त नौका को खेते (संसार में चलाते) हैं। और समझते हैं कि हम भवाब्धि से पार जाने के मर्म को जानते हैं। डूब रहे हैं [illegible] हैं कि [illegible] नौका उतराती है रहेगी, इत्यादि ॥

लोहपृष्ठमुखानां च मुखे मोहेन धारणात् ।
सर्पो नश्यति सर्वेऽमी तथा नश्यंति * जन्तवः ॥३२॥
निजमनसि निधाय कान्ताहिरण्यादिकं भङ्गुरं,
हृदि सरसि विराजमानं विशुद्धं तु रामं हरिम् ।
अभिमितिहृतजन्तवोऽमी भजन्ते न हंसं परं,
दिनकरतनयस्य भूत्वा वशेऽतो म्रियन्ते सदा ॥३३-४५॥

इति हनुमद्दासविरचिते रमयणीरमोदेके मत्स्यगविरागार्थसंसारासारतावर्णनं नामैकोनविंशतितमः प्रवाहः ॥१९॥

मछलियों के मुख में केंचुआ (चेरा), मूसों के मुख में गिरदान (चूहेदानी) का अन्न, सर्पों के मुख में गहेंजुआ ( जन्तुविशेष ) पड़ने से जैसे इनका नाश होता है, तैसे ही विषयवासनादि से सब प्राणी का जान (प्राण) जाता है। या सबको इस प्रकार नष्ट होते हुए समझो ॥४५॥

इति सत्सङ्गादि विना दुःखादि प्रकरण ॥१९॥

## रमयणी ४६, मायाकृत विनाश प्रकरण २०.

विनशे नाग गरुड़ गलि जाई । विनशे कपटी औ शत भाई ॥
विनशे पाप पुण्य जिन कीन्हा । विनशे गुण निर्गुण जिन चीन्हा ॥
विनशे अग्नि पवन औ पानी । विनशे सृष्टि कहाँ लौ गानी ॥
विष्णुलोक विनशे क्षण मांहीं । हौं देखा परलय की छांहीं ॥

* विषं विषयवैषम्यं न विषं विषमुच्यते । जन्मान्तरघ्ना विषया एकजन्महरं विषम् । महोप. ३। ४४॥

यथा वडिशमांस च मत्स्यापातसुखप्रदम् । तथा विषयिणा तात

नागा नष्टा गरुत्मांश्च गलितोऽभून्महाजवः ।
कपटेन चरंश्चासौ शकुनिर्दुर्नयाद् गतः ॥१॥
भ्रातरो ये शतश्चासन् तेऽपि दुर्योधनादयः ।
कलिना कलिता नूनं सर्वे तेषां सुहृज्जनाः ॥२॥
पुण्यपापे कृते यैस्तु यैश्च ज्ञातौ गुणागुणौ ।
अनश्यंस्तेऽपि सर्वेऽमी नंक्ष्यंति चापरे तथा ॥३॥
नश्यत्यग्निश्च वायुश्च जलं नश्यति भूश्च खम् ।
सृष्टिर्नश्यति सर्वापि कियत् संख्या च कथ्यताम् ॥४॥
विष्णोर्लोकः क्षणादेव नश्यत्येव बुधा यतः ।
छायावत्प्रलयस्यान्तो दृश्यतेऽस्माभिरेव सः ॥५॥

पातालवासी नाग ( सर्प विशेष), गरुड़, कपटी (शकुनि), सौ भाई दुर्योधनादि नष्ट हुए ॥ पाप पुण्य के करनेवाले, गुणनिर्गुण को चीन्हने वाले भी मर गये ॥ अग्नि, पवन, पानी और सब सृष्टि नष्ट होती है। गिनकर या नाम कर कहांतक कहा जाय ॥ विष्णुलोक (वैकुण्ठादि) भी क्षण मात्र में नष्ट होता है। मैं सब संसार को प्रलय की ही छाया (प्रतिबिम्ब) रूप अब भी देखा करता हूं।

साखी ।

मच्छ रूप माया भई, जौरहिं खेल अहेर ।
हरि हर ब्रह्म न ऊबरे, सुर नर मुनि किहि केर ॥४६॥

मत्स्यरूपाऽभवन्माया ममतामोहरूपिणी ।
भोग्यभोक्तृस्वरूपस्य बाधिकाऽऽच्छादिका सदा ॥६॥
भूत्वा सहैव सर्वेषां महाऽऽखेटं करोति सा ।
हन्यतेऽत्र हरिः शम्भुर्ब्रह्मा लोकपितामहः ॥७॥

यदा चैते निहन्यन्ते माययाऽचिन्त्यया तदा ।
देवर्षीणां मनुष्याणां हनने का विचित्रता ॥८॥
"ब्रह्मा + विष्णुश्च रुद्रश्च सर्वा या भूतजातयः ।
नाशमेवानुधावंति सलिलानीव वाडवम्" ॥९॥
देहद्रव्यादिनाशेन नाशश्चात्राभिधीयते ।
साधो ! वैराग्यसिद्ध्यर्थं जीवनाशो न विद्यते ॥१०॥
देहद्रव्यादिसंसक्तो मायानष्टो निगद्यते ।
अनासक्तो विमुक्तश्च तन्नाशेऽपि न संशयः ॥११॥

यह माया मत्सररूप (स्वयं भक्ष्य भक्षक अनन्तरूप) हुई है। और सबके और, साथ अहेर, (शिकार) खेलती है। इसके निशाना से हरि हर ब्रह्मा भी नहीं बचते हैं, तो अन्य सुर मुनि की कथा ही क्या है ॥

## रमयणी ४७.

जरासंध शिशुपाल सँहारा । सहसा अर्जुन छल सो मारा ॥
बड़ छल रावण सो गौ बीती । लंका रहल कंचन की भीती ॥
दुर्योधन अभिमानहिं गयऊ । पाण्डव केर भेद नहिं पयऊ ॥

शिशुपालं जरासन्धं संजहार गुणात्मिका ।
मायैव व्यक्तिमापन्नाऽचिन्त्या या चिद्व्यपाश्रिता ॥१२॥
सहस्राऽर्जुननामासीद्यो वीरो दृढविक्रमः ।
तं छलस्य प्रबन्धेन सा जघान विमोहिनी ॥१३॥
रावणो यो महानासीद्दर्पद्रव्यादिसंयुतः ।

+ यो. वा. १।२८।९॥

यस्य कुडथं हि लङ्कायां शातकुम्भमयं श्रुतम् ॥१४॥
सोऽनश्यत् सगणो मोहात्कृत्यैव बहुदुष्कृतम् ।
उपद्रुत्य विनाश्याऽन्यान्नष्टो भ्रष्टोऽभवत्कुधीः ॥१५॥
मायामोहाभिमानाक्तो दुर्योधनधनान्धधीः ।
अनश्यत्पाण्डवानां स रहस्यं न विवेद च ॥१६॥

माया ने ही जरासन्ध और शिशुपाल का संहार किया। सहस्र अर्जुन को भी छल से मारा, या सहसा अर्जुन छल (था) सो मारा गया॥ रावण के साथ भी मायाकृत भारी छल बीत चुका है, या रावण बड़ा भारी प्रतापी छल (था) सो भी बीत गया। जिसकी लंका में सुवर्ण के दिवाल थे॥ दुर्योधन मायाजन्य अभिमान ही में नष्ट हुआ, और पाण्डवों के भेद नहीं पाया॥

माया डिम्भ गेल सब राजा। उत्तम मध्यम बाजन बाजा॥
छौ चकवे बिति धरणि समानी। एको जीव प्रतीति न आनी॥
कहँ ले कहौं अचेतहिं गयऊ। चेत अचेत झगर इक भयऊ॥

मायाया डिम्भभूता ये सर्वे बालिशका नृपाः ।
तेपि मृत्वा गताश्चासन् कीर्तयो मध्यमोत्तमाः ॥१७॥
षट्चक्रवर्तिनो मृत्वा वेणुप्रमृतयोऽथवा ।
जरासन्धादयः सर्वे पृथिव्यां प्राविशन् खलु ॥१८॥
दृष्ट्वा श्रुत्वापि तत् सर्वे विश्वसंति न मानवाः ।
विह्वलाः कामिनो यांति गताश्चान्ये विमोहिताः ॥१९॥
कियत्संख्याय चोच्यन्तां सर्वेऽगच्छन् ह्यचेतसः ।
अयमज्ञश्च तज्ज्ञोऽयं वृथैव कलहो महान् ॥२०॥

माया के डिम्भ (लड़के वा अभिमानी) सबही राजा गये। उन लोक में उत्तम मध्यम कीर्ति फैली॥ जरासन्ध आदि छौ चक्रवर्ती

बसन्त प्रकरण में वर्णित वेणु आदि छौ चक्रवर्ती मर कर पृथिवी में लीन हुए। इस बात को देख सुन कर भी एको जीव सद्गुरु के वचनों में विश्वास नहीं किया, न माया की लीला को समझा॥ कहाँतक कहा जाय विश्वासादि विना सबके सब अचेत ही गये। केवल लोक में चेत अचेत का एक झगड़ा हुआ कि ये बड़े सचेत हैं और ये अचेत हैं, या चेतो अब भी सावधान होवो, अचेत रहने ही से एक प्रकार का झगड़ा हुआ है। इत्यादि॥

साखी।

ई माया है मोहिनी, मोहिन सब जग झार।
हरिचन्द सतके कारणे, घर घर शोक विकार ॥४७॥

इयं विमोहिनी मायाऽमूमुहत्सर्वदेहिनः।
हरिश्चन्द्रं विमोह्यैपा यथा शोकमजीजनत् ॥२१॥
सत्यस्य रक्षणार्थं स यथा मोहमवाप्तवान्।
तथैव देहिनः सर्वे विकारैः शोकभागिनः ॥२२॥
अजितात्मजनो मूढो रूढो भोगैकवर्दमे।
"आपदां+ पात्रतामेति पयसामिव सागरः ॥२३॥
अहो नु चित्रा मायेयं सर्वविश्वविमोहिनी।
सर्वाङ्गप्रोतमप्यात्मा यदात्मानं न पश्यति ॥२४॥
करोतु भुवने राज्यं विशत्वम्भोदमम्बु वा।
नात्मलाभादृते जन्तुर्विश्रान्तिमधिगच्छति" ॥२५-४७॥

इति हनुमद्दासविरचिते रमयणीरसोद्रेके मायाकृतविनाशवर्णनं नाम विंशतितमः प्रवाहः ॥२०॥

+ यो. वा. नि. उ. ३३।२२॥पूर्वार्ध. ११९।५॥ स्थिति. ५७।३४॥

यह प्रत्यक्ष तामसी माया मोहित करनेवाली है। सब संसार को ढूढ २ कर मोहित किया। हरिश्चन्द्र जैसे सत्य की रक्षा के लिये माया से मोहित हुए। तैसे सब शरीरों में कामादि विकार जन्य शोकादि व्याप्त हैं इत्यादि॥ मानस अश्वमेध में मानस अश्व की हिंसा करके उसका प्रायश्चित्त नहीं करने से, उसीका दण्ड हरिश्चन्द्र को भोगना पड़ा था। मार्कण्डेय पुराण में लिखा है कि "अश्वमेधविपाकोऽयं हरिश्चन्द्रस्य भूपतेः"। इसीसे याज्ञिक हिंसा का भी कैसा विकट फल होता है, सो जाना जा सकता है। लौकिक का तो कहना ही क्या है॥४७॥

इति मायाकृत विनाश प्रकरण॥२०॥

## रमयणी ४८, यवनमत समीक्षा प्रकरण २१.

मानिकपूर कबीर बसेरी। मदत सुनी शेखतकी केरी॥
ऊजे सुनी यवनपुर धामा। झूसी सहर पिरन को नामा॥
एकिस पीर लिखै तिहि ठामा। खतमा पढ़े पैगम्बर नामा॥

श्रीकबीरोऽशृणोद् ग्रामे श्रीमानिकपुरे वसन्।
स्तुतिं शेखतकीनाम्नः साहाय्यं वा विशेषतः॥१॥
अन्यच्चाप्यशृणोत्स्थानं पुरान्तयवनाभिधम्।
झूसीं च नगरीं यत्र गुरुनामानि संति वै।
एकविंशतिसंख्यानि लिखितान्येव पट्टके॥२॥
मृतानां तानि नामानि ज्ञात्वाऽन्ये यवनाः खलु।
खतमां पुस्तिकां तेभ्यः श्रावयंति समादरात्॥३॥
यस्यां स्वेषां गुरूणां च नामानि च व्रतानि च।
विद्यन्ते श्रावयन्ते तामाचार्याणां हि नाम च॥४॥
कथयंति तु येऽन्येभ्यो मूर्तिपूजां हि निन्दिताम्।
तां कुर्वन्ति तु ते तेनाप्यहो लज्जा न जायते॥५॥

कबीर साहेब का कहना है कि मैं मानिकपुर में निवास किया था तो शेखतकी की मंदत (मदहत–स्तुति वा सहायता) सुनने में आई॥ और वह प्रसिद्ध जो यमनपुर मुकाम है वहाकी कथा भी सुन पड़ी। इसी सहर में पीरों के नाम सुनने में आये॥ वहाँ एकइस पीरों के नाम कबरों में लिखे हैं। उन कबरों के आगे पैगम्बरनामा (पैगम्बरों की नामावली) रूप खतमा (किताब) को तुरुक लोग पढ़ते हैं। और उन मृतकों को सुनाते हैं॥

सुनि बोल मोहि रहो न जाई। देखि मुकरवा रहा भुलाई॥
हबी नबी नबीहुं को कामा। जहँ लगि अमल सु सबी हरामा॥

इच्छेदं धर्ममूढत्वं वचः श्रुत्वा च मानिनाम्।
न मौनमशकत्कर्तुं कबीरो ह्युक्तवाँस्ततः॥६॥
भवतां भो वचः श्रुत्वा मौनी स्थातुं न शक्यते।
प्रेतस्थानं विलोक्यैवं किं भ्राम्यथ विचेतसः॥७॥
कः शृणोति जनो यं वै श्रावयन्ति समादरात्।
खतमां पुस्तिकां मत्वा कार्यं निजमहेशितुः॥८॥
ईश्वरस्याथ मित्रस्याचार्याचार्यस्य वा भवेत्।
कार्यं यद् व्यसनं तुच्छं तत्सर्वं मलिनं महत्॥९॥
अनात्मभूतदेहादावात्मबुद्धि र्हि देहिनाम्।
साऽविद्या तत्कृतो बन्धो दुःखदारिद्र्यमेवच॥१०॥

साहब का कहना है कि इन सब बातों को सुनकर मुझसे चुप नहीं रहा जा सका। इससे वहाँ जाकर उनसे कहा कि और को तो तुम लोग बुतपरस्त कहते हौ, और स्वयं मुकरवा (कबर) देखकर भूले (भ्रान्त) हौ। क्या इसीमें तुम्हारे पीर बैठे हैं, जिन्हें खतमा सुनाते

हो, इत्यादि ॥ उन्होंने कहा कि यह हबी ( ईश्वर या मित्र ) और नबी ( आचार्य ) का काम है अर्थात् यही उनकी सेवा है। साहेब ने कहा कि चाहे हबी का या नबियों के नबी का काम हो, परन्तु जहाँ तक अमल ( तुच्छ व्यसन ) रूप अविवेकजन्य व्यवहार है, सो सब हराम (निषिद्ध, पाप ) स्वरूप ही है ॥

साखी, हरिपद ।

शेख अकरदी (शेख) सकरदी, मानहु वचन हमार ।
आदि अन्त (औ) उतपति परलय, देखहु दृष्टि पसार ॥४८॥

भोः शेखोऽकरदी त्व च त्वं भो, सकरदी तथा ।
मन्यस्व वचनं सत्यमस्माकं शोकनाशनम् ॥११॥
अस्यैव सुविचारेण सर्वाद्यन्तादिलक्षणम् ।
कूटस्थं चिद्घनं पश्य महता ज्ञानचक्षुपा ॥१२॥
" मुक्तिमिच्छसि चेत्तात विषयान् विषवत् त्यज ।
क्षमार्जवदयाशौचं सत्यं पीयूषवत् पिब " ॥१३॥
सत्याऽस्त्येषा जगति सुविदुषा दृष्टिपूता मनीषा,
सर्वस्यादि र्जनिमृतिरहितो विक्रियाहीन एकः ।
देवो लभ्यः सुगुरुवचनतः शिष्यवर्यैः सदैव,
श्रद्धावित्तैः सुविशदहृदये रागमानादिहीनैः ॥१४॥४८॥

हे शेख अकरदी और शेख सकरदी। तुम मेरा वचन मानो (अमल को हराम समझकर त्यागो) और सबके आदि अन्तरूप परम तत्त्व को तथा सब संसार की उत्पत्ति प्रलयादि को विवेकदृष्टि फैलायकर देखो, क्या कबर में लगे हो, इत्यादि ॥ ( मूर्तिपूजा से भी कबर पूजना हीन है, जीवात्मा कबर के पास नहीं बैठा रहता है, इत्यादि विवेक सद्गुरु के वचन से होगा, इसलिये श्रवण करो यह भाव है) ॥ ४८॥

## रमयणी ४९.

दर की बात कहो दरवेशा। बादशाह है कौने वेषा ॥
कहाँ कूच कहँ करै मुकामा। कौन * सुरति को करहु सलामा ॥
मैं तोहि पूछौ × मूसलमाना। लाल + जरद की नाना बाना ॥

भो दरवेशनामानो भवद्भिरपि बुध्यताम्।
मूलतत्त्वस्य सर्वस्य ह्यस्मान् वार्तैव श्राव्यताम् ॥१५॥
ईश्वरः केन वेषेण वर्तते कुत्र याति च।
सदा तिष्ठति कुत्राऽसौ किंरूपोऽयं नमस्यते ॥१६॥
रक्तोऽसावथवा पीतश्चित्रो वा विद्यते प्रभुः।
नमस्यन्ति भवन्तो यं पृच्छामो यवना हि तम् ॥१७॥
नाऽसौ रक्तो न वा पीतः सर्ववेषविवर्जितः।
एकः सर्वसुहृच्चैव किं वृथा परिमुह्यते ॥१८॥

हे दरवेशों ( विरक्त फकीरों ) आप लोग दर ( असली मुकाम ) की बात कहो, लोगों को भ्रम में नहीं डालो। तुम्हारा बादशाह (ईश्वर) कौन वेष का है ॥ वह कहाँ कूच ( याना ) करता है, कहाँ मुकाम करता है। कौन सुरति ( आकार ) को सलाम करते हो ॥ हे मुसलमानो ! मैं तुमसे पूछता हूं कि वह लाल कि जर्द ( पीला ) कि नाना बाना ( चित्र वेषवाला ) है, इस बात को कहो, और समझो ॥

काजी काज करहु तुम कैसा। घर घर जबह करावहु वैसा (भैंसा)॥
बकरी मुरगी किन फरमाया। किसके हुकुम तुं छुरी चलाया ॥

---

* मैं तोहि पूछौ मूसलमाना ॥ × लाल जरदकी नानाबाना ॥
+ कौन सुरति को करहु सलामा ॥ ये पाठ प्रायः हैं ॥

दर्द न जानै पीर कहावै। बैता पढ़ि पढ़ि जग समुझावै॥
कहहिं कबिर सयाद कहावै। आपु सरीखे जग कबुलावै॥

नाम्ना काजीति संप्रोक्ताः पण्डितत्त्वाऽभिमानिनः।
कीदृशं क्रियते कार्यं भवद्भिरिति चिन्त्यताम् ॥१९॥
गोमहिष्यादिहिंसा या कार्यते वै गृहे गृहे।
स्थित्वा नैतद्धि कर्तव्यमकार्यं त्यज्यतां द्रुतम् ॥२०॥
अजादिकुक्कुटादीनां मांसं को ह्युपदिष्टवान्।
प्रयुक्ता चाज्ञया कस्य छुरिका तत्कृते भवेत् ॥२१॥
परपीडां न जानंति कथ्यन्ते गुरवश्च ये।
वाक्यानि पापठित्वा ते वैतानामानि दुर्धियः ॥२२॥
जगत्यामपि कर्माणि मिथ्यैवोपदिशन्त्यहो।
न सत्कर्म न सत्यं वा वदन्त्युपदिशन्त्यथ ॥२३॥
सैयदेति च कथ्यन्ते ये मनोमलदूषिताः।
विश्वे स्वसदृशाचारस्वीकारं कारयन्ति ते ॥२४॥

हे काजी ( पण्डित ! ) तुमलोग कैसा कार्य करते हो। तुम बैठकर घर २ में बकरा, भैंसा आदि का जबह ( हिंसा ) कराते हो, क्या यही कार्य करना है॥ तुम्हें बकरी मुरगी किसने फरमाया, किसके हुकुम से छूरी चलाते हो, यह सब स्वार्थान्धता है॥ आश्चर्य है कि जो पर प्राणी की पीड़ा को नहीं समझता सो भी पीर ( गुरु ) कहाता है। और बैंत पढ़ २ कर संसार को समझाता है॥ साहब का कहना है कि जो सैय्यद ( ब्राह्मण ) कहाता है, सो भी स्वयं हिंसक होकर अपने समान जग से भी हिंसादि को कबूल कराता है॥

साखी ।

दिन को रोजा रहत हो, राति हुहत हो गाय ॥
यह तो खून वह बन्दगी, क्यों कर खुसी खुदाय ॥४९॥

दिवा करोपि रोजाऽख्यं व्रतं रात्रौ विहिंसनम् ।
गवादीनां तदा मूढ हिंसेयं महती कृता ॥
तुच्छा सा वन्दना तस्याः प्रसन्नः स्यात्कथं हरिः ॥२५॥
हरेः प्रसन्नता येन भवति नेह कर्मणा ।
न तत्कर्म विकर्मैतत् सम्मतं नैव तत्सताम् ॥२६॥
' भूतानां कुरुते योऽत्र सुखं वा दुःखमेव वा ।
आत्मनः कुरुते सर्वमिह लोके परत्र वा " ॥२७॥
यदा पापं हिंसां तुलयति यो वोधतः सद्विचारैः,
प्रियान् मत्वा जन्तून् ननुवचनतो मानसैश्चापि दुःखम् ।
कृपादृष्ट्या तेषामपगमयते नैव दत्ते स्वयं च,
हरेः सत्यो भक्तः स इह लभते सुप्रसन्नं स्वरामम् ॥२८॥
मनोवचोभिः करपादकर्णकै र्यो ह्यत्र दान्तः सततं भवेन्नरः ।
स एव भक्तः परपावनो मतः क्रियाविकारैः परिवर्जितः सदा॥२९-४९ ॥

इति हनुमद्दासविरचिते रमयणीरसोद्रेके तुरुष्कमतसमीक्षा नामैकविंशतितमः प्रवाहः ॥२१॥

दिन को रोजा व्रत (उपवास) रहते हो, और रात्रि के समय गाय को हुहते (मारते) हो। तो अपराध खून का हुआ, और बन्दगी (भक्ति) उपवास मात्र हुआ । फिर कहो न्यायकर्ता खुदा कैसे खुश होगा ॥ 'हुहत हो' के 'हनत हो' यह पाठ भेद है ॥

इति यवनमत समीक्षा प्रकरण ॥२१॥

## रमयणी ५०, आसक्ति से ज्ञान की दुर्लभता प्र. २२.

कहइत मोहि भेल युग चारी । समुझत नाहिं मोर सुत नारी ॥
वंशहि आगि लगि वंशहिं जरिया । भरम भुला नल धंधे परिया ॥

एवं वदत्सु चास्मासु गतं सर्वं चतुर्युगम् ।
जना नैव विजानन्ति मोमुह्यन्ति निरंतरम् ॥१॥
इयं भार्या सुतश्चायं मदीयावतिवल्लभौ ।
इति बुद्ध्या जनः सर्वो *मोहजाले विशत्यलम् ॥२॥
यथा वंशातिसंघर्षादग्निः संदीप्यते वने ।
दह्यते च वनं तेन मोहात्तापस्तथा भवेत् ॥३॥
अहो जना भ्रमेणैव सुतदारादिकर्मसु ।
आसक्ता एव वर्तन्ते नतु जातु विचारणे ॥४॥
" महाजालसमाकृष्टाः स्थले मत्स्या इवोद्धृताः ।
मोहजालसमाकृष्टा भवंति मनुजा भुवि " ॥५॥

साहब का कहना है कि मोहि ( मुझे-गुरु को ) इस प्रकार कहते चार युग हो गये, परन्तु लोग समझते नहीं हैं। किन्तु मोहवश कहते हैं कि यह मेरा पुत्र है, यह मेरी नारी है। इनसे वंश स्थिर रहेगा इत्यादि ॥ परन्तु जैसे बांसके आपस के रगड़ा से अग्नि पैदा होती है और उससे बाँस जल जाता है, तैसे ही कुलाभिमानियों में रागद्वेषादि होते हैं, जिनसे उनका नाश होता है। तौ भी भ्रम से सत् मार्ग को भूल कर मनुष्य कुलादि के धंधा में ही पड़े रहते हैं ॥

* निबंधिनी रज्जुरेषा ग्रामेषु वसतो रतिः । छित्त्वैतां सुकृतो याति नैना छिंदन्ति दुष्कृतः ॥ म. भा. शा. १७५। २६॥

हस्तिका‡ फन्दे हस्ती रहई । मृगा* के फन्दे मृगा रहई+ ॥
लोहहिं लोह काटु§ जस आना । तियके तत्त्व तिया पै जाना× ॥

पाशे हस्तिनिमित्ते वै यथा हस्ती निबध्यते ।
मृगो मृगनिमित्ते च स्वनिमित्ते तथा जनः ॥६॥
यथा लौहेन लौहोऽन्यः छिद्यतेऽयं तथा जनः ।
स्वजनेनैव सञ्छिन्नः खिन्नः पन्नो भवेत्सदा ॥७॥
यथा स्त्रिया हि कापि स्त्री भिन्ना स्यादतिमूढया ।
स्वजनेन तथा भिन्नो दूनो हीनो विलज्जते ॥८॥
रागेण बद्धः कुरुते स्पृहां जन-
स्ततोऽतिबन्धं लभते निरन्तरम् ।
अतश्च रागं निपुणा विधूय तं,
क्रीडन्ति रामे भयकानने नहि ॥९॥

जैसे पोसुआ शिक्षित हाथी के फन्दे (फांसा) में हाथी फसता है। मृग के फन्दे में मृग रहता है। तैसे स्वजाति कुल के फन्दे में मनुष्य भी रहते फसते हैं॥ जैसे अन्य लोहे को लोहा काटता है, तैसे स्वजाति के लोग कमजोर को पीड़ित करते हैं। जैसे स्त्री के तत्त्व गुण रहस्य को स्त्री से ही जाना जाता है, तैसे स्वजाति से ही किसीका भेद खुलता है॥

साखी।

नारी रचन्ते पुरुषा, पुरुष रचन्ते नारि ।
पुरुषहिं पुरुषा जो रचै, सो विरला संसारि ॥५०॥

‡ हस्तिनि फन्दे ॥ * मृगी के ॥ + परई ॥ § जस काढ़ु सयाना ॥ × पहिचाना ॥ पाठान्तर ॥

रमन्ते पुरुषाः स्त्रीषु लालसंति च लब्धये ।
लब्ध्वा सक्ता भवन्त्यासु स्त्रियोऽपि पुरुषेषु च ॥१०॥
ये तु सत्पुरुषाः सत्सु पुरुषेषु गुरौ हरौ ।
आत्मन्येव रमन्ते ते भवंति विरला भुवि ॥११॥
मोहोन्मत्तमनो वशंवदतया वद्धो ममत्वे जनः,
रागान्धो रमते स्त्रियां सुखधिया पुत्रादिलाभेच्छया ।
योषित्रापि तथैव बद्धहृदया पुंस्येव कान्ते यथा,
भक्त्या बन्धविघातकेऽतिविमले सन्तो रमन्ते तथा ॥१२
एकान्तशीला गतमानमत्सराः,
सर्वेन्द्रियप्रीतिनिवर्तका नराः ।
केचिद्भवन्तीह सुसाधवो जना,
रामे परप्रीतियुता विमुक्तिगाः ॥१३॥५०॥

इति हनुमद्दासविरचिते रमयणीरमोद्रेक आसक्त्या ज्ञानदौर्लभ्योपदर्शनं नाम द्वाविंशतितमः प्रवाहः ॥२२॥

मोह कामादि के वश में होकर स्त्री में पुरुष आसक्त होता है, और स्त्री पुरुष में आसक्त होती है; परन्तु जो स्वतन्त्र विचारवान् पुरुष होकर गुरु हरि रूप पुरुष में रमे, आसक्ति प्रेम ज्ञानयुक्त होवै सो पुरुष संसार में विरला होता है ॥५०॥

इति आसक्ति से ज्ञान की दुर्लभता प्रकरण ॥२२॥

## रमयणी ५१, धारणारहस्य प्रकरण २३.

जाकर नाम अकहुआ भाई । ताकर काह रमयणी गाई ॥
कहै के तात्पर्य है ऐसा । जस पन्थी बोहित चढि बैसा ।

योऽवाच्यः§ सर्वशब्देन लक्ष्यो भङ्ग्या कयाऽपि च ।
तस्यात्र रमणं लोके किं लोकैः परिगीयते ॥१॥
अस्य मे वचसो भावश्चेत्थं मे हृदि वर्तते ।
यथाऽत्र पथिकः कश्चिन्नावमारुह्य सुस्थिरः ॥२॥
गच्छेन्महोदधे पारमचलस्वप्रतिष्ठया ।
एवं धारणया धीरो वैराग्यरसरक्तया ॥३॥
ज्ञानं तरिं समासाद्य$ संसाराब्धेः परं व्रजेत् ।
नैवं रमणगानेन रहस्यरहितेन वै ॥४॥

हे भाई ! जिस परब्रह्म सत्यात्मा का अकह नाम है, जो वाणी का अविषय इन्द्रियागोचर है, उसकी रमयणी (क्रीडा लीला) आदि क्या गाते हो, कुछ विचारादि भी तो करो ॥ इससे यह नहीं समझना कि मैं अकह की चर्चा ही का निषेध कर रहा हू, किन्तु मेरे इस कथन का ऐसा तात्पर्य है कि जैसे पथिक बोहित ( नौका ) पर चढकर बैठता है, तब पार होता है । केवल नौका वा नाविक के नाम चरित्रादि के गान से नहीं ॥

है कछु रहनि गहनि की बाता । बैठा रहै चला पुनि जाता ॥
रहै वदन नहिं स्वांग स्वभाऊ । मन अस्थिर नहिं बोलै काऊ ॥

यथा नावि समारूढो ह्यगच्छन्नपि गच्छति ।
एवं ज्ञानेन तत्त्वस्य स्थिरो मुक्तिं निगच्छति ॥५॥

---

§ यद्वाचाऽनभ्युदितम् । केन. १।४॥

$ विचारवैराग्यवता चेतसा गुणशालिना । देव पश्यस्यथात्मानमेक रूपमनामयम् ॥ यो वा. प्र. ५।६॥ वेद्मीति यद्बलादाह न वेद्मीति च यद्बलात् । योगिनोऽनुभवत्येतमगोचरतयैव हि ॥ अनुभूतिप्र. १७।११५॥

यतः शमादियुक्तेन विचारादिसहेन च।
रहस्येन परा मुक्तिस्ततोऽस्यान्वेषणं कुरु ॥६॥
तद् गुह्यं योऽभिजानाति स वेषैर्न तनुं स्विकाम्।
संभण्डयति शुद्धात्मा न वक्ति चलमानसः ॥७॥
प्रत्याहृत्येन्द्रियं स्वं सदितरविषयान्नासाग्रनयनो,
ध्यायन् सत्यं हृदब्जे जनिमृतिरहितं ब्रह्मात्मपुरुषम्।
आसीनो वाऽत्र गच्छन् स्थिरतरमनसा सर्वेन्द्रियगणं,
कृत्वा मौनी वशे स्वे जगदुदधितटं शीघ्रं स लभते ॥८॥

ससारसिन्धु से पार होने में कुछ रहनी (विवेक, वैराग्य, सद्धारणा) की भी बात ( आवश्यकता ) है। जैसे नौका पर धारणा से बैठा हुआ पार जाता है, तैसे धारणा से सद्वस्तु, सच्छास्त्रादि में निष्ठावाला संसार से पार पहुंचता है ॥ धारणावाला पुरुष बदन (देह) पर स्वाग ( वेष ) बनाने के स्वभाववाला नहीं रहता है। न अस्थिर ( चंचल ) मनपूर्वक किसीसे बोलता ही है ॥

साखी ।

तन रहये मन जात है, मन रहये तन जाय।
तन मन एकै व्है रहै, हंस कबीर कहाय ॥५१॥

तनुस्तिष्ठति सन्मार्गे मनो याति कुवर्त्मसु।
मनस्तिष्ठति मार्गे वा तनुरन्यत्र धावति ॥९॥
एतदुक्तमभव्यानां भव्यानां त्विदमुच्यते।
तन्वा स्वान्तेन चैकः सन् मार्गो देवो निषेव्यते ॥१०॥
यदा विवेकतश्चैवं वर्तते मनुजा भुवि।
तदा ते वै निगद्यन्ते हंसा वा परहंसकाः ॥११॥

" न ×बिभेति यदा जन्तुर्यदा चास्मान्न बिभ्यति ।
कामद्वेषौ च जयति तदात्मानं स पश्यति ॥१२॥
यदाऽसौ सर्वभूतेभ्यो न द्रुह्यति न काङ्क्षति ।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा " ॥१३॥५१॥

किसीका शरीर स्थिर रहता है, मन दौड़ा करता है। किसीका मन स्थिर रहता है, देह सगादि यश दौड़ता है। इन दोनों अवस्थाओं में हसदशा नहीं आती। जब तन मन दोनों एकही सद्धारणा से युक्त होकर रहें, तब यह जीव हंस ( विवेकी ) कहाता है॥५१॥

## रमयणी ५२.

जिहि कारण शिव अजहुं वियोगी । अंग विभूति लाय भौ योगी ॥
शेष सहस मुख पार न पावै । सो अब खसम सही समुझावै ॥
ऐसी विधि जो मोकहं धावै । छठये माँह सो दर्शन पावै ॥
कौनहुं भाव दिखाई देऊं । गुप्ते रहि सुभाव सब लेऊं ॥

यस्य रामस्य लब्ध्यर्थं तटस्थस्य शिवः स्वयम् ।
अद्यापि सुविरक्तः सन् वियुक्त इव वर्तते ॥१४॥
गात्रे भस्म समालिप्य योगी भूत्वाऽपि सर्वदा ।
यशसां यस्य नाद्यापि सोऽन्तं वै गतवान् प्रभुः ॥१५॥
शेषो मुखसहस्रेण यद्गुणान्तं न दीयिवान् ।
स एव मानवो भूत्वा सत्यं संदिशति प्रभुः ॥१६॥
अनेनैव प्रकारेण मां यो ध्यायति नित्यशः ।
षष्ठे मासे ध्रुवं तेन दर्शनं मम लभ्यते ॥१७॥

× म. भा. शा. अ. २२१४–५॥

अहं केनापि भावेन तद्दृष्टे गोचरो भवन्।
गृह्णामि भावसर्वस्वं गुप्त एव समाचरन् ॥१८॥

जिस राम की प्राप्ति के लिये शिवजी अबतक वियोगी ( विरक्त, विरही भक्त ) बने हैं। देह में विभूति लगाकर योगी हुए हैं ॥ हजार मुख से भी शेष जिसके गुणों का पार नहीं पाते, सो स्वामी अब प्रगट होकर अपने असली तत्व को सही ( सत्य ) समझाता है कि, ऐसी विधि से ( तन, मन को एक करके ) जो कोई मेरा ध्यान करता है, वह छठवें मास में मेरा दर्शन पाता है ॥ किसी न किसी भाव से मैं दर्शन देता हूं, और गुप्त ही रहकर उसके सब भक्तिभावादि का स्वीकार करता हूं, इत्यादि ॥

साखी।

कहहिं कबीर पुकारिके, सबका उहै विचार।
कहा हमार मानै नहि, किमि छूटै भ्रमजाल ॥५२॥

उक्तः सर्वस्य लोकस्य विचारोऽत्र प्रवर्तते।
मन्यते नैव सद्वाक्यं सद्गुरोरुपदेशनम् ॥१९॥
हंसत्वसाधकं साक्षात्परतत्वस्य बोधकम्।
कथं नश्यतु वै भ्रान्ति, र्महानर्थप्रसाधिका ॥२०॥
यद्वा शिवश्च शे[illegible] न[illegible]:।
स स्वयं गुरुम्[illegible] संदि[illegible] ॥२१॥
गुरुभिः प्रोक्तम्[illegible] ध्याय[illegible]।
[illegible]

इत्येवं सर्वविज्ञानां विचारो वर्तते सदा ।
मन्वते चेज्जना नैव कथं भ्रान्ति र्विलीयताम् ॥२४-५२॥

इति हनुमद्दासविरचिते रमयणीरसोद्रेके धारणारहस्यवर्णनं नाम त्रयोविंशतितमः प्रवाहः ॥२३॥

कबीर साहब पुकार के कहते हैं कि प्रायः सब लोगों का वही विचार है ( राम को दशरथादि सब समझते हैं ) और मेरी बात कोई मानता ही नहीं तो भ्रमजाल कैसे छूटे ( धारणा, विचारादि विना निर्भ्रान्त नहीं हो सकता ) ॥

इति धारणा रहस्य प्रकरण ॥२३॥

## रमयणी ५३, दुराशाप्राबल्य प्रकरण २४.

महादेव मुनि अन्त न पाया । उमा सहित उन जन्म गमाया ॥
उनहुं से सिध साधक कोई । मन निश्चय कहु कैसे होई ॥

महादेवो मुनिर्यस्य नान्तं वेद कदाचन ।
उमया सहितः सोऽत्र जीवनं यापयत् प्रभुः ॥१॥
किं ततोऽपि भवेत् कश्चित् सिद्धो वा साधको महान् ।
यो वेत्स्यति हि तत्त्वेन निश्चयोपि यतो भवेत् ॥२॥
यदन्तं * न शिवोऽविन्दत्तदन्तनिश्चयः खलु ।
कथं मनसि संभाव्यः केनापि पुरुषेण वै ॥३॥

---

* एकधैवाऽनुद्रष्टव्यमेतदप्रमयं ध्रुवम् । विरजः पर आकाशादज आत्मा महान् ध्रुवः ॥ बृ. ४।४।२०॥ नान्तं विदाम्यहममी मुनयोऽग्रजास्ते, मायाबलस्य पुरुषस्य कुतोऽपरे ये । गायन् गुणान् दशशतानन आदिदेवः

महादेवजी ऐसे मुनि जिस तटस्थ राम का अन्त नहीं पाये, और पार्वती सहित जन्म बिताये॥ तो क्या उनसे भी कोई सिद्ध और साधक अधिक ( बड़ा ) होगा, जो अन्त पायेगा। और अन्त पाये बिना निश्चय कैसे होवे, सो कहो और समझो॥ वस्तुत सर्वात्मा अनन्त व्यापक जिस राम के अन्त को महादेवजी ऐसे ध्यानी विचारी नहीं पाये, इत्यादि। उसके अन्तादि खोजना व्यर्थ और अज्ञानमूलक है। यदि उसके आदि अन्त का कोई वर्णन भी करे, तो किसी विचारवान के मन में निश्चय कैसे हो सकता है, वह अनन्त ही समझेगा॥ 'उनसे सिध साधक नहिं कोई' पाठान्तर है॥

जब लग तन में आहै सोई। तब लगि चेति न देखै कोई॥
तब चेतिहो जब तजि हो प्राणा। भया यान तब मन पछताना॥
इतना सुनत निकट चलि आई। मन विकार नहिं छूटी भाई॥

अहो यन्महिमाऽनन्तो यश्चानन्तः स्वयंप्रभः।
अस्मिन् स वर्तते देहे मानवे जीवरूपतः§ ॥४॥
यावत्स वर्तते तावन्न यः पश्येद्विवेकतः।
स किं प्राणात्यये सम्यग् भोत्स्यते मूढमानसः॥५॥

---

शेषोऽधुनापि समवस्यति नास्य पारम्॥ भा स्क. २।७।४१॥ ब्रह्म नारद प्रत्युक्तवान्॥

§ अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥ एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति। तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्॥ कठो २।५।९-१२॥

मरणे चेद्ध संप्राप्ते पश्चात्तापेन तप्यते ।
आधिनैतन्मनः शश्वत् पीड्यते खिद्यते भृशम् ॥६॥
एतावच्छृण्वतां तावन्मरणं समुपस्थितम् ।
मनसो ये विकारास्ते न नष्टा न तिरस्कृताः ॥७॥
एतावच्छ्रवणाद् यद्वा मोक्षमार्गादिसन्निधौ ।
केचित्प्राप्तास्तथाप्येषां मनोदोषो न नश्यति ॥८॥

आश्चर्य है कि अनन्त के आदि अन्त को सब खोजते विचारते हैं, परन्तु वही जबतक इस देह में जीवरूप से प्रगट है, तबतक ही विचारादि करके उसे कोई देखते ( जानते ) नहीं हैं ॥ क्या तब चेतोगे ( विचारादि करोगे ) कि जब प्राण पयान करेंगे । अरे ! उस समय तो जब यान ( यात्रा ) हुआ कि मन में पश्चात्ताप करना होगा ॥ इतनी बातों को सुनते २ मरण भी पास में आ पहुंचा, परन्तु हे भाई ! विचार, धारणादि बिना किसीके मन का विकार नहीं छूटा ॥ या इन बातों को सुनने पर किन्ही की बुद्धि कुछ मोक्षमार्ग के पास आई, परन्तु मन अपने विकारों को नहीं छोड़ता ॥

साखी ।

तीनि लोक में आय के, छूटि न काहु कि आश ।
एक अँधरा जग खाइया, सबका भया विनाश ॥५३॥

त्रिलोक्यां हि जनैर्लाभात् केषाञ्चिच्चाऽविवेकिनाम् ।
आशापाशाद्विमोक्षोऽभूद्विकारान्मनसस्तथा ॥९॥
अतथैको महान्धोऽयं कालः स्वस्वान्तमेवहि ।
खादतिस्म जगत्सर्वं सर्वे नष्टास्ततोऽभवन् ॥१०॥

न यावद्विवेको मतौ संस्फुरेत्सन् भवेन्नैव यावत्त्रिलोकेष्वनास्था।
न चाशा पिशाची विनष्टा च यावन्न तावन्मनःपाशकालाद्विमुक्तिः॥
११॥५३॥

इति हनुमद्दासविरचिते रमयणीरसोद्रेके दुराशाप्राबल्यवर्णनं नाम चतुर्विंशतितमः प्रवाहः ॥२४॥

तीनों लोक में कहीं भी जन्म लेकर आने से किसीकी आशा, तृष्णा विचारादि विना नहीं छूटी ( नहीं नष्ट हुई ) और आशा तृष्णा वासना के रहने पर अविवेकादि युक्त मनरूप एकही काल सब संसारी को खा गया। इससे सबका विनाश हुआ ॥५३॥

इति दुराशा प्राबल्य प्रकरण ॥२४॥

## रमयणी ५४, मृत्युममत्व प्राबल्य प्रकरण २५.

मरि गौ ब्रह्मा काशिक बासी । शीव सहित मूये अविनाशी
मथुरा मरिगौ कृष्ण गोआरा । मरि मरि गये दशो अवतारा ।
मरि मरि गये भक्ति जिन ठानी । सर्गुण में जिन निर्गुण आनी ।

ममारैव स्वयं ब्रह्मा × काशीवासी शिवस्तथा ।
अविनाशी मृतः क्वापि गतः केन न बुध्यते ॥१॥
मथुरायाश्च कृष्णोऽपि गोपास्तद्वल्लभास्तथा ।
अवतारा मृताः सर्वे कल्पभेदेषु ये श्रुताः ॥२॥

× ब्रह्मविष्ण्विन्द्ररुद्राद्या ये हि कारणकारणम् । तेषामप्यतिकल्पान्ते नामापीह न विद्यते ॥ यो. वा. ५।४३।३०॥

यैश्च भक्तिः कृता शश्वद्गुणे निर्गुणधीस्तथा।
यैर्लब्धा ते मृता यत्र तत्र को न मरिष्यति ॥३॥
सकलं जगत् क्षणभंगुरं जनिमृत्युभागि चराचरं,
परमेष्ठिविष्णुहरैर्युतं ह्यवतारभक्तमन्वितम्।
गुणसंयनिर्गुणबोधिनो नहि केऽपि तेन मृतिं विना,
समयस्थिता ननु मोहतः स्थिरता विभाति जगत्त्रये ॥४॥

ब्रह्माजी मर गये, सो काशी के वासी अविनाशी शिव सहित मरे। मथुरा के वासी कृष्ण और गोआर (गोप) सब भी मर गये। और इसी प्रकार हरएक कल्प के दश २ अवतार मर २ गये॥ जिन्होंने भक्ति की, या सगुण में निर्गुण का लाभ किया, उनके शरीर भी नहीं रहे॥

## साखी।

नाथ मच्छन्दर छुटे नहीं, गोरख दत्त औ व्यास।
कहहिं कबीर पुकारि के, परे काल के फांस ॥५४॥

मत्स्येन्द्रो हि महायोगी गोरक्षो दत्त एव च।
व्यासोऽपि च महाविद्वान् कालपाशेऽपतद् ध्रुवम् ॥५॥
एतत्सर्वं विदित्वाऽपि जीवनस्य दुराशया।
न जानंति परं तत्त्वं वसन्तोऽमी कलेवरे ॥६॥
अहो दौर्भाग्यमेतेषामाभाष्य कथयाम्यहम्।
कथ्यमानं न शृण्वन्ति कुर्वन्ति च निजाऽहितम् ॥७॥
न यत्र सिद्धाः स्थिरतां प्रयान्ति हि,
न साधका व्यासमुखा विपश्चितः।
महाबलैः कालगणैर्निपीडिता,
जनश्चिरं स्थैर्यमहोऽत्र वाञ्छति ॥८॥५४॥

कबीर साहब पुकार के कहते हैं कि मच्छन्दर योगी मृत्यु से नहीं छूटे, न गोरख, दत्तात्रेय, व्यास ही बचे, सब काल के फाँस में पड़े। किसीका शरीर अचल अविनाशी नहीं हुआ। ऐसा होने पर भी दुराशा नहीं छूटती सो महाश्चर्य है॥

अथवा तटस्थ एकदेशी ईश्वर का भक्त सगुण में ही निर्गुण बुद्धि करनेवाला जो कोई वादी ब्रह्मा आदि को अविनाशी मानता है, उस के मत के अभिप्राय से कहा गया है कि ब्रह्मा आदि मरे, और उनके भक्त भी मरकर गमनागमनमय संसार में ही गये, कालफाँस में पड़े, क्यों कि असगात्मा की भक्ति, ज्ञान बिना मुक्ति नहीं होती, यही सत्शास्त्र, सत्पुरुषों का अन्तिम सिद्धान्त है ॥५४॥

## रमयणी ५५.

गये राम औ गये लक्ष्मना। सग न गई सीता अस धना॥
जात कौरवहिं लागु न वारा। गये भोज जिन साजल धारा॥
गये पण्डु कुन्ती सी रानी। सहदेवहुं जिनमति बुधि ठानी॥
सर्व सोनेका लंक उठाया। चलत बार कछु सग न लाया॥

रामचन्द्रो गतः क्वापि लक्ष्मणो वीरसत्तमः।
सीता सहचरी धन्या न रामेण गता सती ॥९॥
कौरवाणां गतौ तावद्वासरा नाधिका ययुः।
अत्यल्पेन हि कालेन सर्वे ते मानिनो हताः ॥१०॥
भोजराजो गतो येन धाराख्या नगरी शुभा।
साधितोपस्कृता सम्यक् परिक्षिता च रक्षिता ॥११॥
गतः पण्डु र्गता कुन्ती राज्ञी सूर्यविमोहिनी।
सहदेवो गतो येन मतिबुद्धी प्रवर्तिते ॥१२॥

यश्च स्वर्णमयीं लङ्कां सर्वां तोलितवान् बलात् ।
प्रायुंदयद्विशेषेण सोऽगच्छन्नाददात् कणम् ॥१३॥

इस मानवलोक से रामलक्ष्मण गये, रामजी की सीता ऐसी धना (धन्या पतिव्रता स्त्री) साथ नहीं गई ॥ कौरव (दुर्योधनादि), भोज (राजा विशेष), धारा (भोज की नगरी) साजल (सुसज्जित किया), मति बुद्धि (बुद्धिस्तात्कालिकी ज्ञेया मतिरागामिगोचरा) ठानी (प्रगट वा प्राप्त किया) उठाया (बनाया वा धारण किया) चलत वार (चलने मरने के दिन) ॥

जाकी पुरी अन्तरिक्ष छाई । सो हरिचन्द देखल नहिं जाई ॥
मूरख मानुष बहुत संयोवै । अपने मरे और लगि रोवै ॥
इ न जानै अपने मरि जैवे । विभव टका दश औरहि खैवे ॥

अन्तरिक्षं स्पृशन्तीव नगरी यस्य विस्तृता ।
आसीत् सोपि हरिश्चन्द्रो नेह कुत्रापि दृश्यते ॥१४॥
नथार्थामे त्वहो मूढा मानवा बहुसंग्रहम् ।
कुर्वन्ति धनविस्तादे ममताहतचेतसः ॥१५॥
स्वयं ते म्रियमाणाश्च पुत्राद्यर्थं रुदंति चेत् ।
संचिन्वन्तस्तदर्थं च शोकाद्यैश्च तपंति ते ॥१६॥
एतन्मूढा न जानंति यदस्माकं मृतौ धनम् ।
दशरूप्यादिकं सर्वं तदन्यैरेव भोक्ष्यते ॥१७॥
" नैवात्रात्यन्तसंवासः कस्यचित्केनचित्सह ।
अपि स्वेन शरीरेण किमुतान्यैः धनादिभिः " ॥१८॥
ममताहतजन्तुस्तु न क्वचित्सुखमेधते ।
संप्रवृत्तस्तया यस्मात् स्थितिमेति न कुत्रचित् ॥१९॥

जिस हरिश्चन्द्र की पुरी ( नगरी ) ऊंचाई से मानो अन्तरिक्ष लोक में छाई रही। सो हरिश्चन्द्र आज दीख नहीं पड़ते। न मरने के बाद जाकर उस नगरी को फिर उन्होंने देखा॥ तौभी मूर्ख मनुष्य बहुत सग्रह करता है। आप मरता है, तौभी पुत्रधनादि के लिये रोता है॥ यह नहीं समझता कि यदि मैं मरूगा तो जो मेरे दश टका (दश रुपये) विभव है, उसे लेकर और ही लोग खायेंगे, मेरे काम के ये भी नहीं रहेंगे॥

साखी।

अपनी अपनी करि गये, लागि न काहुकि साथ।
अपनी करि गो रावणा, अपनी दशरथ नाथ ॥५५॥

अस्माकमिदमस्माकमिति कृत्वा गता ह्यतः।
केनापि नहि किञ्चिच्च संलग्नं संचितं धनम् ॥२०॥
तथापि ममतां कृत्वा यथा वै रावणो गतः।
तथैव ममतायुक्तो राजा दशरथोऽगमत् ॥२१॥
यावच्च ममता ह्येषा दह्यते न समूलकम्।
तावद्गतागते चेते नश्यतो नैव कस्यचित् ॥२२॥
" सुखाधिगमलोभेन यतमानो हि पूरुषः।
सहस्रगुणमाप्नोति दुःखमेव ममत्वतः ॥२३॥
अनादौ संसारेऽवशमिदमहो मूढमनसाम्,
अनित्या जन्तूनां मरणमथ मृत्वापि जननम्।
इयं सा दुःखानां सरणिरिति सञ्चिन्त्य कृतिना,
विधातव्यं चेतो जननमरणोच्छेदिनि पदे" ॥२४॥५५॥

इति हनुमद्दासविरचिते रमयणीरसोद्रेके मृत्युमल्लप्राबल्यवर्णन नाम पञ्चविंशतितमः प्रवाह ॥२५॥

अपनी २ (मेरी २) करके सब गये; परन्तु कोई वस्तु किसीके साथ नहीं लगी (मरने के समय साथ नहीं गई)। तौभी अपनी बुद्धि करके रावण गया, और अपनी करते २ दशरथनाथ (दशरथ राजा, या दशरथजी के प्राणाधार रामचन्द्र) गये ॥५५॥

इति मृत्युममत्व प्राबल्य प्रकरण ॥२५॥

## रमयणी ५६, ममत्वादि फल प्रकरण २६.

दिन दिन जलै जलन के पाऊँ। डाढ़े जाय न उमगे काऊँ ॥
कान्द न देइ मसखरी करई। कहु दुइ भाँति कैसे निस्तरई ॥

ममत्वाशादिसंछन्नः पापतापादिवन्हिभिः ।
दह्यतेऽत्र* जनः शश्वदाधिवृद्ध्या दिनेदिने ॥१॥
अहो जाज्वल्यमानोऽपि कामादिज्वलनैः पुनः ।
मनोबुद्ध्यात्मपादौ द्वौ तत्रैवार्पयते कुधीः ॥२॥
ततस्तापमवाप्नोति दग्धो भवति सर्वथा ।
नैवोत्थानमवाप्नोति हर्षोत्फुल्लो न जायते ॥३॥
सतां सदुपदेशोऽपि कर्णे नैव ददाति च ।
कुरुते हास्यनिन्दादि तेषामेवाविशङ्कया ॥४॥
तान् दृष्ट्वा स्मयते मूढस्तदुक्तीर्न शृणोति च ।
स्वयं विन्ते न चेत् क्वापि निर्वृतिं कथमेतु सः ॥५॥

* मम माता मम पिता मम भार्या ममात्मजाः । ममेदमिति च न्तूनां ममता बाधते वृथा ॥ नारदीयपु. ३७।४१॥ पुत्रदारकुटुम्बेषु सक्त- सीदन्ति जन्तवः। सरःपङ्कार्णवे मग्ना जीर्णा वनगजा इव ॥ ना.पु.६०।१९। ममेति बध्यते जन्तु र्न ममेति विमुच्यते ॥ पैङ्गलोप. ४।२०॥

अविचारोऽश्रुतिश्चैव स्तो जन्तो र्नरकाय वै ।
सत्सङ्गः सुविचारश्च सर्वदा सुखसाधने ॥६॥

मोह ममता के वशवर्ती जीव दिन २ जलते हैं । और फिर भी जलन के स्थान ही में पॉव देते हैं । जिससे डाढे जलाये जाते हैं, काऊ ( कभी वा कोई ) उमगते ( खुशी से बढते ) नहीं हैं ॥ संत पुरुषों की बात में कान नहीं देते । उलटा उनसे मसखरी करते हैं कहाँ इन दोनों प्रकारों से निस्तार ( मोक्ष ) कैसे पा सकते हैं ॥

अकरम करै कर्म को धावै । पढ़ि गुणि वेद जगत समुझावै ।
छूंछा परे अकारथ जाई । कहहिं कबिर चित चेतहु भाई ।

कृत्वा निषिद्धकर्माणि हिंसाऽसत्यमयान्यपि ।
विचारादिं विना जन्तुस्तानि कर्माणि मन्यते ॥७॥
वेदादींश्च पठित्वापि विचिन्त्य बहुधा तु ये ।
स्वबोधेन विनाऽन्येभ्य उपदेशं ददति चेत् ॥८॥
निष्फलः स भवेत्तेषां जन्माप्यफलतां व्रजेत् ।
अतश्चाद्यापि मनुजाः ! सावधानैर्हि भूयताम् ॥९॥
"यस्य नास्ति विवेकस्तु केवलं यो बहुश्रुतः ।
स जानाति न शास्त्रार्थान् दर्वी पाकरसं यथा" ॥१०॥
तस्माद्यूयं कुरुध्वं तं विवेकं सर्वसाधकम् ।
बाधकं ममतादीनां समतादिप्रवर्तकम् ॥११॥
शोधयध्वं स्वमात्मानमर्चयध्वं तमेव हि ।
आत्मनाऽत्मानमालोक्य संतिष्ठध्वं गतज्वराः ॥१२॥५

हिंसा आदि निषिद्ध कर्म करते हैं, और उन्हींको सुकर्म ख्याल ( समझते ) हैं । या अकर्म करते हैं, कभी सकर्म के लिये भी दौड़ते

हैं । और वेदादि को पढ़गुणकर भी वही कर्माकर्म जगत को भी सम झाते हैं ॥ परन्तु सद्विचारादि विना उनके पठनपाठनादि सब छूठा पड़ते ( निष्फल होते ) हैं । तथा उनका जन्म भी अकारथ ( निष्फल ) जाता है । इससे साहेब का कहना है कि हे भाई ! अब भी अपने मन में सावधान होवो, आत्मविचारादि करो ॥५६॥

## रमयणी ५७.

कृतिया लोक सून इक अहई । लाख पचास की आयु कहई ॥
विद्या वेद पढ़े पुनि सोई । वचन कहत प्रत्यक्षे होई ॥
पहुची बात विद्या के वेता । बाहु को भ्रम भया संकेता ॥

कार्यरूपो महानेकः सूत्रलोकस्तथैव च ।
लोके सूत्रात्मको ग्रन्थो विद्यते कार्यबोधकः ॥१३॥
यमधीत्य वदन्त्यत्र ह्यायूंषि बहुधा जनाः ।
पञ्चाशतां च लक्षाणामायूंषि वर्णयंति ते ॥१४॥
ब्रह्मलोकादिषु त्वत्र प्राक्तनेषु हि योगिषु ।
ग्रन्थाश्च बहुधा कार्यमायूंपि वर्णयंति च ॥१५॥
अहो इमे च वक्तारो विद्या वेदान् पठंति वै ।
कल्पयंति हि लिङ्गैस्ते भाषन्तेऽक्षगतं यथा ॥१६॥
तेषां यद्यपि वाक्यानि सत्यानि विदुषामिह ।
प्रायेणैव भवन्त्येव सावधानेन चिन्तनात् ॥१७॥
संकेतज्ञानजान्येव तथाप्येतानि नान्यथा ।
संकेते च भ्रमात्तानि भ्रान्तान्येव विनिश्चिनु ॥१८॥
तत्ववेत्तु यदा वाक्यं तेषां विशति वा श्रुतौ ।
तदा तेषां भवत्येव भ्रान्तं सांकेतिके मनः ॥१९॥

लोक में कृतिया (कार्यादि का बोधक) एक सूत्र ग्रन्थ है, जिसे पढ़नेवाले लाखों पचासों की या पचासों लाख वर्ष तक की आयु का वर्णन करते हैं ॥ वे लोग विद्या वेदादि भी पढ़ते हैं, परन्तु वचन इस प्रकार कहते हैं कि जैसे प्रत्यक्ष ही देख कर कहते हों ॥ यद्यपि उन विद्वानों की बात पहुची हुई (प्रायः सत्य ही) होती है, तथापि *उनका ज्ञान संकेत जन्य रहता है। इससे संकेत ज्ञान के भ्रमरूप होने* से उन्हें भी भ्रम होता है। इसलिये उस बात का विश्वास ही क्या है। शीघ्र सचेत होना चाहिये। किसीके कहने से चिरजीवन का विश्वास नहीं करना चाहिये ॥

साखी ।

खग खोजन कहँ तूं परा, पीछे अगम अपार ।
बिन परिचय ते जातहू, झूठा है हकार ॥५७॥

अतो मुधैव भो विद्वन्नाकाशपथगामिना ।
मनःखगेन चे कुर्ष मार्गयस्यायुरादिकम् ॥२०॥
अनाद्यतिगभीरं च यद्वत्तं भ्रमणं तव ।
पश्चाद्भावि च यन्मोहात्तन्न वेत्ति भयान् खलु ॥२१॥
यावन्न ज्ञायते चैतदात्मा वा सत्यविग्रहः ।
तावदन्यं विपश्यन् हि मुधा गर्व तनोति च ॥२२॥
" धनं शरीरं स्वजनं स्वजीवितं प्रियाणि मित्राणि शरीरसम्पदः ।
चिरायुषः पश्यति मूढचेतनो न तत्समः कश्चिदिहास्ति दुर्मतिः॥२३॥
ब्रह्मादीनां त्रयाणां तु स्वहेतौ प्रकृतौ लयः ।
प्रोच्यते कालयोगेन पुनरेव समुद्भवः ॥२४॥५७॥

इति हनुमद्दासविरचिते रमयणीरसोद्रेके समत्वादिना तापादिवर्णन नाम षड्विंशतितम. प्रवाहः ॥२६॥

सग (आकाशगामी मन, प्राण, देवादि) की खोज (मार्ग वा तलाश) में तू व्यर्थ पड़ा है। इसके पीछे अगम अपार समय या वस्तु है। उसके ज्ञान विना इनहीं बातों को सत्य मानकर करते हो, सो तेरा अहंकार झूठा है ॥५७॥

इति ममतादि से तापादि प्रकरण ॥२६॥

## रमयणी ५८, गुरुभक्ति से निर्द्वन्द्व राज्यादि प्र. २७.

तैं सुत मानु हमारी सेवा। तो कहँ राज देव हो देवा ॥
अगम दुर्गम गढ देउँ छुड़ाई। औरो बात सुनहु कछु आई ॥
उतपति परलय देउं दिखाई। करहु राज सुख विलसहु आई ॥

सर्वाशां संपरित्यज्य कुरुष्व गुरुसेवनम्।
गुरूणां सेवनादेव राज्यलाभो भविष्यति ॥१॥
गुरुरेव स्वयं प्राह मत्सेवा तत्परो भव।
अहं तुभ्यं प्रदास्यामि राज्यं निष्कण्टकं+ सदा ॥२॥
त्याजयिष्याम्यगम्यं च कल्पितं नाममात्रतः।
दुर्गम्यं गृहसालादि× लोकं देहं जगत्तथा ॥३॥
एषु वैराग्यमाश्रित्य त्वागत्य गुरुसन्निधौ।
एभ्यो भिन्नं हि यत्तत्त्वं तस्यैव श्रवणं कुरु ॥४॥
अहं त्वां जगतामेषामुत्पत्तिप्रलयादिकम्।
प्रत्यक्षं दर्शयिष्यामि येन भूयो न बाध्यसे ॥५॥
अतः शरणमागत्य गुरूणां भावितात्मनाम्।
अखण्डं क्रियतां राज्यं लभ्यतां च सुखं तथा ॥६॥

+ क्षुद्रशत्र्वादिरहितम् ॥ × प्राकारादि ॥

हे सुत ( सज्जन शिष्य ) ! तुम हमारी ( सद्गुरु की ) सेवा को मानो, सद्गुरु की सेवा करना स्वीकार करो। हे देव ! ( दैवी सम्पति वाला ) तुझे मैं ( सद्गुरु ) राज्य दूगा ॥ और अगम दुर्गम गढ ( कल्पित लोक परलोक ) छोड़ा दूगा, इससे आगे की बात सद्गुरु के शरण में आकर कुछ सुनो ॥ उत्पत्ति प्रलय को प्रत्यक्ष करा दूगा। फिर उत्पत्ति आदि से रहित होकर राज्य करो, और सुखमय विलास (लीला) में आवो ॥

एको बार न होइ हैं बाको । बहुरि जन्म नहिं होई हैं ताको ॥
जाय पाप सुख दीहो घाना । निश्चय वचन कबीर के माना ॥

स्वाराज्ये भवतो ह्यस्मिन् बाल एकोपि वक्रताम् ।
न व्रजिष्यति कान्या ते हानिरत्रोपजायते ॥७॥
योऽस्मिन् राज्ये सकृद्गच्छेज्जन्म तस्य भवेन्नहि ।
माल्येऽस्मिन् भवचक्रेऽसौ पुनः क्वापि न यास्यति ॥८॥
भोः साधो सर्वपापानि नशिष्यन्ति क्षणात्तव ।'
सुखं तुभ्यं तु दास्यामि ह्यनन्तमचलं दृढम् ॥९॥
इदं मद्वचनं सत्यं तत्त्वेनैवाधधार्यताम् ।
भवरोगविनाशाय निश्चितं परमौषधम् ॥१०॥
"इष्टं* दत्तं तपोऽधीतं व्रतानि नियमाश्च ये ।
सर्वमेतद्विनाशान्तं ज्ञानस्यान्तो न विद्यते ॥११॥
न× तपांसि न तीर्थानि न शास्त्राणि जयन्ति च ।
संसारसागरोत्तारे सज्जनासेवनं विना" ॥१२॥

इस राज्य सुख विलास में एक बार (केश) भी किसीसे बाका (टेढ़ा) नहीं होगा। और इस राज्य से पुरुष का फिर जन्म नहीं होगा।

* म. भा अदरमे. ४४।२१॥ × या. वा ४।२३।१४॥

क्यों कि इस राज्य सुख विलास से सब पाप जाते रहेंगे, और थाना (अनन्त) सुख मैं दूंगा, यह सद्गुरु कबीर का बचन सत्य ही मानो॥

साखी।

साधु सन्त तेई जना, माना वचन हमार।
आदि अन्त उतपति प्रलय, देखहु दृष्टि पसारि ॥५८॥

साधवस्ते च सन्तस्ते यैरस्माकं वचो मतम्।
तथा कृत्वा त्वया साधो सर्वान्तादि प्रदश्यताम् ॥१३॥
सर्वस्यैवादिरूपो यः सर्वान्ते यश्च तिष्ठति।
उत्पत्तिप्रलयौ यस्मात्तं विवेकेन पश्यतु ॥१४॥
"प्रलयोत्पत्तिनिस्वशाः * सर्वज्ञाः समदर्शिनः।
वीतरागा विमुच्यन्ते पुरुषाः सर्वबन्धनैः ॥१५॥
ज्ञानसिद्ध्या × मोक्षसिद्धिः सर्वेषां गुर्वनुग्रहात्।
मोक्षात्स्वरूपसिद्धिः स्यात्परानन्दं समश्नुते" ॥१६॥

गुरोर्वाक्यैः प्रीतो विदितनिखिलाध्यात्मतत्त्वस्य सत्यैः,
सदा सद्ब्रह्मेशप्रमुदितधिया तस्य सेवापरो यः।
सुखी शान्तो मुक्तो निखिलभुवनाकारकारागृहात्सः,
महाराजैस्तुल्यो विलसति मुदा द्वन्द्वमुक्तःसुविद्यः ॥१७॥५८॥

इति हनुमद्दासविरचिते रमयणीरसोद्रेके गुरुभक्त्या निर्द्वन्द्वस्वाराज्यलाभवर्णनं नाम सप्तविंशतितमः प्रवाहः ॥२७॥

वे ही पुरुष साधु ( चतुर ) सन्त हैं, जिन्होंने हमारे ( सद्गुरु के)

* ब्रह्मपु. ११६।६॥ × शिवपु. विद्येश्वरसं १३।४६॥

वचन को माना। इससे तुम भी सद्गुरु के वचनों को मानो, और विवेक दृष्टि को फैलाकर आदि अन्तादि को देखो ॥२८॥

इति गुरुभक्ति से निर्द्वन्द्व राज्यादि प्रकरण ॥२७॥

## रमयणी ५९, वैराग्यार्थोपदेश प्रकरण २८.

चढ़त चढ़ावत भँडहर फोरी। मन नहिं जानै के कर चोरी ॥
चोरा एक मुसे संसारा। विरला जन कोइ बूझनहारा ॥
स्वर्ग पताल भूमि ले बारी। एके राम सकल रखवारी ॥

तत्वज्ञानं विना यस्तु कल्पितास्वरलोकयोः।
आरोढु यतमानः सन्नन्यानारोहयंस्तथा ॥१॥
देहरूप घटं होतं यंभजीति कुयोगतः।
मनस्तस्य न जानाति सर्वस्वं हरतीह कः ॥२॥
चोर एकोऽस्ति मोहोऽयं सैवाविद्यादिशब्दभाक्।
आशातृष्णादिरूपेण स एव परिवर्तते ॥३॥
सेव मुष्णाति सर्वेषां सुखं संसारिणां हितम्।
जानति विरलाः केपि धन्यास्तं हि विवेकिनः ॥४॥
रक्षकोपि तथैवैको रामो भूमौ च वारिषु *।
स्वर्गे पातालखण्डे च सद्यः सर्वेन सर्वदा ॥५॥
यस्य विज्ञानभक्तिभ्यां तस्करोऽयं विलीयते।
सद्य एव स सर्वात्मा रामः सर्वस्य रक्षकः ॥६॥
उक्तराज्यस्य दाता वा गुरू रामः स्वयं प्रभुः।
स एव सर्वजगतां रक्षको ज्ञानदानतः ॥७॥

---

* यो देवोऽग्नौ योप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश। श्वे. २।१७॥

सद्गुरु की बात तथा सेवा को नहीं माननेवाले लोकान्तरादि में चढ़ते चढ़ाते में शरीररूप भड़हर ( घडे ) को फोडते हैं । और उनका मन यह नहीं समझता कि मूल धन की चोरी कौन करता है ॥ मोह-रूप एक चोर संसार के सब धन को चोराता है । उसको समझनेवाला कोई विरला ही पुरुष होता है ॥ स्वर्ग, पाताल, भूमि, वारि ( जल ) ले ( तक ) एकही राम सबका रक्षक भी है, उसे कोई विरला जानता है, इत्यादि ॥

## साखी ।

पाहुन व्हे व्हे सब गये, विन भितियन को चित्र ।
जासो कियो मिताइया, सो धन भया न हित्त ॥५९॥

रामस्यास्यप्रबोधेन पाषाणघनमूढताम् ।
गृहीत्वैव गताः सर्वे पामरा येऽविवेकिनः ॥८॥
वशाता कामचौरादे येषामस्ति न शुद्धता ।
ते पाषाणसमा मूढा ये नाऽऽरूढाः सुवर्त्मसु ॥९॥
आश्रयेण विना चित्रं कल्पयन्तस्तु ते दिवि ।
कुर्वते मित्रतां यैस्तु धनैस्तानि हितानि नो ॥१०॥
सुखबुद्ध्याऽसुखे नित्यं ह्यभिमानं प्रकुर्वते ।
आत्मनस्त्वहितं सर्वं रक्षकं तद् भवेन्नहि ॥११॥
कुर्वते जन्मने मूढा जायन्ते मरणाय च ।
न ज्ञानाय सुयोगाय तृणानीव न मुक्तये ॥१२॥
आकाशभित्तौ विलिखन् मनोमयं चित्रं विचित्रं धनमानसंयुतः ।
आशादिवद्धश्च जडो गतो ह्यतस्त्राता न कोप्यस्य धनादिकोऽभवत्
१३॥५९॥

उक्त चोर और राम के ज्ञान विना सब लोग पाहन की नाईं जड़ हो २ कर गये, और विना भित्तियों के ही आकाश में अनेकों लोकादि के चित्र रचे ( कल्पना किये ) और जिस धनादि से मित्रता किये सो इनका हित नहीं हुआ ॥५९॥

## रमयणी ६०.

छाड़हु पति छाड़हु लवराई । मन अभिमान छूटि तब जाई ॥

स्वामित्वं सर्ववस्तूनां त्वसत्यबहुभाषणम् ।
वश्चकत्वं विवादांश्च शरीरेष्वात्मताधियम् ॥१४॥
स्नेहं बन्ध्वादिवृन्देषु द्वेषं चामित्रकादिषु ।
त्यज साधो मुमुक्षा चेद्विद्यते हृदि निश्चला ॥१५॥
तटस्थं स्वामिनं देवमसत्यं गुणकीर्तनम् ।
व्यवहारेऽन्यथात्वं च त्वं जहीहि हि मत्सरम् ॥१६॥
एतेषां त्यजनादेव ह्यभिमानो नशिष्यति ।
मानसे वर्तमानो यो महाशत्रुः शरीरिणाम् ॥१७॥
अभिमानः सुरापानं ह्यभिमानश्च रौरवम् ।
अभिमानपरित्यागो मोक्ष उक्तो मनीषिभिः ॥१८॥
" नाऽत्यक्त्वा§ सुखमाप्नोति नात्यक्त्वा विन्दते परम् ।
नात्यक्त्वा चाभयः शेते त्यक्त्वा सर्वं सुखी भव " ॥१९॥

हे सज्जनो ! कल्पित पति ( स्वामी ) को वा अपने में स्वामित्व अभिमान को छोड़ दो । तथा लवराई ( असत्य बोल व्यवहार ) को त्यागो । तब तुम्हारे मन का अभिमान छूट जायगा ॥

§ म. भा. शा. १७६।२२॥

जनि लो चोरी भिक्षा खाई । फिरि बिरवा पलुहावन जाई ॥
पुनि सम्पति औ पति कहँ धावै । सो बिरवा संसारहिं आवै ॥

स्तैन्येनानार्यवृत्त्या वा कस्यापीह न किञ्चन ।
गृहाणापत्तिकालेऽपि न्याय्यां वृत्तिं समाश्रय ॥२०॥
" यथासम्भवया* वृत्त्या लोकशास्त्राविरुद्धया ।
सन्तोषतुष्टधीः शान्तो भोगगर्धां परित्यज" ॥२१॥
यस्तु त्यक्त्वैव चौर्यादि भिक्षावृत्त्यापि जीवति ।
स जीवो दुःखदग्धोपि पुनर्विस्तारमेति हि ॥२२॥
" यथाप्राप्तार्थसंतुष्टो * यो गर्हितमुपेक्षते ।
साधुसंगमसच्छास्त्रपरः शीघ्रं स मुच्यते " ॥२३॥
भिक्षावृत्त्यैव शुद्धस्य सर्वानन्दः सदा भवेत् ।
मुखकान्त्यादिना ह्यस्य हृद्यानन्दोऽनुमीयते ॥२४॥
पौनःपुन्येन यो लोके सम्पत्तिं स्वामितादिकम् ।
ध्यायति स पुनर्याति संसारे धनवानपि ॥२५॥

चोरी ( अन्याय ) से किसीके धनादि जनि ( नहीं ) लो । भिक्षा ( न्याय प्राप्त ) अन्न का भोजन करो, तो फिर भी यह धारणा ही जीवरूप बिरवा ( वृक्ष ) को पलुहावन ( आनन्द, वृद्धि ) के लिये होगी ॥ ऐसा नहीं करके जो कोई बार २ धन सम्पत्ति और स्वामिपन या कल्पित पति का ध्यान धावा करता है, सो बिरवा ( जीव ) बार २ संसार ही आता है ॥

साखी ।

झूठ झूठ कै छाड़हू, मिथ्या यह संसार ।
तिहि कारण मैं कहत हूं, जाते होय उबार ॥६०॥

* यो. वा. ४।६।१६-१७॥

असत्यमिति निश्चित्य मिथ्याभूतं जगत्त्यज ।
त्यागादेव भवेन्मोक्षस्तव तेन ब्रवीम्यहम् ॥२६॥
" यावत्सर्वं + न संत्यक्तं तावदात्मा न लभ्यते ।
सर्ववस्तुपरित्यागे शेष आत्मेति कथ्यते" ॥२७॥
आत्माऽयं सच्चिदानन्दो ह्यसङ्गो जन्मवर्जितः ।
एको ब्रह्माऽद्वयश्चैव सृष्ट्याद्याः खलु मायिनः ॥२८॥
आविद्यो बन्धजातो विरमति† यतो बोधतोऽतो मृषैव,
आत्मैवैकोऽत्र सत्यस्तदविभजनात्सत्यता चात्र भाति ।
सत्यो ह्येकोऽनुभूतः श्रुतिगुरुवचोऽभ्यासतः सज्जनेन,
भिन्ने सत्ये नभानं किमपि निगमैस्तुल्यमास्तेऽनवद्यम् ॥२९-६०॥

इति हनुमद्दासविरचिते रमयणीरत्नोद्रेके वैराग्यार्थोपदेशवर्णनं नामा ष्टाविंशतितमः प्रवाहः ॥२८॥

ससार देहादि में झूठ २ निश्चय करके सब अभिमानादि को छो दो। यह ससार मिथ्या है। मैं इसलिये कहता हू, कि जिससे तेरा कल्याण हो। कल्याण का यही मार्ग है, दूसरा नहीं ॥६०॥

इति वैराग्यार्थोपदेश प्रकरण ॥२८॥

## रमयणी ६१, तत्वज्ञान विना परवञ्चनादि प्र. २९

धर्मकथा जो कहते रहई । लाबरि उठी परातहिं कहई
लाबरि विहने लाबरि साँझा । इक लाबरि बसु हृदया माँझा
रामहुं केर मर्म नहिं जाना । लै मति ठानिन वेद पुराना
वेदहुं केर कहल नहिं करई । जरतहिं रहै सुस्त नहिं परई

+ अन्नपूर्णोप. ११४५॥

† श्रुतस्य बोधाभिवृत्त्यादेरुपपत्त्यर्थं बन्धस्याविद्यात्मकत्वं कल्प

अहो धर्मकथां नित्यं कथयन्तीह ये नराः ।
तैरपि स्वाविवेकेन कल्येऽकल्याणमुच्यते ॥१॥
प्रत्यूषे ते समुत्थायाऽसत्यं शंसन्ति मोहतः ।
सायं चैव ब्रुवन्त्येवं धरन्ति हृदयेऽनृतम् ॥२॥
असत्यस्य तु वासेन हृद्येकस्य हि सर्वदा ।
सर्वात्मनोऽस्य रामस्य रहस्यं न विदन्ति ते ॥३॥
स्वान्ते रामस्य चाज्ञानात् पुराणश्रुतिविश्रुतम्§ ।
आरभन्ते सदा काम्यं कर्म वा मतिविभ्रमम् ॥४॥
वेदतत्त्वस्य चाज्ञानान्नैव कुर्वंति तत्कृतम् ।
निष्कामं विमलं कर्म हिंसाशाठ्यादि वर्जितम् ॥५॥
आत्मनश्चिन्तनं दानं दम्भासत्यादिवर्जनम् ।
दह्यन्ते तेन ते शश्वत् सुखायन्ते न कर्हिचित् ॥६॥

आत्मज्ञान, सद्धारणा, संतोषादि रहित जो मनुष्य धर्म की कथा कहता रहता है, सो भी प्रातःकाल उठकर लावरि (असत्य) ही कहता है ॥ उवेरे सध्या के समय भी झूठ कहता है, और कोई एक मिथ्या बात उसके हृदय में सदा बसती है ॥ सर्वात्मा राम का भेद उसने पाया नहीं, और अपना मनमाना वेद पुराण के मत का आरम्भ किया ॥ इस से वेद

इति विवरणप्रमेयसंग्रहस्वाराज्यसिद्धिटीकादौ बहुशो वेदान्तग्रन्थेषूपलभ्यते। पारमार्थिकत्वस्य ज्ञानानिवृत्तेर्दूषण च विद्यते ॥ तस्य त्रय आवसथा-त्रयः स्वप्नाः । इत्यादि श्रुतौ संसारेऽवस्थात्रयात्मके स्वप्नतुल्यत्वेन मिथ्यात्व मोच्यते । वाचारम्भणाद्युपलक्षणश्रुत्या चेति बोध्यम् ॥

§ परोक्षवादो वेदोऽयं बालानामनुशासनम् । कर्ममोक्षाय कर्माणि विधत्ते ह्यगदं यथा ॥ न चरेद्यस्तु वेदोक्तं स्वयमज्ञोऽजितेन्द्रियः । विकर्मणा ह्यधर्मेण मृत्यो र्मृत्युमुपैति सः ॥ भा. स्क. ११।३।४४-४५॥

का कहा भी वह स्वय नहीं करता है, इस कारण वह जलते रहता है, शान्ति नहीं पाता ॥

साखी ।

गुणातीत के गावते, आपुहिं गये भ्रमाय ।
माटिक तन माटी मिले, पवनहिं पवन समाय ॥६१॥

वदन्तोऽयं * गुणातीत स्वं तथैवाऽधियन्ति नो ।
स्वस्थतां न लभन्ते ते ह्यतिव्याकुलितेन्द्रियाः ॥७॥
गुणातीत हि गायन्तः स्वस्मिन् भ्रान्ता यदाऽभवन् ।
मृण्मयोऽयं गतो भूमौ प्राणो वायौ समाविशत् ॥८॥
साधिता नानुभूति यैं देहेनाऽनेन सुव्रत ॥
तेषामित्थं हि मानुष्यं व्यर्थमेव गतं गतम् ॥९॥
भ्रमन्तो रटन्तो गुणातीतमुच्चै,
न यावद्विदंति स्वकं रूपमाद्यम् ।
न तावद्विमुक्ता भवन्तीह जीवा,
व्रजन्त्येव भूतेषु मेम्रियमाणाः ॥१०॥६१॥

आत्मभिन्न गुणातीत के गाते २ में धर्मकथा कहनेवाला स्
अपने को भ्रमाय गया (निजस्वरूप को भूल गया) । फिर व्यर्थ ही मा
के कार्य देह माटी में मिल गया । प्राणवायु महावायु में लीन हुआ

---

* अनुभूतिं विना मूढो वृथा ब्रह्मणि मोदते । प्रतिबिम्बितशाखाग्र फलाऽऽस्वादनमोदवत् ॥ मैत्रेय्युप. २।२२॥

नाममात्रेण सतुष्टाः कर्मकाण्डरता नरा । मन्त्रोच्चारणहोमाद्यै र्भ्रामित क्रतुविस्तरै ॥ एकभुक्तोपवासाद्यै र्नियमै कायशोषणै. । मूढा. परो मिच्छन्ति मम मायाविमोहिता. ॥ गरुडपु. ४९।६०–६१॥

'आपुहिं गये गमाय' इस पाठपक्ष में यह भी भाव निकल सकता है कि, जो पुरुष गुणातीत सर्वात्मा को गाते २ अपने व्यष्टि अभिमान को नष्ट किया वह मुक्त हो गया ॥

## रमयणी ६२.

जो तैं कर्ता वरण विचारा। जन्मत तीनि दण्ड अनुसारा ॥

त्वयैव कर्मणां कर्त्रा बहुवर्णा विचारिताः ।
जन्मनोऽनुसृता * दण्डास्त्वयैवर्णाऽभिधास्त्रिधा ॥११॥
तापरूपास्तथा दण्डा निर्मितास्तव कर्मभिः ।
निरपेक्षो न कश्चिद्धि हेतुरस्ति जगत्कृतौ ॥१२॥
वाग्दण्डोऽथ मनोदण्डः कायदण्डस्तथैव च ।
यस्यैते निहिता बुद्धौ त्रिदण्डीति स उच्यते ॥१३॥
इति किं मनुना प्रोक्ता दण्डा दमनलक्षणाः ।
जन्मनैव धृता येन जन्मना द्विजता भवेत् ॥१४॥
यदि चैतै विना कश्चिच्छ्रेष्ठ्यमात्मनि मन्यते ।
स भ्रान्तो वञ्चयत्यऽन्यान् कुविचारं करोति च ॥१५॥

जो तुमने भिन्न कर्ता और उस कर्ता से स्वाभाविक वर्ण का विचार किया, तो क्या जन्म से ही वागादि तीनों दण्डों का भी स्वभाव ही धारण किया। या तुम स्वयं कर्मकर्ता होकर जन्म से वर्ण विचार किया, देव पितृ ऋषि ऋणरूप तीन दण्ड का स्वीकार किया, सो भ्रम

* जायमानो ह वै ब्राह्मणस्त्रिभि ऋणै ऋणवान् जायते। तैत्तिरीय- ६।३।१०।५॥ अत्र जायमानशब्देन गृहस्थोऽधिकारी जायमान इत्यर्थो ह्यते, न गर्भाज्जायमान इत्यादिविचारो न्यायभाष्यादौ द्रष्टव्यः ॥

मात्र है, इसे समझने के लिये अभी और विचार करो। और तीन तापरूप दण्ड भी अपना कर्म का ही फल जानो इत्यादि ॥

जन्मत शूद्र मुये पुनि शूद्रा। कृतम जनेउ डारि जग मूद्रा ॥

प्रत्यक्षं जन्मना सर्वे जायन्ते शूद्रवर्णकाः ।
मृतौ भवति शूद्रत्व सर्वेषा तच्च दृश्यते ॥१६॥
संस्कारेण तु देहस्य यज्ञसूत्रादिना तथा ।
द्विजत्वं ब्राह्मणत्वं च सदेहस्यैव जायते ॥१७॥
कृत्रिमं चिह्नमानं हि यज्ञसूत्रेण सिद्ध्यति ।
वास्तवं ब्राह्मणत्वं तु तेन नैवोपपद्यते ॥१८॥
जाते च ब्राह्मणत्वे वै तद्दणित्वं श्रुतौ श्रुतम् ।
गर्भाच्च जन्मतो मूढ ऋणित्वं प्रतिभाषते ॥१९॥
कायदण्डादिकं चैवं विचारयति संभवेत् ।
न जाते चार्भके तस्माज्जन्मना नहि विप्रता ॥२०॥
ब्राह्मण्यं कृत्रिमं चैतत्पुण्यलेशेन लभ्यते ।
सांकेतिकं भविष्ये च वणिग्जातिसमं स्मृतम् ॥२१॥

जन्मकाल में सबका शरीर शूद्र ( सस्कारहीन–अशुचि ) रहता है। फिर मरने पर भी शूद्र ही हो जाता है, बीच में कृतम ( कल्पित–कार्य ) रूप यज्ञोपवीत डारकर व्यवहार के लिये ससार में मुद्रा ( चिन्ह ) किया जाता है। और आत्मा में या सूक्ष्म देह में तो कभी कोई जाति होती ही नहीं है। जाति की कल्पना स्थूल देह में ही होती है ॥

जो तुम ब्राह्मण ब्राह्मणी जाया। और द्वार ह्वै काह न आया।
जो तुम तुरुक तुरुकिन का जाया। पेटहिं काह न सुनत कराया।

यदि त्वं जन्मना विप्रो ब्राह्मण्याः सम्मतः सुतः ।
कस्माच्च मुखतो जातः किं शूद्र इव जायसे ॥२२॥
जन्मना यवनश्चेत्त्वं यवन्या गर्भजः सुतः ।
कृतसुन्नतकः कस्मान्न गर्भात्समजायथाः ॥२३॥
न भवान् ब्राह्मणो नापि यवनः स्त्री पुमान्नहि ।
साक्षिमात्रो भवाञ्छुद्धो विवेके स्त्री तथैव हि ॥२४॥
" ब्राह्मण्यं * कुलगोत्रे च नामसौन्दर्यजातयः ।
स्थूलदेहगता एते स्थूलाद्भिन्नस्य ते नहि ॥२५॥
क्षुत्पिपासाऽन्ध्यबाधिर्यं कामक्रोधादयोऽखिलाः ।
लिङ्गदेहगता एते ह्यलिङ्गस्य न केचन ॥२६॥
जडत्वप्रियमोदत्वधर्माः कारणदेहगाः ;
न सन्ति तव नित्यस्य निर्विकारस्वरूपिणः " ॥२७॥

यदि तुम जन्म से ही ब्राह्मण हो, और ब्राह्मणी ने यदि तुझे जाया ( जन्माया ) है, तो और रास्ते क्यों नहीं आये । सृष्टि के आदि काल में मुख से ब्राह्मण की उत्पत्ति कही जाती है । मुख से जन्मवाला आज भी जन्म से ही ब्राह्मण हो सकता है ॥ और यदि तुम तुरक हो और तेरी जाया (स्त्री) तुरकिनी है या तुरकिनी ने यदि तुम्हे जन्म दिया है, तो पेट से ही सुन्नत कराकर क्यों नहीं आये ॥

कारी पिअरी दूहहु गाई । ताकर दूध देहु बिलगाई ॥
छाडु कपट नल अधिक सयानी । कहहिं कबिर भजु सारंगपानी ॥

कपिला पीतवर्णा वा गौस्त्वया दुह्यतां पयः ।
पृथक् तत् क्रियते किं चै शक्यं कर्तुं न तत्तथा ॥२८॥

* आत्मबोधोपनिषद् ।

तथैवात्मा पृथक्कर्तुं विविक्तो नैव शक्यते ।
तं जानीहि विवेकेन किं वृथा परिमुह्यसे ॥२९॥
" गवामनेकवर्णानामेकरूपं × यथा पयः ।
नानाविधानां देहानामेक आत्मा तथेरितः " ॥३०॥
धौर्त्यं सत्यज्यतां सर्वमतिचातुर्यलक्षणम् ।
सेव्यतां शुद्ध आ-माऽसौ ज्ञातः पापापनोदकः ॥३१॥
तावत्सत्त्वविशुद्ध्यर्थं शार्ङ्गपाणिं भजादरात् ।
आत्मबोधे भवेदैक्यं तेन सर्वात्मना तव ॥३२॥
शुद्धपानीयतुल्यं वा देवदेवं निरञ्जनम् ।
आत्मानं भज सद्भक्त्या निर्वाणपददं ध्रुवम् ॥३३॥६२॥

भला काली पीली गाय को दुहकर, उनके दूधों को बिलगाओ। भाव है कि जैसे गौओं के रंग में भेद होते भी दूध के रंग में भेद नहीं होता। तैसे ही देह में भेद होते भी आत्मा में भेद नहीं है। आत्मा में और मानवधर्मादि में भेद की प्रतीति अज्ञान पाखण्डादि से ही होती है॥ हे मनुष्यो! अधिक चतुराई रूप कपट (धूर्तता) को त्यागो, और सारंगपानी (भगवान् विष्णु) को भजो। या कपट छोड़कर शुद्ध जल तुल्य सर्वात्मा राम को भजो ॥६२॥

## रमयणी ६३.

नानारूप बरण इक कीन्हा। चारि बरण वे काहु न चीन्हा॥
नष्ट गये करता नहिं चीन्हा। नष्ट गये औरहिं मन दीन्हा॥

× आत्मपु. १०।१००९॥

नानारूपविशिष्टानां देहानां मानवेषु हि।
जातिरेकैव सत्कर्त्रा कृताऽस्ति बहुधा [×] नहि ॥३४॥
चातुर्वर्ण्यं कृतं तेन मानमत्र न विद्यते।
नैव वा लक्षणं भिन्नं यथा गोमहिषादिषु ॥३५॥
अथवैको ह्यवर्णो यः सुवर्णः शक्तियोगतः।
नानारूपो [+] भवत्यात्मा चतुःखन्यादिरूपतः ॥३६॥
केऽपि तं नैव पश्यन्ति पश्यंति भेदविभ्रमम्।
गोत्रजात्यादिभि र्भ्रान्ताः क्लिश्यन्ते च कुबुद्धयः ॥३७॥
ये कर्तारं विवेकेन नापश्यन् मूढमानवाः।
ते नष्टा यैश्च वान्येषु मनो दत्तं विमोहतः ॥३८॥

परमात्मा ने नाना रंगवाला मानव देह को एक वरण (एक जाति) किया है। वह चार वरण किया, इसका कोई गोमहिषादि की तरह भेदक चिन्ह नहीं है॥ अथवा एक वरण आत्मा शक्तिबल से नानारूप हुआ है। वही चारों खानों में चार वरण दीखता है, परन्तु उसे कोई चीन्हता नहीं है॥ और जो उसे नहीं पहचाना सो नष्ट हुआ, वह अत्यन्त नष्ट हुआ जो उससे अन्य अनात्मा में ही मन लगाया॥

× चत्वार एकस्य पितुः सुताश्च तेषां सुतानां खलु जातिरेका। एवं प्रजानां हि पितैक एव पित्रेकभावान्न च जातिभेदः ॥ गोत्राणि नाना विधजातयश्च भ्रातृस्नुषामैथुनपुत्रभावाः। वैवाहिकं कर्म न वर्णभेदाः सर्वाणि शिल्पानि भवन्ति तेषाम् ॥ भविष्यपु. १।४१।४५-४८॥ आदौ कृतयुगे वर्णो नृणां हंस इति स्मृतः। भा. स्क. ११।१७।१०॥

+ य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगात्। श्वे ४।१॥ गवामनेकवर्णानां क्षीरस्याप्येकवर्णता। क्षीरवत् पश्यते ज्ञानं लिंगिनस्तु गवां यथा॥ ब्रह्मविन्दूप. १९॥

नष्ट गये जिन वेद बखाना । वेद पढ़ा पै भेद न जाना ॥
विमलख करै नयन नहिं सूझा । भया थान तब कछु नहिं बूझा ॥

> आचक्षाणा हि वेदान् ये रहस्यं नात्मनो विदुः ।
> वेदानां पाठमात्रेण ते नष्टा ह्यभिमानिनः ॥३९॥
> चक्षुषो विमलत्वार्थमञ्जनं क्रियते यदि ।
> दृष्टिशक्तेरभावेन निष्फलं तद्यथा भवेत् ॥४०॥
> विवेकादेरभावेन तथैवाऽध्ययनं + श्रुतेः ।
> निष्फलत्वं समायाति सदा मिथ्याऽभिमानिनाम् ॥४१॥
> यदाऽभूद् गमनं तेषां परलोके भयावहे ।
> पश्चात्तापहतास्तत्र तेऽखिद्यन्त तदा मुहुः ॥४२॥
> अन्धा × इव भ्रमन्तश्च व्यथमानाः कुयोनिषु ।
> नाबुधन् तत्र किञ्चित्ते लोभमोहपराहताः ॥४३॥

जिन्होंने वेदों को पढ़कर भी आत्मतत्वादि का भेद नहीं जाना, वे लोग वेदों का व्याख्यान करते रहने पर भी नष्ट हुए ॥ उनकी ऐसी दशा हुई कि जैसे किसीके नेत्र फूट गये हों, तौभी विमलख ( सुरमा आदि ) आख में लगावे, तैसे ही ये लोग विवेकादि बिना वेदादि पढ़ते हैं ॥

---

+ आचारहीनं न पुनन्ति वेदा यद्यप्यधीताः सह षड्भिरङ्गैः । छन्दास्येनं मृत्युकाले त्यजन्ति नीडं शकुन्ता इव जातपक्षाः ॥ वसिष्ठस्मृ. अ. ६ । प्रयाणकाले हि परित्यजन्ति इति तृ. पाठभेदः ॥

× विवेकान्धो हि जात्यन्धः शोच्यः सर्वस्य दुर्मतिः । दिव्यचक्षुर्विवेकात्मा जयत्यखिलवस्तुषु ॥ यो. वा. २।१४।४१॥

साखी।

नाना नाच नचायके, नाचै नट के वेष।
घट घट अविनाशी बसै, सुनहु तकी तुम शेख ॥६३॥

मनोबुद्ध्यादिकान् सर्वान् बहुधा नर्तयन् सदा।
नृत्यतीव च यः शश्वद्बहुवेषै नटो यथा ॥४४॥
स सर्वेषु शरीरेषु ह्यविनाश्येव वर्तते।
नटन् वै बहुधा वेषैस्तैश्च सर्वैरसङ्गनः ॥४५॥
सर्वेस्यापि विनाशेऽपि शिष्यमाणे स्थिरां मतिम्।
कृत्वा त्वं श्रवणं तस्य कुरु शेखतकी × सदा ॥४६॥
कल्यैर्+वेषैर्नटो वै प्रकटितनटनो नैव लास्यादिभिः सः,
आत्मानं तत्स्वरूपं स्मरति हृदि यथा वेषनाशाच्च नाशम्।
तद्वत्साक्षिस्वरूपो† जनिमृतिविकलो मायया सर्वकारी,
देवो देहादिवेषैः सदिनरसकलं बुध्यमानोऽप्यसङ्गः ॥४७॥
श्रवणेनास्य सन्मत्या बन्धान्मुक्तो भवेन्नरः।
अन्यथा न भवेज्जन्मसहस्रान्तेऽपि कश्चन ॥४८॥६३॥

इति हनुमद्दासविरचिते रमयणीरसोद्रेके सत्तत्त्वबोध विना परवञ्चना-रसनाशादिवर्णनं नामैकोनत्रिंशत्तमः प्रवाहः ॥२९॥

---

× एतन्नामकः कश्चिदासीत् ॥ + सज्जैः ॥

† देवो नागी सुरो रक्षो यक्षः किं किन्नरो जनः। आत्मैवाऽऽत्मविलासिन्या जगन्नाट्यं प्रनृत्यति ॥ यो. वा. ५।९१।९२॥ सर्वभूतान्तरात्मैकः स्वतन्त्रो माययाऽऽवृतः। एकं स्वं बहुधा कुर्याद्बहुरूपी यथा नटः ॥ अनुभूतिप्र. ११।९०॥

कर कहा जाता है, तो भी सद् उपदेश इनसे धरा छुआ नहीं जाता, न गृहीत कनकादि त्यागे जाते हैं ॥

जन के कहे जु जन रहि जाई । नव निद्धी सिद्धी तिन पाई ॥
सदा धर्म तिहि हृदया वसई । राम कसौटी कसते रहई ॥
जो रे कसावट अन्ते जाई । सो वावर अपने बौराई ॥

उक्तौ गुरुजनानां ये तिष्ठन्ति सज्जनाः सदा ।
निधयः सिद्धयश्चैतैर्लभ्यन्ते नात्र संशयः* ॥५॥
सद्धर्मो हृदये तेषां वसत्येव स्वभावतः ।
विचारनिकषे शश्वत्परीक्षन्तेऽथ रामकम् ॥६॥
कस्यापि निकषश्चेत्स रामादन्यत्र याति चेत् ।
स स्वयं मुग्धतां प्राप्य प्रमत्त इव धावति ॥७॥

गुरुजन के कहने में जो मनुष्य सदा रहता है, या जो अपने को सद्गुरु का जन कहता हुआ सज्जन रहता है, सो नवनिधियों और सब सिद्धियों को प्राप्त करता है ॥ उसके हृदय मे सदा सद्धर्म वसते हैं। वह बुद्धिरूप कसौटी पर सर्वात्मा राम सुवर्ण को सदा कसते (विचारते–ध्याते) रहता है ॥ यदि किसीका कसावट ( विचार, ध्यान ) आत्माराम से अन्ते (अन्यत्र) जाता है, तो वह बावर (कुविचारी) आप अपने ही अपराध से बौराता है ॥

साखी ।

ताते फांसी काल की, करहु आपनी शोच ।
सन्त सिधाये सन्त जहँ, मिलि रहु पाँचहि पोंच ॥६४॥

१ अर्थार्थे यानि कर्माणि करोति कृपणो जनः । तान्येव यदि धर्मार्थे कुर्यात्को दुःखभाग् भवेत् ॥ इतिहाससमुच्चये ॥

नट के समान कल्पित नाना वेषवाला आत्मा शरीर इन्द्रियादि को नाना नाच नचायकर, जो आप भी नट के समान मानो नाच रहा है, सो अविनाशी घट २ में वसता है। हे श्रोतजी ! उसके श्रवणादि करो ॥६३॥

## रमयणी ६४, दुर्बोध फलादि प्रकरण ३०.

काया कञ्चन यतन कराया । बहुत भाँति कै मन पलटाया ॥
जौं सौ वार कहौं समुझाई । तैयो धरा छुआ नहिं जाई ॥

मनोऽनात्मसु वर्तन्ते सर्वेऽहङ्कारिणो नराः ।
कायकाञ्चनकार्यार्थं प्रयत्नं कुर्वते सदा ॥१॥
पीडयन्ते मनश्चैवं बहुधा भ्रमयंति च ।
शतशो बोधने सम्यङ् न गृह्णंति स्पृशंति वा ॥२॥
ग्रहाऽग्रहं* त्यजन्त्येते नैव जातु कथञ्चन ।
मुच्यन्तां तु कथं ग्राहाज्जन्ममृत्युमुखात् खलु ॥३॥
किम्वाऽतिबोधनेऽप्यज्ञाः स्वनर्क§ कामिनीं धनम् ।
गृह्णंति च विमुह्यति धूर्तं जातु त्यजंति नो ॥४॥

एक अविनाशी के ज्ञान विना मनुष्यों ने काया ( देह ) और सुवर्णादि का ही यत्न किया कराया। और अपने तथा अन्य के मन को बहुत प्रकार पलटाया (भ्रमाया) ॥ यदि सैकड़ों वार इनसे समझा

*ग्रह उपराग इव ग आग्रहस्तम् ।

§ न तादृश जगत्यस्मिन् दुःख नरककोटिषु । यादृश यावदायुष्क मर्थोपार्जनशासनम् ॥ यो वा ॥

कर कहा जाता है, तौ भी सद् उपदेश इनसे धरा हुआ नहीं जाता, न गृहीत कनकादि त्यागे जाते हैं ॥

जन के कहे जु जन रहि जाई । नव निद्धी सिद्धी तिन पाई ॥
सदा धर्म तिहि हृदया बसई । राम कसौटी कसते रहई ॥
जो रे कसावट अन्ते जाई । सो बावर अपने बौराई ॥

उक्तौ गुरुजनानां ये तिष्ठन्ति सज्जनाः सदा ।
निधयः सिद्धयश्चैतै र्लभ्यन्ते नात्र संशयः * ॥५॥
सद्धर्मो हृदये तेषां वसत्येव स्वभावतः ।
विचारनिकषे शश्वत्परीक्षन्तेऽथ रामकम् ॥६॥
कस्यापि निकषश्चेत् रामादन्यत्र याति चेत् ।
स स्वयं मुग्धतां प्राप्य प्रमत्त इव धावति ॥७॥

गुरुजन के कहने में जो मनुष्य सदा रहता है, या जो अपने को सद्गुरु का जन कहता हुआ सजन रहता है, सो नवनिधियों और सब सिद्धियों को प्राप्त करता है ॥ उसके हृदय मे सदा सद्धर्म बसते हैं । वह बुद्धिरूप कसौटी पर सर्वात्मा राम सुवर्ण को सदा कसते (विचारते-ध्याते) रहता है ॥ यदि किसीका कसावट ( विचार, ध्यान ) आत्माराम से अन्ते (अन्यत्र) जाता है, तो वह बावर (कुविचारी) आप अपने ही अपराध से बौराता है ॥

साखी ।

ताते फासी काल की, करहु आपनी शोच ।
सन्त सिधाये सन्त जहँ, मिलि रहु पौंचहिं पौंच ॥६४॥

---

१ अर्थार्थे यानि कर्माणि करोति कृपणो जनः । तान्येव यदि धर्मार्थे कुर्यात्को दु सभाग् भवेत् ॥ इतिहाससमुच्चये ॥

कालपाशोपि तस्माद्धि रामादन्यस्य चिन्तनात् ।
संलग्नो लक्ष्यते लोके ततश्चात्मैव चिन्त्यताम् ॥८॥
आत्मरामस्य चिन्तार्थे सज्जनास्तत्र यांति हि ।
वसन्ति सज्जना यत्र साधवो दीनवत्सलाः ॥९॥
असज्जनास्तु ये नीचा धूर्ता लोकविडम्बकाः + ।
ते निहीनैः मिलित्वैव तत्र तिष्ठन्ति सादराः ॥१०॥
अहो मोहस्य माहात्म्यं किमन्यदिह कथ्यताम् ।
स्वयं हि नरके यान्ति स्वयं नाके च निर्वृतौ ॥११॥६४॥

ताते (आत्माराम से अन्य की चिन्ता आदि से ही) काल की फासी लगती है और लगी है । इसलिये अपना स्वरूप का ही शोध विचारादि करो । इस विचारादि के लिये सज्जन लोग वहा सिधाये (गये) कि जहाँ सन्त रहते हैं । और पोंच (नीच) लोग नीच से ही मिले रह गये ॥६४॥

## रमयणी ६५.

अपने गुण कहँ अवगुण कहहू । येहि अभाग जो तुम न विचारहू ॥
तुम जियरा बहुते दुख पाया । जल विनु मीन कौन सचु पाया ॥

इत्थं स्वस्य विचारेण ज्ञानाभ्यासादियोगतः ।
सर्वं × संप्राप्यते लोके स्वर्गो मोक्षः सुखानि च ॥१२॥

---

+ विडम्बयन्ति वञ्चयन्तीति विडम्बकाः, लोकाना विडम्बका इति ॥

× अभ्यासवैराग्ययुतादाक्रान्तेन्द्रियपन्नगात् नात्मनः, प्राप्यते यत्तत् प्राप्यते न जगत्त्रयात् ॥ यो. वा. ५। ४३।१८॥ आत्मनो गुरुरात्मैव पुरुषस्य विशेषतः । यत्प्रत्यक्षानुमानाभ्यां श्रेयोऽसावनुविन्दते ॥ भा. स्क. ११।७।२०॥

अहो तथापि यूयं तु विचारादीन् गुणान् स्वकान् ।
अवगुणत्वेन भाषन्ते दोषबुद्ध्या निरीक्ष्य तान् ॥१३॥
इदमेव कुभाग्यं च वर्तते भवतामिह ।
यद्विचारं न कुर्वन्ति सर्वेऽत्रैव शुभावहम् ॥१४॥
दुःखानि तु बहून्यत्र विचारेण विना पुरा ।
अवाप्नुवन् सदा जीवा मत्स्या नीरं विना यथा ॥१५॥
यथा वारि विना किञ्चित् क्वापि मत्स्यसुखं नहि ।
विचारादिं विना तद्वत्प्रमोदो नैव कस्यचित् ॥१६॥

हे मनुष्यो ! अपने विचाराभ्यासादि सद्गुणों को अवगुण कहते वा समझते हो, और देवादि की आशा करते हो, परन्तु तुम्हारा यही सबसे भारी अभाग्य है, जो विचारादि नहीं करते हो ॥ हे जीव ! तुम, सद्विचार वैराग्यादि बिना बहुत दुःख पाये हो, और आगे भी इसके बिना सुख नहीं पा सकते, क्यों कि जल बिना मछली कहाँ कौन सुख (आनन्द) पाती है । सोई दशा अपनी विचारादि बिना समझो ॥

चातक जलहल आसहिं पासा । स्वांग धरे भवसागर आसा ॥
चातक जलहल भरल जु पासा । मेघ न बरषे चले उदासा ॥

चातकस्य समीपेऽपि स्वमृतं विद्यते यदि ।
मेघाद्दर्थयते तोयं तथा सर्वेऽविचारिणः ॥१७॥
समीपस्थं च गम्भीरमात्मानन्दमहोदधिम् * ।
उत्सृज्यैव तु देवेभ्यो याचन्ते विषयादिकम् ॥१८॥

* यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति । यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम् ॥ छा. ७।२३।२४॥

बहुवेषान् विधायापि धृत्वा देहमनुत्तमम्।
विचारेण विना चैते ह्याशां कुर्वन्ति जागतीम् ॥१९॥
चातकस्य समीपे चेज्जलपूर्णं सरोवरम्।
विद्यते वृष्ट्यभावेन सोदासीनो विकम्पते ॥२०॥
तथा पूर्णे निजानन्दे विषयाऽलाभतो जनाः।
खिन्ना धावन्ति संसारे मन्यन्ते न निजं सुखम् ॥२१॥

चातक के आसपास ( समीप ) में जल रहते भी, जैसे मे जल चाहता है, तैसे आनन्दघन राम के हृदय में रहते भी विचा रहित मनुष्य, उस आनन्द की प्राप्ति के लिये बहुविध स्वांग ( धरके संसार की ही आशा करता है। देवादि से आनन्द चाहता चातक के पास में जल भरे रहने पर भी यदि मेघ नहीं बरसता वह उदासीन होकर फिरता है। तैसे आनन्दघन के पास रहते विषयादि विना अविवेकी मारा २ फिरता है ॥

रामनाम इहै निज सारू। औरो झूठ सकल संसार
हरि उतंग तुम जाति पतंगा। यमघर कियेहु जीव को सं

निजानन्दस्वरूपोऽयं रामः सारो जगत्त्रये।
अन्यः सर्वोऽपि संसारो मिथ्यैवेति विनिश्चयः ॥२२॥
"यदिदं * मनसा वाचा चक्षुर्भ्यां श्रवणादिभिः।
नश्वरं गृह्यमाणं तद्विद्धि मायामनोमयम्" ॥२३॥
निजात्मा च हरिः साक्षात्सर्वेभ्य उत्तमो महान्।
अविनाशी च तं त्यक्त्वा जातोऽसि त्वं पतङ्गवत्§ ॥२४

* भा. स्क. ११।७।७॥

§ योषिद्धिरण्याऽऽभरणाम्बरादिद्रव्येषु मायारचितेषु मूढः। प्रलं तात्मा ह्युपभोगबुद्ध्या पतङ्गवन्नश्यति नष्टदृष्टिः ॥ भा. स्क. ११।८।८॥

पतङ्गेन समो भूत्वा स्वयमेव यमालये ।
संसारे स्वात्मनः सङ्गं सदा त्वं कृतवानसि ॥२५॥
माया हरणशीला वा सेयमग्निशिखासमा ।
वर्तते तत्र मोहेन स्वात्मानं हुतवानसि ॥२६॥

राम जिसका कल्पित नाम है, इहै ( सोई ) प्रत्यक्ष निज ( अपना ) सारस्वरूप है। उससे औरो ( भिन्न ) सब संसार झूठ ( माया मात्र ) है॥ निजात्मारूप हरि अत्यन्त उतंग ( उन्नत–महान् ) है। उसके ज्ञान विना तुम पतंग जाति ( तुच्छ ) हुए हौ। या हरि ( चित्त को हरनेवाली माया ) उन्नत अग्निशिखा तुल्य है, तुम उसमें पतंग जाति के समान पड़ते हौ, इसीसे यम के घर में अपने जीवात्मा का संग किये हौ॥

किञ्चित है स्वप्ने निधि पाई । हिय न माय कहँ धरहु छिपाई ।
हिय न समाय छोड़ु नहिं पारा । झूठ लोभ तें कछु न विचारा ॥

अल्पमर्थादिकं सर्वं प्राप्तं स्वप्ननिधि यथा ।
हृदये नैव मात्येनत् कुत्राच्छाद्य धरिष्यसि ॥२७॥
हृदि धार्य्यं हि मोहेन मन्यसे तत्स्वभावतः ।
हृदये नैव मात्येवं नाशेन तव दुःखकृत् ॥२८॥
हृदये नैव संमाति त्वया त्यक्तुं न शक्यते ।
अनुगामितया तस्य मिथ्यालोभान्न मुच्यसे ॥२९॥
लोभग्रस्तो न कश्चित्त्वं सद्विचारं करोषि चेत् ।
मायाग्नेः कालपाशाच्च कथं मुक्तो भविष्यसि ॥३०॥

स्वप्न की निधि के समान किञ्चित् निधि यदि तुमने पाई है, तो उसीको तुम अमूल्य सर्वश्रेष्ठ जानकर छिपाकर धरते हौ। तेरे हृदय में

वह समाती नहीं है, अन्यत्र कहा छिपाकर धरोगे कि जहाँ कोई नह देखे, न ले सके ॥ तुम उसे हृदय में धरने योग्य मानते हो, परन्तु व हृदय में समाती नहीं है, न तुम उसके पारा (पीछा) छोड़ते हो, औ उस झूठी वस्तु का लोभ के मारे कुछ विचार भी तुमने नहीं किया ॥

सुमृति कीन्ह आपुहिं नहिं माना । तरुवर तर छागर है जाना ।
जिव दुर्मति डोलै संसारा । ते नहिं सूझै वार न पारा ।

अन्यांश्च स्मृतवांस्त्वं हि स्वात्मानं मन्यसेस्म न ।
लोभेन त्वाशया बद्धः कथं दुःखाद्विमोक्ष्यसे ॥३१॥
संसारवनवृक्षाधश्छागो भूत्वा गमिष्यसि ।
मृत्युस्ते वर्तते पार्श्वे तं न जातु प्रपश्यसि ॥३२॥
न्यस्तं मूर्ध्नि मुदा छागो वलिभूतोऽक्षतं यथा ।
अत्त्येवं विषयान् मर्त्यो मृत्युं तद्वन्न पश्यति ॥३३॥
दुर्मत्या सकलो जीवो विषयाभोगलालसः ।
भवाटव्यां भ्रमत्यातो ह्यस्य पारं न पश्यति ॥३४॥
आशां कुबुद्धिं मनुजो विहाय यो,
रामं भजेत्तं हृदि यो विराजते ।
नासौ पुनर्भ्राम्यति मोदते सदा,
लब्ध्वाऽत्र रामं विमलं परात्परम् ॥३५॥

अनात्म पदार्थों का स्मरण (ध्यान) तुमने किया । और अप आत्माराम को नहीं माना ( उसके विचारादि नहीं किया ) इससे संस वन के वृक्ष तले छागर होकर जाना होगा (जैसे अक्षत के चावला खाता हुआ बकरा नष्ट होता है, तैसे विषय भोगते हुए नष्ट होगे)

व दुर्बुद्धि जीव। इसी प्रकार संसार में डोलता है, और इसी भोगा-क्ति के मारे संसारसिन्धु को वारपार नहीं सूझता है ॥

साखी।

अन्ध भया सब डोलये, कोइ न करै विचार ॥
कहा हमार माने नहिं, किमि छूटै भ्रमजार ॥६५॥

विवेकान्धो नरो भूत्वा सर्वो भ्रमति सर्वदा ।
न करोति विचारं च कोपि सत्यात्मनः खलु ॥३६॥
सद्गुरोरुपदेशं यो मन्यते नैव चान्ततः ।
भ्रमजालं कथं मुञ्चेत्कथं वाऽयं सुखी भवेत् ॥३७॥
आत्मैवास्त्यात्मनो वन्धुः सद्विचारादिसंयुतः ।
विचारादि विना स्वस्य स्वयं शत्रुर्न संशयः ॥३८॥
स्वविचाराद्गुरोऽर्वाक्याज्ज्ञात्वात्मानं निरञ्जनम् ।
भ्रमाद्विमुच्यते जीवः सर्वस्माच्चात्र वन्धनात् ॥३९॥
अभ्यासेन विरागेण युतात्स्वमनसो गुरोः ।
दान्तो यत्नेह लभ्येत तन्न लभ्यं हि कुत्रचित् ॥४०॥६५॥

इति हनुमद्दासविरचिते रमयणीरसोद्रेके दुर्बोधफलादिकायाकाञ्चनाद्या-त्त्वर्णनं नाम त्रिंशत्तमः प्रवाहः ॥३०॥

आशादि के मारे अविवेकान्ध होकर सब भटक रहे हैं, और [ग]ादि के लिये कोई विचार नहीं करता है, न हमार (सद्गुरु का) [न]ा मानता है, तो भ्रमजाल कैसे छूटे ॥६५॥

इति दुर्बोधफलादिकायाकंचन आसक्ति प्रकरण ॥३०॥

## रमयणी ६६, सद्गुरु और श्रेष्ठ शिष्य प्र. ३१.

सोइ हित बन्धु मोहि मन भावै । जात कुमारग मारग लावै ॥
सो सयान मारग रहि॰ जाई । करै खोज कबहू न भुलाई ॥

हितः सैव च बन्धुश्च भाति मे हृदये सदा ।
कुमार्गे गच्छतो यो वै मार्गे प्रापयति ध्रुवे ॥१॥
"गुरुर्माता पिता वाऽपि गुरुर्देव उदाहृतः ।
गुरुर्बन्धुः सखा तद्वच्च गुरोरपरः सुहृत् ॥२॥
अज्ञानां चैव यो ज्ञानं दद्याद्धर्मोपदेशतः ।
कृत्स्नां वा पृथिवीं दद्यात्तेन तुल्यं न तत्फलम्"॥३॥
स एव चतुरः शिष्यः सन्मार्गे यः स्थिरो भवेत् ।
गुरुभिः कथिते सम्यक् सत्सङ्गाद्यैर्विमार्गयन् ॥४॥
अन्वेषते हि सन्मार्गं सत्तत्त्वं यो निरंतरम् ।
न विस्मरति तल्लब्ध्वा स मार्गान्तं निगच्छति ॥५॥

सोई परोपकारी सद्गुरुरूप हित और बन्धु मेरे मन में भाते (प्रतीत होते ) हैं कि, जो कुमार्ग में जाते हुए को सुमार्ग में ले आते हैं ॥ और वही पुरुष सयान ( चतुर ) शिष्य है कि, जो सद्गुरु सत्शास्त्र से जाना हुआ मार्ग में रहता है, और सत्संग, विचारादि से जो सदा उसी मार्ग की खोज करता है और प्राप्त होने पर उसे कभी भूलता नहीं है ॥

झूंठा सुत है ताको तजई । गुरु की दया राम ते भजई ॥

साधूनां यो हिते मार्गे मनोयोगेन गच्छति ।
[illegible] ॥६॥

ईश्वराद् याचते यस्तु सद्गुरूणां कृपां न तु।
अन्यत् किमपि लोकेऽस्मिन् स प्राज्ञो बुधसंमतः ॥७॥
"अमान्यमत्सरो + दक्षो निर्ममो दृढसौहृदः।
असत्त्वरोऽर्थजिज्ञासुरनसूयुरमोघवाक्" ॥८॥
एवं प्रायोगुणः शिष्यः सत्वरं भवसागरम्।
तरत्येव न संदेहस्त्रिरेतद्धि ब्रवीमि ते ॥९॥
अथवाऽन्विष्य सन्मार्गमनृतं तु सुतादिकम्।
जहाति भजते रामाच्छ्रेष्ठां यो वै गुरोर्दयाम् ॥१०॥
यद्वा यो रमणे हेतो रामान्मायादिलक्षणात्।
प्रापसर्पति सद्युक्त्या स ज्ञानी कुशलो भवेत् ॥११॥

और जो झूठा (मिथ्या) पुत्रादि संसार है, उसके संग–आसक्ति को त्यागता है। तथा सद्गुरु की दया को ही सर्वात्मा राम (ईश्वर) से भी भजता (चाहता) है, अन्य वस्तु नहीं चाहता, सो सयान है। इत्यादि ॥

किंचित् है एक ते भुलाना। धन सुत देखि भया अभिमाना ॥

तुच्छा ये मानवास्ते तु तुच्छया माययैकया।
भ्रान्ता धनं सुतं दृष्ट्वाऽभिमानं तेषु जायते ॥१२॥
अवाच्यः स्वप्रकाशो वा चेतनो विस्मृतो हि यैः।
तेषां धनं सुतं दृष्ट्वा ह्यभिमानजनिर्भवेत् ॥१३॥
"अपुत्रस्य§ न लोकोऽस्तीत्यादि कामुककीर्तनम्।
मातरं वा स्वसारं वा ते यान्तीति यतोऽवदत्" ॥१४॥

---

+भा. स्क. ११।१०।७॥

§आत्मपु. १०।२२६॥ नापुत्रस्य लोकोऽस्तीति तत्सर्वे पशवो विदुः। तस्मात्पुत्रो मातरं स्वसारं चाऽधिरोहति। एतरेयब्रा. ४।१॥

विषया विषवैषम्यास्तत्र सक्तो न बुध्यते ।
इत्यादि वचनं तैस्तु न कदाचन मन्यते ॥१५॥
संसारकान्तारविरक्तबुद्धेरुद्विग्नचित्तस्य मृषात्मभावात् ।
गर्वस्य लेशोपि भवेन्न जातु सतां सदोपासनतत्परस्य ॥१६॥

गुरु की दया आत्मलाभ की अपेक्षा अन्य सब वस्तु किञ्चित् (तुच्छ) हैं। और ते (उन्हीं) एक मायामय वस्तुओं से जीव सब भूले हैं। धनपुत्रादि देख कर इन्हें अभिमान हुआ है। अथवा जो किञ्चित् (तुच्छ) लोग हैं, वेही एक माया में भूले (आसक्त) हैं। या एक आत्मदेव को भूले हैं इत्यादि ॥

साखी ।

दिया खता न प्यान किया, मन्दर भया उजार ।
मरें गरें ते मर गये, बाँचें बाचनिहार ॥६६॥

न तै र्दत्तं न वा भुक्तं यथायोग्यं कुबुद्धिभिः ।
तावत्तेषां शरीराणि व्यनशन्नभिमानिनाम् ॥१७॥
ते च मृत्वा गतास्त्यक्त्वा सर्वमेव धनादिकम् ।
अतस्तज्जीवतां सर्वं परिशिष्टं धनं ह्यभूत् ॥१८॥
वारुणीपानमत्तैर्हि क्वचित्किञ्चित्प्रबुध्यते ।
ऐश्वर्यमदमत्तास्तु नाबुध्यंस्तत्त्वमण्वपि ॥१९॥
दानं यथाशक्ति मनः सुसंयतं वृत्तं यदीयं परशांतिकारकम्
व्यपेतभीरामयदोषवर्जितस्तस्यैव मानुष्यमहोऽत्र शोभते॥२०-६६।

इति हनुमद्दासविरचिते रमयणीरसोद्रेके सद्गुरुसच्छिष्यवर्णनं नामैकत्रिंशत्तमः प्रवाहः ॥३१॥

आत्मपरिचय विचारादि रहित मनुष्य न किसी सत्पात्र के प्रति धन का दान किया, न यथायोग्य खाया खिलाया। और इस देह से पयान ( यात्रा ) कर दिया। फिर मन्दर ( देह ) उजाड़ ( शून्य ) हो गया। जो मरे सो मरकर अकेला ही गये और बचे हुए धनादि बचनेवालों ( जीवित ) पुरुषों के हो गये ॥६६॥

इति सद्गुरु और श्रेष्ठ शिष्य प्रकरण ॥३१॥

## रमयणी ६७, भक्ति और भक्ति विना दुःख प्र. ३२.

देह हलाये भक्ति न होई। स्वांग धरे नर बहुविधि जोई ॥
धींगाधींगी भलो न माना। जो काहु मोहि हृदय न जाना ॥
मुख कछु और हृदय कछु आना। स्वपनेहु काहु मोहि नहिं जाना ॥
ते दुख पावै यहि ससारा। जो चेतै तो होय उवारा ॥
जो नर गुरु की निन्दा करई। शूकर श्वान जन्म सो धरई ॥

देहपञ्जरकार्श्येन भक्तिर्जातु न सिद्ध्यति।
यदि कश्चिदनेकान् वा वेषान् धत्ते ततो नहि ॥१॥
नग्नत्वं न शुभं कश्चितमन्यते वै विवेकवान्।
यतो यावन्न मां कश्चिद्गुरुमात्मानमेव वा ॥२॥
हृदयेनावगच्छेद्धि तावद्भक्ति न विश्वता।
कुतो मुक्ति कुतः सौख्यं संसारस्तावदायतः ॥३॥
यावद् भवेन्मुखे ह्यन्यो हृदि त्वन्यो विराजते।
तावत्कश्चिन्न मामत्र स्वप्नेऽपि परिपश्यति ॥४॥
मत्स्वरूपस्य चाज्ञानात् स संसारे सदा नरः।
दुःखमाप्नोति सर्वत्र चेज्जानाति विमुच्यते ॥५॥

यः करोति गुरोर्निन्दां स वै भवति शूकरः ।
प्रेत्य श्वा वा भवत्येव निन्दको नाऽत्र संशयः ॥६॥

देह के हलाये ( कृश करने ) से भक्ति नहीं होती । यदि कोई बहुत प्रकार के स्वाग धरे तो उससे भी भक्ति नहीं होती ॥ धींगाधींगी (नगा) रहना भी भला नहीं माना गया है कि जबतक मोहि (सद्गुरु) को हृदय से नहीं पहचाना जाय ॥ जिसके मुख मे अन्य और हृदय में कुछ अन्य रहता है, सो कोई झूठा कपटी पुरुष मुझे स्वप्न मे भी नहीं जान सकता ॥ वही इस ससार मे दुःख पाता है । यदि वह भी चेते, कपटादि त्यागे तो उबार हो सकता है ॥ जो पुरुष चेते विना सद्गुरु की निन्दा करता है, सो शूकर स्वान के जन्म पाता है ॥

साखी-हरिपद ।

लछ चौरासी जीव योनि महँ, भटकि भटकि दुख पाव ।
कहहिं कबिर जो रामहिं जानै, सो मोहि नीके भाव ॥६७॥

वेदाष्टलक्षयोनौ × हि भ्रान्त्वा भ्रान्त्वा स पामरः ।
निन्दया * दुःखमाप्नोति परिवादात्तथैव च ॥७॥
यस्तु तं सद्गुरुं सत्यं राममेव + प्रपद्यति ।
सर्वश्रेष्ठः स मे भाति शिष्यो ज्ञानाधिकारवान् ॥८॥

× एकविंशतिलक्षाणि ह्यण्डजाः परिकीर्तिताः । स्वेदजाश्च तथा प्रोक्ता उद्भिज्जाश्च क्रमेण तु ॥ गरुडपु. प्रे. १२।३॥

* परिवादात्खरो भवति श्वा वै भवति निन्दकः । परिभोक्ता कृमिर्भवति कीटो भवति मत्सरी ॥ मनु. २।२०२॥

+ अन्यदुःखेन यो दुःखी योऽन्यहर्षेण हर्षितः । स एव जगता-

इत्येवं सद्गुरुः प्राह, कबीरो जगतां हितम्।
सेव्यतां स गुरुर्नित्यो रामरूपो निरञ्जनः ॥९॥
धर्मेऽनुरागो गुरुपादसेवनं दानं विचारः समताऽऽत्मचिन्तनम्।
वैराग्यमच्छं भयशोकवर्जनं सङ्गः सतां यस्य स भक्तसत्तमः ॥१०॥

गुरु निन्दक अचेत जीव चौरासी लाख योनियों मे भटक २ कर दुःख पाते हैं। साहब का कहना है कि जो गुरु को राम ही जानता है, वही मुझे सत्पात्र विवेकी भासता है इत्यादि ॥६७॥

## रमयणी ६८.

ताहि वियोगे भयो अनाथा। परेउ कुञ्जवन पाव न पंथा॥
वेद नकल है जो कोइ जानै। जो समझै तो भलो जु मानै॥

तत्सद्गुरोर्वियोगेन प्राप्त्यभावेन वस्तुनः।
अनाथोसि सदा दुःखी सकुञ्जवनसन्निभे ॥११॥
दुःखपूर्णे हि संसारे शोकमोहादिसंकुले।
अविद्यादिलतायुक्ते लोकादितरुसंयुते ॥१२॥
तस्मान्निष्क्रमणार्थस्य मार्गो न लभ्यते त्वया।
उपदेशं विना तेन ह्यत्रैव भ्रमते भवान् ॥१३॥
घनस्यास्यैव वेदोऽपि प्रतिमा विद्यते खलु।
आनन्त्येन च गांभीर्याद्बहुशाखाप्रभेदतः ॥१४॥
कामाधिकारिभेदाच्च देशकालादिभेदतः।
तं यो वेत्ति विवेकेन शुभमेव स मन्यते ॥१५॥
गुरुं विना न तच्छक्यं वेदस्याऽपि विवेचनम्।
अतः सर्वप्रयत्नेनाऽऽश्रयितव्यः सदा गुरुः ॥१६॥

मौनी नररूपधरो हरिः॥ नारदीयपु. पू. अ. ७।६९॥

तिस सद्गुरु का वियोग ( अप्राप्ति ) से यह जीव अनाथ हुआ है । और कुञ्जवन संसार में फसा है, इससे बाहर जाने का मार्ग नहीं पा रहा है ॥ वेद भी संसारवन का नक्स है ( अनन्त विस्तार शुभा शुभ फसाव युक्त है ) यदि इसे विवेकपूर्वक सद्गुरु से समझे, तब ही जिज्ञासु भली बात को ही माने और अन्य को त्यागे, अन्यथा यह बात नहीं हो सकती ॥

नटवत बन्द खेल जो जानै । तेहि का गुण जो ठाकुर मानै ॥
ऊहै खेले सब घट माँहीं । दूसर को लेखै कछु नाहीं ॥
भलो पोंच जो अवसर आवै । कैसहु के जन पूरा पावै ॥

योऽविनाशी जगद्बन्धं केलितुल्यं प्रपश्यति ।
नटवद् वर्तमानः सन् क्रीडतीव च तेन यः ॥१७॥
तस्यैव च गुणो विश्व ईश्वरः कथ्यते च यः ।
नान्यस्तेन समस्तस्मादधिको वाऽत्र विद्यते ॥१८॥
स एव सर्वदेहेषु स्थावरेषु चरेषु च ।
खेलायति सदा देवो नान्यत्पश्यति किञ्चन ॥१९॥
शुभाऽशुभौ हि कालौ द्वौ प्राप्नुतश्चावशं क्रमात् ।
जनः कश्चित्कृतार्थश्चित्तं ज्ञात्वैवामृतमश्नुते ॥२०॥
कृपया च गुरो वेत्ति तं देवमञ्जसा नरः ।
नान्यथा जन्मजन्मान्ते बहुयत्नं विधाय तु ॥२१॥
" उद्यन्तु शतमादित्या उद्यन्तु शतमिन्दवः ।
न विना विदुषां वाक्यै नश्यत्याभ्यन्तरं तमः" ॥२२॥

जो अविनाशी चेतन नट के समान संसारबन्धन को जानता है, *उसीके आश्रित रहनेवाली गुणमय मायारूप यह संसार है । जो ठाकुर*

(ईश्वर) माना जाता है, सोई वह चेतन है ॥ वही चेतन सब घटों (देहों) में खेल रहा है। और दूसरे को कुछ (सत्य) नहीं देख रहा है॥ जीवों को भलेबुरे दोनों अवसर प्राप्त होते हैं, गुरुकृपा से उस सर्वात्मा को किसी २ प्रकार जानकर सज्जन लोग पूर्णपद ( मोक्ष ) पाते हैं॥

साखी।

जाही कहँ सर लागये, सोई जानै पीर।
लागै तो भागै नहीं, सुख सिन्धु निहारु कबीर ॥६८॥

गुरो र्वचःशरो यस्य हृदये लगति ध्रुवम्।
स तं गुरुं विजानाति जगद्दुःखं च पश्यति ॥२३॥
यस्य विशति तद्वाक्यं हृदये स पुन र्नहि।
संसारे धावते दृष्ट्वा सुखसिन्धुं निरन्तरम् ॥२४॥
वाणवद् विषया यद्वा यद्धृदि संलगन्ति वै।
गुरुं तेऽत्र प्रपश्यंति यांति क्वापि च न द्रुतम् ॥२५॥
किन्तु तच्छरणे स्थित्वा कृत्वा भक्तिमनुत्तमाम्।
सुखसिन्धुं प्रपश्यंति स्वात्मानं च हरिं गुरुम् ॥२६॥
यो हृदयेऽतिविकस्वरकोमलकान्तसुखैकरसं विमलं,
चेतनसद्म परं परितः परिकल्पनहीनमजं त्वभयम्।
भाववता मनसा सरसं परिदृश्य तदाशु भवाब्धितटं,
संभजते स न याति कदाचिदसौख्यपदे भवसिन्धुजले॥२७-६८॥

इति हनुमद्दासविरचिते रमयणीरसोद्रेके भक्त्यादिकं विनाऽनर्थप्राप्त्यादिवर्णनं नाम द्वात्रिंशत्तमः प्रवाहः ॥३२॥

जिसके हृदय में सद्गुरु वाक्य रूप बाण पैठते हैं, या विषयादि बाण तुल्य दुःखद मालूम होते हैं। सोई पुरुष संसार को पीड़ा (दुःख)

रूप समझता है, और इस बाण के लगने पर फिर वह संसार में नहीं भटकता; किन्तु सुखसिन्धु आत्मा को ही देखता है ॥६८॥

इति भक्ति विना अनर्थ प्राप्ति प्रकरण ॥३२॥

## रमयणी ६९, कुयोगी प्रपञ्च प्र. ३३.

ऐसा योग न देखा भाई । भूला फिरे लिये गफलाई ॥
महादेव को पन्थ चलावै । ऐसो बड़ो महन्त कहावै ॥
हाट बजारे लावै तारी । कचा सिद्धहि माया प्यारी ॥

इत्थंभूतो न योगोऽस्ति दृष्टो वै लोकवेदयोः* ।
यादृशो दृश्यते लोके योगिमन्येषु सम्प्रति ॥१॥
मौढ्यं धृत्वा भ्रमन्त्येते कुयोगेनाल्पयोगिनः ।
विरागाभ्यासयोस्तत्त्वं न पश्यन्त्यल्पबुद्धयः ॥२॥
विरक्तस्य महेशस्य मार्गं संवर्तयन्ति ये ।
ते महाधनिनो भूत्वा महान्त इति विश्रुताः ॥३॥
महाहट्टे नगर्यां वा समाधिं ते च कुर्वते ।
लोकानुरञ्जनार्थाय विमुक्त्यै न कदाचन ॥४॥
अहो ह्यपक्वसिद्धीनां मायैवा भवति प्रिया ।
स्वयं प्रियतमश्चात्मा प्रियो नेति विपर्ययः ॥५॥

हे भाई ! ऐसा योग लोकवेदादि में नहीं देखा गया है, कि जिस योग के मारे गफलाई ( मूढता ) लेकर संसार में भटका करे ॥ बहुत लोग महाविरक्त महादेवजी का योगमत चलाते हैं, और धनादि की

* तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् । कठ. २।६।११॥
योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः । योगसूत्रम् ।

प्राप्ति करके ऐसे लोग भी बड़ा भारी महन्त कहाते हैं ॥ कोई हाट बजार में तारी ( समाधि ) लगाते हैं । करामात देखाते हैं । उन कच्चे सिद्धों को मायाही प्यारी लगती है, उसीके लिये सब उपाय करते हैं ॥

कब देवदत्त गवासी तोरी । कब शुकदेव तोपकी जोरी ॥
नारद कब बन्दूक चलाया । व्यासदेव कब बम्ब बजाया ॥
करहिं लड़ाई मति के मन्दा । ई अतीत की तरकस बन्दा ॥

विपर्ययहताश्चैते × युद्धाद्यर्थं सुसंयताः ।
भवन्ति नावलोकन्ते महतां चरितान्यपि ॥६॥
देवदत्ताभिधः सिद्धः कदा कस्य गृहादिकम् ।
अतोडच्छुकदेवो वा शतघ्नीं कर्हियोजयत् ॥७॥
नारदश्च कदा यन्त्रं गुलिकाक्षेपकं किल ।
प्रैरयच्च कदा व्यासः पटहं युद्धकाङ्क्षया ॥८॥
कुर्वन्ति मतिमन्दा ये महादुर्विग्रहं खलु ।
तेऽतीताः किमु योद्धारः सन्ति तूर्णीरधारिणः ॥९॥

कच्चे सिद्ध लोग युद्ध के लिये भी तैयार हो जाते हैं, परन्तु यह नहीं विचारते कि देवदत्त नामक सिद्ध ने कब किसके गवासी ( गृह-खजाना आदि ) तोड़ा । शुकदेवजी ने कब तोपकी ( तोप या तोपची-तोप चलानेवाला सिपाही ) जोड़ा ( संग्रह किया ) ॥ नारदजी कब बन्दूक चलाये, व्यासदेव ने कब बम्ब २ करके बाजा बजाया ॥ इन महात्माओं के चरित्र को नहीं याद रखनेवाले मतिमन्द लोग ही लड़ाई

× द्वाविमौ न विराजेते विपरीतेन कर्मणा । निरारम्भो गृहस्थश्च कार्यवांश्च भिक्षुक ॥ नारदपरि ६।३०॥

करते हैं, और लड़ाकू लोग अतीत ( विरक्त संन्यासी ) हैं कि तरकस के बन्दा ( बांधनेवाला ) सिपाही हैं अर्थात् ये अतीत नहीं हैं ॥

भये विरक्त लोभ मन ठाना । सोना पहिरि लजावैं बाना ॥
घोड़ा घोड़ी कीन्ह बटोरा । गाम पाये जस चले करोरा ॥

अभवन् कुविरक्तास्ते चित्ते लोभस्य§ धारणात् ।
काञ्चनीं मालिकां धृत्वा वेषांश्च ह्रेपयंति ते ॥१०॥
वेषैं भूत्वा विरक्तास्ते लोभं कुर्वन्ति कामुकाः ।
निन्द्यन्ते लोकतश्चात्र व्रजन्ति नरके × ततः ॥११॥
अश्वांश्च वाडवाश्चैव सम्पाद्यैते कुयोगिनः ।
ग्रामान् कतिपयाँल्लब्ध्वा यांति कोटिपति र्यथा ॥१२॥

ये लोग वेष मात्र से विरक्त हुए, और मन से लोभ करना आरंभ किया । ये लोग सोना चांदी पहिर कर बाना–वेष को भी लजित करते हैं ॥ कुछ घोड़ाघोड़ी आदि का बटोर (संग्रह) किया । फिर एक आध ग्राम को पाकर कोटिपति के समान राजसी ठाट से चलते हैं । ये योगी संन्यासी लोकवेद से विलक्षण ही हैं ।

---

§ यदा मनसि वैराग्यं जातं सर्वेषु वस्तुषु । तदैव संन्यसेद्विद्वानन्यथा पतितो भवेत् ॥ द्रव्यार्थमन्नवस्त्रार्थं यः प्रतिष्ठार्थमेव वा । सन्यसेदुभयभ्रष्टः स मुक्तिं नाप्नुमर्हति ॥ कर्मत्यागान्न संन्यासो न प्रेषोच्चारणेन तु । संधौ जीवात्मनोरैक्यं संन्यासः परिकीर्तितः ॥ मैत्रेय्युप. अ. २।१९-२० १७॥

× आरूढो नैष्ठिकं कर्म यस्तु प्रच्यवते पुनः । प्रायश्चित्तं न पश्यामि येन शुद्ध्येत् स आत्महा ॥ अत्रिस्मृ. ॥

साखी ।

सुन्दरि नाहिं शोभई, सनकादिक के साथ ।
कबहुक दाग लगावई, कारी हाँड़ी हाथ ॥६९॥

शोभते कापि वामा नो परिव्राणनैष्ठिकैः सह ।
सा कदाचन दोषान् हि जनयिष्यति निश्चितम् ॥१३॥
सा हि हस्तधृता काली स्थालीवद्दोषकारिणी ।
हारिणी चित्तलौहस्य चुम्बको ह्ययसो यथा ॥१४॥
तस्यास्तमोमयो भावः सङ्गात्संजायते तथा ।
उद्रेकाद्रजसश्चैव सत्त्वं कापि विलीयते ॥१५॥
अतो मुमुक्षुभि र्हेया कुयोगानां कुरीतयः ।
वामां कामं परित्यज्य ध्येय आत्मा हितः सदा ॥१६॥
" माद्यति × प्रमदां दृष्ट्वा सुरां पीत्वा तु माद्यति ।
तस्माद् दृष्टमदां नारीं दूरतः परिवर्जयेत् ॥१७॥
द्रव्यस्त्रीमांससम्पर्कान्मधुमाक्षिकलेहनात् ।
विचारस्य परित्यागाद्यतिः पतनमृच्छति" ॥१८॥

सनकादिक ( त्यागाश्रमवालों ) के साथ में सुन्दरी ( स्त्री ) नहीं शोभती है। और यह कभी न कभी दाग ( दोष ) लगाती है। जैसे हाथ में रहनेवाली काली हाड़ी दाग लगाती है ॥६९॥

## रमयणी ७०.

बोलना कासो बोलिय भाई । बोलतहिं सब तत्त्व नशाई ॥
बोलत बोलत बाढु विकारा । सो बोलिय जो परै विचारा ॥
मिलहीं सन्त वचन दुइ कहिये । मिलहिं असन्त मौन ह्वै रहिये ॥

× नारदपरिव्राजको. ६।३१॥

अवश्यमपि वक्तव्या वार्ता कैः क्रियतामिति ।
आलोच्यैव हि वक्तव्या तत्त्वं नश्यति चान्यथा ॥१९॥
" पूर्वापरसमाधानक्षमबुद्धावनिन्दिते × ।
पृष्टं प्राज्ञेन वक्तव्यं नाधमे पशुधर्मिणि " ॥२०॥
हीने वाच्यमानं हि सर्वं तत्त्वं विनश्यति ।
विकाराः कामकोपाद्या वर्द्धन्ते चातिवेगतः ॥२१॥
अतो विचार्य वक्तव्यं हितं सत्यं सुनिश्चितम् ।
विवादो नैव कर्तव्यो गर्वो द्वेषश्च कैरपि ॥२२॥
सन्तो मिलन्ति चेत्केचित् कथ्यतां वचनद्वयम् ।
असतां मिलने सम्यङ् मौनमेव विधीयताम् ॥२३॥
धीमन्तो धृतिमन्तश्च भूतानामनुकम्पकाः ।
अकामद्वेषसंयुक्ताः सन्तः सत्यव्रताः सदा ॥२४॥

हे भाई ! अवश्य बोलने योग्य बात भी, किससे बोलना चाहिये ऐसा विचार करके ही बोलो । केवल वेषादिक देखकर बिना विचा बोलने से, बोलते ही सब तत्व नष्ट होता है ( कहना व्यर्थ होता है शान्तिभग होता है) ॥क्योंकि विचार बिना बोलते २ कामक्रोधादि विक बढ़ते हैं । इसलिये सोई बात बोलना चाहिये, जो विचार म बोल योग्य परै ( जँचै ) ॥ यदि कोई सन्त मिलैं तो उनसे दो वचन क और असन्त मिलैं तो मौन हो रहो । सन्त थोड़े ही में समझ लेंगे, यो काम करेंगे । असन्त थोड़े में भी बहुत बखेड़ा फैलायगे । इसलि यथायोग्य करो ॥

पण्डित सो बोलिय हितकारी । मूरख सो रहिये झँक मारी
कहहिं कबीर अर्ध घट डोलै । पूरा है विचार लै बोलै

× म्रो. भा २।१।१४१॥

हितकारी भवेद्यश्च साधुसज्जनसम्मतः * ।
तस्मै हितकरं वाक्यं वक्तव्यमेव सर्वथा ॥२५॥
निषेवते × प्रशस्तानि निन्दितानि न यो नरः ।
अनास्तिकाय तस्मै सद्वक्तव्यं विदुषे सदा ॥२६॥
यदि मूर्खो मिलेत्कश्चिन्मनसो वल्गनं तदा ।
स्थातव्यं सन्निरुध्यैव वक्तव्यं नैव किञ्चन ॥२७॥
मूर्खोऽपूर्णघटैस्तुल्यो भाषते ह्यप्रियं चलम् ।
विज्ञस्तु पूर्णतां प्राप्य सुविचार्यैव भाषते ॥२८॥
" रूक्षं शब्दायते कुम्भो जलहीनोऽर्धजीवनः ।
नैव पूर्णो विशेषोऽयं विज्ञस्याविदुषस्तथा" ॥२९॥

हितकारी पण्डित (विद्वान् विवेकी) के प्रति हितकर वचन बोलना चाहिये। और मूर्ख से झँक (मनोवेग) को मार कर चुप रहना ही हित है। साहब का कहना है कि अर्धजल घट के समान मूर्ख चञ्चल रहता है, बहुभाषी होने के कारण सत्यप्रतिज्ञ नहीं होता। पूर्णघट समान विवेकी विचारपूर्वक सत्यही बोलता है ॥७०॥

## रमयणी ७१.

ोक बवावा सम करि माना । ताकि बात इन्द्रहु नहिं जाना ॥
टा तोरि पहिरावे सेली । योग युक्ति के गर्व दुहेली ॥
ासन उड़ये कौन बड़ाई । जैसे काग चील्ह मड़राई ॥

* न प्रहृष्यति सम्मानैर्नापमानैः प्रकुप्यति । न क्रुद्धः परुषं ...यादेतद्धि साधुलक्षणम् ॥ गरुडपु आचारख अ ११३।४२॥

× निषेवते प्रशस्तानि निन्दितानि न सेवते । अनास्तिक श्रद्दधान एतत्पण्डितलक्षणम् । म भा उद्योगप. अ ३३॥

हर्षशोकौ हि यो लोके समावित्येव भाषते ।
लोकानां वञ्चनार्थेव चित्ते कृत्वाऽन्यथा मतिम् ॥३०॥
तस्य गुप्तं रहस्यं नो वेत्तीन्द्रोपि हि देवराट् ।
मायावी तत्कृतोऽन्ये तज्जानीयुर्मानवा भुवि ॥३१॥
यद्वा येषां समौ ह्येतौ हर्षशोकौ विवेकिनाम् § ।
तेषां मर्म नहीन्द्रोपि ज्ञातुं शक्नोति सर्वथा ॥३२॥
छित्वाऽन्येषां जटां वेषी बालनिर्मितसेलिकाम् ।
जनैर्धारयते मोहात्स्ववेषे पक्षपाततः ॥३३॥
योगयुक्तेश्च गर्वं स करोति द्विगुणाधिकम् ।
नैव वेत्ति च तत्तत्त्वं महत्त्वं येन लभ्यते ॥३४॥
आकाशोड्डयनेनापि काकोलूकादिपक्षिवत् ।
किं महत्त्वं भवेत्सत्यं ह्यविद्यामयवस्तुना * ॥३५॥

जिन्होंने कहने के लिये शोक हर्ष को तुल्य माना है, उनका छल की बात को इन्द्र ने भी नहीं जाना । या जो ज्ञानी शोक हर्ष को तुल्य जाना उसका मर्म इन्द्र भी नहीं जाना । और वेषाभिमानी बालक ज्ञा॰ लोग, जटा (स्वभावसिद्ध बालविशेष) को तोड़वा (कटा) कर भेंडी बाल का बना हुआ सेली पहिराते हैं । तथा योगयुक्ति का द्विगु (उचित से ज्यादा) गर्व रखते हैं ॥ ज्ञानादि बिना जैसे काग चौं महराता है, तैसे आकाश में आसन उड़ाने से भी क्या बड़ हो सकती है ॥

§जरामरणमापच्च राज्यं दारिद्र्यमेव च । रम्यमित्येव यो भुंक्ते जीवन्मुक्त उच्यते ॥ महोप. २।२५॥

* अविद्यामपि ये युक्त्या साधयन्ति सुखात्मिकाम् । ते ह्यविद्या एव न त्वात्मशास्त्रशाक्रमाः ॥ यो वा. ५। ८९।१५॥

जैसि भित्ति तैसी है नारी। राज पाट सम गणै उजारी ॥
जस नरकहिं तस चन्दन जाना। जस बावर तस रहे सयाना ॥
लपसि लवंग गणै एक सारा। खाँड परिहरी फाकै छारा ॥

> भित्तिवद्धि शुभां नारीं सुराज्यं शून्यसन्निभम्।
> ज्ञानी पश्यति चित्ते स्वे वञ्चको भाषते परम् ॥३६॥
> राज्ञः स्थानादिभिस्तुल्यं शून्यं पश्यति विज्ञराट्।
> अविवेकी तथा वेषी भाषते मोहनाय तु ॥३७॥
> यथैव नरको घोरस्तथैव खलु चन्दनः।
> आसक्त्या दुःखदस्तुच्छ इति प्राज्ञोऽन्यथा शठः ॥३८॥
> ज्ञोऽपि सन्नज्ञवत्प्राज्ञः सङ्गत्यागाय वर्तते।
> अल्पज्ञश्चाविवेकेन मूढवद्वर्तते सदा ॥३९॥
> अविवेकादयं मूढस्तरलां च लवङ्गकम्।
> एकं संमन्यते सिद्धं सद्विवेकेन बोधवान् ॥४०॥
> खण्डं त्यक्त्वा सुखं मोहात्क्षारं भुंक्ते च दुःखदम्।
> हास्यफक्त्वैव जगद्दुःखं ब्रह्मानन्दे निमज्जति ॥४१॥

जैसी भित्ति (दीवाल) तैसी ही स्त्री भी भूतों के विकाररूप है। इस प्रकार विवेकी जानते हैं, और राज्यस्थानादि के तुल्य ही उजार (शून्य) को गिनते हैं। वेषधारी केवल कहते हैं॥ नरक के समान ही आसक्ति आदि द्वारा दुःखद चन्दन को भी जानकर, संगादि के त्याग वास्ते ज्ञानी होते भी अज्ञ समान विज्ञ लोग रहते हैं। वेषी केवल कहते हैं। अल्पज्ञ होने से मूढ से रहते हैं॥ विवेकी विवेक दृष्टि से लपसी लवँगादि सब संसार को एक गणते (समझते) हैं, और खंडादि स्वादु विषयों को त्यागकर छार (निःस्नेह) वस्तु को उदर पूर्ति के लिये

फाँकते हैं। अब तो अविवेक के मारे सबको एक समझता है। सुखरूप वस्तु को छोड़कर तुच्छ विषयों को भोगता है॥ 'लाड़ छाड़ि सुख पाके छारा' यह अन्तिम पाठान्तर है॥

साखी।

इहे विचार विचारते, गये बुद्धि बल चेत।
दुइ मिलि एकै व्हे रहा, काहि लगाऊं हेत ॥७१॥

एतेन कुविचारेण विषयाणां विचिन्तया।
बुद्धेर्बलं विवेकश्च द्वयं नष्टं कुयोगिनाम् ॥४२॥
शुभाऽशुभैर्मिलित्वैते त्वेकीभूय सदाऽऽसते।
केनात्राहं कथं स्वस्य प्रियतां बोधयाम्यहो ॥४३॥
कुजनैरिह नास्ति वरं गमनं नच मैत्रिविरोधकृपाकलनं,
सहभुक्तिरथासनसंघटनं परलोकविधेरपि संवलनम्।
बहुविघ्नविरोधयमादिभयं ह्यभिमानरुजादिजनिः सततं,
कुविचारिजनैः सह संगतितः परलोकगताविह वा भवति ॥४४॥

इति हनुमद्दासविरचिते रमयणीरसोद्रेके कुयोग्यादिसंगनिषेधवर्णन नाम त्रयस्त्रिंशत्तम प्रवाह. ॥३३॥

इस पूर्ववर्णित विचार के करते २ ( पूर्ण विज्ञ समान अपनी स्थिति के विना मिथ्या बात व्यवहार का विचार करते २ ) इन वेष धारियों की बुद्धि का बल और चेत ( होश ) नष्ट हो गया। इससे शुभाशुभ दोनों से मिलकर एकमेक हो रहे हैं। इस अवस्था में किससे हेत ( प्रेम ) लगाया ( किया ) जाय॥ और अब भी विज्ञ की बात करते हैं, वेष रखते हैं। इससे बहुत लोगों की दृष्टि में अज्ञविज्ञ दोनों

मिलकर एक हो रहे हैं। फिर उन लोगों को चिन्ता होती है कि मैं किससे हेत लगाऊं। इससे वेषधारियों के चरित्र महाभ्रमजनक हैं इत्यादि ॥७१॥

इति कुयोगी प्रपंच प्रकरण ॥३३॥

## रमयणी ७२, माया के गमनागमन प्र. ३४.

नारि एक संसारहिं आई। माय न वाके बापहिं जाई ॥
गोड़ न मूंड़ न प्राण अधारा। तामहँ भभरि रहा संसारा ॥
दिना सात लै वाकी सही। बुद अदबुद अचरज का कही ॥
वाके वन्दन करु सब कोई। बुद अदबुद अचरज बड़ होई ॥

मायारूपा हि नार्येका संसारेऽस्त्यागताऽसती।
इच्छाकार्यादिरूपेणाऽनिर्वाच्या सा विमोहिनी ॥१॥
न माता विद्यते तस्याः पितुरेव तु जायते।
सर्वेशितुर्न जाता वाऽनादिरेषा हि वर्तते ॥२॥
शिरःपादं न तत्रास्तिः प्राणाधारो स्त एव नो।
तस्यामेवागतायां च भ्रमन्ति सर्वजन्तवः ॥३॥
तस्याश्च सप्तघस्रेषु सत्यतां कथयन्ति चेत्।
बुधा अर्धबुधाश्चैवाऽऽश्चर्यं तत्कथमुच्यताम् ॥४॥
तस्या एव स्तुतिं सर्वे कुर्वन्ति च बुधाऽबुधाः।
कार्यकारणरूपाया आश्चर्यं तन्महत् खलु ॥५॥

मायारूप एक नारी ससारगृह बनाकर इसमें स्वयं भी आई है। अनादि होने से उसकी माता नहीं है, न पिता से जाई (उत्पन्न होती) .। या माता के न रहते भी चेतनदेव पिता से जन्मी है (प्रगट हुई

है ) ॥ उसके गोड़ ( पैर ), मूंड ( शिर ), प्राणवायु आधारादि कुछ नहीं है, तौभी सब संसारी उसीमें भ्रम रहा है ॥ रविवारादि सातों दिन लै ( तक ) उसीकी सही ( सत्यता ) प्रतीत होती है, तथा मन, बुद्धि, पञ्चतन्मात्रारूप प्रगट पदार्थ में भी उसीकी सही ( प्रतीति ) है। बुद ( बुध–पण्डितों ) को भी वह आश्चर्यरूप प्रतीत होती है, फिर उसकी आश्चर्यरूपता को क्या कहा जाय । या बुद ( कथनाई ) अदबुद ( अकथ ) उस आश्चर्यमय को क्या कहा जाय ॥ उसीकी वन्दना सब कोई करते हैं। पण्डितों के लिये भी आश्चर्यरूपवाली के विषय में विशेष क्या कहा जाय ॥

साखी।

मूस बिलाई एक संग, कहु कैसे रहि जाय।
सन्तो अचरज देखहू, हस्ती सिंहहीं खाय ॥७२॥

उन्दुरुश्चौतुना सार्द्धं कथं तिष्ठतु निर्भयम्।
मायतां वै तथा जीवो मार्या जीवेत् कथं सह ॥६॥
विवेके सत्ययं जीवो भजते सिंहरूपताम्।
हस्तिनीरूपिणीं मायां नाशयत्येव सत्वरम् ॥७॥
अहो तथापि सिंहं तं हस्तिनी नाशयत्यसौ।
नैव जानाति मन्दोऽयं बोधाय यतते नहि ॥८॥
" सर्वे जीवाः * सुखैर्दुःखै मायाजालेन वेष्टिताः।
तेषां मुक्त्यै च सन्मार्गं मायाजालनिकृन्तनम्" ॥९॥७२॥

अज्ञ जीवरूप मूस और मायारूप बिल्ली एक साथ कैसे रह सक हैं, सो कहो और समझो। अर्थात् सुखपूर्वक जीव नहीं रह सकते

* योगतत्त्वोपनिषद् ॥

और एक आश्चर्य देखो कि विवेकदृष्टि से सिंहरूप जीवात्मा को अविवेक दशा में हस्तिनीरूप माया खाय रही है, निर्भय नहीं होने देती है, स्वरूप को छिपा रखी है इत्यादि ॥७२॥

## रमयणी ७३.

चली जाति देखि एक नारी। तर गागरि ऊपर पनिहारी ॥
चली जाति वह बाटहिं बाटा। सोवनहार के ऊपर खाटा ॥
जाइन मरे सपेदी सवँरी। खसम न चिन्हे घरणि भौ बौरी ॥

एकां नारीं हि गच्छन्तीं प्रलयं ज्ञानिनो जनाः ।
पश्यन्ति सा घटं देहमन्तर्धायैव गच्छति ॥१०॥
अन्तर्धाय च कार्यं सा सूर्ध्वे ब्रह्मणि गच्छति ।
समुल्लङ्घ्य यथा काचिद् घटं यात्यम्बुहारिणी ॥११॥
सा गच्छति स्वमार्गेण येनैवाऽऽगता पुरा ।
क्रमो* विपर्ययेणास्याः सम्भवेद्गमने खलु ॥१२॥
शयाना ये च मोहेन निद्रया तन्द्रया तथा ।
तेषामुपरि देहाख्यां खट्वां दत्त्वैव गच्छति ॥१३॥
अनादित्वेपि सा देवी जडत्वेनैव नश्यति ।
शुद्धसात्विकभागोऽपि तस्यामस्ति स्वभावतः ॥१४॥
अहो तथापि निःसङ्गं पुरुषं नैव पश्यति ।
तत्सत्तया स्वभावाद्यैर्मत्तेवेदं करोति सा ॥१५॥

चेतनदेव के अचल होनेसे एक नारी को ही प्रलयादि काल में जाते हुए महात्माओं ने देखी है। जाते समय देहरूप गागर (घट)

* विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च । व्याससू. २।३।१४॥

तरे ( अपने अन्दर ) करके ऊपर ( ब्रह्म ) में वह पनिहारी जाती है ॥ वह जिस मार्ग से आई उसी मार्ग से जाती है, परन्तु क्रम उल्टा होता है, और मोहनिन्द से सोनेवालों के ऊपर देहादि की वासनारूप खाट लादकर जाती है ॥ अनादि होनेपर भी जड़ता के मारे यह मरती है, और शुद्ध सत्त्वगुण भी इसमें सुधारापूर्वक लगा है, तौभी असग पति के न जाननेसे बुद्धिरूप घरभी बौरी हुई है । या जिनके ऊपर खाट लादी गयी है, वे लोग शिर आदि में सपेदी होनेपर भी जडता से नष्ट होते हैं, और उनकी बुद्धि बावरी रहती है ॥

साँझ सकार दीप लै बारै । खसमहिं छाड़ि रहै लगवारै ॥
वाही के संग निशिदिन राची । पिय सो वात कहै नहिं साची ॥
सोवत छाड़ि चली पिय अपना । अव दहुं ई दुख कहव किहि सना ॥

संसाराख्यगृहस्था सा संध्ययोरुभयोरपि ।
चन्द्रसूर्यादिकं दीपं प्रज्वालयति योग्यकम् ॥१६॥
त्यक्त्वाऽसङ्गं पतिं स्वस्याः ससङ्गे साऽतितिष्ठति ।
कुर्वती विविधं भावं स्वयमेव विकारिणी * ॥१७॥
विकारैः कुरुते प्रीतिं सदा सा त्रिगुणा नहि ।
संदर्शयति पत्त्यर्थं वस्तुतत्त्वं कदाचन ॥१८॥
शयानं स्वं पतिं त्यक्त्वा सा गच्छति यदातदा ।
जायते यन्महद्दुःखं तद्वाचां गोचरो नहि ॥१९॥

* यथा सतो जनिर्नैवमसतोपि जनिर्नच । जन्यत्वमेव जन्यस्य मायिकत्वसमर्पकम् ॥ वेदान्तमुक्तावल्याम् ॥१६॥ ब्रह्ममाये जगद्योनी नोभयोः परिणामिता । तयोर्विकारिणी माया ब्रह्म तत्र विवर्तते ॥ अद्वैतसिद्धिसिद्धान्तसारे २।५०॥

सवेरे और सध्या समय सूर्यचन्द्रादि दीप को माया आरती (प्रज्वलित करती ) है। परन्तु असग पति को छोड़कर ममग कार्य में ही आसक्त तत्पर रहती है। उसीसे सदा प्रेम करती है, जीवरूप स्वामी के आगे मत्र को नहीं प्रगट करती॥ और जीवरूप अपना पति को मोह से सोते छोड़कर अत चलती है, तत्र दुःख किसीसे कहने में भी कैसे आसकता है, या वह दुःख अत्र किससे कहा जाय॥

साखी।

अपनी जाध उघारि के, अपनी कही न जाय।
की चित जानै आपना, की मेरो जन गाय॥७३॥

स्वस्य गुह्यं प्रकाश्यात्र स्वयं वक्तुं न शक्यते।
चित्तं स्वस्य च जानाति गायन्ति मामका यथा॥२०॥
तथा स्वस्यापराधेन दुःखं यदिह जायते।
वक्तुमनर्हमप्येतच्चित्तं वेत्ति च वक्ति सन्॥२१॥
अनात्मसंघेषु यदात्मधीर्भवेत्, ततश्च दुःखं वधबन्धनादिकम्।
रागादिदोषाश्च भवन्ति ये सदा,मूढैर्न शक्या गदितुं च ते किल॥२२॥७३॥

इति हनुमद्दासविरचिते रमयणीरसोद्रेके मायागमनागमनादिवर्णन नाम चतुस्त्रिंशत्तम. प्रवाह.॥३४॥

जैसे अपनी जाध (गुह्य स्थान) उघार कर अपनी गुप्त बात नहीं कही जाती, तैसे ही अपनी भूल की बात नहीं कही जा सकती, किन्तु या तो अपना चित्त जानता है या गुरु के जन लोग उपदेश के लिये गाते (कहते) हैं॥७३॥

इति मायागमनागमन प्रकरण॥३४॥

## रमयणी ७४, मुक्त और भ्रान्त की स्थिति प्र. ३५.

तहिया गुप्त स्थूल नहिं काया। ताके शोक न ताके माया ॥
कमलपत्र तरङ्ग इक माहीं। सगहिं रहै लिप्त पै नाहीं ॥
आश ओस अंडमहँ रहई। अगणित अंड न कोई कहई ॥
निराधार अधार ले जानी। रामनाम ले उचरी बानी ॥

यदाऽद्धा ज्ञायते तत्त्वं सुगोप्यं पावनं परम् ।
तदा सूक्ष्मं न तिष्ठेद्धि स्थूलं न जायते पुनः ॥१॥
जीवतो मुक्तिकाले हि ह्यस्य शोको* न विद्यते ।
मायामोहौ न तस्य स्तो ह्यसङ्गस्य विवेकिनः ॥२॥
"पद्मपत्रं+ यथा तोयैः स्वस्थैरपि न लिप्यते ।
शब्दादिविषयाम्भोभिस्तद्वज्ज्ञानी न लिप्यते ॥३॥
न कदाचन† निर्मुक्तं चेतो भूयो निबध्यते ।
यत्नेनापि पुनर्बद्धं केन वृन्तच्युतं फलम्" ॥४॥
विषयाण्वाशाया ह्यण्डे जायन्ते सर्वजन्तवः ।
अनन्तमपि विध्यण्डं न विज्ञो मन्यते क्रिमु ॥५॥
आधारं यं निराधारं जानाति स हि तत्त्ववित् ।
रामनाम्नापि तस्यैव वाणी विज्ञस्य जायते ॥६॥

तहिया ( माया को चलायमान जानने के बाद गुरुजन होकर अचल तत्त्व के जानने पर ) सूक्ष्म स्थूल शरीर फिर नहीं होते हैं। न

---

* तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः । ईशोप. ७॥
सम्यग्दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न निबध्यते । दर्शनेन विहीनस्तु संसा प्रतिपद्यते ॥ मनुः ६।७४॥

+ सूतस. शिवमा. २।३४॥ † यो. वा. नि. उ. १२५।३१॥

उनके ढोर मोह ममतादि रहते हैं ॥ किन्तु जलतरङ्ग में कमलपत्र की नाईं जीवन्मुक्त ज्ञानी सग रहते भी असग रहते हैं ॥ आशा का विषय रूप ओस ( तुच्छ वस्तु ) को चाहनेवाला जीव ब्रह्माण्ड में फसा रहता है, और ज्ञानी तो अनन्त ब्रह्माण्ड को भी कुछ नहीं गिनता है ॥ और निराधार विभु चेतन को सबका आधार जानता है, तथा उसीका राम नाम लेकर ज्ञानी की वाणी उचरती है ॥

धर्म कहै सब पानी अहई । जाती के मन पानी अहई ॥
ढोर पतङ्ग सरे घरियारा । तेहि पानी सब करे अचारा ॥
फन्द छोड़ि जो बाहर होई । बहुरि पन्थ नहिं जोहै सोई ॥

सर्वोऽपि धार्मिको यच्च पानीयमिति मन्यते ।
जातिवर्णादि चित्ते च यज्जलत्वेन निश्चितम् ॥७॥
तस्मिन्नेव जले मत्स्याः पशवश्च पतङ्गकाः ।
लीयन्ते मरणं प्राप्य पावनं तद्विदुर्जनाः ॥८॥
अतस्तेनैव शौचं च निजाचारान् प्रकुर्वते ।
शुद्धाऽशुद्धौ न पश्यन्ति विवेकेन विलक्षणौ ॥९॥
भवपाशं तु संत्यज्य बहिस्तस्माद् भवंति ये ।
ते पुनर्भवमार्गं वा जलाच्छुद्धिं न मन्वते ॥१०॥
" चित्तमन्तर्गतं * दुष्टं तोयस्नानैर्न शुद्ध्यति ।
शतशोऽपि जलेर्धौतं सुराभाण्डमिवाशुचि" ॥११॥
शुद्धिं तत्त्वस्य × बोधेन प्राज्ञः पश्यति सर्वदा ।
अखण्डस्य स्वरूपस्य निराधारस्य सर्वथा ॥१२॥

* ब्रह्मपु. अ. २३।५॥

× मन्त्रौषधबलैर्यद्वज्जीर्यते भक्षितं विषम् । तद्वत्सर्वाणि कर्माणि जीर्यन्ते ज्ञानिनः क्षणात् ॥ सूतस. शिवमा. २।३५॥

सब धर्मवाले जिसे पानी कहते हैं, तथा सब जाति के मत से जो पानी पावन करनेवाला निश्चित है ॥ उस पानी में तो ढोर (पशु), पतंग, घरियार इत्यादि सड़ते हैं, और उस पानी से सब आचार करके अपने को पवित्र समझते हैं ॥ परन्तु संसार के फन्द (फांस) को छोड़कर जो बाहर होते हैं, सो फिर उस संसार मार्ग को ओर जलमात्र से शुद्धि को नहीं जानते हैं, किन्तु ज्ञानादि से शुद्धि जानते हैं ॥

साखी ।

भरमक बाँधल ई जगत, कोइ न करै विचार ।
हरि कि भक्ति जाने विना, बूड़ि मुआ संसार ॥७४॥

भ्रमेणैव हि संनद्धाः सर्वे संसारिणो जनाः ।
विचारं[×] नैव कुर्वन्ति मोहपाशाद्विमुक्तये ॥१३॥
हरेर्भक्तिं[+] विना चैते ब्रुडन्ति भवसागरे ।
ज्ञानं विना लभन्ते न शुद्धं रूपं सदव्ययम् ॥१४॥

सदा मायया जीवसंघा निबद्धा न यावद्धरिं संभजन्ते विशुद्धम् ।
न यावद्विचारञ्च तस्याऽऽतनोति न तावद्विमुक्तिःसुखंशांतिरस्ति॥१५॥
यथा मायया जीवभावो मृषैव तथा ब्रह्मविष्ण्वादिभावोप्यतथ्यः ।
सुरेशादिभावो नहि कापि तथ्यस्तथापीशभक्त्यादिलभ्या विमुक्तिः ॥ १६॥७४॥

इति हनुमद्दासविरचिते रमयणीरसोद्रेके, मुक्तभ्रान्तयोः स्थितिवर्णनं नाम पञ्चत्रिंशत्तमः प्रवाहः ॥३५॥

---

[×] अज्ञानप्रभवं सर्वं ज्ञानेन प्रविलीयते । संकल्पो विविधः कर्ता विचारः सोऽयमीदृशः ॥ अपरोक्षाऽनुभूतिः ॥ वार्यां द्वंद्वमिवाभेदं जगदादि च भासते । कोऽहं कथमिदं चेति विचारेणैव शाम्यति ॥ योगवासिष्ठनि. ॥

[+] भक्तियोगो निरुपद्रवः । भक्तियोगान्मुक्तिः । भक्त्याऽसाध्यं न

भ्रम करके सब संसारी बंधे हैं, इससे स्नान कर्मादि से ही शुद्धि समझते हैं और सत्य शुद्धि का हेतु विचार नहीं करते। और विचार बिना सर्वात्मा हरि की भक्ति को भी नहीं जान सकने से, उसके बिना सब संसारी भवसागर में बूड़ मरे ॥७४॥

इति मुक्तभ्रान्तस्थिति प्रकरण ॥३५॥

## रमैणी ७५, परम प्रभु शरणागति प्र. ३६.

तिहि साहब के लागहु साथा। द्वि दुख मेटिके होहु सनाथा॥
दशरथ कुल अवतरि नहिं आया। नहिं लंका के राव सताया॥
नहिं देवकि के गर्भहिं आया। नहिं यशोदा गोद खेलाया॥
पृथिवी रमन धमन नहिं करिया। पैठि पताल नहिं बलि छलिया॥

यस्य ज्ञानाद् भवेच्छुद्धिः परमा च सनातनी।
यद्भक्त्या न भवोऽपि स्यात्तद्विभोः शरणं व्रज ॥१॥
तस्यैव शरणे स्थित्वा सर्वं द्वन्द्वं विनाशय।
सनाथः कृतकृत्यश्च विहरस्व यथासुखम् ॥२॥
यस्य संगान्न दुःखानि × स्युरेवेह कदाचन।
नावतीर्यागतो देवो + गृहे दशरथस्य सः॥
न लङ्कायां नरेशं वाऽशातयत् न बलेन च ॥३॥

---

किञ्चिदस्ति। त्रिपादविभूतिमहानारायणोप. अ. ८॥

× ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियन्ति। बृ. ४।४।१४

+ न देवः पुण्डरीकाक्षो न च देवस्त्रिलोचनः। न देवः [illegible] भूतो न देवस्त्रिदशेश्वरः॥ अकृत्रिमम[illegible] देवनं देव [illegible] आकारादिपरिच्छिन्ने मिते वस्तुनि न [illegible]॥ यो. वा. ६। [illegible]

गर्भे नैव स देवक्या आगतो न यशोदया ।
उत्सङ्गे लालितो देवो विभौ तस्मिन् जगत् स्थितम्॥४॥
पृथिव्यां रमणं नैव कृतं न धावनं तथा ।
पाताले वा प्रविश्याऽयं बलिं वञ्चयतेस्म नो ॥५॥

जिस हरि की भक्ति ज्ञान ध्यान से परम शुद्धि होती है, उसी साहब (प्रभु) के साथ लगो। और जन्म मरण रूप दोनों दु खों को नष्ट करके सनाथ (कृतकृत्य) होवो ॥ जिनके साथ होने से सनाथ होवोगे, वह दशरथ के घर में अवतार लेके नहीं आया इत्यादि ॥

न बलिराज से माँडल रारी। नहिं हिरणाकस बधल पछारी॥
बराहरूप धरणि नहिं धरिया। छत्री मारि निछत्री न करिया॥
नहिं गोवरधन कर गहि धरिया। नहिं ग्वाल संग बनबन फिरिया॥
गण्डक शालग्राम नहिं कूला। मच्छ कच्छ होय नहिं जल डूला॥
द्वारावतिः शरीर नहिं छाड़ा। लै जगन्नाथ पिण्ड नहिं गाड़ा॥

यलवद्भ्यः स राजभ्यो विग्रहं कृतवान्नहि ।
हिरण्यकश्यपं नैव पातयित्वाऽवधीत्तथा ॥६॥
वराहवपुषा नैव पृथिवीं धृतवान् प्रभुः ।
क्षत्रियान् मारयित्वा वा निःक्षत्रं न कृतं जगत् ॥७॥
नैव गोवर्धनस्तेन करेणैव धृतस्तथा ।
गोपैः सह न देवोऽसौ वनेषु विचचार ह ॥८॥
गण्डकपाथ तटेनासौ शालिग्रामशिलाऽभवत् ।
न मत्स्यकच्छपौ भूत्वा स्वयं तोये समाचरत् ॥९॥
द्वारावत्यां शरीरं स त्यक्तवान्न कदाचन ।
जगन्नाथनगर्यां न गात्रं तस्य व्यरोपयत् ॥१०॥

कोपि देवो मनुष्यो वा शक्तो न तत्र विद्यते ।
शरीरत्रितयाद्भिन्नो * वर्तते स सदा स्वयम् ॥
मायामात्रं जगत्तस्य सावतारं न संशयः ॥११॥

बली राजाओं से रार ( झगड़ा ) नहीं गाँडल ( नहीं ठाना ), गण्डक ( गण्डकी नदी ) में शालग्राम के कूल ( समुदाय ) नहीं हुआ, या कूल ( किनारे–तट ) पर शालग्राम नहीं हुआ ॥

साखी ।

कहहिं कबीर पुकारिके, या पन्थे मति भूल ।
जिहि राखेहु अनुमान कै, स्थूल नहीं अस्थूल ॥७५॥

भ्रमितव्यं न तन्मार्गे सज्जनेन मुमुक्षुणा ।
तेभ्यः परतरं तत्त्वं ज्ञातव्यं गुरुसेवया ॥१२॥
यं जानास्यनुमित्या त्वं स्थूलसूक्ष्मपरो हि सः ।
ज्ञेयो भक्त्यादियोगेन सद्गुरोर्वचनैस्तथा ॥१३॥
सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नित्यं तं चिदानन्दविग्रहम् ।
शुद्धाच्छुद्धतरं बुद्धं विद्धि विद्वन् निरन्तरम् ॥१४॥
दानन्दकन्दं परेशं पुराणं प्रपन्नाखिलानन्ददोहं प्रसन्नम् ।
रिं गुणज्ञानगोतीतमाद्यं सदा सर्वबुद्धौ च देदीप्यमानम् ॥१५॥
[। भोगभाजां सुदूरे विभान्तं तथा योगभाजां हृदि प्रस्फुरन्तम् ।
न्तं सतां मोहकामान्धकारं कृपागारमद्वैतदेहं भज त्वम् ॥१६-७५॥

---

* यद्यपि जीवोऽपि शरीरत्रितयाद्भिन्न एव, तथापि सोपाधिकस्य स्य संकोचविकाशशालिबुद्ध्युपाधिकत्वात् स शरीरे प्रविशति, तेन सम्मिश्र भवति । मायी परमेश्वरस्तु मायोपाधेर्विभुत्वात् कथमपि शरीरे प्रवेष्टुं

साहब पुकार के कहते हैं कि उस अवतारादि के मार्ग में नहीं भूलो। विचित्र कार्य संसार को देखकर, जिस पर तत्व परमात्मा का तुम अनुमान कर रखे हो, वह स्थूल नहीं है किन्तु अस्थूल (परम सूक्ष्म) है। स्थूल अवतारादि उसके मायामात्र हैं ॥७५॥

## रमयणी ७६.

माया मोह कठिन संसारा। इहे विचार न काहु विचारा ॥
माया मोह कठिन जग फंदा। होय विवेकि सोइ जन बन्दा ॥
राम नाम लै बेरा धारा। सो तो ले संसारहिं पारा ॥

मायामोहौ हि संसारे कठिनौ बाधकौ तयोः।
वशंगतो न कोऽपीमं विचारं कुरुते जनः ॥१७॥
मायामोहौ जगत्यस्मिन् दुर्भेद्यौ पाशकौ मतौ।
तद्विमुक्तो विवेकी यः स्याद्वंद्यो भक्तिमानसौ ॥१८॥
तरणाय भवाम्भोधे रामनाम्नीं तरिं शुभाम्।
आश्रयेत सुधीर्यस्तु स संसारात्परो भवेत् ॥१९॥
भजेद्यः सदा राममाद्यन्तहीनं भवाद्यन्तरूपं जगद्द्वन्द्वपारम्।
अपारं सदाऽऽनन्दरूपं विशुद्धं भवारण्यदावानलं ध्यायमानम् ॥२०॥
निराकारमेकं सदाकारदेवं प्रपन्नार्तिहन्तारमीशं शरण्यम्।
जनानर्थसंघस्य शान्तेर्निदानं महायोगिविज्ञैः प्रपन्नं स मुक्तः ॥२१॥

मायाजन्य मोह इस संसार में कठिन बाधक है। इसीसे उक्त सद् विचार कोई करने नहीं पाया ॥ माया मोह कठिन फन्दा (पाश) है,

---

नार्हति, न तेन सम्मितो भवति, शुद्धे तु शरीरवार्तापि न प्रसरति, इति भावः ॥

जो विवेकी जन इससे बचे हैं, सोई वन्दनीय (पूज्य) हैं॥ जो पुरुष रामनामा बेरा (नौका) को धारण कर लेता है, वह तो अवश्यही संसार सागर के परले तट को प्राप्त कर लेता है॥

साखी।

रामनाम अति दुर्लभ, औरन ते नहिं काम।
आदि अन्त औ युगयुग, रामहिं ते संग्राम॥७६॥

दुर्लभो रामनामाऽस्ति नान्यैः कार्यं च सिद्ध्यति।
आदेर्यावद् भवेदन्तस्तावद्युद्धं चरेदतः॥२२॥
रामस्यैवानुभूत्यर्थं स्वेन्द्रियैं मनसा तथा।
अनन्तयुगपर्यन्तं नान्यत् किञ्चिच्च संस्मरेत्॥२३॥
रामस्यैव च लब्ध्यर्थं स्वात्मनो वै विमुक्तये।
रामेणापि च संग्रामं कुर्वते सज्जनाः सदा॥२४॥
कोऽसौ रामः कथं ज्ञेयः प्राप्यते स कथं मया।
इति चिन्तापरत्वं हि रामायुद्धोऽभिधीयते॥२५॥
नित्यः सर्वगतो ह्यात्मा कूटस्थो दोषवर्जितः।
एकः सन् भिद्यते भ्रांत्या बोधोऽयं रामविग्रहः॥२६॥
रामे भेदं तिरस्कृत्य ह्यमेदेनैव दर्शनम्×।
रामेण योधनं चेदं परं श्रेयस्करं स्मृतम्॥२७॥
संग्रामो लभ्यते रामाद्द्वैतानन्दलक्षणः।
आदावन्ते च मध्येऽपि नान्यैर्वाऽनः स दुर्लभः॥२८॥७६॥

इति हनुमद्दासविरचिते रमयणीरसोद्रेके परमप्रभुशरणागत्युपदेशो म षट्त्रिंशत्तमः प्रवाहः॥३६॥

× प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते। अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥ मुण्ड. २।२।४॥

रामनाम अत्यन्त दुर्लभ है, और अन्य से सत्य प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती, इसलिये जन्म से मरण तक और सब युगों में राम ही से संग्राम करना चाहिये, अर्थात् मनोवृत्ति रूप बाण का सदा रामही पर अर्पण करना चाहिये ॥७६॥

इति परम प्रभु शरणागति प्रकरण ॥३६॥

## रमयणी ७७, परम प्रभु और माया में एकता प्र.३७.

एके काल सकल संसारा । एक नाम है जगत पियारा ॥
तिया पुरुष कछु कहल न जाई । सर्वरूप जग रहा समाई ॥

मायात्मको हि मोहोऽयमन्तकः सर्वदेहिनाम् ।
सर्वत्र वर्तते विश्वे बाधते सर्वदा जनान् ॥१॥
तस्माच्च रक्षको नाम परप्रेमास्पदस्तथा ।
एक एवाद्वितीयोऽस्ति सत्तास्फूर्तिप्रदः प्रभुः ॥२॥
"अमृतं × चैव मृत्युश्च द्वयं देहे प्रतिष्ठितम् ।
मृत्युरापद्यते मोहात्ज्ञानेन विन्दतेऽमृतम्" ॥३॥
नात्मा स्त्री च पुमान्नायं वक्तुं शक्यः कथञ्चन ।
तथापि सर्वरूपः सन् प्रविष्टो वर्तते भवे ॥४॥
"नैव* स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः ।
यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते" ॥५॥

माया मोहरूप एकही काल सब संसार में व्यापक है, और एक

× म. भा. शा. १७५।३०॥
* श्वे. ५।१०॥

रामनामा सब जगत का प्यारा ( आत्मा ) है। वह स्त्री पुरुष कुछ भी कहा नहीं जा सकता है। तौभी सर्वरूप होकर संसार में समाया (व्याप्त)है॥

रूप निरूप जाय नहिं बोली। हलुका गरुआ जाय न तौली॥
भूख न तृषा धूप नहिं छांहीं। दुख सुख रहित रहै तिहि माहीं॥

नासौ रूपी निरुपो वा वक्तुं केनापि शक्यते।
लघुर्गुरुर्विमातुं वा सर्वात्मत्वेन* सर्वदा ॥६॥
" तत्तद्गुरुर्गरिष्ठानां तत्तल्लघुर्लघीयसाम्।
तत्तत्स्थूलं स्थविष्ठानामणीयस्तदणीयसाम् " ॥७॥
तस्मिन्न क्षुत्पिपासे स्तस्तापश्छाया तथा नहि।
सुखदुःखादिहीनोऽपि तद्वत्स्वेच तु वर्तते ॥८॥
" क्षुधापिपासा प्राणस्य मनसः शोकमोहकौ।
जन्ममृत्यू शरीरस्य षड्ढूर्मिरहितः शिवः ॥९॥
दुःखी यदि भवेदात्मा कः साक्षी दुःखिनो भवेत्।
दुःखिनः साक्षिताऽयुक्ता साक्षिणो दुःखिता तथा"॥१०॥

सर्वरूप होते भी वह रूपवान् वा निरूप नहीं बोला ( कहा ) जा सकता। न हलका गरुआ तौला जा सकता॥ भूख पिपासा घाम छाया आदि उसमें नहीं हैं। इसीसे वह सुखदुःख से रहित है, तौ भी उस सुखदुःखादि में रहता है॥

---

* एक एव त्रिलोकात्मा रूपादिगुणवर्जितः। न तद्रूप सित श्यामं कपिशं पिङ्गलं न च। न वं रक्त न वा पीत चित्रं संकरमेव च॥ स्कन्दपु. केदारखं. अ. १॥ तस्मै सर्वं ततः सर्वं स सर्वं सर्वतश्च सः। सोऽन्तः सर्वमयो नित्यं तस्मै सर्वात्मने नमः॥ यो. वा. नि. उ. ४८।२३॥

साखी।

अगम अपार रूप बहू, औ अरूप बहु भाय।
बहुत ध्यान कै जोहिया, नहिं तेहि संख्या आय ॥७७॥

अगम्योपि ह्यपारश्च बहुरूपश्च दृश्यते।
अरूपोऽनन्तरूपश्च भात्यसौ शक्तिसंयुतः ॥११॥
बहुधा ध्यानतोऽन्विष्य संख्या तस्य न लभ्यते।
असङ्ख्योऽनन्तशक्तिः स तस्माज्ज्ञेयो मुमुक्षुभिः ॥१२॥
"एक एवहि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्" ॥१३॥
सर्वेशः सर्वरूपश्च सर्वभूतगुहाशयः।
असंख्योऽनन्तसंख्यश्च सर्वातीतो हि चेतनः ॥१४॥७७॥

इति हनुमद्दासविरचिते रमयणीरसोद्रेके परमप्रभौ मायायाश्चैकैकत्ववर्णन नाम सप्तत्रिंशत्तमः प्रवाहः ॥३७॥

यह अगम्य अपार बहुत रूपवाला है, और रूपरहित भी बहुत रूप से भासता है, बहुत ध्यान से खोजने पर भी उसकी संख्या का पता नहीं लगता है ॥७७॥

इति परम प्रभु और माया में एकता प्रकरण ॥३७॥

## रमयणी ७८, देह के हिस्सेदार और स्वापराधफल प्र.३८.

मानुष जन्म चुकेहु अपराधी। यह तन केर बहुत है साझी ॥
तात जननि कह पुत्र हमारा। स्वारथ लागि कीन्ह प्रतिपाला ॥
कामिनि कहै मोर पिय अहई। बाघिनि रूप गरासन चहई ॥

अमूल्यं मानुषं जन्म प्राप्यात्रानवधानता ।
क्रियते ह्यभिमानाद्यैर्वाऽऽसक्त्या तन्न शोभनम् ॥१॥
यदर्थं चापराध्यन्ति भवन्तः सर्वदा मुहुः ।
तस्य चास्य शरीरस्य दायादा बहुभागिनः ॥२॥
पितरौ वदतः पुत्र आवयोः प्रीतिवर्द्धनः ।
स्वार्थमेव च रक्षाऽस्य पुरावाभ्यां कृता ननु ॥३॥
कामुकी च वदत्येवं ममायं वल्लभः प्रभुः ।
सा हि व्याघ्रीव धर्मार्थौ वांछति ग्रसितुं सदा ॥४॥

हे जीवो ! मनुष्य जन्म में भी उक्त आत्माराम की प्राप्ति नहीं कियो, सो भारी चूक (भूल) कियो, और भारी अपराधी (दोषी) भयो। जिस देह में आसक्त होकर चूक अपराध करते हो, उस देह के बहुत हिस्सेदार हैं ॥ तात (पिता) जननी (माता) कहते हैं कि यह हमारा पुत्र है। हमने अपने स्वार्थ के लिये इसका प्रतिपालन किया है॥ कामुकी (वेश्या) कहती है कि यह मेरा प्यारा है, और व्याघ्री की नाई अर्थ धर्मादि को ग्रसना (नष्ट करना) चाहती है ॥

सुत कलत्र रहैं लौ लाई । जम्बुक नित्य रहै मुँह वाई ॥
काग गीध द्वौ मरण विचारैं । शुकर श्वान द्वौ पंथ निहारैं ॥
अग्नि कहै मैं ई तन जारो । सो न करहु जो जरत उबारो ॥
धरती कहै मोहि मिलि जाई । पवन कहै मैं लेउँ उड़ाई ॥

उभे पुत्रकलत्रे च तस्याशां कुरुतः सदा ।
जम्बुकोऽप्यस्य मांसार्थं मुखं व्यादाय तिष्ठति ॥५॥
काकगृध्रौ सदा मृत्युं ह्यस्य चिन्तयतः खलु ।
उभौ तौ शूकरश्वानौ मार्गमस्यैव पश्यतः ॥६॥

अग्निर्देवो ब्रवीत्येवमहं भस्मीकरोमि तत् ।
स्वकीयं तज्जलं मत्वा तस्माद्रक्षितुमिच्छति ॥७॥
तत्कुरुष्व पुनर्येन दुःखदाहो भवेन्नहि ।
सर्वेभ्यो निजतापेभ्यो रक्षा यस्माद्भवेदिह ॥८॥
पृथिवी वक्ति मय्येव त्विदं संमिलतु द्रुतम् ।
वातो वक्ति मयैतद्धि व्युड्डाय नीयते क्वचित् ॥९॥

पुत्र और घर की स्त्री दोनों आशा प्रेम लगाय रहते हैं, गीदड़ इस देह का मास के लिये सदा मुख बाया करता है ॥ काग गीध मरण शोचते हैं। शूकर कूकर रास्ते देखते हैं ॥ अग्नि कहती है कि मैं इसे जलाऊं। पानी जलते की उबारना चाहता है, तुम सो काम न करो कि जिससे सब तापों से उबार (रक्षा) हो ॥ पृथिवी चाहती है कि यह मुझमें मिल जाय। वायु उड़ाकर ले जाना कहता है।।

तेहि घर को घर कहै गमारा । सो बेडी है गले तुम्हारा ॥
सो तन तुम आपन कै जानी । विषयरूप भूला अज्ञानी ॥

इत्थंभूतं गृहं गात्रं स्वगृहत्वेन मन्यते ।
यः स मूर्खो न विज्ञोऽसौ यतस्तद्बन्धनं दृढम् ॥१०॥
"देहः+ किमन्नदातुर्वा निषेक्तुर्मातुरेव वा ।
मातुः पितुर्वा केतुर्वा बलिनोऽग्नेः शुनोपि वा ॥११॥
एवं साधारणं देहमव्यक्तप्रभवाप्ययम् ।
को विद्वानात्मसात्कृत्वा कुर्यादस्मै प्रसज्जनम्"॥१२॥
इत्थं साधारणं देहं स्वकीयत्वेन मन्यते ।
तमेव शृङ्खलां विद्धि बुद्धिग्रीवानिबन्धनीम् ॥१३॥

+ भा. स्क. १०।११-१२॥

आत्मीयत्वेन तं देहं जानीते यद् भवानिह ।
विषयात्मा ततो भूत्वा बद्धो भ्रमति गोचरे ॥१४॥

इस प्रकार अनेकों के साझ घर को जो खास अपना घर कहता है सो गमार (मूर्ख) है। अपना माना हुआ वह देह घर तेरे गले की बेड़ी तुल्य है॥ हे अज्ञानी! उस देह को अपना समझकर तुम विषयों के स्वरूप में भूले हो (देहात्माभिमानी हुए हो), इससे इस समझ को त्यागो॥

साखी।

इतना तन के साझिया, जन्मो भर दुख पाव।
चेतत नाहीं मुग्ध नल, मोर मोर गोहराव ॥७८॥

देहस्य भागिनश्चैते यावद्देहं तु मूढधीः।
क्लिश्नात्येव ममत्वेन ममेति कथयन् सदा ॥१५॥
ममताग्रस्तजन्तुर्हि लभते न सुखं क्वचित्।
न ज्ञानं नापि सद्भक्तिं संसारे प्रतिपद्यते ॥१६॥
त्यक्त्वा ममत्वकलनां तनुबन्धुवर्गं,
ह्यात्मानमेव सततं सुधियो भजन्ति।
मुक्ता भवन्ति भवभोगमहाहिपाशात्,
स्वानन्दतृप्तमनसश्च सदात्मबोधात् ॥१७॥
क्लेशप्रपञ्चवीचिजालपूर्णविश्वसागरं,
संशयादिचक्रजालपूर्णसर्पभागकम्।
दारपुत्रबंधुवर्गजन्तुसंघसंयुतं,
कामलोभयाडवैर्युतं तरंति ते सुखम् ॥१८॥७८॥

इतना (ये माता पिता आदि अनन्त) देह के साझिया (हिस्से दार) है। अनेक के साझ तन (देह) में ममता अहकार करके यह

जीव जन्मोभर ( सदा ) दु:ख पाता है। और वह मुग्ध ( अज्ञानी ) चेतता ( विवेक करता ) नहीं है। किन्तु मेरा २ पुकारता है ॥७८॥

## रमयणी ७९.

बढ़वत बढ़ी घटावत छोटी । परखत खर परखावत खोंटी ॥

बृंहणाद्वर्द्धते§ मोहो ह्यासक्त्या स्नेहतस्तथा ।
धनलाभेन लोभेन वस्तूनां पीनतां व्रजेत् ॥१९॥
अवज्ञानाल्लघुत्वं च प्राप्नोत्येव विचारतः ।
ह्रस्वतामेत्य कालेन नश्यत्यपि स सर्वथा ॥२०॥
मोहस्य विषयः सत्यः स्वयं भाति परीक्षणात् ।
न नश्यति ततो मोहः कामो लोभश्च वर्द्धते ॥२१॥
यदा सद्गुरुभिः सार्द्धं मिलित्वाऽयं परीक्ष्यते ।
तदा मिथ्या भवेदेव जगन्मोहोपि नश्यति ॥२२॥
"यथा पर्वतमादीप्तं नाश्रयन्ति मृगद्विजाः ।
तद्वद् ब्रह्मविदो दोषा नाश्रयन्ते कदाचन" ॥२३॥

मोह ममता कामादि को बढाने से ये दिन २ बढ़ते जाते हैं, और विचार वैराग्यादि द्वारा घटाने से घटते ( छोटे होते ) हैं। विज्ञानादि के लाभ से सर्वथा नष्ट भी होते हैं। और मोहादि के विषय वस्तुओं को अपनी बुद्धि से विचारने, परखने पर ये सब खर ( सत्य )

§ इद ममाहमस्येति व्यवहारघनभ्रमम् । ये मोहात्परिवन्तेऽधस्ता यान्यधः शठाः ॥ यो. वा. ६।१२१।४॥ अनात्मन्यात्मभावेन देहमात्रा स्थयाऽनया । पुत्रदारकुटुम्बैश्च चेतो गच्छति पीनताम् ॥ यो. वा ५।५०।५७॥

प्रतीत होते हैं। और सद्गुरु ज्ञानी द्वारा परखवाने (परीक्षा कराने) से खोट (मिथ्या) सिद्ध होते हैं॥

केतिक कहौं कहाँ ले कही। औरो कहौं परे जो सही॥
कहल विना मोहि रहल न जाई। विढई ले ले कूकुर खाई॥

अस्माभिर्बहुधोक्तं सम्मोहस्यास्य निवृत्तये।
कियत्पुनः प्रवक्ष्यामि सत्यं चैतन्निगद्यते॥२४॥
भूयोऽपि शक्यते वक्तुं तत्त्वाऽतत्त्वविवेचनम्।
यदि लभ्येत सच्छिष्य उक्तिश्च सफला भवेत्॥२५॥
प्राप्ते हि सुजने शिष्येऽनुक्त्वा स्थातुं न शक्यते।
श्वेव यो विषमानत्ति तस्मै किन्तु मयोच्यताम्॥२६॥
अत्ति श्वा शष्कुलीं यद्वत्तथा प्रेम्णा स्वयं जनः।
विषयान् विषमानत्ति तेनैवायं विपीड्यते॥२७॥

कितना कहूं, अन्तिम सीमा तक की बात कही गई है। और भी कहूं, यदि कहना सही पड़े (सफल होय)॥ अधिकारी मिलने पर कहे विना मुझ से रहा नहीं जा सकता। परन्तु कूकुर तुल्य लोग, विढई (रोटी विशेष या कर्ज) के तुल्य अपकारक स्वादु विषय ले ले कर खाते (भोगते) हैं; कहा नहीं मानते, मोह को नहीं घटाते, तो इनके प्रति क्या कहा जाय॥

साखी।

खाते खाते युग गया, अजहुं न चेतहु आय।
कहहिं कबीर पुकारि के, ई जिव जरतहिं जाय॥७९॥

विषयान् खादतश्चैवं ते युगानि गतानि वै ।
तृप्तिर्न जायते तेन तस्माज्ज्ञानाय यत्यताम् ॥२८॥
सतां सङ्गं समाश्रित्य विद्वानीं सद्गुरोर्द्रुतम् ।
ज्ञायतामात्मदेवोऽयं येन तापो निवर्तते ॥२९॥
आत्मदेवस्य चाज्ञानात्सर्वेऽमी जीवराशयः ।
*दह्यमानाः प्रजायन्ते दह्यमानाः प्रयान्ति हि ॥३०॥
" नष्टात्मस्थितयो× भोगवह्निषु प्रज्वलन्त्यलम् ।
देवा दिवि द्रवेनाग्नौ दह्यमाना द्रुमा इव " ॥३१॥
भोगान्न तृप्तिर्मनसो हि जायते,
कस्यापि लोके गुरुबोधमन्तरा ।
तस्माज्जनः सद्गुरुमेव संश्रये-
द्बोधस्य सिद्ध्यै सुविचारमेव च ॥३२॥७९॥

इति हनुमद्दासविरचिते देहदायादादिनिजापराधफलभोगवर्णनं नाम षट्त्रिंशत्तम. प्रवाह. ॥३८॥

विषय खाते २ (भोगते २) अनन्त युग बीत गये, अजहु (अब भी) चेतहु (होश भी) नहीं आया, इससे जीव जलता ही जाता है। या साहब कहते हैं कि अब ही भी सत्सग गुरुशरण में आकर चेतो, चेते ही विना यह जीव जरता ही जाता है इत्यादि ॥७९॥

इति देह के हिस्सेदार और निजापराधफल प्र. ॥३८॥

---

* पृथिवी रत्नसंपूर्णा हिरण्य पशवः स्त्रियः । नालमेकस्य तत्सर्वमिति ज्ञात्वा शम भजेत् ॥ म. भा. आदिप. ७५। ५१॥

× यो. वा. नि. उ. ९७।२७॥

## रमयणी ८०, सद्गुरु विना दुराशा प्रकरण ३९.

बहुतक साहस करहु जिय अपना। तिहि साहब सो भेंट न सपना ॥
खरा खोंट जिन नहिं परखाया। चहत लाभ तिन मूल गमाया ॥
समुझि न परल पातरी मोटी। ओछी गांठी सबै भौ खोंटी ॥

गुरुं विना भवानत्र करोति बहु साहसम् ।
ततो नास्त्यातमदेवस्य स्वप्नेऽपि दर्शनं प्रभोः ॥१॥
सत्यानृतविवेको यैर्न लब्धः सद्गुरोः स्वयम् ‡ ।
ते लाभमभिकाङ्क्षन्त कुर्वते मूलनाशनम् ॥२॥
स्थूलसूक्ष्मौ न यैर्ज्ञातौ विवेकेन गुरोर्मुखात् ।
हीनेन ग्रन्थिना तेषां सर्वं भवति निष्फलम् ॥३॥
कामाद्या ग्रन्थयस्तुच्छा मानुष्यं नाशयंति हि ।
नरके पातयन्त्येव मोक्षो दूरतरं व्रजेत् ॥४॥

हे जीव ! अपने मन से सुखादि के लिये तुम बहुत साहस करते हो परन्तु जिस साहब के परिचय से सब द्वन्द्व नष्ट होते हैं, उस साहब से तुझे स्वप्न में भी भेंट नहीं हुआ है ॥ जिन्होंने सद्गुरु से खरा खोंट (सत्य झूठ) का पारख (विवेक ज्ञान) नहीं प्राप्त किया, वे लोग यदि लाभ चाहते हैं, तो मूल भी गमा बैठते हैं ॥ जब तक स्थूल सूक्ष्म देहादिक नहीं समझ में आये, तबतक हीन प्रेम, कामादि से सब आयु आदि व्यर्थ बीत जाते हैं ॥

‡ न यज्ञतीर्थैर्न तपःप्रदानैरासाद्यते तत्परम पवित्रम् । आसाद्यते क्षीणभवाभयाना भक्त्या सतामात्मविदां यदङ्ग ॥ यो. वा. ६।१२२।१४॥

कहहिं कबिर किहि देबहु खोरी । जब चलिहहु झिंझि आशा तोरी॥

नरकादौ नराः प्राप्यापराधं तत्र कस्य वै ।
यूयं वक्ष्यथ गन्तारो हताशा यत्र कुत्र वा ॥५॥
तदा स्वस्यापराधस्य फलं सर्वैर्हि भुज्यते ।
दूयते तत्र शोकेन पश्चात्तापेन पीड्यते ॥६॥
स्थूलां त्यक्त्वापि सूक्ष्माशां जीवन् यो न जहाति सः ।
मृत्युकाले हि तां छित्वा बलाद्यात्येव दुर्मतिः ॥७॥
कालादिभिर्बन्धलयं च बन्धनं पश्यति मूढा बहुवासनासिताः ।
ये तौच्छिकाः कर्मबलैर्नियन्त्रिता दोषैर्निजैस्ते परियान्त्यधः सदा॥८॥

जब अन्तकाल में झीनी २ (सूक्ष्म) आशाओं को तोड़कर ( हताश होकर ) चलोगे, तब किसको दोष दोगे । साहब इसलिये कहते हैं कि आशाओं को अभी स्वयं त्यागो, और खरा खोंट के पारख की प्राप्ति करो । स्थूल आशाओं को त्यागना तो सहज है । परन्तु देवभावादि मान बड़ाई आदि की आशाओं को आत्मपरिचय विरागादि बिना त्यागना असाध्य है, इसलिये आत्मपरिचयादि की प्राप्ति करो इत्यादि ॥

साखी ।

झीं झीं आशा महँ लगे, ज्ञानी पण्डित दास ।
पार न पावहिं बापुरे, भरमत फिरहिं उदास ॥८०॥

अहो सर्वेऽपि मोहेन कर्मठा वेदवित्तमाः ।
शास्त्रज्ञा देवभक्ताश्च सूक्ष्माशाः संत्यजन्ति न ॥९॥
सूक्ष्माशाभिः समासक्ता सर्वेऽमी बुद्धमानिनः + ।

+ अविद्यायामन्तरे वर्तमाना स्वयं धीराः पण्डितमन्यमाना. ।

संसाराब्धेः परं पारं प्राप्नुवंति न बालिशाः ॥१०॥
भ्रमन्तोऽतश्च संसारे दीनास्तिष्ठंति ते सदा।
बहुयोनिसहस्रेषु विचरंति कुचेतसः ॥११॥
"*कामक्रोधादिसंसर्गादशुद्धं जायते मनः।
अशुद्धे मनसि ब्रह्मज्ञानं तच्च विनश्यति ॥१२॥
दिशामोहो यथा लोके विदुषामपि जायते।
आनन्दात्मनि संमोहो विदुषामेवमस्त्यपि" ॥१३॥८०॥

इति हनुमद्दासविरचिते रमयणीरसोद्रेके सद्गुरुं विना 'दुराशादुर्भे-
ग्रावर्णनं नामैकोनचत्वारिंशत्तमः प्रवाहः ॥३९॥

सूक्ष्म २ आशाओं में अपने मन के ज्ञानी शास्त्रज्ञ पण्डित उपासक
तक ये सभी फंसे रहते हैं। कोई भी बावरे सद्गुरु विना आशाओं
। पार नहीं पाते हैं। किन्तु उदास होकर भटकते फिरते हैं ॥८०॥

इति सद्गुरु विना दुराशा प्रकरण ॥३९॥

## रमयणी ८१, सकाम देवादि चरित्रविपर्यय प्र. ४०.

। चरित्र सुनहु रे भाई। सो ब्रह्मा जो धिया नशाई ॥
ते कहे मदोदरि तारा। तिन घर जेठ सदा लगवारा ॥
पति जाय अहल्यहिं छलिया। सुरगुरु घरणि चन्द्रमा हरिया ॥
हिं कबिर हरि के गुण गाया। कुन्ती कर्ण कुमारहिं जाया ॥८१॥

न्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥ मुण्ड. १।२।८।
* आत्मपु. अ. ७।१६९–२९१॥

देवानामपि मोहेन यश्चरित्रविपर्ययः ।
तं शृणोतु भवान् भ्रातस्तदाशाविनिवृत्तये ॥१॥
*ब्रह्मा दुहितरं स्वां सोऽनाशयत् काममोहितः ।
गृहे मन्दोदरी तारा जारं ज्येष्ठममन्यत ॥२॥
इन्द्रोऽहल्यां च मोहेन कपटेन ह्यवञ्चयत् ।
बृहस्पतेर्निजां भार्यां चन्द्रमा हृतवान् स्वयम् ॥३॥
सूर्यस्याऽयं गुणो ज्ञेयो येन कुन्ती कुमारिका ।
जनयामास कर्णं सा सर्वथा विवशा सती ॥४॥
" ×कामेन विजितो ब्रह्मा कामेन विजितो हरिः ।
कामेन विजितः शम्भुः शक्रः कामेन निर्जितः ॥५॥
अपरे त्वमराः किन्तु नारीक्रीडामृगा हि ते ।
इत्येवं गुरवः प्राहुराशापाशनिवृत्तये " ॥६॥८१॥

हरि ( सूर्य ) का गुण पुराणादि में गाया है कि जिनके काममोह के मारे कुन्ती ने कुमार अवस्था में ही कर्ण को उत्पन्न किया ॥८१॥

## रमयणी ८२.

सुपक वृक्ष इक जगत उपाया । समुझि न परल विषय कछु माया ॥
छौ,छत्री निपात युग चारी । फल दुइ पाप पुण्य अधिकारी ॥

* प्रजापतिर्हं वै स्वां दुहितरमभिदध्यौ । शतपथ. १।७।४॥ प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यध्यायद्दिवमित्यन्य आहुरुषसमित्यन्ये तामृश्यो भूत्वा रोहितं भूतामभ्यैत् तं देवा अपश्यन्नकृतं वै प्रजापतिः करोतीति । ऐतरेयब्रा. १३।९॥ दुहितरमभिलक्ष्य भार्यात्वेन ध्यानमकरोत् । ऋश्यो मृगविशेषो रोहितं लोहितं रजोदर्शनमित्यादि ॥

× आत्मपु. अ. ४।१३७-१३८॥

एक एवाऽस्त्युपायोऽत्र वृक्षः सौख्यफलप्रदः।
निजात्मानुभवो रागाभावोपरतिसंयुतः ॥७॥
शमाद्याः साधकास्तस्य श्रवणाद्यास्तथैव च।
सत्सङ्गः पोषको नित्यमेकान्तस्य निषेवणम् ॥८॥
तुच्छगोचरसंसर्गान्मायाजालसमाश्रयात्।
ज्ञायते न महावृक्षः कुतस्तत्साधनं भवेत् ॥९॥
ज्ञात्वा तं मृत्युमत्येति नान्यः पन्था विमुक्तये।
इत्येवं श्रुतयः प्राहुर्जनास्तद्वैव जानते ॥१०॥
ब्रह्माद्या× देवता यद्वा वेणुप्रभृतयो नृपाः।
इन्द्रियाण्यथवा क्षत्राः सम्पतन्ति चतुर्युगे ॥११॥
पक्षिवद्धि भ्रमंतस्ते प्राक्तनैः कर्मदोषकैः।
भुञ्जते सुखदुःखे द्वे पुण्यपापाधिकारिणः ॥१२॥
" वायुः+ सूर्यो वह्निरिन्द्रः कृत्वा जन्मान्तरेऽन्तरम्।
कृत्वा धर्मं विजानन्तो ब्रह्म भीत्या चरन्ति हि " ॥१३॥

सुखफल के उपायरूप वृक्ष एक आत्मपरिचय है। सो आत्मा विषयरूप तुच्छ माया के मारे समझने में नहीं आया॥ इससे ब्रह्मा आदि वा वेणु आदि छौ क्षत्रियों का चार युग पर्यन्त संसार में ही निपात ( पतन ) हुआ। और सुखदुःख दो फल के तथा पापपुण्य के अधिकारी हुए॥

---

× राजार्थं रचिते यद्वत्प्रासादे सप्तभूमिके। उपर्यधो वा दुःखासौ भेदः कोपि न विद्यते॥ आत्मपु. १६।१०५॥

+ अनुभूतिप्रकाश, २।१३०॥

ाद अमित कछु वरणि न जाई । कै चरित्र सो ताहि समाई ॥
टवत सारे साज साजिया । जो खेलैं सो देखु वाजिया ॥
ोहा बपुरा युक्ति न देखा । शिव शक्ती विरञ्चि नहिं पेखा ॥

विषये मोहकालेऽत्र स्वादोऽनन्तो हि भासते ।
स न वर्णयितुं शक्यः सजन्त्यत्र ततो जनाः ॥१४॥
चरितं विविधं कृत्वा कर्मध्यानादिलक्षणम् ।
विशन्त्यत्रैव संसारे न च मुक्ता भवंति ते ॥१५॥
नटवचेन्द्रजालश्रीसाधनं साधयंति च ।
सर्वे पश्यंति तन्नृत्यं नृत्यन्तोऽपि स्वयं तथा ॥१६॥
क्रीडन्तोऽत्राथ पश्यन्तः क्रीडामेव जगत्त्रये ।
ब्रह्माद्याः स्वाधिकारान्तं स्वादुंकारं हि भुञ्जते ॥१७॥
अज्ञाश्च मोहिताः सर्वे युक्तिं जानन्ति नो यतः ।
मुक्तेस्ततो हि नृत्यंति भुञ्जते विषयांस्तथा ॥१८॥
अहो शिवश्च शक्तिश्च विधाता न प्रपश्यति ।
उपायं येन नैवेदं जगन्नृत्यं प्रदृश्यते ॥१९॥

मोह से विषयों में अमित ( अनन्त ) स्वाद प्रतीत होते हैं। जिनका कुछ वर्णन नहीं किया जा सकता । इससे बहुत चरित्र करके देवादि भी उसीमें लीन होते हैं ॥ नट की नाईं सब साज ( साधन ) साजते ( जोड़ते ) हैं । जो लोग खेलते हैं, सोई नटबाजी ( तमाशा ) देखते हैं ॥ बपुरा ( बौरा ) मनुष्य मोह को प्राप्त हुआ । मोक्ष की युक्ति को नहीं देखा, अन्य की बात ही क्या कहनी है, अपने २ अधिकार तक शिव शक्ति विरञ्चि भी विषयजाल से रहित होने का मार्ग को नहीं

देख सके। या शिव (कल्याण) रूप पर तत्त्व की शक्ति (सामर्थ्य) को और विधि को बावरे लोग नहीं जान पाये॥

साखी।

परदे परदे चलि गया, समुझि परी नहिं बानि।
जो जानै सो बांचि हैं, होत सकल की हानि ॥८२॥

अज्ञानरचिताऽऽवर्णे मोहमेदुरिते तते।
वेशं वेशं गताः सर्वे नोऽविदुश्चानृतं जगत् ॥२०॥
विविदुर्न सतां वाणीं न वाच्याऽऽक्रमणं जगत्।
स्वभावं नाप्यविद्यायास्तेन नष्टा इमे जनाः ॥२१॥
ये ज्ञास्यंति जगत्तत्त्वं स्वात्मतत्त्वं तथाऽपृथक्।
ते हि दुःखाद्विमोक्ष्यन्ते नङ्क्ष्यन्त्यन्ये त्वसंशयम् ॥२२॥
" न प्रीतिर्विषयेष्वस्ति प्रेयनात्मेति जानताम्।
कुतो रागः कुतो द्वेषः प्रतिकूलमपश्यतः ॥२३॥

इति हनुमद्दासविरचिते रमयणीरसोद्रेके देवादिषु यावत्कामाधिकारे चरित्रविपर्ययवर्णनं नाम चत्वारिंशत्तमः प्रवाहः ॥४०॥

मायाकृत पर्दे २ (आवरण) में सब चले गये। सद्गुरु की वाणी इनके समझ में नहीं आई॥ जो कोई जानें (समझे) गे, सोई माया फन्द से बचेंगे। अन्य सब लोगों की महान् हानि होगी और होती है ॥८२॥

इति सकाम देवादि चरित्रविपर्यय प्रकरण ॥४०॥

## रमयणी ८३, मोक्षार्थी क्षत्रिय प्र. ४१.

क्षत्री करै क्षत्रिया धर्मा । वाके बढ़ै सवाई कर्मा ॥
जिन अवधू गुरु ज्ञान लखाया । ताकर मन तहँई ले धाया ॥

इंद्रियाण्यवशीकृत्य × यः क्षत्रः क्षात्रकर्मणि ।
वर्तते तस्य कर्माणि वर्द्धन्ते पादशः क्रमात् ॥१॥
भवंति तानि बन्धाय दुःखाय च निरन्तरम् ।
भ्रमयंति हि तान्येव स्वर्गेषु नरकादिषु ॥२॥
" शुभानामशुभानां * च द्वौ राशी भवतो ध्रुवम् ।
यः पूर्वं सुकृतं भुंक्ते पश्चान्निरयमेव सः ॥३॥
नरो + वर्द्धत्यधर्मेण ततो भद्राणि पश्यति ।
संजयति सपत्नांश्च समूलस्तु विनश्यति " ॥४॥
विरक्ता ये गुरोर्ज्ञानं प्राप्तवन्तः सुचेतसः ।
तेषां मनस्तु तत्रैव लयमेति च धावति ॥५॥

इन्द्रियों के वशवर्ती जो क्षत्रिय क्षात्र धर्म करता है उसके बन्धप्रद कर्म प्रतिदिन सवाई बढ़ते हैं ॥ जिन अवधू ( विरक्तों ) ने सद्गुरु से *ज्ञानलखाया (लख पाया–प्राप्त किया)* है, उनका मन तिस ज्ञान मार्ग ही तक दौड़ता है, और ज्ञानरूप आत्मा ही में लीन होता है ॥

---

× यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा । तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथे ॥ कठ. १।३।५॥ अपि सञ्चयबुद्धिर्हि लोभमोहवशंगतः । उद्वेजयति भूतानि पापेनाशुद्धबुद्धिना ॥ म. भा. अश्वमे. ९१।३०॥

* म. भा. स्वर्गारो. ३।१३॥ + वनप. ९४।४॥

क्षत्री सो जो कुटुम से जूझै। पांचों मेटि एक के बूझै॥
जीवहिं मारि जीव प्रतिपालै। देखत जन्म आपनो हारै॥
हालै करै निशानै घाऊ। जूझि परै तब मनमथ राऊ॥

त एव क्षत्रियाः शूरा + युद्ध्यन्ति स्वेन्द्रियैर्हि ये।
कुटुम्बैर्बन्धदैः क्रूरैः सदा स्वार्थपरैश्छलैः॥६॥
तेभ्यो युध्वा विजित्यैतानाच्छिद्य तत्स्वतन्त्रताम्।
सर्वत्रात्मानमालोच्य पश्यन्त्येकात्मकं जगत्॥७॥
मारयित्वा मनश्चेदं कुर्वते जीवरक्षणम्।
पश्यन्तश्च स्वमात्मानं स्वं जन्म हारयंति तैः॥८॥
अतिशीघ्रं च संधाय कामक्रोधादिशत्रुषु।
अर्पयित्वा विवेकाख्यं वाणं कुर्वंति ते व्रणम्॥९॥
मन्मथेन ततो युध्वा स्ववशे स्थापयंति तम्।
भवंति ते महापूज्याः क्षत्रियाः सर्वनिर्भयाः॥१०॥

'वास्तविक क्षत्रिय' वह है जो कुटुम्बों (इन्द्रियों) से युद्ध करता है और पाचों ज्ञानेन्द्रियों की सत्ता-प्रभुत्व को मिटा करके एक आत्म-स्वरूप सिद्ध करके ही सबको देखता है (बूझता—जानता है)॥ और जैसे लौकिक क्षत्रिय दुष्ट प्राणी को मारकर अन्य की रक्षा करता है, तैसेही यह क्षत्रिय जीव (मन) को मारकर जीवात्मा की रक्षा करता है, तथा अपने स्वरूप को देखते २ में अपना जन्म को हारता (नष्ट करता) है॥ और हालै (शीघ्र) निशाना करके कामादि शत्रुओं को

+ बलेन परराष्ट्राणि गृह्णंश्छूरस्तु नोच्यते। जितो येनेन्द्रियग्रामः स शूरः कथ्यते बुधैः॥ दक्षस्मृ. अ. ७॥ यस्मिन् धर्मो विराजेत तं राजानं प्रचक्षते। यस्मिन् विलीयते धर्मस्तं देवा वृषलं विदुः॥ म. भा, शा. ८९। १४॥ तदेतत्क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्मः। श्रुतिः॥

घाव (क्षत विक्षत) करता है। फिर मन्मथ राजा (कामदेव) से युद्ध कर बैठता है, और उसका पराजय करता है॥

साखी।

शून्य सनेही राम बिनु, चले अपन पौ खोय।
मनमथ मरै न जीवई, जीवहिं मरण न होय ॥८३॥

आनन्दसत्यताशून्ये विषयादौ तु ये नराः।
स्नेहपाशेन संनद्धा भयाद्दिक्षु द्रवन्ति ते ॥११॥
रामेण च विना लक्ष्यं स्थानं त्यक्त्वा निजं शुभम्।
मन्मथादिवशे भूत्वा म्रियन्ते ते पुनः पुनः ॥१२॥
म्रियेत मन्मथोऽत्यन्तं पुनर्न जीवितो भवेत्।
यदि तर्हि न जीवस्य मरणं क्वापि संभवेत् ॥१३॥
यावन्न म्रियते मारस्तावज्जीवो न जीवति।
जीवन्नपि मृतैस्तुल्यो मारसंत्त्वे हि तिष्ठति ॥१४॥
यावन्न कामो म्रियते न लभ्यते रामश्चिदानन्दमयः सनातनः।
यावद्वशे नेन्द्रियमानसान्यपि जीवन्मृतस्तावदयं निगद्यते ॥१५॥
जीवन्मुक्तास्तु निष्कामाः प्रपद्यन्ते मृतिं नहि।
प्राणोत्क्रान्तिर्हि कामेन भवति ज्ञानिनां न सा ॥१६॥८३॥

इति हनुमद्दासविरचिते रमयणीरसोद्रेके स्वाराज्यार्थिक्षत्रियवर्णनं नामैकचत्वारिंशत्तमः प्रवाहः ॥४१॥

आनन्दशून्य विषयादि में स्नेह करनेवाला, सर्वात्मा राम की प्राप्ति बिना अपना पौं ( दाव–अवसर ) खोयकर चलता है ( बार २ मरता है )। और यदि मन्मथ मर जावे, और वह फिर जीवित नहीं होवे, तो जीव का कभी मरण न होय ॥८३॥

इति मोक्षार्थी क्षत्रिय प्रकरण ॥४१॥

## रमयणी ८४, जीवसंबोधन प्रकरण ४२.

ये जियरा तैं दुखहिं सम्हारू । जे दुख व्यापि रहल संसारू ॥
माया मोह बँधा सब कोई । अलपे लाभ मूल गौ खोई ॥
मोर तोर में सबे बिगूता । जननी उदर गर्भ महँ सूता ॥

भो जीवास्तन्महद्दुःखं जानीतात्यवधानतः ।
यद्दुःखमत्र * संसारे व्याप्य सर्वत्र तिष्ठति ॥१॥
तज्ज्ञात्वा भाविनस्तस्मान्मुक्तये वै विचिन्त्यताम् ।
अत्रैव सा भवेन्मुक्तिर्नान्यत्र सुलभास्ति सा ॥२॥
एतत्त्वस्ति महद्दुःखं मायया यद्धि जन्तवः ।
बद्धाः सन्तीह मोहेन वर्तन्ते च पिपासिताः ॥३॥
अल्पेनैव तु लाभेन तेषां मूलं दिनाशितम् ।
तन्न पश्यंति मोहेन हा हता मूढजन्तवः ॥४॥
ममेदं च तवेदं चेत्युपलब्धियुता जनाः ।
रागद्वेषादिसंयुक्ता मूलं सर्वे व्यनाशयन् ॥५॥
मूलं तत्साधनं हित्वा मृत्वा सत्वा कुबुद्धयः ।
जनन्या उदरे गर्भा भूत्वा तत्र त्वशेरत ॥६॥

यें (हे) जियरा (जीव) ! तुम उस दुःख को पूर्ण सावधानी से समझो, और उससे बचो कि जो दुःख संसार भर में व्याप्त हो रहा है ॥

* न देहिना सुखं किञ्चिद्विद्यते विदुषामपि ॥ तथा च, दुःखं मूढानां वृथाऽहङ्करणं परम् ॥ भाँ. स्क. ११।१०।१८॥ इच्छा द्वेषो भय मोहः क्षुत्तृण्निद्रा तथैव च । विण्मूत्रबाधा चेत्येतदचिकित्स्यं हि देहिनाम् ॥ आत्मपु. १।५०३॥ हैमी लौहाथवा यद्वच्छृङ्खला बन्धनप्रदा । दैवो वा मानुषो वाऽयं देहो दुःखप्रदस्तथा ॥ आत्मपु. १६।१०६॥

सब माया मोह से बँधे हैं। थोड़े लाभ में मूल खो बैठे हैं ॥ मोर तोर में सब अपने मूल सुख को बिगोये, और माता के उदर में गर्भ (बच्चा) होकर सोये ॥

इ बहु खेल' खेलै बहु रूता। जन भँवरा अस गये बहूता।
उपजि विनशि योनिहिं फिरि आवै। दुख संताप कष्ट बहु पावै।
सुखक लेश स्वप्नहु नहिं पावै। सो न मिला जो जरत बुझावै।

> चेत्क्रीडन्ति जनित्वैते बहुधा रोरुदन्ति च।
> संसक्ता विषये पुष्पे भ्रमरा इव मोहिता॥७॥
> विषयाक्ता गताः केचिदन्ये यास्यति याति च।
> जनित्वा ते विनश्यात्र त्वागच्छन्त्येव योनिषु॥८॥
> दु खानि बहुधा तापान् कष्टानि प्राप्नुवन्ति ते।
> स्वप्नेऽपि सुखलेश तु नाप्नुवति कदाचन॥९॥
> जाज्वल्यन्तश्च कामाद्यैर्नश्यन्त्येव कुबुद्धय।
> तत्तु तेषा न संप्राप्त ज्वलन यन्निवारयेत्॥१०॥
> शांति कुर्यात्सुख दद्याद्रागद्वेषौ निर्मूलयेत्।
> तादृश पुरुषो बोधस्तत्त्वं तै लभ्यते न च॥११॥

जन्म के बाद यह कभी बहुत खेल खेलता है, कभी बहुत रोता है। इसी प्रकार विषय रस के लोभी बहुत जन भँवरा गये ॥ जन्म लेकर सब मरते हैं, फिर योनि म आते हैं, और बहुत दु ख संताप व पाते हैं ॥ स्वप्न में भी सुख का लेश तक नहीं पाते हैं। क्योंकि वह वस्तु इन्हें नहीं मिली है कि जो जलते हुए इनको शान्त करे ॥

मोर तोर में जरु जग सारा । धृक स्वारथ झूठो संसारा ॥
झूठी मोह रहा जग लागी । इनते भागि बहुरि पुनि आगी ॥
जिहि हित के राखै सब कोई । सो सयान बाँचा नहिं होई ॥

ममतातवतावुद्धया ... रागद्वेषादिवह्निभिः ।
चिन्ताशोकचितायां वै दह्यन्ते सर्वजन्तवः ॥१२॥
दह्यन्ते येऽत्र मोहेन कामक्रोधादिसंयुताः ।
धिक्तान् स्वार्थपरान् स्वार्थान् संसारोऽस्ति यतो मृषा॥१३॥
असत्यस्यास्य विश्वस्य मोहो यद्यपि वर्तते ।
स त्यक्त्वाप्यतो लोकाद्गर्भाग्नौ प्रपद्यते ॥१४॥
यं यं स्वस्वहितं मत्वा सर्वे रक्षंति मानवाः ।
स स धनादिकोऽर्थो हि सदा नैवात्र तिष्ठति ॥१५॥
अर्थोऽविनश्वरो नास्ति कायश्च क्षणभङ्गुरः ।
अतोऽन्ते देहिनः सर्वे सर्वं त्यक्त्वैव यांति हि॥१६॥
इत्येवं ध्यायतां साधो तूर्णं मोहं विमार्जय ।
रागद्वेषादिकं त्यक्त्वा संतिष्ठस्व गतज्वरः ॥१७॥

इससे सारा संसार मोर तोर में जल रहा है। यही संसार में व्यापक दुःख है। संसार के स्वार्थ भी झूठ हैं, इससे उसको धिक्कार है॥ उस झूठ वस्तु का मोह संसार में लगा है। इससे इस वर्तमान दुःख से भागकर भी फिर लौट२कर गर्भ नरकाग्नि में ही सब प्राप्त होते हैं॥ जिस धनादि को सब कोई हित मानकर उनकी रक्षा करते हैं, हे सयान! सो कोई पदार्थ बाँचनेवाला नहीं होता है॥

सब माया मोह से बँधे हैं। थोड़े लाभ में मूल खो बैठे हैं ॥ मोर तोर में सब अपने मूल सुख को गँवाये, और माता के उदर में गर्भ (बच्चा) होकर सोये ॥

इ बहु खेल खेलै बहु रूसा। जन भँवरा अस गये बहु उपजि विनशि योनिहिं फिरि आवै। दुख संताप कष्ट बहु सुखक लेश स्वप्नहु नहिं पावै। सो न मिला जो जरत

चेक्रीडन्ति जनित्वैते बहुधा रोरुदन्ति च।
संसक्ता विषये, पुष्पे भ्रमरा इव मोहिता
विषयाक्ता गता केचिदन्ये यास्यंति यान्ति च
जनित्वा ते विनश्यान त्यागच्छन्त्येव योनि
दु खानि बहुधा तापान् कष्टानि प्राप्नुवन्ति
स्वप्नेऽपि सुखलेशं तु नाप्नुवंति कदा
जाज्वल्न्तश्च कामाद्यैर्नश्यन्त्येव कुत
तत्तु तेषा भ संप्राप्तं ज्वलन यन्निव
शान्तिं कुर्यात्सुख दद्याद्रागद्वेषौ नि
तादृशा पुरुषो बोधस्तत्त्व तैं लेभ

जन्म के बाद यह कभी बहुत खेल खेल है। इसी प्रकार विषय रस के लोभी ऐकर सब मरते हैं, फिर योनि में आते हैं पाते हैं ॥ स्वप्न में भी सुख का लेश तक वस्तु इन्हें नहीं मिली है कि जो जलते

॥ श्रीसद्गुरुचरणकमलेभ्यो नमः ॥

# अथ शब्दसुधा प्रारभ्यते ।

सृष्टिं विधाय जगतो निजमायया यः,
स्वासं यथा श्रुतिचयं प्रकटीचकार ।
तस्माद्विमोक्षविषये सुखलब्धये च,
तं नौमि राममजरं जनतात्मरूपम् ॥१॥
वेदादितत्त्वमखिलं निजभाषया यः,
सम्यग्घ्युवाच वचनाऽविषयं स्वरूपम् ।
तं सर्ववन्द्यचरणं शरणं कबीरं,
नित्यं नमामि नमतां भवमुक्तिहेतुम् ॥२॥

कम्* । यं स्यात् ॥३॥ सचित् । दा × स्यात् ॥४॥ नित्य ध्येयम् ।
॥५॥ ज्ञेयं तद्धि । शुद्ध बुद्धम् ॥६॥ एवं + लभ्यम् । सांख्यं
७॥ साधनैश्चागमैः । सत्कर्मैः साधुभिः ॥८॥ त्यागतः पुण्यजैः ।
कौशलैः ॥९॥ निर्मलं स्वप्रभम् । ज्ञायते सद्गमम् ॥१०॥ ध्यायते
जायते स्वप्रभम् ॥११॥ आनन्दो शश्वैकः सत्यं चिद्ब्रह्माऽहम् ॥१२॥
त्विदमहो । परपदं ह्यतिशयम् ॥१३॥ - यस्मिन्नेतत्सर्वं विश्रम् ।

---

ओंकारलक्ष्य रा (विभु), क (सुख) ब्रह्म सर्वस्य प्राप्नुयात् ॥
*चिरस्वरूप दा (कल्याणमानन्दः) सर्वस्य भूयात् ॥
येये शैये च महीत्यर्थः ।
+देय कर्मादि ये कुर्वन्ति तेषा कौशल विवेकविचारादिपरत्वम् ॥

उपराम होकर नित्यानन्द घनात्मा राम में रमता है, ज्ञानी मुक्त होता है इससे विवेकादि की सिद्धि के वास्ते ही इस प्रकरण का/ सद्‌ निर्माण ( रचना ) किया है ॥

इति जीवसम्बोधन प्रकरण ॥४२॥

त्यक्त्वैव विश्वरमणं शमनादियुक्तं,
सम्यग् विधाय दमनं मनसः सुबुद्ध्या ।
रामेऽत्र साधुरमणं परमं विधातु-
मेनद्ध्युवाच सुगुरुः सुजनाः शृणीध्वम् ॥२८॥
रसोद्रेकेण संयुक्तं श्रुत्वा चोक्त्वा जना इदम् ।
ज्ञानिनो बन्धनिर्मुक्ता भवन्तु सुखिनः सदा ॥२९॥
हनुमतः कृतिं चैतां सज्जना ये विमत्सराः ।
कुर्वन्तु सफलां चातस्तुष्यन्तु गुरवो मम ॥३०॥
रामः सत्यचिदानन्दः सर्वात्माऽसौ निरञ्जनः ।
अव्यक्तो व्यक्ततां यातु सर्वस्य हृदये प्रभुः ॥३१॥

इति हनुमद्दासविरचिते रमयणीरसोद्रेके जीवसंबोधन नाम द्विचत्वारिंशत्तमः प्रवाहः ॥४२॥ समाप्तोऽयं रसोद्रेकः ।

सर्वेवेद सतशास्त्र के, सार हिन्दि के माहिं ।
जो अवतारेउ हिंद में, सो हनुमत गुरु आहि ॥
प्रथम भागकी सुजन हित, भाषा टीका सार ।
हनूमान निजमति यथा, करि गुरुवचन विचार
टीका सहित जो भाग यह, पढहिं प्रेम उर धार
सतगुरु ताको तारि हैं, दय सद्भक्ति विचार

इति प्रथम रमयणी प्रकरण संपूर्ण ।

---

न्द्रियादिसगमे। प्रियता न तस्य समवेद् निलय तु यत्तमो व्रजेत् ॥४८॥ काम्यकर्म तदनुदाया यत्र न स्युरिह पुरुषे। कर्मबन्धमदनिगत. साधुरेव भवनियुतः ॥४९॥ यस्य नास्ति भववारिधौ देहगेहवनितादिपु। स्नेहलेश जनिरस्य वै जन्मबीजनिगतप्रियः ॥५०॥ इति विहितमतिमतामखिलभुवन-सुहृदाम्। श्रुतिगतविमलगति र्धृतिगतविकृतिभिदा ॥५१॥ शौचाभ्यां तपसा मौनादजस्र श्रवणादिभिः। अहिंसादिभिराशुद्धरेवा गतिरवाप्यते ॥५२॥ यदिदमात्मनि प्रदृश्यते ह्यखिलमिन्द्रियैरथोऽन्यतः। तदधिक विनश्वर पर ननु मनोमय विकल्पितम् ॥५३॥ चक्षुर्भ्यां श्रवणादिना च य गृह्णीया-न्मनसाऽपि वा किमु। विद्यात्त क्षणभगुर पर मायामात्रमथो मनोमयम् ॥ ५४॥ पुसो यस्य भवति नामेय सत्यभ्रान्तिरहह सोऽत्रत्ये 'सभ्रान्तो भ्रमति न यावत्स जानात्यद्वयमग्राह्यम् ॥५५॥

यो न ज्ञानयुक्तो न भक्तिनिपुणो ध्यानैकनिष्ठश्च नो,
नो साधुर्न विरक्तियुक्तधिषणः शुद्धा गतिर्यस्य नो।
नैवास्ते च गुरुर्न मङ्गलयुतो दोषैकनिष्ठः सदा,
मायाद्वन्द्वपराजितः स भुवने भ्रान्तो मुधा भ्राम्यति ॥५६॥
तस्याप्यत्र सुबोधनाय निपुणं ज्ञानादिसम्पत्तये,
सर्वं ह्युक्तरहस्यसारसहितं वक्तुं परं पावन।
शब्दाख्यं सुमनोहरं हि कृतवान् भागं परं पावनं,
तं शृण्वन्तु जनाः सटीकमधुना दत्तावधाना मुदा ॥५७॥
जीवं वस्तुतया रामं मत्वा सद्गुरुरुक्तवान्।
रामेति वचनं ह्यादौ किम्वाह जगतां प्रभुम् ॥५८॥

चिदानन्दघन ब्रह्म का, सद्गुरु का धरि ध्यान।
भाषा भणित कि भणिति लघु, भाषा सुनहु सुजान ॥१॥

श्रीसद्गुरुचरणकमलेभ्यो नमः ।

—: सद्गुरु :—

# कबीर साहेब कृत बीजक ।

[ स्वानुभूतिसंस्कृतव्याख्यासहित ]

## ॥ अथ द्वितीय शब्द प्रकरण ॥

### शब्द १, राममाया प्रकरण १.

राम तेरी माया द्वन्द्व मचावै ।
गति मति वाकी समुझि परे नहिं, सुर नर मुनिहिं नचावै ॥

भो राम! तव मायेयं * सदा द्वन्द्वविधायिनी ।
प्रकृतिः सर्वविश्वस्य तव शक्तिस्वरूपिणी ॥१॥
यावन्न ज्ञायते मत्या क्रूरा तस्या गतिर्जनैः ।
तावन्नर्तयते सर्वान् देवानृष्श्च मुनीनपि ॥२॥

---

†रमन्ते योगिनो यस्मिन् स रामः सत्सुखात्मकः । प्रत्यक्चेतनसर्वात्मा
[illegible] ब्रह्म न संशयः ॥ तथोक्त रामपूर्वता. १। ६–७॥ रमन्ते योगिनोऽनन्ते
[illegible]त्यानन्दे चिदात्मनि । इति रामपदेनासौ पर ब्रह्माभिधीयते ॥ चिन्मयस्या
द्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिण । उपासकाना कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना ॥

* एषा चतुर्विंशतिभेदभिन्ना मायापरा प्रकृतिस्तत्समुत्थौ । कामक्रोधौ
[illegible]लोभमोहौ भय च विषादशोकौ च विकल्पजाल्म् ॥ धर्माऽधर्मौ सुखदु खे

हे राम (जीवात्मन्) ! तेरी माया (तेरे स्वरूपाश्रित अविद्या) सदा जन्ममरण रागद्वेषादि द्वन्द्वों को मचाती (उत्पन्न) करती है। उसकी गति मति समझ में नहीं आती। या मति (बुद्धि) से उसकी गति (आश्चर्य-चाल) नहीं समझ में आती, वह सुर नर मुनि सबको नचाया करती है, सो क्यों कैसे नचाती है इत्यादि ॥

का सीमर के शाखा बढ़ाये, फूल अनूपम बानी।
केतिक चातक लाग रहे हैं, चाखत रुवा उड़ानी ॥

शाल्मलेरिव शाखाया वृद्धौ किं स्यात् प्रयोजनम्।
पुत्रपौत्रादिरूपाया यावद् द्वन्द्वानि सन्ति ते ॥३॥
शाल्मलेरेव पुष्पं च यथा स्यान्मनसः प्रियम्।
दर्शनेऽनुपमं भाति गन्धसारादिवर्जितम् ॥४॥
पुत्रपौत्रादितस्तद्वद् या गतिः सौख्यसम्पदः।
ताः सर्वा विरसास्तुच्छा द्वन्द्वसत्त्वे भयप्रदाः ॥५॥
फलार्थं शाल्मलिं यद्वत् सेवन्ते चातका भुवि।
स्वादार्थं सम्प्रवृत्तौ च तूलमुड्डीय गच्छति ॥६॥
संसारशाल्मलिं तद्वत्सेवन्ते सर्वजन्तवः।
स्वादार्थं सम्प्रवृत्तौ च तत्फलं नश्यति क्षणात् ॥७॥

सीमर की शाखाओं के समान वह माया तेरे पुत्रादिकों को बढ़ाती है। तथा उसीका निःसार निर्गन्ध पुष्प तुल्य देखने मात्र के लिये सुन्दर धनादि को प्राप्त कराती है, तो उससे क्या, ये सब निरर्थक हैं। चातक के समान कितने जीव इनमें फंसे हैं, परन्तु सुख का स्वाद

च सृष्टिर्विनाशगाकौ नरके गतिश्च। वासः स्वर्गे जातयश्चाश्रमाश्च रागद्वेषौ विविधा व्याधयश्च ॥ ब्रह्मपु. ॥

नुभव) के लिये चाखते (भोग में प्रवृत्त होते) ही सीमर की रुवा की ई सब उड़ जाते (नष्ट होते) हैं॥

काह खजूर बड़ाई तेरी। फल कोई नहिं पावै।
ग्रीषम ऋतु जब आय तुलानी। छाया काम न आवै॥

खर्जूरस्येव वृद्धया वा कुलगोत्रादिवृद्धितः§।
किं महत्त्वं भवेद्देव सत्फलं चेन्न लभ्यते॥८॥
खर्जूरस्य बहूच्चैस्त्वाद् यथा न प्राप्यते फलम्।
अभिमानोन्नतेभ्योऽपि तथा न लभ्यते फलम्॥९॥
ग्रीष्मे शान्तिप्रदा यद्वत्तस्यच्छाया भवेन्नहि।
तथैव कुलजात्यादिवृद्धिर्मृत्यौ न+ शान्तिदा॥१०॥

माया से यदि खजूर की नाईं बड़ाई मिली तो उससे क्या। इस ो बड़ाई से कोई सच्चा फल नहीं पा सकता॥ और मरणादि काल । ग्रीष्म काल जब आय तुलाया (आ पहुंचा) तब इस बड़ाई की या काम नहीं आती॥

पने चतुर और को सिखवै। कनक कामिनी स्यानी॥
हिं कबीर सुनहुहो सन्तो। राम चरण ऋत मानी॥

§ किं कुलेनोपदिष्टेन विपुलेन दुरात्मनाम्। कृमयः किं न जायन्ते सुमेषु सुगन्धिषु॥ हीनजातिप्रसूतोऽपि शौचाऽऽचारसमन्वितः। सर्व-र्थकुशलः स कुलीनः सतां वरः॥ भविष्यपु. ४।२०५।२१-२२॥

+ रागद्वेषतमःक्रोधमदमात्सर्यरंजनम्। विना रामतपोदानाद्यपि क्लेशो वस्तुदम्॥ यो. वा. ३।६।१०॥

हा तथापि महत्त्वार्थे स्वर्णकान्तादिलब्धये ।
चातुर्यं कुर्वते सर्वे शिक्षयन्ति जनानपि ॥११॥
कनकादौ प्रवीणा हि स्वयमन्यांश्च मानवान् ।
तच्छासति कुचातुर्यं नात्मानं राममव्ययम् ॥१२॥
भोः साधो श्रूयतां सत्यं रामे संचरणं हितम् ।
तदेव क्रियतां देव नान्यसङ्गो विधीयताम् ॥१३॥
रामे संचरणं सत्यं तदेव परमं पदम् ।
श्रीकबीरो ब्रवीत्येवं सावधानेन मन्यताम् ॥१४॥
कुलगोत्रादिवृद्ध्या किं विपुलेन धनेन वा ।
यावन्न मनसः स्थैर्यं तावत्सर्वं निरर्थकम् ॥१५॥
मैत्र्यादिभावनेनातो मनःस्थैर्यं विधीयताम् ।
द्वन्द्वानि सद्विवेकाद्यैर्मायां चापि त्यज ध्रुवम् ॥१६॥
" रागो × द्वेषो भयं मोहो हर्षः शोकोऽभिमानिता ।
कामः क्रोधो विषादश्च दर्पश्चालस्यमेव च ॥१७॥
इच्छा लोभश्च दम्भाद्याः परब्रह्मपुतापिता ।
अज्ञानं त्यज्यतामेतत्तथा पापजनैः कृतम् " ॥१८॥

उक्त माया द्वन्द्व में फंसा हुआ मनुष्य कनक कामिनी आदि के लिये आप स्वयं चतुर रहता है, और अन्य को भी कनक कामिनी की ही सयानी ( चतुराई ) सिखाता है ॥ साहब का कहना है कि हे साधो ! राम में संचरण ( राम के विचारादि ) को ही सत्य मानकर श्रवणादि करो । या सगुणोपासना काल में राम गुरु की पादसेवा को ही सत्य मानकर भी श्रवणादि करो, और किसी प्रकार माया द्वन्द्व रहित होवो ॥१॥

× ग. भा. शा. १५१।६-७॥

## शब्द २.

माया महा ठगिनि हम जानी ।
त्रिगुणी फॉस लिये कर डोलै, बोलै मधुरी वानी ॥

मायैषा मलिना धूर्ता साऽस्माभिर्ज्ञायते स्फुटम् ।
गुणत्रयमयान् पाशान् करे धृत्वेव धावति ॥१९॥
जनानां मोहनार्थाय भाषते मधुरां गिरम् ।
अन्तःक्रूरा महातीक्ष्णा क्षिणोति हृदयं क्षुरैः ॥२०॥
सत्त्वं रजस्तमश्चेते मायाजन्या गुणा हि तैः ।
निबध्नाति महामाया देहे देहिनमव्ययम् ॥२१॥
सुखसङ्गात्मना सैव ज्ञानसङ्गात्मनाऽमला ।
निबध्नात्येव सत्त्वात्मा कर्मसङ्गात्मना चला ॥२२॥
रागात्मा सा निबध्नाति प्रमादाद्यात्मना तथा ।
मूढा बध्नाति सर्वत्र देहे देहिनमञ्जसा ॥२३॥
" सत्त्वं + ज्ञानं तमोऽज्ञानं रागद्वेषौ रजः स्मृतम् ।
एतद्व्याप्तिमदेतेषां सर्वभूताश्रितं वपुः " ॥२४॥

हमलोगों ने माया को महा ठगिनी समझा है । वह तीन गुणमय, ज्ञानसुख, रागद्वेष, मोहादि रूप फॉस अपने हाथ में लेकर संसार में फिरती रहती है, और स्त्री आदि रूप होकर मधुरी वाणी बोलती है ॥

केशव के कमला व्है बैठी, शिव के भवन भवानी ।
पण्डा के मूरति व्है बैठी, तीरथ हूं मे पानी ॥
योगी के योगिनि व्है बैठी, राजा के गृह रानी ।
काहू के हीरा व्है बैठी, काहुक कौड़ी कानी ॥

+ मनुः १२।२६॥

केशवस्य गृहे माया पद्मा भूत्वा विराजते ।
शिवस्य भवनेऽचिन्त्या भवानी कथिता बुधैः ॥२५॥
सैव देवलकानां च गृहे मूर्तिः प्रतिष्ठिता ।
तीर्थेषु जलरूपेण वर्ततेऽद्भुतविग्रहा ॥२६॥
योगिनां भवने सैव योगिनी वर्ततेऽनृता ।
राज्ञो गृहे च राज्ञी सा हीरकः कस्यचिद्गृहे ॥२७॥
कस्यापि च गृहे भूत्वा वर्तते कुरूपर्दिका ।
पूज्या सा भवति कापि कचित्तुच्छेव वर्तते ॥२८॥

वही माया केशव ( विष्णु ) के घर में कमला ( लक्ष्मी ) होकर बैठी है । शिव के घर में भवानी ( पार्वती ) होकर बैठी है । तीर्थ के पण्डाओं के घर में देवमूर्ति होकर बैठी है इत्यादि ॥ किसी धनी के घर हीरा आदि रत्न होकर बैठी है, और गरीब के यहाँ पैसा कौड़ी आदि रूप से बैठी है, अर्थात् ये सब नामरूप माया की ही विशेष व्यक्ति हैं । या माया किसी अविवेकी के यहाँ अमूल्य हीरा होकर बैठी है, और किसी विवेकी की दृष्टि में तुच्छ है ॥

भक्ता के भक्तिनि ह्वै बैठी, ब्रह्मा के ब्रह्मानी ।
कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो, ई सब अकथ कहानी ॥२॥

भक्ती भूत्वा हि भक्तानां ब्रह्माणी ब्रह्मणस्तथा ।
गृहे तिष्ठति सा माया ह्येवमन्यत्र* तिष्ठति ॥२९॥
अमूः सर्वाः कथास्तस्या अकथाया उवाच ह ।
गुरुः शृण्वन्तु ता नित्यं सज्जनाः सावधानतः ॥३०॥

*सर्वेषां गृहे हृदये वाचि व्यवहारे सा तिष्ठतीत्यर्थः ॥

श्रुत्वा तांस्तत्त्वतो ज्ञात्वा छित्त्वा तद्बन्धनानि च ।
तां विधूयात्मबोधेन नित्यमुक्ता भवन्तु हि ॥३१॥
तत्तमोलक्षणः × कामो ह्यर्थस्तद्रजसस्तथा ।
तत्सत्त्वलक्षणं धर्मः श्रैष्ठ्यमेषां यथोत्तरम् ।३२॥
धर्मेण प्राप्यते स्वर्गः पापेन त्वधमा गतिः ।
द्वयं ज्ञानासिना छित्त्वा शांतिमृच्छन्तु वै बुधा ॥३३॥२॥

अकथ (अनिर्वचनीया–अद्भुतरूपवाली) माया की ही यह सब कहानी (कथा) है। उसे सुनो, और उसकी वञ्चना से रहित होने के लिये सावधान होवो ॥

## शब्द ३.

सन्तो आवै जाय सो माया ।
है प्रतिपाल काल नहिं वाके, ना कहुं गया न आया।

यदाऽऽयाति च संयाति करोति विविधास्तनूः ।
उत्पत्त्या वा विकाराद्यैः सा मायेति विनिश्चयः ॥३४॥
भोः साधो लक्षणं ज्ञात्वा मायायास्तद्विलक्षणम् ।
रामं विद्धि विवेकेन गत्यागत्यादिवर्जितम् ॥३५॥
नास्ति रामस्य कोप्यत्र रक्षको नापि चान्तकः ।
रक्षकः स तु सर्वस्य सत्तया स्वप्रकाशतः ॥३६॥
गतवान्न + स कुत्रापि कुतो नागतवांस्तथा ।
वर्तते •सर्वदा सर्वहृदयेष्वात्मरूपतः ॥३७॥

× तस्या मायाया य आध्यात्मिकस्तमोंशस्तस्य स्वरूपः कामो वर्तते इत्याद्यर्थः ॥

+ 'मायिन तु महेश्वरम्' श्वे. ४।१। इत्यादि श्रुतिप्रोक्तः सर्वज्ञ· सर्वशक्तिमान् मायया सर्वकृदपि जगदीश्वरो रागद्वेषादिहीन एव । पारमा-

परिणाम क्रिया उत्पत्ति आदि द्वारा जो वस्तु आने जानेवाली है, सो माया है और उस सर्वात्मा राम के कोई प्रतिपाल कालादि नहीं है, न वह कभी कहीं गया, न कहीं से आया ॥ इससे जिसमें क्रिया विकारादि समझो, उसे माया जानो, और क्रियादि रहित सर्वात्मस्वरूप राम को जानो ॥

क्या मकसूद मच्छ कछ होना, शंखाऽसुर न संघारा ।
है दयाल द्रोह नहिं वाको, कहहु कौन को मारा ॥
नहिं वे कर्ता व्राह कहायो, धरणि धरो नहिं भारा ।
इ सब काम साहब के नाहीं, झूठ कहै संसारा ॥

मत्स्यत्वेन फलं किं स्यात्कच्छपत्वेन वा विभोः ।
नासौ शङ्खाऽसुरं शूरं संजहार महाप्रभुः ॥३८॥
स दयालुर्न × तु द्रोहो वर्तते तस्य कैः सह ।
कथ्यतां स प्रभुः कस्मात्केषां प्राणान् व्ययोजयत् ॥३९॥
स कर्ता * न वराहोऽभूद् धृतवान्न भरं भुवः ।
कर्म सर्वं प्रभोर्नेदं मिथ्यैव भाषते जगत् ॥४०॥
पूर्णकामं दयालुं तं भाषमाणो भजन्नरः ।
याति तद्भावतामन्ते ह्यन्यथा याति चान्यताम् ॥४१॥

र्थिकश्च "निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्" श्वे. ६। १९, इत्यादि श्रुतिप्रोक्तोऽक्रियासङ्गस्वरूपो बोद्धव्यः । किञ्च स्वार्पितशक्तिमद्विष्ण्वाद्यवतारादिद्वारा विशेषकार्यकारित्वेऽपि न स्वयं साक्षात्तत्तनुमान् विशेषः परमेश्वरो भवति सर्वात्मभावात् । एतच्च निवेदितं प्रागपि इति भावः॥

× एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकः । छा. ८।१।५॥

* अंशांशोंऽशस्तथाऽऽवेशः कलापूर्णः प्रकथ्यते । व्यासाद्यैश्च स्मृतः षष्ठ. परिपूर्णतमः स्वयम् ॥ इत्यादि गर्गसंहितादिभिर्बहुविध उक्तोऽवतारो

मत्स्य वा कच्छप होने से पूर्णकाम राम को क्या मकसूद (जरूरत इष्ट-फल) है, वह शंखासुर का संहार नहीं किया ॥ वह केवल दयालु स्वरूप है, उसको किसीसे द्रोह नहीं है। तो द्रोह विना कहो वह किसको मारा इत्यादि ॥

खम्भ फोरि जो बाहर होई, ताहि पतिज सब कोई ।
हिरणाकश नख उदर विदारे, सो नहिं कर्ता होई ॥
बावन होय नहिं बलि को याँच्यो, जो याँचे सो माया ।
बिना विवेक सकल जग भरमे, माया जग भरमाया ॥

स्तम्भं विदार्य यो देवो बहिराविर्बभूव ह ।
तं विश्वसति वै सर्वे पतिं मत्वा भजन्ति च ॥४२॥
हिरण्यकशिपोर्यश्चोदरं दारितवान् नखैः ।
नाऽसौ कर्ता नृसिंहोपि दयालुर्द्रोहवर्जितः ॥४३॥
खर्वो भूत्वा बलिं नैवमयाचत महाप्रभुः ।
किन्तु* या याचतेस्माऽसौ माया विश्वविमोहिनी ॥४४॥
विवेकेन विनाऽनेन भ्राम्यन्ति सर्वेजन्तवः ।
माया च भ्रमयत्येषा सर्वं संसारिणं जनम् ॥४५॥

जो नृसिंह खंभा फोड़कर बाहर होते हैं, उनका ही सब कोई पतिज ( विश्वास ) करता है। या उनको पति मानकर जय मनाता है ( जय

भगवतो विष्णोः सांशैकदेहयुपाधिकस्यैव । तस्यैव, देवादिरक्षणप्रयोजन-सत्त्वात् सर्वेशितुर्मायया विना तस्यापि प्रयोजनाऽसिद्धेस्तत्र मायैव कार्य-साधिकेति मायात्मिका एवावताराः । तावद्व्यक्तस्वरूपमात्रे चेश्वरादिबुद्धि-र्लोकानां भ्रमात्मिकैव, तन्मूलकं च मिथ्याभाषणमिति भावः प्रतिभाति ॥

* मिथ्या ज्ञानमुत्पाद्य प्रवर्तनशीला मायैव, वामनेन च तथा कृत-मिति तत्र साक्षान्मायालक्षणं लक्ष्यते । मायारचितदेहेनापि ये सत्पुरुषा

चाहता है ) और वह कर्ता राम सदा सर्वत्र वर्तमान है। हिरण्यकश्यपु के उदर को नख से फाड़नेवाला कर्ता नहीं है॥ माया और राम के विवेक विना सब जग भ्रम में पड़ गया कि रामही वावन होकर वलि को जाचे थे, और याचनेवाली मायाशक्ति ने सबको भरमाया इत्यादि॥

परशुराम व्हे क्षत्रि न मारा, ई छल माया कीन्हा।
सतगुरु भक्ति भेद नहिं जान्यो, जीवन मिथ्या दीन्हा॥
सिरजनहार न व्याही सीता, जल पषाण नहिं बंधा।
वे रघुनाथ एकको सुमिरे, जो सुमिरै सो अंधा॥

भूत्वा परशुरामो * वा क्षत्रान् मारितवान्न सः।
इदं छलं बलं सर्वं माया कृतवती चला॥४६॥
सद्गुरूणां तु भक्त्येदं रहस्यं नाविदुर्हि ये।
ते स्वजीवनसर्वस्वं संसाराब्धौ समार्पयन्॥४७॥
सर्वस्रष्टा न तां सीतामूढवान्न च बन्धनम्।
सेतोर्वा कृतवानब्धौ पाषाणैः परलब्धये॥४८॥
रामः सीतापतिश्चासौ रघुनाथः पराऽद्वयम्।
एकमेवास्मरद्राममन्यं स्मरति चान्धधीः॥४९॥

---

यदा विपरीतज्ञानादिकं न जनयन्ति तदा ते न मायात्मका मायाविनो वा कथ्यन्तेऽन्यथा तु कथ्यन्त एवेत्यादि॥ वलिमयाचत्, इत्यस्य वलेः सकाशाद्वसुधामयाचत्, वलिमवञ्चयदिति वा प्रकरणानुसारेणार्थः सम्भवति, धातूनामनेकार्थत्वात्॥

* गुणावतारपुरुषावतारलीलावतारेषु ब्रह्मादिगुणावताराः क्षीरोदशाय्यादयः पुरुषावताराः। लीलावतारश्च, आवेशावतारस्वरूपावतारभेदेन द्विविध इति केचिन्मन्यन्ते, तत्र परशुरामे परमेशितुः शक्त्यावेशमात्रमिति

राम ने परशुराम होकर क्षत्रियों को नहीं मारा किन्तु यह छल भी माया ने ही किया। जिन्होंने सद्गुरु की भक्ति करके इस भेद ( मर्म ) को नहीं जाना, उन्होंने अपने जीवन ( आयु ) को मिथ्या ( माया ) में ही बीता दिया। वह रघुनाथ एक सर्वात्मा राम का स्मरण करते रहे, तौभी जो लोग उनकी व्यक्तिमात्र का स्मरण करते हैं, सो सत्य राम के विवेक रहित हैं ॥

गोपी ग्वाल न गोकुल आयो, करते कंस न मारा।
मेहरबान सबन के साहब, नहिं जीता नहिं हारा॥
नहिं वे करता बुद्ध कहायो, नहीं असुर को मारा।
ज्ञान हीन करता सब भरमें, माया जग संहारा॥

गोपीभिर्न च गोपैश्च सार्द्धं स गोकुले प्रभुः।
आजगाम न हस्तेन कंसं निहितवांस्तथा ॥५०॥
सर्वोपरि दयावान् स न वा जयति जीयते।
जयाऽजयविहीनत्वाद्राजते सर्वसौहृदः ॥५१॥
यस्य शत्रुर्न वा मित्रं विद्यते भुवने क्वचित्।
स सर्वात्मा कुतो गच्छेद्धन्यात्कं हन्यते कथम् ॥५२॥
न कर्ता कथ्यते बुद्धो नाऽसुरान् संजहार सः।
ज्ञानहीना भ्रमात्सर्वे कर्तारं मन्यते तु तम् ॥५३॥
ज्ञानहीनाञ्जनान् सर्वान् मायैषा संजहार तु।
लोकत्रयेऽपि सर्वान् सा हिनस्ति सर्वदा खलु ॥५४॥

---

तेऽपि मन्यन्त एव। वस्तुतस्तत्र भगवतो विष्णोर्देवस्य शक्त्यावेशो विशेषः, परमात्मनस्तु सर्वत्रैव शक्त्यावेश एव, विभोर्निरवयवस्य साक्षात्क्वचिदपि साकल्येनावेशाऽसम्भवात् ॥

सत्य कर्ता राम गोपी ग्वाल के साथ गोकुल में नहीं आया, न करते (हाथ से) कंस को मारा; क्यों कि वह सबके ऊपर मेहरवान (दयावान) इत्यादि ॥ जो ज्ञानहीन लोग सब कर्ता के विषे भ्रमयुक्त हुए, उनका माया ने संहार किया ॥

नहिं वै करता भये कलंकी, नहीं कलिं गहिं मारा ।
ई छल वल सब माया कीन्हा, यत्त सत्त सब टारा ॥
दश अवतार ईश्वरी माया, कर्ता कै जिन पूजा ।
कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो, उपजै खपै सो दूजा ॥३॥

नापि कल्किर्वभूवासौ भविता न कथञ्चन ।
हतवान्न कलिं च्यातो माया हतवती तु सा ॥५५॥
छलं वलमिदं सर्वं माया कृतवती प्रभोः ।
सत्यं च संयमान् सर्वान् यमान् सैव व्यनाशयत् ॥५६॥
अवतारा दशैते वै मायैव पारमेश्वरी ।
पूज्यन्ते कर्तृबुद्ध्या ये न कर्तारः सतां मताः ॥५७॥
सज्जनैः श्रूयतामेतत्सद्गुरुर्यैक्ति सादरम् ।
उत्पद्य नश्यति ह्यन्यो न कर्तेति विनिश्चितम् ॥५८॥
जायमानं स्थिरं वापि नश्यन्तमखिलं जगत् ।
भासयन् × तस्य चात्मैव कर्ता सर्वत्र वर्तते ॥५९॥
एकोऽपि बहुधा सूर्यो जलाधारेषु दृश्यते ।
तथैकः परमात्मापि सर्वोपाधिषु दृश्यते ॥६०॥

× यथा चुम्बकसान्निध्याच्चलन्त्येताय आदयः । जडा तथा त्वया दृष्टा माया सृजति वै जगत् ॥ देहद्वयमदेहस्य तव विश्व रिरक्षिषोः । विराट् स्थूल शरीर ते सूक्ष्म सूत्रमुदाहृतम् ॥ विराजः संभवन्त्येते ह्यवतारा:

मायया मोहितो जन्तुर्न पश्यति परं पदम् ।
धावते विषयाद्यर्थं दिङ्मोहेष्विव वर्तते ॥२॥
आयुःकल्लोललोलं यत्त्वलीकं स्वप्नवच्चलम् ।
तच्चापि स्वप्नतुल्येऽस्मिन् विषयादौ व्यनीनशत् ॥३॥
सद्गुरुः सारशब्देनोपदेशं दत्तवानिमम् ।
त्यज्यतां विषयो मोहो मार्ज्यतां सुविचक्षणैः ॥४॥
चिकित्सा नरकव्याधेरिहैव क्रियतां द्रुतम् ।
निरौषधेऽन्यथा स्थाने सा कर्तुं शक्यते नहि ॥५॥

मायाजन्य मोह ने जीवों को मोहित किया, मोहित करके माया ने इनका ज्ञान हर लिया ॥ इसीसे जो जीवन ऐसा तुच्छ है, कि जैसा स्वप्न होता है। वह भी जीवन स्वप्नतुल्य विषय व्यवहारादि में ही समाया ( नष्ट हुआ )॥ इस दशा को देखकर सद्गुरु ने उपदेश दिया कि हे परमनिधान ( परम गुण के पात्र विवेकी जन )। तुम इन विषयमोहादिकों को त्यागो ॥

ज्योतिहिं देखि पतंग हुलसे, पशु नहि पेखे आगी ।
काल फास नल मुग्ध न चेतै, कनक कामिनी लागी ॥
शेख सैयद किताब निरखै, सुस्मृति शास्त्र विचारै ।
सतगुरु के उपदेश बिनु ते, जानि के जिव मारै ॥

ज्योतिर्दृष्ट्वा पतङ्गो हि यथाऽऽनन्दं प्रपद्यते ।
दाहकं तन्न जानाति तस्मात्तेन प्रदह्यते ॥६॥
तथैव पशुबुद्धिर्नो जानाति विषयाऽनलान् ।
कान्ताकाञ्चनयोः सक्तः कालपाशान्न पश्यति ॥७॥
शेखाश्च सैयदा ग्रन्थं प्रपश्यन्ति कुराणकम् ।
शास्त्रं स्मृत्यादिकं चान्ये चिन्तयन्ति निरन्तरम् ॥८॥

सद्गुरोरुपदेशेन विना ते तु तथापि हि।
जानन्तो घ्नन्ति वै जीवान् कामलोभादिभिर्वृताः ॥९॥
" जानद्भिश्च कृतं पापं गुरु सर्वं भवत्युत।
अज्ञानात्स्वल्पको दोषः " प्रायश्चित्तेन नश्यति ॥१०॥

जैसे दीपादि की ज्योति देखकर पतंग हुलसता ( आनन्द होता ) है, उसे दाहक अग्नि नहीं समझता है। तैसेही पशुबुद्धि जड मनुष्य भी विषयों को देखकर आनन्द मानते हैं। उन्हें अग्नितुल्य नहीं समझते हैं॥ मुग्ध ( अविवेकी ) नर कनक कामिनी में लागी ( आसक्त हो ) कर, कालफास से बचने के लिये सावधान नहीं होते॥ जो शेख सैयद किताब देखते हैं, वे लोग भी कालफास के वश होने से सद्गुरु के उपदेश विना जानबूझकर भी जीवघात करते हैं॥

करु विचार विकार परिहरु, तरण तारणों सोई।
कहहिं कबिर भगवन्त भजु नल, द्वितिया और न कोई ॥४॥

भोः साधो मोहनाशार्थं विचारः क्रियतां सदा।
त्यज्यन्तां ते विकाराश्च कामाद्या विषयास्तथा ॥११॥
अनुष्ठानं विचारस्य विकाराणां च वर्जनम्।
तरणं तारणं साधो संसाराब्धेर्न संशयः ॥१२॥
" यस्मिंश्च* न कृते दोषस्तत्कर्तव्यं मुमुक्षुभिः।
काम्यं कर्म निषिद्धं च न कर्तव्यं विशेषतः" ॥१३॥
कबीरः सद्गुरुः प्राह भोः सौम्य श्रूयतामिदम्।
भगवन्तं भजस्वैकं द्वितीयं नैव कश्चन ॥१४॥

* यो. वा. ६।१२८।४४॥

" आराधयात्मनात्मानमात्मनात्मानमर्चय × " ।
आत्मनाऽऽत्मानमालोक्य संतिष्ठस्वात्मनात्मनि" ॥१५-४॥

हे विवेकी जनो ! विचार करो, मोह काम हिंसादि विकारों को त्यागो। यही दोनों काम तरण तारण हैं । और विचार से सब विकारों को त्याग कर सर्वात्मा राम एक भगवन्त को भजो, दूसरे किसीको नहीं भजो, या भगवन्त से अन्य दूसरा कोई सत्य नहीं है, यही सद्गुरु का मुख्य उपदेश है ॥४॥

## शब्द ५.

सन्तो अचरज एक भौ भारी, कहुं तो को पतिआई ॥
एके पुरुष एक है नारी, ताकर करहु विचारा ।
एके अण्ड सकल चौरासी, भरम भुला संसारा ॥

एकस्माद्धि संजातं विविधं विश्वमण्डलम् ।
श्रीमद्भगवतस्तद्धि महाश्चर्यं किमुच्यताम् ॥१६॥
कथञ्चित्कथनेप्यस्य प्रत्ययं च करोति कः ।
अविवेकिजनः साधो सावधानेन बुध्यताम् ॥१७॥
विद्यते पुरुषो ह्येक आत्मा देवो निरञ्जनः ।
नारी चैकैव मायाख्या विचारः क्रियतां तयोः ॥१८॥
ब्रह्माण्डेष्वपि सर्वेषु वेदाष्टलक्षयोनिषु ।
विद्यते पुरुषो ह्येको नारीपुरुषयोरपि ॥१९॥
मायामात्रमिदं द्वैतं कल्पितं स्वप्नवन् मृषा ।
अद्वैतं परमार्थं च कोपि पश्यन्ति तं बुधाः ॥२०॥

× यो. वा. ५।४३।१९॥

सर्वे संसारिणस्त्वेते विचारेण विना सदा।
भ्रमसिद्धेऽत्र संसारे पतन्त्यग्नौ पतङ्गवत् ॥२१॥
यश्चैको वर्तते देवः सर्वत्र सर्वदेहिषु।
तं स्मरन्ति न ते मूढा भ्रमेण संभ्रमंति च ॥२२॥

हे सन्तो! एक भगवान् से अनन्त समार एक भारी आश्चर्यरूप हुआ है। कहने पर भी विश्वास कौन करता है॥ एकही पुरुष और एक नारी से संसार हुआ है, उसका विचार करो॥ एकही सचा तत्त्व ब्रह्माण्ड, सब चौरासी लक्षयोनि में है। उसीको जाने विना संसारी लोग भ्रम में पड़े हैं॥

एके नारी जाल पसारी, जग में भया अंदेशा।
खोजत खोजत अन्त न पाया, ब्रह्मा विष्णु महेशा॥
नागफांस लीये घट भीतर, मूसिन सब जग झारी।
ज्ञान खड्ग बिनु सब जग जूझै, पकरि न काहू पारी॥

नार्यैकैव जगज्जालं देहचित्रं पृथग्विधम्।
विस्तारितवती तेन संशयोऽप्यभवन्महान् ॥२३॥
भयचिन्तामुखाः सर्वे विकारा मानसास्तथा।
तेनैवाऽत्राभवन् साधो विश्वात्मान्तो न विद्यते ॥२४॥
अतश्चान्विष्यमाणास्ते ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः।
नास्यान्तं ययुरन्यस्तु कथमन्तं गमिष्यति ॥२५॥
वासनामोहतृष्णादीन् गृहीत्वा नागपाशकान्।
वर्तमाना मनस्स्वेषा बध्वाऽमुष्णाज्जगद्धनम् ॥२६॥
ज्ञानखड्गं बिना सर्वे युध्यन्ते मायया जनाः।
अतः केऽपि गृहीत्वाऽत्र स्थापयंति न तां वशे ॥२७॥

मायारूप एक नारी ने बहुत भारी जाल फैलाया है, इसीसे ससार में सशय भ्रमादि उत्पन्न हुए हैं ॥ मायारचित जाल का अन्त को ब्रह्मा आदि भी नहीं पाये। खोज २ कर हैरान हो गये ॥ कामतृष्णादिरूप नागफास लेकर वह माया सबका घट के भीतर मौजूद रहती है। और उस नागफास से बाधकर सबके ज्ञानविचारादि को उसने चोराय लिया ॥ ज्ञानरूप तरवार विना सब लोग उससे युद्ध करते हैं, इसीसे किसीने उसे पकड़कर वश में नहीं कर सका ॥

आपुहिं मूल फूल फुलवारी, आपुहिं चुनि चुनि खाई ।
कहहिं कबीर तेइ जन उबरे, जिहि गुरु लियो जगाई ॥५॥

यावन्न जीयते माया तावत्स्वप्नोपमे स्वयम् ।
स्वयं मूलं भवन् ह्यस्य संसारोपवनस्य च ॥२८॥
पुष्पस्य कर्मवित्तादेः फलान्यत्ति प्रयत्नतः ।
प्राप्य सर्वेषु लोकेषु योनिषु विविधासु च ॥२९॥
सन्मन्त्रं सद्गुरुर्यं* तु श्रावयत्यनुकम्पया ।
प्रजागर्य स दुःस्वप्नाद्विमुक्तो भवति ध्रुवम् ॥३०॥
संसारस्वप्नमुक्तो हि न पुनर्भवसंक्रमे ।
प्राप्नोतीति गुरुः प्राह सच्छास्त्राणि वदन्ति च ॥३१॥५॥

जबतक माया नहीं जीती जाती, तबतक यह जीवात्मा आपही ससारवृक्ष के मूल कारण, तथा कर्मादिरूप फूल, लोकादिरूप फूलवारी बन, बनाय कर, फिर इसके सुखदुःखादिरूप फलफूलों को चून २ कर खाता है। तथा माया भी सब कार्य बनाकर, स्वय बुद्धिरूप होकर

* गुरुप्रसादतोऽज्ञानहरणे प्रभवेत् पुमान् । नान्यथा परमेशोऽपि सर्वशक्तियुतो हि यः ॥ आत्मपु. १८।१५८॥

भोगती है। कालरूप होकर नष्ट करती है॥ साहब का कहना है कि इस मायाजाल से वे ही जन मुक्त होते हैं कि जिन्हें सद्गुरु मोहनीन्द से जगाय लिया है॥५॥

## शब्द ६.

सन्तो अचरज एक भौ भारी। पुत्र धयल महतारी॥
पिता के संग भई बावरी, कन्या रहल कुमारी।
खसमहिं छोड़ि ससुर सँग गवनी, सो किन लेहु विचारी॥
भाई के संग सासुर गवनी, सासुहिं सावत दीन्हा।
ननद भौज परपञ्च रच्यो है, मोर नाम कहि लीन्हा॥

आश्चर्यं तन्महत् साधो विद्यते विश्वमण्डले।
मोहत्यागं विना पुत्रो मनो मातरमग्रहीत्॥३२॥
मायाख्यां ममतारूपां तद्वद् दुर्बुद्धिकन्यका।
तटस्थेशपितुः संगान्मुग्धाऽस्त्यत्र कुमारिका॥३३॥
असङ्गात्मपतिं हित्वा सद्गुरुं च विवेकिनम्।
अद्वैः कुगुरुभिः सार्द्धं याति तत्किं न चिन्त्यते॥३४॥
अहो सा मनसा भ्रात्रा यात्येव कुगुरोर्गृहे।
लोकान्तरे ततो माया सपत्नीत्वं हि गच्छति॥३५॥
ननन्द्राऽविद्यया सार्द्धं कुबुद्धिर्भ्रातृवल्लभा।
देवादीनां प्रिया नित्यं प्रपञ्चं कुरुते मुदा॥३६॥
प्रपञ्चं हि तया कृत्वा ममता क्रियते सदा।
संख्याति सकलं विश्वं मृषैवात्मनि कल्प्यते॥३७॥

हे सन्तो! पुत्र मन माया माता को पकड़ा सो भारी आश्चर्य हुआ॥ बुद्धिरूप कन्या तटस्थेश निजदेवादि के साथ बावरी हुई, जिससे कुमारी

रही ॥ और यह बुद्धि परमात्मा सद्गुरुरूप खसम ( स्वामी ) को त्याग कर वञ्चक गुरु आदिरूप ससुर के साथ चली सो क्यों नहीं विचारते हो ॥ यह बुद्धि मनरूप भाई के साथ लोकान्तर रूप सासुर में चली, और मायारूप सासु को सावत दिया ॥ अविद्यातृष्णादि ननद दुर्बुद्धि भौज मिलकर यह प्रपञ्च रचा है, और आत्मदेव सद्गुरु का नाम धर लिया है, अर्थात् उनमें भी प्रपञ्च का आरोप किया है ॥

समधी के सँग नाहीं आई, सहज भई घरबारी ।
कहहिं कबीर सुनहु हो संतो, पुरुष जन्म भौ नारी ॥६॥

समधीनां न सत्संगे कुबुद्धिः सा समागता ।
स्वभावेनाभवच्चैषा गृहसक्ता सुदुर्भगा ॥३८॥
संसारगृहसक्ता हि येषां बुद्धिस्तु वर्तते ।
जन्मना पुरुषास्ते हि स्त्रियो जाता न संशयः ॥३९॥
पराधीना विकर्मस्थाः कामलोभपरायणाः ।
ये ते न पुरुषा ज्ञेयाः पुरुषा वै विवेकिनः ॥४०॥
मायाविमुग्धमनसः समशं विहाय,
शब्दादिभोग्यनिवहे स्वमनो नियुज्य ।
हिंसाद्यकर्मनिरताः सुपराजिताश्च,
मायाबलैः परवशा नितरां भवंति ॥४१॥६॥

इति हनुमद्दासकृतायां शब्दसुधायां मायाजन्यमोहादिवर्णने नाम द्वितीयस्तरङ्गः ॥२॥

जिनकी बुद्धि सम बुद्धिवाले महात्माओं की संगति में नहीं आई और सहज स्वभाव से सिद्ध संसार घर के ही घरवारी (व्यापारवाली)

हुई ॥ साहब का कहना है कि वे लोग जन्म से पुरुष होते भी कर्म से नारी हो गये । हे साधो ! इस बात को सुनो, और समझो ॥६॥

इति मायामोह प्रकरण ॥२॥

## शब्द ७, ज्ञानी की स्थिति प्र. ३.

+ मायि मैं दूनों कुल उजियारी ।
सासु ननद पटिया मिलि बँधलों, भँसुरहिं परलों गारी ॥

यदा मायां वशीकृत्य मायित्वं संभजाम्यहम् ।
प्रकाशेते तदा मेऽस्य संसाराब्धेस्तटे उभे ॥१॥
महामत्स्यो यथा नद्याः संचरेदुभयं तटम् ।
तथा स्वप्ने प्रबोधे च चरामि तदसंगतः ॥२॥
वश्चकादेर्हि दुर्बुद्धिं स्वस्याविद्यादिकांस्तथा ।
निर्जित्यात्मनि बध्वा च लयं तत्र करोम्यहम् ॥३॥
तेषां च विलये साधो सुराणामप्यनादरम् ।
महतां कृतवानस्मि तेनास्माकं भवेत् किमु ॥४॥
आत्मता तेषु संजाता तेन तेऽपि न चेशते ।
रात्रस्माकमभूत्यै वै भेदेनेवादरो न मे ॥५॥

मायी ( माया को अपने वश में करनेवाला ) मैंने तो संसारसमुद्र के दोनों कुल ( तट ) को तथा लोक परलोक को उजियारा ( प्रत्यक्ष )

---

+ अत्र ( मायि मैं ) शब्दाभ्यामीश्वरविद्गुणोरपि सूचनात्तयोस्तु स्वज्योति स्वरूपत्व बोध्यते । किंञ्च यथा काचित् स्त्री स्वमातर प्रति ब्रूयात्तयाऽभिधानात्पतिव्रताया रहस्यधर्मोपि सूच्यते । यथोक्त म. भा.

कर लिया है ॥ और माया अविद्यादिकों को मिलाकर पटाञ्चल में बाध लिया है, या उनसे मिलकर अपना पटिया ( शिर के बाल तुल्य तमोगुण ) को बाँधा है ( अपना सुधार ही किया है ) और मँसुर ( बड़े २ देवादि ) को गाली पारा है। अर्थात् उनमें ही वास्तविक ईश्वरत्वादि का निषेध किया है ॥

जारों मांग तासु नारी की, सरवर रचल धमारी ।
जना पाँच कुखिया में रखलों, और दूइ औ चारी ॥
पार परोसिन करों कलेवा, संगहि बुधि महतारी ।
सहजे बपुरे सेज बिछावल, सुतलों पाँव पसारी ॥

संसारसरसीमध्ये क्रीडा सम्पादिताऽनृता ।
तृष्णाऽविद्यादिभिर्याभिस्तल्ललाटं दहाम्यहम् ॥६॥
इन्द्रियाणि च पञ्चापि द्वन्द्वानि सकलान्यपि ।
चत्वार्यन्तःकरणानि कुक्षौ संस्थापयाम्यहम् ॥७॥
ये संसारात् परे विज्ञास्ते हि मे सहवासिनः ।
तैर्मिलित्वा परानन्दं भोज्यं भुञ्जेऽहमान्हिकम् ॥८॥
सौभाग्यं च ममेदानीं वर्तते सर्वतो ध्रुवम् ।
मातृवद्रक्षिका यस्मात्सुबुद्धिर्वर्तते मह ॥९॥
सदा निन्द्यमिदं देहं लब्धं स्वाभाविकं किल ।
अनायासेन शय्यावत् प्रसार्यात्र शये सुखम् ॥१०॥

---

अनुस्मृ. १४६ । "श्वश्रूश्वशुरयोः पादौ जोषयन्ती गुणान्विता । माता पितृपरा नित्यं नारी धर्मेण युज्यते ॥" इत्यादि ॥ ज्ञानिनोपि कुलादिकं पवित्रं भवति तदपि सूचितम् । उक्तं च सूतसंहितायां ज्ञानयोगखंडे, अ. २०।४५॥ "कुलं पवित्रं जननी कृतार्था विश्वंभरा पुण्यवती च तेन । अपारसच्चित्सुखसागरे सदा विलीयते यस्य मनःप्रचारः ॥"

मनोबुद्धिमयौ पादौ प्रसार्यात्र कलेवरे।
सम्यक् शये परानन्दे जीवन्मुक्तिपदं गतः ॥११॥

उन इच्छा तृष्णा आदिरूप स्त्रियों का क्पार जलाता हू कि जिन्हों
ससार सरोवर में धमार खेल रचा है ॥ पाँच ज्ञानेन्द्रिय, रागद्वेषादि
द्व और चार अन्तःकरण को कुक्षिस्थान में मिलाकर रखता हू, अर्थात्
I सबका निरोध किया हू ॥ और ससार से पार पहुचे हुए जीवन्मुक्त
( पड़ोसी हैं, उनके साथ ब्रह्मानन्द का कलेवा (भोजन) करता हू।
श मे सुबुद्धि माता वर्तमान है ॥ सहज स्वभाव से प्राप्त बपुरा इस
रीर को शय्यावत् बिछायकर इस पर पाँव पसार कर सोता हू, मैं इस
सर्वथा भिन्न हू ॥

आऊँ न जाऊँ मरौं नहिं जीवौं, साहब मेटल गारी।
एक नाम , मैं निजकै गहलौं, ते छूटल संसारी।
एक नाम मैं बदि कै लेखौं, कहहिं कबीर पुकारी ॥७॥

न गच्छामि क्वचित्तस्मान्नागच्छामि कुतोपि च।
* न म्रिये नैव जीवामि दोषाद्यशितवान् गुरुः ॥१२॥
प्रभुणा नाशिते दोषे त्वपशब्दे निवारिते।
सारशब्दं गृहीत्वैकं संसारित्वं पराऽणुदम् ॥१३॥
सारनाम्नो निजानन्दस्वरूपेण सुसंग्रहात्।
संसारित्वमपैत्येव तेनाऽगच्छदिदं स्वयम् ॥१४॥

* यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः। स तु तत्पद
माप्नोति यस्माद् भूयो न जायते ॥ कठो. १।३।८॥

निश्चयेन च नामैकं जानामि सर्वसिद्धये+ ।
इत्येवं सद्गुरुः माहाहूय सर्वजनान् मुहुः ॥१५॥

अब मैं न कहिं जाता हू न कहिं से आता हू, न मरता हू न जीता हू। सदा सर्वत्र एकरस वर्तमान हू। साहब ने मेरे सब गारियों ( दोषों ) को मेट दिया ॥ मैंने एक नाम ( सारशब्द ) निज कै ( खास कर आत्मस्वरूप से ) पकड़ा है, तिसीसे ससारीपन छूट गया ॥ मै एकही नाम को वदि कै ( निश्चय प्रचारकर ) देखता हू। इस प्रकार कबीर साहब पुकार कर ज्ञानी की स्थिति का वर्णन करते हैं ॥७॥

## शब्द ८.

संतो कहौं तो को पतिआई । झूठ कहत साँच बनि आई ॥
लौके रतन अवेध अमोलिक, नहिं गाहक नहिं साँई ।
चिमिकि चिमिकि चिमके दृग दहुंदिशि, अर्व रहा छिरिआई ॥

वदतस्त्वस्मासु भोः साधो ! को विश्वसिति वै जनः ।
मृषैव* कथयत्स्वेवं पर सत्यं प्रसिद्ध्यति ॥१६॥
अवाच्यं× तत्परं तत्त्वं लक्षणा तत्प्रसाधिका ।
तद्भिन्नानां निषेधेन ह्यतद्व्यावृत्तिरूपतः ॥१७॥

+ आत्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इद सर्वं विदितम् । बृ. ४।५।६॥

* असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा निरुपायमुपेयते । आत्मतत्त्वकारणाद्विद्यो गुणवृत्त्या विरोधिताः ॥ नैष्कर्म्यसिद्धौ अ. ३।१०४॥

× षष्ठीगुणक्रियाजातिरूढय शब्दहेतव । नात्मन्यन्यतमोऽमीषा तेनात्मा नाभिधीयते ॥ नैष्क. ३। १०३॥ यस्यचात्मदिकाः सज्ञा. कल्पिता न स्वभावजाः ॥ यो. वा. ४।५।३॥

किम्वा सत्यमिषेणैवाऽसत्यमन्ये वदंति हि।
तत्रैव प्रत्ययं सर्वे कुर्वन्ति स्वाविवेकिनः ॥१८॥
यदमेयममूल्यं च केतृस्वामिविवर्जितम्।
सर्वात्मत्वाद्धि तद्रत्नं दृश्यते तद्विवेकिभिः ॥१९॥
स एव सूर्यचन्द्रादिरूपेण दीप्यते तथा।
अनन्तजीवरूपेण विकीर्णो वर्ततेऽत्र च ॥२०॥

हे सन्तो! कहने पर विश्वास कौन करेगा, झूठ कहने पर साँच सिद्ध हुआ; अवाच्य का भी लक्षणा आदि से बोध सिद्ध हुआ॥ वही अवेध अमूल्य रत्न सर्वत्र दीखता है। सर्वात्मा होने से उसका ग्राहक स्वामी कोई नहीं है॥ तौभी इक (ज्ञानरत्न) दशों दिशाओं में बार २ चमक रहा है, और अर्ब (अनन्त) जीवशिवादि रूप से बिखरा है॥ अथवा कोई साँच के बहाने झूठ कहता है, इस बात को कहने पर कौन विश्वास करेगा, इत्यादि॥

आपेहिं गुरु कृपा कछु कीन्हा, निर्गुण अलख लखाई।
सहज समाधी उनमुनि जागे, सहज मिले रघुराई॥

गुरुभिश्च कृपादृष्टिर्यदा काचित्कृता मयि।
+ निर्गुणश्चाप्यलक्ष्यश्च तदा लक्ष्योऽभवत्स्वयम् ॥२१॥
राजयोगेन चोन्मुन्या मुद्रया च यदा ह्यहम्।
अजागरं तदा साधो रामः प्राप्तः श्रमं विना ॥२२॥
स्थितो यो ह्यतिनिकटे सदैव हृदि राजते।
तद्रहस्यं न जानन्ति केऽपि सद्गुरुमन्तरा ॥२३॥

---

+ सद्गुणैर्यस्य सगुणत्व तस्यैव दुष्टगुणरहितत्वेन निर्गुणत्वमिति केचित्तन्नवर निर्गुणशब्देन गुणसामान्यनिषेधात्॥

निर्गुण स्वरूप का ज्ञान होने पर जहाँ २ देखता हूं तहाँ २ सोई दीखता है, और महाकठिन माणिक हीरा में भी यह वेधा है ॥ यह परम तत्त्व गुरु से ही पाया है, इस प्रकार कबीरा ( जीवों ) के प्रति महात्मा लोग उपदेश कहते हैं ॥ अथवा माणिक हीरा आदि के भूषणों से व्याप्त सगुण राम को ही निर्गुण कहनेवाले कबीरा (कवि) लोग उक्त उपदेश सत्य के बहाने से कहते हैं ॥८॥

## शब्द ९.

यन्त्री यन्त्र अनूपम बाजै । वाके अष्ट गगन मुख गाजै ॥
तूंहीं बाजै तूंहीं गाजै, तूंहिं लिये कर डोलै ।
एक शब्द में राग छतीसो, अनहद बाणी बोलै ॥

आत्मनो यन्त्रिणो यन्त्रं × शरीरं वाद्यतेऽद्भुतम् ।
अष्टास्वत्रास्यदिक्ष्वेषो राजते संप्रकाशयन् ॥३०॥
पुरस्ताद्वर्तते पश्चादक्षिणे चोत्तरे तथा ।
अधश्चोर्ध्वं स संव्याप्य सर्वस्माद्बाह्यतः स्थितः ॥३१॥
आनखाग्रं प्रविष्टोऽत्र तवात्मा यन्त्ररूपतः† ।
शब्दायते तथा यन्त्रं गृहीत्वा गच्छतीव सः ॥३२॥
मनःप्राणादिकस्तस्य करस्तेन कलेवरम् ।
धृत्वा भ्राम्यति शब्दवत्स यावत्स्वं नैव विन्दते ॥३३॥
एकस्मिन्नेव शब्दे स षट्त्रिंशद्रागसत्तमान् ।
अनाहतां च निःसीमां भारतीं भाषते सदा ॥३४॥

× ऐतरेयब्रा. ३।२।५। अथ खल्वियं दैवी वीणा भवति, तदनुकृतिरसौ मानुषी वीणा भवति ॥

† तस्य लोकः स उ लोक एव। बृ. ४।४।१३॥

वदन्त्युक्तविधं त्वन्ये रामचन्द्रं स लभ्यते ।
योगेनेति न तद्युक्तं सविशेषो न तादृशः ॥२४॥

सद्गुरु ने जब स्वय कृपा किया, तो निर्गुण और अलक्ष्य (अज्ञेय) को भी लखाया ॥ सहज समाधि और उनमुनी मुद्रा द्वारा जागने से, या इन मुद्राओं को जगाने (प्रगट करने) से रघुराई (अखण्ड राम) सहज ही मिल गये ॥ अथवा आप (स्वयराम) रूप गुरु ने ही कुछ कृपा किया, तब अपना निर्गुण अलख रूप को लखाया ॥ और सहज समाधि उनमुनी मुद्रा के जागने पर रघुराई (गमनशील का राजा) प्रभु सहज में मिल गये ॥ या यह उपासक का कहना है कि उक्त प्रकार से रामचन्द्रजी सहज ही मिल गये इत्यादि ॥

जहँ जहँ देखो तहँ तहँ सोई, माणिक वेध्यो हीरा ।
परम तत्त्व यह गुरु ते पायो, कहैं उपदेश कबीरा ॥८॥

पश्यामि यत्र यत्राऽहमिन्द्रियैर्मनसा तथा ।
दृश्यते तत्र तत्रासौ संविद्धो हीरकादिषु ॥२५॥
अखण्डश्चिद्घनश्चात्मा प्रतिरुद्धो न कुत्रचित् ।
सर्वात्मत्वाचिरंशत्वात्प्रकाशस्वच्छरूपतः ॥२६॥
एतादृशं परं तत्त्वं ह्यस्माभिः सद्गुरोर्बलात् ।
संप्राप्तमिति भाषन्ते महाचार्या जनान् प्रति ॥२७॥
रामचन्द्रं वदन्त्येके माणिक्यादिविभूषितम् ।
दृश्यमानं च सर्वत्र गुरोः प्राप्यं परं पदम् ॥२८॥
तन्मिथ्या कथ्यते सत्यमिषेणैतैर्न संशयः ।
नावयवी हि सर्वत्र वर्तितुं शक्यते प्रभुः ॥२९॥

निर्गुण स्वरूप का ज्ञान होने पर जहाँ २ देखता हूं तहाँ २ सोई दीखता है, और महाकठिन माणिक हीरा में भी यह वेधा है ॥ यह परम तत्त्व गुरु से ही पाया है, इस प्रकार कबीरा (जीवों) के प्रति महात्मा लोग उपदेश कहते हैं ॥ अथवा माणिक हीरा आदि के भूषणों से व्याप्त सगुण राम को ही निर्गुण कहनेवाले कबीरा (कवि) लोग उक्त उपदेश सत्य के बहाने से कहते हैं ॥८॥

## शब्द ९.

यन्त्री यन्त्र अनूपम बाजै। वाके अष्ट गगन मुख गाजै ॥
तूंहीं बाजै तूंहीं गाजै, तूंहिं लिये कर डोलै।
एक शब्द में राग छतीसो, अनहद बाणी बोलै ॥

आत्मनो यन्त्रिणो यन्त्रं ×शरीरं वाद्यतेऽद्भुतम्।
अष्टास्वष्टास्यदिक्ष्वेषो राजते संप्रकाशयन् ॥३०॥
पुरस्ताद्वर्तते पश्चाद्दक्षिणे चोत्तरे तथा।
अधश्चोर्ध्वं स संव्याप्य सर्वस्माद्वाह्यतः स्थितः ॥३१॥
आनखाग्रं प्रविष्टोऽत्र तवात्मा यन्त्ररूपतः†।
शब्दायते तथा यन्त्रं गृहीत्वा गच्छतीव सः ॥३२॥
मनःप्राणादिकस्तस्य करस्तेन कलेवरम्।
धृत्वा भ्राम्यति शश्वत्स यावत्स्वं नैव विन्दते ॥३३॥
एकस्मिन्नेव शब्दे स षट्त्रिंशद्रागसत्तमान्।
अनाहतां च निःसीमां भारतीं भाषते सदा ॥३४॥

× ऐतरेयब्रा. ३।२।५। अथ खल्वियं दैवी वीणा भवति, तदनुकृतिरसौ मानुषी वीणा भवति ॥

† तस्य लोकः स उ लोक एव। बृ. ४।४।१३॥

देहयन्त्र में मुख को नाल और श्रोत्र को तुम्बा समझो। इसका साज को सद्गुरु ने सुधारा बनाया है ॥ जिह्वा तार है, नासिका चरई है। माया मोम लगाई गई है ॥ जिन्होंने बाह्यवृत्ति को रोककर उलटा ( अन्तर्मुख ) वृत्ति का फेर लगाया, उनके गगनमण्डल में प्रकाश हुआ ॥ साहब का कहना है कि जो लोग उलटा फेर लगाकर यन्त्री ( आत्मा ) में मन को लगाये, वे लोग विवेकी हुए ॥९॥

## शब्द १०.

रामुरा झीं झीं जन्तर बाजै, कर चरण विहूना नाचै ॥
कर विनु बाजै सुनै श्रवण विनु, श्रवण श्रोता सोई ।
पट नहिं सुवस सभा विनु अवसर, बूझहु मुनिजन लोई ॥

राम एव धनं यस्य रामरा मानवोऽथवा ।
रामरूपः समर्थो वै चेतत्त्वेवं निरन्तरम् ॥४१॥
यः सर्वेषां प्रभू रामः सूक्ष्मात्सूक्ष्मतराणि सः ।
यन्त्राणि बहुधा कृत्वा क्वणयन्नत्र * वर्तते ॥४२॥
हस्तपादादिहीनोऽपि बहुधा सोऽत्र नृत्यति ।
करं × विना गृहीत्वा च यन्त्रं वादयते कलम् ॥४३॥
श्रवणेन विनैवैष शब्दसंघं शृणोति च ।
श्रवणस्यापि स श्रोता श्रोत्रश्रोत्रं मनोमनः ॥४४॥

---

* सर्वत्र सर्वदा सर्वं चित्सम्विद् विद्यतेऽनघ । किन्त्वस्या भूततन्मात्र-वशादभ्युदयः क्वचित् ॥ यो. वा. ६।८०।५०॥

× शरीरसम्बन्धिहस्तादेः पृथक् तत्र हस्तादिस्वीकारेऽनवस्थादिदोष-प्रसङ्गात्स निरवयव एवेति भावः ॥

पदेनापि विना चायं सुवासा वर्तते सदा ।
अविद्यापटयुक्तत्वात् छेदतापाद्यभावतः ॥४५॥
भवेऽत्र वर्तमानस्य सभाऽस्त्यावसरं विना ।
भो भो मुनिजनास्तं वै जानीत सद्गुरो ह्रितम् ॥४६॥

हे रामुरा (जीव) ! बहुत सूक्ष्म २ तुम्हारे यन्त्र हैं और सब बाजते हैं । हाथ विना ही यन्त्री आत्मा उन्हें बजाता है । और हाथपैर विना ही वह नाचता है ॥ कर विना बाजता हुआ यन्त्र के शब्दों को यन्त्री कान विना ही सुनता है । श्रवण का भी वह श्रोता है ॥ वह वस्त्र विना ही सुवस्त्र है । विना अवसर के उसकी सभा लगती है । हे लोगो ! मुनिजनों से इस बात को समझो ॥

इन्द्रिय विनु भोग स्वाद जिह्वा विनु, अक्षय पिण्ड विहूना ॥
जागत चोर मन्दिर तहँ मूसै, खसम अछत घर सूना ॥
बिज विनु अंकुर पेड़ विनु तरुवर, विनु फूले फल फरिया ।
बांझक कोख पुत्र अवतरिया, विनु पग तरुवर चढ़िया ॥

इन्द्रियैर्हि विना यस्य भोगो जिह्वां विना तथा ।
स्वादोऽपि वर्तते सोऽयमक्षयः पिण्डवर्जितः* ॥४७॥
जाग्रत्येव च तस्मिन् वै सदा चैतन्यरूपतः ।
चौराः कामादयस्तत्र सुखं मुष्णन्ति देहके ॥४८॥
सुषुप्त्यादौ च सत्त्वेऽपि तस्यैवात्र कलेवरे ।
शून्यतुल्यं तदा भाति सर्वथेदं गृहं विभोः ॥४९॥
वासनादिमयं बीजं विनैव तत्र चाङ्कुरम् ।
संकल्पादिमयं जातं सत्यमूलं विना तरुः ॥५०॥

* अजायमानो बहुधा विजायते । श्रुतिः ॥

सत्यपुष्पं विना तस्मिन् कर्मादिलक्षणं खलु ।
जायन्ते सुखदुःखानि फलितानि फलानि वै ॥५१॥
वंध्यायाः खलु मायायाः कुक्षौ सर्वेऽपि जन्तवः ।
पुत्रा जाताश्च ते पादैर्विनाऽऽरूढाश्च वृक्षके ॥५२॥

इन्द्रिय विना यन्त्री भोग करता है, जिह्वा विना स्वाद जानता है, शरीर रहित अक्षय है ॥ उसके जागते ही रहते, कामादि चोर मन्दिर में चोरी करते हैं। सुषुप्ति आदि काल में उस खसम के रहते भी घर शून्य रहता है ॥ वासना बीज विना कर्मादि अंकुर उसमें भासते हैं। गुणरूप पेंड विना संसार वृक्ष है, धर्मादि पुष्प विना सुखादि फल हैं ॥ और वंध्या माया की कुक्षी से सब पुत्र उत्पन्न होकर सत्य पैर विना संसार वृक्ष पर चढ़ते हैं ॥

मसि विनु द्वात कलम विनु कागज, विनु अक्षर सुधि होई ।
सुधि विनु सहज ज्ञान विनु ज्ञाता, कहहिं कबिर जन सोई ॥१०॥

सत्यमस्या विहीनं तत्पात्रं चित्तादिकं तथा ।
लेखन्या वर्जितं सर्वं कार्गलं भूतपञ्चकम् ॥५३॥
अक्षरैश्च विना तस्य सर्वं तत्र प्रसिद्धयति ।
सर्वं स्मरति तत् कर्म चित्रं च कुरुतेऽद्भुतम् ॥५४॥
वस्तुतः स्मरणं नास्ति ज्ञानं नैव ततः पृथक् ।
तथापि तद्विना सर्वमनायासेन सिद्धयति ॥५५॥
ज्ञानेनापि विना ज्ञाता सर्वज्ञो दोषवर्जितः ।
स यन्त्री तं च वै रामं कबीरो भाषते गुरुः ॥५६॥
मायां विधूय सकलं च विलूय मोहं,
वाचामगोचरमलं त्ववबुध्य रामम् ।

तमदृष्ट्वा जनास्त्वेते सदा वंदन्ति कल्पितान् ।
न विचारं विना त्वेनं प्रपश्यन्ति कुबुद्धयः ॥९॥
वेदा§ सर्वे पुराणानि ग्रन्था॰ सर्वे कुराणकाः ।
तमेव बहुधा देवं कथयंति तथाप्यहो ॥१०॥
आर्याश्च यवना जैना योगिनोऽपि बहुश्रुताः ।
एकं तत्त्वं न पश्यंति सुविचारार्जवैर्विना ॥११॥

हे बौरे ! नामादि रहित आत्मा में तैं मैं यह भेद क्या करते हो । उसमें तेरा मेरा क्या है ॥ राम खुदा शक्ति शिवरूप भी वह वास्तव में एकही है, कहो भला निहोरा ( विनय स्तुति ) किसका किया जाय ॥ वेद पुराण कुराण किताबादि भी उसीका नाना प्रकार से व्याख्यान करते हैं ॥ परन्तु विचारादि विना हिन्दू तुरुक योगी जैनी आदि किसीने उस एकल ( अद्वैत ) आत्मा को नहीं जाना ॥

छौ दर्शन में जो परमाना, तासु नाम मन माना ।
कहहिं कबिर हमहीं पै बौरे, ई सब खलक सयाना ॥११॥

षट्सु दर्शनमुख्येषु सत्त्वेन प्रमिता हि ये ।
तेषां नामानि सर्वैस्तैर्मनोभिर्निश्चितानि वै ॥१२॥
अरूपो × यो ह्यनामास्ति तस्य तत्त्वं न ते विदुः ।
तेषां मध्ये वयं विज्ञा व्रजामोऽज्ञैः सुतुल्यताम् ॥१३॥

§ एकदेवस्य चाज्ञानाद्वेदास्ते बहवः कृताः । सत्यस्य चेह विभ्रंशा त्सत्त्वे कश्चिदवस्थितः ॥ म. भा. वनप. १४९।३०॥ इह–द्वापरे ॥ कलियुगेऽस्मिन् किं वक्तव्यम् ॥

× आत्मेति व्यवहारार्थमभिधा कल्पिता विभोः । नामरूपादिभेदस्तु

यतस्ते स्वयमात्मानं मन्यन्ते सर्ववित्तमम् ।
शृण्वन्ति न सतां वाक्यं विवादांश्चैव कुर्वते ॥१४॥
शासितुं तान् न शक्नोति कोपि बुद्ध इति स्वयम् ।
कबीरः सद्गुरुः प्राह विचारोऽतो विधीयताम् ॥१५॥११॥

योगी जगमादि छौ दर्शनों में जो २ उपास्य प्रामाणिक ( सत्य ) माने गये हैं, उन २ के नाम मात्रों को सबका मन मान लिया है । और तत्त्व की खोज नहीं करता है ॥ साहब का कहना है कि इनकी सभा में हमही बौरे हो जाते हैं । और यह सब ससार अपने २ मन से सयान ( चतुर ) बनता है । या केवल नामरूप के सयान वह ससारी हमारी दृष्टि में बौरा है ॥११॥

## शब्द १२.

पण्डित मिथ्या करहु विचारा । न वहाँ सृष्टि न सिरजनहारा ॥
स्थूल अस्थूल पवन नहिं पावक, रवि शशि धरणि न नीरा ।
ज्योति स्वरूप काल नहिं उँहवाँ, वचन न आहिं शरीरा ॥
कर्म धर्म कछुवो नहिं उँहवाँ, न उहाँ मन्त्र न पूजा ।
सयम सहित भाव नहिं उँहवाँ, सो दहुं एक कि दूजा ॥

सृष्ट्यादीनां विचारान् ये बहुधा कुर्वते बुधाः ।
आत्मनो न कदाचिच्च भाषते तानिदं गुरुः ॥१६॥

---

दूरमस्मादल गत. ॥ यो.वा. ५।७१।१३॥ यतो वाचो निवर्तन्ते यो मुक्तैरव गम्यते। तस्य चात्मादिका सज्ञा. कल्पिता न स्वभावतः॥ यो.वा. ४।५।३॥

पण्डिता ! अनृतस्यैव विचारः क्रियते मुहु- ।
आत्मनो नो न यत्रास्ति सृष्टिस्रष्ट्रादिकल्पना * ॥१७॥
नैव स्थूलो न वाऽस्थूलो देहोऽपि यत्र विद्यते ।
पवनः पावकः सूर्यश्चन्द्रमा न धरा जलम् ॥१८॥
ज्योतीरूपो न कालोऽत्र प्रवृत्तिर्वचसो न च ।
कारणाख्यशरीरं§ नो तत्र त्वन्यत्कुतो भवेत् ॥१९॥
न कर्माणि न तज्जन्यौ धर्माऽधर्मौ न किञ्चन ।
मन्त्रो नैव न पूजा च तत्र संभाव्यते खलु ॥२०॥
संयमैः सहितो यत्र भावः सर्वो न विद्यते ।
संज्ञायतामसङ्गोऽसावद्वयः सद्वयः किमु ॥२१॥

हे पण्डितो ! यदि सृष्टि आदि मात्र का ही विचार करते हो, तो मिथ्या ही विचार करते हो । सत्यात्मा में सृष्टि आदि नहीं है, वचन ( वाक् की प्रवृत्ति ) नहीं है । धारणा ध्यान समाधि की एकत्र वृत्तिता रूप संयम, या दूसरा कोई भाव ( भावना वा पदार्थ ) उसमें नहीं है । सो एक है कि दूजा, इसीका विचार करो ॥

गोरख राम एको नहिं उँहवाँ, न उहाँ वेद विचारा ।
हरि हर ब्रह्मा नहिं शिव शक्ती, न उहाँ तीर्थ अचारा ॥
माय बाप गुरु जाके नाहीं, सो दूजा कि अकेला ।
कहहिं कबिर जो अबकी समुझै, सोई गुरु हम चेला ॥१२॥

* न द्रष्टेरविकारित्वादाभासस्याप्यवस्तुतः । नाप्यचित्त्वादहङ्कर्तुः कस्य संसारिता गता ॥ अविद्यामात्रमेवातः संसारोऽस्त्वविवेकतः । कूटस्थेनात्म-नानित्यमात्मवानात्मनीव सः ॥ उपदेशसाहस्री. १८।४४–४५॥

§ तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थसम्यग्धीजन्ममात्रतः । अविद्या सहकार्येण नासीदस्ति भविष्यति ॥ वृ. सम्बन्धवा. १८२॥

गोरक्षो रामचन्द्रो वा तत्रैकोऽपि न विद्यते ।
नाऽत्र वेदा न तेषां वा विचाराणां च सम्भवः ॥२२॥
न हरिर्न हरो नासौ ब्रह्मा लोकपितामहः ।
नेश्वरो नापि तच्छक्तिः सर्वात्मा सर्वतः परः ॥२३॥
नाऽत्र तीर्थानि नाचारा लौकिका वैदिकास्तथा ।
विद्यन्तेऽयं सदा शुद्धो नित्यबुद्धकलेवरः ॥२४॥
यस्य माता पिता नास्ति गुरुर्यस्य न संभवेत् ।
सद्वय· * सोऽद्वयो वा किमेतज्जानीत पण्डिताः ॥२५॥
अस्मिन् देहे च योऽत्रैव तत्त्वमेतदवेक्षते ।
स गुरुस्तस्य शिष्योऽहं गुरुराहैवमादरात् ॥२६॥
नामादिहीनमजरं सममच्छरूपं, भेदैर्विवर्जितमलं गुणकर्मदूरम् ।
कार्यादिसंगरहितं भवकर्तृरूपं कर्तृत्वशून्यमचलं गुरुरेव वेत्ति ॥२७॥

इति हनुमद्दासकृतायां शब्दसुधायां निर्भेदनिष्प्रपञ्चात्मवर्णनं नाम चतुर्थस्तरंगः ॥४॥

शुद्ध सत्यात्मा में गोरख रामादि का भेद नहीं है, न वेद विचारादि का सम्बन्ध है इत्यादि। जिसके माता पिता गुरु आदि नहीं है, सो दूजा (भिन्न) है कि अकेला (एक अभिन्न) है, इस बात को समझो। जो कोई इस मानव तन में इस बात को समझता है, वह गुरु है, मैं चेला हू ॥१२॥

इति निर्भेद निष्प्रपञ्चात्म प्रकरण ॥४॥

---

* एकः सन् भिद्यते भ्रान्त्या मायया न स्वरूपतः । सूतस. ज्ञानयोगख. २०।४॥

## शब्द १३, अतत्त्वज्ञसंबोधन प्र. ५.

पण्डित देखहु मनमहँ जानी ।
कहु दहुं छूति कहाँ ते उपजी, तबहिं छूति तुम मानी ॥
नादे बिन्द रुधिर मिलि संगे, घटहीं में घट सपुजै ।
अष्ट कमल ह्वै पुहुमी आई, छूति कहाँ ते उपजै ॥

ये विवेकं परित्यज्य कुलगोत्रादिगर्विताः ।
हिंसादम्भविकर्मस्थाः सदा देहाभिमानिनः ॥१॥
तानाह सद्गुरुश्चेदं वाक्यं पुस्तकपाठिनः ।
आत्मनः सद्विवेकाय गर्वादिविनिवृत्तये ॥२॥
पण्डिता भो मनस्येतत्सुविचार्यावलोक्यताम् ।
अस्पृश्यत्वं हि यज्ज्ञात्या भवद्भिर्निश्चितं मुधा ॥३॥
कथ्यतां तत्कुतो जातं भवद्भिः स्वीकृतं ततः ।
स्वदेहेष्वपि पश्यन्तु शुचित्वं यदि वर्तते ॥४॥
मातुर्महोदरे प्राणी रजोवीर्यसमन्वितः ।
जायते येन तद्देहे देहः स्वाङ्गैः प्रपूर्यते ॥५॥
कमलेनाष्टमेनाथ मूत्राद्याशयपार्श्वतः ।
अष्टपद्मसमायुक्तः पृथिव्यामवरोहति ॥६॥
इत्थंभूते शरीरे स्वे ह्यशुचित्वं कुतोऽभवत् ।
अत्यन्तमलिनात्मायं * भवद्भिर्मन्यतेऽन्यथा ॥७॥

हे पण्डितो ! हे विद्वानो ! जिस छूत को आपने मन से जाना, उसे विचार करें देखो कि वह छूत इस देह में कहाँ से उत्पन्न हुई, कि

---

* अत्यन्तमलिनो देहो देही चात्यन्तनिर्मलः । उभयोरन्तरं ज्ञात्वा क शौचं विधीयते ॥ श्रीजाबालदर्शनोप. १।२१॥

जिसको आप पीछे माना ॥ माता के पेट में नाद ( शब्द ) की उत्पत्ति-स्थान के पास में रजोवीर्य के साथ प्राण के मिलने से माता के घट में ही यह घट अंगों से पूर्ण होता है ॥ फिर अष्टकमल युक्त होकर अष्टमकमल मूलाधार के पास योनिद्वारा पृथिवी पर यह देह आता है, तो इसमें फिर कहाँ से छूत हुआ ॥

लख चौरासी नाना वासन, सो सब सरि भौ माटी ।
एके पाट सकल बैठायो, सींचि लेत दहुं काकी (टी) ॥
छूतिहिं जेवन छूतहिं अचवन, छूतिहिं जगत उपाया ।
कहहिं कबीर ते छूति विवर्जित, जाके संग न माया ॥१३॥

किञ्च वेदाष्टलक्षासु देहा-भूत्वा हि योनिषु ।
सर्वेऽत्र कुथिता भूत्वा पृथिव्यां सम्मिलन्ति हि ॥८॥
पट्टके पृथिवीरूपे तस्मिन् सर्वे निवेशिताः ।
वर्णा अवर्णसंघाश्च तं छित्त्वा किं निषिञ्चथ ॥९॥
स्थित्वा पीठे सहैवात्र स्पर्शाद् यदभिषेचनम् ।
शरीरेऽपां न तद्युक्तं विवेकः स्वस्य साध्यताम् ॥१०॥
अन्नं पानं हि यत्किञ्चिदुपायो यश्च भूतले ।
सुखादेर्जगतो वापि तत्सर्वं मलिनं ध्रुवम् ॥११॥
अतो ये जगतो हेतोर्हीना मायादितः सदा ।
असङ्गाश्रितस्वरूपस्थास्तान् कबीरोऽब्रवीच्छुचीन् ॥१२॥
" वर्णाश्रमाचाररता* विमूढाः कर्मानुसारेण फलं लभन्ते ।
वर्णादिधर्मं हि परित्यजन्तः स्वानन्दतृप्ताः पुरुषा भवंति॥१३॥
अहं ममेति विण्मूत्रलेपगन्धादिमोचनम् ।
शुद्धशौचमिति प्रोक्तं मृज्जलाभ्यां तु लौकिकम्" ॥१४-१३॥

* मैत्रेय्युपनिषद् । अ. १।१३॥ अ. २।९॥

चौरासी लाख योनि के जो नाना वासन ( देह ) सो सब सरकर माटी हो गया, और उस मिट्टीरूप एक पटरी पर सब बैठाये गये हो, तो किसके छूत से जल सींचते हो, क्या पृथिवी को काटकर अपने लिये पृथक् किये हो। ससार में जेवन अचयन ( अन्नपानी ) और सब उपाय छूत ( माया ) स्वरूप ही हैं। इससे जो माया मोह रहित हैं वे ही छूत से भी रहित हैं। अर्थात् असगात्मज्ञानी कनक कामिनी कपटादि रहित ही पुरुष शुद्ध हैं (तथा लोक मे मासमद्यान्यायार्जितान्नादि के त्यागी शुद्ध हैं। इसके विना केवल वर्णाश्रमाभिमानी जो सज्जन भक्तों से छूत मानते हैं सो पाखण्ड है इत्यादि ॥१२॥

## शब्द १४.

पंडित सोधि कहहु समुझाई, जाते आवागमन नशाई ॥
अर्थ धर्म औ काम मोक्ष कहु, कौन दिशा बस भाई ॥
उतर कि दछिन पूरब कि पश्चिम, स्वर्ग पताल कि माहीं ।
विना गोपाल ठौर नहिं कतहूं, नरक जात दहुं काही ॥

पण्डिता भो विचार्यैवं शोधयित्वा हृदि स्वयम् ।
सुसंशोध्य जनेभ्यो हि तदेव कथ्यतां यतः ॥१५॥
गतागतं निवर्तेत पूर्णार्थाद्याः सदा नराः ।
निर्द्वन्द्वाः सुखिनोऽत्र स्युर्भवबाधा भवेन्नहि ॥१६॥
अर्थो धर्मश्च कामश्च मोक्षश्चापि निरुच्यताम् ।
वर्तते दिशि कः कुत्र भ्रातरो ! लभ्यते कथम् ॥१७॥
उत्तरस्यां दिशायां किं दक्षिणस्यां स वर्तते ।
पूर्वस्यां पश्चिमायां वा स्वर्गे पातालमध्ययोः ॥१८॥

गोपालेन विना कापि स्थितेः स्थानं न विद्यते ।
विभुना ब्रह्मणा कस्मान्नरके यांति जन्तवः ॥१९॥

हे पण्डित ! उसी तत्त्व को सोधि ( विवेक विचार ) कर अधिकारियों के प्रति समझाकर कहो, कि जिससे आवागमन नष्ट हो ॥ और अर्थ धर्मादि किस दिशा में बसते हैं, इनके लिये कोई नियत दिशा नहीं है ॥ न स्वर्ग पाताल मध्यलोक का नियम है सो समझकर समझावो, मिथ्या ही दिग्देश का नियम नहीं करो ॥ गोपाल ( पृथिवी इन्द्रियादि के पालक ) सर्वात्मा राम के विना, कहीं कोई ठौर ( ठिकाना ) नहीं है, फिर भी जीव नरक में क्यों जा रहे हैं, उसे प्राप्त करके मुक्त क्यों नही होते । सो समझो और समझावो ॥

अनजाने को स्वर्ग नरक है, हरि जाने को नाहीं ।
जे डर के सब लोग डरत है, सो डर हम न डराहीं ॥

इत्यालोच्य बुधा वित्त मूढस्य स्वर्गसंक्रमः ।
यः सोपि नरकस्तस्य भयबाधादिसंभवात् ॥२०॥
लब्धार्थाद्यैश्च किं तत्र यदि क्लेशोऽपि विद्यते ।
सर्वं समाप्यते बोधे हरेस्तं तेन साधय ॥२१॥
अज्ञानामेव नाकादौ गमनागमनं भवेत् ।
हरेः ज्ञानवतां नैव तेन ते निर्भयाः सदा ॥२२॥
भयाद्यस्य त्विमे लोकाः सर्वे बिभ्यति सर्वदा ।
तस्मादेव विभेमो वै वयं सर्वे विवेकिनः ॥२३॥

अनजान (अज्ञ) के लिये स्वर्ग भी नरक के समान दुःखद है । सर्वात्मा हरि को जाननेवालों के लिये, कहीं भी नरक दुःखादि नहीं है । या अज्ञ के लिये स्वर्ग नरकादि है, ज्ञानी के लिये नहीं ॥ इसी

कारण से जिस भय का हेतु ईश्वर से सब लोग डरते हैं, उससे हम ज्ञानी लोग नहीं डरते, ईश्वर को अपना प्रियतम आत्मा समझते हैं ॥

पाप पुण्य की शंका नाहीं, स्वर्ग नरक नहिं जाहीं ।
कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो, जहँ पद तहँई समाहीं ॥१४॥

न पापस्य न पुण्यस्य शंकाऽप्यस्मासु विद्यते ।
न स्वर्गे नरके वाऽपि वयं यामः कदाचन ॥२४॥
"अमनस्कस्य यत्कर्म देहेन्द्रियगणस्य च ।
न तत्पुण्यं न पापं च शास्त्रेषु परिपठ्यते" ॥२५॥
यत्र तिष्ठति शुद्धात्मा ज्ञानी संदेहवर्जितः ।
विदेहमोक्षकाले स तत्राविशति निर्मले ॥२६॥
अद्वये स्वे पदे नित्ये क्वचिद्याति न बुद्धधीः ।
सद्गुरवो वदन्त्येवं सच्छास्त्रैश्च विनिश्चितम् ॥२७॥
देहात्मतत्त्वस्य बोधैर्विहीना देहात्मबुद्ध्या सदाऽत्र भ्रमन्तः ।
शौचं विशुद्धं ह्यपदयन्त एव मोहेन शुद्धेऽप्यशौचं वदन्ति ॥२८॥
न ते धर्मतत्त्वं विदन्ति प्रमूढा न चार्थस्य कामस्य मोक्षस्य रूपम् ।
मृषा पण्डितंमन्यमानाः पतन्ति सदा दुर्गतौ नैव जातु प्रबुद्धाः ॥२९॥१४॥'

इति हनुमद्दासकृतायां शब्दसुधायां देहात्मतत्त्वविज्ञानहीनानां मतिभ्रमादिवर्णनं नाम पञ्चमस्तरङ्गः ॥५॥

हमें पाप पुण्य की शंका नहीं है, न हम स्वर्ग नरक में जाते हैं। किन्तु जहाँ हमारा पद (स्थिति) है, वहाँ ही विदेह मोक्षकाल में ब्रह्मानन्द में हमलोग समाते हैं। इस सद्गुरु कबीर का कथन को हे सन्तो! आप लोग सुनें, और समझें ॥१४॥

इति अतत्त्वज्ञ सम्बोधन प्रकरण ॥५॥

## शब्द १५, सशक्तीश्वरतत्त्वादि प्र. ६.

अवधू कुदरत की गति न्यारी।
रंक निवाज करे वह राजा, भूपति करै भिखारी॥
याते लोग हरफना लागै, चन्दन फूल न फूला।
मच्छ शिकारी रमै जंगल में, सिंह समुद्रहिं झूला॥

अवधूर्भोस्त्वया साधो हीशशक्तिर्निरीक्ष्यताम्।
तस्या गतिर्विचित्राऽत्र विद्यतेऽद्भुतरूपिणी॥१॥
सा करोति दरिद्रस्य समर्था, रक्षणं तथा।
तं करोति महीपालं महीपालं च भिक्षुकम्॥२॥
एतयैव जनाः सर्वे प्रपञ्चे बहुजालकैः।
बद्धाः सन्ति लवङ्गे वा फलं न जायते खलु॥३॥
चन्दने नाऽभवत् पुष्पं, यत्तन्मायासुसाधितम्।
नियामिका यतः शक्तिस्तत्रैवास्ते तमः स्वयम्॥४॥
मत्स्यानां वधिको जातोऽपराधेन विना तथा।
महान्तो बलिनः सिंहा रमन्ते भयतो वने॥५॥
समुद्रे चाभवत्सेतू रामचन्द्रेण निर्मितः।
एवंविधं हि सर्वं यत् तद्धि मायाविनिर्मितम्+ ॥६॥
मत्स्यो वा रमतेऽटव्यां भूत्वा वधिकरूपतः।
सिंहो विकम्पतेऽब्धौ वा तत्तुल्याः पुरुषास्तथा॥७॥

हे अवधू (विरक्तो)! कुदरत (ईशशक्ति) की गति (चाल) न्यारी (विलक्षण) है, वह दरिद्र की रक्षा करके उसे राजा बनाती है, और राजा को भिक्षुक करती है॥ उसीसे लोग हरएक फन्दों में फंसे हैं।

+ देवस्यैष महिमा तु लोके येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम्। श्वे. ६।

या लौंग में उसीसे फल नहीं लगता। चन्दन म फूल नहीं फूला, अच्छे कुल में सत्कर्मादि नहीं हुए ॥ निरपराधी मछली का शिकारी हुआ, सिंह भय से जगल में रमता है। और समुद्र में झूला (पूल) बना, सो सब कुदरत की गति है ॥

रेंड रूख भयेउ मलयागिरि, चहु दिश फूटी बासा ।
तीनि लोक ब्रह्माण्ड खण्ड मे, देखे अन्ध तमासा ॥
पगू मेरु सुमेरु उलघे, त्रिभुवन मुक्ता डोलै ।
गुगा ज्ञान विज्ञान प्रकाशै, अनहद वाणी बोलै ॥

एरण्डो मलयो जातो गन्धोऽस्य सर्वतोऽगमत् ।
ज्ञानान्धस्त्रिषु लोकेषु ब्रह्माण्डेषु च पश्यति ॥८॥
तथैव खण्डसंघेषु ह्यद्भुतं कौतुकं महत् ।
हीनो ह्युत्तमता यातो यशोऽस्य सर्वतोऽगमत् ॥९॥
बाह्यदृष्ट्याऽथ ह्यान्धोपि सर्वं पश्यति तत्त्वत. ।
क्रीडातुल्यं जगत् कृत्स्न न तत्र रमते तत. ॥१०॥
पगुश्च मेरुदण्डस्य सुमेरोर्लङ्घन तथा ।
करोति सिद्धियोगेन मुक्तश्चरति सर्वत. ॥११॥
ज्ञानविज्ञानयोर्मूकः प्रकाशं कुरुते तथा ।
नि.सीम भाषते शब्द सर्वथाऽनाहतं खलु ॥१२॥

रेंड का पेड़ भी माया से किसी सिद्ध द्वारा मलय चन्दन हुआ (अतिहीन महा उत्तमता को प्राप्त किया)। उसका बास (गध-यश) चारों दिशाओं में फूटा (फैला) ॥ और अन्धा भी तीनों लोक ब्रह्माण्ड

और नव खण्डों का तमासा कुदरत से योगादि द्वारा देखता है ॥ पंगु भी मेरुदण्ड तथा सुमेरु पर्वत का उलंघन करता है, और तीन लोक में मुक्त होकर विचरता है ॥ गुंगा ज्ञानादि का प्रचार करता है, और अनहद वाणी बोलता है ॥ (वस्तुतः जीवात्मा भी सब इन्द्रियों से रहित है, और सूक्ष्म देहस्थ इन्द्रियों द्वारा वह सब काम करता है, और अन्ध पंगु तुल्य होने ही पर अजब तमासा दीखता है, संसार का उलंघन किया जाता है, ज्ञान विज्ञान सारशब्द का प्रकाश किया जाता है ) ॥

अकाशहिं बांधि पताल पठावै, शेष स्वर्ग पर राजै ।
कहहिं कबीर राम है राजा, जो कछु करै सो छाजै ॥१५॥

यच्छक्त्यैतद् भवेत्सर्वं स ह्याकाशनिवासिनम् ।
पाताले गमयेद् बध्वा शेषं स्वर्गे विराजयेत् ॥१३॥
यच्छक्त्या जायते सर्वं स रामः प्रभुरव्ययः ।
यत्किञ्चित्करोत्येष तत्तत्तस्यैव शोभते ॥१४॥
* पराऽस्य विविधा शक्तिस्तया सर्वं करोति सः ।
सद्गुरुर्भाषते चैवं मायायामद्भुतं किमु ॥१५॥१५॥

जिसकी शक्ति से ये सब बातें होती हैं, वह आकाश (स्वर्गवासी) को बांधकर पाताल में भेजता है, और पातालवासी शेष को स्वर्ग के ऊपर विराजमान करता है। साहब का कहना है कि वह रामराजा (स्वतन्त्र प्रभु) है, जो कुछ करता है, सो सब उसको शोभता है ॥१५॥

* पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते। श्वे. ६। ८॥

## शब्द १६.

अवधू वे तत्त्व रावल राता, नाचै बाजन बाजु बराता ॥

अवधूमां असौ रामो राजा देवः सनातनः ।
स्वमायानिरतश्चास्ते प्रतिभासस्वरूपतः ॥१६॥
तेन यन्त्रोऽथ वाद्योऽयं देहो नृत्यति कर्मसु ।
प्राणेन्द्रियगणः सर्वः भृशं शब्दायते मुहुः ॥१७॥
अथवा रामरूपोऽयं जीवो राजा भवन् स्वयम् ।
कल्पितेऽनात्मतत्त्वे वा परोक्षे निरतोऽभवत् ॥१८॥
तस्याविवेकतो वाद्यं नृत्यतीदं कलेवरम् ।
शब्दायन्ते च जीवानां संघाः परवशाः खलु ॥१९॥

हे अवधू ! रावल ( राजाराम ) वे तत्त्व (उस माया) में राता है (आभास द्वारा पैठा है)। इसीसे यह देहरूप बाजा कर्मों में नाचता है। और प्राणादिरूप बरात (समुदाय) बाजते (शब्दादि करते) हैं ॥ अथवा रावल (रामस्वरूप जीवात्मा) वे तत्त्व (परोक्ष अनात्म कल्पित वस्तु) में राता (प्रेम किया) है। इसीके अविवेक से शरीर नाचता है, और जीव सब परवश होकर शब्द करते हैं ॥

मौरिक माथे दुलह दीन्हो, अकथ जोरि कहाता ।
मड़वक चारन समधी दीन्हो, पुत्र बिआहल माता ॥

मुकुटेनात्मनस्तुल्यान्महिम्नश्चापि मस्तकात् ।
उपरिष्टाद्धि मायाया विज्ञः स्थापयते पतिम् ॥२०॥
द्वन्द्वानि द्वैतवर्गांश्चाकथनीयानि मन्यते ।
नात्मवस्तेषु सत्यत्वं कदाचिदपि वै बुधः ॥२१॥

अज्ञो वाऽस्य किरीटेन तुल्ये स्वर्गमुखेऽनृते ।
महिम्न्येव परात्मानं तटस्थत्वेन मन्यते ॥२२॥
अकथं यज्जगत्तत्त्वं मेलयित्वाऽनृतं हि तत् ।
सत्येन भाषते नित्यं नैव जातु विवेकतः ॥२३॥
विवेकी मन्यते विज्ञं स्वदृष्ट्या भवमूर्धसु ।
स्वयं प्राक् पुत्रवद् भूत्वा मायां च कुरुते वशे ॥२४॥
अज्ञो वा मण्डपे विश्वे बुद्धं ज्ञात्वा हि चारणम् ।
किञ्चिद्ददाति मायायामासक्तो भवति स्वयम् ॥२५॥

और आत्मपति का मौर तुल्य स्वर्गादि के माथे ( ऊपर ) गाग में अज्ञों ने उस स्वामी को दिया ( समझा ) है। अकथा ( माया ) की ही बातों को जोरि ( मिलाकर ) के कहते हैं॥ सम बुद्धिवाले महात्माओं को ससारमण्डप के चारण (गुणगायक भिक्षुक) मानकर उन्हें कुछ दे देते हैं। ये लोग उनके उपदेश नहीं मानते। इससे पुत्र ( जीव या मन ) माता ( माया ) को ही ब्याहा, आत्मतत्त्व की प्राप्ति नहीं किया॥

दुलहिनि लीपि चौक बैठायो, निर्भय पद परगाता ।
माते उलटि वरातहिं खायो, भली बनी कुशलाता ॥

विज्ञपत्यर्थिनी माया संशोध्य तत्कलेवरम् ।
शुद्धे निजात्मपीठे तं स्थापयित्वा परं पदम् ॥२६॥
प्रगायत्यभयं सा च ततो भीतेव वर्तते ।
पतिंवराऽशुबुद्धिर्वा संशोध्य स्वकलेवरम् ॥२७॥
स्थापयित्वा मनःपीठेऽनात्मानं मन्यते पतिम् ।
प्रगायत्यभयं त्वन्यं वात्मानं मन्यते नहि ॥२८॥
विज्ञो निजेन्द्रियव्रातं निरुध्य भोग्यभक्ततः ।
भुक्तवान् येन कौशल्यं कुशलं चाऽभवद् बहु ॥२९॥

अज्ञानामथवा व्रातं विषयो भुक्तवानिति ।
तथापि स्वज्ञदृष्ट्या तत् कुशलं परिवर्तते ॥२०॥

अज्ञों की बुद्धि दुलहिन शरीर को नहाय धोय कर चन्दनादि लेप कर शुद्ध किया । और हृदय चौके में तटस्थ पति का निश्चय किया । तथा पर ( मिथ्र ) पति से निर्भय पद ( मोक्ष ) गाने लगी ॥ जिससे विषयरूप भात ही उलट कर जीवरूप बरात को खाय लिया । तौभी जीवों की दृष्टि से अच्छा कुशल हुआ ॥

पाणि ग्रहण भयो भवमंडन, सुषमणि सुरति समानी ।
कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो, बूझहु पंडित ज्ञानी ॥१६॥

जीवन्मुक्तस्य या माया वशीभूताऽभवत्स्वयम् ।
भूषणं तद्भूलोके मनोवृत्तिश्च सुस्थिरा ॥३१॥
अज्ञबुद्धेर्विवाहो वाऽभवद्देवादिभिः सह ।
मण्डनं ह्यभवत्तेन पुनर्जन्मादिलक्षणम् ॥३२॥
योग्यादीनां च तद्ध्यानान्मनोवृत्तिर्लयं गता ।
सुषुम्णि वा स्थितां नित्यं मरणं वाप्युपस्थितम् ॥३३॥
सद्गुरुः प्राह भोः साधो श्रूयतां विज्ञतस्तथा ।
विचारः क्रियतां नैव मनो देयं तु मायिके ॥३४॥१६॥

देवादि से पाणिग्रहण (विवाह) जीवों का हुआ । जिससे बार २ भव (जन्मादि संसार) ही, इनका मण्डन (शोभा) हुआ । इतने ही में सुषुम्ना नाड़ी में इनकी सुरति (मनोवृत्ति) समाई, अर्थात् मरण उपस्थित हुआ, जन्ममरण से छुटकारा नहीं पाये ॥ इससे साहेब का कहना है कि हे सन्तो ! सुनो; जन्मादि रहित होने के लिये ज्ञानी पण्डितों से बूझो ॥१६॥

## शब्द १७.

अवधू सो योगी गुरु मेरा, जो यह पद का करै निवेरा ॥
तरुवर एक मूल विनु ठाढे, विनु फूले फल लागा ।
शाखा पत्र कछू नहिं वाके, अष्ट गगन मुख जागा ॥

अवधू ! परमो योगी गुरुः स विद्यते मम ।
योऽपरोक्षपदस्यास्य विवेकं कुरुते सुधीः ॥३५॥
संसारोऽयं महावृक्षो निर्मूल एक एव च ।
असङ्गे विद्यते तत्त्वे मायामात्रकलेवरः ॥३६॥
सत्यपुष्पं विना तत्र फलं सौख्यादिकं सदा ।
आत्मन्येव स्वभावेन भाति कर्मास्ति यत्र न ॥३७॥
यद्वा स्वात्मैव वृक्षोऽयं सैव मूलविवर्जितः ।
पुष्पेणापि विना तत्र फलमर्थादिलक्षणम् ॥३८॥
शाखापत्रादिकं तत्र वास्तवं विद्यते नहि ।
तथापि गगनस्यास्य राजतेऽष्टासु दिक्षु सः ॥३९॥

हे अवधू ! वही योगी मेरा गुरु है, जो इस अपरोक्ष आत्मपद का निवेरा (विवेक-अपरोक्ष) करता है। या इस संसारपद की निवृत्ति करता है ॥ संसार एक महान् तरु (वृक्ष) है, सो सत्य मूल विना ही खड़ा है (आकाश में जड़ विना स्थिर है), पुष्प विना नाना कार्य रूप फल इसमें लगते हैं। शाखा पत्र कुछ भी इसके सत्य नहीं है, तौभी आकाश के आठों मुखों (दिशाओं) में वह वृक्ष जाग्रत है ॥

पौ विनु पत्र करह विनु तुम्बा, विनु जिह्वा गुण गावै ॥
गावनहारक रेख रूप नहिं, सतगुरु होय लखावै ॥

तदाश्रिता तु मायाख्या लता तत्रास्ति लंबिता ।
तत्र यानि तु कार्याणि पत्राणि तानि सन्ति हि ॥४०॥
अहो तेषां न सम्बन्धाधारः कोऽप्यत्र विद्यते ।
तथापि तानि भान्त्येव वृन्तेन च विना फलम् ॥४१॥
तत्फलेन युतं चैतद्देहयन्त्रं तु यः सदा ।
वादयित्वा गुणं स्वस्य स्तौति जिह्वां विनैव च ॥४२॥
गायकस्य च तस्यास्ति न रूपमाकृतिर्न च ।
तथापि सद्गुरुर्यः स्यात् सुखं स तं प्रदर्शयेत् ॥४३॥

इस वृक्ष मे कारणरूप से मायारूप लता भी वर्तमान है, जिसमें पौ ( आधार-डंटी ) विना ही बुद्धि इन्द्रियादि पत्ते लगे हैं। और करइ ( वृन्त ) विना फल ( शिर आदि ) तुम्बे लगे हैं। उन फलो से युक्त इस शरीररूप यन्त्र को बजाकर गानेवाला जिह्वा विना ही गुण गाता है, अर्थात् शरीर में जिह्वा है, सो शरीर यन्त्र है, यंत्री को जीभ नहीं है। और जिसको गाता है, सो निगुणमय पदार्थ है, गुणसाक्षी आत्मा जेय गुण नहीं है॥ उस गानेवाला का रूप आकार नहीं है, तौभी यदि कोई सद्गुरु प्राप्त होवें तो उसे लखाय दे। या वही सद्गुरु रूप होकर अपने स्वरूप को लखाता है॥

पक्षिक खोज मीन को मारग, कहहिं कबिर दुइ भारी ।
अपरमपार पार पुरुषोत्तम, मूरति की बलिहारी ॥१७॥

पक्षिमार्गेण संप्राप्तिर्मीनमार्गेण वा स्तुतिः ।
स्वयं सा दुष्करा साधो सद्गुरोः सुकरा भवेत् ॥४४॥
निरालम्बे यथाऽऽकाशे निश्चिह्नं विहगो व्रजेत् ।
तथा व्रजति सच्छिष्यो निरालम्बे निजात्मनि ॥४५॥

सुमत्स्यो वा यथा नित्यमूर्ध्वं धारासु धावति ।
सज्जिज्ञासुस्तथा नित्यं ज्ञानभूमिषु धावति ॥४६॥
यश्चैताभ्यां तु मार्गाभ्यां संयाति कुशलो नरः ।
भवसिन्धोरपारस्य परं पारं स गच्छति ॥४७॥
नरोत्तमः स विज्ञेयस्तस्य मूर्तिश्च शोभते ।
तां धन्यां सद्गुरुः प्राह कबीरः करुणानिधिः ॥४८॥

अघटितघटनाविधौ यस्य शक्तिः प्रयुक्ता सदा लोकसंघांस्तनोत्यज्ञसा, इह स तनुमनोहृषीकेषु रक्तः सदा वर्तते मायया संलसन् सर्वथा। मनसि तमवलोक्य विज्ञाननेत्रास्तु ये मुक्तिभाजो भवन्तीह तन्मानसाः, गुरव इह त एव विज्ञानभूमौ प्रपन्ना न लोकेष्वटन्तो रटन्तोऽहितम् ॥४९॥१७॥

इति हनुमद्दासकृतायां शब्दसुधायां सदाकीश्वरादिनिरूपणं नाम षष्ठस्तरङ्गः ॥६॥

निश्छिद्र आकाश में पक्षी का खोज (मार्ग) और तीव्र धारा के सम्मुख मीनमार्ग के समान ज्ञान के समाधि मार्ग और विचारमार्ग दोनों कठिन हैं, तौभी गुरुकृपा से इन मार्गों में चलनेवाले अपरपार पुरुषोत्तमों की मूर्ति की बलिहारी (धन्यवाद) है ॥ अथवा उड्डीयान बन्धादिरूप पक्षिमार्ग, और शब्दसुरतियोगादिरूप मीनमार्ग दोनों भारी कष्टसाध्य हैं। विवेकविचारादिपूर्वक सद्गुरु से इस विभु आत्मा का परिचय करनेवाले ही अपरंपार हैं, संसार से पार पहुंचे हुए हैं इत्यादि ॥१७॥

इति सदाकीश्वरतत्त्वादि प्रकरण ॥ ६ ॥

## शब्द १८, सद्गुरु से ज्ञानादि प्र. ७.

बुझि लीजै ब्रह्मज्ञानी ।
घूरि घूरि वर्षा वर्षायो, परिया बुन्द न पानी ॥

भो ब्रह्मज्ञ गुरुं पृष्ट्वा + स्वात्मतत्त्वं विनिश्चिनु ।
ब्रह्मचक्रे * भवेन्नैव पुनश्चंक्रमणं यतः ॥१॥
धिया स्वकीयया त्वं हि भ्रान्त्वा भ्रान्त्वा जगत्त्रये ।
तृप्त्यर्थं बहुधा वृष्टिं कृतवान् सुखसम्पदाम् ॥२॥
कर्मादीनामनुष्ठानं सौख्याय बहुधा कृतम् ।
न लब्धः सुखलेशोऽपि दुःखराशिं च लब्धवान् ॥३॥
यद्वा तटस्थभूमिज्ञा ये सन्तीह नरा हि तान् ।
प्राह सद्गुरुरेवं यद् भवद्भिर्बुध्यतामिदम् ॥४॥
गत्वा गत्वोपदेशोऽपि भवद्भिर्बहुधा कृते ।
सदानन्दस्य लेशोऽपि न जीवहृदयेऽपतत् ॥५॥

---

+ आचार्याद्धयेव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापयतीति । छा. ४। ९। ३॥ प्राप्य वरान्निबोधत । कठ. १। ३।१४॥ तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया । भ. गी. ४।३४॥

*सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते अस्मिन् हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे । पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति ॥श्वे. १।६॥ आत्मानमीश्वरं च पृथङ् मत्वा महति जीवाश्रये प्रलयस्थाने ब्रह्मचक्रे भ्रमति, ईश्वरेणैकत्वमापन्नो मुक्तो भवति ॥

हे मनुष्यो ! ब्रह्मज्ञानी महात्माओं से उक्त रेख रूप रहित तत्त्व को बूझ (समझ) लो । बूझने बिना तुम घुर २ (लौट २ वा विचर २) कर सुखशान्ति के लिये कर्मादि जल की वर्षा किये हो, परन्तु उससे शान्तिकारक सच्चा पानी के एक बुन्द भी नहीं पड़ा ॥

चिउँटी के पगु हस्ती बांध्यो, छेरी बीगर खायो ।
उदधि माहँ ते निकरि छाँछरी, चौड़े गेह बनायो ॥

मनः पिपीलिकापादे वासनादौ कुकल्पिते ।
त्रिगुणे ह्यात्मकरिणं बद्धवांस्त्वं गुरुं विना ॥६॥
रक्षार्थं बुद्ध्यजायाश्च कलत्रादिवृकस्त्वया ।
रक्षितो मोहतश्चात्र तेन सापि विनाशिता ॥७॥
यद्वाऽल्पविषयस्यांशे बद्धे स्वान्तमतङ्गजे ।
अजारूपा त्वियं माया खादतिस्म जनान् वृकान् ॥८॥
संसाराम्बुनिधेश्चास्माभिः सृत्येवामरादयः ।
मत्स्या निर्बाधदेशेषु गृहसंधानकल्पयन् ॥९॥
यद्वा मूढा मनःपादे विकल्पे वासनामुखे ।
अबध्नन् करिणं जीवं भवन्तो नात्र संशयः ॥१०॥
अजस्य त्वस्य रक्षार्थं कालो वै रक्षकः कृतः ।
ततोऽस्य बुद्धिमत्स्योऽसौ निःसृत्यात्ममहोदधेः ॥
संसारे ह्यतिविस्तारे गृहाणि निरकल्पयत् ॥११॥

सवासन मन के पादरूप विकल्पों में तुमने जीवरूप हाथी को बाधा, जिससे बुद्धिरूप छेरी को कामादि वृक नष्ट कर दिये । या मायारूप छेरी ने जीवात्मा को खाय लिया ॥ और संसार समुद्र से छाछरी (मत्स्य विशेष)

देवादि, मानो इससे निकलकर चौड़े (मैदान) स्वर्गादि में घर बनाये हैं, अर्थात् विकल्प में बन्धने से ही संसारी देवादि मुक्त प्रतीत होते हैं ॥

मेंढक सर्प रहै एक संगे, बिलिया श्वान बियाहीं ।
निति उठि सिंह सियार से डरपे, अदबुद कथो न जाहीं ॥

स्वर्गादावपि सर्वत्र जीवै मैण्डूकसन्निभैः ।
कालोऽहंकाररूपो वा सर्पो वसति वै सह ॥१२॥
अविद्या कुमतिश्चैषा मार्जारी मृत्युरूपिणम् ।
श्वानं जनयति श्वानं स चैतान् बाधते सदा ॥१३॥
अहो तथापि सिंहोऽयं मेधावी कुशलो नरः ।
शिवाया भयमेत्यत्र या कुदेवादिलक्षणा ॥१४॥
आश्चर्यं महदेतच्च ह्यनिर्वाच्यं च विद्यते ।
यद्भिमेति न मुक्त्यर्थं कदाचिद्यतते नरः ॥१५॥

और जीवरूप चञ्चल मेंढक, तथा काल अहंकारादिरूप सर्प सदा साथ रहते हैं। अविद्या कुमतिरूप बिल्ली मृत्युरूप कुत्ता को बियाती (पैदा करती) है ॥ जिससे सिंह तुल्य जिज्ञासु आदि भी कुदेवादि जम्बुक से सदा डरते हैं। यह सब आश्चर्य कहा नहीं जाता ॥

कौने शशा मृगहिं बन घेरे, बाण पारथिहिं मेलै ।
उदधि भूपते तरुवर डाहै, मच्छ अहेरा खेलै ॥

इन्द्रियाख्यः शशः कश्चिद् भवाटव्यां मनोमृगम् ।
निरुध्य पार्थजीवस्य हृदि बाणान् प्रयच्छति ॥१६॥
एवं संशयकामादि मनोऽमार्गे निरुध्य हि ।
शोकादिलक्षणान् बाणान् सर्वदाऽर्पयति क्रुधा ॥१७॥

शरीरारण्यभुवः पत्युर्जीवस्य शुभपादपान् ।
संसाराम्बुनिधिर्भस्मीकरोति हरते सुखम् ॥१८॥
मत्स्याश्च देवमायाद्या आखेटं कुर्वते सदा ।
सर्वथा जीवसंघानां सोऽपि ज्ञेयो महाधिया ॥१९॥

कोई इन्द्रियरूप शशा (खरगोश) मनरूप मृग को ससार वन में घेर कर पारधि (रक्षक) जीव के ऊपरें भी कामादि शोकादिरूप बाण चला रहा है ॥ और हे भूप (देह के राजा) जीव ! ससार समुद्र ही तेरे शान्तिप्रद, सब शुभ विचार ज्ञानादिरूप वृक्षों को जला रहा है। देवमाया आदिरूप मत्स्य् तेरा अहेर, खेल रहे हैं, इन सबको समझो ॥

कहहिं कबिर यह अद्भुद ज्ञाना, को यहि ज्ञानहिं मानै ।
बिनु पँखिये उड़ि जाय अकाशहिं, जीवहिं मरण न जानै ॥१८॥

सद्गुरुराह यत्तत्त्वं तज्ज्ञानमतिदुर्लभम् ।
अपूर्वं मोक्षदं सत्यं तन्न कोप्यत्र मन्यते ॥२०॥
किन्तु पक्षं विनाऽऽकाशे जीवा उड्डीय यन्ति हि ।
मरणं नैव पश्यंति सर्वथैव पुनः पुनः ॥२१॥
तत्त्वज्ञादात्मनस्तत्त्वं यावत्सम्यङ् न बुध्यते ।
तावत्क्वापि गतस्यास्य मृत्युबाधा न नश्यति ॥२२॥
हा तथापि जनाः सम्यक् कुर्वन्ति कर्म कामदम् ।
गुरुं प्रसाद्य नात्मानं जानंति कामनाशकम् ॥२३॥
स्वर्गादिकामसत्त्वे हि कुतः शान्तिः कुतःसुखम् ।
कुतो ज्ञानं कुतो ध्यानं तस्मात्कामं त्यजेद् द्रुतम् ॥२४-१८॥

साहब का कहना है कि यह ज्ञानोपदेश विलक्षण है, इसको कोई नहीं मानता है। किन्तु बिना पाख के ही आकाश (स्वर्ग) में सब उड़

कर जाना चाहते हैं, और ये जीव सब मरणादिजन्य दुःख को नहीं समझते । स्वर्ग से पातजन्य विपत्ति को नहीं याद रखते, परन्तु अज्ञ जीव को तो मृत्यु भी नहीं कुछ समझता है ॥१८॥

## शब्द १९.

एतत्त्व राम जपहु हो प्राणी । तुम बूझहु अकथ कहानी ॥
जाको भाव होत हरि ऊपर, जागत रैनि बिहानी ॥
डाइनि डारै श्वनहा डोरे, सिंह रहे बन घेरे ।
पांच कुटुम मिलि जूझन लागे, बाजन बाजु घनेरे ॥

परोक्षं विभ्रमं त्यक्त्वा प्रत्यक्षं राममव्ययम् ।
जपत प्राणिनो यूयं बुध्यध्वमकथाकथाम् ॥२५॥
येषां भावो हरौ पूर्णे भवेत्ते हि निरन्तरम् ।
जाग्रत्येव मदाऽभावान्नित्यदृष्टेश्च लाभतः ॥२६॥
कुबुद्धिं डाकिनीं हित्वा श्वानौ चाज्ञानसे उभे ।
संयमाभ्यासरज्ज्वाद्यैर्बध्नन्त्येव विरक्तितः ॥२७॥
अहंकाराग्रहादींश्च सिंहान् योगवनादिषु ।
आवृण्वते स्वयं सिंहा भूत्वा भववनं तथा ॥२८॥
कृते त्यावरणे तेषां बलवन्तः सुबुद्धयः ।
कुटुम्बैरिन्द्रियैः सार्द्धं युद्धं कुर्वन्ति पञ्चभिः ॥२९॥
मिलितैः सह युद्धेन लाभतश्च जयश्रियः ।
वाद्याऽऽलोकादिशब्दा हि श्रूयन्ते बहुधा भवे ॥३०॥

हे प्राणी ! ब्रह्मज्ञानी से बूझ कर एतत्त्व (अपरोक्षात्म) स्वरूप राम को जपो (भजो) । और अकथ (माया) की कथा को भी समझो ॥ इस

अपरोक्ष हरि के ऊपर जिसको भाव (प्रेम) होता है, सो सदा जागता है, मोहनिद्रारहित रहता है ॥ कुबुद्धि डाइन को डारता (त्यागता) है। वाङ् मनरूप कुत्ता को सयम डोर में बाँधता है। अहंकार कालादि सिंहों को योगादि वन में घेरे रहता है, पाच इन्द्रिय रूप कुटुम्बों से मिलकर युद्ध करने लगता है। फिर उनके पराजय से उत्सव के घनेरे (अनहद) बाजे बजते हैं ॥

रोवै मृगा शशा वन हाँकै, बाण पारधिहिं मेलै।
सायर जरै सकल वन डाहै, मच्छ अहेरा खेलै ॥

कामाद्याः संशयाद्याश्च शांतिसस्यविनाशकाः।
ते रुदन्ति मृगा यस्मात्तान् स्वहृत्कुहराद्धि ते ॥३१॥
द्रावयित्वाऽत्र संसारे दहंति ज्ञानबाणत।
स्वशान्ते रक्षका भूत्वा मेलयंति सुसायकान् ॥३२॥
विचारयोगसंयुक्तान् यैश्चायं भववारिधिः।
शुष्यत्येव समूलं वै दह्यते भुवनं वनम् ॥३३॥
प्रमाता च प्रमाणादि किञ्चिन्नैवावशिष्यते।
मायामोहादिमत्स्यस्य मृगयां कुर्वते हि ते ॥३४॥
मनोरथा विलीयन्ते दह्यन्ते कालवागुराः।
ये पूर्वं मत्स्यतुल्यास्ते बाधन्ते ह्यखिलं जगत् ॥३५॥
"+शास्त्रसत्सङ्गमाभ्यासात्सविवेको जितेन्द्रिय।
अत्यन्ताऽभावमेतस्य दृश्यस्याप्यवगच्छति" ॥३६॥

फिर कामादि संशयादि प्राणेन्द्रियादिरूप मृगा शशा रोते हैं। (इनका कुछ वश नहीं चलता), क्यों कि वह पारधि (स्वशान्ति विशा

+यो. वा. ४।४।२॥

नादि के रक्षक) जीव इन्हें अपने हृदयादि से भव वन में हाक (भगा) कर, इनके ऊपर ज्ञान बाण का प्रहार करता है ॥ जिस ज्ञानाग्नि बाण से संसार समुद्र भी जल उठता है, और भुवनादि रूप सब वन दग्ध होजाते हैं। तथा जीवरूप मत्स्य जो प्रथम कामादि का लक्ष्य था, सो स्वयं इनका अहेर खेलता है ॥

कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो, जो यह पद निरुआरै ।
जो यह पद को गाय विचारै, आपु तरै औ तारै ॥१९॥

अपरोक्षात्मतत्त्वस्योपदेशात्मपदस्य च ।
विवेकं कुरुते यो हि विचारं तनुते तथा ॥३७॥
प्रगाय चिन्तयन् सो वै ज्ञानी भूत्वा भवार्णवम् ।
स्वयं तरति तद्भक्तसज्जनान् तारयते सदा ॥३८॥
"सम्यग्× विचारिणं प्राज्ञं यथाभूतावलोकिनम् ।
आसादयन्त्यपि स्फारा नाविद्याविभवा भृशम्" ॥३९॥
इति मत्वा त्वया साधो श्रवणादि विधीयताम् ।
क्रियतां च सदा युद्धमिन्द्रियाणां गणेन हि ॥४०॥
"*इन्द्रियग्रामसंग्रामसेतुना भवसागरः ।
तीर्यते नेतरेणेह केनचिद्वाम कर्मणा" ॥४१॥

साहब का कहना है कि हे सन्तो ! सुनो; जो कोई इस अपरोक्ष आत्मपद का निरुआर (विवेक) करेगा, और इस मेरे पद (शब्द) को गाकर विचारेगा, सो आप मुक्त होगा, और अन्य को भी मुक्त करेगा ॥१९॥

×यो वा. ५। ९३। ४॥ *यो. वा. ४। ४। १॥

## शब्द २०.

सन्तो घर महँ झगरा भारी ।
राति दिवस मिलि उठि उठि लागे । पांच ढोटा एक नारी ॥
न्यारो न्यारो भोजन चाहै, पाँचो अधिक सवादी ।
कोइ काहु को हटा न मानै, आपुहिं आपु मुरादी ॥

अस्मिन् देहगृहे साधो विग्रहो विद्यते महान् ।
सर्वदा कलहायन्ते पञ्चेन्द्रियकुदारकाः ॥४२॥
दुर्बुद्धिर्महिला तेषामीश्वरी सहकारिणी ।
तेषां कर्मेन्द्रियाण्यत्र वशे तिष्ठंति सर्वदा ॥४३॥
दिवारात्रौ सदा वाला युद्ध्यमानाः परस्परम् ।
स्वं स्वं भोग्यं समीहन्ते जीवं संपीडयंति च ॥४४॥
भिन्नं भिन्नं प्रवाञ्छंति स्वं स्वं वै विषयं सदा ।
अधिकस्पृहयालूनि न तृप्यंतीन्द्रियाणि तैः ॥४५॥
श्रेयोऽहमिति सर्वं तु मन्यते चेन्द्रियं ततः ।
किञ्चित्कस्यापि सद्वाक्यं न शृणोति कदाचन ॥४६॥
स्वप्रभुत्वस्य ढक्कां तु वादयंतीन्द्रियाणि हि ।
दुर्मत्या सार्द्धमेतानि शृण्वंति न सुभाषितम् ।४७॥

घर में (देह में) पाच ढोटा (पाच लड़के–ज्ञानेन्द्रिय) एक नारी (कुबुद्धि) भोजन (विषय) मुरादि (ढोल) सब अपनी २ स्वतन्त्रता के मुरादी बजाते हैं। जिससे जीव पीड़ित होते हैं । (जिह्वैकतोऽमुमपकर्षति कर्हि तर्षा, शिश्नोऽन्यतस्त्वगुदरं श्रवणं कुतश्चित् । घ्राणोऽन्यतश्चपलदृक् क च कर्मशक्तिर्बह्व्यः सपत्न्य इव गेहपतिं लुनन्ति ॥ ) भा स्क. ११। ९। २७॥

दुर्मति केर दोहागिनि मेटै, ढोटहिं चाँप चपेरै ।
कहहिं कबिर सोई जन मेरा, घर की रारि निवेरै ॥२०॥

सुदुर्मत्याः प्रभुत्वं यो नाशयेत् स्वप्रयत्नतः ।
इंद्रियात्मकडिम्भांस्तु गृह्णीयादभिभूय तान् ॥४८॥
इत्थं कृत्वा गृहस्याऽस्य कलहं यो निवारयेत् ।
सद्गुरुः कथयत्येनं स्वजनं स्वप्रियं हितम् ॥४९॥
" सीमान्तं × सर्वदुःखानामापदां कोशमुत्तमम् ।
बीजं संसारवृक्षाणां प्रज्ञामान्द्यं दहेत्ततः ॥५०॥
इंद्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम् ।
सन्नियम्य तु तान्येव सम्यक् सिद्धिं नियच्छति ॥५१॥
यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इंद्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता "॥ ॥५२॥
सुधादत्र सम्यक् सुमार्गं विदित्वा, विदित्वा स्वकं रूपमध्यक्ष-मच्छम् । भजस्वाशु तं चेन्द्रियादीञ्जयस्व, वशं सद्गुरोः पादपद्मं भजस्व ॥५३॥२०॥

इति हनुमद्दासकृताया शब्दसुधाया सद्गुरोर्ज्ञानप्राप्तीन्द्रियजयादि-वर्णन नाम सप्तमस्तरङ्गः ॥७॥

दोहागिनि ( दोहाई-प्रभुत्व ) चाँप चपेरै ( मार पीट कर वश में करै ) ॥२०॥

इति सद्गुरु से ज्ञानादि प्रकरण ॥७॥

---

× यो. वा. ५।१२।२७॥, मनुः २।९३॥, भ. गी. २।५८॥

## शब्द २१, अधिकारपरीक्षा प्र. ८.

सन्तो बोले ते जग मारै ।
अनबोले ते कैसे बनि है, शब्दहिं कोई न विचारै ॥

यो न मेऽस्ति जनः साधो तस्मै तत्त्वं न कथ्यताम् ।
सत्तत्त्ववचने चाऽयं वक्तारं ताडयेदपि ॥१॥
" गुरुरात्मवतां शास्ता शास्ता राजा दुरात्मनाम् ।
अथ प्रच्छन्नपापानां शास्ता वैवस्वतो यमः ॥२॥
अधर्मेण च यः प्राह यश्चाधर्मेण पृच्छति ।
तयोरन्यतरः प्रैति विद्वेषं वाऽधिगच्छति " ॥३॥
आदौ शमदमप्रायैर्नरं विज्ञो विशोधयेत् ।
ततस्तत्त्वं प्रभाषेत येनोक्तिः फलिता भवेत् ॥४॥
विद्वदुक्तिं विना नैव सिद्ध्यत्यत्र प्रयोजनम् ।
अतोऽवश्यं च वक्तव्यं यथायोग्यं जनान् प्रति ॥५॥
विज्ञोक्तिमन्तरा नैव कोपि शब्दविचारणाम् ।
कुरुते तां विना चायं विपरीतं तु मन्यते ॥६॥

हे सन्तो ! अनधिकारियों के प्रति तत्त्व बात कहने से, वे जग के लोग मारते हैं । और अधिकारियों के प्रति नहीं बोलने से भी उनका कार्य कैसे सिद्ध होगा । बिनु कहे शब्द का विचार कोई नहीं करता है । इसलिये अधिकारी के प्रति ही उपदेश देना चाहिये ॥

* वसिष्ठ स्मृ. २०। ३॥, मनुस्मृ. २। १११॥

पहिले जन्म पुत्र के भयऊ, बाप जनमिया पाछे ।
बाप पूत की एके माया, ई अचरज को काछे ॥

आदौ जातो जगत्पुत्र ईश्वरस्तत्र जायते ।
पश्चादस्य पिता लोको विरुद्धमिति मन्यते ॥७॥
अजन्मानं न जानाति विचारेण विना ततः ।
जनिमन्तं × पतिं बुध्वा मुधा मोहेन मोदते ॥८॥
मायामप्युभयस्याऽयमेकामेव तु पश्यति ।
सत्त्वाऽसत्त्वविभेदेन भेदं तत्र न पश्यति ॥९॥
इत्याश्चर्यमयं लोको विचारादि विना सदा ।
मन्यते कश्च विज्ञस्तं बोद्धुं स्वीकर्तुमर्हति ॥१०॥
यद्वा पूर्वं जगत्पुत्रः पिता पश्चाद्बभूव ह ।
अभिव्यक्तो विशेषश्च समर्थः सर्वशोधने ॥११॥
तयोर्माया हि नार्येका तयाऽऽश्चर्यमिदं तु सः ।
करोति विविधं वेषं धृत्वा कस्ते च बुध्यते ॥१२॥

सद्गुरु के उपदेश बिना बहुत अधिकारी भी ऐसा मान लिये कि संसारी जीवादिरूप पुत्र का प्रथम जन्म हुआ, फिर पीछे बाप (जगत् पिता तटस्थ ईश्वर) का जन्म हुआ, अजन्मा कोई ईश्वर है नहीं इत्यादि ॥ और बाप पूत (ईश्वर जीव) की माया एक है इत्यादि आश्चर्यों को सद्गुरु के उपदेश बिना कौन तत्त्वतः काछ (समझ-धर) सकता है ॥

---

× न जायते म्रियते वा विपश्चित् । कठ. १।२।१८॥ जनिमज्ज्ञानविशेष रामज्ञानवदिष्यते ॥ उपदेशसाहस्री. ९। ७॥

डुंडुर राजा टीका बैठे, विषहर करै खवासी ।
श्वान बापुरा धरनि ढाकनो, बिल्ली घर मे दासी ॥

विचारादि विना चाज्ञो जिज्ञासादिविवर्जितः ।
अहंकारेण विज्ञस्य वेषं धृत्वाऽत्र तिष्ठति ॥१३॥
दर्दुरेण समस्यास्य तुच्छस्य सर्पसन्निभः ।
समर्थो मोहतो दासोऽभवत्सौख्यादिवाञ्छया ॥१४॥
अहङ्कारग्रस्तस्यैव यद्देन्द्रियगणः खलु ।
विषयाऽऽहारिभृत्योऽभूद्यावत्स नहि जीयते ॥१५॥
मनो मनोवशे यश्च विद्यते श्वनमं हि तत् ।
अन्तर्धारयते सर्वान् दोषान् संछाद्य यत्नतः ॥१६॥
आशादुर्बुद्धितृष्णाद्या दास्यो मार्जारिका गृहे ।
धरंति बहुदोषांस्ता अनर्थाय न मुक्तये ॥१७॥

सजिज्ञासादि रहित दादुर तुल्य तुच्छ मनुष्य राजा (ज्ञानी) की टीका (वेष) लेकर बैठा है। सदुपदेश विना विषहर (सर्पवत्समर्थ जिज्ञासु) उसकी खवासी (सेवा) करता है॥ मनरूप बावरा कुत्ता ढाकन (अन्दर) मे विषय वासना आदि को धारण करता है। तृष्णा आशा आदि बिल्ली इस देह मे सदुपदेश विना ही दासी हुई है॥

काग कुकाग कारकुन आगे, बैल करै पटवारी ।
कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो, भैंसे न्याय निवारी ॥२१॥

कामक्रोधादयो हिंसावाममार्गरता जनाः ।
लघुकाका महाकाका जाताः कार्यसुसाधका. ॥१८॥
अविवेकयथरा मोहो लेखकोऽभूदनुत्तम. ।
क्रोधनो महिषो न्यायकर्ता लोकैरमन्यत ॥१९॥

विचारेण विना नित्यमुपदेशं विना सताम् ।
इदं जातं महाश्चर्यं साधो श्रुत्वाऽवधार्यताम् ॥२०॥
इत्येवं सद्गुरुर्वाक्यं कबीरो हितसिद्धये ।
उवाच तेन भोः साधो विचारं कुरु कारय ॥२१॥
" ×मनागपि विचारेण चेतसः स्वस्य निग्रहः ।
मनागपि कृतो येन तेनाप्तं जन्मनः फलम् ॥२२॥
विचारकणिका यैषा हृदि स्फुरति पेलवा ।
एषैवाऽभ्यासयोगेन प्रयाति शतशाखताम्" ॥२३-२१॥

काग कुकाग (छोटे बड़े कौवा) तुल्य हिंसक वाममार्गी आदि अग्रगामी कारकुन (कार्यकर्ता) हुए हैं। बैल तुल्य जड़ लोग पटवारी (लिपक) हुए हैं ॥ और भैंसों के समान क्रोधी लोग न्याय (धर्मादि मर्यादा) के विचारादि करते हैं । सदुपदेश विचारादि बिना यह दुर्दशा है, इसलिये विचारपूर्वक अधिकारियों के प्रति उपदेश देना चाहिये ॥२१॥

## शब्द २२.

सन्तो देखत जग बौराना ।
साँच कहौं तो मारन धावै, झूठहिं जग पतियाना ॥
नेमी देखा धर्मी देखा, प्रात करहिं असनाना ।
आतम मारि पषाणहिं पूजै, इन महँ कछु न ज्ञाना ॥

विचारेण विना साधो मोहमयस्य पानतः ।
उन्मत्तं दृश्यते सर्वं जगत् पश्यतु तद् भवान् ॥२४॥

× यो. वा. ५। ९३। १-२॥

अहिंसादेः सुधर्मस्य सत्यस्योक्तावतो नराः ।
ताडनायैव धावंति वितथे विश्वसन्ति च ॥२५॥
दृष्टा नियमवन्तोऽपि ये धर्मध्वजिनो नराः ।
प्रातरुत्थाय ते स्नान्ति मन्यन्तेऽतिशुभं ततः ॥२६॥
अहो मोहेन ये हत्वा स्वात्मकं सुकलेवरम् ।
पूजयंति शिलामूर्तिं ज्ञानं तेषु न किञ्चन ॥२७॥

हे सन्तो ! देखो; यह संसार बौराया है, इससे नहीं बोलो । सांच कहने पर मारने दौडता है, और यह झूठ ही में विश्वास करता है ॥ जो नेमी धर्मी दीख पडता है, प्रातःकाल असनान करता है, सो भी आतम ( सजीव देह ) को मारकर निर्जीव पाषाणादि की मूर्तियों की पूजा करता है, इससे इसमें कुछ भी धर्माधर्मादि का ज्ञान नहीं है ( यद्यपि मूर्तियों में मन्त्रादि से देवादि की भावना की जाती है, तथापि भावनासिद्ध देव के लिये प्रत्यक्षसिद्ध ईश्वररचित चेतन का घात करना बौरापन ही है; भावनासिद्ध की पूजा भावना से भी हो सकती है ॥

बहुतक देखा पीर औलिया, पढहिं कितेब कुराना ।
कै मुरीद तदबीर बतावैं, इन महँ ऊहे ज्ञाना ॥
आसन मारि डिंभ धरि बैठे, मन महँ बहुत गुमाना ।
पीतर पाथर पूजन लागे, तीरथ गर्व भुलाना ॥

गुरवो यवनानां ये दृष्टा ये साधवो मताः ।
अध्येतारः कुराणस्य ग्रन्थानां सम्यगेव च ॥२८॥
शिष्यान् विधाय ते तादृगुपायान् दर्शयंति वै ।
यतस्तेषामपि ज्ञानं विरुद्धं प्रतिभाति हि ॥२९॥

विधाय विविधां हिंसां कारयन्ति विगर्हितम् ।
जडाऽऽसक्ताश्च दृश्यन्ते ह्यतेऽपि कुविचारिणः ॥३०॥
विधाय त्वासनं मूढा दम्भं धृत्वा सदासते ।
वर्तते च महा गर्वो हृदि तेषां सदैव हि ॥३१॥
रीतिपाषाणयो मूर्तेः पूजायां ये रता नराः ।
तीर्थाटनादिगर्वेण भ्रान्ता भ्राम्यन्ति ते सदा ॥३२॥

बहुतक ( बहुत ) पीर ( गुरु ) औलिया ( विरक्त साधु ) को देखा, जो किताबादि पढते हैं। और मुरीद ( शिष्य-चेला ) के ( करके ) तद बीर ( उपाय ) बताते हैं। परन्तु इन लोगों में भी ऊहे ( पूर्वोक्त हि ) ज्ञान ( समझ ) है ॥ आसन मारि (लगाकर) और डिम्भ (दम्भ-पाखण्ड) का धारण करके बैठते हैं। मन में बहुत अभिमान रखते हैं, पित्तलादि की मूर्ति की पूजा में लगे रहते हैं। तीर्थाटन के गर्व से भूले २ रहते हैं इत्यादि ॥

माला पेन्हे टोपी पेन्हे, छाप तिलक अनुमाना ।
साखी शब्दै गावत भूले, आतम खबर न जाना ॥
हिन्दु कहे मोहि राम पियारा, तुरुक कहै रहिमाना ।
आपुस मे दोउ लरिलरि मूये, मर्म काहु नहिं जाना ॥

केचिन्मालां तथोष्णीष टोपिकेति सुनामकम् ।
अर्पयन्ति गले मूर्ध्नि मुद्रां कुर्वन्ति चिन्हकम् ॥३३॥
कृत्वा सर्वं विकल्प्यैवं मनसा बहुधा तथा ।
प्रमाणाद्याऽत्र गायंति शब्दांश्च साक्षिणं मुधा ॥३४॥
गायन्तो नैव जानंति सर्वात्मानमजं हरिम् ।
जातं जातं विपश्यंति भ्राम्यंति तेन तेन च ॥३५॥

भ्रमेणैव पृथङ्‌ मत्वा स्वात्मानमीश्वरं तथा।
वदन्त्यार्याः प्रियं रामं यवना रहिमाणकम्‌ ॥
मिथो युध्वा म्रियन्ते न रहस्यं केपि मन्वते ॥३६॥

अनुमाना ( कल्पित—मनमानिक ) माला आदि पेन्हते हैं, और शंखादि के छाप तिलक करते हैं। साखी शब्द ( प्रमाणरूप शब्द, या साक्षी और शब्द ) के गान में भूले रहने से आत्मा का खबर ( विचारादि ) को लोग नहीं जानते ॥ राम रहिमान एक ही है, इस मर्म ( रहस्य ) को नहीं जाना ॥

घर घर मन्त्र जो देत फिरत हैं, महिमा के अभिमाना।
गुरू सहित शिष्य सब बूड़े, अन्त काल पछताना॥
कहहिं कबीर सुनहु हो संन्तो, ई सब भरम भुलाना।
केतिक हटो हटा नहिं मानै, सहजे सहज समाना॥८८॥

रहस्यस्याऽपरिज्ञाने येभ्यो ये हि कुबुद्धयः।
स्वमहत्वाऽभिमानेन मन्त्रान्‌ ददति वेश्मसु ॥३७॥
गत्वा गत्वा न सत्तत्वं किञ्चिदुपदिशन्ति चेत्‌।
गुरुभिस्तैर्हि शिष्यास्ते निमज्जंति भवार्णवे ॥३८॥
अन्तकाले च दूयन्ते लभन्ते विश्रमं नहि।
पश्चात्तापहताः क्वापि यांति कर्मानुसारतः ॥३९॥
भाषते सद्गुरुः साधो सादरं श्रूयतां त्वया।
भ्रान्ताश्चैते न मन्यन्ते सत्यं यद्वचनं हितम्‌ ॥४०॥
भ्रमाद्विस्मृत्य सत्तत्वं ते हि यांति कुवर्त्मसु।
स्वभावेनैव सिद्धेषु हिमादन्मदुर्नेषु च ॥४१॥

निरोधं धारणं तेभ्यो नैव शृण्वंति चेत्तदा ।
कियद्वै वारयामोऽत्र गच्छन्तु ते यथासुखम् ॥४२॥
अग्निहोत्राणि वेदाद्या दृश्यन्ते राक्षसेष्वपि ।
दया शौचमहिंसा च सत्यं तेभ्यो निवर्तते ॥४३॥
अहिंसा सत्यसंतोषक्षमाऽलोभशमैर्विना ।
गच्छन्तोऽपि न संयांति संसाराब्धेः परं जनाः ॥४४॥
गुरूणां वचस्त्वं च सम्यक् कुरुष्व,
विचारं विना नैव कश्चिद् भजस्व ।
व्रज त्वं न कुत्रापि मूढप्रसङ्गे,
नयस्वाऽत्र पूते परे मानसं स्वम् ॥४५॥२२॥

इति हनुमद्दासकृतायां शब्दसुधायामधिकार्यादिचिन्तावर्णन नामाष्टमस्तरङ्गः ॥८॥

मर्म जाने विना जो घर २ में मन्त्र देते फिरते हैं, सो महिम के अभिमानी गुरु शिष्य सहित संसार में डूबते हैं। और अन्त में पश्चात्ताप करते हैं॥ भ्रम में भूले हुए इनको केतिक ( कितना ) हटो (रोके) हटा ( रोकना ) नहीं मानते, किन्तु सहजे ( स्वाभाविक रागादि हिंसा में) सहज स्वभाव से समाते (प्रवृत्त होते) हैं, विचारादि नहीं करते ॥२२॥

इति अधिकार परीक्षा प्रकरण ॥८॥

## शब्द २३, ज्ञानविना मतभेद हिंसादि प्र. ९.

सन्तो राह दुनों हम दीठा।
हिन्दू तुरुक हटा नहिं मानै, स्वाद सवन को मीठा ॥
हिन्दू व्रत एकादशि साधै, दूध सिंघाड़ा सेती।
अन्न को त्यागे मन नहिं हटके, पारन करै सगौती ॥
तुरुक रोजा निमाज गुजारै, बिसमिल बाँग पुकारै।
इनको भिस्त कैसक होइ है, साँझहिं मुरगी मारै ॥

भोः साधोऽत्र मया दृष्टौ मार्गौ द्वावपि कल्पितौ।
आर्याणां यवनानां च तौ भवानपि पश्यतु ॥१॥
कुमार्गेषु गता ह्येते सन्निरोधं न मन्वते।
उल्लङ्घ्यैव सुमर्यादां कामचाराद् व्रजन्ति च ॥२॥
सर्वेषां विषयाऽऽस्वादः प्रियो धर्मो न सद्गतिः।
पश्यन्तोऽतो न पश्यन्ति शृण्वंति न सुभाषितम् ॥३॥
एकादशीव्रतं ह्यार्या दुग्धमूलफलैः शुभैः।
कुर्वन्ति व्रतयन्त्यन्नं * मांसेन यंति + पारणाम् ॥४॥
रोजाव्रतं निमाजाख्यं पाठं च कुर्वते तथा।
तुरुष्का विसमिल्लाहं वाचाऽऽकुर्वन्ति§ सर्वदा ॥५॥
अहो एषां कथं स्वर्गः सद्गतिर्वा भवेत् खलु।
दिवैतावद् व्रतं कृत्वा सायं घ्नंति तु कुक्कुटीम् ॥६॥

---

* व्रतयन्ति–त्यजन्ति ॥ + व्रतसमाप्तिं यन्ति–प्राप्नुवन्ति ॥
§ आकुर्वन्ति–आह्वयन्ति ॥

हे सन्तो ! हमने हिन्दू तुरुक दोनों के रास्ते को दीठा ( देखा ) साधै ( करता है ), सेती ( से ), नहीं हटके ( नहीं हटाता ), पारन ( व्रत की समाप्ति ), सगौती ( मास ), गुजारै ( करता है ), बिसमिल ( बिसमिल्ला ), बाग ( वचन ), भिस्त ( स्वर्ग ), कैसक (किस प्रकार) ।

हिन्दु कि दया मेहर तुरुकन की, दूनों घट सो त्यागी ।
वै हलाल वै झटका मारैं, आग दुनों घर लागी ॥
हिन्दू तुरुक की एक राह है, सतगुरु इहे बताई ।
कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो, राम न कहहु खुदाई ॥२३॥

आर्याणां हि दया धर्मस्तुरुष्काणां स मेहरः ।
उभयैः स्वशरीरेभ्यस्त्यक्तो धर्मः स उत्तमः ॥७॥
यवनाः शनकैर्घ्नन्ति द्रुतमेतैश्च हन्यते ।
तथा च पापतापाग्निरुभयत्र प्रवर्तते ॥८॥
आर्याणां यवनानां च मार्ग एको हि विद्यते ।
स्वर्गमोक्षप्रसिद्ध्यर्थो दयाऽहिंसादिलक्षणः ॥९॥
सद्गुरुभिस्त्वयं मार्गः सम्यक् साधो प्रदर्शितः ।
श्रूयतां सावधानेन भवांस्तत्रैव गच्छतु ॥१०॥
दयाधर्मोऽस्ति चेच्चित्ते त्वहिंसा सर्वजन्तुषु ।
सर्वभूतप्रियश्चेत्त्वं सर्वत्र समदर्शनः ॥११॥
सर्वत्र रामबुद्धिश्चेन् मा रामं वद मान्यकम् ।
वर्तते सर्वथा श्रेयः प्रेयश्च तव सर्वतः ॥१२॥
"* सर्वभूतदयावन्तो विश्वास्याः सर्वजन्तुषु ।
त्यक्तहिंसासमाचारास्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥१३॥

---

* ब्रह्मपु. अ. ११६॥

वीतरागा विमुच्यन्ते पुरुषाः कर्मबन्धनैः ।
मनसा कर्मणा वाचा ये न हिंसंति किञ्चन "॥१४॥
यद्वा मोहवतामेषां मार्गो ह्येकोऽस्ति कल्पितः ।
नाममात्रेण भिन्नोऽपि दया नास्त्येव कुत्रचित् ॥१५॥
इत्थं सद्गुरुभिः साधो तेषां तत्त्वं प्रदर्शितम् ।
तस्मान्नैवाऽत्र तत्पक्षे रामो चाऽन्योऽभिधीयताम् ॥१६॥

हिन्दूओं की दया, तुरुकों के 'मेहर मुख्य धर्म है । तिसको दोनों अपने २ पट से त्यागा है इत्यादि ॥ सद्गुरु ने दोनों के लिये एक धर्म बताया है । यदि वह धर्म तुझमें है तो राम खुदा कुछ न कहो तौभी कल्याण ही है ॥२३॥

## शब्द २४.

भूला वे अहमक नादाना, तुम हरदम रामहिं ना जाना ॥
बरबस आनि जु गाय पछारिन, गला काटि जिव आप लिया ।
जियत जीव मुरदार करत है, ताको कहत हलाल किया ॥

अये शठास्तथा मूर्खाः क्रूराः पण्डितमानिनः ।
भ्रान्ता यूयं न रामं यत् सर्वभूतेषु पश्यथ ॥१७॥
सर्वात्मानं न रामं यदजस्रं मन्यते खलु ।
भवन्तस्तेन कुर्वन्ति पापं परमगर्हितम् ॥१८॥
हठेनानीय शुद्धां गां निपात्य च बलाद् भुवि ।
गलं छित्वा हि तत्प्राणान् भवन्तो नाशयंति हि ॥१९॥
अहो तं जीवतो देहं कृत्वा कुणपकश्मलम् ।
मेध्यं कृतं भवन्तस्तं भाषन्ते मतिविभ्रमात् ॥२०॥

ये अहमक (रे शठ–मूर्ख), नादान (अज्ञ बदहोश)! तुम भूले हो। जिससे हरदम (हरएक श्वास में सब प्राणी में) राम ही को नही जानते हो। बरबस (बल से जबरन) ले आकर जो गाय को पछारा, और गला काट कर जीव (प्राण) लिया (नष्ट किया) जियत जीव (देह) को मुरदार (मुरदा) करते हो, और उसको हलाल (पवित्र) करना कहते हो सो भूल है॥

जाहि मांस को पाक कहत हो, ताकी उतपति सुन भाई।
रज वीरज से मांस उपानी, मास नपाकी तुम खाई॥
अपनी देखि कहत नहिं अहमक, कहत हमारे बडन किया।
उसकी खून तुम्हारी गरदन, जिन तुमको उपदेश दिया॥

कथयंति भवन्तो यन्मांसं मेध्यं भ्रमात् खलु।
तस्योत्पत्तिर्यथा लोके स प्रकारो निशम्यताम् ॥२१॥
रजोरेतःसमायोगान्मांसं सर्वत्र जायते।
अतो नास्त्येव तत्पूतं यूयमत्थ च कुत्सिताः ॥२२॥
आत्मना दृश्यमानं यन्मलिनं तद् वदंति नो।
शठाः किन्तु वदन्त्येवमस्माकं पूर्वजैः कृतम् ॥२३॥
प्राणिघातजदोषाश्च पतिष्यंति गलेषु वै।
युष्माकमुपदेशेन येषां च क्रियते तथा ॥२४॥
" प्रवर्तको भवेत्पापे जन्तुर्नारी नरोऽपि वा।
तस्य स्यादधिकं दुःखमुभयोरागतः समम्" ॥२५॥

उपानी (उत्पन्न हुआ), नपाकी (अपवित्रात्मा), अपनी देखी (आपसे जाना जो मासादि में अपवित्रता) उसको अहमक (मूर्ख) नहीं कहता है किन्तु कहता है कि हमारे बडन (पिता गुरु आदि) मास भक्षणादि कर्म किये हैं इससे यह पवित्र कर्म है इत्यादि। साहब

कहते हैं कि उस प्राणी की खून (हिंसा) तुम्हारी गर्दन (शिर) पर चढ़ेगी। गला कटाना होगा। और जिन्होंने तुझे हिंसा के लिये उपदेश दिया उनकी भी वही दशा होगी॥

गई सियाही आइ सफेदी, दिल सफेद अजहूं न हुआ।
रोजा निमाज बंग का कीजे, हुजरे भीतर पैठि मुआ॥
पण्डित वेद पुराण पढ़त हैं, मोलना पढ़ै कोराना।
कहहिं कबीर दोउ नरक परे, जिन हरदम राम न जाना॥२४॥

अहो केशस्य कृष्णत्वं गतं पलितमागतम्।
तथापि हृदयं नैव मृष्टं युष्माकमञ्जसा॥२६॥
निर्णिक्तं हृदयं चेन्न निमाजादिकवाङ्मयैः।
रोजातः किं फलं व्यर्थं म्रियन्ते हुजरागृहे॥२७॥
वेदान् पुराणसंघांश्च पठंति पण्डिता हि ये।
कुराणं च पठन्त्यन्ये ये मुल्लानेति नामकाः॥२८॥
तेऽपि यावन्न सर्वत्र रामं पश्यंति सर्वदा।
हृदिस्थं सर्वभूतानां वीध्रं * विग्रहवर्जितम्॥२९॥
पतंति नरके तावत्ते सर्वे नात्र संशयः।
सद्गुरुः परमं प्राह वेदसिद्धान्तमुत्तमम्॥३०॥२४

सियाही (बाल के कालापन), सफेद (श्वेतपन), अजहू (अब भी-इस वृद्धावस्था में भी) यदि दिल नहीं साफ हुआ तो रोजा करने से, निमाज पढ़ने से, बाग देने से क्या हुआ। दिल साफ हुए बिना व्यर्थ ही हुजरा (मसजीद की कोठरी) में पैठकर मरा। हरदम (सदा-सब प्राणी में)॥२४॥

*विमलात्मकम्।

## शब्द २५.

काजी तुम कौन कितेब बखानी ।
झखत बकत रहहु निशिवासर, मति एको नहिं जानी ॥

प्रसिद्धा ये तुरुष्केषु काजीनाम्ना हि पण्डिताः ।
यूयं पठथ कान् ग्रन्थान् व्याख्या केषां विनायते ॥२१॥
पठितव्यं न तच्छास्त्रं येन शांतिर्भवेन्नहि ।
न द्रोहाद्विरतिर्नापि दया वा न यतो मतिः ॥२२॥
शोचन्तः कथयन्तश्च भवन्तो निशि वासरे ।
दृश्यन्ते न कदाचिच्च सन्मतिः कापि दृश्यते ॥२३॥
भवन्तो नैव मत्या सत्तत्त्वं किमपि भावुकम् ।
प्रपद्यति ततो दीनास्तिष्ठंति मोहसंयुताः ॥२४॥
मोहयुक्तैर्न दातव्यं कस्मैचिदुपदेशनम् ।
अन्यथा ह्युभयोर्हानि र्महती जायते ध्रुवम् ॥२५॥

हे काजी (तुरुकों के पण्डित) ! तुम किस किताब का व्याख्यान करते हो कि जिसका व्याख्यान करने पर भी झंखते (शोकित होते) और बकते (निरर्थक बोलते) रहते हो । और एक भी सच्ची मति जिस किताब के पढ़ने से तुमने नहीं पाई, उसके पढ़ने से क्या मतलब है ॥

शक्ति नु माने सुनत करत हो, मैं न बदोंगा भाई ।
जो खोदाय सब सुन्नत कर्ता, आपुहिं काटि न आई ॥
सुनत कराय तुरुक जो कहिये, औरत को का कहिये ।
अर्द्ध शरिरी नारी बखाने, ताते हिन्दू रहिये ॥

असामर्थ्यं परिज्ञाय बालेष्वजनेषु च ।
सुन्नतं यदि कुर्वन्ति भो नाहं स्वीकारोमि तत् ॥३६॥
यदि चास्येश्वरः कर्ता भवद्भिः परिकल्प्यते ।
किं न स स्वयमागत्य संछिनत्ति सुपस्थकम् ॥३७॥
अथवा किं न गर्भस्थश्छिन्नोपस्थोऽभवज्जनः ।
ईदृक्कार्ये कथं यूयं सहायाः परिकल्पिताः ॥३८॥
किञ्चास्मिन् कृते चेत्स्यात् सुन्नताख्ये हि कर्मणि ।
तुरुष्कत्वं तदा नार्यः कथ्यन्ते कैर्हि नामकैः ॥३९॥
अर्द्धं शरीरिणो नारी कथ्यते शास्त्रवित्तमैः ।
अतोऽर्यत्वयुता यूयं तिष्ठत ह्यार्यजातयः ॥४०॥

शक्ति (सामर्थ्य) का अनुमान (कल्पना) करके अल्पज्ञ अल्पशक्ति की सुन्नत करते हो, मैं इसका स्वीकार नहीं करूंगा। न तुझे कुछ कहता (समझता) हूं। यदि सुन्नत का कर्ता खुदा है तो स्वयं पेट से ही लिङ्ग कटा हुआ क्यों नहीं आया? या तुम्हारा खुदा आकर क्यों नहीं काटता? अपने काम में तुमको क्यों सामिल करता है? अर्द्ध शरीरी (पुरुष के आधा अंग) स्त्री कही जाती है, और सुन्नत बिना वह हिन्दू रहती ही है, तो तुम भी हिन्दू ही रहो॥

घालि जनेऊ ब्राह्मण होना, मेहरि क्या पहिराया।
वै जन्म की शूद्री परोसै, तुम पांड़े क्यों खाया॥
हिन्दू तुरुक कहां ते आया, किन यह राह चलाया।
दिल में खोजि देखु खोजादे, भिस्त कहाँ किन पाया॥

धारणाद्ब्रह्मसूत्रस्य यद्ययं ब्राह्मणो भवेत्।
न स्त्रिया धार्यते विद्वंस्ततोऽत्र शूद्रता ध्रुवम् ॥४१॥

जन्मना शूद्ररूपा सा यज्ञसूत्रविवर्जिता ।
परिविष्टं तया चान्नं त्वं भुङ्क्ते पण्डितः कथम् ॥४२॥
आर्याश्च यवनाश्चैव कुतो ह्यत्र समागताः ।
एषां मार्गाश्च केश्चित्राः कल्पितास्तद्विचिन्त्यताम् ॥४३॥
मनस्येतद्विचार्यैवं सतां सङ्गे विमृग्यताम् ।
एभिर्मार्गैश्च के स्वर्गानाप्नुवन् कुत्र वा कदा ॥४४॥

जनेऊ ( यज्ञसूत्र ) के घालि (पहिर) लेने ही से यदि ब्राह्मण होना है, तो मेहरि ( स्त्री ) को क्या पहिराये हो ॥ हिन्दू तुरुक कहाँ से आये, अर्थात् ये भिन्न कैसे सिद्ध हुए, इनकी उत्पत्ति के स्थान कमादि तो एकही हैं । फिर इनके दो मार्ग कौन चलाया, इन बातों को सब अपने २ दिल में विचारो, ओर विचार कर समझो कि यह सब मन माया रचित खेल है । यदि अपने से नहीं समझ में आवै तो सत्सगादि द्वारा खोजा दो ( ढूढना शुरु करो ) और देखो कि इन मिथ्या कल्पित मार्गों से कहाँ किसने भिस्त ( स्वर्ग ) पाया ॥

छाड़ु पसार राम भजु बौरे, जोर करतु है भारी ।
कबिरन ओट राम की पकरी, अन्त चले पछ हारी ॥२५॥

विचिन्त्यैवं नरा! मुग्धा! विस्तारं त्यजताखिलम् ।
कल्पितं तुच्छफलदं रामं भजत शांतिदम् ॥४५॥
विष्णुभक्त्या ह्यहिंसाद्यैर्यवनानां गतिर्भवेत् ।
निवृत्त्या पापकर्मभ्यो ब्राह्मणो ज्ञानमाप्नुयात् ॥४६॥
सर्वस्यापि विमुक्त्यर्थं हठेनापि मयोच्यते ।
रामस्य शरणे गत्वाऽऽत्मानमुद्धरतात्मना ॥४७॥
यो न गच्छति रामस्य शरणे मलिनो नरः ।
स स्वपक्ष विहायान्ते यत्र कुत्रापि गच्छति ॥४८॥

यद्वा येऽपि कविश्रेष्ठा जन्तवो वा बहुश्रुताः ।
विस्तारमपरित्यज्य रामस्य शरणं गता ।
ते स्वलक्ष्यात्परिभ्रष्टा ह्यगमन् सर्वयोनिषु ॥४९॥
विस्तारान् वै ततस्त्यक्त्वा रामस्य शरणं व्रजेत् ।
आसक्तो न भवेत्कापि लिङ्गग्रामे ह्यनर्थके ॥५०॥
" लिङ्गे सत्यपि सर्वस्मिन्ज्ञानमेव हि कारणम् ।
निर्मोक्षायेह भूतानां लिङ्गग्रामो निरर्थकः" ॥५१-२५॥

मन माया कृत पसार (विस्तार) को छोड़ो, और सर्वात्मा राम को भजो। हे बौरे! इसीसे स्वर्ग मोक्षादि की प्राप्ति हो सकती है, अन्यथा नहीं, इसलिये मैं भारी जोर करता हूं (बहुत आग्रहपूर्वक कहता हूं)। जिन जीवों ने मेरे कथनाऽनुसार सर्वात्मा राम के ओट (शरण) नहीं पकड़ा, वे लोग अन्त में अपने पक्ष को हार कर चले। या जिन कविजन (जीवों ने) विस्तार को त्यागे विना तटस्थ राम के ओट पकड़ा वे लोग निज पक्ष को अन्त में गमाये ॥२५॥

## शब्द २६.

भाइ रे दुइ जगदीश कहाँ ते आया, कहु कौने भरमाया ।
अल्लह राम करीमा केशव, हरि हजरत नाम धराया ॥
गहना एक कनक ते गहना, इनमें भाव न दूजा ।
कहन सुनन को दो करि थापे, इक निमाज इक पूजा ॥

कार्यं न करणं यस्य विद्यते न समोऽधिकः ।
सर्वभूतेषु गूढः स देव एकः सदीश्वरः ॥५२॥
भो भ्रातर्जगदीशौ द्वौ कुत सिद्धौ तथागतौ ।
किमर्थौं भ्रामितः केन भवान् भिन्नौ हि मन्यसे ॥५३॥

स एकोऽल्लाहनामा च रामनामा निगद्यते ।
करीमा केशवः सैव हरिर्हजरतस्तथा ॥५४॥
एकस्मिन् कनके कामं मण्डनं जायते बहु ।
वस्तुभेदो भवेन्नैव तथैवात्र विचिन्त्यताम् ॥५५॥
व्यवहारप्रसिद्ध्यर्थं ह्याटकादौ विभिन्नताम् ।
कल्पयन्ति यथा तद्वत्सर्वात्मजगदीश्वरे ॥५६॥
मिथ्या भेदेन कुर्वन्ति निमाजं केऽपि मानवाः ।
केचित्पूजां च कुर्वंति तत्त्वं जानंति केचन ॥५७॥

हे भाई ! दो जगदीश कहा से आये, तुम्हें कौन भ्रमाया है कि जिससे दो समझते हो ॥ एकही जगदीश अल्लाह रामादि नाम धराया है ॥ और जैसे एक कनक में अनेक गहना (भूषण) होते हैं, परन्तु इन गहनाओं और कनक में दूजा भाव (भेद) नहीं रहता है, इसी प्रकार एक जगदीश माया से नानारूप होता है, परन्तु उनमें भेद नहीं रहता । केवल कहने सुनने के लिये ही दृष्टान्तदार्ष्टान्त मे दो करके स्थापित किया जाता है, और उस कथन मात्र के भेद से ही कोई निमाज पढता है, कोई पूजा करता है ॥

वही महादेव वही मुहम्मद, ब्रह्मा आदम कहिये ।
कोइ हिन्दू कोइ तुरुक कहावै, एक जिमीं पर रहिये ॥
वेद कितेब पढ़े वे कुतबा, वे मोलना वे पाँड़े ।
बेगर बेगर नाम धरायो, एक मटिया के भांड़े ॥

एक एव ह्यवर्णो यो बहुधा शक्तियोगतः ।
दृश्यते तत्र भेदो न सत्यो वेवे कथञ्चन ॥५८॥
महादेवो हि यो देवः स मुहम्मदनामकः ।
ब्रह्मैवादमनामापि कथ्यते गुणभेदतः ॥५९॥

हिन्दवः केऽपि कथ्यन्ते तुरुष्काश्च तथा परे ।
कथ्यन्तां ते तथा कामं तिष्ठन्तु त्वेकभूमिषु ॥६०॥
एकत्वे किञ्च देवस्य सर्वस्यात्मस्वरूपिणः ।
हिन्द्वादिः कथ्यतां कोऽत्र सर्वैः स सेव्यतां प्रभुः॥६१॥
केचित्पठन्ति वेदादीन् कुराणादींस्तथाऽपरे ।
मनीषि मोलना नाम्ना कथ्यन्ते च पृथक् पृथक् ॥६२॥
नामभिर्ये च कथ्यन्ते देहास्तान् खलु तत्त्ववित् ।
मृदो भाण्डानि जानाति तथा नैते कुबुद्धयः ॥६३॥

वही एक जगदीश महादेव मुहम्मद ब्रह्मा आदमादि गुणभेद से कहा जाता है ॥ इसलिये चाहे कोई हिन्दू कहावो, कोई तुरक कहावो; परन्तु सब एक जिमीं ( भूमिका ) पर रहो । अर्थात् सब एक ईश्वरवादी रागद्वेषादि रहित होवो ॥ और समझो कि वह परमात्मा सबके आत्मा है । वेद किताब कुराणादि पढ़कर जो वेगर २ ( जुदा ) नाम धारते हैं, और वे पृथक् २ नाम जिनके होते हैं, सो सब शरीर भी तो एक मिट्टी के अनन्त भाड़े ( घड़े ) हैं ॥'

कहहिं कबीर ई दोनों भूले, रामहिं किनहुं न पाया ।
वे खस्सी वे गाय कटावैं, बादहिं जन्म गमाया ॥२६॥

देहाभिमानिनस्त्वेते ह्युभये भ्रान्तमानसाः ।
आत्मानं जगतामीशं रामं केऽपि न चाऽविदन् ॥६४॥
अलाभेन च रामस्य वालिशा ह्यार्यमानिनः ।
क्रूरा वस्तं विहिंसन्ति घातयंति तथा परैः ॥६५॥
यवनाश्च तथा क्रूरा निर्दया भिन्नदर्शिनः ।
गवादेर्हिंसनं नित्यं कुर्वंति कारयंति च ॥६६॥

उभये मानुषं जन्म स्वर्गनिर्वाणसाधनम् ।
मुधैव नाशयन्तीति कबीरो भाषते गुरुः ॥६७॥
हिंसया न भवेत् पूजा न धर्मो न परा गतिः ।
नैव जीवनसाफल्यं ध्यानं भक्तिर्नयो नहि ॥६८॥
शृण्वंति केऽपि नहि सद्गुरुसारशब्दं,
स्वादेन नष्टहृदया यवनास्तथार्याः ।
सर्वात्मराममजरं नहि ते भजंति,
हिंसामदादिकमलं न ततस्त्यजन्ति ॥६९-२६॥

इति हनुमद्दासकृतायां शब्दसुधायां ज्ञान विना भेदहिंसादिवर्णनं नाम नवमस्तरङ्गः ॥९॥

देहादि के अभिमानी हिन्दू तुरुक दोनों भूले हैं; किसी अभिमानी ने सत्य सर्वात्मा राम को नहीं पाया ॥ इससे बकरा गाय आदि कटाय कर इस अमूल्य जन्म को व्यर्थ ही नष्ट किया ॥२६॥

इति ज्ञान विना मतभेदहिंसादि प्रकरण ॥९॥

## शब्द २७, गृहाद्यासक्तिनिषेध भक्ति प्र. १०.

भूला लोग कहै घर मेरा ।
जा घरवा महँ भूला डोलहु, सो घरवा नहिं तेरा ॥
हाथी घोड़ा बैल वाहनू, संग्रह कियहु घनेरा ।
बस्ती महँ से दियो खदेरा, जंगल कियहु बसेरा ॥

देहेष्वात्माभिमानेन ये भ्रान्ता लौकिका जनाः ।
ते चास्माकं गृहा गीत्थं कथयंति स्मरंति च ॥१॥

सद्गुरुश्चाह तान् यूयं भ्रान्ता यत्र हि धावथ ।
तानि संति न युष्माकं द्वयध्वे तत्र मोहतः ॥२॥
हस्त्यश्ववृषयानानां कृतवन्तोऽतिसंग्रहम् ।
स विद्राव्यात्मनो ग्रामाद्वने वासमकल्पयत् ॥३॥
तेनैव द्राविता यूयं वसथाऽत्र भयावहे ।
भवारण्ये न यत्राऽस्ति सन्मार्गः सुलभः सदा ॥४॥
द्रावयत्यथवा मृत्यु र्यदाऽस्माद्गगरात्तदा ।
भवत्येव वने वास: संग्रहादि न संभवेत् ॥५॥

उक्त रीति से भ्रम में भूला ही मनुष्य रहता है कि मेरा घर है । गुरु कहते हैं कि जिस घर में आसक्त होकर भटक रहे हो, सो तेरा नहीं है ॥ हाथी घोड़ा बैल वाहन (रथादि) घनेरा ( बहुत ) पदार्थ का संग्रह किये हो । सो संग्रह ही तुझे निजात्म स्वरूप बस्ती से खदेड़ ( भगा ) दिया है । जिससे संसार वन में वास किये हो । वा मृत्यु जब देह से खदेड़ा तब वन में वास कियो ॥

गाठी बाधि खरच नहिं पठयो, बहुरि न कीयो फेरा ।
बीबी बाहर हरम महल में, बीच मियॉ को डेरा ॥

सुखार्थो नाऽत्र सद्धर्मसम्बलोऽपि सुसञ्चित: ।
न ज्ञानं नापि सद्भक्तिर्हृदये धारितं चिरम् ॥६॥
क्रममुक्तिप्रसिद्ध्यर्थं यल्लोकान्तरसाधनम् ।
युष्माभिर्न कृतं तच्च दानादि क्रियते न च ॥७॥
सर्वं संगृह्य वध्नन्ति भवन्तो न ददंति चेत् ।
कथं सौख्यं कथं शौक्ल्यं हृदयेषु भवेत् सदा ॥८॥
यमानन्दं च विस्मृत्य वने वसथ दुर्गमे ।
परावृत्य न तच्चिन्तां कृतवन्तः कदाचन ॥९॥

यथा वै यवनः कश्चिद्बहिः कृत्वा कुलाङ्गनाः ।
कुलटाः स्थापयेद् गेहे तासां मध्ये वसेत्सदा ॥१०॥
बहिः कृत्वा तथा बुद्धिं सद्विचारादिसंयुताम् ।
अविद्यां कामनां तृष्णां कुर्वते हृदि दारुणाम् ॥११॥
तासां मध्ये च तिष्ठंति भवन्तः स्वाविवेकतः ।
निमग्नास्तेन मोहाब्धौ स्वं रामं संस्मरंति नो ॥१२॥

संग्रह में ही लगे रहने से तुमने सद्भक्ति ज्ञानादि रूप खरच ( शम्बल ) गाँठी ( हृदय ) में नहीं बाधा ( नहीं धरा ), न क्रममुक्ति के वास्ते खरच पठाया ( सत्पात्र में दानोपासनादि नहीं किया ) और सासारिक कामों से बहुर ( लौट ) कर, विस्मृत निजात्मदेशादि के तरफ तुमने कभी फेरा ( खोज ) नहीं किया ॥ किन्तु बीबी ( धारणावाली बुद्धिरूप स्त्री ) को बाहर निकाल कर आशा तृष्णादिरूप हरम ( वेश्या ) को हृदय महल ( घर ) में बसाया । और उनहीं के बीच में जीवरूप मियाँ का डेरा हुआ ॥

नव मन सूत अरुझ नहिं सरुझे, जन्म जन्म अरुझेरा ।
कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो, यह पद करहु निवेरा ॥२७॥

तेनाऽत्र मानसाद्याश्च प्राणाद्या ज्ञानहेतवः ।
तथाऽपि विषये सक्तास्तन्तुवच्च × विमिश्रिताः ॥१३॥

× यद्यपि " अष्टौ ग्रहा अष्टावति ग्रहाः । बृ. ३।२।१ इत्यत्र, प्राणा ( प्राणा ) दयो ग्रहत्वेन, तद्विषयाश्चातिग्रहत्वेन, बन्धनहेतवो वर्णिताः सन्ति ॥ एकादशग्रहास्तद्वच्चावन्तः स्युरतिग्रहाः । यद्यप्येते तथाप्यष्टौ प्रधाना इति कीर्तिताः । आत्मपु. ५।१४२॥ इत्येकादशेन्द्रियाभिप्रायेणोक्तम् ॥ तथापि प्रकृते कर्मेन्द्रियाणां ज्ञानेन्द्रियान्तःकरणवशवर्तित्वेनैवमुक्तमिति

यद्वा ज्ञाता तथा ज्ञानं ज्ञेयं भोक्ता च भोग्यकम् ।
भोगः कर्ता क्रिया चैव करणं च जगत् खलु ॥१४॥
सन्तवो नन्दमनकाः सन्त्येते मिश्रिता इव ।
आत्मना न विविच्यन्ते ह्यध्यासात्सर्वजन्मसु ॥१५॥
सद्गुरुर्भाषते साधो श्रवणादि विधीयताम् ।
विवेकेनात्मनश्चास्य स्वाध्यासापनयं कुरु ॥१६॥
अध्यासापनयात्साधो संसारो विनिवर्तते ।
क्व गृहादिसमारम्भः क्व ममत्वविडम्बना ॥१७॥२७॥

दरमों के बीच में डेरा होने से चार अन्तःकरण, पाच ज्ञानेन्द्रिय-रूप नौ मन सुत विषयों मे अरुझे ( फंसे ) हैं, तथा ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय, भोक्ता भोग भोग्य, कर्ता करण क्रियारूप नवविध ससार आत्मा में अरुझे हैं, और हरएक जन्मों में अरुझते ही जाते हैं ॥ साहब का कहना है कि हे सन्तो ! श्रवणादि करो, और इस अरुझादिरूप पद का निवेरा ( निवेर–निवृत्ति ) करो ॥२७॥

## शब्द २८.

जोलहा वीनहु हो हरिनामा । जाको सुर नर मुनि धरु ध्याना ॥
ताना तनै के अहुंठा लीन्हो, चरखी चारों वेदा ।
सर खूंटी एक राम नरायण, पूरण प्रगटे भेदा ॥

मानवीं सत्तनुं लब्ध्वा जिज्ञासां वाऽप्यनुत्तमाम् ।
भो जीवा* उक्तसत्सूत्रै र्वयन्तां विमलं पटम् ॥१८॥

बोध्यम् । उक्तं हि योगवासिष्ठे "मुक्तबुद्धीन्द्रियो मुक्तो बद्धकर्मेन्द्रियोऽपि हि । बद्धबुद्धीन्द्रियो बद्धो मुक्तकर्मेन्द्रियोऽपि हि ॥" स्थितिप्र. १५।४२॥

* 'शूद्रायां वैश्यसंसर्गादायोगव इति स्मृतः । तन्तुवाया भवन्त्येव वसुकांस्योपजीविनः ॥' इति स्मृत्युक्तो जातिविशेषो लोके जुलाहेति कथ्यते।

हरिनाम्ना प्रसिद्धं तं यं ध्यायंति सुराऽसुराः ।
मुनयोऽपि महात्मानो लभन्ते यं च केचन ॥१९॥
पटस्यामुष्य वानार्थं लब्धं चेदं कलेवरम् ।
मितं सार्द्धत्रिभिर्हस्तैरनाहार्यफलं× हि यत् ॥२०॥
सूत्रयन्त्राणि वै वेदाः कीलकस्तु शरस्तथा ।
एको नारायणो रामो बहुरूपेण सिद्धिदः ॥२१॥
ततः सिद्धयंति वै कामाः तत्त्वमाविर्भवेत्ततः ।
तस्माच्च भेदयुक्तोऽयं संसारो व्यज्यतेऽध्रुवः ॥२२॥

हे जोलाहा (जीव) ! उन सूतों से उस हरिनामवाला पट को बीनो ( प्राप्त करो ) कि जिसका ध्यान देवादि सबही करते हैं ॥ उसी हरि की प्राप्ति के लिये तुम अहुंठा ( साढे तीन हाथ का देह ) लिया है, और चार वेदरूप नरखी पाया है ॥ तथा शर खूंटी आदि सभी आधार रूप एक नारायण राम ही है । सब नरों के आश्रय उस एक राम से ही सब भेद पूर्ण ( अच्छी तरह ) प्रगट होंगे और हुए हैं । सब कार्य उस राम नारायण से ही सिद्ध होता है ॥

भवसागर एक कठवत कीन्हा, तामें माँड़ी साना ।
माँड़ी के तन माँड़ि रह्यो है, माँड़ी बिरले जाना ॥
चान्द सूर्य दुइ गोड़ा कीन्हो, मध द्विप माँझा कीन्हा ।
त्रिभुवन नाथ जु माँजन लागे, साम मून्हिया दीन्हा ॥

व्यक्तः स काष्ठपात्रं स्यातपञ्चभूतप्रमेलनम् ।
कृतं यदात्मना तत्र मण्डं तद्धि समर्पितम् ॥२३॥

---

अत्र तु मानवतनुलाभादिविशिष्टो जीव एव तच्छद्वबोध्यः ॥

× अनाहार्यम्–सत्यं फलं यस्मात् ॥

भूतमण्डात्मको देहः संसारं व्याप्य तिष्ठति ।
तं विवेकेन जानन्ति विरला मानवा भुवि ॥२४॥
चन्द्रसूर्यावुभौ नाड्यौ याह्यौ वा चन्द्रसूर्यकौ ।
गोडेति नामके पुष्टे ह्यधिष्ठाने कृते शुभे ॥२५॥
मध्यद्वीपोऽथ मध्यैषा नाडी माझेति नामकम् ।
अधिष्ठानं कृतं येन धृतं सर्वं हि मध्यतः ॥२६॥
अस्यां भूततती जीवरूपेण प्राविशद्धरिः ।
भुवनानां स नाथोऽपि तन्तूञ्छोधयते सदा ॥
समभावेन सम्बन्धान् ग्रन्थींश्च विदधाति ह ॥२७॥

संसाररूप एक कठौत ( काष्ठपात्र ) लिया है, उसमें भूतरूप माँडी साने गये हैं ॥ और उस मॉड़ी का कार्य देह ससार में माँड़ि ( व्याप्त हो ) रहा है । तिसको मॉड़ी ( भूत ) रूप कोई विरले समझा ।, बहुत लोग इसीमे आत्मता का अभिमान किये ॥ चन्द्रसूर्य दो गोड़ा किये गये, मध्य ( जम्बू ) द्वीप मॉझा हुआ ॥ फिर त्रिभुवननाथरूप जीव उक्त सूतों को माजने ( शुद्ध करने) लगा । और समता रूप मुन्ही गाठ दिया ॥

पाई कै जब भरनी लीन्हो, वै बान्धे को रामा ।
वै भराय तिहुं लोकहिं बाँध्यो, कोउ न रहत उबामा ॥

शोधयित्वा यदा जीवो भरणाय प्रवर्तते ।
पूर्णतायै पटस्यास्य तदा रामः स्वयं सदा ॥२८॥
व्यूत्यर्थबन्धनाधार सर्वत्रैवोपकारकः ।
विवेकाय च सूत्राणां जायते साक्षिणस्तथा ॥२९॥
व्यूत्यर्थे बन्धने जाते सन्मर्यादादिलक्षणे ।
त्रयो लोका नियम्यन्ते तिर्यग् भिन्नो न कश्चन ॥३०॥

संशुद्ध्यति यदा सर्व वाह्यन्तःकरणं निजम् ।
विवेकाय तदा राम आविर्भवति स स्वयम् ॥३१॥
चित्तं निर्विषयं यस्य हृदयं चातिशीतलम् ।
तस्य मित्रं जगत्सर्वं मुक्तिः शुद्धा करस्थिता ॥३२॥

उक्त सूतों की पाई (शुद्धि) करके जब जीव भरनी (पूर्ण हरिपट की प्राप्ति) को लिया । उसके लिये तैयार हुआ, तो सर्वात्मा राम ही वे बाधने के लिये उन्मुख हो गये ॥ और जब वे भर गया (विवेकपूर्ण हुआ) तब तीनों लोक नियम सूत्र से बध गया, कोई भी उवाम ( टेढ़ा–अनियमित ) नहीं रहा ॥

तीन लोक एक करिगह कीन्हा, डगमग कीन्हा ताना ।
आदि पुरुष वेठावन बैठे, कबिरा ज्योति समाना ॥२८॥

लोकत्रयं कृतं चैकं गृहं वयनसिद्धये ।
तचत्यं सर्वविस्तारं चलाचलमलोकत ॥३३॥
चालयित्वा तु जीवोऽसौ भूत्वा स्वादिस्वरूपवान् ।
बोधस्याप्यस्य संहारे परानन्दे प्रवर्तते ॥३४॥
भूत्वा ज्योतिःस्वरूपोऽसौ विशत्यत्र समप्रभे ।
उन्मज्जति ततो नैव तथा साधो समाचर ॥३५॥
" मा भव ग्राह्यभावात्मा ग्राहकात्मा च मा भव ।
भावनामखिलां त्यक्त्वा यच्छिष्टं तन्मयो भव" ॥३६॥
" त्यज धर्ममधर्मं च सत्यानृते उभे त्यज ।
सत्यानृते उभे त्यक्त्वा येन त्यजसि तत्त्यज" ॥३७-३८॥

तीनों लोक को एक करिगह (पट बिनने का घर) किया, और सब ताना (विस्तार) को डगमग (चञ्चल) किया (चलायमान देखा)।

फिर आदिपुरुष रूप पट को वेठावन (सम्हालने) के लिये जो जीव वैठा (स्थिर हुआ) सो कविरा (जीव) ज्योतितुल्य हो गया, या सब ज्योतियों के ज्योति में समा गया ॥२८॥

## शब्द २९.

रामुरा चली विनावन माहो, घर छोड़े जात जोलाहो ।
गज नव गज दश उनइसकी, पुरिया एक तनाई ।
सात सूत नौ गांठ वहत्तर, पाट लागु अधिकाई ॥

जीवाख्योऽयं कुविन्दो वै यावद्रामं न विन्दते ।
तावत्तेन विना ह्यस्य सत्सम्पत्ति विना तथा ॥३८॥
बुद्धिश्चलति संसारे वनेऽनित्ये भयावहे ।
जीवो लब्धं गृहं त्यक्त्वा धावतेऽथ यतस्ततः ॥३९॥
प्राणान्तःकरणैरङ्कै र्दशभिश्च तथेन्द्रियैः ।
मानदण्डैर्मितं दीर्घं प्रतनोत्स पुनः पटम् ॥४०॥
सप्तधातुमयान्यत्र सूत्राणि ग्रन्थयो नव ।
नवद्वारस्वरूपा वा मुख्यनाडीमयाः खलु ॥४१॥
द्विसप्ततिश्च याः कोटयो नाड्यो वाऽत्र ततोऽधिकाः ।
लग्नास्ताश्च पटे चित्राः सुपाल्यादिस्वरूपतः ॥४२॥

रामरूप रा (धन) के विना जीव की बुद्धि संसार वन में चली। या रामरूप राजा (जीव) नवीन पट विनावने के लिये चला। उस समय प्राप्त घर (देह) को छोड़कर जोलहा (जीव) जाता है॥ फिर पांच प्राण चार अन्तःकरण रूप नौ गज, और दशेन्द्रि रूप दश गज मिलाकर उनइस गज की एक पुरिया (थान) तनाया॥ जिसमें

सात धातु सात सूत हुए, और प्रधान नव नाड़ी वा नवद्वार नव गाठ लगे। और बहत्तर कोटि नाडी रूप आकृति आदि अधिक पाट ( किनारी ) लगाये गये ॥

ता पट तूल न गज न अमाई, पैसन सेर अढाई ।
ता महँ घटै बढै रतियो नहिं, करकच कर घरहाई ॥

अस्मिन् पटे च तूलो वा मानदण्डक एव वा ।
विद्यतेऽमायिको नैव नैवाविशति लौकिकः ॥४३॥
अध्यास्ते सेटको नाऽत्र नाढको वा कथञ्चन ।
पणतुल्यैर्महातुच्छैः कर्मभिर्लभ्यते महान् ॥४४॥
प्राणाद्यैश्च समायुक्ते ह्रासो ह्यल्पो भवेन्नहि ।
न वा वृद्धिस्ततो नित्यं तैर्युक्तो वर्तते चिरम् ॥४५॥
किञ्चात्र कच्चरं कर्म गुरुत्वं कुरुते सदा ।
तापो हेत्यादिशब्दश्च जायतेऽतो निरन्तरम् ॥४६॥

इस पट में तूल गजादि कोई भी अमायिक (सत्य) नहीं हैं। लौकिक तूलादि का इसमें प्रवेश हो सकता है। इसी प्रकार लौकि सेर अढैया आदि भी इसमें नहीं पैठते हैं, या पैसों मे ढाई सेर मिलत है, अर्थात् एक देह का कर्म से बहुत बार शरीर प्राप्त होते हैं॥ औ जैसे कहा गया है उससे कमी वा अधिकता भी इसमें नहीं होती, किन करकच ( कुत्सित कर्म ) इस घर में हाय (शोकादि) प्रगट करते हैं॥

निति उठि बैठ खसम से बरबस, तामें लागु तिहाई ।
भिंगी पुरिया काम न आवे, जोलहा चला रिसाई ॥

अपि तता इमे लोका नित्यमुत्थाय रक्षकैः ।
ईश्वरैः कुर्वते युद्धं स्थितिमुल्लङ्घ्य यान्ति च ॥४७॥
संस्थां त्यक्त्वा कृते कार्ये कर्मणि काप्यनुष्ठिते ।
त्रिधाऽवस्था भवत्येव तत्र गुणविभेदतः ॥४८॥
तत्फलं च सुखं दुःखं मोहं चानुभवञ्जनः ।
न तृप्यति कदाप्यत्र वृद्धत्वं बाधते बलात् ॥४९॥
वृद्धत्वाद्यैश्च संक्लिन्नं क्लिष्टं चेदं कलेवरम् ।
कार्याऽक्षमं निरीक्ष्यैव क्रुद्धो गच्छत्ययं ततः ॥५०॥

कुकर्म से दुःख होने पर भी यह जीव सदा ऊठ बैठ कर रासम (स्वामी) से बरबस (जबरदस्ती–अन्याय) करता है, उसमें भी तिहाई (तीन भाग) अवश्य लगते हैं (गुणभेद से तीन प्रकार के कर्म होते हैं) और उनके फलरूप सुख दुःख मोह प्राप्त होते हैं ॥ फिर यह शरीर रूप पुरिया (थान) जब रोगादि से भींजने (व्याप्त होने) पर काम नहीं आता है, तब जीव जोलहा क्रुद्ध होकर चलता है ॥

कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो, जिन यह सृष्टि उपाई ॥
छाडु पसार राम भजु बौरे, भवसागर कठिनाई ॥२९॥

भोः साधो श्रूयतामेतद्विचाराद्यैश्च बुध्यताम् ।
यैर्विस्तारैः कृतं विश्वं तांस्त्यक्त्वा राममाश्रय ॥५१॥
भो मत्ता अस्य रामस्य सम्यक् संश्रयणं विना ।
भवाब्धावस्ति संक्लेशः पारश्चास्य न लभ्यते ॥५२॥

" यावतः§ कुरुते जन्तुः सम्बन्धान् मनसः प्रियान् ।
तावन्तोऽस्य निखन्यन्ते हृदये शोकशङ्कवः" ॥५३॥
तस्मात्सर्वान् परित्यज्य सम्बन्धान् स्थितिमाश्रय ।
विस्तारानखिलांस्त्यक्त्वा रामं लब्ध्वा सुखी भव ॥५४-२९॥

साहब का कहना है कि हे सन्तो ! श्रवणादि करो, और जिन मन के विस्तारों ने इस शरीर रूप सृष्टि (कार्य) को उत्पन्न किया है, उन्हें त्यागकर सर्वात्मा राम को भजो; हे बौरे लोगो ! उस राम के भजे विना संसार सागर में बहुत कठिनाई होती है, जैसे समुद्र में जहाज विना होती है इत्यादि ॥२९॥

## शब्द ३०.

सन्त उधारण चूनरी, ररा ममा के भाति हो ॥
बालमीक वन बोइया, चूनि लिया शुकदेव ।
कर्म बनौरा ह्वै रहा, सुत कातहिं जयदेव ॥

अतिशुद्धं पटं हित्वा रामं प्रावरणोत्तमम् ।
साधवोऽपि पटं चित्रं परोक्षं धारयन्ति हि ॥५५॥
यो न शुद्धो न रामो वा रामनाम्ना विभाति च ।
रामं यथा च तं भान्तं लोको रामेति मन्यते ॥५६॥
तच्चित्रपटसिद्ध्यर्थं वाल्मीकोऽसौ महानृषिः ।
बीजं तूलस्य गानेन गुणानामुप्तवानिव ॥५७॥
शुकदेवः कथां श्रुत्वा, तत्तूलचयनं तथा ।
बीजानि यानि कर्माणि कृतवांश्च ततः पृथक् ॥५८॥

§ विष्णुपु. १७।६६॥

शुद्धतूलसमो योऽसौ गुणस्तस्यैव गामतः ।
सूत्राणीव कृतान्यासन् जयदेवेन धीमता ॥५९॥

यद्दत सन्तों ने उ ( उस ) परोक्ष चूनरी ( त्रिगुणमय चित्रपट ) का धारण किया, जो ररा ममा ( राम ) के सदृश भाति (प्रतीत होता है) ॥ उस तटस्थ रामरूप पट की सिद्धि के लिये वाल्मीक महर्षि ने वन ( वागा-कपास ) बोया, शुकदेवजी ने उसमें से मानो कपास चून लाये, और कर्म ही उसमें बनौरा ( बीज ) हो रहा, जयदेव कवि उसे ओंट काटकर सूत ( सूक्ष्म ) कर दिया ॥

तीन लोक ताना तन्यो, ब्रह्मा विष्णु महेश ।
नाम लेत मुनि हारिया, सुरपति सकल नरेश ॥
बिनु जिहे गुण गाईया, बिनु बस्ती का गेह ।
शून्ये घर का पाहुना, तासो लायो नेह ॥

ब्रह्मविष्णुहराश्चैते गुणदेवा महेश्वराः ।
लोकत्रयेऽपि तन्वति गुणगाथां निरन्तरम् ॥६०॥
विस्तरे गुणगाथानां नामानि मुनयः सदा ।
जपन्तोऽतिपरिश्रान्ता देवेशाश्च नरेश्वरा. ॥६१॥
परिश्रान्ता वहिर्गानात्ततो जिह्वां विनैव ते ।
प्रागायंस्तद्गुणांस्तद्वच्छून्ये गृहमकल्पयन् ॥६२॥
शून्यगृहस्य ते भूत्वा प्राघुणाः स्नेहसंयुताः ।
तत्र यांति तथाऽऽयान्ति लभन्ते न स्थितिं स्थिराम् ॥६३॥

फिर गुणदेव स्वरूप ब्रह्मा विष्णु महेश उस सूत के तीनों लोक में ताना तानिन ( गुणविस्तार किये ), जिससे सर्वत्र चित्रपट सिद्ध हुआ । फिर मुनि इन्द्र राजा आदि उस गुण को गाय २ कर हारे ॥ तो जिह्वा विना ही गुण गाने लगे, और विना बस्ती ( ग्राम ) के ही आका-

में नित्य घर की कल्पना कीये ॥ और शून्य घर का पाहुन बनकर, उस शून्य घरादिक से ही नेह ( प्रेम ) किये ॥

चार वेद कॉड़ा किया, निराकार किय राछ ।
विनै कबीरा चूनरी, बै नहिं बांधि बाछ (रि) ॥३०॥

चतुर्वेदाञ्छरान् कृत्वा वेमराक्षादिकं तथा ।
निराकारं विधायैते पटांश्चित्रान् वयन्ति वै ॥६४॥
विवेकेन यतो जीवा व्यूत्यर्थे वन्धनं नहि ।
कुर्वन्ति प्राणचित्तादेस्ततः शुद्धो न लभ्यते ॥६५॥
" चिरमाराधितोऽप्येष परमप्रीतिमानपि ।
नाविचारवतो ज्ञानं दातुं शक्नोति माधवः ॥६६॥
सर्वस्यैव जनस्यास्य विष्णुरभ्यन्तरे स्थितः ।
तं परित्यज्य ये यंति वहिर्विष्णुं भ्रमंति ते ॥६७॥
तत्पूजनेन कष्टेन काले चित्तं विशुद्ध्यति ।
नित्याऽभ्यासविवेकाभ्यां चित्तमाशु प्रसीदति" ॥६८॥
गृहादिसंसक्तजनो न मुच्यते विहाय तत्तेन भजस्व तं हरिम् ।
यदीयबोधेन विनात्र जन्तवो व्रजंति विश्वे दधते त्वसत्पटम् ॥६९॥

इति हनुमद्दासकृतायां शब्दसुधायामासक्तिनिषेधभक्त्यादिवर्णनं नाम दशमस्तरंगः ॥१०॥

चार वेद को काड़ा (शरादि) और निराकार ब्रह्म को राछ नामक साधन समझ कर, कबीरा (जीव) सदा चूनरी बीनता है, परन्तु बाछकर (विवेक करके) बै (वय) नहीं बाधता है, इससे शुद्ध अपरोक्ष पट नहीं प्राप्त होता है ( विवेकपूर्वक चैतन्यात्मा में मनोयोग विना मुक्ति नहीं मिलती) ॥३०॥

इति गृहाद्यासक्ति निषेध प्रकरण ॥१०॥

## शब्द ३१, कुयोगी आदि प्र. ११.

ऐसो योगिया वैद करमी, जाके गमन अकाश न धरनी ॥
हाथ न वाके पाँव न वाके, रूप न वाके रेखा।
विना हाट हटवाई लावै, करै बयाई लेखा ॥
कर्म न वाके धर्म न वाके, योग न वाके युक्ती।
शींगी पात्र कछू नहिं वाके, काहेक माँगै भुक्ती ॥

विचारादि विना कश्चिद् भवतीत्थं कुयोगवान्।
कुवैद्यश्च तथा कश्चिद् गुरुत्वस्याभिमानवान् ॥१॥
कुयोगवांश्च यस्तत्र तस्य वृत्तमिदं शृणु।
आकाशपृथिवीभ्यां हि विना यस्य गतिः सदा ॥२॥
यस्य हस्तौ न पादौ स्तो रूपाकृती तथैव न।
हट्टाद्यैर्हि विना यश्च वाणिज्यं कुरुते सदा ॥३॥
यस्य कर्म न वा धर्मो योगो युक्ति र्न यस्य च।
शृङ्गवाद्यं न पात्रं च किञ्चिद् यस्य कदाचन ॥४॥
तत्स्वरूपो ह्ययं योगी भोगं प्रार्थयते किमु।
भोगप्रार्थनया चास्य योगः संसारतो भवेत् ॥
तेन याति कुयोगित्वं लोकैश्च निन्द्यते मुहुः ॥५॥

विवेक विना यह जीव ऐसा कुयोगी और कुवैद्य हुआ है कि, जिस के आकाश पृथिवी कुछ का भी गम ( होश ) नहीं है, या आकाश पृथिवी विना जिसका गमन है ॥ और उसके हाथ पाँव रूप आकारादि कुछ नहीं हैं। विना हाट के हटवाई लाता है, बयाई ( खर्च आमद ) के लेखा ( हिसाब ) करता है ॥ उसके न कर्म धर्म हैं, न योग युक्ति

है ॥ न भोगी पात्रादि कुछ है। तौभी भुक्ति ( भोग ) क्यों मांगता है ( अर्थात् ऐसा निरवयव अक्रिय निर्गुण असङ्ग निजस्वरूप होते भी कुयोग से ही अविवेकी जीव भोगपरायण होता है ॥

तैं मुहिं जाना मैं तुहि जाना, मैं तुहि मॉह समाना ।
उतपति प्रलय एक नहिं होते, तब कहु कौनक ध्याना ॥
योगि एक आनि ठाढ़ कियो है, राम रहा भरपूरी ।
औषध मूल कछू नहिं वाके, राम सजीवन मूरी ॥

यदा त्वया ह्यहं ज्ञातो गुरुणा त्वं मया तथा ।
त्वय्याविष्टं यदा चाहं शुद्धविज्ञानरूपतः ॥६॥
तदा समस्वरूपे वै नोत्पत्तिप्रलयौ न च ।
विद्येते कश्चिदन्यो वा ध्यानं कस्य तदा भवेत् ॥७॥
प्रकल्प्यैव कुयोगी च स्वात्मनोऽन्यं तु रामकम् ।
तटस्थं स्थापितं लोके रामः पूर्णोऽत्र तिष्ठति ॥८॥
यद्वा सुयोगवान् योगी ह्येकं रामं सदद्वयम् ।
उपदेशेन सञ्छिप्ये पूर्णं प्राकटयत् खलु ॥९॥
मूलौषधिश्च यो रामो मृताऽऽजीवनकारकः ।
कुयोगिनो न तद्बोधलेशस्याप्यत्र संभवः ॥१०॥
किन्तु कल्पितरामं तं मत्वा संजीवनं परम् ।
संददाति कुयोग्यत्र रोगिभ्यो रोगशान्तये ॥११॥

और जब तुम ( जीव ) मुहि ( गुरु ) को जाना, और मैं तुमको अधिकारी समझा। फिर मैं तुम में ज्ञानरूप से समाया ( पैठा ) या जानने पर जब मुझ तुझ में समान भाव हुआ ॥ तब उत्पत्ति प्रलयादि एक भी सत्य नहीं प्रतीत होते हैं। तब कहो किस तटस्थ कर्ता आदि

का ध्यान हो सकता है । कुयोगियों ने एक तटस्थ कर्ता को आनि (लाय) कर खड़ा किया है । और सच्चा राम तो सदा सर्वत्र भरपूर हो रहा है ॥ परन्तु उस कुवैद्य गुरुआ के पास मूल औषध तो कुछ है नहीं, किन्तु कल्पित तटस्थ राम को ही सजीवन मूरी समझता है ॥

नटवत बाजा पेखन पेखे, बाजीगर की बाजी ।
कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो, भै सो राज बिराजी ॥३१॥

मिथ्याऽभ्यासादयं योगी नटवत् कल्पितं बहु ।
कौतुकं लोकते यद्धि शाम्बरं न तु तत्त्वतः ॥१२॥
प्रतिहारिकशाम्बर्या मोहितोऽयं जनः सदा ।
स्वतन्त्रो राजतुल्योऽपि पारतन्त्र्येण मोदते ॥१३॥
" × असुखे सुखमारोप्य विषमेऽज्ञानतो नरः ।
करोति सकलं कर्म तत्फलं चावशोऽश्नुते ॥१४॥
अहो मायाऽऽवृतो लोकः स्वात्मानन्दमहोदधिम् ।
विहाय विवशः क्षुद्रे रमते किं वदामि तम्" ॥१५॥
सद्गुरुश्चाह भोः साधो श्रवणं सुविधीयताम् ।
स्वातंत्र्येण परानन्दः सदा स्वेनानुभूयताम् ॥१६॥

नट के समान यह कुयोगी शृंगी आदि बाजा बजाकर, अनहद ध्वनि का अनुभव करके, उस मिथ्या पेखन (तमाशा) को देखता है कि जो बाजीगर के बाजी तुल्य है ॥ साहब का कहना है कि हे सन्तो ! आत्मश्रवणादि करो, उस बाजी में भूलने से यह स्वतन्त्र राजा तुल्य जीव, मिथ्या परवश आनन्द में ही विशेष प्रसन्न हुआ है ॥३१॥

× सूतसंहिता. शिवमा. अ. ८। ४४ ४५॥

## शब्द ३२.

नल को ढाढस देखहु आई, कछु अकथ कथा है भाई ।
सिंह शार्दूल एक हर जोतिन, सीकत बोइन धाना ।
वन के भलुआ चाखुर फेरे, छागर भये किसाना ॥

कुयोगिनः कुवैद्यस्य नरस्य केऽपि साहसम् ।
पश्यन्त्वत्र समागत्याकथनीया कथाऽस्य हि ॥१७॥
अहंकारं महासिंहं स्वान्तशार्दूलमेव च ।
एकस्मिन् काम्यकर्मादौ हले संवाहयत्यसौ ॥१८॥
कश्चिज्जिज्ञासुसंमूढौ संप्रेरयति तत्र च ।
विज्ञोऽहंकारचित्ते च ह्येकस्मिन्नात्मनि ध्रुवे ॥१९॥
कुयोगी सिकताबीजं हृदये वपति स्वकें ।
वासनादिस्वरूपं तत् फलं सत्यं यतो नहि ॥२०॥
विज्ञस्तु कुरुते सर्वं वासनादिविवर्जितम् ।
जन्मांकुरसमुद्भूतिः पुनर्यस्माद्भवेन्नहि ॥२१॥
वनवासिजना ऋक्षा घूर्णयन्ति च कोटिशम् ।
स्वीकारलक्षणं यद्वा मनांसि विदुषां खलु ॥२२॥
अजश्छागोऽत्र सम्पन्नः क्षेत्राजीवः सुखी सदा ।
अहो एतन्महाऽऽश्चर्यं कश्चिज्जानाति पण्डितः ॥२३॥

अविवेकी नर का ढाढस (साहस) आकर देखो, इसकी कथा भी कुछ अकथ है ॥ इसने अहंकाररूप सिंह चित्तरूप शार्दूल (व्याघ्र) को एक काम्य कर्मादिरूप हल में जोता है, सत्यांकुर के अहेतु वासना रूप सिकता (बालू) को धाना (बीज) बोया है ॥ तहाँ संसार वन के भलुआ (भूले) लोग चाखुर (नौकी-हेंगा) फेरते हैं, छागर (बकरा) अर्थात् शक्ति जीव किसान बना है ॥

छेरी चावहिं ब्याह होत है, मंगल गावै गाई ।
यन के रोझ लै दायज दीन्हो, गोह लोकन्दे जाई ॥

अज्ञबुद्धेरजायाश्च व्याप्ते विषयदैवतैः ।
विवाहो जायते ह्यस्य सुबुद्धेरात्मना तथा ॥२४॥
अज्ञोऽपि मङ्गलं तेन गायत्येव मनस्तथा ।
वानप्रस्थं तु गवयं कन्यादेयं प्रदत्तवान् ॥२५॥
अज्ञस्तस्य गतिं स्वर्गं विज्ञश्चात्मन्यमन्यत।
अलसाश्चेन्द्रियाण्यत्र दास्यो गच्छन्ति गोधिकाः* ॥२६॥

और छेरी तुल्य इसकी बुद्धि का विषय कुदेवादि से विवाह हो रहा है । तहाँ गाय ( गौ ) तुल्य जड़बुद्धि लोग मंगल गा रहे हैं, उसी विवाह से कल्याण बता रहे हैं ॥ उसमें वन के रोझ तुल्य वनवासी लोग दहेज दिये जा रहे हैं, वनवास मात्र से देवलोक के भोगों का अधिकारी समझे जाते हैं । तथा गोह ( आलसी ) लोग लोकनी (लौंड़ी, दासी ) बनकर जा रहे हैं । कर्मधर्म बिना ही स्वर्ग चाह रहे हैं ॥

कागा कापर धोवन लागे, बकुला किरपहिं दाँते ।
माँछी मूंड़ मुँड़ावन लागे, हमहूं जाब बराते ॥

काकवन् मलिना ये हि तेऽपि स्वर्गार्थमुद्यताः ।
अभवन् स्नानमात्रेण बकवृत्तिः कथादिभिः ॥२७॥
कामाद्या लोभतृष्णाद्याः काकाश्च बकपङ्क्तयः ।
ते शुद्धयंति स्वयं तद्वत् कृपारूपा भवन्ति हि ॥२८॥

---

* गोधिकाः—तत्तुल्याः इत्यर्थः ॥

वाममार्गिजना हीनास्ते सर्वे वनमक्षिकाः ।
मुण्डनं कारयन्त्यस्माद्यास्यामोऽत्र वयं ध्रुवम् ॥२९॥
यां गतिं यांति वै लोका दानयज्ञजपादिभिः ।
तां वयं वेषमात्रेण यास्याम इति मोहिताः ॥३०॥
विज्ञस्य ममतारूपा मक्षिका स्वशिरस्तथा ।
अविद्यां नाशयित्वैव यात्यात्मवरसन्निधौ ॥३१॥

काकतुल्य मलिन लोग भी कपड़ा धोवा रहे है, स्नानादि कर रहे हैं। बकवृत्ति लोग दाँत किरपते हैं, दाँत निकालकर हसते उसकी कथा गाते हैं ॥ और माखी तुल्य वाममार्गी आदि भी माथ मुड़ाने लगे हैं कि हम सब इसी बरात में जायगे । और मोक्ष भवन में पहुँचेंगे इत्यादि ॥

कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो, जो यह पद अर्थावै ।
सोई पण्डित सोई ज्ञाता, सोई भक्त कहावै ॥३२॥

सद्गुरुः प्राह भोः साधो श्रूयतां पदमुत्तमम् ।
अर्थं योऽस्य विजानाति स ज्ञाता पण्डितश्च सः ॥३२॥
स एव कथ्यते भक्तो भवमुक्त्यधिकारवान् ।
भवतेदं सुविज्ञेयं ह्याश्चर्यं विद्यते महत् ॥३३॥
कुयोगिनो ये च कुदेशिका नरा निरङ्कमात्मानमखण्डविग्रहम् ।
विदंति नो ते बहु कुर्वतेऽनृतं सुदुष्करं सत्पुरुषैर्हि सर्वदा ॥३४-३२॥

इति हनुमद्दासकृताया शब्दसुधाया कुयोगिकुसम्बंधादिवर्णनं नामै-कादशस्तरङ्गः ॥११॥

साहब का कहना है कि हे सन्तो ! सुनो, जो कोई इस पद को अर्थाता है, उक्त व्यवहारों को करता है; सोई इस संसार में पण्डित ज्ञाता भक्त कहाता है । सोई अकथ कथा है ॥३२॥

इति कुयोगी आदि प्रकरण ॥११॥

## शब्द ३३, शरीरासक्ति से भक्ति ज्ञान की अप्राप्ति-अपूर्णता प्र. १२.

जो चरखा (हो) जरि जाय, बढ़हिया ना मरै।
(मैं) कातों सूत हजार, चरखुला जनि जरै॥
बाबा मोर ब्याह करो, अच्छा वर हित काहु।
जब लगि अच्छा नहिं मिले, तब लगि आपुहिं व्याहु॥

कर्मतन्त्वर्धयन्त्रस्य दाहे देहस्य सत्यपि।
म्रियते नैव तक्षाऽसावीश्वरो मन एव वा॥१॥
अतो विदेहमोक्षस्य सम्भवो विद्यते नहि।
ततस्तिष्ठत्वयं देहः कर्मनामादितन्तवः॥२॥
सहस्रं सेधयिष्यन्ते यतः सौख्यं भवेन्मम।
कुयोग्येवं हि निश्चित्य कुवैद्यगुरुसन्निधौ॥३॥
याति तं च वदत्येवं विवाहं मे कुरु प्रभो।
केनचिद्वरदेवेन हितेन क्रियतां पितः॥४॥
यावन्न मिलति श्रेष्ठो वरो मे वरदायकः।
तावत्स्वयं वृणुष्वाथ हितमेव ततः कुरु॥५॥

कुयोगी लोग समझते हैं कि यदि यह देह चरखा जर जायगी, ।मी बढ़ही ( तटस्थ ईश्वर मन आदि ) तो मरते ही नहीं हैं। इससे ार २ देह होता ही है, विदेहमोक्ष की सम्भावना नहीं है। इसलिये ह वर्तमान ही देह नहीं नष्ट हो ( चिरायु बने ) कि जिससे मैं कर्म ामादि हजारों सूत कातूं॥ ऐसा निश्चय करके कुवैद्य गुरुरूप पिता के स लोग जाते हैं, और विनय करते हैं कि हे बाबा! किसी अच्छा

हित वर ( देव ) के साथ मेरा ब्याह करो ( मन्त्र दो ) और जबतक अच्छा वर की प्राप्ति नहीं होवे, तबतक आप मुझे वरो ( मेरा स्वीकार करो ) ॥

प्रथमहिं नगर पहूंचते, परिगौ शोक संताप ।
एक अचम्भा देखिया, बिटिया ब्याही बाप ॥
*समधी के घर लम्धी, आये बहु के भाय ।*
गोड़े चूल्हा देइ दे, चरखा दियो ढढाय ॥

अहो एतन्महाश्चर्यं संसारनगरेऽत्र यः ।
प्राप्नुवन्नेव जीवः प्राङ्न्यमज्जच्छोकतापयोः ॥६॥
यतते न स मोक्षाय पितरं ह्यूढवाँस्तथा ।
बुद्धावात्मत्वसंभ्रान्त्या तद्दुहितेव च स्थितः ॥७॥
यद्वा स्वयं पिता जीवो ह्यविद्याबुद्धिरूपिणीम् ।
कन्यकां वरयामास सद्गुरुं न कदाचन ॥८॥
कुगुरुश्च कुशिष्यस्य गृहे पण्डितमानिनः ।
भ्रातरोऽप्यागमन् ह्यस्य कुविवाहस्य सिद्धये ॥९॥
मिलित्वा चास्य सर्वेऽमी मनोबुद्धी सुपादकौ ।
तापयुक्तार्थचुल्ल्यां चाऽदेदीयन्त कुकर्मणि ॥१०॥
तत्र दत्वाऽस्य पादौ च शरीरं ह्यत्यपीडयन् ।
वर्द्धयंति स्म संतानं शरीरस्य कुवर्त्मना ॥११॥

आश्चर्य है कि जिस नगर में प्रथम पहुचते ही, इसको शोक संताप प्राप्त हुए हैं उससे मोक्ष नहीं चाहता ॥ दूसरा आश्चर्य यह दीखता है कि स्वय बिटिया ( लड़की–पुत्री ) बुद्धि बनकर बाप (बार २ जन्मदाता के साथ विवाह किया है, या जीवरूप बाप कुबुद्धि बिटिया से विवा

केशा है ॥ समधी (सम बुद्धिवाला निज बुद्धि का विवाह चाहने-
वाला) शिष्य के घर में गुरुआ रूप समधी (बेटावाले) आये। और बहु
के भाई लोग आये ॥ सो सब इस जीव के गोड़ (पैर) मन बुद्धि को
काम्यकर्मादिरूप तप्त चूल्हा में देकर चरखा (देह) को भी दृढाय
पीट) दिये ॥

देवलोक मरि जाहिंगे, एक न मरै बढाय।
या मन रञ्जन कारणे, चरखा दियो दिढाय ॥
कहहिं कबीर सुनु सन्तो, चरखहिं लखै जो कोय।
जो यह चरखा लखि परै, आवागमन न होय ॥३३॥

देवा लोका मरिष्यंति तक्षैको न मरिष्यति।
इत्येवं बोधयित्वा तं तन्मनोरञ्जनाय च ॥१२॥
देहयन्त्रस्य तस्यैवं दृढतां ते ह्यकारयन्।
नतु तस्मिन्नसारत्वं मिथ्यात्वं कृतवान् कचित् ॥१३॥
सद्गुरुश्चाह भोः साधो श्रूयतां सुविचार्यताम्।
देहयन्त्रं निदानेन चाधिष्ठानेन संयुतम् ॥१४॥
यो हि कश्चिद्विवेकेन बुध्यते तन्निरन्तरम्।
प्रत्यक्षं कुरुते सम्यङ् नैव जञ्जन्यते हि सः ॥१५॥
"सम्यग्दर्शनसम्पन्नः* कर्मभिर्न निबध्यते।
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते ॥१६॥
नदीकूलं यथा वृक्षो वृक्षं वा शकुनिर्यथा।
तथा त्यजन्निमं देहं कृच्छ्राद् ग्राहाद्विमुच्यते" ॥१७-३३॥

और उन्होंने निश्चय करा दिया कि अन्य देवलोगादि सबही मर
जायेंगे, परन्तु एक तेरा बढ़ही नहीं मरेगा ॥ और इसके मन का

* मनुः अ. ६।७४-७५॥

रञ्जन के लिये चरखा को ही दृढाय (निश्चय कराय) दिये ॥ साहब का कहना है कि हे सन्तो ! सुनो, इस चरखा को कोई अच्छी तरह नहीं जानता है । यदि अधिष्ठान निदानादि सहित यह चरखा ही अच्छी तरह समझ में आ जाय, तो फिर आवागमन नहीं होय ॥२३॥

## शब्द ३४.

बूझहु पण्डित करहु बिचारा । पुरुषा है कि नारी ॥
ब्राह्मण के घर ब्राह्मणि होती, योगी के घर चेली ।
कलमा पढ़ि पढ़ि तुरुकिनि होती, कलि में रही अकेली ॥

पण्डिता भो विचारेण बुध्यतामेष सत्वरम् ।
यं मन्यन्ते तटस्थं स पुरुषो वनिताऽथवा ॥१८॥
एवमेव त्वयं देहो विवेकेन निभाल्यताम् ।
तद्गतश्च निजात्मापि तत्त्वरूपेण दृश्यताम् ॥१९॥
देहं विचार्य जानीत मायाख्यवनितामयम् ।
या ब्राह्मणगृहे जाता ब्राह्मणी भवति स्वयम् ॥२०॥
चेटी योगीगृहे सा च मन्त्राणां यवनस्य तु ।
पाठेन यवनी जाता कलावेकाकिनी च सा ॥२१॥

पण्डितों से इस बात को बूझो, या हे पण्डितो ! आप लोग इस बात को समझो कि, यह देह चरखा, तटस्थेश्वरादि, पुरुष ( चेतनात्मा रूप है कि नारी ( माया ) रूप है, और इस ज्ञान के लिये विचा करो ॥ कि मायारूप नारी ब्राह्मण के घर में ब्राह्मणी होती है, योगी के घर में चेली होती है ॥ कलमा ( मन्त्र ) पढ़ २ कर तुरुकिनी होती है और कलियुग में अकेली रहती है । कलि में इसकी अति प्रधानता है

वर नहिं वरै ब्याह नहिं करई, पुत्र जनामनि हारी ।
कारो मूँड़ को एक न छाड़े, अजहू आदि कुमारी ॥
मइके रहौं न जाँउ सासुरे, सांईं संग न सोवों ।
कहैं कबिर मैं युगयुग जीवों, जाति पांति कुल खोवों ॥३४॥

वरं वृणोति नासङ्गं विवाहं कुरुते न सा ।
तथापि तत्प्रकाशाद्यैः पुत्रान् जनयते सदा ॥२२॥
कृष्णकेशं न कश्चित्सा जहाति तामसं नरम् ।
अहो साऽद्यापि चास्तेऽद्धा ह्याद्येषाऽऽदिकुमारिका ॥२३॥
अस्या मातुः कुले विश्वे वसामः श्वाशुरे न च ।
गुरोः कुले गमिष्यामो न च पत्या शयेमहि ॥२४॥
मातुः कुले सुवासेन जीविष्यामो युगेयुगे ।
जातिपंक्तिकुलादीनि नाशयिष्यामहे तथा ॥२५॥
वर्णयन्त्येयमाचार्याः कवयोऽपि बहुश्रुताः ।
असङ्गं सत्पतिं नैव स्वीकुर्वन्ति न विशताम् ॥२६-३४॥

यह माया असग वर को नहीं वरती है, न ब्याह करती है, तौभी
र आत्मा की सत्ता प्रकाशादि से, पुत्रों को उत्पन्न करनेवाली होती
॥ तथा कृष्णकेश तामसी किसी पुरुष को पुत्रादि बनाने बिना नहीं
इती है। अब भी वह आदि कुमारी ही है ॥ मइके (मायारूप, माता
घर में) रहेंगे, सासुर ( सद्गुरु के यहाँ ) नहीं जायगे। न असग
मी के साथ सोवेंगे ( मुक्त होंगे ) ॥ किन्तु मइके में रहकर युग २
येंगे। जाति पाति कुलादि को त्यागेंगे। इस प्रकार बहुत कवि और
चार्य लोग कहते हैं इत्यादि ॥३४॥

## शब्द ३५.

साईं के संग सासुर आई ।
संग न सूती स्वाद न मानी, गौ यौवन स्वपने की नांई ॥

ज्योतिरात्मा + जगत्स्वामी हृदये वर्तते सदा ।
सहैव तेन जीवात्मवामा विश्वे समागता ॥२७॥
अहो तथापि मोहेन तेनैक्यात्मस्वभावतः ।
प्रतिष्ठितास्य बुद्धिर्न नचैषाऽयं कदाचन ॥२८॥
अतो नास्य सदा शुद्धं परानन्दममन्यत ।
तत्स्वादेन विहीनस्य तारुण्यं स्वप्नवद्गतम् ॥२९॥
मानुष्यं खलु तारुण्यं सत्पतेर्लब्धये क्षमम् ।
नष्टेऽस्मिन् स्वप्नतुल्येऽर्थे तत्प्राप्तिरतिदुर्लभा ॥३०॥

असङ्ग निजपति के साथ ही जीव वा बुद्धिरूप स्त्री संसार में आई है, तौभी उसके साथ एकरूप से नहीं सूती ( एकता का अनुभव नहीं किया ), न उसके परमानन्द के स्वाद ही का मनन अनुभव किया । इससे इस मानवतन में स्थिति रूप यौवन ( समर्थाऽवस्था ) स्वप्न के समान बीत गया ॥

जना चार मिलि लगन शोचायो, जना पांच मिलि मण्डप छाई ।
सखी सहेलरी मंगल गावै, दुखसुख माथे हरदि चढाई ॥

पत्युः सत्यस्य चाप्राप्तौ त्वसत्यस्यैव लब्धये ।
शोधयन्ति स्म सल्लग्नं सर्वान्तःकरणानि वै ॥३१॥

---

+ योऽय विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः । बृ. । ४।३।७॥ स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म । बृ. ४।४।२५॥

साधयंति स्म भूतानि देहाख्यं मण्डपं दृढम् ।
पञ्चापि दुःखदं स्थूलं महानर्थप्रवर्तकम् ॥३२॥
विषयादौ समासक्ता ह्यन्तशाश्चातिचञ्चलाः ।
इन्द्रियप्राणसख्यस्त्वगायन् मङ्गलान्यतः ॥३३॥
सुखदुःखहरिद्रास्ता अर्पयंति च मस्तके ।
जीवस्यात्मनि सद्रूपेऽन्योऽन्याध्यासेन सर्वदा ॥३४॥

सत्पति का लाभ नहीं होने पर असत् पति आदि की प्राप्ति के वास्ते चार जना (चारों अन्त करण) लग्न शोधनेवाले हुए। पाच भूत शरीर रूप मण्डप को छाये, तैयार किये ॥ फिर इन्द्रिय प्राणादिरूप सखी सहेली (जीव के सगी मित्र) मगल गाने लगी (अनात्मसम्बन्ध से ही कल्याण बताने लगी) और सुख दु ख रूप हरदी जीव रूप दुलहिन के माथे पर चढाय दिया ॥

नाना रूप परी मन भाँवरि, गाँठि जोरि भाई पति आई ।
अर्घ देइ लै चली सुवासिनि, चौकहिं रॉड भई संग सांई ॥

यन्नाना मनसो रूपं तद्धि सप्तपदी स्मृता ।
संभ्रांतिलक्षणं तत्र ग्रन्थिबन्धस्त्वविद्यया ॥३५॥
अन्योन्याऽध्यासरूपेण कामाद्यालक्षणेन वा ।
ग्रन्थिबन्धेन जीवोऽयं बुद्धिर्वा विश्वसित्यलम् ॥३६॥
भ्रातरं देवमन्यं वा न चात्मानं प्रियं प्रभुम् ।
हितं सर्वस्य लोकस्य विधातारं च मायया ॥३७॥
सम्पन्ने कुविवाहे च सुवासिन्या समा जनाः ।
पत्ये ह्यर्घं * समर्प्यैव गच्छन्ति स्म यतस्ततः ॥३८॥

* साक्षत सुमनोयुक्तमुदक दधिसयुतम् । अर्घं, दधिमधुभ्या च मधुपर्को निधीयते ॥ कात्यायनस्मृ. ॥

विवाहे खलु जातेऽपि पत्यौ येषां स्थितेऽपि च।
विधवेव जनाः सर्वेऽभवंस्तन्नाशनिश्चयात् ॥३९॥
सत्पती हृदि येषां च स्थित एवाऽबुधा जनाः ।
विज्ञानेन विना तस्य विश्वस्ता अभवंस्तथा ॥४०॥

मन के नाना विकल्प मनोरथादि रूप भाँवरि परा, फिर अन्योन्या ध्यास कामादिरूप गाठि जोर कर अपने भ्राता देव मन आदि के विषे स्वामीपन का विश्राम किया गया ॥ तब सुवासिनी (देवभक्त) लोग उस पति के लिये अर्घादि देकर चली, परन्तु असंग पति के साथ रहते भी उस असत् पति का नाश से यह जीव चौके मे ही राड (विधवा) हो गया ( इसकी बुद्धि राड के समान रह गई ) ॥

भया विवाह चली बिनु दुल्हा, बाट जात समधी समुझाई ।
कहैं कबिर मैं गौने जै हौं, तरब कन्त ले तूरब जाई ॥३५॥

सम्पन्नेऽपि विवाहेऽतः सर्वे पत्यु विनैव हि ।
गच्छन्ति गच्छतो मार्गे बोधयन्ति हि वञ्चकाः ॥४१॥
वयं सर्वेऽपि गन्तारो गुरवः स्वर्ग उत्तमे ।
तत्र तूर्णं पतिं लब्ध्वा भवतीर्णा भवेम ह ॥४२॥
जीवतो नैव मुक्तिः स्यात्कस्यचिद्धि कथञ्चन ।
इत्यादि दर्शयन्त्यज्ञा अहो मोहविडम्बना ॥४३॥
शरीरयन्त्रस्थितयेऽस्य लब्धये,
भजन्ति मूढाः कुगुरुं हरिं तथा ।
विभेददृष्ट्या विमलं हृदि स्थितं,
विदंति नो तं ननु मायया हताः ॥४४॥३५॥

इति हनुमद्दासकृताया शब्दसुधाया शरीरासक्तस्येशभक्त्यापि निजा त्मनोऽलाभादिवर्णन नाम द्वादशस्तरङ्गः ॥१२॥

विवाह होने पर भी जब उस पति की प्राप्ति विना जीव चला तब समधी (गुरुआ) लोगों ने रास्ते में जाते हुए को समझाया कि हम सब भी यहां से गमन करके जायंगे, तब लोकान्तर में कन्त (स्वामी) के पास जाकर तूरव (शीघ्र) तरव (मुक्त होंगे) ॥३५॥

इति शरीरासक्ति से भक्ति ज्ञान की अप्राप्ति-अपूर्णता प्रकरण ॥१२॥

## शब्द ३६, मनःकामादि प्रबलता प्र. १३.

(भाइरे) गइया एक विरञ्चि दियो है, (गइया) भार अभारो भाई ।
नौ नारी के पानि पियत है, तृषा तयो न बुझाई ॥
कोठा बहत्तर औ लौ लायो, वज्र किंवार लगाई ।
खूंटा गाड़ि डोरि दृढ बांध्यो, तैयो तोरि पराई ॥

सृष्ट्वा प्रबलमेकैकं गां जीवेभ्यः प्रदत्तवान् ।
विधाता सह्यभारोऽपि महाभारोऽभवत् तदा ॥१॥
नवद्वारस्थनाडीभिर्विषयापः पिबन् सदा ।
तृप्तो न जायते जातु धावते सर्वतस्तथा ॥२॥
योगिनस्तत्तये त्वस्य स्थित्यै चैव प्रयत्नतः ।
द्विसप्ततिप्रकोष्ठेषु धर्तयन्ते स्म धारणाम् ॥३॥
वज्राऽररसमं रुध्वा सर्वमिंद्रियसम्पुटम् ।
सुनिश्चित्य तथा ध्येयं तत्रैव सति कीलके ॥४॥
मनोवृत्त्यात्मदाम्ना च तं बध्नंति समाहिताः ।
अहो तथापि तच्छित्वा गच्छत्येव यतस्ततः ॥५॥

ब्रह्माजी ने सब जीवों के साथ एक २ मन रूप गाय दिया है, हे भाई! वह अभार होते भी महा भार (बोझ) रूप है॥ नव द्वारों की नाली-द्वारा विषयादिरूप पानी सदापीने पर भी उसकी तृष्णा शान्त नहीं होती॥ द्वार निरोध रूप वज्र किमारा लगाकर वहत्तर कोठरी आदि में योगियों ने लौ (ध्यान) लगाया॥ और ध्येय स्वरूप खूटा गाड़कर प्रेमवृत्तिरूप डोरी से उसे अच्छी तरह बांधा, तौभी वह गइया डोरी को तोड़ कर पराय (भाग) गई॥

चारि वृक्ष छौ शाखा वाके, पत्र अठारह भाई।
एतिक लै गम कीहिस गइया, गइया अति हरहाई॥
ई सातो औरो है सातो, नौ औ चौदह भाई।
एतिक गईया खाय बढ़ायो, गइया तौ न अघाई॥

वेदाख्यांश्चतुरो वृक्षाणषड्शाखाश्च तदङ्गकान्।
अष्टदशपुराणानि तत्पत्राण्यधिगम्य सः॥६॥
नैव तृप्तोऽतिचण्डोऽयं चपलो धावते मुहुः।
नवं नवं सदैवेच्छंस्तृणं भोग्यं तथोत्सवम्॥७॥
सप्तद्वीपसमुद्रादि धातुस्वरसमन्वितम्।
प्रत्यक्षं च परोक्षं च दृष्टं चैव श्रुतादिकम्॥८॥
व्याकरणानि खण्डांश्च नव विद्याश्चतुर्दश।
भुवनानि च सर्वाणि भोजयित्वा तृणानि सः॥९॥
अत्यन्तं वर्द्धितो व्यर्थं बुभुक्षां न जहाति चेत्।
सौहित्यं जायते नास्य तृपोदन्यैव वर्तते॥१०॥

वेदरूप चार वृक्ष, उसके अङ्गरूप छौ शाखा, पुराणरूप अठारह पत्र, हे भाई! वह गइया यहां तक गम किया (इन्हें पढ़ा) तौभी

अत्यन्त दूरही ( चञ्चल ) रह गई ॥ यह प्रत्यक्ष सात धातु स्वरादि को और परोक्ष सात समुद्र द्वीपादि को और नव व्याकरण नव खण्ड को तथा चौदह भुवन विद्यादि को खायकर यह गइया वृद्धि को प्राप्त किया, तौभी अघाई ( तृप्त हुई ) नहीं ॥

खुरता मे राती है गइया, श्वेत सींग है भाई ।
अवरण वरण कछू नहीं वाके, खाद्य अखाद्यहुं खाई ॥
ब्रह्मा विष्णु खोजि नहिं पाये, शिव सनकादिक भाई ।
सिद्ध अनन्त वहि खोज परे हैं, गइया किनहु न पाई ॥

रजसा गमने रक्तः सत्त्वं शृङ्गं तु शोभते ।
वर्णाऽवर्णप्रभेदोऽस्य विद्यते नहि कुत्रचित् ॥११॥
वर्णाऽवर्णप्रभेदो वा नास्त्येवास्य ततः सदा ।
खाद्य खादत्यखाद्य च योनिकालादिभेदतः ॥१२॥
ब्रह्मा विष्णुर्महेशश्च सनकाद्या मुनीश्वराः ।
अन्विष्यापि व्रजन्तं तं लब्धवन्तो न चाद्भुतम् ॥१३॥
अस्यैवाऽन्वेषणे सिद्धा अनन्ताः सन्ति तत्पराः ।
लब्धवन्तो न केप्यस्य गतिं सत्वरगामिनः ॥१४॥
रक्तः श्वेतस्तथा कृष्णो भूत्वा धावति सर्वतः ।
दुर्गमश्चास्य मार्गो वै केनचिन्नैव लभ्यते ॥१५॥

खुरता में ( खुर २ चलने में ) गइया राती ( प्रीतिवाली ) है । या खुरदेश में अर्थात् गमनकाल में राती ( लाल–रजोगुणवाली ) है । और इसके शींग ( स्थिर प्रधानांश ) श्वेत ( सत्त्वगुण ) है ॥ इसके लिये अग्राह्य ग्राह्य का कुछ नियम नहीं है, योनि देशकालादि के भेद से खाद्य अखाद्य सब कुछ खाती है ॥ ब्रह्मा विष्णु भी इसे खोज कर

नहीं पाये कि यह कहाँ कितने देर में जाती है। शिवजी, सब भाई सनकादि भी नहीं पाये॥ अनन्त सिद्ध इसके खोज में लगे परन्तु कोई इसे पाये नहीं॥

कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो, जो यह पद अर्थावै।
जो यह पद को गाय विचारै, आगे ह्वै निर्वावै (है) ॥३६॥

य आचक्षीत व्याख्यार्थं यः प्रगाय विचारयेत्।
स जनो ह्यग्रणी भूत्वा जनानन्यान् विमोचयेत्॥१६॥
सद्गुरुश्चाह भोः साधो शृण्वेदं सुविचार्यताम्।
अर्थस्यावगमं कृत्वा प्रगायेदं विमुच्यताम्॥१७॥
"कृतस्फारविचारस्य मनोभोगादयोऽरयः।
मनागपि न भिन्दंति शैलं मन्दानिला इव॥१८॥
विचारवैराग्यवता चेतसा गुणशालिना।
देवं पश्यत्यथात्मानमेकरूपमनामयम्" ॥१९-१६॥

साहब का कहना कि हे सन्तो! सुनो, कि जो कोई इस मेरे पद को अर्थावेगा, और मन की शक्ति दुर्गमता आदि को समझेगा। और इसे गायकर सद्विचारादि से मन को तृष्णादि रहित तुष्ट करेगा, वह पुरुष आगे ( अग्रगामी गुरु ) होकर दूसरे को भी निर्वाण पद की प्राप्ति करायेगा॥३६॥

## शब्द ३७.

कबिरा तेरो घर कन्दला में, या जग फिरत भुलाना।
गुरु की कही करत नहिं कोई, अमहल महल दिवाना॥
सकल ब्रह्म महँ हंस कबीरा, कागन चोंच पसारा।
मनमथ कर्म धरे सब देही, नाद बिन्द विस्तारा॥

भो जीव ! ते गृहं शुद्धं हृद्गुहायां हि वर्तते ।
सर्वाधिष्ठानचिद्रूपं भ्रमाज्जगति घूर्णसे ॥२०॥
एते संसारिणः सर्वे गृहज्ञानं विनैव हि ।
विघूर्णन्तेऽत्र मोहेन लभन्ते न सुखं क्वचित् ॥२१॥
गुरोर्वाक्यानुसारेण नानुतिष्ठंति केचन ।
अगृहे गृहबुद्ध्या तु प्रमत्तं दृश्यते जगत् ॥२२॥
सर्वे विवेकिनो हंसा जीवा ब्रह्मणि सर्वदा ।
वर्तन्ते तन्मयाश्चैव काका ये त्वविवेकिनः ॥२३॥
ते भोग्यादिकुमांसार्थं मनोबुद्धिपुटं सदा ।
स्फारयंति न बोधार्थं दुर्बोधमलिनाशयाः ॥२४॥
अतस्ते मन्मथस्यैव क्रियां व्यावायलक्षणाम् ।
कुर्वते येन नादस्य विन्दोश्च विस्तृतिर्भवेत् ॥
वंशाद्वयात्मिका यद्वा. नामरूपात्मिकाऽनृता ॥२५॥

हे कविरा (जीव) ! तेरा घर हृदयकन्दला (गुफा) में है, तू इस संसार में भूला फिरता है ॥ कोई गुरु की कहा नहीं करता, और अगहल महल, (मिथ्या घर) में, सब उन्मत्त हुआ है ॥ सकल हंस (सब विवेकी) ब्रह्म में स्थिर रहते हैं। काक समान लोग विषयों के लिये मनरूप चोंच फैलाते हैं ॥ और वेदी देही सब मनमथ (काम) के कर्म का धारण करते हैं। और नाद (शब्द) विन्दु के कार्य का विस्तार करते हैं ॥

सकल कबीरा बोलै बानी, पानी में घर छाया ।
अनन्त लूट होत घट भीतर, घट का मर्म न पाया ॥
कामिनि रूपी सकल कबीरा, मृगा चरन्दे होई ।
बड़बड़ ज्ञानी मुनिवर थाके, पकरि सके नहिं कोई ॥

सत्यशब्दं कदाचित्तु ते सर्वेऽपि वदंति हि ।
अहो तथापि मोहेन संसाराब्धिजले गृहम् ॥२६॥
कुर्वन्ति तेऽतिगम्भीरे तद्रहस्यं विदंति नो ।
अनन्तनिधिनाशो यः क्रियते कामतस्करैः ॥२७॥
गुरवोऽपि महात्मानः संदिशन्ति हितं सदा ।
तथापि तेऽतिमालिन्याद्वर्तन्ते हि कुवर्त्मसु ॥२८॥
कामाद्यैः कलिताश्चोरैर्हृद्रहस्यं विदंति न ।
कामिन्याख्यमृगाश्चातश्चरंति शांतिशस्यकम् ॥२९॥
इंद्रियाख्यमृगास्तद्वत्कामिन्यादिचराः खलु ।
बहिर्मुखा हि धावंति भवन्त्यन्तर्मुखा न च ॥३०॥
हृद्रहस्यज्ञभिन्ना ये महान्तो ज्ञानिनो मताः ।
मुनयोऽपि महात्मानस्तेऽपि तेषां प्रमार्गणे ॥
श्रान्ता एवाऽभवन् सर्वे ग्रहीतुं तान्न चाशकन् ॥३१॥

सकल कबीरा ( सब कवि आदि ) सत्य बाणी बोल्ते हैं, तौभी पानी ( समारसमुद्र ) में घर छाये हैं ॥ अनन्त परमानन्द की लूट घट के भीतर होती है । परन्तु ये लोग घट के भेद नहीं पाये हैं ॥ कामिनी ( स्त्री ) रूपी सब मृग शांति आदि खेती को चरन्दे चरनेवाले हैं, भोग से उन्हें कोई वश में नहीं कर सका ॥

ब्रह्मा वरुण कुबेर पुरन्दर, पीपा औ प्रहलादा ।
हिरणाकश नख उदर विदारे, तिनहु क काल नरादा (सा)॥
गोरख ऐसो दत्त दिगम्बर, नामदेव जयदासा ।
इनकी खबर कहत नहिं कोई, कहाँ कियो है वासा ॥

श्रीब्रह्मा वरुणश्चैव कुबेरश्च पुरन्दरः।
पीपप्रह्लादभक्तौ यौ हिरण्यकश्यपस्य यः॥
उरसोऽपि नखैर्भेत्ता तान् कालो ह्यत्तवान् बली ॥३२॥
गोरक्षो यो महायोगी दत्तात्रेयो दिगम्बरः।
नामदेवो महाभक्तो जयदेवः कवीश्वरः ॥३३॥
एतेषामपि वृत्तान्तमिदानीं नोच्यते जनैः।
कैश्चित्किञ्चिद्व सन्त्येते कथं कुत्रेति निश्चितम् ॥३४॥
एतेषामीदृशत्वेऽपि वाञ्छन्ति विषयाश्वराः।
देवत्वं सिद्धिसम्पत्तीः प्रभुत्वं बलमेव च ॥३५॥
हृद्रहस्यं न जानंति समिच्छंति न वेदितुम्।
अहो दौर्भाग्यमेतेषां किं कथं कथयाम्यहम् ॥३६॥

जो ब्रह्मा आदि हुए, जो भगवान् नृसिंह नख से हिरण्यकश्यप
। उदर को फाड़ा, तिनहुंक काल नरादा (हे नर! तिन्हें भी काल
दिन-भक्षण कर लिया) रहने नहीं दिया॥ गोरख ऐसे योगी, दिग-
र (दत्तात्रेय), नामदेव और जयदास (जयदेव भक्त) इनकी खबर
ई नहीं कहता कि ये लोग कहाँ बसे हैं (अर्थात् संसार में कोई भी
थर नहीं रहने पाते हैं॥

चौपड़ खेल होत घट भीतर, जन्म कि पासा ढारा।
दम दम कि कोइ खबर न जानै, करि न सकै निरुआरा॥

धूर्तेन मनसा तेन कैतवं कुतुकं गृहे।
देहस्याभ्यन्तरे नित्यमक्षैर्भवति जन्मभिः ॥३७॥
कालः क्रीडति वा जन्मपाशकैर्हृद्गृहान्तरे।
श्वासोच्छ्वासस्य वृत्तान्तं तस्य वेत्ति न कश्चन ॥३८॥

हृद्रहस्यश्चभिन्नश्च गुरोर्वाक्यं विना नरः ।
तस्य सम्यग् विवेकं न कर्तुं शक्तो न निर्वृतिम् ॥३९॥

मन कामादि कृत चौपड़ खेल शरीर के अन्दर होता है, जिसमें जन्म का ही पासा ढारा जाता है। अज्ञ जीव जितने बार इस चौपड़ में हारते हैं, उतनाहीं बार जन्म लेना पड़ता है॥ और वह पासा दम २ (श्वास २) में ढारा जाता है, जिसकी कोई खबर नहीं जानता है। इसीसे उसका निरुआर (निवारण) भी नहीं कर सकता॥

चारि दिशा महि मण्डल रच्यो है, रूम शाम बिच दिल्ली ।
ता ऊपर कछु अजब तमासा, मारे हैं यम किल्ली ॥

अन्तर्वेद्य बहिः कालः क्रीडनस्य प्रसिद्धये ।
चतुर्दिग्भिः सुसंयुक्तं कृतवान् भूमिमण्डलम् ॥४०॥
रूमदेशोऽस्य पश्चाद्धे पूर्वांशः शामसंज्ञकः ।
मध्यस्था साऽतिविख्याता दिल्ली च परिवर्तते ॥४१॥
आश्चर्यं कौतुकं किञ्चिद्वर्तते यमकीलकम् ।
यल्लग्नाश्चात्र भूपाला म्रियन्ते बहुधा भुवि ॥४२॥
एवं कालेन चित्तेन देहाख्यं भूमिमण्डलम् ।
चतुर्दिग्भिर्युतं नित्यं क्रियते क्रीडनाय हि ॥४३॥
रूमदेश शिरस्तत्र पादः शामेति कथ्यते ।
दिल्ली च हृदयं यत्र कामाद्या यमकीलकम् ॥४४॥
एवं स्त्रियाः स्तनं पुंसो लिङ्गं च यमकीलकम् ।
मेम्रियन्तेऽत्र संसक्ताः संशयोऽत्र न विद्यते ॥४५॥

चार दिशा युक्त पृथिवी मण्डल और देह रचा गया है, जिसमें रूम देश पश्चिम है, देह में बालयुक्त शिर है, शाम पूर्व है, देह पृष्ठ

की समाप्ति रूप पैर है ॥ बीच में दिल्ली राजधानी है, देह में दिल (मन) का स्थान हृदय है। या लिङ्ग के नीचे का कन्द देह में दिल्ली है। उनके ऊपर लिंग रूप वा स्तनरूप अजब तमासा है, वही यमकिल्ली मारा (ठोका) हुआ है, जिसमें बन्धकर सब प्राणी प्राय यमपुर में जाते हैं, हृदय के बुरा भाव भी यमकिल्ली है इत्यादि ॥

सकल अवतार जाहि महिमण्डल, अनन्त खड़ा कर जोरे।
अद्‌बुद अगम अगाह रच्यो है, ई सब शोभा तेरे ॥

भूमण्डलस्य तस्यैवावतारा अपि लब्धये।
भूमिपालास्तथा सर्वे नित्य वन्दन्ति चेश्वरम् ॥४६॥
तिष्ठन्ति ते साञ्जलयो विरमति न केचन।
अहो एतेन बुद्ध्यन्ते शाम्बर विश्वमण्डलम् ॥४७॥
आश्चर्यमत्यगम्य च गम्भीर वर्तते तथा।
कार्यं भूमण्डल तेन सर्वे वाञ्छति सर्वदा ॥४८॥
विचारे च कृते जीव ! विभूतिस्ते प्रसिद्धयति।
भूमण्डलादिक सर्वं शोभैव तव वर्तते ॥४९॥
किम्वा सर्वेऽवताराश्च ह्यनन्ता देवदानवाः।
भूमिस्था य च वन्दति तस्य ते सुषमा विदम् ॥५०॥

सब अवतार और जिन्हें भूमण्डल का राज्य मिला है, वे सब अनन्त लोग भूमण्डल देहमण्डल में ही लिये कर जोड़े खड़े हैं, इत्यादि कर रहे हैं ॥ क्यों कि यह बहुत आश्चर्य स्वरूप मन मानसे में रचा गया है। और विचार करने पर तो य सब तेरी ही शोभा (विभूति) है ॥

सकल कबीरा बोलै बीरा, अजहुं होहु हुसियारा ।
कहहिं कबिर गुरु सिकली दर्पण, हरदम करहु पुकारा ॥

यदन्त्येवं हि सर्वेऽपि वीराः स्वेन्द्रियशत्रुषु ।
तच्छ्रुत्वा सततं जीव ! ह्यद्यापि स्ववधीयताम् ॥५१॥
मनोऽवधाय तच्छुद्धिकारकं दर्पणं यथा ।
स्तुवीहि त्वं गुरुं भूयः पाहि मां सततं वद ॥५२॥
एवं कृते त्वया साधो शोधिते चित्तदर्पणे ।
संपश्यसि निजात्मानं कबीरो गुरुरब्रवीत् ॥५३॥
ब्रह्मदत्तो मनोगौरयं निर्मित-
श्चञ्चलश्चातिलुब्धः सदा धावते ।
तिष्ठति स्वे गृहे नैव बोधं विना,
कामवेगेन जीवान् सदा बाधते ॥५४॥
आश्रयस्व सद्गुरुं कुरुष्व कामभञ्जनं,
पञ्चबाणबाणजालमाशु नाशयाशु च ।
मोहमेहि नैव याहि सत्वरं निजालये,
मानसे निरुध्य कोपमात्मने हितं कुरु ॥५५॥३७॥

इति हनुमद्दासकृतायां शब्दसुधायां मनःकामादिप्राबल्यवर्णनं नाम त्रयोदशस्तरङ्गः ॥१३॥

इस प्रकार सब वीर (ज्ञानी) लोग कहते हैं, तुम अब भी सावधान होवो। और गुरु रूप सिकली (चित्त शोधक दर्पणकार) को चित्त दर्पण की शुद्धि वास्ते सदा पुकारो, यह गुरु कबीर का कथन है ॥३७॥

इति मनः कामादि प्रबलता प्रकरण ॥१३॥

## शब्द ३८. आत्मविस्मृति से मन आदिकृताखेट प्र. १४.

कबिरा तेरो वन कन्दला में, मानु अहेरा खेलै।
बपु बारी आनन्द मीरगा, रुचि रुचि शर मेलै॥

हे जीव! ते वने विश्वे कन्दरे हृदये तथा।
मनःकामादयो नित्यं मृगयां कुर्वते$^{\times}$ यथा॥१॥
शरीरोपवने यश्च मृगः स्वानन्दलक्षणः।
तस्योपरि सुसंधाय शरान् च्छोकादिलक्षणान्॥२॥
अर्पयन्ति यतो नासौ कदाचित्सूपलभ्यते।
योगिनोऽपि च तल्लब्ध्यै बाणान् सद्वृत्तिलक्षणान्॥
अर्पयंति पृथङ् मत्वा खिद्यन्ते बहुधा ततः॥३॥
"दृशेश्छायाः§ यदारूढा मुखच्छायेव दर्शने।
पश्यंस्तं प्रत्ययं योगी दृष्ट आत्मेति मन्यते"॥४॥

हे कबिरा! (हे जीव!) तेरा वन (संसार) कन्दला (हृदय गुफा) में मानु (मन) अहेर खेलता है। और बपु बारी (शरीररूप बाग) में जो आनन्दरूप मृग है, उस पर रुचि २ (सम्हाल २) कर शोकादिरूप बाण मेलता (डारता) है॥ अथवा तेरे बन, कन्दला में योगी लोग मानु (मानो) अहेर खेलते हैं। और शरीररूप बाग सम्बन्धी आनन्दरूप मृग के लिये वृत्तिरूप बाण सम्हाल २ कर चलाते हैं॥

चेतत रावल पावन खेड़ा, सहजे मूलहिं बाँधे।
ध्यान धनुष औ ज्ञान बाण करि, योगेश्वर शर साधे॥

$^{\times}$ कुर्वत इवेत्यर्थः॥ § उपदेशसाहस्याम्। प्रत्ययम्-अहंकारम्

मानुष्यतनुरूपस्य पूतस्य नगरस्य यः ।
राजा चेतति वै योगी मूलबन्धं करोति सः ॥५॥
स्वभावेन च सद्ध्यानं धनुश्च ज्ञानबाणकम् ।
योगेश्वरश्च भूत्वाऽसौ समाध्याख्यमहाशरम् ॥
साधयते तटस्थेशे सिद्धीनां गर्द्धया मुहुः ॥६॥
अयि जिज्ञासवो यूयं पदं जानीत पावनम् ।
स्वात्मानं नगरं तत्र मूलबन्धो विधीयताम् ॥७॥
सर्वस्यादिस्वरूपेऽस्मिन् जगन्मूलं विलापय ।
राजयोगाख्यसद्ध्यानं धनुश्चैव विधीयताम् ॥८॥
परोक्षज्ञानबाणेन ह्यपरोक्षं सुलक्षणम् ।
योगेश्वरशरं शीघ्रं साध्यतां तु विमुक्तये ॥९॥

इस मानवतनु रूप पावन खेड़ा (पवित्र ग्राम) के जो रावल (राजा) योगी चेतता है, सो सहज ही मूल बांधता है, और ध्यान के धनुष, परोक्ष ज्ञान के बाण करके अपरोक्ष अनुभवरूप योगेश्वर शर को सिद्ध करता है ॥

पटचक्रहिं वेधि कमल बेध्यो, जाय उज्यारी कीन्हा ।
काम क्रोध औ लोभ मोहहीं, हाँकी सावज दीन्हा ॥
गगन मध्ये रोकिन द्वारा, जहाँ दिवस नहिं राती ।
दास कबीरा जाय पहुंचे, बिछुरे संग संघाती ॥३८॥

चक्राणि योगिनो विध्वा पद्मानि तथाऽष्ट च ।
गत्वा स्वगगने तत्र ज्योतिः प्रकटयन्ति ते ॥१०॥
कामाद्याख्यमृगान् क्रूरांस्ततो विद्राव्य यत्नतः ।
खेचरीमुद्रिकायुक्त्या कुर्वंति द्वाररोधनम् ॥११॥

अहोरात्रप्रभेदो न कदाचिद्यत्र विद्यते ।
तत्र ते दासजीवा हि योगिनः प्राप्नुवंति च ॥१२॥
सद्गुरोः सङ्गतिस्तावल्लोकसंगोपि नश्यति ।
जिज्ञासुजनसंघस्तु बोधात्मैकशरेण हि ॥१३॥
विध्वैव सर्वचक्रादीनखण्डं ज्योतिरव्ययम् ।
आविर्भावयते नूनं कामादीन् द्रावयन् सदा ॥१४॥
आत्माख्यगगने स्थित्वा कामादिद्वाररोधनम् ।
कृतवान् यत्र न द्वन्द्वमहोरात्रादिलक्षणम् ॥१५॥
सद्गुरोर्दासभूतोऽयं जीवो गत्वा परे पदे ।
स्थिरतां लब्धवान् यत्र सर्वसङ्गो न्यवर्तत ॥१६॥
सङ्गिन प्राणवुद्ध्याद्या वियुक्ताश्चाऽभवन् स्वयम् ।
हठान्नैव तु ते साध्या भवंति किल योगिभिः ॥१७ ३८॥

उक्त योगेश्वर शर से षट्चक्र और कमलों को वेधन करके ऊर्ध्व मेका में जाकर अखण्ड ज्योति का प्रकाश किया । और कामादि वजों को भगाय दिया ॥ फिर दशम द्वार रूप वा आत्मस्वरूप गगन स्थिर होकर, उन कामादिकों के द्वारों को रोक दिया । फिर जहाँ नरातादि का वा किसी द्वन्द्व का सम्बन्ध नहीं है, वहाँ वे दास जीव : आ पहुचे, और सब सग के साथी बिछुड़ गये ॥३८॥

## शब्द ३९.

अपन पौ आपुही विसर्यो ।
जैसे श्वान काँच मन्दिर महँ, भरमत भूँकि मर्यो ॥

कालेन मनसा चैव निर्मिते कर्तवे ग्लहे ।
जीवानां विजयायाऽत्र तत्पराजयसिद्धये ॥१८॥

स्थानमात्मैव निर्बाधं चित्ताक्षनयनेन यत् ।
तत्स्थानं विस्मृतं जीवैस्तस्माज्जन्मादिसंसृतिः ॥१९॥
काचैर्विनिर्मिते गेहे प्रविष्टः कुक्कुरो यथा ।
विलोक्य प्रतिमां स्वस्य तत्रामित्रादिबुद्धिभिः ॥२०॥
भषित्वा म्रियते भ्रान्त्वा म्रियन्ते जन्तवस्तथा ।
स्वात्मनः प्रतिबिम्बेषु भेदबुद्ध्या विलप्य वै ॥२१॥

मनोमाया रचित चौपड़ ( जुआ) में यह जीव अपना पौ ( जय के स्थान ) रूप आपु ( अपने स्वरूप ) को बिसर ( भूल ) गया है। और भूल से अपने प्रतिबिम्बादि में मन लगाया है, कि जिससे, जैसे कुत्ता काँच के मन्दिर में भ्रमता हुआ भूक २ कर मरता है, तैसे भटक भूककर मृत्यु पा रहा है ॥

ज्यों केहरि वपु निरखि कूपजल, प्रतिमा देखि पर्यो ।
वैसेही गज स्फटिक शिला में, दशननि आनि अर्यो ॥

केसरी स्वप्रतिच्छायां कूपे सम्यग् विलोक्य ह ।
सपत्नं स्वस्य तां मत्वा भ्रंशते युद्धदुर्मदः ॥२२॥
दन्ती स्फटिकपाषाणे प्रतिबिम्बं विलोक्य च ।
तं च प्रत्यर्थिनं मत्वा दन्ताभ्यां युद्ध्यते यथा ॥२३॥
तथा संसाररन्ध्रेषु गोचरादिषु दुर्धियः ।
प्रतिबिम्बं विलोक्यैव पतंति नरकेष्वपि ॥२४॥
रागद्वेषादिभिर्युक्ताः संग्रस्ता मत्सरादिभिः ।
निष्फलं प्रतियुद्ध्यन्ते स्वकल्पितकलेवरैः ॥२५॥

और जैसे सिंह कूपजल में अपनी प्रतिमा देखकर उसमें पड़ता है। तैसे विषय लोकादिरूप गड्हे में जीव प्राप्त होते हैं।॥ जैसे स्फटिक

पत्थर में अपनी प्रतिबिम्ब देखकर हाथी दातों से लड़ने के लिये अड़ता (भिड़ता) है। तैसे ही सब संसारी लड़ते भिड़ते हैं॥

मरकट मूठि स्वाद नहिं बिहुरे, घर घर रटत फिर्यो ।
कहहिं कबिर ललनी के सुगना, तुहि कवने पकर्यो ॥३९॥

मर्कटो वा यथा स्वादाद्बध्यते स्वयमेव हि ।
जहाति मुष्टिबन्धं नो भ्राम्यत्यस्माद् गृहेगृहे ॥२६॥
तथैव जन्तवः सर्वे विस्मृत्यानन्दचिद्घनम् ।
स्वादुकामेन बध्यन्ते सर्वयोनौ भ्रमंति च ॥२७॥
नालिकासक्तकीरं वा त्वां वाऽऽसक्तं हि देहिनम् ।
न कोप्यत्रैव बध्नाति स्वयं मोहेन बध्यते ॥२८॥
लम्बते नालिकायां वै यथा कीरस्तथैव च ।
गर्भे त्वं लम्बसे जीव! सद्गुरुर्वक्ति तत्त्वतः ॥२९॥
संसारे कान्तारे चित्तं चौरः कामाद्या व्याधाः,
कुर्वन्तोऽत्र क्रीडाचक्रं कुर्वन्त्याखेटं सर्वे ।
छित्वाऽऽनन्दं चिन्ताचक्रे जीवान्नीत्वा भिंदन्ति,
भ्रान्ता जीवाः स्वादैस्तुल्या भ्रान्त्या भ्रान्त्या नश्यंति ॥३०-३९

इति हनुमद्दासकृतायां शब्दसुधायां निजस्वरूपविस्मृत्या मनोयोग्यादि-कृताखेटवर्णनं नाम चतुर्दशस्तरङ्गः ॥१४॥

वानर जैसे स्वादवश मूठी को नहीं बिहुरता (खोलता) है, फिर घर २ में रटता फिरता है, वैसेही सब जीव स्वादवश बंधते भटकते हैं॥ और कहो कि ललनी के सुवा तुल्य तुमको दूसरा कौन पकड़ा है, आप स्वयं अज्ञान मोहादि से बंधे हो ॥३९॥

इति आत्मविस्मृति से मन आदि कृताखेट प्रकरण ॥१४॥

## शब्द ४०, सम्प्रदायासक्ति और त्यागादि प्र. १५.

सन्तो मते मॉतु जनरंगी ।
पियत पियाला प्रेम सुधारस, मतवाले सतसंगी ॥

विज्ञयस्थानमात्माऽसौ मत्या अविषयत्वतः ।
*अमतो वै श्रुतौ प्रोक्तः स्वप्रकाशः सदव्ययः ॥१॥
तथोपलभ्यते सद्भिर्यो वाचां विषयो न च ।
×अतद्व्यावृत्तिरूपेण तत्त्वभावप्रसादतः + ॥२॥
येषां त्वत्र गुणे रक्तं चित्त ते रागिणो जनाः ।
मतप्रेम्णा सदा मत्तास्तिष्ठन्ति त्वमते नहि ॥३॥
मतसत्सङ्गिनो येऽपि ते तत्प्रेमसुधारसम् ।
पीत्वा श्रोत्रपुटैः कामं मत्तास्तिष्ठन्ति सर्वदा ॥४॥

हे सन्तो ! रङ्गी ( गुणरञ्जित चित्तवाले ) लोग मते ( मति के विषये वा सम्प्रदाय ) में माते हैं ॥ और उसी मत के प्रेम सुधारस का प्याला सत्सगी कहानेवाले भी पीते हैं । और मतवाले हुए हैं ॥ अथवा रङ्गी लोग तो मत में माते हैं, परन्तु जो लोग सत्सगी हैं, वे लोग अमत सुधारस का प्याला पीते हैं, और उसीसे मतवाला रहते हैं ॥

---

* यस्यामत तस्य मतम् । केन. २।३॥

× नेति नेति । बृ. ४।५॥ इत्यादिश्रुत्युक्तरीत्येत्यर्थः ॥

+ अस्तित्येवोपलब्धस्य तत्त्वभाव. प्रसीदति । कठ. २।६।१३॥ तत्त्व-स्वरूपोऽभिमुख. प्रसन्नो भवति ॥

अर्द्ध उर्द्ध भाठी रोपिन, लीन्ह कषा रस गारी ।
मुन्यो मदन काटि कर्म कश्मल, सतत चुवत अगारी ॥
गोरख दत्त वसिष्ठ व्यास कपि, नारद शुकमुनि जोरी ।
बैठे सभा शम्भु सनकादिक, तहँ फिरु अधर कटोरी ॥

अधोलोके तथोर्ध्वे च पिण्डे ब्रह्माण्डमूर्धनि ।
स्नेहमयस्य ते भ्राष्ट्रं सद्गं संस्थाप्य तेन च ॥५॥
स्रावयित्वा कश्यरसं मतप्रेमात्मकं खलु ।
आददुर्वा कषायं ते शुद्धं न मधुरं जनाः ॥६॥
मदनदक्षादितो यैश्चछिन्नानि कश्मलानि वै ।
कल्मषाणि च कर्माणि तद्धृदि क्षरतीव सः ॥७॥
गोरक्षश्चैव दत्तश्च वसिष्ठो व्यास एव च ।
हनुमान् नारदो विद्वाञ्छुकश्च मुनियुग्मकौ ॥८॥
शम्भुश्च भगवान् यत्र सभायां सनकादयः ।
वर्तन्ते तत्र तत्प्रेमपात्रमोष्ठेषु घूर्णते ॥९॥
गोरक्षाद्या हि यै मान्यास्तेषामधरवर्त्मसु ।
वर्तते प्रेमपात्र तत् मान्यांश्च मन्यते तथा ॥१०॥

नीचे ऊपर के लोकादि में उस प्रेम सुधारस को चुलाने के लिये भट्ठी रोपिन (स्थापित किये) और उस द्वारा कषाय रस गार कर लिये ॥ जिन्होंने काम का मार्ग को रोका, पापकर्म को नष्ट किया, उनके हृदय में भी यह रस सदा चूता है ॥ गोरखजी आदि जिस सभा में बैठे (मान्य) हैं। तहाँ भी सबके अधर (ओष्ठ) पर इसी रस की कटोरी फिरती है (यही चर्चा होती है) ॥

अम्बरीष बलि याज्ञ जनक जड, शेष सहस मुख पाना ॥
कहँ लै वरणौ आदि अन्तलो, अमहल महल दिवाना ॥
ध्रुव प्रहलाद विभीषण माँते, माँती शिव की नारी ।
निर्गुण ब्रह्म माँतु वृन्दावन, अजहु लागु खुमारी ॥

अंबरीषो बलिश्चैव याज्ञवल्क्यो विदेहकः ।
जडोऽपि तद्रसं पीत्वा ह्यगमत्स्वर्गमूर्धनि ॥११॥
मुखानां च सहस्रेण शेषः पिबति तद्रसम् ।
आद्यन्तावधिसंख्याय कियत् तत्कथ्यतां किल ॥१२॥
अगृहे गृहबुद्ध्या हि मत्ताः सर्वेऽभवञ्जनाः ।
ध्रुवः प्रह्लादभक्तश्च मत्तोऽभूच्च विभीषणः ॥१३॥
गौरी मत्ताऽभवत्सा च शिवस्य वल्लभा स्वयम् ।
वृन्दावने च कृष्णोऽसौ स्वयं वै निर्गुणोऽपि सन् ॥
मत्तोऽभवत् खलु ब्रह्म तस्मिंस्तत्रत्य मानवाः ॥१४॥
अहो तन्मत्ततायां वै तत्रांशोऽद्यापि विद्यते ।
घूर्णन्ते येन लोकाश्च स्वयं स भगवांस्तथा ॥१५॥

अम्बरीषादि उसी मत रस का पान किये, शेषजी हजार मुख से पीये ॥ आदि से अन्त तक का वर्णन कितना किया जाय, सबके सब अमहल महल (कल्पित लोकादि) में दिवाना हुए इत्यादि । साम्प्रदायिक दृष्टि का अभ्युपगमवाद से यहाका वर्णन है ॥

सुर नर मुनि यति पीर औलिया, जिनहिं पिया तिन जाना ।
कहहिं कबिर गंगे का शक्कर, क्यों कर कहैं दिवाना ॥४०॥

देवै र्मुनिमनुष्यैश्च तुरुष्कगुरुसाधुभिः ।
यैः पीतः स रसस्तैश्च ह्यनुभूतो न चान्यकैः ॥१६॥
मूका यथा गुडं तेऽपि कथयन्तु कथं रसान् ।
अतिमत्ता हि वर्तन्ते कबीरो भाषते गुरुः ॥१७॥
जगाद चाभ्युपगमवादेनैतत्समं किल ।
वसिष्ठशुकवैदेहप्रभृतीन् हि स्वयं यतः ॥
ज्ञानित्वेनोक्तवानत्र तच्च सम्यग् विलोक्यताम् ॥१८॥
यद्वा मतरसस्यात्र प्राबल्यं प्रोक्तवान् गुरुः ।
येनामतरसक्तोऽपि कदाचित्तत्र मज्जति ॥१९॥४०॥

देवादि जो लोग इस रस का पान किये वे ही इसका स्वाद को भी जान सके, गूगे का शक्कर के समान कहें तो कैसे, उस रस को पीकर सब वचन शक्ति रहित दिवाना हो गये हैं। यद्यपि निर्गुण निर्विशेष आत्मा ही वाणी तथा अशुद्ध मन का अविषय है, तथापि शब्द में भी मस्ती से अविषयता प्रतीत होती है ॥४०॥

## शब्द ४१.

भाइरे नयन रसिक जो जागै ।
पारब्रह्म अविगति अविनाशी, कैसहुं के मन लागै ॥

अमली लोग खुमारी तृष्णा, कतहुं संतोष न पावै ।
काम क्रोध दोनों मतवाले, माया भरि भरि आवै ॥

मतप्रेमरसक्ता ये ते नेत्ररसकामुकाः ।
इन्द्रियाऽऽनन्दसंसक्ता मोहेनाऽत्र स्वपंति हि ॥२१॥
विवेकेन यदा ते तु जागृयू रसिका जनाः ।
अदृश्येऽपि तदाऽऽप्नोति चिद्घने चाविनाशिनि ॥२२॥

परस्मिन् ब्रह्मणि ह्येषां मनो लग्नं भवेत्सदा ।
कथञ्चिन्नात्र संदेहो मोहसत्त्वे न तद् भवेत् ॥२३॥
अहो व्यसनिनो लोका मादकद्रव्यसेवनात् ।
मदमत्ता हि वर्तन्ते तृष्णासंघूर्णिसंयुताः ॥२४॥
तृष्णाभिः संयुताः क्वापि न तुष्यंति नराधमाः ।
कामक्रोधयुताश्चातस्ताभ्यां मत्ता भवंति हि ॥२५॥
कामादिविवशेष्वेषु माया मोहस्वरूपिणी ।
आविष्टाऽस्ति महावेशाऽशेषाऽनर्थविधायिनी ॥२६॥

नयन रसिक ( ऐन्द्रियक आनन्द के प्रेमी ) भी यदि जागें ( मोह त्यागे ) तो अविगति ( अग्राह्य ) अविनाशी पारब्रह्म ( निर्गुण ब्रह्म ) में उसका मन भी किसी प्रकार लग जाय । परन्तु अमली ( व्यसनी ) लोगों में तृष्णारूप खुमारी ( नशा की गरमी ) लगी रहती है, जिससे वे कहीं सन्तुष्ट नहीं होते । इससे मायारूप भूत भर २ कर आता है, बार २ आवेश करता है ॥

ब्रह्म कलाल चढाइन भाठी, लै इन्द्रीरस चावै ।
संगहिं पोंचक ज्ञान पुकारै, चतुरा है सो पावै ॥

प्रविष्टायां च मायायां गृहे स्वान्तेऽस्य देहिनः ।
इन्द्रियाऽऽनन्दलोभेन जीवो ब्रह्मात्मकोपि सन् ॥२७॥
सङ्कष्टे मतं तत्त्वं वेनैवात्राध्यरोहयत् ।
तेन संसारचक्रेऽयं शश्वद् भ्राम्यति चक्रवत् ॥२८॥
अहो यैश्च सहैवास्ते कामतृष्णादिलक्षणः ।
विवर्णस्तेऽपि बोधस्य वार्तां तु कथयंति हि ॥२९॥
कथया लभ्यते तैर्नो ज्ञानं न शांतिरुत्तमा ।
नो सद्धर्मः कुतः सौख्यं कुतो वा स्यात् परा गतिः ॥३०॥

विवेकिनस्तु ये धीरा वीरा. स्वेंद्रियगाटुपु ।
जितक्रोधा वितृष्णाश्च संतुष्टाः कुशला नराः ॥३१॥
विमोहा विगतद्रोहा विमदाः संगवर्जिताः ।
आप्नुवंति हि ते सर्वं सौख्यं शांतिं परं पदम् ॥३२॥

ब्रह्मस्वरूप जीव कलाल इन्द्रियरस की चाह (इच्छा) लेकर प्रेम की भाठी चढाया है। और साथ में कामातृष्णादि पाँचऊ (नीच) वर्तमान है। केवल मुख से ज्ञान की बात पुकार २ कर कहता है, तो वह ब्रह्म को नहीं पा सकता। किन्तु कामादि नीच के संगरहित जो चतुर होता है, सोई ब्रह्म को प्राप्त करता है॥

सकट शोच पाँच यह कलि महँ, बहुतक व्याधि शरीरा ।
जहाँ धीर गम्भीर अति निश्चल, तहँ उठि मिलहु कबीरा ॥४१॥

कलौ ह्यस्मिन् महाकष्टमापत्तिर्वर्तते सदा ।
शोकश्च बाधते नीचः शरीरे व्याधयस्तथा ॥३३॥
अतो जीवात्र सङ्ग वै त्यक्त्वैव सर्वथा त्वया ।
मोहनिद्रां परित्यज्य तूत्थाय तत्र गम्यताम् ॥३४॥
यत्र धीरोऽतिगम्भीरो निश्चलो वर्तते गुरुः ।
मिलित्वा तेन सर्वं त्वं संप्राप्य कुशली भव ॥३५॥
यावद् गुरोर्न संप्राप्तिस्तावज्ज्ञान न विद्यते ।
कामोऽस्ति हृदये यावत्तावत्ते कुशलं कुतः ॥३६॥
"यस्तु कामान् परित्यज्य त्यक्तकर्मा जितेन्द्रियः।
आतिष्ठेत मुनिर्मौनं स लोके सिद्धिमाप्नुयात् ॥३७॥४१॥

इस कलियुग में भारी कष्ट शोकादि नीच का संग है। शरीर में बहुत रोग होते हैं॥ इसलिये जहाँ धीर गम्भीर अत्यन्त शान्त सद्गुरु महात्मा हों, वहाँ जाकर उनसे मिलो, और कष्टादि रहित होओ ॥४१॥

## शब्द ४२.

कोइ रामरसिक रस पीयहुगे । पीयहुगे सुख जीयहुगे ॥
फल अलंकृत बीज न बोकला, सुख पक्षी रस खाई ।
चुवै न बुन्द अंग नहिं भींजै, दास भँवर (सब) संग लाई ॥

ये रामरसिका भूत्वा पिबेयुर्विमलं रसम् ।
ब्रह्मानन्दात्मकं केऽपि जीवेयुस्ते सदा सुखम् ॥३८॥
रामस्य श्रवणाभ्यासान्मननाच्च निरन्तरम् ।
ध्यानाभ्यासरसेनायं रामं दृष्ट्वैव तत्त्वतः ॥३९॥
जीवन्मुक्तो भवेत्तावद्विदेहः सन्न जायते ।
इदमेव हि कैवल्यं कथ्यते चरमं फलम् ॥४०॥
अलंकृतं फलं चैतद्रम्यं सर्वजनप्रियम् ।
बीजवल्कलहीनं च रसपूर्णं समन्ततः ॥४१॥
ज्ञानवैराग्यपक्षाभ्यां युक्ता ये पक्षिवज्जनाः ।
ते रामरसिकाश्चैतत्सुखं खादंति सत्फलम् ॥४२॥
निरंतरायाश्च चास्यात्र विन्दुपातोपि संभवेत् ।
नापि क्लेदो भवेदङ्गे दुःखसङ्गादिवर्जनात् ॥४३॥
निर्गुणाक्षयरूपत्वाद्रागद्वेषादिवर्जनात् ।
शुद्धत्वाद्गुरवो नित्यं शिष्याख्यभ्रमरैः सह ॥
ब्रह्मानन्दं पिबन्त्येतं लब्धं चेद्गुरोः फलात् ॥४४॥

जो कोई उक्त महात्मा से मिलकर, रामरसिक होकर, रामरस का पान करोगे, सो पीने मात्रसे ही सुखरूप होकर जीवोगे ॥ चार फलों में से एक फल अलंकृत (विभूषित पूर्ण तुष्टिकारक) है, उसमें बीज बोकला (असार) स्वरूप कुछ नहीं है । ज्ञानी जीवरूप पक्षी उस रस को

भोगता है। उसमें से एक बुन्द भी अन्यत्र नहीं चूता है। और वह ज्ञानी सब दासरूप भवँर को साथ लेकर फल खाता है, क्योंकि इस फल रस में नाश अशुचिता आदि का भय नहीं है ॥

निगम रसाल चार फल लागा, तामहँ तीन समाई ।।
एक दूरि चाहै सब कोई, यत्न यत्न काहु पाई ॥
गये वसन्त ग्रीषम ऋतु आई, बहुरि न तरुतर आवै।
कहहिं कबिर स्वामी सुखसागर, राम मगन ह्वै पावै ॥४२॥

निगमात्मरसालेषु चतुर्वर्गात्मकं शुभम्।
फलं लग्नं त्रिवर्गोऽत्र मायिकत्वेन संयुतः ॥४५॥
विनश्वरस्तुरीयश्च तस्माद् दूरतरः शिवः।
अविनाश्यतिशुद्धश्च ह्यनन्तापारविग्रहाः ॥४६॥
तमिच्छन्ति जनाः सर्वे चेतनैकसुखात्मकम्।
लब्धवन्तश्च के चित्तं यत्नवन्तो विचक्षणाः ॥४७॥
कामादेर्वर्जनान्नित्यं शमध्यानपरायणाः।
विचारिणो महाप्राज्ञाः क्षमाशीलास्तपस्विनः ॥४८॥

"×संसारनिर्वेददशामुपेत्य सत्सङ्गमं शास्त्रमुपेत्य तेन।
शास्त्रार्थभावेन निरस्य भोगान् वैतृष्ण्यदार्ढ्यात्परमार्थमेति" ॥४९॥
विवेकिनो येऽत्र विरागिणो जनास्तेषां हि दृष्ट्या भवलोककाननात्।
गतो वसन्तो हि तपः समागतस्ततो नचाऽऽयाति हि देहपादपे ॥५०॥
स्वामी सदानन्दसमुद्रविग्रहे रामाख्यशुद्धात्मनि लीनमानसः।
जीवस्तमाप्नोति नचात्र संशयः श्रीमान् कबीरः कमनीयमाह तम् ॥
५१॥४२॥

इति हनुमद्दासकृताया शब्दसुधाया मतविषयासक्तेस्तत्यागेन च मुक्ते वर्णन नाम पञ्चदशस्तरङ्गः ॥१५॥

× यो. वा. नि. उ. ४७।५३॥

निगम ( वेद ) रूप रसाल ( आम्र वृक्ष ) में अर्थादि चारों फल लगे हैं, उनमें तीन समाई ( मायिकतायुक्त-विनाशी ) हैं। एक इन तीनों से बहुत दूर है ॥ उसे सब चाहते हैं, परन्तु बहुत यत्न से कोई विरले पाते हैं ॥ अधिकारियों की दृष्टि में संसार वन से वसन्त गया, ग्रीष्म ऋतु आया। इससे वे लोग फिर देह वृक्ष तर नहीं आते हैं, किन्तु रामगम होकर सुखसागर स्वामी को प्राप्त करते हैं ॥४२॥

इति सम्प्रदायासक्ति और त्यागादि प्रकरण ॥१५॥

## शब्द ४३, मोहत्याग और त्यागाधिकारी प्र. १६.

सन्तो जागत नीन्द न कीजै।
काल न खाय कल्प नहिं व्यापै, देह जरा नहिं छीजै ॥

साधो जागृहि मा स्वाप्सीर्मोहनिद्रां परित्यज ।
प्रबुद्धो वा न रागाद्यैः प्रमादैर्वशतां श्रय ॥१॥
एवं कृते न कालस्त्वां खादिष्यति कदाचन ।
न व्याप्स्यति च कल्पोऽपि न देहो न जराक्षयौ ॥२॥
विषयाश्चतुराश्चौराः कामाद्या अरयो दृढाः ।
विषयादींस्ततस्त्यक्त्वा भवितव्यं सुधीमता ॥३॥
छेद्या त्वया महातृष्णा मदमात्सर्यवर्जनम् ।
सेवनं साधुविदुषां कर्तव्यं सत्यभाषणम् ॥४॥
दयां सर्वेषु भूतेषु रागद्वेषविवर्जनम् ।
क्षमासंतोषसद्धैर्यविवेकादिबलं श्रय ॥५॥

हे साधो! जागो (विवेक करो), मोह ममतादिरूप नीन्द नहीं करो। ऐसाही करने से काल नहीं खायेगा। न कल्प व्यापेगा। कल्पान्त में भी प्रलयादि नहीं होगे। न देह न जराऽवस्था न क्षय (नाश) होगा॥

उलटी गंग समुद्रहिं शोख्र, शशि औ सूरहिं ग्रासै।
नवग्रह मारि रोगिया बैठे, जल महँ बिम्ब प्रकाशै॥

प्रबुद्धो हि मनोवृत्तिं गंगां संसारसिन्धुतः।
परावर्त्य समुद्रं तं संशोषयति मूलतः॥६॥
अध्यात्ममधिदैवं च सूर्याचन्द्रमसौ हि यौ।
योगयुक्त्या ग्रसत्येतौ बाधेन बाधिताबुभौ॥७॥
तयोर्ग्रसेन संशुद्धः सर्वदा शान्तमानसः।
गमनागमने हित्वा प्रतिष्ठां लभते पराम्॥८॥
पूर्वं रुग्णोऽपि पश्चात्स जित्वा कामादिरक्रान्।
अध्यात्मादिग्रहान् सर्वान् राजते विगतज्वरः॥९॥
मुकुरे च मनोरूपे प्रतिबिम्बसमर्पकम्।
जलवद्विमले तस्मिन् बिम्बं पश्यति निर्मलम्॥१०॥

जो रोगी (जीव) मन की वृत्तिरूप गगा को ससार से उलटकर संसार समुद्र को सुखाता है, और योग की रीति से चन्द्रसूर्य नाडी को ग्रासता है, या चन्द्रसूर्यादि लोकों के गमनागमन को ग्रासता है, सो रोगिया नवग्रह (पाच ज्ञानेन्द्रिय चार अन्त.करण, या सूर्य चन्द्र मगल बुध बृहस्पति शुक्र शनि राहु केतु) को मारकर जलवत्स्वच्छ हृदय में सच्चिदानन्द बिम्ब का प्रकाश (अनुभव) करता है॥

विनु चरणन को दहुं दिशि धावै, विनु लोचन जग सूझै ।
शशा उलटि सिंह को ग्रासै, ई अचरज को बूझै ॥

विभुं विम्बं समालोक्य भूत्वा तद्गतमानसः ।
तदात्मना स पादैर्हि विना सर्वत्र धावति ॥११॥
स्वयं ज्योतिःस्वरूपेण चक्षुरादि विनैव च ।
जगत्पश्यति बुद्धात्मा शुद्धात्मा केवलोऽपि सन् ॥१२॥
मोहेन शशकः पूर्वं स्वल्पशक्तिश्च यो जनः ।
अज्ञानादिमहासिंहं परावृत्य ग्रसत्यहो ॥१३॥
मनसो हि निरोधेन वाह्याद्यज्जायते वलम् ।
महानन्दमदं चित्रं को जानीयादपण्डितः ॥१४॥
अज्ञानावृतसद्बोधः सत्सङ्गादिपराङ्मुखः ।
न जानाति सदात्मानं नापि योगवलं शुभम् ॥१५॥

फिर विभु स्वात्मतत्त्व का निश्चय होने से पैर विना दशों दिशाओं में दौड़ता है चिद्रूप होने से आंख विना देखता है ॥ और उसके वृत्ति ज्ञानरूप शशा ससार से उलट कर अविद्या अहंकारादि सिंहों को निगल जाता है । इस आश्चर्य को समझ भी कौन सकता है ॥

औंधे घड़ा नहीं जल बूड़ै, सूधे सो जल भरिया ।
जिहि कारण नल भिन्न भिन्न करु, गुरु परसादे तरिया ॥

घटश्चाधोमुखो नैव निमज्जति यथा जले ।
किन्त्वजिह्ममुखो भूत्वा पूर्णो भवति सज्जलैः ॥१६॥
तथा न विषयासक्तः कुतर्कादियुतो नरः ।
निमज्जति सदा शुद्धे ब्रह्मानन्दे कदाचन ॥१७॥

किन्तु सदार्जवेनैव ज्ञानपूर्णो भवेद्यतः ।
उपदेशो विशेदत्र सतां सर्वैः सुलक्षणे ॥१८॥
यैश्चाज्ञानादिदुर्दोषैर्भिन्नं भिन्नं प्रपश्यति ।
तांस्तरति स शुद्धात्मा सद्गुरोः सुप्रसादतः ॥१९॥
दोषांस्तीर्त्वा सदाऽभिन्नमेकमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं सदा ज्ञात्वा शान्तिमत्राधिगच्छति ॥२०॥

औधा घड़ा में जैसे जल नहीं भरता, किन्तु सीधा होने से जल भरता है। तैसेही विषयासक्त कपट कुतर्कादि युक्त में ज्ञानामृत नहीं समाता है, किन्तु शुद्ध हृदयवालों में समाता है। फिर जिन अज्ञानादि हेतुओं से मनुष्य भिन्न २ देखता कहता है, गुरुप्रसाद से उन्हें तर जाता है, भेदभावादि को त्यागता है ॥

पैठि गुफा महँ सब जग देखै, बाहर कछु नहिं सूझै ।
उलटा बाण पारथिहिं लागै, शूर होय सो बूझै ॥

तीर्णः संसारसिन्धोः स हृद्गुहायां प्रविश्य च ।
तत्र स्थितो जगत्सर्वं मनोमायाविकल्पितम् ॥२१॥
आत्मन्येव प्रपश्यन् वै वाह्यं किञ्चिन्न पश्यति ।
दृश्यमानमसज्ज्ञात्वा वहिर्याति न पश्यति ॥२२॥
यथा परावृतो वाणो धानुष्के रक्षके लगेत् ।
तथा परावृता वृत्तिर्लगति स्वात्मनि ध्रुवम् ॥२३॥
एतज्जानाति विक्रान्तो विचारादिपरोऽथवा ।
निरुद्धा वृत्तिगङ्गेयं संसाराब्धिं यथौपयेत् ॥२४॥
तत्प्रकारं विजानाति शूरः स्वेन्द्रियशत्रुषु ।
मनःकामादिवर्गेषु नान्यः कश्चिदतद्विधः ॥२५॥

दोषों को तरने पर वह पुरुष अपने हृदय रूप गुफा में पैठकर सब संसार को देखता है, तो उसे अपना स्वरूप से बाहर (भिन्न) कुछ नहीं सूझता है ॥ उस समय ऐसी अवस्था होती है कि जैसा उलटा बाण पारथि (धनुषधारी-रक्षक) को ही लगता है, तैसे सब वृत्ति आत्मा में ही लगती है। और आत्ममय जगत् को देखती है, परन्तु इस तत्त्व को कोई बूझता है, कि जो इन्द्रियादि शत्रुओं के ऊपर जय पानेवाला शूर होता है ॥

गायन कहे कबहुं नहिं गावै, अनबोला नित गावै ।
नटवत बाजा पेखनि पेखै, अनहद हेत बढावै ॥

*वृत्तिरोधं विना यस्तु स्वात्मानं गायकं गुरुम् ।
ब्रूते नाऽसौ कदाचिद्धि सत्तत्त्वं गातुमर्हति ॥२६॥
वृत्तिरोधयुतो यस्तु ज्ञानवाञ्छुभलक्षणः ।
अवक्ताऽपि स सत्तत्त्वं गायत्येव निरन्तरम् ॥२७॥
नटो हि कल्पितं स्वेन यथाऽतत्त्वेन पश्यति ।
वाद्यभेदांश्च जानाति कौतुकं चैव शाम्बरम् ॥२८॥
तथैव ज्ञानवाञ्छब्दमर्थं पश्यंश्च शाम्बरम् ।
निःसीमे वर्द्धयन् प्रेम तत्रैव रमते सदा ॥२९॥
"+अविद्योत्थपुमर्थेभ्यो विमुखीभूतमानसः ।
आत्मतत्त्वविजिज्ञासुस्तद्व्यावृत्तो भवेन्नरः" ॥३०॥

इन्द्रिय कामादि का विजय किये विना जो अपने को गायन (उपदेशक गुरु) कहता है, सो कभी सत् तत्त्व को नहीं गाता है, और

---

* नाविरतो दुश्चरिताद्याशान्तो नासमाहितः। नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥ कठ. १।२।२३॥ +बृ. वा. १। ६। ४॥

उक्त विजयी पुरुष अनबोल (मौन) रहने पर भी सदा सत्तत्त्व का ही गान करता है। जैसे नट अपने बाजा और मिथ्या पेखन (खेल) का तत्व को जानता है, तैसे उक्त शूर पुरुष संसार खेल का तत्त्व को जानता है, और अनहद (निःसीम-विभु) स्वरूप में प्रेम बढाता है॥

कथनी बन्दनि निजकै जो है, ई सब अकथ कहानी।
धरती उलटि आकाशहिं बेधै, ई पुरुषन की बानी॥

सर्वेभ्योऽतिप्रिये स्वस्मिन्नानन्दात्मनि सर्वदा-।
रममाणो हि तस्यैव कथनं वंदनं तथा॥३१॥
अन्वेषते सदा ज्ञानी,दृश्यं जानाति मायिकम्।
अनिर्वाच्यमसत्तुच्छमनिर्वाच्यकथात्मकम्॥३२॥
अथवोक्तकथा सर्वा ज्ञेयाऽवाच्यस्य बोधिका।
शोधिका पापपुञ्जस्य परश्रेयःप्रवर्तिका॥३३॥
आत्मनि प्रेमवाग्ज्ञानी पृथिव्यादि विलापयन्।
चिदाकाशे लयं कुर्यात्सर्वस्यैव सदद्वये॥३४॥
स्वभावो विदुषामेष वचनं चात्र विद्यते।
ईश्वराणां च वेदानां प्रमाणं सर्वथैव तत्॥३५॥

फिर वह आत्मप्रेमी सबही कथन स्तुति को आत्मविषयक ही देखता जोहता है। और प्रत्यक्ष ई (इस दृश्य) वस्तु को अकथ (अनिर्वचनीय) माया की कहानी (कल्पित कथा) रूप जानता है॥ और पृथिवी आदि भूत भौतिक पदार्थों को उत्पत्ति क्रम के उलटे क्रम से चिदाकाश में बेधता (लय करता) है, यही सत्पुरुषों का बान (स्वभाव) है। या ज्ञानी पुरुषों का यह उपदेश रूप वचन है॥

बिना पियालै अमरित अचवै, नदी नीर भरि राखै ।
कहहिं कबिर सो युगयुग जीवै, राम सुधारस चाखै ॥४३॥

आधारादिविहीनं यत्त्वमृतं तत् पिबंति ते ।
संसाराब्धेश्च यत्तोयं विषयाद्यात्मकं किल ॥३६॥
तल्लोकादिनदीष्वेव पूरयित्वेव बोधिनः ।
स्थापयंति न तत्कापि मन्यन्ते तु निजात्मनि ॥३७॥
इत्थं त्यक्त्वा जगन्नीरं यो नरो नित्यचिद्धनम् ।
आत्मरामामृतं पेयात्स जीवेद्धि युगंयुगम् ॥३८॥
कबीरः सद्गुरुः प्राह कुर्वन्तु मानवास्तथा ।
विषयादीन् परित्यज्य रमन्तां रामवर्त्मनि ॥३९॥
कामक्रोधादिकं त्यक्त्वा ह्यात्मानं भावयन्तु वै ।
आत्मज्ञानं विना यस्मात्पच्यन्ते नरकादिषु ॥४०॥

फिर बिना पियाला (आधार) के अमृत का वह ज्ञानी पान करता है, और संसार नदी के नीर (विषयादि) को नदी में ही भरकर रख देता है ॥ साहब का कहना है कि जो पुरुष निराधार राम सुधारस को एक बार भी पीलेता है, वह युग २ जीते रहता है ॥४३॥

## शब्द ४४.

(मैं) कासे कहुं को सुने को पतिआई, फुलवक छुवत भँवर मरिजाई ॥
गगन मण्डल महँ फुल एक फूला, तर भौ डार उपर भौ मूला ॥
जोतिय न बोइय सिंचिय न सोई, डार पात बिनु फुल एक होई ॥

कस्मै तत्कथ्यतां तत्त्वं कः शृणोति सुभाषितम् ।
श्रुत्वा को विश्वसित्यत्र विषयासक्तमानवः ॥४१॥

लोककायादिपुष्पेषु गोचरास्वादतत्परः।
आसक्तो भ्रमरो जीवो म्रियते तन्निषेधतः ॥४२॥
आकाशमण्डले चैकं पुष्पं प्रकृतिभूमिषु।
फुल्लं विश्वात्मकं यस्य ह्युर्ध्वं मूलमधः शिरः ॥४३॥
कृष्यते नैव तत्क्षेत्रं नोप्यते तत्र बीजकम्।
सिच्यते नात्र किञ्चिच्च वृक्षः शाखा भवेन्नहि ॥४४॥
शाखां पत्रं विनैवात्र पुष्पं पुष्यति सर्वदा।
एकं विश्वात्मकं नानागन्धस्वादसमन्वितम् ॥४५॥

विषय मोहादि का त्याग और राम सुधारस पान के लिये किससे कहा जाय, और कौन इसमें विश्वास करता है, संसार विषयादि रूप फुलवक (फूल के) छुवत (छूने–निषेध) से भँवर (आसक्त) जीव मर जाता (दुःखी होता) है॥ आकाश मण्डल में एक फूल फूला है, उस का मूल ऊपर (परम सूक्ष्म ईश्वररूप) है, और नीचे कार्य रूप डार है॥ उस फूल के खेत सों प्रकृति जोती बोई सींची नहीं जाती इत्यादि॥

फुल लभ फुलल मालिन भल गांथल।
फूल विनशि गौ भँवर निराशल॥
कहहिं कबीर सुनहु सन्तो भाई।
पण्डित जन फुल रहल लोभाई॥४४॥

पुष्पं विकसितं पुष्टं कायस्त्रीपुत्रलक्षणम्।
माया मलिनबुद्धिश्च कामादिसूत्रकै र्दृढम् ॥४६॥
अध्यासैर्ग्रथिबन्धैश्च तज्जीवात्मन्ययोजयत्।
कालात्तस्य विनाशेन हताशो भ्रमरोऽभवत् ॥४७॥
अहो तथापि शास्त्रज्ञा ये वै पण्डितमानिनः।
तेऽस्य लोभेन तिष्ठन्ति किमत्र कथ्यतां कथम् ॥४८॥

त्वं साधो शृणु लोभं तं त्यक्त्वैवात्मावधार्यताम् ।
मोहं मार्जयतां शीघ्रं सद्गुरुः प्राह मुक्तये ॥४९॥
सदाऽऽत्माध्यातव्यःप्रबलरिपुयुक्तेऽत्र विदुवे,
कथं कस्मै सत्योऽप्यमलसुखहेतुः सुशब्दः ।
मयावाच्यो लोका विषयरसिका लब्धवर्णाः*
स्तिरस्कारात्तेषां न इह मृतकल्पा भवंति ॥५०॥४४॥

इति हनुमद्दासकृतायां शब्दसुधायां मोहनिद्रात्यागतदधिकारिदौर्लभ्य-वर्णनं नाम षोडशस्तरङ्गः ॥१६॥

संसार में देह स्त्री पुत्रादि रूप भी भले फूल फुले हैं, उनको *माया दुर्बुद्धि रूप मालिन ने कामादि सूत्रों से जीवात्मा के साथ भली भांति* गाथ दिया है । इससे इनके नाश से भँवरा जीव हताश होता है ॥ साहब का कहना है कि इन फूलों में पण्डित लोग भी लुभाय रहे हैं, तो अन्य की कथा ही क्या है ॥

इति मोहत्याग और त्यागाधिकारी प्रकरण ॥१६॥

## शब्द ४५, अलौकिकात्मवैराग्य विषयक शंका-समाधान प्र. १७.

(भाइरे) अद्‌बुद रूप अनूप कथा है, कहुं तो को पतिआई ।
जहँ जहँ देखो तहँ तहँ सोई, सब घट रहल समाई ॥

* लब्धवर्णा गुणादयो लब्धस्तुतयो वा । तेषां विषयादीनाम् ॥

अलौकिकमतुल्यं यत्कथाऽप्येतस्य तादृशी।
मोहादीनां विना त्यागं विश्वस्यात्र को नरः॥१॥
यस्मिन्कस्मिंश्च संयुक्तो भूत ऐश्वर्य एव वा।
तत्त्वं स्मरति नैवायं गुरुवाक्यं न मन्यते॥२॥
"अहं* ममेति यावत्स्यादज्ञानमस्य बन्धनम्।
कुतो निःसरणं तावद्देहकारागृहाद् भवेत्"॥३॥
देहकारागृहान्मुक्तैः विरक्तैः सुविवेकिभिः।
दृश्यते यत्र यत्रैव तत्रैव दृश्यते तु सत्॥४॥
तत्तत्त्वं सर्वदेहेषु प्रविष्टं वर्तते तथा।
देहाद्बहिरधश्चोर्ध्वं सर्वतो व्याप्य तिष्ठति॥५॥
यथाऽग्निर्भुवनेष्वेकः प्रविष्टो बहुरूपवान्।
भवत्येकस्तथैवात्मा वर्ततेऽन्तर्बहिः सदा॥६॥

अदबुदरूप (आश्चर्य स्वरूप) आत्मा की कथा भी अनूप है। अर्थात् आश्चर्य रूपवाली मायादि उपाधि से आत्मा की कथा आश्चर्य रूप है, कहने पर कौन विश्वास करेगा॥ विचार कर देखने से वह सर्वत्र प्रतीत होता है, और वही देहों में समाया है॥

लक्षि विनु सुख दरिद्र विनु दुख, निन्द बिना सुख सोवै।
यश बिनु ज्योति रूप विनु आशिक, रत्न विहूना रोवै॥

तत्र लक्ष्मं विना सौख्यं दुःखं द्रारिद्र्यमन्तरा।
मायया कल्पितं नैव वस्तुतो विद्यतेऽखिलम्॥७॥
तमोनिद्रां विनैवायं सुखं शेते सदा शिवः।
यशो विना सदा ज्योतिरासक्ती रूपमन्तरा॥८॥

* आत्मपु. ४।६६९॥

विद्यते सर्वदा देवे हीन्द्रियाणां च देहिनाम्।
स्वरूपज्योतिषो लाभे मुक्तिर्भवति सर्वथा ॥९॥
सज्जनैर्लभ्यते रत्नं क्लेशापहमिदं शुभम्।
असन्तस्तद्विना शश्वद्रुदन्ति विलपंति च ॥१०॥

लक्ष पति आदि होने बिना वह सुख स्वरूप है, दरिद्र होने बिना भी उसीमें दुःख प्रतीत होता है। और निन्द बिना सुख से सोया भासता है ॥ यश के बिना उसकी ज्योति (ख्याति, प्रकाश) है। रूप बिना उसमें सब आशिक (आसक्त) हैं। और उसी रत्न की प्राप्ति बिना सब रोते हैं ॥

भ्रम बिनु गञ्जन मान बिनु निरखन, रूप बिना बहुरूपा।
थिति बिनु सुरति रहस बिनु आनन्द, ऐसो चरित अनूपा ॥

अहो भ्रमं विनैवात्र रोदनादिविपद्गणः।
प्रमाणैश्च विना तद्वत् सर्वेषां दर्शनादिकम् ॥११॥
एवं रूपे विनैवायं बहुरूपः प्रदृश्यते।
मायया ननु तत्त्वेन नन्वेतद्विदुषां मतम् ॥१२॥
स्थितिं विनैव तेनाऽत्र सर्वस्य स्मरणं भवेत्।
विज्ञानमनुबोधश्च स्वरूपेणैव केवलम् ॥१३॥
रहस्येन विना चैवमानन्दं वर्तते च यत्।
एतद्धि चरितं तस्य वर्ततेऽनुपमं खलु ॥१४॥

भ्रम बिना ही उसमें गञ्जन (विपत्ति) है, प्रमाणों के बिना देखना है। रूप बिना अनन्तरूप है, स्थिति के बिना सबकी स्मृति, और रहस्य के बिना आनन्द है, ये सब उसके अनूप चरित्र हैं ॥

कहहिं कबीर जगत हरि मानिक, देखहु चित्त अनुमानी।
परिहरि लाख लोग कुटुम तजि, भजि रहु सारंगपानी ॥४५॥

हरिरात्मा मणिश्चाऽयं संसारे सर्वतः सदा।
वर्तते तं हि चित्ते स्वे विचाराद्यैः प्रपश्य वै ॥१५॥
लक्षं लोकान् कुटुम्बांश्च त्यक्त्वा तं सद्धरिं भज।
विशुद्धः सैव पानीयं तृष्णातापादिनाशकः ॥१६॥
शार्ङ्गपाणिं हरिं यद्वा भजस्व स्वान्तशुद्धये।
निष्कामो गतरागः सन् चित्ते स्थैर्यं ततो भवेत् ॥१७॥
भक्त्या तत्त्वे परिज्ञाते मोहजालं नशिष्यति।
तृष्णाशादिविमुक्तस्त्वं पुनर्द्वन्द्वं न चैष्यसि ॥१८॥
" सर्वसंगपरित्यागः सर्वद्वन्द्वसहिष्णुता।
सर्वद्वन्द्वसमत्वं च मोक्षस्य विधिरुच्यते " ॥१९॥४५॥

साहब का कहना है कि सर्वात्मा हरि माणिक (रत्न) संसार में सर्वत्र वर्तमान है, अपने चित्त (मन) में भी वर्तमान है, उसे चित्त से अनुमानि (विचार) कर देखो। और लाख लोग कुटुम्बादि को त्यागकर उसी सारंगपानी (हरि) को भजो, भजते रहो ॥४५॥

## शब्द ४६.

अब हम भयली बाहर जल मीना। पूर्व जन्म तप का मद कीना ॥
तहिया अछलों मैं मन वैरागी। तजलुं लोग कुटुम राम लागी ॥

मन्दवैराग्यवान् कश्चित्त्यक्त्वा बाह्यगृहादिकम्।
स्वान्ते रागादिभिस्तप्तः प्राहेदं सद्गुरुं प्रति ॥२०॥
भवद्भिर्लोकलक्षादि त्यागायैवोपदिश्यते।
अहं च त्यागतो जातो जलोद्धृतकुमत्स्यवत् ॥२१॥

अहो पूर्वभवे किञ्चित्तपः कामविखण्डनम् ।
तपसो वा मदं कश्चित्कृतवानस्म्यसंशयम् ॥२२॥
तदानीं त्वहमासं वै मनसा रागवर्जितः ।
यतोऽद्य त्यक्तवाँल्लोककुटुम्बान् रामहेतवे ॥२३॥
त्यागवासनया यद्वा कर्मास्यतपसा ह्यहम् ।
त्यक्त्वा सर्वं तपाम्यद्य राममपि न लब्धवान् ॥२४॥

उक्त उपदेश का तात्पर्य को नहीं समझनेवाला तटस्थ रामभक्त मन्द वैराग्यवान् किसीका कथन है कि आप लाख लोगादि त्यागने के लिये उपदेश देते हैं, और मैं तो अब ( त्यागने पर ) जल से बाहर निकली हुई मछली तुल्य हुआ हूँ । मैंने पूर्वजन्म में तप का मद (गर्व) किया था, जिसका यह फल है । और मन में वैराग्य की वासना थी जिससे राम के लिये लोग कुटुम्ब को भी त्याग बैठा हूं ॥

तेजलौं काशी मति भइ भोरी, प्राणनाथ कहु का गति मोरी ।
हमहिं कुसेवक कि तूंहुँई आना, दुइ महँ दोष काहि भगवाना ॥
हम चलि ऐली तोहारे शरणा, कतहुं न देखौं हरि के चरणा ।
हम चली ऐली तोहारे पासा, दास कबिर भल कैल निराशा ॥४६॥

नूनं भ्रान्ताहिमे बुद्धिः काशी त्यक्ता यतो मया ।
अन्यथा तावता मुक्तिः सिद्धा त्यागेन किं मम ॥२५॥
प्राणनाथ ! गुरो ! त्वद्य का गतिर्मे भविष्यति ।
कथ्यतां सा न जानामि किञ्चिद्रामकृपां विना ॥२६॥
अहं कुसेवको यद्वा भवानेवागुरुस्तथा ।
पृथग् जनोऽनभिज्ञश्च द्वयो रागोऽत्र कस्य भोः ॥२७॥
अहं ते शरणे प्राप्तो नो पश्यामि हरेः पदम् ।
कुत्रापि भवतो मन्तुस्ततोऽत्र ज्ञायते मया ॥२८॥

आयातः शरणेऽहं ते त्वं न दर्शयसे हरिम् ।
अतो भक्तं हि जीवं मां हताशं कृतवानलम् ॥२९॥४६॥

मेरी बुद्धि भ्रान्त हुई जिससे काशी को त्यागा, अन्यथा काशी मरण मात्र से मुक्ति सिद्ध थी, त्याग की जरूरत नहीं थी। हे प्राणनाथ! (गुरो!) कहो कि अब मेरी क्या गति (आश्रय) है॥ क्या मैं ही कुसेवक हूं कि आपही आन (अगुरु) हैं। हे भगवन्! न मालूम दोनों में किसका दोष है॥ मैं तोहारे शरण में चला आया हूं, और हरि के चरणों का दर्शन कहीं नहीं होता है॥ मैं तुम्हारे पास आया हूं, और तुम मुझ दास जीव को भलीभाति निराश किये हो॥४६॥

## शब्द ४७.

लोगा तूंहीं मति के भोरा ।
ज्यों पानी पानी महँ मिलि गौ, त्यों धुरि मिले कबीरा ॥
जो मैं थी को साँचा व्यास । तोहर मरण व्है मगहर पास ॥
मगहर मरै सो गदह होवै । भल परतीति राम से खोवै ॥

भो लोका यूयमेवात्र भ्रान्तबुद्धियुताः मताः ।
स्थाऽतो रामं पृथग् वितथ मोहं त्यजथ नो विदाम् ॥३०॥
यथा नीरंमिलेन्नीरे तेनैकत्वं समाप्नुयात् ।
तथा देहाभिमानार्थे जीवा धूलिषु संगताः ॥३१॥
एतद्धि वचनं श्रुत्वा भाषन्ते त्वभिमानिनः ।
वयं चेत्सत्यवक्तारस्तदा नो मरणं भवेत् ॥
पार्श्वे मगहरस्यैव यत्र मुक्तिर्न लभ्यते ॥३२॥

मृतो मगहरे चायं नरो भवति गर्दभः ।
सुकर्म रामभक्तिं च सर्वं स्वं नाशयत्यलम् ॥३३॥
यद्वा सद्गुरुरेवाह सत्यवक्तास्म्यहं यदि ।
तदा ते भवतान्मृत्युः पार्श्वे मगहरस्य वै ॥३४॥
त्वं तथापि विमुक्तः स्या मृतो यत्र खरो भवेत् ।
विमूढो यस्य रामे नो विश्वासो वर्तते दृढः ॥३५॥

सद्गुरु का कहना है कि हे लोगो ! तुम ही भ्रान्तबुद्धि हो, और जैसे पानी पानी में मिलकर एक हो जाय, तैसे धूली रूप देह में मिलकर एक हुए हो ॥ यदि मैं सच्चा व्यास ( वक्ता ) थीको ( हू ) तो तेरा मरण चाहे मगहर के पास हो तौभी तुम मुक्त हो ॥ जिस मगहर में जो अज्ञ मरता है सो गदहा होता है, और राम से भली प्रतीति (विश्वास) को नष्ट करता है । उस मगहर में भी देह त्यागने पर ज्ञानी भक्त विरक्त नित्यमुक्ति ही पाता है । क्यों कि,

मगहर मरै मरण नहिं पावै । अन्ते मरै तो राम लजावै ॥
क्या काशी क्या मगहर ओरा । जो पै हृदय राम बसु मोरा ॥
जो काशी तन तजहिं कबीरा । तो कहु रामहिं कौन निहोरा ॥४७॥

मृतो मगहरे जन्तुर्भूयो मरणावर्जितम् ।
प्राप्नोति मरणं नैव काश्यादौ मरणाद्धि तत् ॥३६॥
काश्यादौ हि मृतो रामं कृत्वैवातिनिरुत्तरम् ।
हेपयित्वा तनो मोक्षं लभते नाऽत्र संशयः ॥३७॥
अथवा सद्गुरुः प्राह मृतो मगहरे भवेत् ।
ज्ञानी चेन्मरणं भूयः प्राप्नुयान्न कथञ्चन ॥३८॥
ज्ञानं लब्ध्वाऽपिय' कश्चित्काश्यादौ मरणंश्रयेत् ।
स रामं कुरुते हीनं ज्ञानं च लज्जितं तथा ॥३९॥

यदि मे हृदये रामो वसत्येव निरन्तरम् ।
काश्या मगहरेणात्र किम्वा मे ह्यधिकं भवेत् ॥४०॥
काश्यादौ मरणाज्जन्तोर्यदि मोक्षो भवेद् ध्रुवम् ।
तदा किमिति रामस्य विनयं कुरुते जनः ॥४१॥४७॥

इति हनुमद्दासकृताया शब्दसुधायामलौकिकात्मवैराग्ययोः शंकासमाधानवर्णनं नाम सप्तदशस्तरङ्गः ॥१७॥

उस मगहर में मरकर भी गुरुभक्त ज्ञानी फिर मरण नहीं पाता है। मुक्त होता है । गुरुभक्त ज्ञानी यदि अन्ते ( काशी आदि में ) मुक्ति के वास्ते मरता है, तो राम को लज्जित करता है । उनकी ज्ञान भक्ति की महिमा को घटाता है ॥ क्यों कि यदि मेरे हृदय में राम वसते हैं तो काशी मगहर और (देश दिशा ) क्या कर सकता है ॥ और यदि कबीरा (जीव ) काशी में मर के ही मुक्ति प्राप्त करे तो राम का निहोरा ही क्या है ॥४७॥

इति अलौकिकात्मवैराग्य विषयक शंकासमाधान प्रकरण ॥१७॥

## शब्द ४८, अपार ब्रह्मविचारादि प्र. १८.

अवधू छाड़हु मन विस्तारा ।
सो पद गहहु जाहि ते सद्गती, पारब्रह्म ते न्यारा ॥
नाहिं महादेव नाहिं मुहम्मद, हरि हजरत कछु नाहीं ।
आदम ब्रह्मा नहिं तब होते, नहीं धूप औ छाहीं ॥

अवधूक ! त्वया साधो ! विस्तारो मनसोऽनृतः ।
त्यज्यतां गृह्यतां तद्धि पदं स्यात्सद्गतिर्यतः ॥१॥
ग्रहणाद्यस्य सज्ज्ञानाद्वश्यं सद्गतिर्भवेत् ।
पारब्रह्मभिन्नं तत् सदपारं हि विद्यते ॥२॥
संसाराम्बुनिधेः पारं यद्वा यद्ब्रह्म वर्ण्यते ।
तद्भिन्नो मनसः सर्वो विस्तारः परिगीयते ॥३॥
महादेवो न तद्ब्रह्म मुहम्मदोऽपि नैव च ।
हरिर्हजरतो नैव कोऽपि तत्र हि विद्यते ॥४॥
ज्ञाने सति स्वरूपे ते नादमो न विधिः स्फुरेत् ।
आतपो नैव वा छाया किञ्चित्तत्रोपयुज्यते ॥५॥

हे अवधू ! ( विरागवानो ! ) मन का विस्तार को छोड़ो, और पार ब्रह्म से न्यारा ( भिन्न ) उस अपार विभु ब्रह्मपद को गहो कि जिससे सद्गति ( मोक्ष ) होवे । या पार ( शुद्ध ) ब्रह्म से भिन्न मन के विस्तारों को छोड़ो, और उस परब्रह्म पद को गहो कि जिससे सद्गति हो ॥ वह अपार या शुद्ध ब्रह्म महादेवादि रूप नहीं है । न सद्गति होने पर आदम आदि रहते हैं इत्यादि ॥ या जब महादेवादि नहीं थे तब क्या था इस प्रकार विचार कर सद्गति देनेवाला पद को गहो ॥

असिया श पैगम्बर नाहीं, सहस अठासी मुनी ।
चन्द्र सूर्य तारा गण नाहीं, मच्छ कच्छ नहिं दूनी ॥
वेद कितेब स्मृति नहिं संयम, नहीं यवन पर स्याही ।
बंग निमाज कलिमा नहिं होते, रामो नहिं खुदाहीं ॥

यवनानां न चाचार्यास्तत्राशीतिशतानि हि ।
अष्टाशीतिसहस्राणि मुनयो न पृथग्जनाः ॥६॥

चन्द्रसूर्यौ न तत्रास्तस्तारकाणां गणो न च।
मत्स्यो न कच्छपो नैव द्वैतं दृश्यं न दृश्यते ॥७॥
वेदा ग्रन्थाश्च नैवाऽत्र स्मृतयो नैव संयमाः।
यवना नो ततोऽन्ये वा नैवातिमलिनाः प्रजाः ॥८॥
वाचाऽऽह्वानं व्रतं नैव मन्त्राश्च विविधा नहि।
रामचन्द्रः खुदाख्यो न तदात्मा तत्र वा भवेत् ॥९॥

असिया सै ( अस्सी सौ ) पैगम्बर ( यवनों के आचार्य ) अठासी हजार मुनि, अपार ब्रह्म में नहीं हैं। चन्द्रमा आदि और मच्छ कच्छ दोनों अवतार नहीं हैं॥ वेदादि और संयम ( त्रयमेकत्र संयमः। यो. सू. एक वस्तु विषयक धारणा ध्यान समाधि का नाम संयम है ) सो उसमें नहीं है। और यवन ( तुरुक ) पर उससे भी भिन्न स्याही ( अत्यन्त मलिन प्राणी ) बंग ( बाग–अजान देना ) कलिमा ( कलमा मन्त्र ) इन सबका भी अपार ब्रह्म में संबन्ध नहीं है, न राम खुदा का भेद है॥

आदि अन्त मन मध्य न होते, आतस पवन न पानी।
लख चौरासी जीव जन्तु नहिं, साखी शब्द न बानी॥
कहहिं कबीर सुनहु हो अवधू, आगे करहु विचारा।
पूरण ब्रह्म कहाँ ते प्रगटे, किरतम किन उपचारा ॥४८॥

आदिरन्तो मनो मध्यो विद्यतेऽत्र न वा भिदा।
नाग्निर्न पवनो नान्यः कश्चिद् भूतमयोऽपि सः ॥१०॥
सर्वयोनिषु ये जीवा भवंति क्षुद्रजन्तवः।
तदात्मा नैव देवोऽसौ साक्षिशब्दौ न वाङ्मयौ ॥११॥
अवधूक! त्वया साधो! श्रवणं सुविधीयताम्।
एभ्यो हि परतत्त्वस्य विचारः क्रियतां मुहुः ॥१२॥

पूर्णं यद्वि परं ब्रह्म तत्प्रत्यक्षं कुतो भवेत् ।
साक्षात्तल्लभ्यते कैर्वा साधनैश्च कुतो गुरोः ॥१३॥
यद्वा हिरण्यगर्भाद्याः पूर्णत्वेनैव सम्मताः ।
आविर्भूताः कुतस्तद्वद्ब्रह्माण्डानि सहस्रशः ॥१४॥
कार्याणां सन्त्युपायाः के कैः सेव्यानि च तानि वै ।
केन तानि निवर्तन्ते भोः साधो चिन्त्यतां मुहुः ॥१५॥
इत्येवं सुविचारेण ज्ञानं लब्ध्वा ह्यनुत्तमम् ।
भवान् मुक्तो भवेद्बन्धात्सद्गुरुर्भाषते ततः ॥१६॥
आत्मानमेव विज्ञाय मनोविस्तारलक्षणान् ।
नानुध्यायाद्बहूनर्थांस्त्यजेत्सर्वान् विचक्षणः ॥१७॥
सर्वान्मभावाय योगो विरागः कार्यः सदैवेति चोक्तौ तु कश्चित् ।
मन्दो विरक्तो ब्रवीत्यत्र तच्चो कृत्वा स्वकर्णे विचारो विधेय ॥१८-४८॥

इति हनुमद्दासकृतायां शब्दसुधायां मनोविस्तारत्यागापारब्रह्मविचारवर्णनं नामाष्टाचत्वारिंशः ॥१८॥

आदि अन्त मध्य मन उसमें नहीं हैं, न आतस ( आतप–अग्नि ) पवन पानी आदि हैं॥ हे अवधू! उसीका श्रवण करो। और महादेवादि सबही से आगे ( परे ) वर्तमान तत्त्व का विचार करो। और वह पूरण ब्रह्म कहाँ ते ( किन साधन सद्गुरुओं से ) प्रगट ( प्रत्यक्ष ) होगा सो विचारो। तथा किरतम ( कार्य आकाशादि ) को किन्होंने उत्पन्न किया इत्यादि विचारो, तो परब्रह्म को प्राप्त करोगे ॥४८॥

इति अपार ब्रह्मविचारादि प्रकरण ॥१८॥

## शब्द ४९, सच्ची भक्ति और उसका फल प्र. १९.

'सन्तो भक्ति सतगुरु आनी ।
नारी एक पुरुष दुइ जाया, बूझहु पण्डित ज्ञानी ॥
पाहन फोरि गंग एक निकली, चहु दिशि पानी पानी।
ता पानी दुइ पर्वत बूड़े, दरिया लहर समानी ॥

विचारादियुता सत्या भक्तिः सद्गुरुभिर्जने ।
आनीता जगतामेव हिताय कार्यसाधिनी ॥१॥
+भक्तिरूपा च नार्येका ह्यभावजनयत्सुतौ ।
ज्ञानवैराग्यनामानौ पुरुषौ शर्मदौ शुभौ ॥२॥
ज्ञायते सा बुधात्सम्यग् लभ्येते तौ च मोक्षदौ ।
अतश्चोपास्य विद्वांसं तां च तौ च लभस्व भोः ॥३॥
गुरुरूपान्मनोरूपान्महतो वै शिलोच्चयात् ।
विभिद्य भक्तिगङ्गा तं निर्गता जगतीतले ॥४॥
ततः शान्तिस्वरूपं च सुखज्ञानादिलक्षणम् ।
पानीयं सर्वतो व्याप्तं चतुर्दिक्षु समन्ततः ॥५॥
द्वन्द्वद्वैतात्मकं तेन निमग्नं पर्वतद्वयम् ।
संसाराख्यनदी दीर्घाऽऽविष्टा बोधतरङ्गके ॥६॥

हे सन्तो ! प्रेम श्रद्धा विचारादिरूप भक्ति को सद्गुरु संसार में आनी ( लाये ) और वह भक्तिरूप नारी ने ज्ञान विरागरूप दो पुरुष को जाया ( उत्पन्न किया ) इस बात को ज्ञानी पण्डित से बूझो (समझो)

---

+ परोक्षतया ज्ञाते प्रयुक्तो भक्तियोगो वैराग्यपूर्वकमपरोक्षज्ञानं जनयति । भक्तियोगो अनुरागप्रेमादिशब्देनाप्यभिधीयते । श्रद्धया कृत श्रवणादिकं भक्तिसंज्ञां लभते नान्यथेति दिक् ।

मन तथा गुरुरूप पाहन को फोरकर एक भक्ति गंगा निकली। जिससे शान्ति आदिरूप पानी चारों दिशा में फैल गया॥ जिस पानी से जन्म मरण या द्वन्द्वरूप पर्वत डूब गये। और ज्ञानरूप लहर में संसार दरिया (नदी) समा गई॥

उड़ि माँखी तरुवर को लागी, बोले एकै बानी।
वहि मांखी को माँखा नाहीं, गर्भ रहा बिनु पानी॥
नारी सकल पुरुषवहिं खायो, ताते रही अकेला।
कहहिं कबिर जो अबकी समुझै, सोइ गुरु हम चेला॥४९॥

उड्डीय मक्षिका बुद्धिः संसाराद् द्वन्द्वदुःखतः।
ब्रह्मण्येव तरौ लग्ना वार्गमेकां च भाषते॥७॥
तदा तस्याः पतिर्नान्यो ह्यनात्मा विद्यते कश्चित्।
अनादिः साक्षिसद्गर्भस्तिष्ठत्यस्यां जलं विना॥८॥
अतो भक्त्याख्यनार्येका ह्यनात्माखिलपूरुषान्।
जग्ध्वा ज्ञानादिपुत्राभ्यां§ तिष्ठत्येका सुखावहा॥९॥
यो जनो मानवे देहे कृत्वा भक्तिमनुत्तमाम्।
जानात्यत्रैव सत्तत्त्वं स गुरुः शिष्यता मयि॥१०-४९॥

§ अहं भक्तिरिति ख्याता इमौ मे तनयौ मतौ। ज्ञानवैराग्यनामानौ कालयोगेन जर्जरौ॥ इति भागवतमाहात्म्ये॥ ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्व स्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः। मु. ३।१।८॥ विवेकज्ञानप्रसादेन शुद्धान्तःकरणो ध्यायमानस्तं पश्यते (लभते) निजात्मत्वेन साक्षात्करो त्यन्यादृग् लाभाऽसम्भवात्॥ श्रद्धावाल्लभते ज्ञानम्। भ. गी. ४।३९॥ बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते, इत्यादौ तु विवेकपरोक्षज्ञानवतो रेव ज्ञानवान्छब्देन ग्रहणं बोध्यम्। किञ्च बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् सन् वासुदेवः सर्वमिति मामपरोक्षं जानातीत्यर्थे न दोष इति दिक्॥

बुद्धिरूप मासी संसार द्वन्द्व से ऊड़ कर परब्रह्मरूप श्रेष्ठ वृक्षमें लगी। और एक उसीकी बात बोलने लगी। फिर कोई भी अनात्म पति उसके नहीं रहे। पानी विना ( कारण रहित ) साक्षी गर्भ उसमें स्थिर रहा ( निश्चित हुआ ) इस प्रकार भक्तिरूप एक नारी ने सब अनात्म पुरुषों को ज्ञानादिद्वारा खा गई। इससे वह अकेली सुखावहा रही, तथा आत्मस्वरूप पुरुष अकेला निर्भय रहा ॥ जो कोई इस तत्व को मानवतन में समझ ले सो गुरु है, मैं शिष्य हूं इत्यादि ॥४९॥

## शब्द ५०.

आव विआव मुझे हरि (को) नामा। और सकल तजु कौने कामा॥
कहँ तव आदम कहँ तब हौवा। कहँ तव पीर पैगम्बर हूवा॥
कहँ तव जिमीं कहाँ असमाना। कहँ तव वेद कितेब कोराना॥

भोः साधो यदि मुक्तिं त्वमिच्छेः सौख्यं सदातनम्।
हरिभक्तिं कुरुष्वैवमानीतां गुरुभिस्तदा ॥११॥
सौख्ये दुःखे प्रतिष्ठायामप्रतिष्ठासमागमे।
हरेर्नाम हरिश्चैव सर्वात्मा मे परा गतिः ॥१२॥
स सेव्यो मे प्रभुर्देव आत्मा ब्रह्म सनातनः।
निश्चित्येति जहीहान्यत्सर्वं तेन हि किं तव ॥१३॥
उक्ते हि निश्चये जाते त्वादमः कुत्र विद्यते।
कुत्र हव्यवती देवी तयोर्भक्तिः कुतोऽथवा ॥१४॥
गुरवो यवनानां च तदाचार्याः क्व संति च।
तेषां भक्तिर्गता कुत्र तद्वार्ताऽपि न विद्यते ॥१५॥
द्यावाभूमी च कुत्र स्तो वेदा ग्रन्थाः कुराणकाः।
कुत्र संति न सत्यास्ते दृश्यन्ते क्वापि सज्जनैः ॥१६॥

आब ( इज्जत-प्रतिष्ठा ) विआब ( दुःख-अप्रतिष्ठा ) आदि सभी दशा में मुझे हरिनामा ( हरिनामवाला या हरि के नाम ) से ही काम है, ऐसी भक्ति को दृढ करके अन्य सबको त्यागो, उनसे तुझे कौन काम है। इस भक्ति की प्राप्ति होने पर आदम आदि तथा उनकी भक्ति आदि कहाँ सत्य रहते हैं ॥

जिन दुनियाँ महँ रचि मसजीद । झूठा रोजा झूठा ईद ॥
साँचा एक अलह को नामा । जाको नय नय करहु सलामा ॥
कहु दहु भिस्त कहां ते आया । किसके कहे तुम छूरि चलाया ॥
करता किरतम बाजी लाया । हिन्दु तुरुक की राह चलाया ॥

> यैर्ह्यत्र रचितं चित्रं मस्जीदाख्यं सुमन्दिरम् ।
> तैर्मिथ्यैव च रोजाख्यमीदाख्यं कल्पितं व्रतम् ॥१७॥
> अल्लाहाख्यस्य चैकस्य नाम सत्यं तु विद्यते ।
> विनम्य यस्य युष्माभिरभिवादो विधीयते ॥१८॥
> तस्य भक्तिं विनाऽहिंसाविचारादिसमन्विताम् ।
> स्वर्गः कुतः समायातः कुत्र कस्य च वा कदा ॥१९॥
> असमीक्ष्य रहस्यं च यूयं कस्याऽऽज्ञया किल ।
> कृपाण्या विनिपातोऽयं क्रियते प्राणवत्स्वपि ॥२०॥
> कर्तारो हि स्वयं यूयं कार्यं वै शाम्बरीमयम् ।
> प्राप्य त्यजथ सद्भक्तिं कल्पयन्तः कुमार्गकौ ॥२१॥
> आर्याणां च तुरुष्काणां हिंसाद्वेषादिसंयुतौ ।
> अहोरात्रादिभेदेन बहूत्पातसमन्वितौ ॥२२॥

इस भक्ति विना जिन्होंने दुनिया में मसजीद रची, उनके रोजा ईद नामक व्रत सब झूठे हैं। जिसे झुक २ कर प्रणाम करते हो। उसी

अल्लाह का नाम एक साँच है, हिंसादि रहित उसकी भक्ति विना रोजा आदि करने पर भी भिस्त ( स्वर्ग ) कहासे ( किस प्रकार ) किसको आया ( प्राप्त हुआ ) तुमने प्राणी के ऊपर किसके हुकुम से छूरी चलाया। तुमने स्वय कर्ता बनकर बाजी ( मिथ्या ) किरतम ( कार्य ) को लाया ( प्राप्ति किया ) है। और मिथ्याही हिन्दू तुरुक के मार्ग भेद का प्रचार किया है ॥

कहँ तब दिवस कहाँ तब राती।
कहँ तब किरतम की उतपाती ॥
नहिं वाकि जाति नहिं वाकि पाती।
कहहिं कबिर वाकु दिवस न राती ॥५०॥

यदा सद्भक्तिरायाति तदा घस्रनिशा भिदा।
कुतः स्यात्कुत एवाऽत्र कार्योत्पातोऽपि संस्फुरेत् ॥२३॥
सद्भक्तानां न जातेर्वा पङ्क्तेर्वा विद्यते भिदा।
अहोरात्रप्रभेदो नो ह्यखण्डा भक्तिरद्भुता ॥२४॥
विद्यते तत्र तां भक्तिं साधो शृणु समाहितः।
तया ज्ञानं परं लब्ध्वा बन्धान्मुक्तो भविष्यसि ॥२५॥
विज्ञानवैराग्ययोर्हेतुभूता स्वान्ते सदा भाविता पापहन्त्री।
भक्तिर्गुरोर्वाक्यजा सर्वलोके भेदं विधूयाति सौख्यं तु दत्ते ॥२६॥
विद्युद्वच्चंचलं तस्मादासाद्येदं कलेवरम्।
भक्तिज्ञानविचाराद्यैरात्मानं रक्ष भद्र हे ॥२७॥५०॥

इति हनुमद्दासकृतायां शब्दसुधायां सद्भक्तितत्फलवर्णनं नामैकोनविंशतितमस्तरङ्गः ॥१९॥

जब सद्भक्ति की प्राप्ति होती है तब दिन रातका भेद कहाँ, और त्रितम ( कार्यों ) की उतपाती ( उत्पत्ति-वा द्वन्द्व-उपद्रव ) कहाँ हो सकता है ॥ उस सच्चा भक्त में कोई जाति पाति का भेदाभिमान नहीं रहता। न दिन रात का भेद रहता है, किन्तु उसकी अखण्ड भक्ति रहती है ॥५०॥

इति सच्ची भक्ति और उसका फल प्रकरण ॥१९॥

## शब्द ५१, दयादि विना अन्यकर्म निष्फलता प्र. २०.

अल्लह राम जीवों तेरि नाई। जनके मेहर होहु तुम सांई ॥

भो जीव ! यं तटस्थं त्वं भजसे हीशबुद्धितः।
सदेहं संशयसंयुक्तः स त्वयास्ति समः प्रभुः ॥१॥
भिन्नोऽल्लाहस्तथा रामः सादृश्यं ते जहाति न।
स्वामी विचारदृष्ट्या त्वं जनस्य त्वं भवस्यहो ॥२॥
अथवा शास्त्रदृष्ट्या ते ह्यल्लाहो राम इत्यपि।
ख्यात्या वै विद्यते तस्मात् कुरु स्वामी दयां जने ॥३॥
जनेभ्यश्च दयां कृत्वा स्वामित्वं सफलं कुरु।
वामात्वं नहि कस्यापि कदापि त्वं समाश्रय ॥४॥
अल्लाहरामनाम्नो वा भवानंशः प्रियो यथा।
तथांशाः सन्ति जीवा हि सर्वे तस्य महाप्रभोः ॥५॥
इति मत्वा दयावांस्त्वं सर्वोपरि सदा भव।
सद्भक्तिः कथिता ज्ञेया तद्विधौ स्वामितास्ति ते ॥६॥
साधुत्वं प्राप्यते भक्त्या स्वामित्वं चैव सत्तमम्।
नाऽनया तु विना किञ्चित् प्राप्यते सत्फलं क्वचित् ॥७॥

हे जीवो! तटस्थ अल्लाह राम तेरि नाईं (तेरे समान) हैं। या विचार दृष्टि से तेरा ही (नाम) है। इसलिये तुम साईं (स्वामी) समर्थ हो, जनों के उपर मेहर (दयावान) होवो या हे साईं (फकीरों) तेरे ही समान जीव अल्लाह राम के प्यारे अंश हैं, इसलिये इन्हें अल्ला राम जानकर मेहरवान् होवो इत्यादि॥

क्या मूंडी भूमि शिर नाये, क्या जल देह नहाये।
खून करहु मिसकीन कहावहु, अवगुण रहहु छिपाये॥
क्या ऊज्जू जप मज्जन किये, क्या मसजिद शिर नाये।
हृदया कपट निमाज गुजारहु, क्या हज मक्का जाये॥

मुण्डनाच्छिरसो भूमौ नयनात्स्नानतो जलैः।
किं फलं स्यान्न यावद्धि दयौदार्यादिसज्जलैः॥
हृदयं क्षाल्यते सम्यक् तावदन्यन्निरर्थकम्॥८॥
अहो दयां विना हिंसा त्वयाऽत्र क्रियतेऽबुध।
तथापि दीनदासादि मस्करी वाऽभिधीयते॥९॥
सद्भक्तादिवेषेण संछाद्यावगुणान् स्वकान्।
पूज्यसे ह्यत्र लोकैस्त्वं तन्न साधुकरं तव॥१०॥
दयां विना हि किं स्याच्च ऊज्जूनाम्नाऽपि कर्मणा।
जपेन स्नानतो वापि नमस्कारेण मस्जिदे॥११॥
हृदयं चेन्न संशुद्धं कपटं वर्ततेऽत्र चेत्।
किं निमाजयतेन स्यात्पाठेन वा भवेत् किमु॥१२॥
मक्कां गत्वा भवेद् किंवा तीर्थाटनविधानतः।
यावन्न हृदयं शुद्धं तावत्सर्वं निरर्थकम्॥१३॥

यदि दिल में दया नहीं हो तो मुण्डित शिर को भूमि में नाये (झुकाये) से क्या, जल से देह को नहाये (धोने) से क्या। खून करते और मिसकीन (दीन भक्त) कहाते हो, इत्यादि तो इससे क्या॥ ऊज्जू (जल या मिट्टी से हाथमुह को साफ करना) हज (तीर्थाटन-विधि आदि) हृदय में कपट (क्रूरता–छल) रखकर निमाज गुजारते (करते) हौ, और मक्का में जाकर हज्ज करते हौ, तो इससे क्या॥

हिन्दु एकादशि करें चौविशो, रोजा मूसलमाना।
ग्यारह मास कहो किन टारे, एके मॉह न आना॥

दयां भक्तिमनादृत्य व्रतान्येकादशीषु ये।
चतुर्विंशतिमार्या वा कुर्वते यवनास्तथा॥१४॥
रोजाव्रतं न सद्धर्मं दयाऽहिंसादिलक्षणम्।
नित्यं ते कुर्वते येन स्वर्गो मोक्षश्च लभ्यते॥१५॥
कुर्वन्तो मासमात्रं ते व्रतान्येवं हरिं जनाः।
सेवन्ते तद्दिनान्याहुर्हरेः नान्यदिनानि तु॥१६॥
अहो वाला न पश्यन्ति कस्यान्ये सन्ति वासराः।
एकादश हि मासांश्च योगक्षेमौ करोति कः॥१७॥
कथयन्तु भवन्तोऽत्र चिन्तयित्वाऽर्थमुत्तमम्।
एकादशापि मासान् को यापयत्यन्य ईश्वरात्॥१८॥
सदाऽसौ प्रभुरास्तेऽयः स एव सर्वकृत्सदा।
व्यापको न कचिद्देशे सर्वज्ञो वर्ततेऽन्यवत्॥१९॥

हिन्दु एकादशी व्रत, और मुसलमान रोजा व्रत, एके मॉह (एक मास किया, न आना (अन्य दिनों में नहीं किया) तो फिर एगारह मास किन्होंने टारा (किनके प्रताप से एगारह मास योगक्षेम हुए)॥

जो खुदाय मसजीद बसत है, और मुलुक किहि केरा।
तीरथ मूरति राम निवासी, दुइ महँ किनहुं न हेरा॥
पूरब दीशा हरि के वासा, पश्चिम अलह मुकामा।
दिल महँ खोज दिलहिं में खोजो, यहै करीमा रामा॥

मस्जिदेऽस्ति परात्मा चेदन्यदेशोऽस्ति कस्य वै।
तीर्थे मूर्तौ च रामश्चेदन्यत्र रमते हि कः॥२०॥
हरिमेकत्र मन्वाना आर्या वा यवनाः खलु।
पश्यन्ति नोभये तत्त्वं नान्ये केऽपि पृथग्धियः॥२१॥
हरेर्वासं हि पूर्वस्यां मन्यन्ते दिशि चार्यकाः।
प्रतीच्यां यवनाश्चैवमल्लाहमपि मन्वते॥२२॥
भोः साधो हृदये स्वस्य रामश्च केशवो हरिः।
अन्विष्यतां विचाराद्यैरत्रापि वर्तते प्रभुः॥२३॥
हरेश्च मन्दिरं विद्धि सर्वस्य हृदयं परम्।
तत्र कम्पय तत्रापि त्रिधा तं पूजयात्र च॥२४॥

यदि खुदा मसजीद में बसते हैं, तीर्थ मूर्ति आदि मात्र में राम बसते हैं, तो और मुलुक (देश) किहि केरा (किसका) है। इस बात को दुई महँ (हिन्दु तुरक दोनों में से) किनहु (किसीने) नहीं हेरा (नहीं विचार, नहीं जाना) इसीसे हिन्दुओं ने पूर्व क्षीरसागर में हरि को माना, तुरकों ने अल्लाह का मुकाम पश्चिम में माना॥ हे सज्जनो! हरि की प्राप्ति का खोज (मार्ग) दिल में है, इसलिये दिलहीं में खोजो (ढूढो), करीमा राम यहां हीं मिलेंगे॥

वेद किते़ब कहो किम झूठा, झूठा जो न विचारै।
सब घट एक एक करि लेखै, भी दूजा कहि मारै॥
जहँ लगि जगमहँ रूप उपानो, सो सब रूप तुम्हारा।
कबिर पोगरा अलह राम का, सो गुरु पीर हमारा॥५१॥

वेदान् ग्रन्थान् कथं केऽपि मिथ्यात्वेन वदन्तु वै ।
स एवासत्यभाषी यो विचारं कुरुते नहि ॥२५॥
सर्वयोनिषु देहेषु ह्येकं ज्ञात्वापि वेदतः ।
विचारेण विना भेदमीक्षन्ते मूढबुद्धयः ॥२६॥
भेदं दृष्ट्वा तु मोहेन लोलुपो मानवः कुधीः ।
मुधा मारयते जन्तून् भ्रंशते नरके ततः ॥२७॥
जायन्ते जन्तवो येऽत्र त्रिषु लोकेषु केचन ।
ते सर्वे त्वत्स्वरूपा वै दृश्यन्तां ज्ञानचक्षुषा ॥२८॥
आत्मौपम्येन सर्वत्र सुखं दुःखं च दृश्यताम् ।
दयामैत्र्यादिभावेन चित्तं स्वं परिशोध्यताम् ॥२९॥
रामरूपो हि यो बुद्धः शुद्धो रागादिवर्जितः ।
सैव मेऽस्ति गुरुः स्वामी सर्वथा पूज्य एव मे ॥३०॥५१॥

वेद किताब को किस प्रकार झूठ कहा जाय, झूठा वह है जो विचार नहीं करता है। सब घट में जो एक राम है, उसे वेदादि द्वारा जो एक करके जानता है, सो भी विचारादि बिना भय और दूजा (भेद) दृष्टि करके हिंसा करता है॥ साहब का कहना है कि जितने संसार में रूप ( व्यक्ति ) उपानो ( उत्पन्न हुए ) हैं, सो सब तेरे ही रूप हैं। ऐसा समझो दया करो। और जो अल्लाह राम के पोगरा ( पोगण्ड–समर्थ–स्वरूप ) हीं ज्ञानी शुद्ध पुरुष हैं, सो हमारे गुरु पीर हैं ॥५१॥

## शब्द ५२.

रामहिं गावै औ (रहिं) समुझावै। हरि जानै बिनु विकल फिरै ॥
जा मुख वेद गायत्री उचरे, जाके वचन संसार तरै।
जाके पावँ जगत उठि लागे, सो ब्राह्मण जिव वद्ध करै ॥

यो गायति तटस्थं च रामं बोधयते परम् ।
हरेर्ज्ञानं विना सोऽपि घूर्णते विकलो भवे ॥३१॥
ज्ञानहीनस्य यस्यात्र मुखाच्च श्रूयते श्रुतिः ।
यः श्रावयति गायत्रीमुच्चार्य विधिवज्जनान् ॥३२॥
मुक्तिं यद्वचनाच्चैव मन्यन्ते बहुमानवाः ।
सम्पत्तिं चैव संसिद्धिं सर्वैनैव च सर्वदा ॥३३॥
उत्थाय यस्य पादौ च स्पृशन्ति स्वान्तशुद्धये ।
अहो स ब्राह्मणो जीवान् हिनस्ति ज्ञानमन्तरा ॥३४॥
जीवघातं महत्पापं यः करोति विमूढधीः ।
तं मूढो मानवः पूज्यं ब्राह्मणं मन्यते मुधा ॥३५॥

जो तीर्थ मूरति आदि मात्र वासी राम को गाता और समझाता है, सो सर्वात्मा हरि गुरु को जाने बिना बिकल हुआ फिरता है ॥ जिसका मुख से वेद गायत्री का उच्चारण होता है, जिसका वचन से संसारी लोग संसार से तरने की भरोसा रखते हैं, इसीसे सब लोग उठकर जिसके पाँव लगते ( प्रणाम करते ) हैं। सो ब्राह्मण भी हरि के ज्ञान बिना जीवों का वध करता है ॥

अपने ऊँच नींच घर भोजन, घीन करम हठि उदर भरै।
ग्रहण अमावस ढुकि ढुकि माँगे, कर दीपक लिये कूप परै ॥

स्वयं च श्रेष्ठमानी सन् नीचानां पापिनां गृहे ।
भुंक्ते मोहात्कदन्नं समांसादि स्वगृहे तथा ॥३६॥
कर्मणा गर्हितेनाथ साहसेन हठेन च ।
उदरं भरते चात्मुदरंभर्यपि द्विजः ॥३७॥

राहुस्पर्शेऽप्यमायां च प्रविश्याऽऽविश्य सर्वतः ।
प्रतिग्रहं स गृह्णाति सदा सद्भिर्विगर्हितम् ॥३८॥
शास्त्रदीपं करे धृत्वा भवकूपे स दुर्मतिः ।
पतत्येव न चात्मानं त्रायते स कुतो जनान् ॥३९॥

और अपने ऊँचपन के अभिमान रखकर भी नीचों के घर में भोजन करता है, या मांसादि निन्दित वस्तु का अपने घर भोजन करता है। तथा घीन ( घृणित–निन्दित ) कर्मों से अपना पेट भरता है। ग्रहण अमावास्या आदि कालों में गृह तीर्थादि में ढुक २ कर दान माँगता है, इससे मानो शास्त्रदीप को हाथ में लिये रहने पर भी नरक कूप में पड़ रहा है ॥

एकादशि व्रतक मर्म न जाने, भूतव्रत हठि हृदये धरै ।
तजि कपूर गाँठी विष बांधै, ज्ञान गमाये मुग्ध फिरै ॥

एकादशीव्रतस्यायं रहस्यं बुध्यते नहि ।
अहिंसादिमयं शुद्धं दयादान्त्यादिसंयुतम् ॥४०॥
भूतव्रतं सदाऽशुद्धं धत्तेऽयं हृदये हठात् ।
अतस्त्यक्त्वेव कर्पूरं बध्नातीव विषं पटे ॥४१॥
अतो विस्मृत्य सत्तत्त्वं हित्वा ज्ञानसुरत्नकम् ।
भ्राम्यत्येव भवे मुग्धः क्षुब्धः क्षुब्धे यथार्णवे ॥४२॥
मोहाद् बडिशमांसं हि जग्ध्वा मत्स्यो विनश्यति ।
यथा तथाऽयमज्ञोपि मृत्योर्मृत्युमुपैति हि ॥४३॥

दया अहिंसादि युक्त एकादशी व्रत का मर्म ( भेद ) यह नहीं जानता है, किन्तु अशुद्ध भूतव्रत (प्रेतव्रत) को हठपूर्वक हृदय में धरता

है ॥ इससे सात्विक कर्मरूप कर्पूर ( पुण्य ) को त्याग कर, राजस तामस कर्मादि विषयादिरूप विष को गाँठि ( हृदय ) में बाँधता है। और ज्ञान रत्न को गमाय ( खोय ) कर मुग्ध ( मूर्ख अविवेकी ) हुआ फिरता है ॥

छीजे साहु चोर प्रतिपाले, सन्त जना से कूट करै ।
कहहिं कबिर जिह्वा के लम्पट, यहि विधि ब्राह्मण नरक परै ॥५२॥

नश्यंति श्रेष्ठिनस्तेषां रक्षां मूढः करोति न ।
चौरान् पालयते यत्तः सद्भ्यः कूटं करोति च ॥४४॥
जिह्वाया वशगो विप्रो लम्पटो विधिनाऽमुना ।
भ्रंशते नरकेऽवश्यं त्राता कोऽपि भवेन्नहि ॥४५॥
" + हेयोपादेयतत्त्वज्ञास्त्यक्ताऽन्यायपथागमाः ।
जितेन्द्रियमनोवाचः सदाचारपरायणाः ॥४६॥
नियमस्थाः क्रियाशुद्धाः समाधिस्था हतक्रुधः ।
अम्लाना विमदाः शान्ताः सर्वप्राणिहितैषिणः ॥४७॥
निर्ममा निरहंकारा दानशूरा दयापराः ।
उत्तरंति भवाब्धिं ते ब्रह्मनिष्ठा विमत्सराः" ॥४८॥५२॥

इति हनुमद्दासकृताया शब्दसुधाया दयादि विनाऽन्यकर्मनैष्फल्य-र्णनं नाम विंशतितमस्तरङ्गः ॥२०॥

मूर्खता से जो छीजता (नष्ट होता) हुआ साहु ( सज्जन श्रेष्ठी ) की रक्षा नहीं करके चोरों का प्रतिपालन (रक्षा) करता है। और सन्तजनों ा कूट ( मसखरी–माया ) करता है। सो जिह्वा के लम्पट ( स्वादपरा- रण ) इस पूर्व वर्णित कर्मविधि से ही नरक में प्राप्त होता है ॥५२॥

इति दयादि बिना अन्यकर्म निष्फलता प्रकरण ॥२०॥

+ भविष्यपु. प. १ अ. ४४ स्थस्य किञ्चिद्विपर्ययेणोद्धारः ॥

## शब्द ५३, विचारादि विना हिंसादंभादि प्र. २१.

पाडे बूझि पियहु तुम पानी ।
जा मटिया के घर महँ बैठे, ता महँ सृष्टि समानी ॥
छपन कोटि जहँ यादव भींजे, मुनिजन सहस अठासी ॥
परग परग पैगम्बर गाडे, सो सब सरि भौ माटी ॥
ता मटिया के भाडे पाडे, बूझि पियहु तुम पानी ॥

पण्डिता ! भोः सुपृच्छयैव भवद्भिः पीयते जलम् ।
अशौचाऽऽशङ्कया तस्मादपि हिंसादिवर्जितात् ॥१॥
यत्कार्ये स्थीयते गेहे तत्राविष्ट जगत् खलु ।
विनष्टा यादवा यत्र षट्पञ्चाशत् कोटयः ॥२॥
अष्टाशीतिसहस्राणि मुनयः संगता यतः ।
निपाता यवना यत्र पैगम्बरपदाङ्किताः ॥३॥
मृद्भावं सर्वमापन्नं शरीरं गतजीविनाम् ।
तन्मृदा क्रियते भाण्डं पृष्ट्वा तत्पीयते जलम् ॥४॥

हे पाड़े ! (ब्राह्मणो) ! तुम लोग अहिंसक वैष्णवादि से भी जाति बूझ ( पूछ ) कर पानी पीते हो, और जिस मिट्टी के घर में बैठे हो उसीमें सृष्टि समाई है ॥ उसीमें छप्पन कोटि यदुवशी भींजे ( मर कर मिल गये ) । अठासी हजार मुनि भींज गये ॥ परग ( परलोक गामी ) पैगम्बर सब इसमें गाडे गये सो सब सरकर माटी हो गये ॥ हे पाड़े ! उसी मिट्टी के भाँडे ( घड़े ) बनाये जाते हैं, और उन घड़ों से भरकर पानी पीते हो तो फिर क्या बूझ कर पानी पीते हो ॥

मच्छ कच्छ घरियार बियाने, रुधिर नीर जल भरिया ।
नदिया नीर नरक बहि आई, पशु मानुष सब सरिया ॥
हाड झरी झरि गूद गली गलि, दूध कहां से आया ।
सो ले पांड़े जेवन बैठे, मटियहिं छूति लगाया ॥

मत्स्याद्याः कच्छपा यत्र ह्यण्डं रुधिरसंयुतम् ।
स्रुवते तज्जलं लोकैर्ध्रियते स्वात्मशुद्धये ॥५॥
पशवो मानवा यत्र मृत्वा स्रुत्वा मिलन्ति वै ।
तस्या नद्या जलं नूनं नरकः स्यन्दते त्वधः ॥६॥
अस्थ्नां च संधितो गत्वा मांसानां संधितः स्रवत् ।
दुग्धमायाति तत्कस्माद्बुद्धिभिश्चिन्त्यते नहि ॥७॥
तज्जलं चैव तद् दुग्धं गृहीत्वा पण्डिता अपि ।
भोजनाय प्रवर्तन्ते मृत्सु दोषं च मन्वते ॥८॥

जिस नदी में मछली कछुआ घरियार आदि बिआते हैं, उनका रुधिर से मिश्रित नीर को लोग शुद्ध जल मानकर भरते हैं। और पूछ कर पानी पीते हैं, या रुधिर सम्बन्धी नीर जिस नदी में भरा है, उस नीरवाली नदी मानो नरक ही बह आई है, तथा पशु मनुष्यादि के शरीर सब भी उसमें सड़ते हैं॥ हाड़ों के झरणाओं (द्वारों) से तथा गुदा (मांस) के गलियों (नालियों) से जो दूध प्राप्त होता है, सो भी किस शुद्ध स्थान से आता है। आश्चर्य है कि उस पानी और दूध को लेकर पाडे जेमने बैठते हैं, और मिट्टी में अहिंसक सत्पुरुषादि के सबब से छूत लगाते हैं॥

वेद कितेब छाडि देहु पांड़े, ई सब मन के भरमा ।
कहहिं कबीर सुनहु हो पांड़े, ई सब तोहरे करमा ॥५३॥

वेदान् ग्रन्थानधीत्यापि भवन्तो भ्रान्तिसंयुताः।
वर्तन्तेऽतो विसृज्यन्तां वेदा ग्रन्था ह्यनर्थकाः ॥९॥
मनोभिः कल्पिताश्चैते भवतां भ्रांतिसंयुताः ।
व्यवहारा न ते वेदैः सम्मताः सत्यसम्विदैः ॥१०॥
यद्वा वेदैश्च सद्ग्रन्थैर्धर्ममालोच्य तत्त्वतः ।
मनसो भ्रांतिवर्गोऽयं युष्माभिस्त्यज्यतां ध्रुवम् ॥११॥
उक्तवान् सद्गुरुश्चायं श्रूयतां पण्डितैर्हितम् ।
युष्माकं वर्तते कर्म सर्वमत्यद्भुतं कलौ ॥१२॥
" *द्वोपलेशमनादृत्य नित्य सेवेत सज्जनम्" ।
इति नो मन्यते लोकैर्भवद्भिर्नैव नेव च ॥१३॥५३॥

वेदादि के पढने पर भी यदि यह मन की भ्रान्ति नहीं नष्ट होती है, तो वेद कितेव (ग्रन्थ) को छोड़ दो। या भ्रान्तिजनक वेद किताव को छोड़ दो, ऐसे वेद किताव भी मन के भ्रमरूप ही हैं॥ साहब का कहना है कि हे पाड़े! सुनो, भ्रान्तिजनक वेदादि वा व्यवहार तेरे ही कर्म (किये) हैं, ये अनादि वा ईश्वररचित नहीं हैं॥५३॥

## शब्द ५४.

पण्डित अचरज एक वड़ होई ।
एक मरि मुये अन्न नहिं खाई, एक मरि सिझे रसोई ॥
करि सनान देवन की पूजा, नव गुण काँध जनेऊ ।
हाड़ी हाड़ हाड़ थारी मुख, भल पट कर्म वनेऊ ॥

* योगवासिष्ठनिर्वाणप्र. उ.स. ९८।२०॥

पण्डिता ! भो महाश्चर्यं भवत्येकं भवत्कृतम् ।
यदेकस्य मृतौ नान्नं खाद्यतेऽन्यमृतौ शवम् ॥१४॥
पचन्ते भोजनायैव भवन्तो यवना यथा ।
अविवेको महानेष महानर्थकरस्तथा ॥१५॥
स्नानं कृत्वा च देवानां पूजां कृत्वा यथाविधि ।
नवभिश्च गुणैर्युक्तं कण्ठे धृत्वोपवीतकम् ॥१६॥
स्थाल्यां भोजनपात्रेऽथ मुखे चैवार्पयन्त्यहो ।
भवन्तोऽप्यस्थिमांसं च षट् कर्माणि भवंति किम् ॥१७॥
" स्नानं संध्या जपो होमो देवताऽतिथिपूजनम् ।
वैश्वदेवश्च कर्माणि षडेतानि विदुर्बुधाः" ॥१८॥

मिट्टी आदि में मिथ्या छूत लगानेवाले हे पण्डितो ! यह एक भारी आश्चर्य होता है कि एक मनुष्य के मरने पर, उस मरि ( मुर्दा ) के रहते आप लोग अन्न नहीं खाते हो । और एक पशु आदि की मरि ( शव ) की रसोई सिझाते ( पकाते ) हो ॥ और स्नान सन्ध्या आदि वा अध्ययन अध्यापनादि विहित षट्कर्म के स्थान में, यदि १ स्नान, २ देवपूजा, ३ नवगुण यज्ञोपवीत का काधे पर धारण, ४ हाँडी में हाड़, ५ थाली में हाड़ और ६ मुख में हाड़ रूप कर्म करते हो तो अच्छी तरह षट्कर्म सिद्ध होते हैं ॥

धर्म कथै जहँ जीव बधै तहँ, अकरम करि मोर भाई ।
जो तुम्हरे को ब्राह्मण कहिये, काको कहिय कसाई ॥
कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो, भरम भूलि दुनिआई ।
अपरम पार पार पुरुषोत्तम, या गति विरले पाई ॥५४॥

धर्मो हि कथ्यते यत्र तत्र जीवोऽपि वध्यते ।
विकर्म क्रियते भ्रातर्नोभयत्र सुखं ततः ॥१९॥

जीवघाती भवानेयं यदि विप्रोऽभिधीयते ।
कर्मणा केन कश्चात्र मांसिक इति कथ्यताम् ॥२०॥
अभिधत्ते गुरुर्यत्तच्छृण्वन्तु सज्जना नराः ।
भ्रान्तं सर्वं जगद्ध्येवं वर्तते कुत्सिते पथि ॥२१॥
अतोऽपारं सुखाऽकारं सत्यं चैतन्यविग्रहम् ।
अपरोक्षं परं मोक्षं विदन्ते केचिदुत्तमाः ॥२२-५४॥

हे भाई ! धर्मकथा के स्थान में जीवघात करते हो । सो भारी अकरम ( निन्दित कर्म ) करते हो । इस अवस्था में भी यदि तुम्हें ब्राह्मण कहा जाय तो कसाई किसको कहा जाय ॥ साहब का कहना है कि इन ब्राह्मणों की नाईं सब ससार भ्रम में भूला है । अधर्म को धर्म समझ रहा है । इस भ्रम से पार ( रहित ) कोई विरला श्रेष्ठ पुरुष अपरपार ( विभु ) या गति ( अपरोक्षात्मगति ) को प्राप्त करता है, और इस रहस्य को समझता है ।।५४॥

## शब्द ५५.

जस मांस नलकि तस मांस पशुकि, रुधिर रुधिर एक साराजी ।
पशु के मांस भखे सब कोई, नलहीं भखै सियाराजी ॥
ब्रह्म कुलाल मेदिनी भइया, उपजि विनशि कित गइयाजी ।
मांस मछरिया तो पै खइये, जो खेतन मे बोइयाजी ॥

यथा मांसं नराणां वै तथैव पशुपक्षिणाम् ।
रुधिराणां समत्वं च प्रत्यक्षं परिदृश्यते ॥२३॥
तथापि पशुमांसानि सर्वे खादंति मानवाः ।
शृगाला मर्त्यमांसानि खादंति किमु चिन्त्यतम् ॥२४॥

* ब्रह्मणः कुम्भकाराद्धि जायन्ते जन्तवो भुवि ।
कियन्तस्तत्र नश्यंति भूत्वा भूत्वा स्वकर्मभिः ॥२५॥
क्षेत्रे शाल्यादिवच्चेत्ते शक्यन्ते वप्तुमञ्जसा ।
तदा पललमत्स्याद्या अत्तुं शक्या न चान्यथा ॥२६॥

जैसे मनुष्य का मास अपवित्र है, तैसाही पशु का मास है। और सब रुधिर भी एकसा है। तौभी इस विवेक के विना पशु के मांस को बहुत लोग खाते हैं। मनुष्य के मास गीदड़ खाता है॥ ब्रह्म (ईश्वर) रूप कुलाल (कुम्भकार) से पृथिवी पर कितने मनुष्य पशु आदि हुए हैं, और नष्ट हो गये। उन पशुओं के मांस और मछली को मनुष्य तब खा सकता है, यदि खेत में अन्न की नाईं स्वयं मासादि को उपजा सके, अन्यथा नहीं॥ (तो पै के स्थान में जो पै पाठान्तर है)॥

मॉटी को करि देवा देवी, जीव काटि के देइयाजी ।
जो तेरा है सॉचा देवा, खेत चरत किन लेइयाजी ॥
कहहिं कवीर सुनहु हो सन्तो, रामनाम नित लेइयाजी ।
जो कछु कियो ज़िह्वा के स्वारथ, बदल पराया देइयाजी ॥५५॥

मृत्पिण्डादौ हि देवादीन् कल्पयित्वाऽत्र येऽबुधाः ।
ददंति प्राणिनो हत्वा तेभ्यस्तत्प्रीतिसिद्धये ॥२७॥
ते देवा यदि सन्त्यद्धा मांसस्वादनतत्पराः ।
भक्तक्षेत्रे चरन्तं ते पशुं नादंति किं तदा ॥२८॥
सद्गुरुर्भाषते साधो ! श्रूयतां सुविचार्यताम् ।
रामनामा परो देवो ध्यानेनाश्रीयतां सदा ॥२९॥

* तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः । गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः। शु॰ यजुः॰ ३१।८॥

अन्यथा यत्कृतं किञ्चित्स्वदनं प्राणिहिंसया ।
तत्सर्वं प्रतिदातव्यं भवेन्नास्त्यत्र संशयः ॥३०॥
" *नाऽभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि ।
अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाऽशुभम् ॥३१॥
+मां स भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम् ।
एतन्मांसस्य मांसत्वं महात्मा मनुरब्रवीत् ॥३२॥
समुत्पत्तिं च मांसस्य वधबन्धौ च देहिनाम् ।
प्रसमीक्ष्य निवर्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात् ॥३३॥
×धर्माऽधर्मफलं प्रेत्य लभते भूतसाक्षिकम् ।
अतिरिच्येत यो यत्र तत्कर्ता लभते फलम् ॥३४॥
तस्माद्दानेन तपसा कर्मणा च फलं शुभम् ।
वर्द्धयेदशुभं कृत्वा यथास्यादतिरेकवान् ॥३५॥

दयाद्यस्ति भक्तेः सदैवोत्तमाङ्गं,
त्वहिंसा तदीयं भवेद्धत्स्वरूपम् ।
सतां संगमादीनि चान्यानि संति,
लसन्त्यात्महार्दात्मिका सैवमेव ॥३६॥
प्रतीको विशुद्धोऽथ मांसाद्यसंगः,
सदा भावशुद्धिः क्रियाकल्कहीना ।
विचारादि चास्याः सुपुत्रादिलाभे,
सहायी भवेत् सर्वदा कार्यकारि ॥३७॥५५॥

इति हनुमद्दासकृताया शब्दसुधायां विचारादि विना विज्ञविपरीताचारवर्णनं नामैकविंशतितमस्तरङ्गः ॥२१॥

---

* ब्रह्मवैवर्तपु. कृ. अ. ८५।३६॥ + मनुः अ. ५।५५–४९॥
× म. भा. शा. अ. ३५।४०–४१॥

मिट्टी से देव देवी की मूर्ति बनाकर जीवघात करके उसके प्रति देते हो, तहाँ यदि तेरा देव सत्य है, और यह मास खाता है, तो तेरे खेतों में चरते हुए पशुओं को पकड़कर क्यों नहीं खा लेता है ॥ साहब का कहना है कि हे सज्जनो ! सदा सर्वात्मा राम को भजो, उसका नाम लो, कल्पित देवादि को त्यागो । नहिं तो जिह्वास्वादादि वश जो कुछ हिंसादि किये हो, सो सब पराय के बदला अवश्य देना होगा ॥५५॥

इति विचारादि विना हिंसादभादि प्रकरण ॥२१॥

## शब्द ५६, कलि के ब्राह्मण प्र. २२.

सन्तो पाडे निपुण कसाई ।
बकरा मारि भैंसा पर धावैं, दिल महँ दर्द न आई ॥
करि सनान तिलक देइ बैठे, विधि से देवि पुजाई ।
आतमराम पलक महँ विनशे, रुधिरक नदी बहाई ॥
अति पुनीत ऊचे कुल कहियें, सभा माँह अधिकाई ।
इनते दीक्षा सब कोइ मागे, सि आवे मोहि भाई ॥

भोः साधो स कुविप्रोऽस्ति निपुणः कौटिकः कलौ ।
यो हि हत्वा महाजाश्च धावते महिषोपरि ॥१॥
प्राणिनां हनने येषा दया पीडा न वा हृदि ।
चैतंसिका हि ते नूनं क्रूराः सत्यं वदामि ते ॥२॥
स्नात्वा विशेषकं कृत्वा तिष्ठंति ह्यासनोपरि ।
विधिनैव च पूजां ते देव्याः कुर्वंति जन्तुभिः ॥३॥

जीवात्मानः क्षणेनाऽत्र तेन नश्यंति चासृजः ।
स्यन्दयंति नदीं विप्रा मूढाः प्राणिविहिंसकाः ॥४॥
कथ्यन्ते त्वतिपूतास्ते कुलश्रेष्ठा महाजनाः ।
सभायां पूजनीयाश्च सभ्या मान्या धनप्रदाः ॥५॥
एभ्यो दीक्षां च सर्वेऽमी कांक्षन्ते मोक्षकाङ्क्षिणः ।
दृष्ट्वा तच्चाद्भुतं हासो भ्रातरायाति मेऽमृतम् ॥६॥

कसाई के काम करते रहने पर भी पूज्य होते हैं, इससे निपुण (चतुर) कसाई हैं। दर्द (दया–पीड़ा), तिलक देइ (तिलक लगाकर), विधि से (विधिपूर्वक), देवि पुजाई (देवी को पूजा और पूजवाया), आतमराम (बकरा आदि के प्राणात्मा), पलक महँ (पलमात्र में), अधिकाई (श्रेष्ठता), दीक्षा (मन्त्रोपदेशादि) ॥

पाप कटन कहँ कथा सुनावहिं, कर्म करावहिं नीचे ।
हम दोउ परस्पर देखा, यम लाये है खींचे (धोखे) ॥
गाय वधे तेहि तुरुक कहिये, इनते क्या वे छोटे ।
कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो, कलि महँ ब्राह्मण खोटे ॥५६॥

श्रावयंति कथां ये हि पापापगमहेतवे ।
हिंसादिनिंदितं कर्म कुर्वते कारयन्ति ते ॥७॥
अहो तांश्चोभयान् दृष्ट्वा कर्तृंश्च कारकाघरान् ।
उभयेषां च कर्माणि मिथः संचिन्तयामि चेत् ॥८॥
संपश्यामि तदा चेतद् यमो ह्याकृष्य दुर्बुधान् ।
कृतवान् स्ववशे तेन तथा व्यवहरन्ति ते ॥९॥
ये गा घ्नन्ति तुरुष्कास्ते कथ्यन्ते यदि मानवैः ।
तेभ्यः किं लघवस्ते ये महिषादिविघातकाः ॥१०॥

सद्गुरुश्चाह भोः साधो श्रूयतां तत् सुनिश्चितम्।
कलौ हि ब्राह्मणा जाताः पाषण्डाः पापनिश्चयाः ॥११॥५६॥

इति हनुमद्दासकृतायां शब्दसुधायां कलिकालिकब्राह्मणवर्णनं नाम द्वाविंशतितमस्तरङ्गः ॥२२॥

दोउ ( इनके कथन और व्यवहारों को, या करने करानेवालों को ) परस्पर ( एक २ को दूसरे २ के साथ मिलाकर ) देखा (विचारा समझा) तो मालूम हुआ कि इन्हें यम खींच लाया है, धोखे में डाला है। या ये लोग यमरूप होकर बकरे आदि को खींच लाये हैं। इनते ( तुरकों से) वे लोग क्या छोटे हैं। छोटे नहीं हैं तौभी ऐसे खोटे लोग कलि में ब्राह्मण कहाते हैं ॥५६॥

इति कलि के ब्राह्मण प्रकरण ॥२२॥

## शब्द ५७, भ्रमभूत से पीडामरणादि प्र. २३.

यह भ्रमभूत सकल जग खाया। जिन जिन पूजा तिन जहडाया॥
अण्ड न पिण्ड प्राण नहिं देहा। काटि काटि जिव कौतुक येहा॥
बकरी मुरगी दीन्हो छेवा। आगिल जन्म उन अवसर लेवा॥

भ्रमसिद्धः पिशाचोऽयं भूतनामा जगज्जनान्।
सर्वान् खादितवान्मूढान् हिंसादम्भादिसंयुतान् ॥१॥
पूजयन्तिस्म ये ये तं तान् सर्वांश्च निपीड्य सः।
नरकं नयतेऽवश्यं विषमं मोहसंकुलम् ॥२॥
यस्य नैवाण्डजो देहो विद्यते न जरायुजः।
अदनार्हो न वा प्राणो लिङ्गदेहसमन्वितः ॥३॥

तदर्थं प्राणिनां हिंसां विधायैव कुबुद्धयः।
कुर्वते कौतुकं चित्रं चरित्रं लोमहर्षणम् ॥४॥
येषां छगलकानां वा कुक्कुटानां विहिंसनम्।
क्रियते तेप्यवश्यं तान् हिंस्येयुर्भाविजन्मसु ॥५॥

यह (लोकप्रसिद्ध) भ्रमभूत (मन बुद्धि की भावना निश्चय के अनुसार कल्पनासिद्ध प्रेतविशेष), जहडाया (पीड़ित किया), अण्ड पिण्ड (अण्डज–पिण्डज) देह, तथा खानपान में समर्थ प्राण उसके नहीं रहते हैं, तो भी अज्ञ लोग उसके लिये जीव (प्राणी) को काट २ कर यह अजब कौतुक करते हैं ॥ परन्तु जिन बकरी मुरगी आदिकों के ऊपर इन लोगोंने छेव दिया है (अस्त्र चलाया है) वे भी अगिले जन्मों में अवसर लेंगे (बदला चुकावेंगे)॥

कहहिं कबीर सुनहु नर लोई। भुतवक पुजले भुतवे होई ॥५७॥

सद्गुरुश्चाह लोका वै शृण्वन्तु शास्त्रसम्मतम्।
भूतानां पूजका भूता भवन्ति नात्र संशयः॥६॥
तं यथोपासते लोका भवन्त्येते तथैव हि।
यान्ति भूतानि भूतेज्याः श्रुतिस्मृत्योर्वचः स्फुटम् ॥७॥
वसिष्ठो भगवानाह यद्रामाय तदीदृशम्।
श्रोतव्यं श्रूयतां लोकास्ततः किञ्चिन्निगद्यते ॥८॥
"पिशाचाः केचिदाकाशसदृशाः सूक्ष्मदेहकाः।
हस्तपादादिसंयुक्ताः पश्यन्ति त्वमिवाकृतिम् ॥९॥
म्रन्त्यदन्ति पिबंत्याशु लघुसत्त्वबलं जनम्।
बलं सत्त्वमथो जीवान् हिंसन्त्याक्रम्य चित्तकम् ॥१०॥
आकाशसदृशाः केचित्केचिन्नीहारसन्निभाः।
केचित्स्वप्ननराकाराः साकारा अपि खात्मकाः ॥११॥

केचिदभ्रदलप्रख्याः केचित्पवनदेहकाः।
केचिद् भ्रमात्मका एव सर्वे बुद्धिमनोमयाः ॥१२॥
शीतातपादिविहितं सुखं दुःखं विदंति च।
पातुमत्तुमवष्टब्धुमीहितुं शक्नुवन्ति नो ॥१३॥५७॥

हे नर लोई (नर लोगो)! सुनो, भूत को पूजने से वह भूत ही होता है ( तं यथा यथोपासते तदेव भवति। श्रुतिः॥ भूतानि यान्ति भूतेज्याः। भ. गी. ) ॥५७॥

## शब्द ५८.

का कहँ रोवों गै बहुतेरे। बहुतक मुये फिरे नहिं फेरे॥
जब हम रोया तब न सँभारा। गर्भ बास की बात विचारा॥

कं कं रोदिमि बहवो गर्भाग्निषु गताः शठाः।
हठेनैव मृताश्चैते कुमार्गेषु रताः सदा ॥१४॥
निवृत्ता न ततश्चैते शतशोऽपि निवारिताः।
आवृता मोहजालेन कालेनेव वशीकृताः ॥१५॥
यदा वयं तदर्थं तु प्रारोदिमस्तदा न ते।
सावधानेन मनसा ह्यकुर्वन् स्वात्मने हितम् ॥१६॥
किन्तु येन भवेद्गर्भे वासो नरक एव वा।
तदेव कर्म तद्वाक्यं तैः शश्वदवलोकितम् ॥१७॥

किस २ के लिये रोया जाय। इस भ्रमभूतादि के फन्दे में बहुत लोग गये हैं। और मरकर गर्भ नरकादि में प्राप्त हुए हैं। कुमार्ग में प्राप्त होकर जो बहुत लोग मुये (नष्ट हुए) वे लोग फेरने से भी नहीं फिरे॥ और जब हम ( ज्ञानी उपदेशकों ) ने रोया ( इनका हित के

चिन्ता किया ) तब जिन लोगोंने नहीं सम्हारा, उलटा जिन बात व्यवहारों से गर्भवास नरकादि होते हैं, उन बातों का ही विचारादि किया, उनके लिये अब क्या रोया जाय ॥

अब तैं रोया क्या तैं पाया । किहि कारण तैं मोहि रुलाया ॥
कहहिं कबीर सुनहु नर लोई । काल के वशी परे मति कोई ॥

गर्भादौ नरके प्राप्य यूयं रुदिथ चाद्य चेत् ।
किं फलं प्राप्यते तेन त्वस्मान् रोदयथाऽत्र किम् ॥१८॥
भो लोका नैव रोदित्वा लभध्वे फलमण्वपि ।
मा रोदयथ च व्यर्थं रोदनश्रावणादितः ॥१९॥
भाविदुःखनिवृत्त्यर्थमुपायश्चिन्त्यतां मुहुः ।
सांप्रतं सह्यतां चैतत्क्षणात्तन्नश्यति ध्रुवम् ॥२०॥
सद्गुरुश्चाह भो लोकाः श्रवणं सुविधीयताम् ।
कालस्य न वशे कैश्च गम्यतां स्वाविवेकतः ॥२१॥
कालाधीनमतिप्रायोलोकाः संति कुबुद्धयः ।
कोपि सत्पुरुषो लोके कालात्परमतिर्भवेत् ॥२२-५८॥

अब तुम रोते हो, इससे तुमने क्या प्राप्त किया । अपने दुःखादि से मुझे भी तुम क्यों रुलाया ॥ साहब का कहना है कि हे नर लोगो ! श्रवण विचारादि करो, और पूर्व वर्तमान की चिन्ता आदि को त्यागकर सो काम करो कि जिमसे आगे अब कोई भी काल के वश में नहीं पड़ो । रोने से क्या होगा ॥५८॥

## शब्द ५९.

को न मुवा कहु पण्डित जाना । सो समुझाय कहु मोहि स्याना ॥
मूये ब्रह्मा विष्णु महेशा । पारवती सुत मुये गणेशा ॥
मूये चन्द मूये रवि केता (शेषा) । मुये हनुमत जिन बांधल सेता ॥

अमरान् ये बहून् केऽपि मन्यन्ते पण्डिता अपि ।
तानाहाऽत्र + विवेकाय सद्गुरु कामुकान् हितम् ॥२३॥
पण्डिता भो मृतः को न कथ्यतां स सुनिश्चितः ।
जनेभ्यश्च मदर्थं च सुसम्बोध्य स उच्यताम् ॥२४॥
अथ च ज्ञायतामेतद्वाक्यं मम सुनिश्चितम् ।
कथ्यते वेदसिद्धान्तो निश्चितश्च महात्मभिः ॥२५॥
ब्रह्मा मृतो मृतो विष्णुर्महेशश्च दिगम्बरः ।
पार्वत्याः स सुतो देवो गणेशश्च मृतः सुधीः ॥२६॥
मृतः सूर्यश्च चन्द्रश्च कल्पे कल्पे सहस्रशः ।
हनुमानपि सद्भक्तो मृतो यः सेतुकारकः ॥२७॥
अनन्तोऽपि मृतः शेषो देवाश्च दानवादयः ।
सर्वे मृता मरिष्यंति देहवानमरो नहि ॥२८॥

अमर होने के लिये ब्रह्मलोकादि चाहनेवाले हे पण्डितो! कौन नहीं मुआ सो कहो। और नित्यानित्य का विवेक करके उपदेश दो। और समझो कि अनन्त कल्प के अनन्त ब्रह्मा विष्णु महेश पार्वतीपुत्र गणेश मरे हैं। और कितने चन्द्रमा सूर्य सेतु बाधनेवाला हनुमान आदि भी मर गये। ( मूये चन्द्रशेषरवि केता ) यह पाठान्तर है॥

मूये कृष्ण मुये करतारा। एक न मुवा जो सिरजनिहारा॥
कहहिं कबीर मुवा नहिं सोई। जाके आवागमन न होई॥५९॥

कृष्णो मृतो मृताः सर्वे कर्तारः कर्मजन्मनाम् ।
प्रजानां पतयो दक्षप्रमुखाः लोककारकाः ॥२९॥

+ तान् कामुकान् प्रति सद्गुरुरत्रैव विवेकाय हितं यद्वचनं तदाह॥

तेषामपि च यः स्रष्टा ह्येको देवो निरञ्जनः ।
स एव न मृतो नैव कदाचिच्च मरिष्यति ॥३०॥
सद्गुरुश्चाह सैवैको न मृतो यस्य न क्वचित् ।
गमनागमने जातु भवतोऽत्र कथञ्चन ॥३१॥
भ्रमात्मकैरिह किल भूतनामकैर्ग्रहैर्जना मृतिवशतामुपागताः ।
अहञ्च काः कियदनुरोदिमि प्रजाः पितामहो हरिरपि मृत्युभागिह ॥३२॥

कुमार्गगत्या मरणं तु भीतिदं मृतांश्च तत्राहमतोऽनुचिन्तये ।
विचारवन्तो ननु ये विवेकिनः समाधिवन्तो नहि यान्ति शोच्यताम् ॥३३-५९॥

इति हनुमद्दासकृताया शब्दसुधाया भ्रमभूतादिजन्यपीडादिवर्णनं नाम त्रयोविंशतितमस्तरङ्गः ॥२३॥

कितने कृष्ण और कर्ता ( प्रजापति मरीचि आदि ) मरे । परन्तु एक वही सर्वात्मा विभु चेतन नहीं मरा, कि जो अपनी सत्ता प्रकाश माया शक्ति से सबको सिरजनेवाला अचल अनादि है ॥ साहब का कहना है कि केवल वही नहीं मरा कि जिसके आवागमन ( जन्ममरण परिणाम विकारक्रिया ) किसी प्रकार भी नहीं होते हैं ॥५९॥

इति भ्रमभूत से पीडा मरणादि प्रकरण ॥२३॥

## शब्द ६०, देहसरोवर के त्यागग्रहणादि प्र. २४.

हंसा प्यारे सरवर तेजे जाय।
जिहि सरवर विच मोतिया चुँगत होते, बहुविधि केलि कराय॥
सूखे ताल पुरइन जल छाड़ेवो, कमल गेल कुम्हिलाय।
कहहिं कबीर जो अबके बिछुड़े, बहुरि मिलहु कब आय॥६०॥

जीवात्मानः प्रिया हंसा देवदेहगता अपि।
देहं सरोवरं त्यक्त्वा संयान्त्येव यतस्ततः॥१॥
तान् प्रत्याह गुरुर्हंसा! यत्र यूयं सुखात्मकम्।
ज्ञानं वा मौक्तिकं शश्वत् पदार्थान्वा पृथग्विधान्॥२॥
चितवन्तः क्रियां क्रीडां ह्यकुर्वेथ पृथग्विधाम्।
संत्यक्त्वा तत्सरो याथ यदा यूयं तदैव हि॥
शुष्यत्यदो न संदेहो भवत्येव भयावहम्॥३॥
पद्मपत्रसमं नेत्रं जलं त्यजति मानसम्।
सर्वं लौकिकभोग्यं च त्वङ्मांसं त्यजति ध्रुवम्॥४॥
कमलानि च सर्वाणि कुण्ठितानि हतानि च।
जायन्ते नैव राजन्ते वृद्धत्वेऽपि समागते॥५॥
सरसोऽस्माद्वियुक्ताश्च नैव जाने कदा पुनः।
मेलिष्यन्ति भवन्तोऽत्र स्वर्गमोक्षप्रदे शुभे॥६॥
अतो ह्यद्यैव तत्कार्यं येन भूयो भवेन्नहि।
नरके विनिपातो वा गमनागमने खलु॥७॥
"अद्यैव* कुरु यच्छ्रेयो वृद्धः सन् किं करिष्यसि।
स्वगात्राण्यपि भाराय भवन्ति हि विपर्यये"॥८॥

* यो. वा. निर्वाणप्र. उ. स. १६२॥२०॥

" नरदेहस्य * पातात्प्राक् स्वं बोद्धुं शक्नुयान्न यः ।
जन्मान्तरेषु तद्बोधः प्रायेणात्यन्तदुर्लभः " ॥९॥
" दैवं × पुरुषकारश्च कालश्च पुरुषोत्तमाः ।
त्रयमेतन्मनुष्यस्य पिण्डितं स्यात्फलावहम् ॥१०॥
तस्मात्सदैव कर्तव्यं सधर्मं पौरुषं नरैः ।
विपत्तावपि यस्येह परलोके ध्रुवं फलम् " ॥११॥६०॥

प्यारे हंस ! ( मानवतनुधारी जीव ! ) इस तनुरूप सरोवर को त्यागे जाते हो, जिसमें विविध ज्ञान सुखादि रूप मोती चुँगते रहो। और बहुत प्रकार के केलि ( खेल क्रीडा ) करते रहो ॥ वह ताल अब सुख चला । पुरइन ( कमलपत्र ) तुल्य नेत्र जल को छोड़ दिया । मन विषय भोग मे असमर्थ हुआ । हृदयादि कमल कुम्हिला गये॥ साहब का कहना है कि न मालूम कि अब की बार का वियोग के बाद फिर कब इस प्रकार का श्रेष्ठ सर में आयकर सद्गुरु आदि से मिलकर आवागमनादि रहित पद को प्राप्त करोगे, इसलिये अबही प्राप्त करो । फिर काल के वश में नहीं पड़ो तो अति उत्तम है ॥६०॥

## शब्द ६१.

हो दारी कीलै (देउँ तोहि) गारी । तुम समुझु सुपन्थ विचारी।
घरहुं के नाह जो अपना । तिनहूं से भेंट न स्वपना।

---

* अनुभूतिप्रकाश–अ. ११।९८॥ × मत्स्यपु अ .२२१।८-१०।

सक्ता दारेषु भो मूढा गालिं स्वीकुर्वते किमु।
दारासक्तिस्वरूपां* वै सर्वानर्थविधायिनीम् ॥१२॥
कं दोषं वा पुरस्कृत्य गालिस्तुभ्यं प्रदीयताम्।
सर्वदोषतमात्मेयं दारासक्तिर्निगद्यते ॥१३॥
तां त्यक्त्वाऽतो विचारेण सुमार्गो ज्ञायतां त्वया।
येन सत्यं परं तत्त्वमात्मात्र लभ्यते ध्रुवम् ॥१४॥
विचारादि विना नैव देहगेहस्य सत्पतिः।
स्वप्नेऽपि लभ्यते साक्षात्स्वस्यातिनिकटेऽपि सन् ॥१५॥
चारयाम्यतिशब्देन नरानेवं स्त्रियं समाम्।
त्यज लोकरतिं कान्तः स्वप्ने नैवाप्स्यते ह्ययम् ॥१६॥

हे दारी (माया स्त्री में आसक्त पुरुषो)! तुमलोग स्वयं गाली कीलै (क्यों लेते हो) अर्थात् स्त्री में आसक्त होकर अनादर यमयातना धिक्कार गाली आदि क्यों सहते हो। या तुम्हें क्या लगाकर गाली दिया जाय, तुम सब अनर्थ नीचता को स्वयं स्वीकार किये हो। अब भी तो विचार कर सुमार्ग को समझो ॥ दारादि आसक्ति के कारण जो अपने घर (हृदय) के वासी नाह (स्वामी) है, उससे तुम्हें स्वप्न में भी भेंट नहीं हुआ है। या स्त्रियों को भी घर का स्वामी से फिर स्वप्न में भी भेंट नहीं होता है। इसलिये उन्हें भी सुपन्थ विचार कर देखना चाहिये ॥

---

* दारग्रहोऽतिदुःखाय केवलं न सुखाय च। तत्संसर्गमतिमुक्ति-कर्मणा व्यवधायकः ॥ ब्रह्मवैवर्तपु. २३।२०॥ यद्वन्नारी दुःखकरी कामिनः पुरुषस्य हि। नार्या अपि न कामिन्याः पुमान् दुःखकरस्तथा ॥ आत्मपु. ११४३६॥

ब्राह्मण क्षत्री औ बानी । तिनहूं कहलो नहिं मानी ॥
योगी औ जगम जेते । सब आपु गहे हैं तेते ॥
कहहिं कबीर एक योगी । भरमि भरमि सब भोगी ॥६१॥

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्या मन्यन्ते स्म न तद्यदा ।
मन्यते हि तदा कोन्यो हितं सत्योपदेशनम् ॥१७॥
योगिनो जङ्गमा ये च तेऽपि तं तं स्वकल्पितम् ।
गृह्णन्ति स्म न चात्मानमासक्ता ह्यभिमानिनः ॥१८॥
यो ज्ञानाद्वियुतो योगी विचारादिपरायणः ।
सैवैको योगिवर्योऽन्ये भ्रान्त्वा भ्रान्त्वा कुभोगिनः ॥१९॥
भवति वेषकामादौ सक्ता न सद्गुरोः पदे ।
नात्मान्वेषणसद्भक्तौ सुयुक्तास्ते कदाचन ॥२० ६१॥

आश्चर्य है कि इस वर्णित सदुपदेश को श्रेष्ठ कहानेवाले ब्राह्मण क्षत्रिय और बानी (वैश्य) लोगों ने भी नहीं माना ॥ और जितने योगी जगमादि हैं, ते ते ( वे सब भी ) स्वय दारा माया आदि को गहे हैं ॥ इससे साहब का कहना है कि एक अविनाशी अचल तत्त्व के ज्ञानी विरक्त ही वस्तुतः योगी हैं । और सब लोग भ्रम २ कर त्रिगुण वस्तु के भोगी हुए हैं ॥६१॥

## शब्द ६२.

भँवर उड़े बक बैठे आई । रैनी गये दिवसो चलि जाई ॥
हल हल कांपे बाला जीवा । नहिं जानो का करि हैं पीवा ॥

भ्रमरः सुरसग्राही सुजनो भाव उज्ज्वलः ।
उड्डीय ह्यगमत् क्वापि भोगासक्तस्य पार्श्वतः ॥२१॥

वकवृत्तिः समायातो निकटे तस्य वा हृदि।
मानुष्यं निष्फलं तेन कुलगोत्रादिकं तथा ॥२२॥
कृष्णत्वं ह्यगमत् केशाच्छ्वेतताऽत्र समागता।
हृदयं नाऽभवच्छुद्धमहोभाग्यविपर्ययः ॥२३॥
पश्वादिभावरूपा सा गता रात्रिः कथञ्चन।
लब्धं सम्यङ् मनुष्यत्वं दिवसो यात्यहो मुधा ॥२४॥
पुनरस्मिन् गते त्वज्ञः पराधीनो निरन्तरम्।
मोहेन कम्पते जीवः शिवं क्वापि न पश्यति ॥२५॥
भीतोऽतिकम्पमानश्च मन्यते मानसे स्वके।
न जाने मे पतिर्देवः किं करिष्यति चात्यये ॥२६॥

भोगियों के हृदय से शुभ रसग्राही विवेकादिरूप भँवर उड़ गये, पास से विवेकी सज्जन चल पड़े। बकवृत्ति ( अशुद्ध बुद्धि-कुपुरुष ) आ बैठे। तथा बाल के कृष्णपन गया पलित पहुचा, तौभी भोगासक्ति नहीं नष्ट हुई॥ जिससे पशु आदिपन अन्धतम रात्रि के बीतने पर प्राप्त सुप्रकाश युक्त दिवस ( मानवतनु का समय ) व्यर्थ जाता है॥ इससे बाला ( अज्ञ परवश ) जीव हल २ ( थल २ ) कॉपते हैं, और चिन्ता करते हैं कि न मालूम कि मेरा स्वामी मेरी कौन दशा करेगा इत्यादि॥

कॉचे वासन टिकै न पानी। उड़ि गौ हंस काया कुम्हिलानी॥
काग उडावत भुजा पिरानी। कहहिं कबिर यह कथा सिरानी॥६२॥

एवं संचिन्तयानोऽपि जीवो हंसः कलेवरे।
न तिष्ठति चिरं ह्यामे यथा कुम्भे जलं नहि ॥२७॥
उड्डीय च गते हंसे क्षणाद्देहो विशुष्यति।
भक्षणायास्य काकाद्या उन्मुखाश्च भवति हि ॥२८॥

तेषां च वारणाच्छदवद् यदि बाहुर्विपीड्यते ।
तथापि देहवार्ताऽपि कालेन प्रविणश्यति ॥२९॥
भोगी कुबुद्धिकाकं या नैव वारयितुं क्षमः ।
मनोऽस्य पीड्यते तेन मुधा देहोपि नश्यति ॥३०॥
सद्गुरुर्भाषते तस्मात् त्यज्यतां भोगलालसा ।
आलस्यं संपरित्यज्य ह्यासक्तिं च मदं त्यज ॥३१-६२॥

फिर जैसे काच बासन ( घड़ा आदि) में पानी देरतक नहीं टिकता है । तैसे ही शरीर में प्राण के नहीं टिकने के कारण जब हंस ( जीव ) इसमें से उड़ गया, तब यह काया ( देह ) कुम्हिला गया ॥ फिर यदि कोई इसकी रक्षा के लिये काकादि को उड़ाते २ भुजा को पीड़ित भी करे, तौभी थोड़ी देर में इस देह की कथा ओरा ( निपट ) ही जाती है ॥ या भोगी लोग काकतुल्य कुबुद्धि आदि को उड़ाते २ थक गये, परन्तु भोगपरायणता रहते कुबुद्धि आदि नष्ट नहीं हुए, और इस देह की कथा ओरा गई, इसलिये सबसे पहले भोगासक्ति को त्यागना चाहिये यह सद्गुरु का उपदेश है ॥६२॥

## शब्द ६३.

योगिया फिरि गौ नगर मँझारी । जाय समान पाँच जहँ नारी ॥
गौ देशान्तर कोइ न बतावै । योगिया गुफा बहुरि नहिं आवै ॥

संसारैः सह संयोगाद्येऽत्र संयोगिनो जनाः ।
ते हि भ्रान्त्वा पुनः प्राप्ता लोकादौ नगरेऽभवन् ॥३२॥
ते च यत्रागमंस्तत्र पञ्च नार्यो गताः सह ।
प्राणा इन्द्रियरूपा या त्यविद्याद्या विशद् गृहे ॥३३॥

गता देशान्तरे यत्र केऽपि ताञ्चोपशिक्षितुम् ।
शक्नुवन्ति न तेऽप्यत्राऽऽयान्ति त्यक्तगुहागृहे ॥३४॥
असङ्गो ज्ञानवान् योगी चरित्वा चाऽत्र भूतले ।
प्राप्तोऽभून्नगरे यत्र नारीणां समता भवेत् ॥३५॥
निर्विशेषे गतो देशे निर्देष्टुं शक्यते नहि ।
नागच्छति पुनः सोऽत्र संसारे च गुहागृहे ॥३६॥

मानवतनु की कथा बीतने पर भी योगिया (सयोगी–भोगी) संसारी जीव, फिर दूसरे नगर ( लोक, देह ) मे प्राप्त हुआ। और यह जहाँ गया वहाँ ज्ञानेन्द्रिय या प्राण, वा अविद्यादि पाच स्त्रियाँ भी जाकर समाई। या वासनादि द्वारा जहाँ स्त्रियां गईं, वहाँ योगिया भी गया ॥ और ऐसा दुर्गम देशान्तर में गया कि जहाँ इसे कोई कुछ पता (समझा) नहीं सकता और योगिया फिर लौटकर शीघ्र इस मानवतनु रूप गुफा में नहीं आता है, कि जहाँ कुछ समझ सके इत्यादि ॥

जरि गौ कंथा ध्वजा गौ टूटी ।
भजि गयो दण्ड खपर गौ फूटी ॥
कहहिं कबीर ई कलि है खोटी ।
जो रहे करवा (सो) निकलै टोंटी ॥६३॥

अत्रानागमनाच्चैव देहत्वङ्मांसरूपिणी ।
दग्धा कन्था ध्वजा छिन्ना बाहुचालस्वरूपिणी ॥३७॥
भग्नोऽयं मेरुदण्डोऽभूत्कपालः खर्परस्तथा ।
विदीर्णोऽभून्न किञ्चिद्धि शश्वदस्यावतिष्ठते ॥३८॥
कायः कलिरयं प्रोक्तः कालश्चाज्ञजनस्तथा ।
स हीनो नश्वरः पापस्तापहेतुस्तमस्त्रिषु ॥३९॥

यस्मात्र वर्तते भावो यच्च कर्म शुभाऽशुभम्।
तन्निष्क्रामति जीवेन सह द्वारैर्मृतौ किल ॥४०॥
बुद्धौ गुहायां सदसद्विभिन्नं ब्रह्मास्ति सत्यं परमद्वितीयम्।
तदात्मना योऽत्र वसेद् गुहाया पुनर्न तस्याङ्गगुहाप्रवेशः ॥४१॥
ग्रन्थीन् स हित्वा च विलूय कश्मलं छित्त्वाऽखिल कर्मजदोषपुञ्जकम्।
अत्रैव तिष्ठन्निखिलं कलेवर कामं च हित्वा नहि याति कुत्रचित् ॥
४२॥६३॥

इति हनुमद्दासकृताया शब्दसुधाया देहसरोवरत्यागादिवर्णन नाम चतुर्विंशतितमस्तरग ॥२४॥

योगिया के जाने पर त्वचारूप कथा जर गई, बाल शुजा रूप ध्वजा टूट गई। मेरुदण्ड नष्ट हो गया। शिररूप खप्पर फूट गया॥ साहब का कहना है कि यह कलि (समय-देह) खोंट है। जो इस करवा (देह) के अन्दर भावकर्मादि रहते हैं, सोई टोंटी (किसी द्वार) से निकलते हैं। इससे शुभ का सम्पादन करो इत्यादि ॥६३॥

इति देह सरोवर के त्यागग्रहणादि प्रकरण ॥२४॥

## शब्द ६४, सद्गुरु में विश्वास विना मोहादि प्र. २५.

नल को नहिं परतीति हमारी।
झूठन वणिज कियो झूठा सो, पूजि सबन मिलि हारी॥
षट दरशन पाखण्ड चलायो, तिरदेवा अधिकारी।
राजा देश बडो परपञ्ची, रैयत रहत उजारी॥

मनुष्याणां न विश्वास. सद्गुरौ मयि वर्तते।
मिलन्त्यनृतिनोऽसत्यैस्तैश्च व्यवहरन्ति ते ॥१॥

अतश्च वृद्धिमूलं ते सुखमूलं च सर्वशः।
हारयंति हि कामाद्यैः कितवैश्चैव तस्करैः ॥२॥
षड्दर्शनिगणाश्चैव योगाद्या मतवादिनः।
प्रावर्तन्ताऽतिपाषण्डांस्त्रिदेवाश्चाधिकारिणः ॥३॥
अभवन् गुणरूपास्ते राजानश्च त एव हि।
तद्देशवासिनस्तेषामुपासनपरा नराः ॥४॥
प्रपञ्चनिरताः सन्तः परेषां वञ्चने रताः।
जिज्ञासुप्रमुखाः सर्वाः प्रजाश्च पीडयंति ते ॥५॥
तैश्च संपीडितास्तद्वद् द्राविताश्चाखिलाः प्रजाः।
द्रवन्ति विविधांल्लोकान् भयभीता मुहुर्मुहु ॥६॥

हमारी (सद्गुरु की) प्रतीति (विश्वास) मनुष्यों को नहीं है। इससे झूठे लोग झूठों से वणिज (व्यवहार गुरुशिष्यादि सम्बन्ध) किये हैं। इससे सब लोग पूँजी (मूलतत्त्व) को हार गये। षट्दर्शनी पाखण्ड चलाये, और त्रिदेव अधिकारी (फलदानादि के स्वामी) हुए। मोक्ष दाता प्रभु नहीं मिले। राजादेश (त्रिगुण का देश) बड़ी प्रपञ्ची (बहुत कपटयुक्त) है। वे लोग रैयत को उजाड़ते रहते हैं॥

इत ते ऊत ऊत ते इत रहु, यम की साटि समारी॥
ज्यों कपि डोरि बाधु बाजीगर, अपनी खुसी परारी॥
इहे पेंड़ उतपति परलय की, विषया सबै बिकारी।
जैसे श्वान अपावन राजी, त्यों लागी संसारी॥

इतो यांति जना ह्यूर्ध्वं पुनर्यान्ति ह्यधस्ततः।
याताऽऽयाते प्रकुर्वन्तो भवंति विह्वलाः [illegible]

यत्र यांति च तत्रैव यमदण्डोपि विद्यते ।
उद्गूर्णहताडितास्तेन व्यथन्ते विवशा भृशम् ॥८॥
यथा कपिर्हि पृथुकैश्चणकैर्बध्यते स्वयम् ।
मर्कटोल्लासकः क्रूरः पुनर्बध्नाति तं गुणैः ॥९॥
तथा स्वयं हि कामेन लोभेन विषयैर्हृताः ।
पतंति नरके सर्वे जन्तवो मोहयंत्रिताः ॥१०॥
विषया वा इमे सर्वे विकारा मनसोऽखिलाः ।
कामाद्या एव जन्मादेर्मूलं कारणमुच्यते ॥११॥
श्वा यथा मलिने रक्तः प्रसन्नोऽपावनाद् भवेत् ।
तथा संसारिणो हीने संलग्नाः कामतोऽशुचौ ॥१२॥

इससे इतते (इस लोक, देह से) ऊत (परलोक, परदेह में) प्राप्त होकर, फिर ऊतते इत (वहाँ से यहाँ) प्राप्त होकर थोड़ी देर जीव रहता है, और सर्वत्र यम की साटि (कोरा) इसके लिये समारी हुई रहती है ॥ और जैसे वानर अपनी खुसी (इच्छा) से बंधन में मोह लोभ वश पड़ता है। तैसे ही स्वयं बंधाकर जीव सब यम आदि के वश में होते हैं ॥ क्यों कि ये विषय और कामादि विकार ही उत्पत्ति प्रलय (जन्ममरणादि) के पेड़ (जड़) हैं ॥ तौ भी जैसे श्वान अपावन से राजी रहता है, तैसे संसारी भी विषयादि में लगे फंसे रहते हैं इत्यादि ॥

कहहिं कबिर यह अदबुद ज्ञाना, (को) मानै बात हमारी ।
अजहूं लेउँ छोड़ाय काल सो, जो करु सुरति सम्हारी ॥६४॥

विवेकजमिदं ज्ञानमद्भुतं मन्यते यदि ।
निरुध्य स्वमनो नित्यं स्वात्मनि स्थाप्यते तथा ॥१३॥

तदा त्वद्याप्यहं कालान्मोचयामि जनं समम् ।
* प्राह सद्गुरुरित्थं तत् सत्यं सत्यं न संशयः ॥१४-६४॥

साहब का कहना है कि यह विवेकात्मक ज्ञान भी परम आश्चर्यरूप है। यदि जीव हमारी (सद्गुरु की) बात को माने और सम्हारकर सुरती करे तो मैं अजहू (अबही भी) इसे कालफन्द से छोड़ा दूं ॥६४॥

## शब्द ६५.

हरि ठग ठगत सकल जग डोला, गमन करत मोसे मुखहुं न बोला ॥
बालापन के मीत हमारे, हमहिं तेजि कहँ चलेहु सकारे ॥

हरेर्ये वञ्चकास्ते हि वञ्चयन्तोऽखिलं जगत् ।
भ्रमंति सर्वसंसारे धावन्ते वञ्चितास्तथा ॥१५॥
गच्छन्तस्ते च कामेन कुमार्गेण कुवर्त्मसु ।
मां गुरुं नैव पृच्छंति सुमुखैर्वै कदाचन ॥१६॥
तीव्ररागादिहीनत्वाद् बाल्ये मित्राणि ये मम ।
यूयं ते कुत्र मां त्यक्त्वा स्वीकर्तुं याथ बन्धनम् ॥१७॥
मायामात्रमसत्तुच्छं सेवितुं किं हि सत्वरम् ।
याथ कल्ये त्वपृष्ट्वा मां सद्गुरुं सुखदं हितम् ॥१८॥
" * आत्मनो व्यतिरिक्तं हि प्राप्यते येन केनचित् ।
विद्यया कर्मणा वापि दुर्लभं नैव तत्स्मृतम्" ॥१९॥

---

* स पण्डितः स च ज्ञानी स क्षेमी स च पुण्यवान् । गुरोर्वचस्करो यो हि क्षेमं तस्य पदे पदे ॥ब्रह्मवैवर्तपु. ब्र. २३।७॥

* आत्मपु. अ. ४। ७२३॥

हरि ठग (आत्मविमुख करनेवाले वञ्चक गुरु) जग प्राणी को ठगते हुए संसार में स्वयं भ्रमते हैं, और ठगाने से ससारी भी भ्रमता है। यह ससारी कुमार्गादि में गमन करते समय मुझ (सद्गुरु) से मुख से बोलता भी नहीं है॥ तौ भी सद्गुरु का कहना है कि उत्कट रागादि के अभाव रहने के कारण तुम बालापन के तो हमारा ही मित्र हौ। फिर इस समय मुझे त्यागकर सवेरे कहाँ चले हौ॥

तुमहिं पुरुष वे नारि तुम्हारी, तुम्हरि चाल पाहन हु ते भारी॥
माटिक देह पवन के शरीरा, हरि ठग ठग से डरहिं कबीरा॥६५॥

> युष्माकं पुरुषो ह्यात्मा सा नारी या हि सेव्यते।
> बद्मनोऽपि जडत्वं च युष्मासु वर्तते यतः॥२०॥
> तां सेवध्वेऽजडं मत्वा वर्तध्वे तद्वशे ततः।
> स्वे स्वरूपे परिज्ञाते नैवं स्याद्वै कदाचन॥२१॥
> आत्मा यद्वा तवैवास्ते भार्यायामपि सर्वदा।
> जडबुद्धित्वाच्च तं मत्वा देहेऽशुद्धे हि सज्जसे॥२२॥
> मृण्मयेऽशुभदेहेऽस्मिन् प्राणप्रायशरीरके।
> आसक्तत्वात्सदा यूयं बिभीथ वञ्चकाद्धरेः॥२३॥
> आत्मनोऽज्ञानतो बन्धभयखेदभ्रमादिकम्।
> ज्ञाने स्यादक्षया शान्तिरभयो मोदते सुधीः॥२४॥
> आत्मानं यो यथा वेद सम्यग् वा यदि वाऽन्यथा।
> यथादर्शनमेवासौ फलमाप्नोति पूरुषः॥२५ ६५॥

तुमही (तेरा आत्मा ही) सब पुरी देहों में सोने विराजनेवाला पुरुष है (स्वतन्त्र है) और जिनसे मिलने चले हौ, वे सब एकदेशी परतन्त्र होने से तुम्हारी नारी हैं। परन्तु इस बात का विवेक विना

तुम्हारी चाल (व्यवहार) पाहन (पत्थर) से भी भारी (अधिक जड़ता युक्त) है॥ क्योंकि उपचय (वृद्धि) आदियुक्त माटी के स्थूल देह, और प्राणरूप पवन के सूक्ष्म शरीररूप अपने को समझने से तथा हरि ठग के वश में होने से सब कबीरा (जीव) डरते हैं। और भयभीत होकर जहाँ तहाँ जाते है॥५५॥

## शब्द. ६६

हरि ठग जगत ठगौरी लाई।
हरिक वियोगे कस जियहु (रे) भाई॥
(को) काको पुरुष कवन (का) की नारी।
अकथ कथा यम दृष्टि पसारी॥

हरेर्हि तस्करैर्धूर्तैर्वञ्चकत्वमनर्थदम्।
आनीतमत्र संसारे तस्माद्विरहिणो हरेः॥२६॥
सर्वेऽभवन्निमे जीवा विह्वला ज्ञानवर्जिताः।
स्त्रीपुत्रादिपराः शोकमोहरोदनपीडिताः॥२७॥
तानाह सद्गुरुर्यूयं हरेर्विरहिणः सदा।
जीवथ भ्रातरः केन प्रकारेणात्र संसृतौ॥२८॥
आत्मैवास्त्यजरो नित्यो विकारादिविवर्जितः।
नज्ञाने वर्तते जन्तुर्नित्यचैतन्यमूर्तिना॥२९॥
कः कस्याः पुरुषः का च नारी कस्यात्र विद्यते।
कथा ह्यकथनीयेयं यमदृष्टिः प्रसारिता॥३०॥
"चित्तसंमोहमात्रेऽत्र§ लोकोऽयं परिखिद्यते।
दिङ्मोहाकुलविज्ञानो नष्टमार्ग इवाध्वगः" ॥३१॥

§ बृ. वार्तिक. २।१।६७॥

हरि ठगों ( वञ्चक गुरु मनमायादिक ) संसार में ठगौरी ( ठग्गी व्यवहार ) को लाया है, जिससे सब हरि के वियोगी हुए हैं। परन्तु रे भाई! हरि ( सर्वात्मा राम ) के वियोग ( अज्ञान ) रहते किस प्रकार जीते हो वा जी सकते हो। हरि की प्राप्ति बिना कौन किसका रक्षक पुरुष है वा कौन किसे सुख देनेवाली स्त्री है। यह सब तो अकथ माया की कथारूप और पसारी ( फैली ) यमदृष्टि रूप हैं॥

(को) काको पुत्र कवन (का) को बापा। को रे मरै को सहै संतापा॥

कः कस्य वल्लभः पुत्रः पिता वा विद्यतेऽत्र कः।
म्रियते कश्च संतापैरुपवासं करोति कः॥३२॥
मोहमूलमिदं सर्वमात्मा चाऽस्त्यजरोऽमरः।
न पिता नापि पुत्रोऽयं स्त्रीपुंसादिभिदाऽत्र न॥३३॥
"न बन्धुरस्ति§ युष्माकं भवन्तो नैव कस्यचित्।
संगताः पथि चैते हि दाराबन्धुसुहृज्जनाः॥३४॥
एकः प्रसूयते जन्तुरेक एव प्रलीयते।
भुंक्ते हि सुकृतं चैक एक एव च दुष्कृतम्॥३५॥
एवं व्यवस्थिते लोके कः कस्य स्वजनो जनः।
को वा परजनः कस्य मोह एव च केवलम्॥३६॥
न माता न पिता कश्चित्कस्यचिच्चोपपद्यते।
दानमध्ययनं जन्तुः स्वकर्मफलमश्नुते"॥३७॥

कौन किसका प्यारा पुत्र है, कौन किसका बाप है, कौन मरता है, कौन संताप ( शोकादि ) करता है, या उपवास करता है इत्यादि। ये सब मिथ्या माया मोह मात्र और यमदृष्टि रूप हैं॥ क्योंकि ( मम

§ इतिहाससमुच्चये।

भार्यास्ति पुनश्च विभवो मे पुमांस्तथा। बन्धवः सुहृदश्चैवं वदन्त बाधते मम: ॥ ) इतिहाससमुच्चये ॥

ठगि ठगि मूल सबन को लीन्हा। राम ठगौरी काहु न चीन्हा ॥
कहहिं कबिर ठग सो मनमाना। गई ठगौरी जब ठग पहिचाना ॥६६॥

तैर्वंचीवञ्चयित्वा हि वञ्चकैरखिलाञ् जनान्।
मूलं चापहृतं तेषां तद्विदंति न केचन ॥३८॥
अज्ञानाद्वञ्चनायाश्च स्वात्मरामस्य मानवाः।
दधते वञ्चकैर्योगं मनसो नैव साधुभिः ॥३९॥
यदैव वञ्चकत्वं तु वञ्चकानां विबुध्यते।
तदा गच्छति तद्भीर्त्यं सद्गुरुश्चेति भाषते ॥४०॥
प्रीतिर्न येषां गुरोः पादपद्मे मूढैर्हठाद्ये वसन्तीह लोके।
तैर्वञ्चितास्ते भ्रमन्त्येव तावज्ज्ञानेन सम्यग् विमुक्ता भवंति॥४१॥
ज्ञानं गुरूणां वचोभिः सुलभ्यं तस्माद्विहायैव सङ्गो हि तेषाम्।
प्रीतिः सदा साधुवाक्ये विधेया सेव्यं सदा पादपद्मं गुरूणाम् ॥४२-६६.

इति हनुमद्दासकृतायां शब्दसुधायां सद्गुरौ विश्वासं विना वञ्चकादौ विश्वासादिवर्णनं नाम पञ्चविंशतितमस्तरङ्गः ॥२५॥

वञ्चकों ने सबके मूलधन को ठगकर नष्ट किया। और विवेक विना सर्वात्मा राम की ठगौरी ( वञ्चना ) को किसीने चीन्हा ( पहचाना ) नहीं। उलटा उन ठगों से ही सबका मन माना ( प्रेम किया )। परन्तु जो कोई ठग को पहचाना, उससे ठगौरी दूर हो गई। " विज्ञाय सेवि तश्चौरो मैत्रीमेति न चोरताम् "॥ पञ्चदशी ॥

इति सद्गुरु में विश्वास विना मोहादि प्रकरण ॥२५॥

## शब्द ६७, हरिजन का व्यवहार और आत्मावलम्बन प्र. २६.

हरिजन हंसदशा लिये डोलै । निर्मल नाम चूनि चुनि बोलै ॥
मुक्ताहल लिये चोंच लभावे । मौन रहै कि हरि यश गावै ॥

हरेर्भक्ता हि ये तज्ज्ञा धृत्वा हंसदशां हि ते ।
विचरन्ति च भावन्ते विविच्य विमलं पदम् ॥१॥
" त्यक्त्वा पुत्रादिकं सर्वं योगमार्गव्यवस्थितः ।
इन्द्रियाणि मनश्चैव कर्षन् हंसोऽभिधीयते" ॥२॥
मोक्षाख्यायै सुमुक्तायै ते मनो दधते सदा ।
मौनास्तिष्ठंति यद्वा ते गायन्त्येव हरेर्यशः ॥३॥
तटस्थस्य हरेर्भक्ता यद्वा सत्त्वदशायुताः ।
विचरन्तीह संसारे रामकृष्णौ वदंति च ॥४॥
मुक्त्यै चतुर्विधायै ते दधते स्वं मनस्तथा ।
मौनास्तिष्ठंति यद्वा ते गायंति हरिकीर्तिकाम् ॥५॥

हरिजन ( सर्वात्मा हरि के भक्त लोग ) हंसदशा ( विवेकादिमय शुद्ध धारणा ) को लेकर डोलते ( विचरते ) हैं। और निर्मल ( शुद्ध ) नामों ( शब्दों ) को चुन २ कर बोलते हैं ॥ मोक्षरूप मुक्ताहल ( मणि) के लिये चोंच ( मन ) को लभाते ( नम्र करते ) हैं। और मौन रहते हैं या हरि का ही यश को गाते हैं ॥

मानसरोवर तट के बासी । रामचरण चित अन्त उदासी ॥

सत्संगादौ कथायां च पुण्ये मनःसरस्तटे ।
विज्ञा वसंति रामाख्यदेशिकेन्द्रपदे रताः ॥६॥
रामे यच्चरणं तत्र चित्तमस्य प्रतिष्ठितं ।
अतः सदैव ते शुद्धाः सद्रामे विचरंति हि ॥७॥

चित्तं स्वं दधते तत्र विरक्ता वीतमत्सराः ।
उदासीनाश्च* तिष्ठंति स्वान्ते विगतकल्मषाः ॥८॥
मानस्याश्च कथाया वा वसंति निकटेऽन्यके ।
रामचन्द्रस्य चरणे चित्तानि दधते सदा ॥९॥
स्वान्ते तिष्ठन्त्युदासीना अन्यस्मात्कर्मणस्तथा ।
राजसात्तामसाच्चैव सात्त्विके निरता सदा ॥१०॥

हंस हरिजन सत्संग पुण्यकथा आदि रूप मानसरोवर का तट के वासी होते हैं । और सद्गुरु रूप राम के चरण में चित्त रखते हैं । अन्तःकरण से उदासीन ( विरक्त ) रहते हैं । या सगुण राम के उपासक राम के चरण में चित्त रखते हैं इत्यादि ॥

कागा कुबुधि निकट नहिं आवै । प्रतिदिन हंसा दर्शन पावै ॥
क्षीर नीर का करै निवेरा । कहहिं कबीर सोइ जन मेरा ॥६७॥

कुबुद्धिजनकाकाश्च नायांति विज्ञसन्निधौ ।
हंसानां दर्शनं नित्यं प्राप्यते तैः स्वभावतः ॥११॥
क्षीरनीरवदात्मादेर्विवेकं ये हि कुर्वते ।
सैव प्रोक्तो जनोऽस्माकमित्येवं भाषते गुरुः ॥१२॥
हंसाश्च दर्शनं नित्यं प्राप्नुवंति स्वभावतः ।
स्वात्मनः परदेवस्य कुबुद्धिस्तत्र याति नो ॥१३॥
कुबुद्धयोऽथवा काका राजसास्तामसा नराः ।
अवैष्णवा न यान्त्येते सन्निधौ वैष्णवस्य हि ॥१४॥

* निरपेक्षा रागद्वेषादिरहिताः । किञ्च " तस्योदिति नाम " छा.. १। ६।७॥ इति श्रुत्यनुसारेण ब्रह्मनिष्ठा इत्यर्थः ॥

वैष्णवाः शुद्धवेषा ये तेषां तु दर्शनं खलु ।
नित्यं कुर्वंति ते भक्ता नान्येषामपि सत्कृतिम् ॥१५॥
गुरुभक्ताश्च ये तज्ज्ञास्ते ह्यात्मानात्मनोः सदा ।
विवेकादि प्रकुर्वंति कबीरो भाषते गुरुः ॥१६-६७॥

कुबुद्धि काक उनके पास नहीं आते हैं । इससे वे हंसलोग प्रतिदिन हरि का दर्शन पाते हैं । या हरिजन लोग हसों का ही दर्शन पाते हैं ॥ साहब का कहना है कि जो लोग क्षीरनीर की नाईं आत्मानात्म का विवेक करते हैं वेही लोग वस्तुतः मेरा जन (गुरुभक्त) हैं, इसी विवेक के बिना जीव विकल हुए फिरते हैं, और इसीसे परम शान्ति पाते हैं । इत्यादि ॥६७॥

## शब्द ६८.

आपन आश किजै वहुतेरा, काहु न मर्म पावल हरि केरा ॥

महाशां पौरुपस्यैव कुर्वतां हृदि सज्जनाः ।
तत्त्वं न विन्दते कोपि हरेः स्वपौरुषं विना ॥१७॥
पौरुषाणामभावेन विचारादिशमात्मनाम् ।
न केऽपि वञ्चकास्तत्त्वं हरेर्विन्दंति तत्त्वतः ॥१८॥
पौरुषेण विना नैव वेदिष्यंति जना हितम् ।
कर्तव्यं पौरुषं तस्मात्सुविचारादिलक्षणम् ॥१९॥
" * चिरमाराधितोऽप्येष परमप्रीतिमानपि ।
नाविचारवतो ज्ञानं दातुं शक्नोति माधवः ॥२०॥
मुख्यः पुरुषयत्नोत्थो विचारः स्वात्मशुद्धये ।
गौणो वरादिको हेतुर्मुख्यहेतुपरो भव ॥२१॥

* यो. वा. ५। ४३। १०-११-३४॥

वरमाप्नोति यो वाऽपि विष्णोरमिततेजसः ।
तेन स्वस्येव तत्प्राप्त फलमभ्यासशालिनः" ॥२२॥

हे मनुष्यो ! अपने विचारादि रूप पुरुषार्थ की बहुतेरा (भारी) आशा करो। इसके विना किसीने हरि का मर्म (भेद) नहीं पाया ॥

इन्द्रिय कहाँ करै विश्रामा । सो कहँ गय जो कहते रामा ॥
सो कहँ गय जो हते सयाना । होय मृतक वहि पदहिं समाना ॥

पौरुषेण विना केषामिन्द्रियाणि कदा पुनः ।
विश्राम्यंति कुत. कुत्र तच्च जानीत सज्जनाः ॥२३॥
पौरुषादि विना रामनाममात्रपरा नराः ।
गताः कुत्र च किं लब्धं तैरित्थ चिन्त्यतां मुहुः ॥२४॥
कुशला योगिनो येऽत्र तेऽपि मृत्वाऽगमन् कुतः ।
आत्मज्ञानं विना तज्ज्ञा इत्यपि प्रविचार्यताम् ॥२५॥
सर्वे मृत्वा गताश्चेते स्वेनेव कल्पिते पदे ।
परोक्षे नैव चाध्यक्षे स्वात्मरूपे परेश्वरे ॥२६॥
स्वपौरुषं विना यद्वा लभ्यते न हरिर्हि यः ।
तत्रचेन्द्रियविश्रान्तिर्लभ्यः स रामजापिभि ॥२७॥
ज्ञानयोगेन लभ्यः स ततो यान्त्यत्र ते बुधाः ।
जीवन्नेव मृतिं प्राप्य ह्यभिमानविधूननात् ॥२८॥

विचारादि पुरुषार्थ विना इन्द्रियाँ भी कहाँ विश्राम करती (उपरत होती) हैं। जो केवल रामनाम मात्र कहते हैं, सो कहाँ गये। जो सयान हते (थे) सो कहाँ गये इत्यादि विचारकर समझो कि अन्य की आशा करनेवाले मृतक होकर, उसी अन्य में समाये वा लीन हुए। अपरोक्ष निजतत्त्व को नहीं पाये ॥

रामानन्द राम रस मांते । कहहिं कबिर हम कहि कहि थाके ॥६८॥

तटस्थरामरसिकास्तथापि बहुसज्जनाः ।
प्रमत्तास्तद्रसेनैव भोगकामा भवंति च ॥२९॥
"× कामं कामयमानानां यदि कामः प्रसिद्ध्यति ।
ततोऽपि परमं कामं भूयो विन्दति ते पुनः ॥३०॥
कामानभिलषन् मोहान्नश्वरं सुखमेधते ।
श्येनालयतरुच्छायां व्रजन्निव कपिञ्जलः" ॥३१॥
लालयित्वा विमोक्षाय सदा सद्गुरुरश्रमत् ।
न शृण्वंति जना नैव पौरुषं स्वं प्रकुर्वते ॥३२॥
ब्रह्मानन्दात्मके शुद्धे रामानन्देऽन्यसज्जनाः ।
निमग्ना ज्ञानिनस्तत्र शृण्वन्त्यन्येऽविवेकिनः ॥३३॥
पौनःपुन्येन तच्चोक्त्वा सदा सद्गुरुरश्रमत् ।
न मन्यन्ते नरास्तद्धि परं तत्त्वं सुनिश्चितम् ॥३४-६८॥

साहब का कहना है कि हमलोग कह २ कर थक गये, परन्तु परोक्ष राम से आनन्द माननेवाले रामानन्द लोग उसी तटस्थ राम के रस (प्रेम) से माते रहते हैं। हमारी बात नहीं सुनते हैं॥ या सर्वात्मा राम में मग्न रहनेवाले उसी आनन्द से मस्त रहते हैं इत्यादि ॥६८॥

## शब्द ६९.

ऐसे हरि से जगत लरतु हैं। पन्नग कतहुं गरुड धरतु है॥

तटस्थहरिणा सार्द्धमित्थं संसारिणः सदा ।
युद्ध्यन्ते हि यथा सर्पो युध्येतात्र गरुत्मता ॥३५॥

× पद्मपु. सृष्टिखं. १९।५७-५८॥

कृत्वापि यद्युयत्नं च नैव तं स्ववशे किल ।
कर्तुं शक्नोति वै मूढो रूढः संसारवर्त्मसु ॥३६॥
विवेकादि विना कोऽथ धर्तुं शक्नोति माधवम् ।
स्ववशे पन्नगः कुत्र वैनतेयं भरेत्स्वयम् ॥३७॥
" विचारोपशमाभ्यां§ हि न विना साध्यते हरिः ।
विचारोपशमाभ्यां च मुक्तस्याब्जकरेण किम्" ॥३८॥
विवेकबलयुक्तस्य त्वकामस्य मनस्विनः ।
हरिः स्वयं वशे भूत्वा वर्तते भूतभावनः ॥३९॥

विवेक विनाशादि विना जो संसारी लोग तटस्थ हरि को स्ववश करने के लिये मन्त्रादि शास्त्रों से युद्ध करते हैं, सो इस प्रकार लड़ते (युद्ध करते) हैं कि जैसे कहिं पन्नग (सर्प) गरुड़ को धरने के लिये उद्यम करता हो ।

मूस बिलाई कैसन हेतू । जम्बूक करे केहरि सो खेतू ॥
अचरज एक देखल संसारा । श्वनहा खेदु कुञ्जर असवारा ॥
कहहिं कबिर सुनु सन्तो भाई । इहे सन्धि काहु बिरले पाई ॥६५॥

मूषिकस्य बिडालेन कीदृशी प्रियता तथा ।
जम्बुको वा कथं सिंहैः सह युद्धं करिष्यति ॥४०॥
" हविर्भुजां+ हि देवानामप्रियं मर्त्यवेदनम् ।
मर्त्यास्तत्त्वं न जानंति विघ्नैर्दैवकृतैर्हताः " ॥४१॥

§ यो. वा. ५।४३।२३॥ न चैतदिष्टं देवानां मर्त्यैरुपरि वर्तनम् । तस्मान्मुमुक्षुर्देवादीन् सम्यगाराध्य यत्नतः । उन्मुक्तबन्धनस्तैः सद्मापितसे-ज्ज्ञानमात्मनः ॥ बृ. वार्तिकम् १।४।१५८१॥

+ अनुभूतिप्रकाशः । प्र. ११।१३॥ तस्मादेषां तन्न प्रियं यदेतन्मनु-

देवाद्यैः म्रियतां सर्वे वाञ्छंति मूढमानसाः ।
कालादीनपि जेतुं च विवेकादि विनैव हि ॥४२॥
अहो आश्चर्यमेतद्यत्स्वर्गपृष्ठे स्थितं हरिम् ।
मनुष्याः स्ववशे कर्तुं चेष्टन्ते बहुधा तथा ॥
यथा श्वा कुञ्जरस्थं वै विद्रावयितुमीहते ॥४३॥
सद्गुरुश्चाह शृण्वन्तु सर्वे ये सज्जना हितम् ।
इदं केऽपि रहस्यं वै विन्दन्ते पुण्योत्तमाः ॥४४॥
सर्वे देवा वशे तस्य यस्य कामो न विद्यते ।
काम एव यतः सर्वान् कुरुतेऽवशगान्त्सदा ॥४५॥६९॥

इति हनुमद्दासकृतायां शब्दसुधायां हरिजनव्यवहारात्मावलम्बन-वर्णनं नाम षड्विंशतितमस्तरंग ॥२६॥

अल्पज्ञ मनुष्यरूप मूसा का हेतु ( प्रयोजन-प्रेम-सुसाधन ) मायावी देवादि बिलाई से कैसे सिद्ध हो सकता है । आश्चर्य है कि जम्बुक तुल्य मनुष्य सिंह तुल्य कालादि से खेत ( युद्ध ) करता है ॥ और यह भी आश्चर्य है कि श्वानतुल्य मनुष्य कुंजरस्थ तुल्य स्वर्गस्थ देवादि कालादि को खदेडना ( भगाना ) चाहता है । और इस सन्धि ( मर्म-भेद ) को भी कोई विरला जानता है इत्यादि ॥६९॥

इति हरिजन का व्यवहार और आत्मावलम्बन प्रकरण ॥२६॥

---

ष्या विदुः । बृ. १।४।१०॥ इति श्रुतेर्व्याख्यानभूतोऽयं श्लोकः । देवकृत-विघ्नश्च कर्मानुसार एवेति न तेषां दोष इति वार्तिके स्पष्टमिति दिक् ॥

## शब्द ७०, वर्तमान संसार की दशा प्र. २७.

को अस करै नगर कोतवलिया । मांस फैलाय गीध रखवरिया ॥
मुस भौ नाव मझार कनहरिया । सोवै दादुल सर्प पहरुआ ॥

ईदृशे नगरे कोऽत्र यामिकत्वं करोतु वै ।
यत्र मांसं सुविस्तीर्णं गृध्रोऽस्ति रक्षकस्तथा ॥१॥
मांसानि विषयाः संति गृध्रास्तद्भोगलोलुपाः ।
रक्षकत्वेन सर्वैर्हि सम्मता विषयात्मकाः ॥२॥
मूषको यत्र नाव्योऽस्ति मार्जारोऽस्ति च नाविकः ।
तत्रापि यामिकत्वं हि विद्यते चातिदुर्लभम् ॥३॥
आखुर्यः स शिष्यो यो निरर्थव्यवहारवान् ।
गृहासक्तोऽपि संसारसिन्धुं तरितुमिच्छति ॥४॥
स्वार्थसाधनको यश्च मांसाशी लुब्धकस्तथा ।
वैडालव्रतिकः कामी त्वाखुभुक् स गुरुः शठः ॥५॥
अहो शेते च मण्डूकः सर्पस्तद्रक्षको मतः ।
तत्रास्य यामिकत्वं च वर्तते बहु दुष्करम् ॥६॥
स्वावासनोऽल्पशक्तिश्च मण्डूक इह कथ्यते ।
प्रेताद्याः संति सर्पाश्च रक्षकत्वेन सम्मताः ॥७॥

अस ( ऐसा ) नगर (नगरी–संसार ) में कोतवलिया ( पहारेदार–जगानेवाला– गुरुपन ) कौन करै । मांस ( विषय ) फैलाया है । और गीध ( विषयी लोलुप ) रक्षक बने हैं । मुस ( चूहातुल्य विषयासक्त निरर्थक व्यवहारी शिष्य ), नाव ( उपदेश नौका से तरनेवाला शिष्य ), मझार ( स्वार्थी मांसाशी गुरु ) ,कनहरिया ( केवट–मलाह पार उतारने वाला ), दादुर (अल्पशक्ति सवासन मनुष्य) सर्प, (कुदेव भूतप्रेतादि) ॥

बैल वियाय गाय भौ बाँझा। बछवहिं दूहैं तिन तिन साँझा॥
निति उठि सिंह सियार से जूझै, कबिरक पद जन विरला बूझै॥७०॥

सूते वै वृषभो वत्सं वन्ध्या गावोऽभवंस्तथा।
वत्सास्त्रिसृषु दुह्यन्ते सन्ध्यासु मानवैः सदा॥८॥
अहो वै वृषभो ज्ञेयो वर्द्धते स निरन्तरम्।
सत्यो वाण्यश्च या गावो याश्च विद्यात्मिकाः शुभाः॥
ताः सर्वा वन्ध्यतां याताः सत्यं न सुवते फलम्॥९॥
अतः सर्वे विदन्त्येते मायाकार्यानृतं नराः।
फलं तस्माच्च वाञ्छन्ति ते सदैवामृतात्मकम्॥१०॥
अहो सिंहसमोऽप्येष मानवो मोहसंकुलः।
जम्बुकै र्युध्यते सार्द्धं प्रेताद्यैर्विजिगीषया॥११॥
विवेकादि विना नैव सद्गुरोरुपदेशनम्।
केऽपि जानंति तज्ज्ञास्तु जानंति ह्यनपायिनम्॥१२॥७०॥

बैल ( जडबुद्धि मनुष्य, उसका दुष्ट मन ) बिआता ( बढ़ता ) है। गाय ( *सत्य वाणी विद्या* ) बाँझ ( *वध्या निष्फल* ) हो रही है। बछवा ( मायिक वस्तु ) को तीन २ सध्या दुहता ( ध्याता—जानता—भोगता ) है॥ सिंह ( विवेकादि में समर्थ मनुष्य ) सदा सियारतुल्य ( कुदेवादि ) से युद्ध करता है, उन्हें वश में करना चाहता है। इससे सद्गुरु का उपदेश को विरला बूझता है॥७०॥

## शब्द ७१.

हंसा संशय छूरी कुहिया। गैया पिवै बछरुअहिं दुहिया॥
घर घर सावज करै अहेरा, पारथ ओटा लेई।
पानी माँह तलफ गौ भूभुरि, धूरि हिलोरा देई॥

भो हंसाः! संशयोऽज्ञानं कर्तरी घातुका मता।
विद्यागावं पिवत्येव वत्सं दोग्धि सुखं हितम् ॥१३॥
संशयाज्ञातबुद्धिर्वा स्वानन्दक्षीरसंयुतः।
जीवो गौर्मोहत. कार्ये सुखमत्वा हि दोग्धि तत् ॥१४॥
दुग्धं पिबति तस्यैव विषयानन्दलक्षणम्।
आत्मानन्दं न वेत्त्येव संशयेन पराहत. ॥१५॥
इन्द्रियाद्या शरव्या ये वाधनार्हाः सदैव हि।
आखेटं कुर्वते शरव्जीवाना संशयात्तु ते ॥१६॥
भीताश्च प्राणिनः सर्वे स्वेन्द्रियादेः सुरक्षका।
स्वात्मत्राणस्य सिद्ध्यर्थं देवादीनाश्रयति हि ॥१७॥
नित्यानन्दजले तीव्रतापपापादि भाषते।
विरसो विषयो दत्ते त्वानन्दस्य परंपराम् ॥१८॥

हे हंसा (जीव वा विवेकवान्)! संशय कुहिया (घातक) छूरी है, सोई विद्या गाय को पीता (निगलता) है। तथा हित सुखरूप वछरू को दूहता (नष्ट करता) है। या स्वयमानन्द दूध युक्त जीव गैया मायिक वस्तुरूप वछरू का दूहता पीता (सेवता-भोगता) है॥ घर २ (सब देह) में सावज (इन्द्रियाँ—वा संशय) पारध (उनके रक्षक) जीव का अहेर (शिकार) करता है। और वह पारध किसी देवादि का ओटा (शरण) लेता है। और पानीमाहँ (आत्मा में) भूभुरि (राख में छिपी हुई तीव्र अग्नि तुल्य ताप पापादि), तलफगौ (बढ गया), धूरि (धूलितुल्य विषय) हिलोरा (आनन्द के तरग) देती है॥

धरती वरपै बादल भींजै, भीठ भया पौंराऊ।
हंस उडाने ताल सुखाने, चहले वेधा पाऊँ॥

अहो भूमिष्ठकर्माधैस्तृप्यंति सर्वदेवताः ।
स्वर्गादौ तत्र मर्त्यानामानन्दो भासतेऽधिकः ॥१९॥
वर्षत्येषा ततो भूः स मेघः क्लिद्यति तेन तु ।
महोच्चतप्रदेशोऽपि नावा तार्योऽभवत् तथा ॥२०॥
संशयस्य विकाशोऽयं बोधानां यो विपर्ययः ।
तेन हंसे समुत्क्रान्ते शुष्के देहसरोवरे ॥२१॥
गार्भनारकजम्बाले पादोऽस्य सज्जते मनः ।
पुन पुनर्न यावत्स स्वात्मानं लभते ध्रुवम् ॥२२॥
"*योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः ।
स्थाणुमन्येऽनुसंयति यथा कर्म यथा श्रुतम्" ॥२३॥
आशापाशनिबद्धश्च कर्मलोभातियन्त्रितः ।
धूर्तार्धैर्मोहितश्चैव सज्जते कर्मकर्दमे ॥२४॥

पृथ्वी बरसती है ( पृथ्वी पर मनुष्य कर्म करते हैं ) उससे बादल ( मेघ ) भींजता है ( स्वर्गीय देव तृप्त होते हैं ), भीठ ( उच्च भूमितुल्य स्वर्गादि ) पौराऊ ( अगाध आनन्दजलयुक्त ) भया ( मनुष्यों को प्रतीत होता ) है। हंस ( जीव ) के उड़ने ( प्राण त्यागने ) पर, ताल ( शरीरसर ) सुखाने ( सुख गया ) परन्तु गर्भ नरकादि चहले ( कादों, दलदल ) में अविवेकी के पाँव ( मन ) बेधा ( फस गया ) ॥

जब लगि कर डोले पगु चलये, तब लगि आश न कीजै ।
कहहिं कबिर जो चलत नदी से, तासु वचन का लीजै ॥७१॥

* कठो. २।५।७॥

भो हंस ! तव हस्तौ च पादौ यावत् क्रियाक्षमौ ।
शरीरे स्वस्थतायाश्च तावदाशां जहीहि वै ॥२५॥
आशां त्यक्त्वा विचारादि पौरुषेण च संशयान् ।
उन्मूलयैव समूलं त्वमात्मकामः सुखी भव ॥२६॥
नदीवत्स्यन्दमानस्य चलस्य परिणामिनः ।
देवादेर्विश्ववर्गस्य बोधकं वचनं च यत् ॥२७॥
तन्नैव गृह्यतां हंस ! किं तेन स्यात्प्रयोजनम् ।
चलचित्तस्य पुंसोपि वचनं नैव गृह्यताम् ॥२८॥
श्रोतव्यं हि सतां वाक्यं येन बोधो भवेद् ध्रुवम् ।
अचलस्यात्मतत्त्वस्य यस्मान्न भवसंक्रमः ॥२९॥
" यस्यैव खलु संपर्कात्प्रबोधानन्दसंभवः ।
गुरुं तमेव वृणुयान्नापरं मतिमान्नरः ॥३०॥
असंशयवतां मुक्तिर्न संशयवतां क्वचित् ।
तस्मात्संशयभेत्तारं गुरुं सम्यक् श्रयेन्नरः" ॥३१॥

विपर्ययज्ञानकुसंशयैर्जना विभिन्नचित्ता नहि जातु मत्पदम् ।
सुखं च विन्दंति परत्र वा क्वचिन्मुधैव धावंति तु सर्वतः सदा ॥३२॥
गुरून् समाश्रित्य तु ये बुधाः स्वयं विवेकतो हंसदृशामुपेत्य च ।
समूलमाच्छिद्य हि संशयादिकं तिष्ठंति तेऽनन्तसुखस्य भागिनः ॥
३२॥७१॥

इति हनुमद्दासकृतायां शब्दसुधायां वर्तमानसंसारदशाहंसप्रबोधनं नाम सप्तविंशतितमस्तरंगः । ॥२७॥

जबलगि ( जबतक ) कर ( हाथ ) डोलता ( समर्थ ) है । पगु ( पैर ) चलने में समर्थ है । तबतक किसीकी आशा नहीं करो । किन्तु विचारादि पुरुषार्थ करो । परमात्मा इसी वास्ते साधन दिया है ॥

और साहब का कहना है कि जो नदी के समान स्वयं चलायमान है, उसके बोधक वा उससे कथित वचन को क्या धारण करते हो, अचल तत्त्व के बोधक किसी अचल पुरुष के वचनों को सुनो ॥७१॥

इति वर्तमान संसार की दशा प्रकरण ॥२७॥

## शब्द ७२, निराकार के ज्ञान विना साकारासक्ति प्र. २८.

सावज न होय भाई सावज न होवे, वाके मासु भखै सब कोई ॥

युक्तप्रियशिरस्त्वाद्यैः शृङ्गाद्यैः संयुतस्तथा ।
लक्ष्यो न वर्तते भ्रातर्यद्बोधान्मुक्तिरीप्सिता ॥१॥
कल्पितोऽसावुपास्यात्मा ह्युपेयो निर्गुणः परः ।
अखण्डो नित्यबोधश्च शुद्धः सत्यो निरञ्जनः ॥२॥
अहो तथाप्यबोधेन सर्वे सांशस्य वस्तुनः ।
मांसं विषयजं सौख्यं भुञ्जते न स्वयंभुवः ॥३॥

* तस्य प्रियमेव शिरः । मोदो दक्षिणः पक्षः । प्रमोद उत्तरः पक्षः । आनन्द आत्मा । ब्रह्म पूच्छ प्रतिष्ठा । तैत्तिरीय. २ । ५ ॥ विषयदर्शनप्राप्तिभोगजा आनन्दाः, प्रियमोदप्रमोदशब्दैः कथ्यन्ते ॥ चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य । त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महोदेवो मर्त्यानाविवेश । ऋगुवेद अ. ८ वर्ग १० म. ४ अ. ५ । २५ ॥ शब्दब्रह्मणो यज्ञपुरुषस्य चानेन वर्णन महाभाष्ये वेदभाष्ये च द्रष्टव्यम् । नामोपसर्गाख्यातनिपाता', वेदा वा चत्वारि शृङ्गाणि, त्रयः कालाः सवनानि वा पादाः । नित्याऽनित्यशब्दौ ब्रह्मौदनप्रवर्गौ वा शीर्षे । विभक्तयः छन्दांसि वा हस्ताः । हृदि कण्ठे शिरसि बद्ध इत्यादि ॥

विवेके विषयानन्दो ह्यस्यैवांशः+ प्रसिद्ध्यति ।
भुञ्जते तं च सर्वेऽपि मन्यन्ते विषयैः कृतम् ॥४॥

जिस अचल आत्मतत्त्व के ज्ञान से मोक्ष होता है वह शिर शींग पूछादिवाला सावजरूप नहीं होता है, न सावजरूप है। और उसी निरवयव का मांस ( आनन्द ) को सब कोई भखता ( भोगता ) है ॥

सावज एक सकल संसारा, अविगति वाकी बाता ।
पेट फारि जो देखिय भाई, नाहिं कलेज न आंता ॥

लब्धव्यो लक्ष्य एको यो ह्यखण्डो वर्तते सदा ।
संसारे निखिलेऽप्यत्र तस्य वार्ताऽपि दुर्गमा ॥५॥
विवेकेन यदि त्वत्र दृश्यते केन धीमता ।
तदा यकृच्च वाऽन्त्राणि दृश्यन्तेऽत्र कदाचन ॥६॥
शरीरस्यैव ते भागा आत्मनो नैव केचन ।
निरंशो निर्गुणश्चातः स्वात्मा चैतन्यविग्रहः ॥७॥

वह एक अखण्ड भेदरहित सावज (लक्ष्य) सब संसार में व्यापक है, उसकी बात भी अविगति ( अगम्य—अथाह ) है ॥ यदि पेट फारि (हृदय में विवेक कर) के देखा जाय, तो उसमें कलेजा आंतादि कुछ नहीं प्रतीत होते हैं। क्यों कि ये सब शरीर के ही अवयव हैं, आत्मा के नहीं ॥

ऐसी वाकी मांसु रे भाई, पल पल मांसु बिकाई ।
हाड़ गोड़ नहिं घूर पवारे, आगि धुँआँ नहिं खाई ॥

+ एष ह्येवानन्दयाति । तैत्तिरिय. २।७॥

शिर सीग कछुवो नहिं वाको, पूंछ कहाँ वह पावै ।
सब पण्डित मिलि धंधे परिया, कबिर बनौरी गावै ॥७२॥

आनन्दात्माऽस्य यन्मांसं तच्च प्रतिपलं मुहुः ।
कर्मभिर्गृह्यते जीवैरद्भुतं तद्विभाति च ॥८॥
निरंशत्वाच्च तस्यास्थि पादो वा विद्यते पृथक् ।
प्रक्षेपोऽवकरे नातो विद्यते विषये स्वयम् ॥९॥
असङ्गत्वाच्च तद्दाहो वह्निना न च धूमकैः ।
संगोपि विद्यते क्वापि निर्विशेषः स विद्यते ॥१०॥
शिरः शृङ्गं न यस्यास्ति नान्यदङ्गं च किञ्चन ।
स लभेत कुतः पुच्छमिति वेदविदां मतम् ॥११॥
ये तु वेदानभिज्ञास्ते यद्यपि प्राज्ञमानिनः ।
मिलित्वा मोहतः सर्वे व्यवहारपरायणाः ॥१२॥
कवयोपि स्वतन्त्रवशा गायंति कल्पितं सदा ।
सनातनं न तं देवं महाश्चर्यमिदं खलु ॥१३॥७२॥

उसका आनन्दरूप मास ऐसा अद्भुत है कि वह पल२ में बिकता है। कर्मादि द्वारा जीव सब उसीकी प्राप्ति करते हैं। तौभी वह अक्षय एक रस रहता है ॥ और उस एक सावज के हाड़ गोड़ घूर (कुड़ाखाने) में पवारे (डाले) नहीं जाते, क्योंकि उसमें हाडादि नीरमाश हैं ही नहीं। और असंग होने से वह आग धुआँ आदि नहीं खाता है, किसी प्रकार विकारादिवाला सगी नहीं होता है ॥ शिर सींगादि कुछ भी उसके अंग अवयव नहीं हैं, तो वह पूछ कहा पा सकता है ॥ तौभी अविवेकी पुस्तकपाठी पण्डित सब भी शिर सींगादिवाला की ही भक्ति आदिरूप धंधे में लगे हैं, और कवि लोग उसी बनौरी (बनावटी—कल्पित) बात को गाते हैं इत्यादि ॥ या कबीर साहब उसे कल्पित कहते हैं ॥७२॥

## शब्द ७३.

देखहु लोगा हरि कि सगाई। माय धरि पूत धिया संग जाई॥
सासु ननद मिलि अचल जलाई। मदरिया के घर बिटिया जाई॥
मैं बहनोई राम मोर सारा। हमहिं बाप हरि पुत्र हमारा॥

भो लोकाः श्रीहरेः सङ्गो दृश्यतामद्भुतो महान्।
जगतो जननीं मायां धृत्वा स धावते धिया॥१४॥
स्वयं पूतोऽपि मायाया धारणात् पुत्रतां व्रजन्।
असङ्गोपि ससङ्ग' सन् बुद्ध्या गच्छति सर्वदा॥१५॥
सच्छिक्षया समृद्ध्या च चिदानन्देन संगतः।
मायिनोऽपि गृहे शुद्धे बुद्ध्या विशति निर्भयम्॥१६॥
असच्छिक्षादिभिः सैव कूटस्थेऽपि क्रियां मुधा।
कल्पयित्वा धिया याति देवादीनां गृहे भवे॥१७॥
अहं स्वच्छशीलोऽत्र रामस्त्वसूपतिः प्रियः।
बुद्धेर्जीवात्मना चेयमूष्यग्ज्ञात्मना तथा॥१८॥
श्यालो मे रामनामा स स्मारः संसारतारण'।
तस्य चाहं पिता जीवः पुत्रो मे जायते हरिः॥१९॥
इत्येवं बहुधा कल्पान् कल्पयन् मायया हरिः।
भ्राम्यत्यत्रैव संसारे जीवभूतः सनातनः॥२०॥

हे लोगो! हरि (जीवात्मा) के कल्पित सगाई (सम्बन्ध) को देखो, यह मायारूप-जगन्माता को धारण करके स्वय पूत (पवित्र) होता हुआ भी धिया (बुद्धि लड़की) के सग से जाता है (क्रिया करता है या जन्म लेता है) या माया (मोह) का धारण करके पुत्र बनता है, और बुद्धि के साथ गमन करता है॥ मिथ्योपदेश मायी

गुरु अविद्यादिरूप मासु ननद से मिलकर, यह कुबुद्धिरूप बिटिया (लड़की) अचल (अक्रिय) को भी चलाकर (उसमें क्रिया सिद्ध करके) मदरिया (मायावी) देवादि के घर (स्वर्गादि) में जाती है॥ जिससे जीव सब समझने लगते हैं कि मैं जीव (ऋष्यशृङ्गादि) बहनोई हूं। और राम मोर (ऋष्यशृंग जीव का) सार (श्याला) हैं। दशरथरूप हम (जीव) बाप हैं। और हरि हमारा (दशरथादि जीव का) पुत्र है इत्यादि॥

कहहिं कबीर ई हरि के बूता। राम रमै ते कुकुरिक पूता ॥७३॥

हरेरियं हि माया या दृश्यते व्यक्तरूपतः ।
तत्रैव रामबुद्ध्या यो रमते श्वा स मासुतः ॥२१॥
शुद्धे रामे तु यो धीमान् रमते सद्विवेकतः ।
स पूतो जगतां मूलब्रह्मभूतो न संशयः ॥२२॥
विश्वोऽयं तन्तुसंघोऽस्ति तस्य मूलं निरञ्जनः ।
रममाणस्तदात्मैव तत्रास्ते बुद्धिसंयुतः ॥२३॥
"माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद" ।
इत्येवं भगवद्वाक्यं विद्यते भारते स्फुटम् ॥२४॥
मायया * मोहितो देवः सर्वकर्त्तेति संश्रुतः ।
तस्मात्सर्वं विचित्रं तज्जातं विश्वं सुनिश्चितम् ॥२५॥
"परमात्माऽद्वयानन्दपूर्णः + पूर्वं स्वमायया ।
स्वयमेव जगद्भूत्वा प्राविशज्जीवरूपतः ॥२६॥
अनेकजन्मभजनात्स्वविचारं चिकीर्षति ।
विचारेण विनष्टायां मायायां शिष्यते स्वयम्." ॥२७-७३॥

---

*स एव मायापरिमोहितात्मा शरीरमास्थाय करोति सर्वम् ॥ कैवल्यो.॥

+ पञ्चदशी ।१०।१-३॥

साहब का कहना है कि जिसको लोग हरि राम मानकर उसमें रमते हैं। सो व्यक्त सावयव रूप हरि के पूत (शक्ति-या स्वांग) मात्र है। तावन्मात्र में रमनेवाले कुकुरी के पुत्र-तुल्य हैं (अव्यक्त व्यक्तिमापन्न मन्यन्ते मामबुद्धय । भ गी ७।२४)॥ अथवा व्यक्त को पूत समझकर सर्वात्मा राम में रमनेवाले ससार कुकुरी (तुतुसध-पोला) के पूत (मूल) पवित्र आत्मस्वरूप हैं ॥

## शब्द ७४.

हरि मोर पिय मैं राम कि बहुरिया । राम बड़ा मैं तन की लहुरिया ॥
हरि मोर रहट मैं रतन पिउरिया । हरि के नाम लै कातिन बहुरिया ॥
छौ मास ताग बरष दिन कुकुरी । लोग बोलै भल कातिन बपुरी ॥

हरिर्मेऽस्ति धवोऽहं च तस्यैव वनिता सती ।
इत्येवं रमते लोकः स्वात्मानं मन्यते नहि ॥२८॥
रामोऽस्ति च महांस्तस्मादहं सूक्ष्मो लघुस्तथा ।
शरीरेणापि खर्वोऽहं तस्य वर्ष्म त्विदं जगत् ॥२९॥
नन्तुयन्त्रं हरिर्मे स शुद्धा कार्पासिकाऽस्म्यहम् ।
तदाश्रितो हि सूक्ष्मात्मा तन्निष्ठश्च भवाम्यहम् ॥३०॥
प्रकल्प्यैवमयं जीवो धृत्वा नाम हरेस्तथा ।
स्वात्मानं सूत्रभावेन सम्पादयति सर्वदा ॥३१॥
षण्मासेश्च भवत्यस्य तन्तुतुल्याऽल्पभावना ।
अब्देन तन्तुसंघोऽसौ भावनैव विवर्धते ॥३२॥
एव कृते च लोका हि प्रशंसन्ति तमञ्जसा ।
अहो जीवेन सुद्धेन कृत कार्यं सुसङ्गतम् ॥३३॥

तटस्थ हरि मेरा प्रिय पति हैं। मैं उस राम की बहुरिया (स्त्री) हूं। वह राम बड़ा (श्रेष्ठ) हैं, महान् हैं। मैं तन (शरीर) की लहुरिया (छोटी) हूं॥ हरि मेरा रहटा (चरखा) हैं। मैं रतन तुल्य दीप्त पिउरिया (पियुनी) हूं। इस प्रकार समझकर बहुरिया (स्त्रीतुल्य) जीव हरि के नाम लेकर अपने आत्मा को सूत कातते (बनाते) हैं॥ जिससे छौ मास में तागा और बरष दिन में कुकुरी (पोला) होता है॥

कहहिं कबीर सूत भल काता। हरि रहटा नहिं मुक्तिक दाता॥७४॥

> महुरश्चाह सूत्रं तद् विद्यते भावलक्षणम्।
> चरं यद्यपि लोके न तथापि मोक्षलक्षणम्॥३४॥
> सूत्रयन्त्रसमो यद्वा सोऽरघट्टसमो हरिः।
> तटस्थो भ्रामको लोके सर्वात्मा मुक्तिदः सदा॥३५॥
> यद्भक्त्या भवनिस्तीर्णो भाति भासा भवेशवत्।
> भज तं निर्मलं राममात्मानं मुक्तलक्षणम्॥३६॥
> षड्विकारैर्विहीनं कं विकाराणां प्रवर्तकम्।
> सत्तया स्वप्रकाशेन रामं वन्दस्व कामदम्॥३७॥
> यद्भासा भास्यते सर्वं यद्भक्त्या पूज्यते तथा।
> युज्यते मुक्तयेऽवश्यं तं रामं सर्वदा भज॥३८॥
> येन धास्य जगत्कृत्स्नं यज्ज्ञानान्मुच्यते स्वयम्।
> तं वन्दस्व निजात्मानं राममानन्दविग्रहम्॥३९॥
> ईश्वराणां महेशं तं देवानां देवमुत्तमम्।
> जीवानां जीवभूतं च प्राणप्राणमहं भजे॥४०॥
> यः सूर्ये पुरुषो यश्च वह्नौ चक्षुषि वर्तते।
> अलिप्तः सर्वभूतसाक्षी पावनं तमहं भजे॥४१॥

मायामात्रं जगद्यस्माद्रज्जुसर्प इवाद्वयात्।
निर्विकारं निराकारं निरीहं तं सदाश्रये ॥४२-७४॥

कबीर साहब का कहना है कि यद्यपि यह सूत भलीभाँति काता गया है, परन्तु तत्रस्थ हरि संसारकूप में भ्रमण का हेतु रहटारूप हैं। मुक्ति के दाता नहीं हैं। या सूत के कारण नरखारूप हैं। मुक्ति पद के साक्षात्कारण नहीं हैं ॥७४॥

## शब्द ७५.

नरहरि लागि दव विकार कोइ, मिल न बुझावन हारा।
मैं जानों तोही सो व्यापे, जरत सकल संसारा॥

भो नर! त्वयि लग्नोऽयं विकारात्मा हरिर्महान्।
दावानलो न तस्यात्र प्राप्यते कोपि वारकः ॥४३॥
त्वयीवाय च संव्याप्य वर्तते भुवने ततः।
दह्यते सर्वविश्वोऽयं सहदेवनरासुरः ॥४४॥
नर! त्वं वा हरिः साक्षात् त्वय्यग्निस्त्विन्धनं विना।
संलग्नोस्ति विकारात्मा विना ज्ञानं न नश्यति ॥४५॥
जानाम्यहं त्वया विश्वं व्याप्तमस्ति चिदात्मना।
तज्ज्ञानेन विनैवैते, दह्यन्ते देहिनः सदा ॥४६॥

हे मनुष्यो! तुममें विकाररूप (कार्यरूप) हरि (हरणशील माया) रूप दवाग्नि लगी है, या हे नर! तुम हरिस्वरूप हो, तौभी विवेक विना तुममें विकार कामादिरूप दवाग्नि लगी है। और उसे बुझाने (शान्त करने) वाला कोई नहीं मिलता है॥ और मैं यह अच्छी तरह जानता हूँ कि तेरे ही समान संसारभर में यह अग्नि व्याप्त

-, इसलिये इससे देवादियुक्त यह सब संसार जल रहा है। या तेरा स्वरूप (आत्मा) से सब व्याप्त है, परन्तु उसके ज्ञान बिना सब जल रहा है ॥

पानीमॉह अग्नि को अंकुर, मिल न बूझावै पानी।
एक न जरै जरै नव नारी, युक्ति काहु नहिं जानी ॥

अहो आत्पमहानन्दे विकारात्माग्निकारणम् ।
जायते ह्यंकुरस्तीव्रो दुःखयोनिर्मनोमुखः ॥४७॥
अङ्कुरं चेदमन्यद्यदात्मा तस्मिन् वसन्नपि ।
न सम्मिलति तेनाथ न संशमयते च तम् ॥४८॥
किञ्च सैव न चैकोऽत्र दग्धो भवति वह्निना ।
नच नार्यस्तु दह्यन्ते प्राणाद्याश्च मनोमुखाः ॥४९॥
सद्युक्तिं नैव जानन्ति केपि मूढतमा नराः ।
अतो नात्र विवेकेन रक्षन्ति स्वं सदाव्ययम् ॥५०॥
आत्मतोये हि तापानामंकुरो चास्ति भाति च ।
स नैव प्राप्यते मूढैर्येन शाम्यति स क्षणात् ॥५१॥
अन्यदाहेप्यदाहोऽयं विना युक्तिं न कैश्चन ।
ज्ञायते तत्त्वतस्तेन नच नार्यो ज्वलंति हि ॥५२॥

आश्चर्य है कि आनन्दघन पानी में तापादि अग्नि के अंकुर वासना कर्मादि उत्पन्न होते हैं। और वह पानी न उस अग्नि अंकुर से मिलता है, न उन्हें बुझाता ( शान्त करता) है। किन्तु असंग साक्षी बना रहता है ॥ इससे वह पानी ही नहीं जलता है, किन्तु नव नारी ( प्राण अन्तःकरण ) भूख पियास शोकादि से जलते है। और आत्मा में भ्रम से ही तापादि प्रतीत होते हैं। उस भ्रम की निवृत्ति के लिये कोई अविवेकी युक्ति नहीं जानता है ॥

सहर जरे पहरू सुख सोवै, कहै कुशल घर मेरा।
पुरिया जरै वस्तु निज उबरै, विकल राम रंग तेरा॥
कुबजा पुरुष गले एक लागा, पूजि न मन की साधा।
करत विचार जन्म गौ खिसई, या तन रहल असाधा॥

नगरस्याऽस्य दाहेऽपि साक्षिरूपोऽस्य रक्षकः।
न नश्यति सुखं शेते तज्ज्ञो ब्रूतेऽत्र मङ्गलम्॥५३॥
नगरे दह्यमाने वा यथा कश्चिद्धि यामिकः।
स्वप्यात्सुखं वदेच्चैवं कुशलं मे गृहे सदा॥५४॥
तथा तापैः सदा व्याप्ते विश्वे कुगुरवः खलु।
शेरते च वदन्त्येवं क्षेममस्मद्गृहे दिवि॥५५॥
तापेऽत्र वर्तमानेऽपि देहात्मपुटकं सदा।
दंदह्यते न सद्वस्तु ह्याधिव्याधिरसायनम्॥५६॥
अतप्योऽस्ति सदात्मेति निश्चितं विदुषां मतम्।
तथापि रामरूपस्ते भाति विकलवद्धृदि॥५७॥
त्रिगुणः पुरुषः कुब्जो गले त्वेकोऽलगत्तव।
मनोरथो न तस्मात्ते पूर्णोऽभवद्दिनात्मना॥५८॥
तस्यैव च विचारेण कथाभिश्च बहून्ययुः।
जन्मानि नैव साध्योऽभूद्देहोऽयं नैव मानसम्॥५९॥

संसाररूप शहर ताप से जलता है, कुगुरु पहरु सुख से सोता है, और कहता है कि हमारे घर (स्वर्गादि) में सदा कुशल (आनंद) ही रहता है॥ यद्यपि तापों से देहरूप पुरिया (वेष्ठन) ही जलता है, निजस्वरूप वस्तु उबरता (बचता) ही है। तथापि तेरा रामरूप रंग (आनन्दाकार) विकल (अप्राप्त–शून्य) की नाईं भासता है॥ विवेक विना एक कुब्ज (त्रिगुण) पुरुष तेरे गले में लिपट गया है,

उसे तुम स्वामी माने हो, जिससे मन के साध्य ( इच्छा ) पूर्ण नहीं हुआ है ॥ उसीके विचार और किस्सा ( कथा ) में जन्म गया। जिससे यह देह भी असाध्य ( अवश ) ही रहा ॥

जानि बूझि जे कपट करत हैं, तेहि अस मन्द न कोई।
कहहिं कबिर सब नारि राम कि, गोते और न होई ॥७५॥

इत्थं ज्ञात्वापि ये मूढा वर्तन्ते कपटादिभि.।
मायिके त्रिगुणे मोहाद्रागद्वेषादिसंकुले ॥६०॥
न शुद्धे सच्चिदानन्दे तापपापविवर्जिते।
*तत्तुल्यो नैव मन्दोऽन्यो यो न जानाति किञ्चन ॥६१॥
अज्ञा विज्ञास्तु सर्वेऽमी स्वात्मज्ञानं विना नरा.।
नार्यो यस्य भवन्त्यत्र स मत्तोऽन्यो + न विद्यते ॥६२॥
ममैवात्मा विशुद्ध. सन् स्वामी निर्गुणरक्षक:।
देवदेवो हरिर्धाता तस्मादन्यो न कश्चन ॥६३॥
निरङ्गं सदासङ्गहीनं हरिं न विजानन्ति यावज्जनास्तावदत्र।
ससङ्गे च मायादिभङ्गे रमन्ते रमन्तेऽथ विज्ञा निजानन्दकन्दे ॥६४-७५॥

इति हनुमद्दासकृताया निराकारहरेर्ज्ञानं विना साकारासक्त्यादिवर्णन नामाष्टाविंशतितमस्तरङ्ग. ॥२८॥

जो लोग जानबूझकर भी कपट करते हैं, उन मायावियों के समान मन्द ( हीन ) कोई नहीं है। साहब का कहना है कि सब

* जानता तु कृत पाप गुरु सर्वं भवत्युत। अज्ञानात्स्वल्पको दोष प्रायश्चित्त विधीयते ॥ म. भा. शा. ३५ । ४८ ॥

+ स यो ह वै तत्परम ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति। मु ३।२।९॥

ससारी जिस राम की नारीतुल्य हैं, सो राम मेरे आत्मा से और (भिन्न) नहीं होता है ॥७५॥

इति निराकार के ज्ञान विना साकारासक्ति प्रकरण ॥२८॥

## शब्द ७६, लोभकृत जन्मादि और आशात्याग प्र. २९.

सुभागे किहि कारण लोभ लागे, रतन जन्म गौ खोये ।
पूर्व जन्म कर्म भूमि कारण, बीज काहेक बोये ॥

भो भोः सौभाग्यवँल्लोभः कस्माल्लगति ते हृदि ।
किं साध्यं तेऽस्ति लोभेन तद्धि शीघ्रं विचिन्त्यताम् ॥१॥
अनेनैव तु लोभेन रत्नभूतमिदं शुभम् ।
जन्म ते विफलं जातं नष्टो देहः कुधर्मसु ॥२॥
मतिमन्दान् हि लोभोऽयं बाधते न विवेकिनम् ।
सौभाग्यसंश्रिते होय कस्मात्स्याद्रत्ननाशकः ॥३॥
पूर्वजन्मनि तत्कर्म भूमौ जन्मकरं हि यत् ।
बीजभूतं कुतश्चोप्तं तत्त्वया ज्ञायतां सुधीः ! ॥४॥
लोभमूलमदः कर्म लोभोऽविद्यानिदानकः ।
कर्ममूलो ह्ययं देहः सर्वानर्थो यतो भवेत् ॥५॥
तस्माल्लोभं निराकृत्य समूलं स्वात्मबोधनः ।
सर्वानर्थविमुक्तः सन्नात्मनात्मनि तुष्यताम् ॥६॥

सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः। [illegible] भागवतोत्तमः ॥ भा.स्क. ११।२।४५॥ अहमेव [illegible] जगत्। इति यः सततं पश्येत्त विद्यादुत्तमोत्तमम् [illegible]

हे सुभागे लोगो ! किस कारण ( प्रयोजन ) के लिये लोभ के वश होकर गुण विषयादि में लगे हो। या लोभ तुममें क्यों लिपटा है इसे हटावो। इसने रत्न तुल्य इस जन्म को खोया ( नष्ट किया ) है। इस जन्म के पूर्व भी भूमि पर जन्म के कारणरूप कर्म के बीजों को तुमने क्यों बोया इस बात को शोचो, अर्थात् लोभ अज्ञानादि से ही काम क्रोधादि बीजों को बोया, उस लोभ को अब भी तो त्यागो॥

बुन्द से जिन पिण्ड साजेवो, अग्निहुं कुण्ड रहाया।
दशहुं मास माता के गर्भ हिं, बहुरि लागली माया॥
बालहूं ते वृद्ध हूआ पुनि, होनि रहा सो हूआ।
जब यम ऐहैं बांधि चलै हैं, नयनन भरिभरि रोया॥

लोभमूलं हि तत्कर्म कृत्वेदं ते कलेवरम्।
गृहं वीर्येण तत्राथावासयद्गर्भवह्निषु॥७॥
स्थित्वापि दशमासांस्त्वं स्वमातुरुदरे वहिः।
आयातोऽसि पुनर्माया संलग्ना ह्यभवत्त्वयि॥८॥
बालाद्यातोऽसि वृद्धत्वं भवितव्यमभूत्तथा।
आयास्यति यदा कालो बध्वा नेष्यति वै तदा॥९॥
तदा त्वं मोहवेगेन दुःखवेगेन पीडितः।
नेत्रयोरस्रमापूर्य विह्वलो रोरुदिष्यसे॥१०॥

लोभादिजन्य जिन कर्मों ने बिन्दु से पिण्ड (देह) को साजा (रचा) और अग्निकुण्ड गर्भादि में भी रखा॥ आश्चर्य है कि-दश मास माता के गर्भ में रहकर कष्ट भोगने पर भी बहुरि (फिर) भी माया लग जाती है। जिससे दुःख भूल गया, और लोभादि लग गये॥ लोग बालक से वृद्ध हुए, अवश्य होनी रही सो भी हुई। फिर जब यमराज आयेंगे, तब बांधकर चलायेंगे तो लोभियों को नेत्रों में आंसु भर २ कर रोना होगा॥

जीवन की जनि आशा राखहु, काल घेरे हैं श्वांसा।
बाजी है संसार कबीरा, चित चेति ढारहु पासा ॥७६॥

अतश्च जीवितस्याशां हृदि नैव निधीयताम्।
काल. श्वासं निरुध्यैव सदाऽत्रैव वितिष्ठते ॥११॥
अमूल्योऽवसरः प्राप्तः संसारे मानवे क्षितौ।
मायाद्यूते मनोऽक्षो हि सावधानेन नीयताम् ॥१२॥
लोभ प्रतिष्ठा पापस्य प्रसूतिर्लोभ एव च।
द्वेषक्रोधादिहेतुश्च स त्वया त्यज्यतां द्रुतम् ॥१३॥
लोभमूलो महामोहो माया लोभात्प्रवर्तते।
मानश्च मत्सरो दम्भस्तस्माल्लोभं परित्यजेत् ॥१४॥
"तेनाधीतं श्रुतं तेन तेन सर्वमनुष्ठितम्।
येनाशां पृष्ठतः कृत्वा निर्लोभत्वं समाश्रितम्" ॥१५॥

परार्थसर्वेह यशेन्द्रियः स्यादसुप्रियैस्त्वतमनाश्च तस्मात्।
नचेन्द्रियाद्युपपरो बुधः स्याद्यथा न वित्तेर्धिगमस्तथा स्यात् ॥१६॥
अयत्नलब्धैः परितुष्टचित्तो धनेष्वलुब्धो हतरागरोषः।
विनिद्रबुद्धिः कृतसर्वशुद्धिः स्वालोकमात्राद्विमल करोति ॥१७॥
स्वतन्त्रचारी न परानुरागी देहादिसंघे च सदा विरागी।
असङ्गशुद्धात्मपदे सुरागी भवेत्सदा वायुवदङ्ग गन्ता ॥१८॥
स्वच्छः प्रकृत्या मदमानहीनः स्निग्धस्वभावोऽपि सदैव शुद्धः।
कामादिदोषैर्नहि धर्षितश्चेन्न लिप्यतेऽसावपि पावयेच्च ॥१९॥
मुखेऽस्य चानन्दकलाऽविरास्ते स्वानन्दमत्युत्कटमुद्गिरन् सः।
आच्छिद्य दुःखाज्जनमानसं वै स्वानन्दमग्नं सहसा करोति ॥२०-७६.

इति हनुमद्दासकृताया शब्दसुधाया लोभकृतजन्मादेराशात्यागस्य च वर्णन नामैकोनत्रिंशत्तमस्तरगः ॥२९॥

इससे सद्गुरु का कहना है कि जीवन की आशा नहीं रखो, काल श्वाँस को घेर कर बैठा है ॥ और इस मानव तन का ससार श्रेष्ठ बाजी (दाव–मौका) रूप है। इसलिये अपने चित्त (मन) में अच्छी तरह चेति (सावधान हो) कर पासा ढारो (विचारादि करो) अर्थात् सावधानी से मन को आत्मनिष्ठ करके त्रिगुण माया को जीतो, जिससे मोक्षश्री का लाभ हो इत्यादि ॥७६॥

इति लोभकृत जन्मादि और आशात्याग प्रकरण ॥२९॥

## शब्द ७७, लोभ आशा से संसार वर्णन प्र. ३०.

(बावू) ऐसो है संसार तिहारो, ईहे कलि व्यवहारो।
को अब अनुख सहै निशिदिन को, नाहीं रहनि हमारो॥
स्मृति सोहाय सब कोइ जानै, हृदया तत्त्व न बूझै।
निर्जिव आगे सर्जिव थापे, लोचन कछू न सूझै॥

भो भ्रातस्तव बन्धोऽयमीदृशो लोभमूलकः।
कलेश्च व्यवहारोऽयं प्रत्यक्षः परिदृश्यते ॥१॥
इदानीं सहतां कोऽत्र कलहं काममूलकम्।
दुःखं रात्रिंदिवस्याथ त्वपराधं निरन्तरम् ॥२॥
रहस्यं मे न चात्रास्ति धारणा मे न विद्यते।
कुतश्चात्र मया स्थेयं विषमे दुःखसंकटे ॥३॥
स्वस्वमनोऽनुकूलान्तु स्मृतिं सर्वे विदन्ति हि।
हृत्तत्त्वं नैव जानंति चरंति विषमे ततः ॥४॥
निर्जीवस्याग्रतो मोहात्सजीवं स्थापयन्त्यथ।
हिंसन्ति नैव नेत्रैस्ते किञ्चित्पश्यंति मानवाः ॥५॥

हे बाबू! (प्यारे मनुष्यो!) तेरा यह ससार (जन्ममरणादि) ऐसो (लोभाशामूलक) है। और कलि का व्यवहार भी इहे (प्रत्यक्ष अनर्थरूप) है॥ अब (इस विवेक दशा में) रातदिन का इस अनुख (असह्य विग्रहादि) को कौन सहे, इसमें हमारी रहनी (धारणा) नहीं रह सकती॥ सोहाय (अपने मन के अनुकूल) स्मृति (धर्मशास्त्रविचारादि) को सब कोई जानते हैं। और हृदय में वर्त्तमान तत्त्व को नहीं समझते॥ इससे निर्जीव मूर्ति आदि के आगे सजीव प्राणों को थापते (अर्पण करते) हैं। इन्हें नेत्र से भी कुछ नहीं सूझता है॥

तजि अमृत विष काहेक अँचवे, गांठी बांधे खोटा।
चोरन दीन्हो पाट सिंहासन, साधुन से भौ ओटा॥

अहो त्यक्त्वाऽमृतं चैते ह्यहिंसाज्ञानलक्षणम्।
किं पिबन्ति विषं तीव्रं पापाज्ञानादिलक्षणम्॥६॥
तत्वं त्यक्त्वा त्वसत्तुच्छं गृह्णन्ति हृदये कथम्।
कामलोभवशादेतत्सर्वं जानीत सज्जनाः!॥७॥
कामलोभपरा नित्यं निद्राऽऽलस्यपरास्तथा।
विषयेच्छापरा मोहाद् भवंति श्रेयसश्च्युताः॥८॥
धर्मध्वंसी ह्ययं लोभः क्रोधः परमदारुणः।
अज्ञानं त्वन्धतामिस्रो नरको नात्र संशयः॥९॥
अज्ञानादियुताश्चैते तस्करेभ्यः सुपुष्कलम्।
पटं ददति सत्क्षौमं सिंहासनं तु पीठकम्॥१०॥
"ये* स्वधर्मादपेतेभ्यः प्रयच्छन्त्यल्पबुद्धयः।
शतं वर्षाणि ते प्रेत्य पुरीषं भुञ्जते जनाः"॥११॥

* म. भा. शा. २९।२९॥

तथाप्येते जना मूढा सुसत्कुर्वन्ति दुर्जनान् ।
साधुभ्यश्च निलीयन्ते द्वेषं वा कुर्वते हि तैः ॥१२॥

न मालूम ये लोग हृदय में वर्तमान अमृत को त्याग कर विषयादि विष को क्यों अचाते ( पीते ) हैं । और हिंसाकामादि खोटों ( असत्तुच्छों ) को क्यों गाठि में बांधते हैं ॥ इन लोगों ने चोरों को पाट ( सुन्दर वस्त्र ) और सिंहासन ( राजासन ) दिया है । और साधुओं से इन्हें ओट ( परदा, भेद ) भया ( पड़ा ) है इत्यादि ॥

कहहिं कबिर झूठहिं मिलि झूठा, ठगहिं ठग व्यवहारा ।
तीनि लोक भरिपूरि रहो है, नाहीं है पतियारा ॥७७॥

मिथ्याप्रलापिनो मिथ्याप्रलापेष्वेव तत्परैः ।
संमिलंति च धूर्ता वै धूर्तैर्व्यवहरंति हि ॥१३॥
संमेलो व्यवहारश्च तादृगेव जगत्त्रये ।
परिपूर्णो न सत्यस्य कोपि विश्वसिता नरः ॥१४॥
" ईश्वरानुग्रहादिभ्यः पुंसां स्वत्वसवासना ।
महाभयपरित्राणा द्विप्राणामेव जायते " ॥१५॥
ये च सद्वासनायुक्तास्ते हि लोकत्रयाद्बहिः ।
तिष्ठंति नात्र गण्यन्ते संसृतौ वै कदाचन ॥१६॥
ये हि सर्वाङ्गसद्भावाघन्वविद्यामयान् विदुः ।
कथं तेषु त आत्मज्ञा निमज्जेयुः कदाचन ॥१७॥
परिपूर्णः परात्मा वा त्रिषु लोकेषु सर्वदा ।
न तं केपि विजानंति धूर्ताश्चानृतिनो जनाः ॥१८-७७॥

इति हनुमद्दासकृतायां शब्दसुधायां लोभादिमूलकसंसारवर्णनं नाम त्रिसप्ततितमस्तरङ्गः ॥३०॥

साइय का कहना है कि झूठे लोग झूठों से मिलते हैं, ठग के साथ ठग व्यवहार करता है ॥ यही बात कलियुग मे तीनों लोक में भरपूर ( व्याप्त ) है, कोई सत्य का विश्वास करनेवाला नहीं है ॥७७॥'

इति लोभ आशा से असार वर्णन प्रकरण ॥३०॥

## शब्द ७८, त्रिगुणपर हरि की भक्ति आदि प्र. ३१.

रामगुण न्यारो न्यारो न्यारो ।
अबुझा लोग कहाँ लगि बूझै, बूझनिहार विचारो ॥
केते रामचन्द्र तपसी से, जिन यह जग भरमाया ।
केते कान्ह भये मुरलीधर, तिन भी अन्त न पाया ॥

गुणेभ्यः पर एवासौ रामः सत्यः सनातनः ।
अनन्तो नित्यतृप्तश्च परमानन्दविग्रहः ॥१॥
यद्वा सगुणरामस्य गुणाः सर्वे विलक्षणाः ।
संसारिजनसंघेभ्यस्त्रिलोक्यास्ते ह्यनन्तकाः ॥२॥
विवेकविकला लोका वेदिष्यंति कियद्गुणम् ।
कियन्तं वाऽगुणं विद्युस्तज्ज्ञाः केपि विदन्तु तम् ॥३॥
अनन्तोऽस्य गुणस्तद्वदनन्तो ह्यगुणः स्वयम् ।
देशकालादिभिश्चास्य नान्तः सर्वात्मता यतः ॥४॥
अतश्च प्रतिकल्पं ये रामचन्द्राः पृथक् पृथक् ।
अभवंस्तापसैस्तुल्याः परे यद्वा तपस्विनः ॥५॥
ये चाश्रमजगत्यां वै नरवज्ञानादिसिद्धये ।
यत्राऽमुहांश्च लोका वा रामबुद्धया निरन्तरम् ॥६॥
अभवंश्च कियन्तो ये कृष्णा वंशीविभूषिताः ।
नोऽविदंस्तेऽपि तन्नूनं रामस्यान्तं गुणस्य वा ॥७॥

सर्वात्मा अनन्त राम तीन गुण से न्यारा ( भिन्न ) है। या मायी सगुण राम के गुण सब संसार से विलक्षण अनन्त ही हैं। इस बात को अबुझा ( अविवेकी ) लोग कहाँतक बूझ ( समझ ) सकते हैं, बूझनि हारो ( विवेकियों ) को इस बात का विचार अवश्य करना चाहिये ॥ तपसी से ( तपस्वी के समान ) केते ( कितने ) रामचन्द्र हुए। जिन्होंने इस संसार में लोकरक्षा आदि के लिये भ्रमण किया। या अपने चरित्रों से लोग को भरमाया ( चकित किया ) ॥ मुरलीधर कितने कान्हा ( कृष्ण ) हुए, तिन्होंने भी सर्वात्मा राम का वा राम के गुणों का अन्त नहीं पाया, क्यों कि वे अनन्त हैं ॥

केते मच्छ कच्छ बाराह सरूपी, बावन नाम धराया।
केते बौध भये निकलंकी, तिन भी अन्त न पाया ॥
केते सिद्ध साधक संन्यासी, जिन बनवास बसाया।
केते मुनिजन गोरख कहिये, तिन भी अन्त न पाया ॥

कियन्तो येऽभवन् मत्स्याः कच्छपाश्चाभवंस्तथा।
वराहा वामनाश्चैव ह्यवतारा जगत्त्रये ॥८॥
कियन्तो बुद्धनामानः कल्किनाम्ना विभूषिताः।
अभवन्नाविदुस्तेऽन्तं गुणस्य वा परात्मनः ॥९॥
कियन्तो येऽभवँल्लोके सिद्धाश्च साधका नराः।
संन्यासिनो वनस्था ये मुनिसंघास्तपस्विनः ॥१०॥
गोरक्षाद्याश्च ये सिद्धा योगमार्गप्रवर्तकाः।
तस्यान्तं नैव ते जग्मुर्नैव देवा न दानवाः ॥११॥

इसी प्रकार मत्स्यादि अवतार और सिद्ध साधकादि कोई भी राम के गुण स्वरूपादि का अन्त नहीं पाये। क्यों कि ये सब अनन्त ही हैं॥

जाकी गति ब्रह्मा नहिं जानी, शिव सनकादिक हारे।
ताकी गति नल कैसे पैहैं, कहहिं कबीर पुकारे ॥७८॥

* यस्यान्तं नाविदद् ब्रह्मा मर्यादां वा कथञ्चन।
शिवोऽपि सनकादिश्चान्विष्य तं व्यथते स्म वै ॥१२॥
यद्गतिं नैव ते विदुस्तद्गतिं च नराः कथम्।
वेदिष्यन्तीति वदति कबीरो गुरुरादरात् ॥१३॥
त्रिषु धामसु यद्भोग्यं भोक्ता भोगश्च यद्भवेत्।
तेभ्यो विलक्षणः साक्षी स रामोऽनन्तचिद्वपुः ॥१४॥
स सर्वात्मा परं ब्रह्म विश्वस्यायतनं महत्।
सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरश्चैव ज्ञायते स हरिर्बुधैः ॥१५॥
सर्वद्वन्द्वनिवृत्तिः स्यान्मोहो मारो मदः क्षरेत्।
यस्यानुभूतिमात्रेण भक्त्या तमहमाश्रये ॥१६-७८॥

जिसकी गति (गुणादि के अन्त रहस्य) को ब्रह्मा आदि नहीं जान सके, और खोजकर हार गये, उसकी गति को मनुष्य कैसे जान सकता है। इसलिये अन्तादि के खोज को और लोभादि को त्यागना, और राम को भजना ही उचित है ॥७८॥

---

* नान्त विदाम्यहममी मुनयोऽग्रजास्ते मायाबलस्य पुरुषस्य कुतोऽपरे ये। गायन् गुणान् दशशतानन आदिदेवः शेषोऽधुनापि समवस्यति नास्य पारम् ॥ भा स्क. २।७।४१॥ श्रीब्रह्मणो नारद प्रत्युक्तिः ॥

## शब्द ७९.

ना हरि भजै न आदत छूटी ।
शब्दहिं समुझि सुधारत नाहीं, अँधरे भये हियहुं की फूटी ॥

गुणेभ्यो हि परं यावद्धरिं न भजते नरः ।
मुच्यते न स्वभावोऽयं वासनारसरञ्जितः ॥१७॥
लोभाद्यादिमयः पापो ह्यभ्यस्तो जन्मकोटिभिः ।
तावत्कस्यापि लोके हि कथञ्चिदपि देहिनः ॥१८॥
अहो तथापि लोकाश्च सारशब्दं विविच्य वै ।
तेन स्वात्मविवेकेन हरेर्भक्त्या च सर्वदा ॥१९॥
स्वभावं न विमुञ्चन्ते स्वस्य शुद्धिं न कुर्वते ।
हरेरन्तादिसंमार्गाद्बहिरमन्ति तथैव नो ॥२०॥
अन्धास्ते ह्यभवंस्तेषां हृच्चक्षुर्व्यनशत् किल ।
अतो नैवेह पश्यन्ति स्वात्मनोऽपि हिताऽहिते ॥२१॥

अनन्त विलक्षण गुणवाला या निर्गुण हरि को न यह जीव भजता है न इसकी लोभादि की आदत छूटती है । सार शब्द को समझ कर यह अपने को नहीं सुधारता है ॥ इससे अन्धा ( अविवेकी ) हुआ है । और हृदय के ज्ञानादिरूप आँखें फूटी हैं ॥

पानी माँह पषाणक रेखा, ठोकत ऊठे भुभूका ।
सहस घड़ा नितहीं जल ढारै, फिरि सूखे का सूखा ॥

जलेऽर्पिता यथा वज्ररेखाऽपि न स्थिरा भवेत् ।
तथैव न ह्यभक्तानां हृदि तिष्ठति वाक् सताम् ॥२२॥

यथैव वा जले तिष्ठेत् पाषाणस्य सदाऽऽकृतिः।
वह्निर्वा तस्य शुष्कत्वादभिघाताज्ज्वलत्यलम् ॥२३॥
तथा साधुजने तिष्ठेल्लोभयुक्तो नरो यदि।
शब्दादीनां स सम्बन्धात् क्रोधाज्ज्वलति वह्निवत् ॥२४॥
सहस्रघटपानीयस्यार्पणेऽपि यथा शिला।
सदा शुष्का भवत्येवं मूर्खो ज्ञानोपदेशतः ॥२५॥
पूर्वापरसमाधानक्षमबुद्धावनिन्दिते ।
पृष्टं प्राज्ञेन संप्रोक्तं भक्ते फलति नान्यथा ॥२६॥
पानीयस्थशिलास्थो वा यथा वह्निर्न नश्यति।
रामभक्तहृदिस्थं हि तथा ज्ञानं न नश्यति ॥२७॥
स तिष्ठतु गृहे यद्वा विपदः सन्तु तस्य वै।
पृष्ट उचरति ज्ञानं मोहं नैव विरक्तधीः ॥२८॥

पानी में पाषाण की रेखा ( लकीर ) की नाईं, 'अभक्तों के प्रति सारशब्द का उपदेश निष्फल होता है। या पानी में वर्तमान पत्थर की आकृति के समान सत्संगादि में भी इनका हृदय सूखा ही रहता है। इससे शब्द की चोट से ठोकते ही क्रोधादिरूप भुभूका ( दीप्ताग्निः ) इनके हृदय से उठती है। हजारों घड़ा जल ढारने पर भी पत्थर की नाईं, बहुत उपदेश देने पर भी अविवेकी अभक्त लोग क्रूर रहते हैं इत्यादि ॥ और पानी के पत्थर की अग्नि की नाईं सदा घरव्यवहार में रहने पर भी ब्रह्मनिष्ठ पूर्ण ज्ञानी के ज्ञानाग्नि कभी नष्ट नहीं होती है। तथा हजारों विपत्ति सम्बन्धादि से 'चित्त में रागादि नहीं उत्पन्न होते' हैं इत्यादि भाव हैं ॥

शीतहिं शीतहिं शीत अंग भौ, सैन बाढि अधिकाई ।
जो सन्निपात रोगियन मारै, सो साधुन सिधि पाई ॥

पलितं ह्युत्तमाङ्गेऽभूच्छैत्यमङ्गेषु सर्वतः ।
इङ्गितं कुर्वते मूढास्तथाप्यत्र त्रिदोषतः ॥२९॥
बहुव्यापारसक्तत्वात्सदा तद्वासनायुताः ।
वृद्धत्वे मृत्युकालेऽपि तच्चेष्टां बहु कुर्वते ॥३०॥
भवरोगयुता ये च विचारादिसुयुक्तिनः ।
विरागादि सुसेव्यात्र हन्यू रागादिकं गदम् ॥३१॥
त एव साधवो मुक्ता धन्याः सिद्धाः सुलक्षणाः ।
कामक्रोधादिभिर्हीना गुणबन्धाद्विनिर्गताः ॥३२॥
हित्वा ये त्रिगुणं रामे रमन्ते निर्गुणेऽव्यये ।
वृद्धत्वे मृतिकालेऽपि निर्विकारा भवन्ति ते ॥३३॥

अत्यन्त वृद्धत्व वा मृत्युकाल में शीत से शीत सब अंग हो गये । तौभी अभक्तों के हृदयादि में धनादि की सैन ( इसारा ) ही अधिक बढती है, उस समय भी भक्ति आदि हृदय में नहीं आते हैं, इससे सन्निपाती रोगी की नाईं इसारा करते हैं ॥ जो प्रथम से गुणकृत रोगयुक्त होते भी भक्तिविवेकादि द्वारा इस त्रिगुण त्रिदोषरूप सन्निपात को मारते ( नष्ट करते ) हैं, वे ही साधु ( सज्जन ) लोग सिद्धि ( मुक्ति ) पाते हैं ॥

अनहद कहत कहत जग विनशे, अनहद सृष्टि समानी ।
निकट पयाना यमपुर धावै, बोलै एकै बानी ॥

निःसीमं ब्रह्म गायन्तोऽप्यन्ये संसारिणो जनाः ।
विवेकेन विना नष्टा भ्रमन्तोऽन्वेषणे रताः ॥३४॥
सर्वात्मत्वेन स्वर्गेऽत्र सर्वतो वर्तते विभुः ।
[illegible] भूतानां प्र[illegible] स[illegible] ॥[illegible]॥

तल्लब्धयेऽतिनिकटे . हृदये सर्वदेहिभिः ।
विधातव्या गतिः पुण्या नान्यत्र यमसद्मनि ॥३६॥
हा तथापि त्विमे लोका धावन्तेऽन्यत्र सर्वदा ।
यमस्य नगरेऽभद्रे भापन्ते च परं विभुम् ॥३७॥
भापणेन भवेत् किं हि यावज्ज्ञानं न लभ्यते ।
तस्माज्ज्ञानं सुसंपाद्यं सविरागं सुनिर्मलम् ॥३८॥

" मुक्तिदा * गुरुवागेका विद्याः सर्वा विडम्बकाः ।
काष्ठभारसहस्रेषु ह्येकं संजीवकं परम् " ॥४४॥
गुणेभ्यो विविक्तं हरिं संभजन्तो गुरौ भक्तियुक्तास्तरन्तीह दुःखम्।
परानन्दमग्ना भवन्तीह लोके विशोका वसंति प्रमूढास्तपन्ति ॥४५ ७९

इति हनुमद्दासकृताया शब्दसुधाया गुणेभ्य. परस्य हरेर्ज्ञानाऽज्ञानाभ्यां शान्तितापयोर्वर्णन नामैकत्रिंशत्तमस्तरङ्ग ॥३१॥

यदि इन जीवों के सुकर्म से इन्हें सद्गुरु मिल जावे, तो इन्हें बहुत सुख का लाभ हो। क्योंकि सद्गुरु इनके शब्दों को भी सुधार देते हैं ॥ साहब का कहना है कि वह पुरुष सदा सुखी रहेगा, कि जो इस मेरे पद ( शब्द) को या अपरोक्ष आत्मतत्त्व को ही विचारेगा ॥७९॥

इति निर्गुणपर हरि की भक्ति आदि प्रकरण ॥३१॥

## शब्द ८०, राममें रमण विना दण्डादि प्र. ३२.

राम न रमसि कवन दण्ड लागा। मरि जैबे का करबे अभागा ॥
कोइ तपसी कोइ मुण्डित केशा। पाखण्ड भरम मन्त्र उपदेशा ॥

रामनाम्नि परे तत्त्वे हरौ यूय चिदात्मनि ।
नो रमध्वे बुधा यत्तत्कस्य दण्डस्य शंकया ॥१॥
अत्रैव† रमणान्नैव पुनर्दण्डो भविष्यति ।
तापादिलक्षणो यद्वा यमदण्डोऽतिदुःसहः ॥२॥
नात्र ह्यनिर्भवेत्काचिद्दण नैव च शिष्यते ।
अतो रमध्वं रामेऽत्र मृतौ किं साध्यतेऽल्पकाः ! ॥३॥

* गरुडपु अ. ४९।८९॥
† सर्वमात्मानं पश्यति नैनं पाप्मा तरति । बृ. ४।४।२३॥

रमन्ते दुर्भगा विश्वे ह्यल्पभागाश्च दुर्धियः ।
मृतौ मोक्षं समिच्छंति प्रतीक्षन्ते कलेवरम् ॥४॥
" मोक्षः × शीतलचित्तत्वं बंधः संतप्तचित्तता ।
एतस्मिन्नपि नार्थित्वमहो लोकस्य मूढता " ॥५॥
केचित्तपस्विनो भूत्वा मुण्डिताश्च तथापरे ।
प्रवर्तयंति पाषण्डान् मन्त्रांश्च भ्रांतिकल्पितान् ॥६॥

सर्वात्मा अपरोक्षानन्दरूप राम में नहीं रमते हो, भला इस रमण में तुझे क्या दण्ड लगता है। रे अभागा! मर जायगा तो क्या करेगा, जो भक्ति विचारादि करना हो सो अबही कर ले॥ आश्चर्य है कि कोई तपस्वी बनते हैं, कोई केश मुंड़ाते ( संन्यासी बनते ) हैं; परन्तु राम में नहीं रमते। किन्तु पाखण्ड वेष और भ्रममय मन्त्रों के उपदेश करते हैं॥

विद्या वेद पढ़ि करै हंकारा। अन्तकाल मुख फांकै छारा॥
दुखित सुखित है कुटुम जेमावै। मरण काल एकसर दुख पावै॥

विद्या वेदान् पठित्वा ये गर्वं कुर्वन्ति दाम्भिकाः ।
अन्तकाले हि सर्वे ते दुःखं भुञ्जतेऽवशाः ॥७॥
" * स्वस्ववर्णाश्रमाचारनिरताः सर्वेमानवाः ।
न जानन्ति परं धर्मं वृथा नश्यंति दांभिकाः " ॥८॥
अहंकारफलं तीव्रं भुञ्जाना मानसैः सदा ।
लभन्ते न क्वचिच्छर्म दुर्मुखाश्चातिमत्सराः ॥९॥
न वेदाऽध्ययनान्मुक्तिर्न शास्त्रपठनादपि ।
ज्ञानादेव हि कैवल्यं सर्वगर्वविनाशकात् ॥१०॥

× यो. वा. नि. उ. स. ९५।२९॥

* गरुडपु. अ. ४९।५८॥ ॥

स्वकुटुम्बेषु सक्तत्वात्सुखदुःखे विपद्य ये ।
वित्तं चोपार्ज्य रक्षन्ति भोजयन्ति कुटुम्बकान् ॥११॥
मृत्युकालेऽसहायास्ते लभन्ते दुःखमुल्वणम् ।
एकाकिनो न संदेहः श्रीरामे रमणं विना ॥१२॥
"+पुत्रदारकुटुम्बेषु सक्ताः सीदंति जन्तवः ।
सरःपङ्कार्णवे मग्ना जीर्णा वनगजा इव ॥१३॥
§शुभाशुभं समादाय पुमानन्यत्र गच्छति ।
अन्यत्र चास्य गच्छन्ति सुहृत्स्वजनबान्धवाः" ॥१४॥

जो कोई कुछ विद्या वेद पढ़कर अहंकार करते हैं, सो भी श्रीराम में रमण विना अन्तकाल में मुख से छार ( धूली–राख ) फाकते ( महादुःख भोगते ) हैं ॥ जो लोग मरण पर्यन्त दुखित सुखित होकर द्रव्यादि उपार्जन करके कुटुम्बों को जिमाते हैं। वे भी राम में रमण विना अन्त में अकेला ही दुःख पाते हैं, कोई कुटुम्ब सहायक नहीं होता ॥

कहहिं कबीर ई कलि है खोंटी ।
जो रह करवा स निकलै टोंटी ॥८०॥

रामाद्विमुखताद्यात्मा पाषण्डगर्वलक्षणः ।
अयं कलिर्महाहीनो दुःखमूलं विडम्बकः ॥१५॥
यच्चात्र वर्तते देहभाण्डे भावादि कर्म च ।
तद्धि गच्छति जीवेन सह द्वारेण केनचित् ॥१६॥
लभते तेन दण्डान् स भोगांश्च चाऽतिदुःखदान् ।
रामभक्त्या तु सर्वं तन्नेति सद्गुरराह तत् ॥१७॥

+ नारदीयपु. अ. ६।६९ ॥ § इतिहाससमुच्चये, अ. १८।६२॥

" नामुत्र * च सहायार्थं पिता मातापि तिष्ठतः ।
न पुत्रदारा न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलम् ॥१८॥
यमो + वैवस्वतस्तस्य निर्यातयति दुष्कृतम् ।
हृदिस्थः कर्मसाक्षी च क्षेत्रज्ञो यस्य तुष्यति ॥१९॥
न तु तुष्यति यस्यैष पुरुषस्य दुरात्मनः ।
तं यमः पापकर्माणं वियातयति दुष्कृतम् " ॥२०-८०॥

साहब का कहना है, कि यह कलियुग खोट ( हीन ) काल है, इससे कोई राम में नहीं रमता है न मुक्त गमनागमनरहित होता है, किन्तु जो इस करवा (मृत्पात्रतुल्य शरीर) में शुभाऽशुभ कर्मादि उपार्जित रहते हैं, सोई किसी टोंटी ( द्वार ) होकर जीव के साथ अन्तकाल में निकलते हैं, फिर उनके अनुसार शरीर भोगादि प्राप्त होते हैं ॥८०॥

## शब्द ८१.

हरि बिनु भरम बिगुरचे गन्दा ।
जहँ जहँ गये अपनपौ खोये, तेहि फन्दे बहु फन्दा ॥
योगी कहै योग है नीको, द्वितीया और न भाई ।
लुञ्चित मुण्डित मौन जटाधर, तिनहुं कहाँ सिधि पाई ॥

हरेर्भक्तिं विना विश्वे हीना भ्रांतिर्विवल्गति ।
तया सर्वा विपत्तिश्च गत्यागत्यादि सर्वशः ॥२१॥

---

* इतिहाससमुच्चये. १८।६ मनुः ४।२३९॥

+ म. भा. आदिप. अ. ७४।३१-३२॥ निर्यातयति-निवर्तयति । वियातयति-विशेषयातनया दुष्कृतं क्षपयति ॥

यत्र यत्रागमध्यायं भ्रान्तः कर्मनियन्त्रितः ।
चित्तस्याश्वस्य तत्रैव स्वानायात्मा विलोपितः ॥२२॥
स्वात्मत्यागात्मपाशेन पाशा जाता ह्यनन्तशः ।
द्वन्द्वादिलक्षणास्तैश्च यद्वास्तिष्ठंति जन्तवः ॥२३॥
योगिनो द्वन्द्ववद्धाश्च प्रशंसन्ति स्वयोगकम् ।
योगः श्रेष्ठो द्वितीयो न रामभक्त्यादिकोऽपि हि ॥२४॥
लुञ्चितो मस्तको येषां मुण्डितो वर्ततेऽथवा ।
ते मौना जटिलाश्चैव सिद्धिं विन्दंति कुत्र वै ॥२५॥
भक्तिं विना न कुत्रापि सत्या सिद्धिर्हि विद्यते ।
आत्मज्ञानविरागाभ्यां विना नैव च देहिनाम् ॥२६॥

सर्वात्मा हरि की भक्ति और अनुभूति विना, संसार में गन्दा ( हीन ) भ्रम बिगुरचा ( फैला ) है। उस भ्रम कर्म के वश होकर यह जीव जहाँ२ गया, वहाँ२ अपना पौ ( दाव, मोक्षस्थान ) अपने स्वरूप को आपही खोया। फिर उस आत्मत्यागरूप फन्दा ( पाश ) से ही अनन्त फन्द ( पाश ) प्राप्त हुए॥ योगी लोग कहते हैं कि, योगही नीको, श्रेष्ठ है, दूसरी हरिभक्ति आदि कोई श्रेष्ठ नहीं है॥ इसी प्रकार लुञ्चित ( जैनी ), मुण्डित ( संन्यासी ), मौन ( बुद्धसंन्यासी ), जटाधारी ( बैरागी वानप्रस्थादि ) अपने२ वेष संप्रदाय की बड़ाई करते हैं, परन्तु हरि में रमणादि विना उन लोगों ने भी कहाँ सिद्धि प्राप्त किया॥

ज्ञानी गुणी शूर कवि दाता, ई जो कहहिं बड़ हमहीं।
जहँसे उपजे तहईं समाने, छूटि गेल सब तबही॥
बायें दहिने तेजि विकारा, निजके हरिपद गहिया।
कहहिं कबिर गुंगे गुड़ खायो, पूछे सो का कहिया॥८१॥

पण्डिता गुणिनः शूरा दातारः कवयस्तथा ।
वदंति स्वं स्वमात्मनं श्रेष्ठं रामं विनैव चेत् ॥२७॥
यतो जाता हि गर्वादेस्तत्रैव प्रविशन्ति ते ।
यदा तदैव नश्यंति सर्वे गर्वादिविभ्रमाः ॥२८॥
सव्ये च दक्षिणे ये तु हित्वा द्वन्द्वानि युक्तितः ।
यतस्ततो विकारांश्च त्यक्त्वा सर्वात्मकं हरिम् ॥२९॥
सद्वस्तुत्वेन गृह्णन्ति स्वात्मत्वेन च सर्वदा ।
ते मूकगुडवज्ज्ञातं प्रश्नेऽपि कथ्यतां किमु ॥३०॥
प्रशंसंति न ते कश्चिद्विनिन्दन्ति तथैव न ।
स्वात्मत्वेनैव जानंति सर्वं तद्गुरुरब्रवीत् ॥३१॥८१॥

ज्ञानी (शास्त्रज्ञ), गुणी (कलाकुशल), शूर (वीर), कवि (काव्यकर्ता), दाता (दानी) ये सब अपने २ को बड़े कहते हैं। परन्तु रामरमणादि विना जिस गर्वादि से उपजे तहई (उन्हीं में) जब समाये (पैठे) तबही (उसी समय) सब गर्व छूट गये (नष्ट हुए)॥ साहब का कहना है कि बायें दहिने (अशुभ-शुभ) दोनों विकारों को त्यागकर निजके (निजस्वरूप से) हरिपद (हरिरूप वस्तु) को जिन्होंने गहा (जाना) है। वे लोग पूछने से भी क्या कहेंगे। किसकी बड़ाई और किसकी निन्दा करेंगे। वे तो सबको आत्मा ही जानते हैं। भला गुंगा गुड खाया भी हो तो पूछने पर क्या कहेगा। ऐसी ही दशा जानो ॥८१॥

## शब्द ८२.

ऐसो भरम बिगुरचन भारी।
वेद कितेब दीन औ दोजख, को पुरुषा को नारी ॥

इत्थंभूता महाभ्रांतिर्जाता विश्वविमोहिनी ।
हरेर्ज्ञानं विना प्रौढा लोके शोककरी सदा ॥३२॥
विस्तृता त्रिषु लोकेषु बाधते सर्वदेहिनः ।
भक्तिज्ञाने विना नैव जातु क्वापि निवर्तते ॥३३॥
वेदान् ग्रन्थांश्च धर्मांश्च स्वर्गं नरकमेव च ।
सर्वं व्याप्यैव तिष्ठन्ती देहात्मज्ञानकारिणी ॥३४॥
*कोऽस्त्यत्र पुरुषो लोके नारी का च निगद्यते ।*
भ्रांतिः स्त्रीपुंमयो * भावस्त्वात्मा रामः सनातनः ॥३५॥
" मायाभिः + प्रत्यगज्ञानैर्यदि वाऽनृतबुद्धिभिः ।
गम्यते पुरुरूपोऽहरेकोऽपि जलसूर्यवत् " ॥३६॥

ऐसा भारी भरम का बिगुरचन ( विस्तार-वृद्धि ) है कि वह भ्रम वेद किताब दीन (धर्म) और दोजख (नरक) आदि सबहीं स्थानों में फैल रहा है, रागद्वेष मोहादि सर्वत्र वर्तमान हैं । और कौन पुरुष है कौन नारी है, नारीपुरुषादिपन की प्रतीति भी भ्रम का ही विस्ताररूप है ॥

माटी को घट साज बनाया, नादे बिन्द, समाना ।
घट बिनशे क्या नाम धरहुगे, अहमक खोज भुलाना ॥
एके त्वचा हाड़ मल मूत्रा, एक रुधिर एक गूदा ।
एक बुन्द ते सृष्टि रच्यो है, को ब्राह्मण को शूद्रा ॥

देहरूपो घटः सर्वो जीवभोगस्य साधनम् ।
मृदा वै रचितो हीनो रजोवीर्यमयः कृतः ॥३७॥
वीर्यकार्ये हि तद्देहं शब्देषु प्राविशत्ततः ।
कथ्यते बहुभिः शब्दैर्नैव चात्मा कथञ्चन ॥३८॥

---

* न स्त्री न पुमानेषः । श्वे. ५।१०॥
+ वृ. वा. २।५।१२७॥

अतो देहघटे नष्टे किं नाम्ना कथ्यते शिवः ।
कथं वा क्रियते किञ्च नामास्य ध्रियते जनैः ॥३९॥
भो अज्ञा तद्धि जानीत विस्मृतं स्वं परं पदम् ।
नामादिरहितं सत्यं किं मुधा परिधावथ ॥४०॥
शरीरेषु त्वगेकैव समा चास्थि तथैव च ।
मलं मूत्रमसृङ्मांसं सदृशं दृश्यते किल ॥४१॥
तुल्यबीजकृते विश्वे ब्रह्म शूद्रो भवेद्धि कः ।
मिथ्यैवाऽयं विकल्पोऽस्ति त्वात्मा रामोऽजरोऽमरः ॥४२॥

माटी का यह घर ( देह ) रूप साज ( भोगसाधन ) बनाया गया है। और नाद ( शब्द ) में विंदु का कार्यरूप यह देह समाया है, अर्थात् स्त्रीपुरुषादि शब्दों से देह ही कहा जाता है। फिर इस देहरूप घट के फूटने पर कौन नाम धरोगे, हे अहमक लोगो ! इसी बात को खोजो, भूला हुआ है॥ शरीर में एक प्रकार के त्वचा, हाड, मलमूत्रादि होते हैं। तथा रुधिर गुदा, (मास) एक प्रकार के रहते हैं। सृष्टि एक प्रकार के बिन्दु से रची गई है, तो इसमें वस्तुतः ब्राह्मणादि और शूद्र भी कौन है। यह सब भ्रम का ही विस्तार है॥

रजगुण ब्रह्मा तमगुण शंकर, सत्त्वगुणी हरि सोई ।
कहहिं कबीर राम रमि रहिये, हिन्दू तुरुक न कोई ॥८२॥

रजो ब्रह्मा तमः शंभुः सात्विको हरिरुच्यते ।
आत्मा तत्तद्गुणैर्योगात्तत्तच्छब्देन कथ्यते ॥४३॥
विवेकेन गुणान् हित्वा त्यक्त्वा देहान् समन्ततः ।
रमध्वं सततं रामे यो नाऽऽर्यो यवनो नहि ॥४४॥
यो न कश्चिच्च सर्वश्च रमध्वं तत्र वै बुधाः ।।
कबीरः सद्गुरुः प्राह भ्रांतिचक्रनिवृत्तये ॥४५॥

**गुणातीतमेकं ह्यखण्डं निरीक्ष्य रमध्वं स्वरामे भजध्वं न गर्वम् ।**
**न दण्डाः पतिष्यंति चैवं कदाचिद् भविष्यंति ते त्वन्यथा संप्रवृत्ताः ॥**
**४६-८२॥**

इति हनुमद्दासकृताया शब्दसुधाया श्रीरामे रमण विना दण्डभ्रमादि वर्णन नाम द्वात्रिंशत्तम. प्रवाह. ॥३२॥

*सर्वात्मा हरि ही रजोगुण उपाधि से ब्रह्मा, तमोगुण से शकर कहा* जाता है, और सोई सत्त्वगुणी होकर हरि होता है। इससे ये नामादि भेद गुणमात्र में हैं, सर्वात्मा राम में नहीं। इसलिये साहेब का कहना है कि भ्रम और उपाधियों को त्यागकर सर्वात्मा राम मे रम रहो तो हिन्दू तुरुकादि कोई भेद नहीं प्रतीत होगा। आत्मा भेदरहित भासेगा, भेद उपाधि देहमात्र में रह जायेंगे ॥८२॥

इति राम में रमण विना दण्डादि प्रकरण ॥३२॥

## शब्द ८३, त्रिगुणोपासककृत प्रपञ्चादि प्र. ३३.

हंसा हो चित चेतु सवेरा। इन परपञ्च कयल बहु तेरा ॥
पाखंडरूप रचो इन तिरगुण, तेहि पाखड भुला ससारा।
घर के खसम वधिक वै राजा, परजा का दहु करै विचारा ॥

**भो विवेकवता! जीवाः! सावधानेन चेतसा।**
**आत्मैव ज्ञायतां शीघ्रं गुणसंघो विसृज्यताम् ॥१॥**
**"*न कश्चिदपि जानाति किं कस्य श्वो भविष्यति।**
**तस्माच्छ्वः करणीयानि कुर्यादद्यैव बुद्धिमान्" ॥२॥**

* इतिहाससमुच्चये। अ. १७।३४॥

ज्ञानत्यागौ विनैवते कृतवन्तो गुणा बहून्।
प्रपञ्चान् मोहजालाख्यांस्तैश्च संभ्रमणादिकम् ॥३॥
मिथ्यापाषण्डरूपाणि रचितानि गुणैरिह।
तेषु संसारिणो भ्रान्ता लभन्ते न स्थितिं क्वचित् ॥४॥
त्रिगुणोपासकाः सर्वे प्रपञ्चनिरता हि ये।
तै रचितैस्तु पाषण्डैर्भ्राम्यते खल्विदं जगत् ॥५॥
अहो ब्रह्माण्डरूपस्य देहरूपगृहस्य च।
स्वामिनो रक्षकाश्चैते राजानः सर्वसम्मताः ॥६॥
ते परस्परवैषम्यात्पाषण्डरचनादितः।
वधिकत्वं यदाऽऽपन्नाः प्रजाः कुर्वन्तु किं तदा ॥७॥

हे हंसा! (जीव!) अपने चित्त में सबेरा (शीघ्र) चेतो। आत्मानुभव करो। इन त्रिगुणों ने बहुतेरा (बहुत) प्रपञ्च (मोहादि) किया है॥ और इन त्रिगुणों (त्रिगुणोपासकों) ने पाखण्डरूपों को रचा है। तिसी पाखण्ड में यह संसार भूला है॥ ब्रह्माड और देहरूप घर के खसम (स्वामी) ही यदि वधिक हैं, तो उन राजाओं के आगे बेचारी गरीब प्रजा क्या कर सकती है॥

भक्ति न जानै भक्त कहावै, तेजि अमृत विष कैलन सारा।
आगे बड़ ऐसहीं भूले, तिनहुं न मानल कहल हमारा॥
कहल हमार गांठि बांधिहो, निशि वासर रहि हो हुसियारा।
ये कलि गुरू बड़े परपञ्ची, डारि ठगौरी सब जग मारा॥'

गुणासक्ता न *सद्भक्तिं जानन्ति ह्यमृतप्रदाम्।
कथ्यन्ते तेऽपि भक्ताश्च पूज्यन्ते मनुजैर्भृशम् ॥८॥

* स्वस्वरूपानुसंधानं भक्तिरित्यभिधीयते॥ विवेकचूडामणिः। ३२॥

सर्वैरप्यमृतं त्यक्त्वा सच्चिदानन्दलक्षणम् ।
सारं मत्वा विषं विश्वं गृहीतमुरगं हि तत् ॥९॥
प्राक्तना ये महान्तस्तेऽप्येवं विभ्रांतिसंयुताः ।
अभवन्नैव येऽस्माकं मन्यन्ते स्मोपदेशनम् ॥१०॥
अस्माकमुपदेशं भो हंसाः संगृह्य मानसे ।
विस्मर्तव्यो न कुत्रापि प्रेमबन्धेन रक्ष्यताम् ॥११॥
सावधानैः सदा भाव्यं रात्रौ च दिवसे तथा ।
विचारार्थैर्गुणोच्छेदो विधातव्यः प्रयत्नतः ॥१२॥
पञ्चका गुरवो ये हि कलिकालस्य सम्मताः ।
प्रपञ्चनिरतैस्तैर्हि कपटैर्मारितं जगत् ॥१३॥
कपटानां प्रबन्धेन मोहजालं वितत्य ते ।
आत्मसिन्धोः पृथक् कृत्वा जीवान् हिंसंति मत्स्यकान् ॥१४॥

त्रिगुण वशवर्ती प्रजा भक्ति नहीं जानते पर भी भक्त कहाती है। आत्मस्वरूप अमृत को त्यागकर गुणविषयादि विष को सार ( सत्य ) लिया ( समझा ) है ॥ आगे के बड़े लोग भी इसीप्रकार भूल गये। उन्होंने भी हमारा ( सद्गुरु का ) कहा नहीं माना ॥ हे हंसो ! तुम हमारी बात को गांठि [illegible] हृदय में [illegible] और रातदिन सावधान रहना ॥ इन [illegible] भारी प्रप[illegible] (कपट) को डारि ( रच ) कर सबक [illegible] ॥

वेदादींश्च कुराणादीन् द्विधा पाशान् वितत्य ते ।
तेष्वेव तु गुरुं हित्वा विचारांश्चक्रिरे सदा ॥१५॥
जीवानां बन्धनार्थं वा स्वकीयभुक्तिसिद्धये ।
वञ्चकाश्चिन्तयन्त्येते शान्त्यै मुक्त्यै न कर्हिचित् ॥१६॥
सद्गुरुश्चाह भो जीवा विस्मर्तव्यो न स क्वचित् ।
गुरुर्या सद्विचाराद्यैर्यत्र मुक्तिप्रदो मिलेत् ॥१७॥
आत्मबोधश्च सद्धर्मो ह्यमानित्वमुखो यतः ।
लभ्येत स सदा ध्येयो मोक्षकामैर्विचक्षणैः ॥१८॥
" सच्छास्त्रेभ्यः सतां सङ्गात्सद्गुरोश्च स्वतस्तथा ।
ज्ञेयोऽन्तःप्रकृतेरन्य आत्मा सम्यङ्‌ मुमुक्षुभिः ॥१९॥
आत्मानं वै दृढं ज्ञात्वा संगं सर्वं ततस्त्यजेत् ।
अद्वैतसिद्धौ यततामन्यसंगो ह्यरिः स्फुटम् " ॥२०-८३॥

जीवों को विश्वास दिलाने के लिये कलि के कुगुरुओं ने वेद कुरानरूप दो पाश फैलाया है। और उस पर भी सद्‌गुरु विना अपना मनमाना अर्थ आपही विचारा है ॥ इसलिये साहब का कहना है कि हे हंसा! तिस सद्‌गुरु को कभी नहीं बिसरो कि जिस गुरु में त्रिगुण बंध छोड़ानेवाले अनुभवादि मिलें इत्यादि ॥८३॥

## शब्द ८४.

सन्त महन्तो सुमिरहु सोई। काल फाँस ते बाँचा होई ॥
दत्तात्रेय मर्म नहिं जाना, मिथ्या साधि भुलाना ।
सलिला मथिके घृत को काढिन, ताहि समाधि समाना ॥

तं हि सत्पुरुषं तं च महान्तं स्मर सज्जन! ।
जीवन्मुक्तो भवेद्योऽत्र कालपाशात्परः सदा ॥२१॥

किञ्च सत्पुरुषाः सर्वे महान्तो ये मुमुक्षवः ।
ते स्मरन्तु हि तं रामं यो न कालैर्निबध्यते ॥२२॥
सद्भक्तिसुविचाराद्यैर्विना रामो न लभ्यते ।
हठाद्यैः कर्मणा युक्त्या भक्त्या त्रिगुणयाऽथवा ॥२३॥
अतो मिथ्याविचाराद्यैर्दत्तात्रेयो महामुनिः ।
भ्रान्तोऽभवन्नसत्तत्त्वरहस्य लब्धवान् हि तैः ॥२४॥
गुणात्मसलिलं ध्यानैर्मथित्वा स प्रयत्नतः ।
कल्पितानन्दरूपं हि घृतं चोद्धृतवांस्ततः ॥२५॥
तत्रैव च समाध्यर्थं हृद्गुहायां विवेश सः ।
यावन्न स्वात्मरामस्य विज्ञानं लब्धवान् प्रभुः ॥२६॥
ज्ञानं लब्ध्वा हि देवो वा दत्तात्रेयः परे शिवे ।
रामे कृत्वा समाधिं वै तत्रैव प्रविवेश ह ॥२७॥

हे हंस ! उन सन्त महन्तों को सुमिरो ( याद रखो ) जो कालफास से बँचे हों। या हे सन्त महन्तो ! सोई तत्त्व को सुमिरो जो अविनाशी हो ॥ अविनाशी का स्मरण या कालफास रहित सन्त महन्तों के बिना दत्तात्रेयजी ने भी सत्य भेद नहीं जाना, किन्तु मिथ्या वस्तु को साधकर भूले रहे ॥ मानो पानी मथकर कल्पित घी को काढ़िन ( प्राप्त किये ) और ताहि ( उसीके ) समाधि में समाये ( लगे ) रहे। या पहले सलिल मथकर घी काढ़िन, परन्तु उससे तृप्ति नहीं हुई, तो उस कालफासरहित की समाधि में समाये और तृप्त हुए ॥

गोरख पवन राखि नहिं जाना, योग युक्ति अनुमाना ।
ऋद्धि सिद्धि संयम बहुतेरी, पारब्रह्म नहिं जाना ॥
वसिष्ठ श्रेष्ठ विद्या अधिकारी, रामैसो शिष साखा ।
जाहि राम को करता कहिये, तिनहुक काल न राखा ॥

गोरक्षः पवनं रुद्ध्वा रामात्मानं न लब्धवान् ।
प्रत्यक्षं किन्तु योगस्य युक्त्यैवानुमिमाय सः ॥२८॥
संयमैर्ऋद्धयो जाताः सिद्धयश्च पृथग्विधाः ।
परं ब्रह्म न तैः सोपि लब्धवाञ्ज्ञानमन्तरा ॥२९॥
वसिष्ठोऽसौ महाश्रेष्ठो ब्रह्मविद्याऽधिकारवान् ।
यस्य रामोऽपि शिष्योऽभूत्सखा चात्यन्तवल्लभः ॥३०॥
यं च रामं जनाः प्राहुः कर्तारमीश्वरं हरिम् ।
त कालोऽस्थापयद्यात्र × वसिष्ठं देहिनं तथा ॥३१॥
अतो देहं विसृज्यैव त्रिगुणं तत्परं प्रभुम् ।
कालपाशैर्विनिर्मुक्तं भज देवं हरिं सदा ॥३२॥
" कालः * पचति भूतानि सर्वाण्येवात्मनाऽऽत्मनि ।
यस्मिंस्तु पच्यते कालस्तं न वेदेह कश्चन " ॥३३॥

गोरखजी ने पवन रखने ( प्राणनिरोध करने ) मात्र से सद्गुरु बिना आत्मतत्त्व को प्रत्यक्ष नहीं जाना । किन्तु योग और युक्ति से केवल अनुमान किया ॥ और योग संयमादि से ऋद्धिसिद्धि की प्राप्ति बहुत हुई । परन्तु त्रिगुण से पार ( रहित ) ब्रह्म को गुरु बिना नहीं जाना ॥ वसिष्ठजी अतिश्रेष्ठ ब्रह्मविद्या के अधिकारी ( आचार्य ) हुए, जिनके भगवान् रामचन्द्र ऐसे शिष्यसखा हुए ॥ जिस रामचन्द्र को

× राम दाशरथिं चैव मृत सृञ्जय शुश्रुम । य प्रजा अन्वमोदन्त पिता पुत्रानिवौरसान् ॥ म. भा द्रोणप अ. ५९॥१॥ शा अ. २९॥

* म. भा शा. २३९।२५॥ केदारख. १ अध्याये, अरुन्धतीं प्रति वसिष्ठश्चोक्तवान् —"एक एव त्रिलोकात्मा रूपादिगुणवर्जितः । रूपं तस्य न जानन्ति ब्रह्मादित्रिदिवौकसः ॥ अहमेको महादेवि किञ्चिज्जानामि तं प्रभुम्" इत्याद्यभ्युपगमादेनाऽप्यत्रत्योक्तिः ॥

लोग कर्ता कहते हैं, उस राम को तथा देही वसिष्ठ को भी काल इ
मर्त्यलोक में सदा नहीं रहने दिया। इसलिये गुणमय देह से रहित
को कालपाश रहित समझो ॥

हिन्दू कहै हमे लै जारब, तुरुक कहे मोर पीर।
दोनों आय दीनमहँ झगड़हिं, देखहि हंस कबीर ॥८४॥

देहात्मधिषणा ह्यार्या मृतं दृष्ट्वा कलेवरम्।
वदन्ति तद्गृहीत्वा वै दाह्यो मेऽस्य गुरोर्हितः ॥३४॥
तुरुष्काश्च वदन्त्येवं वर्ततेऽयं गुरुर्हि नः।
अतो भूमौ निखातव्यो खनित्वाऽतो गतिर्भवेत् ॥३५॥
युद्ध्यन्तीत्थं हि धर्मार्थमुभये प्राप्य दुर्बुधाः।
सद्विवेकिजनस्तत्त्वं कबीरो वाऽत्र पश्यति ॥३६॥
अनेनैव गुरुर्मैजं वृत्तान्तमप्यसूचयत्।
स्वशिष्याणां सुबोधार्थं देहबुद्धिनिवृत्तितः ॥३७॥
निखिलभुवनकोशेष्वात्मरूपेण सन्तं,
त्रिगुणपरमनन्तं राममादर्शयन्तम्।
जनिमृतिकरमार्गात्सर्वमावारयन्तं,
निजमनसि लसन्तं संभजेऽहं तुरीयम् ॥३८॥८४

इति हनुमद्दासकृतायां शब्दसुधायां त्रिगुणप्रपञ्चवर्णनं नाम नवत्रिंश
त्तमस्तरङ्गः ॥३९॥

मृत पिता आदि गुरुजन के देह को लेकर हिन्दू कहता है
इसे जारुगा, इसीसे इनकी सुगति होगी। और तुरुक कहता है कि
मेरे पीर ( गुरु ) हैं, इन्हें गाड़ुगा। इसप्रकार दोनों आकर अपने दी

( धर्म ) में आत्मविवेक विना झगड़ते हैं। और हंस ( विवेकी ) कबीर साक्षी रूपसे देखते हैं। जारने गाड़ने के झगड़ों से उदासीन रहते हैं॥४८॥

इति त्रिगुणोपासककृत प्रपञ्चादि प्रकरण ॥३३॥

## शब्द ८५, मन को चिन्हने विना रागादि प्र. ३४.

ता मन को चिह्नु रे भाई। तन छूटे मन कहाँ समाई॥
सनक सनन्दन जयदेव नामा। भक्ति हेतु मन उनहुं न जाना॥
अम्बरीष प्रह्लाद सुदामा। भक्त सहित मन उनहुं न जाना॥
भरतरि गोरख गोपीचन्दा। ता मन मिलि मिलि कियो अनन्दा॥

भ्रातरस्तन्मनो * वित्त किं मुधा परिधावथ।
शरीरापगमे चैतत्कुत्राविशति वित्त तत्॥१॥
यावन्न ज्ञायते चैतत्तावद्भेदं प्रकल्प्य तत्।
प्रपञ्चं कुरुते सर्वं विभ्रमं भुक्तिमेव वा॥२॥
मतिं कारयते भिन्नां भक्तिं चैव क्रियां तथा।
स्वाधिष्ठानं न तज्ज्ञातं भेदानां कुरुते लयम्॥३॥
सनको हि महायोगी तादृशश्च सनन्दनः।
जयदेवश्च नामाख्यो भक्तिहेतुं न वेद तत्॥४॥
अम्बरीषो हि राजर्षिः प्रह्लादो ध्यानतत्परः।
सुदामा विप्रवर्यश्च सर्वे भक्तोत्तमाः स्मृताः॥५॥

---

* चित्तमेव हि संसारो रागादिक्लेशदूषितम्। तदेव तद्विनिर्मुक्तं भवान्त इति कथ्यते॥ यो. वा. ३।८४।३०॥ मनो हि जगतां कर्तृ मनो हि पुरुषः परः। मनःकृतं कृतं लोके न शरीरकृतं कृतम्॥ यो. वा. ३।८९।१॥

तत्तथापि न ते विदुः स्वान्तं भक्तेर्हि साधनम् ।
यावत्तावदमी सर्वे भेदेनैवाचरन् भुवि ॥६॥
भर्तृहरिश्च गोरक्षो गोपीचन्द्रश्च योगवित् ।
मनसा तेन संमिलय परानन्दमवाप्तवान् ॥७॥

हे भाई ! तिस मन को चिन्हो जो जन्मादि के हेतु है । झगड़ते क्यों हो, यह समझो कि तन छूटने पर कौन मन कहाँ समाता है ॥ सनक, सनन्दन, जयदेव, नामा ( नामदेव ) इन लोगों ने भी जबतक भक्ति के हेतु रूप मन को नहीं जाना तबतक भेद भक्ति में लगे रहे ॥ अम्बरीष, प्रल्हाद, और सुदामा अन्य भक्तों के सहित ये लोग भी मन को नहीं समझे ॥ भर्तृहरि गोरख गोपीचन्द ने योगबल से मन को समझकर उसके साथ मिल२ कर परमानन्द को प्राप्त किया ॥

जा मन के कोइ जान न भेवा । ता मन मगन भये शुकदेवा ॥
शिव सनकादिक नारद शेषा । तन भीतर मन उनहु न पेखा ॥
एकल निरञ्जन सकल शरीरा । ता महँ भ्रमि भ्रमि रहल कबीरा ॥८५॥

यस्य च मनसस्तत्त्वं वेत्ति कोपि न मानवः ।
तस्य वै मनसो मार्गे शुकदेवो न चागमत् ॥८॥
किन्त्वा ज्ञात्वा मनस्तस्य साक्षिरूपे चिदात्मनि ।
मग्नोऽभवन्महायोगी शुकदेवो विवेकवान् ॥९॥
शिवोऽपि सनकाद्याश्च नारदः शेष एव च ।
स्वशरीरे स्थितं स्वान्तं दृष्टवानञ्जसा नहि ॥१०॥
अतस्तत्केवलं स्वान्तं वर्तते वै निरञ्जनम् ।
सर्वदेहेषु तिष्ठत्तद् ब्रह्मापि कथ्यते जने ॥११॥

भ्रान्त्वा भ्रान्त्वाऽज्ञजीवाश्च तत्र तिष्ठन्ति सर्वदा ।
लभन्ते न गतिं शुद्धामतस्तज्ज्ञायतां मनः ॥१२॥
"* अमनो नाशमभ्येति मनोऽज्ञस्य तु शृङ्खला ।
आत्मानं च मनस्तस्माद्वित्त भोः पुरुषोत्तमाः ॥१३॥
नामसैर्वासनाजाले व्याप्तं यज्जन्मकारणम् ।
विद्यमानं मनो विद्धि तद्दुःखायैव केवलम् ॥१४॥
व्याप्तं वासनया यत्स्याद् भूयो जननमुक्तया ।
जीवन्मुक्तमनस्तच्च सत्त्वमित्यभिधीयते ॥१५॥
त्यक्तावनेर्विटपिनो भूयः पत्राणि नो यथा ।
निर्वासनस्य जीवस्य पुनर्जन्मादि नो तथा" ॥१६॥

गुणैस्तेषां भक्तैरिह बहुविधाः कारिताः स्वीकृताः.
लसन्ति व्यापारा अकृतधिषणे भ्रान्तिवैपुल्यमितैः ।
समर्थास्तस्मात्स्वेऽविकृतहृदये सर्वदा चिन्तनीयम्.
मनः स्वात्माशुद्धोऽतिविजनभुवि भ्रान्तिचायादिमिदं ॥१७॥८५॥

इत्यादि ॥ और जीवन्मुक्त की विलक्षण दशा, और मनोनाशादि की दुर्लभता में भी शब्द का तात्पर्य है । इसी आशय से [ वसिष्ठश्चन्द्रमाः शुक्रो देवाचार्यः पितामहः । तपोवृद्धा वयोवृद्धास्तेपि स्त्रीभिर्विमोहिताः ॥ अग्निपु. ३७२।११॥ जयन्ति मुनयः केचित्सञ्चवाण कथञ्चन । तदीय तनय क्रोध शत्रु जेतु न तेऽपि हि ॥ आत्मपु. ४।१३९॥ उत्पद्यते यतः सर्वं येनैतत्पाल्यते जगत् । यस्मिंश्च लीयते तद्धि येन सर्वमिदं ततम् ॥ विष्णुना तच्च न ज्ञातं ब्रह्मणा न च तत्तथा । कुमाराद्यैश्च न ज्ञातं न ज्ञातं नारदेन वै ॥ शुकेन व्यासपुत्रेण व्यासेन च मुनीश्वरैः । तत्पूर्वैश्चाखिलै र्देवैर्वेदैः शास्त्रैस्तथा नहि ॥ शिवपु उ. ४। रुद्रस. अ. ४१।-८-९-१०] इत्यादि वचन भी हैं ॥८५॥

## शब्द ८६.

झगरा एक बढ़ो राजाराम । जो निरुवारे सो निर्वान ॥
ब्रह्म बड़ा कि जहाँ से आया । वेद बड़ा कि जिन उपजाया ॥
ई मन बड़ा कि जेहि मन मान । राम बड़ा कि रामहिं जान ॥
भ्रमिभ्रमि कबिरा फिरे उदास । तीरथ बड़ा कि तीर्थक दास ॥८६॥

मनो ज्ञानं विना लोके संशयाद्यात्मकं महत् ।
युद्धं संवर्तते तच्च वर्द्धतेऽहर्दिवं प्रभो ॥१८॥
यश्चैनद्बाधते विद्वान् विज्ञानबलवान् सुधीः ।
भवबन्धाद्विमुक्तः स निर्द्वन्द्वो वर्तते सदा ॥१९॥
ब्राह्मणत्वमुत ब्रह्मा श्रेष्ठो ज्ञेयोऽथवा यतः ।
आगतं तच्च ब्रह्मा च स श्रेष्ठो जगतां प्रभुः ॥२०॥
वेदाः श्रेष्ठा यतो वा ते जाताः श्रेष्ठः स कथ्यताम् ।
मनो ज्येष्ठं यतो वा तन्मन्यते स परः शिवः ॥२१॥

तटस्थोऽसौ परो रामो यद्वा ज्ञाताऽस्य विद्यते।
जलाद्यात्मकतीर्थं वा तीर्थभक्ताः सचेतनाः ॥२२॥
इत्येवं संशयाक्रान्ता भ्रान्ताः सर्वे जनाः खलु।
भ्रामं भ्राममुदासीना विचरन्ति यतस्ततः ॥२३॥
मनो निगृह्य विज्ञानात्संशयान्नाशयेत्तु यः।
सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तः स लभेत स्थितिं स्थिराम् ॥२४॥
इदं* ब्रह्म त्विदं क्षत्रं देवा लोका इदं हि सत्।
वेदाश्च सर्वभूतानि स्वात्मैवास्ति निरञ्जनः ॥२५॥
सर्वभावपदातीतं सर्वभावात्मकं च वा।
यः पश्यति सदात्मानं द्वन्द्वमुक्तो भवत्यसौ ॥२६-८६॥

इति हनुमद्दासकृतायां शब्दसुधायां मनोज्ञानं विना रागविरोधादिवर्णनं नाम चतुस्त्रिंशत्तमस्तरङ्गः ॥३४॥

हे राजाराम (रामस्वरूप स्वयंप्रकाश जीव)! एक प्रकार के झगड़ा (संशयादिजन्य कलह) संसार में बहुत बढ़ गया है, जो कोई इसको निरुआरेगा (निवृत्त करेगा) सोई निर्वाण (मुक्त) होगा॥ झगड़ा है कि ब्रह्म (ब्राह्मणत्व वा ब्रह्मा) बड़ा है, कि यह ब्रह्म जहाँसे आया सो चेतन सर्वात्मा बड़ा है। वेद बड़ा है कि जिन्होंने वेदादि को उत्पन्न किया वे बड़े हैं॥ यह मन बड़ा है कि जिसकी सत्ता आदि से यह वस्तु को मानता है या जिसको जानता है सो बड़ा है। तटस्थ राम बड़ा है कि जो राम को जानता (प्रकाशता) है सो आत्मा बड़ा है, इत्यादि संशयजन्य झगड़ा बढ़ा है॥ जिसे

* इदं ब्रह्मेदं क्षत्रमिमे लोका इमे देवा इमे वेदा इमानि भूतानीदं सर्वं यदयमात्मा। बृ. ४।५।७॥

सुनकर कबीरा ( जीव ) सब भ्रम भ्रमकर उदास हुआ फिरता है। यह भी नहीं समझता है कि *जलादिमय तीर्थ बड़ा है कि तीर्थ के दास चेतन जीव बड़ा है इत्यादि। परन्तु जो कोई विवेकी इन सशयों को नष्ट करता है सोई मुक्त निश्चल होता है ॥८६॥

इति मन को चिन्हने विना रागादि प्रकरण ॥३४॥

## शब्द ८७, अविकारी भगवत्स्वरूप प्र. ३५.

चातक कहाँ पुकारै दूरी। सो जल जगत रहा भरिपूरी ॥
जेहि जल नाद बिन्द का भेदा। षट कर्म सहित उपानो वेदा ॥

नराश्चातकवत्कस्माद् दूरस्थं जलधद्धरिम्।
आह्वयध्वेऽन्तिकस्थं न तं जानीथ कदाचन ॥१॥
यस्य लाभाद् भवेत्तृप्तिरक्षया न पुनर्भवः।
तज्जलं हि जगत्यस्मिन् पूर्णं सर्वत्र वर्तते ॥२॥
"य+ इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमंतिकात्।
ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते ॥३॥
अस्ति *भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम्।
आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम्" ॥४॥
यस्मिञ्जले हि नादानां बीजानां जायते भिदा।
षट्कर्मसहिता वेदा यस्मिन्नेव च जज्ञिरे ॥५॥

---

* निपानागमयोस्तीर्थमृषिजुष्टे जले गुरौ। अमरकोश. ३।३।८६॥
+ कठोप. २।१।५॥ * वाक्यसुधा. २०॥

हे मनुष्यो ! चातक के समान तुम सब जलतुल्य हरि को वहाँ दूर समझ कर पुकारते हो ! वह हरिरूप जल तो सबके आत्मा होने से जगत में सर्वत्र भरपूर (व्यापक) हो रहा है ॥ जिस हरिरूप जल में ही नादविन्दु (नामरूपात्मक शब्दवीर्यादि) के भेद (विस्तारविशेष) हुए हैं, और पट्कर्म सहित वेद भी उसी हरि में उत्पन्न हुए हैं ॥

जेहि जल जीव शीव का वासा। सो जल धरणि अमर परकाशा ॥
जेहि जल उपजल सकल शरीरा। सो जल भेद न जानु कबीरा ॥८७॥

यस्मिञ्जले च जीवानामीश्वराणां स्थितिः सदा।
तज्जलं पृथिवीलोके देवलोके प्रकाशते ॥६॥
अमृतं वा जलं यद्धि पृथिव्यामस्ति सज्जनाः।
तज्जानीत यतः सर्वद्वन्द्वानि न भवन्ति हि ॥७॥
यदज्ञाने जले यस्मिन् देहा जाता हि सर्वशः।
तद्रहस्यं न जानंति जीवास्तस्माद् भ्रमंति हि ॥८॥
" आत्मैव देवताः × सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम्।
आत्मा हि जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिणाम् ॥९॥
चिद्धातुर्यत्र* यत्रास्ते तत्र तत्र निजं वपुः।
पश्यत्येष जगद्रूपं व्योमतामेव चात्यजत् "॥१०॥८७॥

और जिस जल में जीव तथा शीव (ईश्वर) का भी वास है, सो जल (वही जल) धरणी (पृथिवी) और अमर (स्वर्ग) लोक में प्रकाश करता है ॥ और जिस जल में ही माया शक्ति से सब शरीर उत्पन्न हुए हैं। आश्चर्य है कि उस अत्यन्त निकटवर्ती जल का भेद

× मनुः १२।११९॥ * यो. वा. नि. उ. १३७।३९॥

को कबीरा ( जीव ) नहीं जानता है । और दूर के जल को तृप्ति, शान्ति के लिये पुकारता है इत्यादि ॥८७॥

## शब्द ८८.

जो पे बीजरूप भगवाना । तो पण्डित का पूछहु आना ॥
कहँ मन कहँ बुधि कहँ हंकारा । सत रज तम गुण तीन प्रकारा ॥

भगवान् बीजवच्चेद्धि परिणामी मते तव ।
संसारादिजगत्स्थरूपेण जायते चेत्स्वयं हरिः ॥११॥
तदा पृच्छति किं ह्यन्यत्पण्डितेभ्यो भवान् मुहुः ।
प्रत्यक्षं जगदेतद्धि भगवानेव सर्वथा ॥१२॥
निरोद्धव्यं मनः कुत्र शोध्या बुद्धिः क विद्यते ।
हेयः कुत्र त्वहंकारो रजः सत्वं तमस्तथा ॥१३॥
सत्वादिगुणभेदेन ज्ञानकर्मादिवस्तुषु ।
त्रिधा भेदः कृतः कुत्र कथं संभाव्यते त्वया ॥१४॥
यद्वा विश्वविवर्तस्य ह्यधिष्ठानं परेश्वरः ।
यदा तदा किमन्यच्च पृच्छन्ति पण्डिताः कुतः ॥१५॥
ज्ञातव्यो विद्यते सैव्स्तस्मिञ्ज्ञाते कुतो मनः ।
कुतो वा विद्यते बुद्धिरहंकारकथा कुतः ॥१६॥
सत्वं रजस्तमश्चैव गुणाः व त्रिविधास्तदा ।
सत्यो × ह्यात्मैव सर्वत्र मायामात्रं मृषा जगत् ॥१७॥

× कृपणधीः परिणाममुदीक्षते, क्षपितकल्मषधीस्तु विवर्तताम् । स्थिरमतिः पुरुषः पुनरीक्षते व्यपगतद्वितयं परमं पदम् ॥ संक्षेपशारीरकम् ॥

जो पै (यदि) भगवान् बीजरूप (बीजवत्परिणामी) कारण है, ऐसा मानते हो, तो पण्डितों से और क्या पूछते हो, जो कुछ देखते हो सो सब भगवान ही तो हैं॥ मन बुद्धि अहंकाररूप निरोध करने त्यागने योग्य पदार्थ भी कहाँ भगवान् से भिन्न हैं, तथा सत्त्वादि तीन गुण भी कहाँ हैं इत्यादि॥

विष अमृत फल फले अनेका। बहुधा वेद कहै तरवेका॥
कहहिं कबिर तैं मैं का जाना। को दहु छूटल को अरुझाना॥८८॥

दुःखसौख्यात्मके यद्वा बन्धमोक्षात्मके फले।
विषं चैवामृतं सेव बहुधा फलति प्रभुः॥१८॥
अहो वेदोऽपि किं वक्ति बहुधेव विमुक्तये।
त्वमहं चेति जानाति किं मुधैव भवानपि॥१९॥
को वा मुक्तोऽत्र बद्धः कस्तद्विवेको न विद्यते।
अतो न भगवान् वाच्यः परिणामी कथञ्चन॥२०॥
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
मायां स्वां तु समाश्रित्य कारणत्वं प्रपद्यते॥२१॥
+यदस्ति तस्य नाशोऽस्ति न कदाचन साधनैः।
तस्मात्तद्ब्रह्मप्यन्तर्बीजभूतं भवेद्धृदि॥२२॥
सद्गुरुश्चाह भोः साधो सर्वात्मा भगवानयम्।
विवर्तोऽयं तु संसारो जीवभेदस्त्वभासत॥२३॥
यद्वा विषामृतादीनि काऽनेकानि फलानि हि।
मायामात्रं तु सर्वं तत्तस्मान्मोचयितु किल॥२४॥

---

+ यो वा नि. उ. स. ४॥६२॥ परिणामवादे हि पूर्वावस्थाया उत्तरावस्थया तिरोभावमात्र भवति नतु समूलनाश इति भावः॥

ब्रुवन्ति बहुधा वेदाः कोहंत्वं चेति चिन्त्यताम् ।
को मुक्तः कश्च बद्धो वा विवेकेनेति बुध्यताम् ॥२५॥
विवेकेन हित्वाऽखिलाऽऽयोधनानि विहायाशया दूरसंवीक्षणानि।
मुधाऽऽकारणां न्वाविकार्यं सदीशं सदा सङ्गहीनं भजस्व स्वमुक्त्यै ॥२६॥८८॥

इति हनुमद्दासकृतायां शब्दसुधायामविकारिविभुभगवत्स्वरूपवर्णनं नाम पञ्चत्रिंशत्तमस्तरङ्ग ॥३५॥

विष अमृतरूप अनेकों प्रकार के फल यदि परिणामी भगवान ही फलता है, तो वेद बहुत प्रकार से तरबे का ( तरने के लिये, भगवत्प्राप्ति के लिये ) क्या कहता है, इसलिये सर्वात्मा भगवान जल की नाईं केवल निमित्तकारण अपरिणामी स्वरूप है, माया उसकी शक्ति है सोई परिणामिनी है, यही सर्वोत्तम सिद्धान्त है। और साहब का कहना है कि यदि सब भगवान ही है तो तै मैं क्या समझते हो। और कौन छूटा ( मुक्त ) है, कौन अरुझान ( बद्ध ) है। परिणामी भगवान के सब रूप होने पर यह कोई व्यवस्था नहीं बनेगी और आभासादि द्वारा सब बनती है इत्यादि ॥८८॥

इति अविकारी भगवत्स्वरूप प्रकरण ॥३५॥

## शब्द ८९, निर्वाणपद प्र. ३६.

बुझु बुझु पंडित पद निर्वान। साँझ परे कहवाँ बस भान ॥
ऊँच निच पर्वत ढेला न ईंत (ट)। बिन गायन तहवाँ उठे गीत ॥

तटस्थं हीश्वरं हित्वा परिणामहतं तथा ।
बुधा बुध्यध्वमत्रैव नित्यनिर्वाणकं पदम् ॥१॥

तद्बोधाय सदा चायं विचारः क्रियतां बुधाः! ।
सुप्तिमृत्यादिसंध्यायां जीवो भानुः क तिष्ठति ॥२॥
क वा ज्ञानानि सर्वाणि वसन्त्यैन्द्रियकाणि च ।
तं विचारेण जानीत यत्रोच्चैस्त्वं न विद्यते ॥३॥
नीचैस्त्वं च कुतो नैव नैव चोच्चावचोऽपि यः ।
न यत्र पर्वता संति न लोष्टानीष्टकादयः ॥४॥
गायकत्वं विना सर्वं गीतं तत्रैव जायते ।
तत्रैव खलु संध्यायां जीवो भानुश्च × तिष्ठति ॥५॥

हे पण्डितो! प्रत्यक्ष निर्वाणपद को अवश्य जानो और उसे जानने के लिये विचार करो कि मरण सुषुप्तिरूप वा प्रसिद्ध संध्याकाल में जीव रूप वा ज्ञानरूप भानु या सूर्य कहां बसते (लीन होते रहते) हैं। वह स्थान न किसीसे ऊंच है न नीच है, न पर्वत ढेला ईंटादि इतर पदार्थ स्वरूप है, किन्तु मनका आत्मा है, और गायक विना ही उसीसे अन हदादिरूप गीत (शब्द) उठते (प्रगट होते) हैं, उसीमें सूर्य बसते हैं उसे समझो ॥

ओस न प्यास मन्दिर नहिं जहँवाँ। सहसो धेनु दुहावै तहवाँ ॥
नित्य अमावस नित सँक्रांती। नित नवग्रह लागे नेहि भाँती ॥

विषयाम्भःकणो नैव तत्पिपासा न सर्वथा ।
देहाख्य मन्दिरं नैव सर्वं मायाविकल्पितम् ॥६॥

× यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति। तं देवाः सर्वेऽर्पितास्तदु नात्येति कश्चन ॥ कठ. २।१।९॥ स यथा सोम्य वयांसि वासो वृक्षं स प्रतिष्ठन्ते एवं ह वै तत्सर्वं पर आत्मनि सम्प्रतिष्ठन्ते ॥ प्रश्न. ४।७॥

देहादिमन्दिराणां च तत्राऽसत्त्वेऽपि सत्प्रभौ ।
मनोवृत्त्यात्मगावो हि पूर्यन्ते तेषु तेन वै ॥७॥
अनन्ता वृत्तयः शश्वद्देहे देहे चिदन्वयम् ।
आनन्देनापि सम्बन्धं लभन्ते सर्वदा प्रभोः ॥८॥
यत्प्रकाशाच्च सूर्योऽपि स्वांशून् पूरयते सदा ।
लोकान् भासयते नित्यं तद्धि ज्ञेयं मुमुक्षुभिः ॥९॥
* चित्तचन्द्रलयाख्या या ह्यमावास्यापि सात्र च ।
सुषुप्तौ जायते नित्यं जीवभानोस्तथेन्द्रियैः ॥१०॥
ग्रहैः सम्बन्धरूपा वै संक्रान्तिर्जायते सदा ।
वाह्यान्तःकरणान्येव ग्रहा नव लगंति च ।
जीवभानौ कथं सम्यक् सुविचार्येति बुध्यताम् ॥११॥

उक्त स्वरूप में विषयजल का अंशरूप ओस नहीं है, न उसकी प्यास (इच्छा) है। न देहरूप मन्दिर है। तौभी हजारों मनोवृत्तिरूप धेनु उसीमें दुहाती हैं (आनन्द ज्ञानादि रसों को पूर्ण प्राप्त करती हैं) चित्तचन्द्र का नित्य लयरूप अमावास्या, जीवभानु का इन्द्रियों पर संक्रमण रूप नित्य संक्रान्ति, पाच ज्ञानेन्द्रिय चतुष्टय अन्तःकरणरूप नवग्रह का नित्य लगना किस प्रकार होता है सो सब बात विचारो समझो ॥

मैं तोहिं पूछौं पंडित जना । हृदया ग्रहण लागु केहि खना ॥
कहहिं कविर यतनो नहिं जान । कौन शब्द गुरु लगलौ कान ॥८९॥

---

* इडापिंगलयोः सन्धौ प्राणस्य च समागमः । अमावास्या च निःश्वासोच्छ्वासनं संक्रमोरित वै ॥ इडया कुण्डलीस्थाने प्राणस्य च समागमः । सोमग्रहणमित्युक्तमन्यपिंगलया भवेत् ॥ श्रीजाबालदर्शनोपनिषद्, अ. ४॥

पृच्छामि पण्डिता यत्तद् बुद्धयतां कथ्यतां तथा ।
हृदये चित्तचन्द्रे वा जीवभानावथापि वा ॥१२॥
मोहाद्ये राहुभिर्ग्रासः संबन्धो वा कथं भवेत् ।
कदा वा ग्रहणं चैव तेषां भवति दुःखदम् ॥१३॥

इति ज्ञेयमवश्यं तज्ज्ञात्वा मोहो निवार्यताम् ।
एतावद्ये न जानंति तेषां कर्णेषु कः शुभः ॥१४॥
गुरुशब्दोऽलगत्सत्यं गुरुरित्थं हि भाषते ।
तावद्यो नैव जानाति सो वेत्ति किं हि पण्डितः ॥१५॥

यतश्चोदेति सूर्यो वा ह्यस्तं यत्र च गच्छति ।
स दोग्धि किरणान् यत्र सहस्रं तत्र वेत्ति यः ॥१६॥

स किं वेत्ति च किं तस्य गुरुणापि हितं कृतम् ।
देवानां दिवसे चैवममा च संक्रमादयः ॥
सदा भवन्ति ते ज्ञेया अपि शास्त्रविदुत्तमैः ॥१७॥
सुषुप्तौ मृतौ कुत्र चास्ते हि जीवः क वा चेतना विद्यते वै तदास्य।
विदित्वाऽमुमर्थं त्वया सम्यगत्र सुनिर्वाणबुद्धयैव बोध्या हि सर्वे ॥
१८-८९॥

इति हनुमदासकृतायां शब्दसुधायां निर्वाणपदबोधनं नाम षट्त्रिंशत्तमस्तरंगः ॥३६॥

हे पण्डितो! मैं,तुम से पूछता हूं कि हृदय के अन्दर जीवभानु चित्तचन्द्र के विषे ग्रहण किस प्रकार लगता है, यदि तुम इतनी बात नहीं जानते हो, तो तेरे कान में गुरु का कौन शब्द लगा है। अर्थात् कोई शब्द नहीं लगा है ॥८९॥

इति निर्वाणपद प्रकरण ॥३६॥

## शब्द ९०, विवेक ज्ञानोपदेश प्र. ३७.

झु वुझु पंडित मन चित लाय। कबहुं भरल बहे कबहुं सुखाय॥
ण उबे खण डुबे खण अवगाह। रतन न मिलै पावै नहिं थाह॥

पण्डिताः! सावधानेन चेतसेयं विबुध्यताम्।
मनोरूपा महातीव्रा नदी वै विश्वरूपिणी॥१॥
मनोरथाद्यनर्थैर्वै जलैः पूर्णा कदाचन।
स्यन्दते सा कदाचिच्च शुष्का याति हताशताम्॥२॥
दुःखपूर्णा कदाचित्स्यात्सुखलेशैः कदाचन।
युक्ता भवति जीवश्च तावन्मात्रेण मोदते॥३॥
क्षणात्किञ्चिदुदेत्यूर्ध्वं क्षणाज्जीवो निमज्जति।
मनोऽपि भवचक्रेऽस्मिन् क्षणादायाति याति च॥४॥
तां चावगाहते शीघ्रं रत्नार्थं ध्यानतत्परः।
यावन्न लभते रत्नं तलं तावन्न विन्दते॥५॥
ज्ञानरत्नस्य लाभेन स्वात्ममौक्तिकलाभतः।
लभ्यते तत्तलं शुद्धं यत्र पंको न विद्यते॥६॥
किम्वा यावत्तलं नास्य लभते ब्रह्म चिद्घनम्।
तावद्धि मोक्षरत्नं नो कोपि विन्दति मानवः॥७॥

हे पण्डितो! प्रथम अपने मन को ही चित्त लगाकर (सावधान होकर) समझो। या मन को चित्त (चेतनात्मा) में लगाकर चेतनात्मा को समझो। ज्ञानादि रहित मन ही कहीं मनोरथ विषयादि जल से पूर्ण होकर दुष्पार नदी की नाईं बहता है, और कहीं सुख जाता है॥ और क्षण में संसार समुद्र से कुछ उबता (उपराम होता) है। फिर

क्षण मे डूबता है। क्षण में इसका अवगाहन (खोज–विचार) करता है। परन्तु जबतक ज्ञानात्मक रत्न को नहीं प्राप्त करता है, तबतक इसका थाह नहीं पाता है ॥

नदिया नाहिं सँसरि बहे नीर। मच्छ न मरे केंवट रहे तीर ॥

रत्नस्य लाभमात्रेण नदी चेयं न तिष्ठति ।
आनन्दस्य महाधारा शीघ्रं धावति सर्वतः ॥८॥
म्रियते जीवमत्स्यो नो कालरूपो निषादकः ।
दूरे तिष्ठति तस्माच्च भवबाधा न वर्तते ॥९॥
किम्वा तलस्य लाभेन तामुक्तां हि नदीं विना ।
मोक्षामृतमहाधारा स्यन्दते सर्वतः सदा ॥१०॥
रत्नाऽलाभे त्वसत्यायां मनोरथमुखं जलम् ।
नद्यां धावति वेगेन मोहमत्स्यो न नश्यति ॥११॥
नाविकश्चेश्वरो जीवात्तटस्थो वर्तते तथा ।
दूरेऽवतिष्ठते देवः सद्गुरुश्चैव सर्वदा ॥१२॥

ज्ञानरत्न के लाभ होने पर तो मनरूप नदी नहीं रहती है, और आनन्दरूप नीर की धारा सँसरि (सर्वत्र फैलकर) बहती है। और जीवरूप मछली फिर नहीं मरती है, कालरूप केवट उससे तीर (दूर तट) पर रहता है ॥ या ज्ञानात्मरत्न की प्राप्ति बिना नदी के नहीं रहते भी मनोरथादि जल सँसरकर बहते हैं, मोहादि मत्स्य नहीं मरते, और पार करनेवाला ईश्वर गुरुरूप केवट किनारे रहते हैं, या कालरूप केवट पकड़ने के लिये किनारे खड़ा रहता है इत्यादि ॥

पोखरि नाहिं बाँधल तहँ घाट। पुरइनि नाहिं कमल माँह बाट ॥
कहहिं कबीर ई मन का धोख। बैठा रहे चलन चहे चोख ॥९०॥

सरो विनैव सज्ज्ञानी ब्रह्मानन्दस्य लब्धये ।
ज्ञानाभ्यासावरोहं वै कृतवान् भूमिसंयुतम् ॥१३॥
पद्मपत्रं विनैवात्र हृत्पद्मे सरणिं तथा ।
कृतवान् येन चाज्ञोऽपि प्राप्नुयाद्धि परं पदम् ॥१४॥
रत्नं विना तु जीवोऽपि मेरोः शृङ्गात्मकं तथा ।
खन्यवस्थादिरूपं हि सुघट्टं कृतवान् मृषा ॥१५॥
सन्तोषादिसुपत्रैश्च विनैव कमलेषु सः ।
मार्गं कर्तुं समिच्छन्न पदमाप्नोति शाश्वतम् ॥१६॥
मनसा वञ्चनं चेदं सद्गुरुर्भाषते मुहुः ।
वैराग्यादि विनैवैतच्छीघ्रं गन्तुमिच्छति ॥१७॥
तिष्ठन्नेव यथा कश्चिदिच्छेत् क्रोशशतात्परम् ।
अधिष्ठातुं तथैवैतद्विचाराद्यन्तरा खलु ॥
वांछनमात्मतत्त्वस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥१८॥९०॥

पोखरि ( तालाब ) के विना ही मन ने संसार में चार अवस्थ चार खानि आदिरूप घाट बाँधा है । तथा पुरइन ( कमलपत्र ) के विना ही हृदयादि कमलों में गमनादि के बाट ( मार्ग ) सिद्ध किय है । साहब का कहना है कि यह सब संसार मन के धोखा ( भूल स्वरूप है । और यह बैठा रहता है, तथा चोख ( शीघ्र ) चलना भ चाहता है । अर्थात् साधन विना ही सुख तथा मोक्ष चाहता है ॥९०

## शब्द ९१.

बुझु बुझु पंडित बिरवा न होय । अधा बस पुरुष अधा बस जोय ।
बिरवा एक सकल संसारा । स्वर्ग शीश जर गेल पताला ।
बारह पखुरी चौबिस पाता । फन बरोह लागु चहुं पासा(सता) ।

बुधा! जानीत तत्तत्त्वं यद्बोधान्न भवेत्पुनः।
संसारदेहवृक्षोऽयं दुःखदः फलवर्जितः ॥१९॥
अत्र वृक्षे वसत्यर्द्धे सच्चिदानन्दरूपवान्।
पुरुषोऽर्द्धे च नारी सा नामरूपात्मिका खलु ॥२०॥
विवेकेन तयोर्ज्ञाने संसारोऽयं विलीयते।
सतो भिन्नस्य मिथ्यात्वान्नामरूपे न सिद्ध्यतः ॥२१॥
सर्वविश्वात्मको यद्वा सर्वविश्वेषु चेकलः।
वृक्षो हिरण्यगर्भो वा विराट्स्वर्गोऽस्य मस्तकः ॥२२॥
स्वर्गे वास्य शिरो मूलं पातालेष्ववतिष्ठते।
मासा द्वादश च स्कन्धाः पक्षाः पत्राणि सर्वशः ॥२३॥
सर्वतश्च प्ररोहोऽस्य दिनयामादिलक्षणः।
यैर्मूलानि निबध्नाति यद्वृक्षो न जीर्यति ॥२४॥

हे पण्डितो! उस तत्त्व को अवश्य समझो कि जिसके ज्ञान से फिर देहादिरूप वृक्ष नहीं होते हैं। इस संसार में आधा चेतनात्मा पुरुष बसता है, आधा जीव (मायारूप स्त्री) बसती है॥ यह सम्पूर्ण संसार भी एक महावृक्ष है, जिसके स्वर्ग (ब्रह्मलोक) शिर है, और पाताल तक जड़ गया है॥ बारह मास इसके पखुरी (स्कन्धरूप शाखा) हैं, और चौबिस पक्ष पत्ते हैं, और सात दिन पहरादि इसके चारों तरफ सघन बरोह लगे हैं॥

फुलै न फलै वाकि है बानी। निशिवासर विकार चुव पानी॥
कहहिं थनिर कछु अछलो न तहिया।
हरि बिरवहिं प्रतिपालिन जहिया ॥९१॥

सत्पुष्पं च फलं नायं सूते क्वापि कदाचन।
स्वभावोऽस्य तथा तेन वाङ्मात्रं तु तयो र्मुधा ॥२५॥

विकारात्मकपानीयं क्षरत्यस्मादहर्निशम् ।
अत्रासक्तजनेष्वेवं जन्मदुःखादिलक्षणम् ॥२६॥
इत्थंभूतोऽपि वृक्षोऽयं तदा नासीच्च कश्चन ।
हरिर्यदेममुत्पाद्याऽरक्षत्स्वसत्तया किल ॥२७॥
सत्कारणात्मना यद्वा यदाऽरक्षत्स्वयं प्रभुः ।
तदा नासीज्जगत् किञ्चिन्मायामात्रमभूत्ततः ॥२८॥
सद्गुरुर्भाषते चेत्थं सतत्त्वबोधसिद्धये ।
विचार्य तद् बुधा वित्त यस्माच्च भवसंक्रमः ॥२९॥
जगत सद्विवेके हि मायामात्रं स्फुरेदिदम् ।
न सत्त्वेन तदा प्राप्तं निर्वाणरूपदं भवेत् ॥३०-९१॥

इस वृक्ष में सच्चा फूल फल नहीं लगते हैं, किन्तु वाकी (फूल फल की) केवल बानी मात्र है। और इस वृक्ष के नीचे रहनेवालों के ऊपर रातदिन (सदा) कामादि विकाररूप पानी चूते हैं। जिससे वे लोग सदा पीड़ित होते हैं॥ साहब का कहना है कि तहिया (उस समय तक) कुछ भी नहीं अछलो (नहीं था) कि जिस समय सर्वात्मा हरि ने इस वृक्ष को उत्पन्न करके प्रतिपालन किया। या जिस प्रलय काल में कारणरूप जगत की रक्षा किया ॥९१॥

## शब्द ९२.

वहि बिरवहिं चीन्है जो कोई। जरा मरण रहिते तन होई ॥
बिरवा एक सकल ससारा। पेंड़ एक फूटल तिन डारा ॥
मध्य के डारि चारि फल लागा। साखा पत्र गनै को वाका ॥

उक्तं वृक्षं विवेकेन यः कश्चिद्वेत्ति सज्जनः ।
जरामरणहीनः स विदेहो जायतेऽञ्जसा ॥३१॥

एकोऽयं सकलं विश्वं वृक्षो वै विद्यते महान् ।
तन्मूलं शबलं ब्रह्म ह्येकं शाखात्रयं ततः ॥
वेधोविष्णुहराख्यं वा त्रिलोकीमण्डलं महत् ॥३२॥
सात्त्विक्यां मध्यशाखायां मध्यलोकेऽथवाऽत्र हि ।
अर्थधर्मादिचत्वारि फलानि फलितानि वै ॥३३॥
भूतभौतिककार्यात्मशाखापत्राणि यानि च ।
तानि कः परिसंख्याय वाचा वक्तुमिहार्हति ॥३४॥

उक्त संसार वृक्ष को जो कोई विवेकपूर्वक चिन्हता ( जानता ) है। सो जरामरणादि दुःख से तथा तनु ( देह ) से रहित ( मुक्त ) हो जाता है ॥ यह सम्पूर्ण संसार एक महान् बिरवा ( वृक्ष ) है। जिसके मायी एक ईश्वर पेंड़ ( जड़ ) हैं। और उस एक मूल से तीन लोक गुण-देवरूप तीन डार ( स्कन्ध ) फूटे ( निकले ) हैं ॥ जिसके सात्विक मध्य डार में अर्थ धर्म काम मोक्षरूप चार फल लगते हैं। तथा मध्य-मनुष्य लोक में सबके साधन होते हैं। और उस वृक्ष के भूतभौतिक लोकसुखादिरूप शाखापत्रादि विशेष को तो गिन भी कौन सकता है ॥

बेलि एक त्रिभुवन लपटानी। बाँधे से छूटै नहिं ज्ञानी ॥
कहहिं कबिर हम जात पुकारा। पण्डित होय सो करै विचारा॥९२॥

मायाऽविद्यात्मिका वल्ली सक्ताऽस्मिन् भुवनत्रये ।
वर्तते च तया बद्धो विद्वानपि न मुच्यते ॥३५॥
वृक्षं ज्ञात्वा तु तत्त्वेन स्वात्मानं प्रविविच्य च ।
ज्ञानखड्गेन तां छित्त्वा जीवन्मुक्ता भवन्ति हि ॥३६॥
वयमाहूय संबोध्य गच्छामो भवसागरात् ।
विवेकिनोऽत्र ये शराश्चिन्तयन्तु वचस्त ते ॥३७॥

असङ्गदृढशस्त्रेण छित्त्वेमं मूलसंयुतम् ।
सवल्लिकं च गच्छन्तु परमं धाम निर्मलम् ॥३८॥
एवं छित्त्वा च भित्त्वा च ज्ञानेन परमासिना ।
गच्छन्त्वात्मगतिं शुद्धां पुनरावृत्तिवर्जिताम् ॥३९-९२॥

माया अविद्यात्मक एक वेली तीनों भुवन ( लोक ) में लिपटी हु
है । तिससे बाँधे जाने पर ज्ञानी ( विद्वान ) भी नहीं छूटने पाते हैं ।
साहब का कहना है कि हम पुकार के कहते जाते हैं, कि जो कोई पण्डित
हो सो इस संसार वृक्षादि का विचार करे । इसीके विचार विवेकादि रे
ज्ञान वैराग्यादिपूर्वक मोक्ष की अवश्य प्राप्ति होगी ॥९२॥

## शब्द ९३.

कहु हो निरञ्जन कौने बानी ।
हाथ पाँव मुख श्रवण जीभ नहिं, का कहि जपहु हो प्राणी ॥
ज्योतिहिं ज्योति ज्योति जो कहिये, ज्योति कवन सहिदानी ॥
ज्योतिहिं ज्योति ज्योति दै मारै, तव कहँ ज्योति समानी ॥

कथयन्तु जनाश्चेति किं स्वभावो निरञ्जनः ।
कथ्यते स कया वाचा ह्यवाच्यो निर्गुणो हरिः ॥४०॥
यस्य हस्तौ न पादौ स्तो मुखं न श्रवणं तथा ।
न जिह्वा नैव चान्या वा गुणजात्यादयोऽखिलाः ॥४१॥
अहीत्यादि किमुक्त्वा तं भवन्तः संजपन्ति हि ।
प्राणिनः ! स विवेकेन सम्यग् बुद्ध्या विविच्यताम् ॥४२॥
ज्योतिर्ज्योतिर्यदि ब्रूथे तं हि ज्योतिःस्वरूपिणम् ।

ज्योतिषां ज्योतिरात्मैव यदाऽन्यज्ज्योतिषां च सः।
करोति विलयं देवस्तदा तानि क्व यान्ति च ॥४४॥

हो ( हे ) सज्जनो ! संसारादि के विचारादि से प्राप्त करने योग्य निरञ्जन (निर्गुण) तत्त्व कौने वानी (किस स्वभाववाला वा किस वचन का विषय) है सो समझो और कहो। जिसमें हाथादि कुछ विशेष नहीं है। हे प्राणी !, उसे क्या कहकर जपते हो॥ यदि उस ज्योतिहिं ( ज्योति को ) ज्योतियों का ज्योति कहो। तो उस ज्योति की सहिदानी ( चिन्ह ) क्या है॥ और जब अन्य सब ज्योतियों को वह ज्योतियों का ज्योति दै मारता ( लय करता ) है, तब सब ज्योति कहाँ समाते हैं। सावयव विशेष पदार्थ निरवयव निर्विशेष में कैसे लीन होते हैं॥

चार वेद ब्रह्मा जो कहिया, तिनहुं न या गति जानी।
कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो, बूझहु पण्डित ज्ञानी ॥९३॥

चतुर्वेदान् हि यो ब्रह्मा प्रोक्तवान् सोपि चिद्घने।
शुद्धे न वचसो वृत्तिं गतिं वा ज्ञातवान् प्रभुः ॥४५॥
आहाऽतः सद्गुरुर्धीराः ! श्रवणं सुविधीयताम्।
ज्ञायतां पण्डितान् पृष्ट्वा नाममात्रेण किं भवेत् ॥४६॥
तपसा यो न संग्राह्यः कर्मणा नेन्द्रियैस्तथा।
विशुद्धसत्त्वो जानाति निष्कलं ध्यानतोपि तम् ॥४७॥
"* शान्ताशेषविशेषाणामहन्तान्ता विचारणात्।
केवलं मुक्ततोदेति न तु किञ्चिद्विनश्यति" ॥४८॥

* यो. वा नि. उ. स. ३०।२२॥

सर्वागमार्थभिन्नं यन्नामचिन्हादिवर्जितम् ।
एकमच्छमनाद्यन्तमाद्यं चिन्मात्रमस्ति तत् ॥४९-९३॥

चार वेद को जिस ब्रह्मा ने कहा, उन्होंने भी विचार तथा गुरु बिना इस तत्त्व को नहीं जाना, न उसमें इस वाणी गति जाना। इस लिये साहब का कहना है कि हे सन्तो! ज्ञानी महात्माओं से श्रवणादि करो, ज्ञानी पण्डितों से इस तत्त्व को समझो, केवल निरञ्जन का नाम ही नहीं जपो ॥९३॥

## शब्द ९४.

कहु हो अम्बर कासो लागा। चेतनहारा चेतु सभागा ॥
अम्बर मध्ये दीशे तारा। एक चेतु दुज चेतवनहारा ॥

हे अम्बर! चिदाकाश! जीवासङ्गस्वरूपवन्! ।
केनाप्यनात्मना लग्नः कस्मान्मोहेन धावसे ॥५०॥
सौभाग्यवांश्च बोद्धा त्वमात्मानं बोध सद्विभुम् ।
यस्मिन्निजाम्बरे बह्वयो दृश्यन्ते तारका इमाः ॥५१॥
बुद्ध्यादौ प्रतिबिम्बा हि तारकास्तेषु§ केचन ।
बुद्ध्यन्ते बोधयन्त्यन्ये नैवात्मात्र विभिद्यते ॥५२॥
तारकावच्चिदाभासाः सदा ज्ञातिशयाः खलु ।
नैवात्मास्ति तथा नित्यः क्रियासङ्गादिवर्जितः ॥५३॥

हे अम्बर (चिदाकाशरूप जीव)! किस अनात्मवस्तु में तुम लगे हो। आत्मभिन्न किसको निरञ्जन समझते जपते हो। तुम स्वय

§ एतद्विषयमेव भेदमवलम्ब्य। भेदव्यपदेशाच्चान्य। अधिक तु भेदनिर्देशात्। इत्यादि शारीरकसूत्रम्, नत्वेवाहं जातु नासम्, इत्यादि शास्त्रजात चोपपन्नतरमिति तद्बलेनात्मनि भेदसाधनमकिञ्चित्करम् ॥

चेतनहार ( सबका प्रकाशक ज्योतिरूप ) हौ। हे सभागे इस बात को चेतो ( सद्गुरु से जानो ) ॥ तेराही अम्बर मध्ये ( चिदाकाशरूप में ) बुद्धि आदि में प्रतिबिम्बरूप अनन्त तारे दीखते हैं, उनहीं में एक (शिष्य) चेतता है, और दूसरा (गुरु) चेताता है, अर्थात् गुरुशिष्यादिभाव भेदयुक्त आभास में हैं, एक विभु आत्मा में नहीं है, उसेही समझो ॥

जो खोजो सो उहवाँ नाहीं। सो तो आहिं अमरपद माहीं ॥

यद्धि नित्यं सुखं तत्त्वं विमृग्यसि च सर्वदा।
तन्नाऽनात्मनि न स्वर्गे नाऽन्यत्र क्वापि लभ्यते ॥५४॥
किन्तु तल्लभ्यते नित्ये विभौ स्वात्मपदे यतः।
तत्रैव वर्तते सौख्यं स्वमहिम्नि स तिष्ठति ॥५५॥
गुरूणां शाश्वते शब्दे लभ्यते सोऽञ्जसा तथा।
हृदये सुविवेकेन ज्ञानविज्ञानचक्षुषा ॥५६॥
" विमुक्तविषयासङ्गं सन्निरुध्य मनो हृदि।
यदा यात्युन्मनीभाव तदा निर्वाणमृच्छति " ॥५७॥

जो नित्य सुखादि तुम खोजते हो, सो भी उहवाँ ( परोक्ष स्वर्ग वैकुण्ठादि में ) नहीं है। किन्तु सो सुखादि तो इस अपरोक्ष अमरपद ( चिदाकाश ) में ही है। विवेकादि विना तुझे उसकी प्रतीति नहीं होती है, इसलिये विवेकादि की ही प्राप्ति करो ॥

कहहिं कबिर पद बूझे सोई। मुख हृदय जाके एके होई ॥९४॥

गुरूणां सारशब्दः स स्थानं च शाश्वतं तथा।
तेनैव बुध्यते यस्य ह्येकता स्याद् हृदास्ययोः ॥५८॥

मुखे च हृदये तस्माद्विधाय सत्यतां बुध ! ।
स्वात्मानमक्षरं विद्धि सद्गुरुर्भाषते यथा ॥५९॥
"*व्यापकं सर्वतो व्योम मूर्तैः सर्वं वियोजितम्"।
यथा तद्वत्त्वमात्मानं विद्धि शुद्धं परं पदम् ॥६०॥
"×एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः"।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥६१॥
‡ येनावृतं नित्यमिदं हि सर्वं ज्ञः कालकालो गुणिसर्वविद्यः।
बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव ह्याराग्रमात्रः पुरुषोपि दृष्टः ॥६२-९४॥

इति हनुमद्दासकृतायां शब्दसुधायां विवेकज्ञानायोपदेशवर्णनं नाम सप्तत्रिंशत्तमस्तरङ्गः ॥३७॥

साहब का कहना है कि इस अमर पद को कोई पुरुष बूझ (समझ) सकता है कि जिसके मुख और हृदय में एकता हो, अर्थात् छलकपट रहित सत्यभाषी एक अद्वैत में निष्ठा आदिवाला सत्यपुरुष ही इस तत्त्व को समझता है। अन्य नहीं ॥९४॥

इति विवेक ज्ञानोपदेश प्रकरण ॥३७॥

## शब्द ९५, विवेकादि विना अभिमानादि प्र. ३८.

बन्दे करिले आपु निबेरा ।
जियत आपु लखु जियत ठौर करु, मुये कहाँ घर तेरा ॥

सुशोध्य हृदयं वाचं भो बद्धा देवपूजकाः ।
स्वयं स्वस्यापरोक्षश्च बन्धान्मोक्षो विधीयताम् ॥१॥

---

* उपदेशसाहस्री । प्र. १५।२२॥ × ब्रह्मबिन्दूप. १२॥
‡ ३ श्वे. ६।२॥

" आत्मा + नैव यदात्मानमहितेभ्यो निवारयेत् ।
कोऽन्योऽधिकतरस्तस्मादात्मानं वारयिष्यति ॥२॥
लोकानुवर्तनं * त्यक्त्वा त्यक्त्वा देहानुवर्तनम् ।
शास्त्रानुवर्तनं त्यक्त्वा स्वाध्यासापनयं कुरु " ॥३॥
जीवन्नेव स्वमात्मानं विद्धि विज्ञानचक्षुषा ।
अचलं स्वस्य च स्थानं कुरुष्वात्मानमेव हि ॥४॥
" आत्मन्येव§ सदा स्थित्या मनो नश्यति योगिनः ।
युक्त्या श्रुत्या स्वानुभूत्या ज्ञात्वा सार्वात्म्यमात्मनः ॥५॥
अस्थिरे गृहकार्यादौ स्वात्मीयत्वं जहीहि च ।
मृतौ वै लभ्यते कुत्र वर्तमानं गृहादिकम् ॥६॥

हे बन्दे ( देवादि के दास वा बन्धनयुक्त जीव )! तुम अपना निबेरा ( विवेक-छूटकारा ) आपही करलो। किसीके भरोसे नहीं रह जावो। जियतेजी अपने स्वरूप को आप लखो। और जियते ही में अपना ठौर ( अचल स्थिति ) करलो। मरने के बाद ये वर्तमान गृहादि तेरे कैसे रह सकते हैं॥

यहि अवसर नहिं चेतहु प्राणी, अन्त कोइ नहिं तेरा ।
कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो, कठिन काल को घेरा ॥९५॥

प्राणिनो नैव चेदस्मिन् काले चित्त हिताऽहिते ।
स्वस्थकायाः सुसम्पन्नान्तान्ते वो न कश्चन [illegible]
भवितेति विजानीत [illegible]गृहे तदा [illegible]
निरुद्धा दुःखमेष्यन्ति मन्तो निरयेषु [illegible]

+ इतिहासस. अ. [illegible] * रस्तु. ४२॥ [illegible]

सद्गुरुश्चाह भोः साधो श्रूयतां सुविचार्यताम् ।
आत्मज्ञानविहीनानां दृष्ट्वा दुःखपरंपराम् ॥९॥९५॥

हे प्राणी ! यदि इस अमूल्य अवसर में नहीं चेतते हो तो अन्त में तेरा संग सहायक कोई नहीं होगा ॥ साहब का कहना है कि हे सन्तो ! सुनो, इस समय चेतने विना अन्त समय में कठिन काल के घेरा (यम-यातना आदि ) में प्राप्त होना होता है, इसलिये अब ही सावधान होना चाहिये इत्यादि ॥९५॥

## शब्द ९६.

लोग बोलैं दुरि गये कबीर । या मति कोइ जानैगा धीर ॥
दशरथ सुत तिहुं लोकहिं जाना । रामनाम के मर्महिं आना ॥
जिहि जस जानि परी जिव लेखा । रज्जुक करै उरग ज्यों पेखा ॥

आत्मज्ञानविहीना ये कवयो लौकिका जनाः ।
ते ह्यात्मनो गतिं दूरं मन्यन्ते मोक्षसिद्धये ॥१०॥
लोकाः प्राहुः कबीरं च दुरवस्थं हि मन्वते ।
अत उक्तां मतिं केचिद्धीरा ह्यास्यन्ति सज्जनाः ॥११॥
पुत्रं दशरथस्यैव रामं जानन्ति वै जनाः ।
त्रिलोकेषु रहस्यं च रामनाम्नोऽन्यथाऽस्ति च ॥१२॥
स्वभावेन यथा येन रामो बुद्धस्तथैव सः ।
रामं पश्यति रज्जुं हि यथा सर्पं हि कश्चन ॥१३॥
असर्पे सर्पबुद्ध्या हि यथा कश्चित्पलायते ।
भीत्या तथा ह्यरामेऽपि रामबुद्ध्याऽत्र संसृतौ ॥१४॥

साहब का कहना है कि बहुत लोग बोलते हैं कि हम बहुत दूर गये ( पहुंचे ) हैं। अथवा कबीर दुर गये ( नष्ट हुए )। परन्तु या मति (इस अपरोक्ष आत्ममति) को कोई विरला धीर पुरुष जान सकेगा ॥ दशरथसुत को तो तीनों लोक ही राम जानता है, परन्तु सर्वात्मस्वरूप राम के नाम का मर्म ( भेद ) ही कुछ आन ( विलक्षण ) है, उसे कोई विरला जानता है॥ सद्गुरु सद्विचारादि विना जिस जीव को जैसी बात जान पड़ी सो तैसे ही लेखने ( देखने ) लगा, उसको वैसेही सत्य प्रतीति होने लगी, जैसे कोई रज्जु को उरग ( सर्प ) पेखता ( देखता ) है, तब तक सर्पही सत्य होता है ॥

यद्यपि फल उत्तम गुण जाना। हरिहिं छोड़ि मन मुक्ति न आना॥
हरि अधार जस मीनहिं नीरा। और यतन कछु कहहिं कबीरा॥९६॥

रामचन्द्रस्य सद्भक्त्या फलं मुख्यगुणं हितम्।
सज्जनाः परिपश्यंति भवतात्तत्तथैव हि॥१५॥
सर्वात्महरिमज्ञात्वा त्यक्त्वा तस्य विचिन्तनम्।
+मनसो न भवेन्मुक्तिः कस्यापीह कथञ्चन॥१६॥
सर्वस्य हरिराधारो मोक्षस्य च सुखस्य च।
यथा मीनस्य पानीयं सर्वं तेनात्र लभ्यते॥१७॥
अहो तथापि जीवाश्च भापन्ते यत्नमन्यथा।
विन्दन्ते नैव चात्मानं हरिं शुद्धेन चेतसा॥१८॥९६॥

---

+ न जहाति मनः प्राणान् विना ज्ञानेन कर्हिचित्। तृणान्तरेणैव विना तृणाङ्कमिव तित्तिरि.॥ ज्ञानादवासनीभाव स्वनाश प्राप्नुयान्मनः। प्राणास्पन्द च नादत्ते ततः शान्तिर्हि शिष्यते॥ यो. वा. ६।६९।३४ ३५॥

यद्यपि दशरथसुतादिरूप राम की भक्ति आदि से भी महात्माओं ने उत्तम ( सात्विक ) गुणवाला फल जाना है, तौभी सर्वात्मा हरि को छोड़कर ( उस हरि की प्राप्ति शक्ति बिना ) आना ( अन्य प्रकार से ) मन से मुक्ति ( सूक्ष्मदेह की निवृत्ति ) नहीं होती है ॥ सर्वात्मा हरि ही सबका इस प्रकार आधार है, कि जैसे पानी मछली का आधार है। परन्तु कबीरा ( जीव ) कुछ और ही यतन कहता करता है। हरि को नहीं समझता है इत्यादि ॥९६॥

## शब्द ९७.

कैसे के तरो नाथ कैसे के तरो। अब बहु कुटिल भरो ॥
कैसी तेरी सेवा पूजा, कैसा तेरो ध्यान।
ऊपर ऊजर देखो, बक अनुमान ॥
भाव तो भुवग देखो, अति विविचारी।
सुरति सचान तेरी, मति तो मञ्जारी ॥

वदतो ह्यन्ययत्नं तान् भाषते सद्गुरुः किल। *
यूयं पद्मादिनाया हि कथं मुक्ता भविष्यथ ॥१९॥
इदानीमपि वश्चित्ते रागद्वेषादिसंयुतम्।
वर्तते बहुकौटिल्यमविवेकविमोहजम् ॥२०॥
कीदृशी वा कृता सेवा पूजा वापि भवादृशैः।
ध्यानं कीदृक् च सिद्धचेत कौटिल्यं त्यज्यते न चेत् ॥२१॥
शरीरे दृश्यते तावत्तव स्नानेन शुद्धता।
बकवच्छ्वेतता किन्तु भावस्तेऽस्ति भुजङ्गवत् ॥२२॥
कुटिलो विषवत्तीव्रो विचारविमुखः सदा।
व्यभिचाररतः क्रूरो वञ्चनादिषु तत्परः ॥२३॥

श्येनवत्ते मनोवृत्तिः क्रूरा घातरताऽसती ।
बुद्धिर्मार्जारिकातुल्या मिथ्या ध्यानपरायणा ॥२४॥

गोग्रहादि के नाथ हे जीव ! तुम कैसेके ( किसप्रकार ) तरोगे। अबही तुझमें बहुत कुटिलता भरी है ॥ तेरी ( तुमसे की गई ) किसीकी सेवापूजा भी कैसी हो सक्ती है, तथा तेरो ( तुमसे किया गया ) किसीका ध्यान भी कैसा हो सकता है। तुममें केवल ऊपर की ही उजलापन बकुला समान दीख पड़ती है ॥ तेरा मन का भाव ( आशय ) भुजंग तुल्य टेंढ़ा दीखता है, तथा अत्यन्त विविचारी ( कुविचारी ) पन दीखता है। और तेरी सुरति ( मनोवृत्ति आकार ) सचान ( बाज ) तुल्य है। और मति ( बुद्धि ) मंजारी ( बिल्ली ) तुल्य है ॥

अति रे विरोध देखो, अति रे दिवाना ।
छवो दरशन देखो, वेष लपटाना ॥
कहहिं कबीर सुनहु नल बन्दा । डाइनि एक सकल जग खंदा॥९७॥

दृश्यतेऽतिविरोधोऽतोऽतिगर्वादिश्च मत्तता ।
दर्शनेषु च षट्स्वेवं वेषासक्तिः प्रदृश्यते ॥२५॥
सद्गुरुश्चाह भो भक्ताः शृणुतैतत्सुनिश्चितम् ।
अविद्या डाकिनी ह्येका खादतिस्मासिलं जगत् ॥२६॥
अविद्यादिदोषोस्ति यावद्धृदिस्थो, न यावच्च भावो विशुद्धो न धर्मः। न तावद्धि वेषैर्न देशैश्च कैर्वा, विमुक्तेर्विरक्तेः सुशक्तेश्च वार्ता ॥२७॥९७॥

इति हनुमद्दासकृतायां शब्दसुधायां विवेकादि विनाऽभिमानवंचादि-वर्णनं नामाष्टात्रिंशत्तमस्तरंगः ॥३८॥

रे अज्ञ जीव ! तुझमें अतिविरोध अत्यन्त दिवानापन दीखता है। इससे एक अविद्या कुबुद्धिरूप डाईन ( डाकिनी ) ही सब ससार को खा रही है, फिर मोक्ष कैसे हो। हे बन्दा ( भक्त ) ! लोगों इस सद्गुरु के उपदेश को सुनो, और अवही भी कुटिलता आदि को त्यागो इत्यादि ॥९७॥

इति विवेकादि विना अभिमानादि प्रकरण ॥३८॥

## शब्द ९८, संसारशाम्बरी देहादितुच्छता प्र. ३९.

अब हम जानिया हो, हरि बाजी का खेल।
डंक बजाय देखाय तमासा, बहुरि लेत सकेल ॥

सद्विवेके विचारादौ कृतेऽस्माभिस्तु संप्रति।
ज्ञातं सर्वं जगद्ध्येतद्धरेर्मायाविडम्बनम् ॥१॥
सज्जना भोस्तथा वित्त निखिलं गोगृहादिकम्।
नादयित्वा यथा ढक्कां नटो दर्शयतेऽनृतम् ॥२॥
ढक्कां वै नादयित्वेव शब्दान् कृत्वा सहस्रधा।
कौतुकं दृश्यवर्गस्य हरिर्दर्शयते जनान् ॥३॥
प्रत्यक्षं दर्शयित्वा च कौतुकं सर्वशो हरिः।
स संकोचयते स्वस्मिन्नटः स्वकौतुकं यथा ॥४॥
तस्माद्यस्मादिदं जातं यस्मिंस्तिष्ठति संप्रति।
तं विद्धि मायिनं देवं सत्यं पश्य च निर्गुणम् ॥५॥

हे मनुष्यो ! हमने तो अब जान लिया है कि यह ससार हरि की बाजी ( माया ) का खेल ( मिथ्या कौतुक ) रूप है। जैसे नट डंका बजाकर तमासा ( कौतुक ) देखाता है। और बहुरि ( फिर ) सकेल

(समेट) लेता है। तैसे ही हरि भी विविध शब्द सुनाकर बाजी का तमासा देखाते हैं, और उसका लय करते हैं ॥

हरि बाजी सुर नर मुनि जहडे, माया चाटक लाया।
घर में डारि सबे भरमाया, हृदया ज्ञान न आया ॥

इत्थं ज्ञाने हि को विद्वानथासक्तो भवेत्तथा।
विरोधः केन कः कुर्यात्कौटिल्यं च कथं भवेत् ॥६॥
हरेर्मायाकृते जाले हीन्द्रजालसमेऽनृते।
देवा मुनिमनुष्याश्च भ्रान्ताः खिन्ना ह्यमोमुहन् ॥७॥
मोहकामात्मकं तेषु सेन्द्रजालं त्वयोजयत्।
माया ममत्वजननी वर्ष्मवेश्मस्ववेशयत् ॥८॥
तत्रावेश्य च सर्वांस्तान् सा भ्रामयति सर्वदा।
येषां हि हृदये ज्ञानं सत्यं यावन्नचागमत् ॥९॥
सत्यज्ञानविहीनान् सा देवानपि मुनींस्तथा।
संभ्रामयति,सज्ज्ञाने सर्वांस्त्यजति मुक्तिदा ॥१०॥

जाने विना हरि की बाजी (माया) से सुर नर मुनि सब जहडे (पीडित हुए); क्यों कि माया उन लोगों में चाटक (दृष्टिबंध, कामलोभादि) लगाय दिया ॥ फिर देहरूप घर में डारकर सबको भरमाया (भ्रान्त चंचल किया) इससे हृदय में ज्ञान नहीं प्राप्त हुआ। या जिनके हृदय में ज्ञान नहीं आया उन्हेंही घर में डार कर भरमाया ॥

बाजी झूठ बाजीगर साँचा, साधुन की मति ऐसी।
कहहिं कबिर जिन जैसी समुझी, ताकी गति भौ तैसी ॥

मायाजालं जगत्कृत्स्नं मिथ्येदमिन्द्रजालवत् ।
नटवच्च हरिः सत्यः साधूनामिति सन्मतिः ॥११॥
यथा यैश्च परिज्ञातो हरिः सत्योऽथवा जगत् ।
तादृश्येवाऽभवत्तेषां गतिरन्यत्र वा हरौ ॥१२॥
तस्माद्धित्त हरिं धीरास्त्यज्यतामनृतं जगत् ।
इत्येवं सद्गुरुः प्राह कबीरो जगतां हितम् ॥१३॥
" स्वप्नमाये* यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा ।
तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः ॥१४॥
तम-श्वभ्रनिभं दृष्टं वर्षबुद्बुदसंनिभम् ।
नाशप्रायं सुखाद्धीनं नाशोत्तरमभावगम् " ॥१५-९८॥

नटकृत बाजी के समान माया और उसके कार्यरूप बाजी झूठ हैं, और बाजीगर नट समान हरि ही साँचा ( सत्य ) है, ऐसी साधुओं की बुद्धि है, और अन्य लोग सब संसार को ही सत्य समझते हैं। कबीर साहब का कहना है कि जिन लोगों ने जैसी बात समझी, उनकी गति भी तैसीही हुई। अर्थात् हरि को सत्य समझनेवाले हरि को पाये, संसारी संसार पाये इत्यादि ॥९८॥

## शब्द ९९.

चलहु क्या टेंढ़ो टेंढ़ो टढ़ो ।
दसहुं द्वार नरक भरि बूड़े, तूं गन्धी का बेढ़ो ॥

देहाभिमानतो मूढा वाबज्यन्ते सदा कथम् ।
कुमार्गैर्नैव सन्मार्गे भवन्तो यन्ति सिद्धये ॥१६॥

* गौडपादका. वैतथ्यप्र. २।३१॥ व्यासस्मृ. ॥

युष्माकं यत्र गर्वोऽस्ति तस्य द्वाराणि वै दश ।
नारकीयैर्मलैः संति पूर्णानि तानि पश्यत ॥१७॥
"वसा शुक्रमसृङ् मज्जा मूत्रं विट् कर्णविण्नखाः ।
श्लेष्माऽश्रुदूषिका स्वेदो द्वादशैते नृणां मलाः" ॥१८॥
तत्रैव चाभिमानेन निमग्नत्वाज्जनाः खलु ।
यूयं दुर्गन्धद्रव्यस्य कुशूलत्वं गता इव ॥१९॥
प्राकाराः पूतिगन्धस्य देहगेहाभिमानतः ।
संजायन्ते भवन्तो वै चिदानन्दमया अपि ॥२०॥

झूठी धनसम्पत्ति आदि पाकर अत्यन्त टेंढो होकर ( ऐठ कर ) क्या चलते हो ॥ जिस देह के दशों द्वार नरक से भरा है, देहाभिमान से तुम उस नरक में बूड़े हो, और दुर्गन्ध पदार्थों के बेढ ( बखार ) बने हो। अथवा सुगन्ध का बेढ ( स्थान ) होते भी, देहाभिमान से नरक में बूड़े हो। अर्थात् चिदानन्दमय होते भी दुःखी ससारी बने हो इत्यादि ॥

फूटी नयन हृदय नहिं सूझै, मति एको नहिं जानी ।
काम क्रोध तृष्णा के मांते, बूड़ि मुये बिनु पानी ॥
जो जारे तन होय भस्म धुरि, गाड़े कृमि विट खाई ।
शूकर श्वान काग का भोजन, तन की इहै बड़ाई ॥

हृदयस्थानि नेत्राणि विवेकादिमयानि वै ।
नष्टान्येव हि युष्माकं दृश्यते न ततो हितम् ॥२१॥
एकामपि मतिं नैव विन्दन्ति च शुभां यतः ।
लभ्यते सद्गतिः पुंभिः शांतिः सौख्यं विमुक्तता ॥२२॥
तया विना च कामेन क्रुधाऽतितृष्णयाऽपि च ।
प्रमत्तत्वाद् ब्रुडन्त्येव भवाब्धौ सज्जलं विना ॥२३॥

ब्रुडित्वा किं म्रियन्तेऽत्र ह्यभिमानेन मानवाः ।
कदर्थनां विलोक्यास्य भवाब्धिस्तीर्यतां द्रुतम् ॥२४॥
देहोऽयं जायते दाहे भस्मधूलिर्भवेद् ध्रुवम् ।
भूमिखाते निखातौ च कृमयोऽस्मिन् भवंति हि ॥२५॥
क्रव्यादैर्भक्षितो विट् च निन्दितो जायते यतः ।
शूकरश्वादिकाकानां भक्ष्यत्वमत्र वर्तते ॥२६॥
त्रिधाऽवस्था शरीरस्य कृमिविट्भस्मरूपतः ।
किं गर्वः क्रियते तस्य ह्येतावत्यस्ति मुख्यता ॥२७॥

तेरी हृदय की नेत्र विवेकादि फूटी है। तुमने एक भी शुभमति ( विचारादि ) को नहीं जानी है। इसीसे कामादि से माते हो, और विना पानी के संसार सागर में देहाभिमान से बूड़ मुये हो ॥ यदि देह को जलाया जाय तो भस्म होकर धूलि बन जाता है। गाड़ने पर कृमि होता है, कहीं बाहर छोड़ने पर कुत्ता आदि खाकर विट् ( विष्ठा ) कर देते हैं। क्योंकि यह शूकर स्वानादि का भोजनरूप है। और इस शरीर की इतनी ही बड़ाई है ॥

चेति न देखु, मुग्ध नल बौरे, तुम ते काल न दूरी ॥
कोटिक यतन करो या तनकी, अन्त अवस्था धूरी ॥
बालू के घरवा महँ बैठे, चेतत नाहिं अयाना ।
कहहिं कबिर एक राम भजे बिनु, बूड़े बहुत सयाना ॥९९॥

भोः सुमुग्धजना मत्ताः सावधानैर्हि दृश्यताम् ।
कालो नास्ति कचिद्दूरे भवद्भ्य इति बुध्यताम् ॥२८॥
रक्षार्थमस्य देहस्य यत्नाश्चेत्कोटयो जनैः ।
क्रियन्तेऽप्यन्तकालेऽयं धूलित्वमेव गच्छति ॥२९॥

अहो मूढजना यूयं स्थिताः स्थ वालुकागृहे ।
नो चेनथ निजात्मानं मन्यध्वे च स्थिरं जगत् ॥३०॥
एकस्यैवान रामस्य भजनेन विना प्रभोः ।
वहवः कुशलाः सिन्धौ निमग्नास्तत्र वुध्यते ॥३१॥
" सम्पन्मदे + प्रमत्तश्च विषयान्धश्च विह्वलः ।
महाकामी साहसिकः सन्मार्गं नैव पश्यति ॥३२॥
सद्यः पतति देहोऽयं विना येन सदात्मना ।
तं निषेव्य कालगतिं तरत्येव हि केवलम् ॥३३॥
जन्ममृत्युजराव्याधिहरं सर्वहरं तथा ।
कालस्य तरणोपायं भजनं परमात्मनः " ॥३४॥
" जातिर्विद्या महत्त्वं च रूपं यौवनमेव च ।
यत्नेन परितस्त्याज्याः पञ्चैते भक्तिकण्टकाः " ॥३५॥
अतश्चैतान् परित्यज्य कुरुध्वं भजनं प्रभोः ।
भवाब्धेस्तरणायेति कवीरो भाषते गुरुः ॥३६॥
देहादिमानं परिहृत्य दूरे लोभं च मोहं ममतां विहाय ।
भजन्ति ये,राममनन्यचित्तास्तरंति तेऽपारभवाब्धिमाशु ॥३७ ९९॥

इति हनुमद्दासकृतायां शब्दसुधायां ससारशाम्वरीदेहाभिमानतुच्छता-प्रदर्शन नामैकोनचत्वारिंशत्तमस्तरंग. ॥३९॥

हे मुग्ध ( अज्ञ ) वौरे ( मतवाले ) नल ( मनुष्यो ) ! शीघ्र चेति ( सावधान हो ) कर देखो, तुमसे काल दूर नहीं है । इस देह के लिये करोड़ों यतन करोगे, तौभी इसकी अन्त अवस्था धूलि ही हो जायगी । बालू के घरतुल्य विनश्वर देह में बैठ ( आसक्त हो ) कर

+ ब्रह्मवैवर्तपु. ब्रह्मख. २६।५१॥ कृष्णजन्मख. ९६।२२–४३॥

अयान ( अज्ञ ) लोग चेतते ( होश करते ) नहीं हैं। इससे एक राम के भजन विना बड़ेर सयान ( लोककुशल ) भी ससारसमुद्र में डूबते हैं ॥९९॥

इति ससार शाम्बरी देहादि तुच्छता प्रकरण ॥३९॥

## शब्द १००, गर्भजन्ममरणादिदुःखवर्णन प्र. ४०.

फिरहु क्या फूले फूले फूले।
जब दश मास औन्ध मुख होते, सो दिन काहे भूले॥
ज्यों माखी संचय नहिं बिहुरे, शोचि शोचि धन कीन्हा।
मूये पीछे लेहु लेहु करि, भूत रहन कस दीन्हा॥

धनदेहाभिमानेन कुलगोत्रादिना तथा।
मत्ता भ्रमथ किं यूयं मिथ्याऽऽनन्देन मोहिताः ॥१॥
अधोमुखा यदा यूयमास्त मासान् दशापि वै।
वासरांस्तांश्च भो कस्मान्नरा विस्मरथाबुधाः ॥२॥
" आस्ते कृत्वा शिरः कुक्षौ भुग्नपृष्ठशिरोधरः।
अकल्पः स्वाङ्गचेष्टायां शकुन्त इव पञ्जरे" ॥३॥
मक्षिका मधुवच्चैव संचिन्वन्ति धनं सदा।
वियुज्यन्ते भवन्तो नो तस्मात् कृत्वाऽतियत्नतः ॥४॥
सावधानेन संचिन्त्य संचितं तद्धनं खलु।
युष्मन्मृतौ ग्रहीष्यन्ति जना अन्ये पुनः पुनः ॥५॥
गृह्यतां गृह्यतां कृत्वा धनान्यादाय सर्वशः।
भौतिकं क्षेत्रदेहादि रक्षिष्यन्ति कथं जना ॥६॥

फूले ३ (अत्यन्त गर्वादियुक्त होकर) क्या फिरते (विचरते) हो। जब गर्भ में दश मास औन्धमुख (अधोमुख) होते हो, सो (उन) दिनों

को काहे (क्यों) भूलते हो॥ ज्यों माखी (माखी के समान) धन सचय करते हो, और उस धन से बिहुरते (हटते) नहीं हो, इस प्रकार तुमने शोचर कर धन सचित किया। और तेरे मरने के पीछे लेहुर करके सब लोगों ने उसे ले लिया। और तेरा भूत (भौतिक देहगेहादि) को भी कस (किस प्रकार) रहने दिये। अर्थात् मरने पर कोई वस्तु तेरी नहीं रही॥

जारे देह भस्म होय जाई, गाड़े माटी खाई।
कांचे कुम्भ उदक ज्यों भरिया, तन की यही बड़ाई॥
देहरि ले वर नारि संगि है, आगे संग सुहेला।
मृतक थान लो संग खटोला, फिर पुनि हंस अकेला॥
राम न रमसि मोह के मांते, परेहु काल वश कूंवां।
कहहिं कबिर नल आप बँधायो, ज्यों नलिनी भ्रम सूवा॥१००॥

दाहे भस्मीभवेद्देहो मृत्स्वाधाने तु मृद् भवेत्।
अन्यथा खाद्यते चायं क्रव्यादैः पशुपक्षिभिः॥७॥
आमकुम्भसमे देहे जलवत्प्राणवायवः।
मनोमुखाश्च तिष्ठंति देहस्य श्रेष्ठता हीयम्॥८॥
अन्ते प्राणवियोगे तु द्वारं यावद्वराः स्त्रियः।
सार्द्धं तिष्ठन्ति दुःखार्ताः कियदग्रे सुहृज्जनाः॥९॥
श्मशानान्तं हि खट्वापि सहैव वर्तते ततः।
एकाक्ययं हि चलति हंसो मोहादिसंयुतः॥१०॥
अहो तथापि मोहेन मत्ता यूयं न चिद्घने।
रामे रमथ कालस्य तेनैव वशगाः सदा॥११॥
भवकूपे निमग्नाः स्थ बद्धाः स्थ स्वयमेव च।
नालिकायां शुको बद्धस्स्वयमेव निबध्यते।
यूयं भ्रमेण बद्धाः स्थ तथेति सद्गुरोर्वचः॥१२-१

जलाने से देह भस्म हो जाता है, गाड़ने से माटी होता है, भूमि पर छोड़ देने से कोई जीव इसे खा लेते हैं। कच्चे घड़े में जल के समान इसमें प्राण भरे और टिके हैं। देह की यही बड़ाई है॥ मरने पर देहरी (द्वार) तक श्रेष्ठ स्त्री साथ रहती है। कुछ आगे तक सुहेला (सुहृद् मित्र) रहते हैं। मृतक स्थान तक खटोला (खाट) रहता है, और आगे हंस अकेला चलता है, कोई साथी नहीं होता, तौ भी तुम इस के मोह में मौतकर राम में नहीं रमते हौ, इससे काल के बश में होकर नरकादि अन्ध कूप में पड़े हौ, और नलिनी के सूवा की नाईं आप ही बंधे हौ इत्यादि ॥१००॥

## शब्द १०१.

अब कहँ चलेहु अकेला मीता। उठियो न करहु घरहु की चींता॥
खीर खांड घृत पिण्ड समारा। सो तन लै बाहर कै डारा॥
जिहि शिर रचिरचि बांधहु पागा। सो शिर रतन विदारै कागा॥
हाड़ जरै जस लकरिक झूरी। केश जरै जस तृण की कूरी॥
आवत संग न जात सँघाती। काह भये दलं बाँधे हाथी॥

यावद्देहं गृहे सक्तस्तस्य चिन्तापरो भवान्।
धनदेहपरश्चैकः केदानीं यांति मित्र हे ॥१३॥
उत्थाय गृहचिन्तैव पुनः किं क्रियते नहि।
किञ्चैतद्विदितं पूर्वं यद्यान्तशम्बलं कृतम् ॥१४॥
पायसैर्घृतखण्डाद्यैर्यैः पिण्डः साधितस्त्वया।
स इदानीं बहिर्गेहात् क्षिप्तस्तिष्ठति लोष्टवत् ॥१५॥
यस्मिच्छिरसि संधायाऽवध्रा उष्णीपमद्भुतम्।
शिरोरत्नं हि तत् काका इदानीं विदणन्ति च ॥१६॥

अग्नौ प्रक्षेपणे चास्य ह्यस्थि संशुष्ककाष्ठवत् ।
तृणसंघसमः केशो ज्वलत्येव क्षणादिह ॥१७॥
सेना हस्ती तथाश्वाद्या न त्वया सह चागताः ।
न गमिष्यन्ति सार्द्धं ते किं तेषां संग्रहात्फलम् ॥१८॥

सदा घर कुटुम्बादि की चिन्ता करनेवाले हे मीता! (हे मित्रो!) अब (मरणकाल में) अकेला कहाँ चले हो, अब न उठकर घर की चिंता करो। खीर आदि से जिस पिण्ड (देह) को समारा (सुधारा) सो अब बाहर करके डारा गया॥ जिस शिर पर रचर कर पगरी बाधते रह्यो, सो शिर रतन (श्रेष्ठ शिर) को अब काग विदीर्ण करता है। लकरिक झूरी (सूखी लकरी) के समान हाड जलता है। कूरी (पूज), दल (फौज) से वा हाथी बाधने से क्या भया॥

माया के रस लेहुं न पाया। अन्तर यम विलार होय धाया।
कहहिं कबिर नल अजहुं न जागा।
यम के मुगदर मांझ शिर लागा॥ १०१॥

बहुचिन्तानिमग्नत्वान्मायायाश्च रसं नहि ।
नरो भोक्तुं समर्थोऽभूत्तावदाक्रमते यमः ॥१९॥
मूषिकस्य विनाशाय मार्जारो धावते यथा ।
तथैव धावते मृत्युर्मुहुर्मुहुरतर्कितः ॥२०॥
संमूढो मानवो यस्मादिदानीमपि मोहजाम् ।
कुनिद्रां त्यक्तवान्नैव ततो मध्ये शिरस्ययम् ॥२१॥
यमदण्डोऽलगत्तेन विह्वलो वर्तते सदा ।
दृष्ट्वा तस्य विपत्तिं च भाषते सद्गुरुर्हितम् ॥
भावी दण्डो यथा न स्याद्यापि मोहमार्जनात् ॥२२॥

भोगादिबुद्ध्या प्रसक्तो नरो हि गर्भादिजं दुःखमुग्रं न बुद्ध्वा ।
कामादिभिर्वेष्टितः संशयानो रामं विना मोहितः पीड्यतेऽत्र॥
२३-१०१॥

माया के रस ( आनन्द ) भी नहीं लेने ( भोगने ) पाया । अन्तर ( बीच में ) यम बिलार होकर दौड़ा । अजहु ( मरने तक ) मनुष्य नहीं जगा (मोहादि को नहीं त्यागा) इससे यम के मुगदर (डंटा–गदा) माझ शिर ( मध्य शिर ) में लगा इत्यादि ॥१०१॥

इति गर्भजन्म मरणादि दुःख वर्णन प्रकरण ॥४०॥

## शब्द १०२, राम विना दुःखादिवर्णन प्र. ४१.

मरि हौ रे तन का लै करिहौ, प्राण छुटे बाहर लै धरिहौ ॥
काय बिगुरचन अनबन भांती, कोइ जारै कोइ गाड़ै माटी ॥
हिन्दु ले जारै तुरुक ले गाड़ै, यहि विधि अन्त दोनों घर छाड़ै ॥
कर्म फांस यम जाल पसारा, ज्यों धीमर मछरी गहि मारा ॥

रे नरा मरणे प्राप्ते तन्वा किं वै करिष्यते ।
प्राणवायोर्वियोगे सा वहिस्तूर्णं विकीर्यते ॥१॥
कायस्यास्य विनाशश्च बहुधा जायते ततः ।
केचिद्दहन्ति केचिच्च मृत्स्वेव निखनंति तम् ॥२॥
आर्या दहंति तं कायं तुरुष्का निखनंति च ।
उभये त्याजयतीत्थं गृहमन्ते त्यजंति च ॥३॥
कर्मपाशैर्युतं जालं मोहकामादिलक्षणम् ।
यमः प्रस्तार्य तान् सर्वान् गृहीत्वा हंति सत्वरम् ॥४॥

मत्स्यघाती यथा मत्स्यान् हन्यादेवाविचारयन् ।
यमस्तथा नरान् हंति धर्मरिक्तान् पुनः पुनः ॥५॥
" × इज्याऽऽचारदमाऽहिंसा दानं स्वाध्यायकर्म च ।
अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्" ॥६॥

रे देहाभिमानी मनुष्य ! मरि हौ ( मरोगे ) तो तन ( देह ) लेकर क्या करोगे। प्राण छूटते ही तो लोग इसे बाहर धरते हैं॥ फिर इस काया का विगुरचन ( विद्त-विनाश ) अनवन ( अन्य अन्य ) भांती ( प्रकार से ) होता है, इत्यादि ॥ कर्मफांस ( कर्मफास से युक्त ) जाल ( काममोहादि ) को यम ने पसारा ( फैलाया ) है। और इन जालों से पकड़कर यम इस प्रकार मारता है कि जैसे धीमर मछली को पकड़ के मारता है ॥

राम विना नल होइ हो कैसा । बाट मॉझ गोबरौरा जैसा ॥
कहहिं कबिर पाछे पछतैहो । या घर से जब वा घर जैहो॥१०२॥

नरा! रामं विना यूयं भविष्यथ तथा सदा ।
रोमन्थकारिणः कीटा यथा मार्गे भवंति हि ॥७॥
यथा नश्यंति ते कीटास्तथा नष्टा मुधैव च ।
पश्चात्तापैर्हता यूयं भविष्यथ तनूक्षये ॥८॥
यदा चेदं गृहं त्यक्त्वा मानवं देहमुत्तमम् ।
अन्यत्र यास्यथामाज्ञास्तदा शोकैर्वितप्स्यथ ॥९॥
अतः सद्गुरुराहेदं मोहं त्यजथ भो द्रुतम् ।
रामं भजथ येनात्र भवचक्रे न यास्यथ ॥१०-१०२॥

× याज्ञवल्क्यस्मृ. १।८॥

हे नल ! राम विना कैसा होगे कि जैसे बाट माझ ( मार्ग में ) गोबरौरा ( गोबरकीट ) होता है । उसीकी दशा तुम्हारी भी होगी। फिर पीछे पश्चात्ताप करोगे कि जब या घर ( इस मानव देह ) से वा घर ( पशु आदि देह ) में जावोगे इत्यादि ॥१०२॥

## शब्द १०३.

अपनो कर्मन मेटो जाई ।
कर्मक लिखल मिटे दहुं कैसे, जो युग कोटि सिराई ॥

रामप्राप्तिं विना स्वस्य संचिता कर्मवासना ।
न नश्यति कदाचिद्धि शक्त्या नाशयितुं न च ॥११॥
कर्मणो × हि लिपिः केन कथं नश्यतु वै ध्रुवा ।
कोटिकल्पयुगान्तेऽपि कर्मावश्यं हि भुज्यते ॥१२॥
" अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाऽशुभम् ।
नाऽभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि " ॥१३॥
अधिकारनिमित्तं यत्प्रारब्धं यच्च वर्तते ।
तन्न नश्यति केनापि सत्यमेतच्छ्रुतेर्वचः ॥१४॥

अपना कर्म अधिकारी ( प्रजापति ) लोगों से भी नहीं मेटा जा सक्ता। कर्म के लेख मेटे तो कैसे, यदि करोड़ों युग भी सिराई ( बीत जाय ) ॥

× " महेश्वरो ब्रह्महत्याभयाद्यत्र यतस्ततः । सस्नौ तीर्थेषु कस्माच्च इतरो मुच्यते कथम् ॥ अम्बरीषसुता हृत्वा पर्वतान्नारदात्तथा । सीताहरणमापेदे रामोऽन्यो मुच्यते कथम् ॥ ब्रह्मापि शिरसेच्छेदं कामयित्वा सुतामगात्। इन्द्रश्चन्द्रो रविर्विष्णुप्रमुखाः प्राप्नुयुः कृतम् ॥ स्कन्दपु. माहेश्वरख.

जो सीता रघुनाथ विवाही, सूर्य मन्त्र लिखि दीन्हा।
गुरु वसिष्ठ मिलि लगन शोधाई, पल एक संच न कीन्हा॥

अतश्च रघुनाथो यः सीतां तामूढवान् प्रभुः।
विवाहे यत्र सूर्योऽभून्मन्त्रदाता च लेखकः ॥१५॥
विद्वद्भिश्च मिलित्वैव वसिष्ठो गुरुसत्तमः।
लग्नं शोधितवांस्तत्र तथापि न च स प्रभुः ॥१६॥
पलैकमपि शांतिं वा सौख्यं वा लब्धवांस्ततः।
वनवासादितो युद्धात् सीताविरहकारणात् ॥१७॥
'को वा कस्य सुतस्तातः का स्त्री कस्य पतिस्तु वा।
कर्मणा भ्रमणं शश्वत् सर्वेषां भूरि जन्मनि ॥१८॥

कर्मरेख नहीं मेटने से ही जिस सीता को रघुनाथ (रामचन्द्र) ने विवाही, और जिस विवाह में सूर्यदेव मन्त्रलेखक हुए। स्वयं मन्त्र लिखकर दिये। वसिष्ठजी ऐसे गुरु विद्वानों से मिलकर लग्न शोधा, तौभी राम वा सीता एक पल भी सच (सुख आराम) नहीं करने पाये॥

तीन लोक के कर्ता कहिये, वालि वध्यो वरियाई।
एक समय ऐसी बनि आई, उनहूं अवसर पाई॥
नारद मुनि के वदन छिपायो, कीन्हो कपि के रूपा।
शिशुपाल के भुजा उपारेउ, आपु भये हरि ठूंठा (भूपा)॥

कौमारिकख. अ. ४५ श्लो. ८४। इत्यादि॥ "कर्माण्यत्र प्रधानानि सम्यगृक्षे शुभे ग्रहे। वसिष्ठकृतलग्नापि जानकी दुःखभाजनम्॥" गरुडपु. आ. अ. ११३।२५॥

लोकत्रयस्य कर्ता यः कथ्यते विष्णुरात्मवान् ।
रामरूपो ह्यसौ वालिं हतवान् यद्बलात्ततः ॥१९॥
आगतोऽसौ पुनः कालः साधनं च तथाविधम् ।
येन तस्य फलं लब्धं कृष्णरूपेण तेन हि ॥२०॥
व्याधरूपस्य तस्यापि सोऽमिलत्समयस्तथा ।
येन प्रत्यर्पितं तस्य फलं कृष्णे निरङ्कुशम् ॥२१॥
नारदस्य मुनेर्यच्च मायया छादितं मुखम् ।
कपिवच्च कृतं तेन कपीनां सहगोऽभवत् ॥२२॥
"*मायां* * *कृत्वा महेशोऽपि संजातो मानुषस्ततः ।*
माया क्वापि न कर्तव्या विद्वद्भिर्दोषदर्शिभिः" ॥२३॥
शिशुपालस्य बाहू च यस्मात्स व्यपरोपयत् ।
भूत्वैव कुणिवत्तस्मादतिष्ठत्स स्वयं हरिः ॥२४॥

जिन्हें तीन लोक के कर्ता कहते हैं, जो वालि को बलात्कार से बध किये। एक ऐसा समय उनके लिये भी बनकर आया कि जिससे उन्हें भी उसका फल भोगने का अवसर मिला। नारदमुनि का मुख को छिपाय दिये और कपितुल्य कर दिये, तथा शिशुपाल के भुजा उखाड़ लिये, जिससे आप हरि ( विष्णु ) भी ठूठ ( विकृत हाथवाला ) कुरूप धारण किये ॥

पारवती को बांझ न कहिये, ईश न कहिय भिखारी ॥
कहहिं कबिर कर्ता के वार्ते, कर्मक बात नियारी ॥१०३॥

गर्भजेन हि पुत्रेण विहीना पार्वती न च ।
वन्ध्या ह्यासीत् स्वभावेन भिक्षुको वा महेश्वरः ॥२५॥

---

* अद्भुतरामायणे ॥

किन्तु सर्व कृतं ह्येतत् कर्मणैव वलीयसा + ।
अधिकारिजनेभ्योऽतः कर्तृभ्य. कर्मणां सदा ॥२६॥
ईश्वरेभ्योऽपि सामर्थ्यं गतिश्च वलवत् स्थिरा ।
सद्गुरुर्वैक्त्यतस्तेषां वार्ता व्यवहृतिं तथा ॥२७॥
जानीयुः सुजना येन ह्यधिकारो न मुक्तिदः ।
ज्ञानेनैव तु कल्याणं तेषामप्यन्ततो भवेत् ॥२८॥
अतः सर्वं विहायैव श्रीरामे रमणं कुरु ।
तत्रैव रममाणस्य सर्वबन्धो निवर्तते ॥२९॥
"* तावन्माया भवभयकारी पण्डितस्त्वं न यावत्,
तत्पाण्डित्यं पतसि न पुनर्येन संसारचक्रे ।
यत्नं कुर्यादविरतमतः पण्डितस्त्वेऽमलात्म-
ज्ञानोदारे भयमितरथा नैव ते शान्तिमेति" ॥३०-१०३॥

पार्वती को स्वभाव से ही वध्या नहीं कहना चाहिये, न ईश (शिवजी) को स्वभाव से भिक्षुक कहना चाहिये ॥ क्योंकि साक्ष्य कर्ताओं (अधिकारियों–प्रजापतियों) की बातें कहते हैं कि इन सबसे भी कर्म की बात न्यारी (विलक्षण शक्तिशाली) है। इससे कर्माधीन ही पार्वतीजी बाझ रही, शिवजी भिक्षुक रहे इत्यादि ॥१०३॥

+ ब्रह्मा येन कुलालवन्नियमितो ब्रह्माण्डभाण्डोदरे, विष्णुर्येन दशावतारगहने क्षिप्तो महासङ्कटे । रुद्रो येन कपालपाणिपुटके भिक्षाटनं कारितः, सूर्यो भ्राम्यति नित्यमेव गगने तस्मै नमः कर्मणे ॥ गरुडपु पूर्वख आचारका ११३/१५॥

* २ श्री वा नि. उ. म. १४२।४६॥

## शब्द १०४.

तन धरि सुखिया कोइ न देखा, जो देखा सो दुखिया ।
उदय अस्त की बात कहत है, सोऊ तो भौ दुखिया ॥
बाटे बाटे सब जग दुखिया, क्या गिरही बैरागी ।
शुकाचार्य दुखही के कारण, गर्भहिं माया त्यागी ॥

कर्मणोऽवश्यमेवात्र भोक्तव्यत्वेन केऽपि नो ।
दृश्यन्ते देहिनो देहं गृहीत्वा सुखभागिनः ॥३१॥
किन्तु सर्वे प्रदृश्यन्ते महादुःखान्वितास्तथा ।
सुखलेशेन युक्ताश्च मोहात्तं मन्वते बहुम् ॥३२॥
सृष्टिप्रलययोर्यश्चोदयास्ताचलयोरपि ।
वार्तां वदति शास्त्राद्यैर्दुःखितः सोपि दृश्यते ॥३३॥
जगतां सर्वमार्गेषु दुःखवन्तोऽभिमानिनः ।
संसारिणः प्रदृश्यन्ते गृहस्था वेषिणस्तथा ॥३४॥
गृहस्थाद्याश्रमात् किं स्यात् किं विरागाश्रमात्तथा ।
देहवाञ्जायते * दुःखी विदेहः सुखभाग् भवेत् ॥३५॥
अस्य दुःखस्य दाहार्थं शुकाऽऽचार्यो विरक्तधीः ।
गर्भ एवाऽखिलां मायां त्यक्त्वाऽदेहोऽभवत्स्वयम् ॥३६॥

उदय अस्त ( सृष्टि प्रलय, उदयाचल अस्ताचल ) की बात जो कहता है सो भी दुखिया हुआ ॥ बाटे२ (कर्मोपासना सम्प्रदाय व्यवहार

---

* आत्तो वै सशरीरः प्रियाऽप्रियाभ्याम् । छा. ८।१२।१॥ नाश्रमः कारणं मुक्तेर्दर्शनानि न कारणम् । तथैव सर्वकर्माणि ज्ञानमेव हि कारणम् ॥ गरुडम. पु. अ. १९।८८॥

के मार्गो) में सब ससारी दु.खी हैं। क्या गृहस्थ क्या वैरागी (वेषधारी विरक्त) सब दु.खी हैं। इस दु.खही के कारण (दु.ख होनेसे उसकी निवृत्ति के लिये) शुकदेवाचार्य गर्भही से माया को त्याग दिया॥

योगी जंगम ते अति दुखिया, तपसी कहँ दुख दूना।
आशा तृष्णा सब घट व्यापे, कोइ महल नहिं सूना॥
साँच कहौं तो सब जग खीझे, झूठ कहल नहिं जाई।
कहहिं कबीर तेइ भौ दुखिया, जिन यह राह चलाई॥१०४॥

देहाभिमानसत्वे हि योगिनो जङ्गमास्तथा।
अतिदुःखमराऽऽक्रान्ता दृश्यन्तेऽत्र विमोहतः॥३७॥
ततोऽपि द्विगुणं दुःखं दृश्यते तु तपस्विषु।
आशातृष्णादयो यस्माद् व्याप्नुवंति समन्ततः॥३८॥
केषाञ्चिन्नैव चाशानां हृद्देहाख्यगृहाणि तैः।
विरिक्तानीह दृश्यन्ते दुःखिनोऽतो भवन्ति ते॥३९॥
इत्थं हि कथिते सत्ये क्रुध्यन्ति सर्वदेहिनः।
असत्यं नैव वक्तुं च शक्यतेऽत्र मया क्वचित्॥४०॥
प्रवर्तिता हि यैर्लोके काम्यकर्मादिलक्षणाः।
मार्गास्ते ह्यभवन् खिन्ना, अपि विश्वप्रवर्तकाः॥४१-१०४॥

योगी जगम अत्यन्त दु खी हैं। तपसी को दूना (द्विगुण) दु ख। तिसमें कारण है कि आशातृष्णा सबके घट (देह) में व्याप्त। कोई महल (देहगृह,) इन आशादिकों से शून्य (रहित) नहीं॥ परन्तु इस साँच बात के कहने से सब ससारी खीझते (क्रुद्ध होते)। और मुझसे झूठ कहा नहीं जाता। साहब का कहना है कि वेही

लोग दु खिया हुए कि जिन्होंने आशातृष्णादिमय इस ससार के बहुविध मार्ग चलाये। या इस मार्ग में चले चलाये ॥१०४॥

## शब्द १०५.

खसम बिनु तेलिक बैल भयो।
बैठत नाहि साधु के सगति, नाधे जन्म गयो ॥

आत्मरामं गुरुं चैव रक्षकं स्वामिनं विना।
तैलिकस्य वृषैस्तुल्या यूयं जाताः स्थ जन्तवः ॥४२॥
यथा तद्बलिवर्दानां गृहे क्रोशा ह्यनन्तकाः।
भ्रमंति च सदा तत्र बद्धाक्षाश्च तथा जनाः ॥४३॥
भ्राम्यति लोकयोः शश्वद्देशे परिमिते तथा।
न कदाचन सत्तत्त्वे यान्ति शुद्धे चिदात्मनि ॥४४॥
आसक्त्या चाभिमानाद्यैः सत्सङ्गे न कदाचन।
तिष्ठंति च ततो नष्टं वर्ष्माप्यत्रत्यकर्मसु ॥४५॥
काम्यकर्मादियुक्तानां वर्ष्मेदमगमद् यदि।
तदा जन्माऽफलं जातं मोक्षसाधनमुत्तमम् ॥४६॥

हे मनुष्यो ! खसम ( रक्षक ) सद्गुरु सर्वात्मा राम की प्राप्ति बिनु बद्धनेत्र और परिमित देश में परन्त घूमनेवाला तेली के बैल समान हुए हौ ॥ कभी साधु की सगति में भी नहीं बठते हौ, काम्य कर्मादि कोल्हु मे नाधे ( जोते ) और बहते ही में तेरा जन्म गया ॥

बहि नहि मरहु पचहु नि स्वारथ, यम के दण्ड सह्यो।
धन दारा सुत राज काज हित, माथे भार गह्यो ॥

वाहं वाहं महाभारं भवद्भिर्म्रियते मुहुः ।
सत्यस्वार्थं विना मोहान्मिथ्यास्वार्थस्य सिद्धये ॥४७॥
सत्यस्याप्तिं विना चात्र यमदण्डोऽतिदुःसहः ।
सह्यते स्म भवद्भिश्च सह्यते प्राणिभिः सदा ॥४८॥
अहो तथापि मोहेन धनदारादिसिद्धये ।
सुतार्थं राजकार्यार्थं भारो वै गृह्यते महान् ॥४९॥
तं गृहीत्वा च धावन्तो लभन्ते विश्रमं नहि ।
अहो तथापि सर्वेऽमी भारायैव समुद्यताः ॥५०॥
वर्तन्ते न तु मोक्षाय न सुखाय हिताय च ।
यतन्ते मानवा मूढा मोहेन विवशीकृताः ॥५१॥

लौकिक व्यवहारों में बहर कर मरते हो, और सत्य स्वार्थ विनाही पचते ( पीडित होते ) हो, यम के कठिन दण्डों को सहे हो ॥ तौभी धन स्त्री पुत्र राजकाज के वास्ते ही अपने शिर पर भार उठाये हो और सद्विचार सत्सगादि नहीं करते हो ॥

रसमहिं छोड़ि विषय रंग राच्यो, पापक बीज बयो ।
झूठ मुक्ति नल आश जीवन की, प्रेतक जूठ खयो ॥
लख चौरासी जीव योनिमहँ, सायर जात बह्यो ।
कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो, श्वानक पूँछ गह्यो ॥१०५॥

स्वामिनं सुगुरुं हित्वा रक्तैस्तैर्विषयेष्वथ ।
तत्प्रेमादि हि पापानां बीजमुप्तं हृदि स्वके ॥५२॥
पापबीजेन मुक्तिर्हि मिथ्या भाति तथा हृदि ।
आशा जागर्ति नित्यं सा जीवनस्य धनस्य च ॥५३॥

आशाद्यैश्च पराभूताः कामाद्यैर्मोहितास्तथा ।
प्रेतानामपि चोच्छिष्टं भुक्तवन्तोऽर्थसिद्धये ॥५४॥
कर्मणा तेन कामाद्यैर्वेदाष्टलक्षयोनिषु ।
पतिताः स्थ समुद्रेषु निरह्यन्ते च तैः सदा ॥५५॥
सद्गुरुश्चाह भोः साधो श्रूयतामेतदद्भुतम् ।
यदद्यत्वेऽपि नैते हि गृह्णन्ति सुतरिं दृढाम् ॥५६॥
कुदेवादिशुनां किन्तु पुच्छं गृह्णन्ति सादरम् ।
काम्यासत्कर्मभिश्चैव वांछति तरितुं भवम् ।।५७-१०५॥

रसम को छोडकर विषय रग में राच्यो ( प्रेम किया ) सोई पाप के बीज बोया। उससे मुक्ति झूठ प्रतीत होने लगी, और मनुष्य को जीवनादि की आशा बढने लगी। फिर आशा से प्रेत के जूठ खाया॥ जिस अकर्म कुकर्म से चौरासी लाख योनिरूप सायर ( समुद्र ) में जीव बहा जाता है। और इस अवस्था में भी प्रेतादि कुत्तों के पूछ पकड़ कर ससार से पार होना चाहता है इत्यादि ॥१०५॥

## शब्द १०६.

पण्डित वाद वदै सो झूठा।
राम कहे जु जगत गति पावै, खांड कहे मुख मीठा ॥
पावक कहे अंग जो दाहे, जल कहे तृषा बुझाई ।
भोजन कहे भूख जो भागे, तो दुनिया तरि जाई ॥

अर्थवादान् विवादांश्च नाम्नोऽपि विवदंति ये ।
कामात्मानः प्रसक्ताश्च भोगैश्वर्यादिमोहिताः ॥५८॥

असत्यभाषिणस्तेऽतस्तत्रेत्थं वित्त पण्डिताः ।
यदि रामोक्तिमात्रेण सन्मुक्तिर्लभ्यते जनैः ॥
तदा खण्डादिवादेन मुखे मधुरता भवेत् ॥५९॥
अग्नेश्च नामतो दाहो यदि ह्यङ्गे भवेत्तथा ।
जलस्य कथनादेव विनश्येच्च तृषा यदि ॥६०॥
अन्नस्य च कथामात्राद् बुभुक्षाविगमो भवेत् ।
तदैते नाममात्रेण मुच्येरन् देहिनः खलु ॥६१॥
ज्ञानादेव हि कैवल्यं नान्यः पन्था विमुक्तये ।
अतो यत्नेन वोद्धव्यं रामभक्त्या निजं पदम् ॥६२॥
काम्यकर्मपरित्यागे विरागश्च शमादिकम् ।
अमानितादिकं सर्वमभ्यस्येज्ज्ञानसाधनम् ॥६३॥

हे पण्डित ! वाद ( अर्थवाद, स्तुति आदिवाक्य ) मात्र जो वदै ( कहै ) सो झूठा है। राम कहे ( राम शब्दमात्र के उच्चारण से ) यदि संसारी मुक्ति पावे, तो खाडादि नामों से मुख में मिठासादि होना चाहिये ॥ या यदि खाड पावकादि कहने से मिठापन दाहादि होय तो माना जा सकता है कि रामादि नाम के कहने से संसार तर जायगा ॥ वस्तुतः " यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्तां मनसा ध्यायन् वषट् कुर्यात् " गोपथब्रा. ३।४। इत्यादि वचनों के अनुसार नामजपादि सभी स्थानों में ध्यानादि की आवश्यकता है यह भाव है ॥

नल के संग सुगा हरि बोलै, हरि प्रताप नहिं जानै ।
जो कबहुं उड़ि जाय जँगल महँ, स्वपनहुं सुरति न आनै ॥
बिनु देखे बिनु अरस परश बिनु, नाम लिये का होई ।
धन धन कहे धनिक जो होवै, निरधन रहै न कोई ॥

मनुष्याणां हि संगत्या कीरोऽपि भाषते हरिम् ।
हरेर्नैव प्रताप स किन्तु जानाति कश्चन ॥६४॥
अतएव कदाचित्स चेदुड्डीय वनं व्रजेत् ।
न संस्मरति तत्रासौ स्वप्नेष्वपि हरिं तदा ॥६५॥
तथैव मानवो यो हि संगत्या भाषते हरिम् ।
प्रतापं नैव चेद्वेत्ति स हरिं भजते किमु ॥६६॥
प्रत्यक्षेण विना तस्य स्पर्शसांमुख्यमन्तरा ।
नाममात्राद् भवेत् किं तद्वते ज्ञानान्न मुक्तता ॥६७॥
धनस्य नाममात्रेण धनिकश्चेद् भवेज्जनः ।
तदा न निर्धनः कोपि भवे भूयाद् भयावहे ॥६८॥

मनुष्य के संग से सुवा भी हरि २ बोलता है, परन्तु हरि का प्रताप को नहीं जानता है। इसीसे जब कभी जगल में उड़ जाता है, तो स्वप्न में भी हरि की सुरति (स्मरण) को दिल में नहीं आनता (लाता) है। प्रतापादि जाने विना केवल नाम लेनेवाले मनुष्यों की भी यही दशा होती है॥ देखे और अरस परश (संग स्पर्श) आदि के विना नाम लेने मात्र से क्या सच्चा फल हो सकता है॥ यदि धन २ कहने से धनी हुआ जाय तो कोई निर्धन नहीं रहे॥ यद्यपि "शब्दे मारा गिर परा, शब्दे छोड़ा राज" इत्यादि साखियों से शब्दों में अद्‌भुत शक्ति का साहब ने वर्णन किया है, इससे नाम मात्र से भी श्रद्धालु सच्चा सच्चरित्र भक्त को अवश्य फल प्राप्त होता है, तथापि प्रकृत में विषयासक्ति का त्याग और प्रेम परतत्त्व के दर्शनादि पर्यन्त यत्न का विधान में साहब का तात्पर्य है॥

सांची नेह विषय माया सो, हरि भक्तन की फांसी ॥
कहहिं कबिर एक राम भजे बिनु, बांधे यम पुर, यांसी ॥१०६॥

सत्यमेतद् वुधा वित्त मायां च विषयांस्तथा ।
सत्यत्वेन विनिश्चित्य स्नेहो यः क्रियतेऽनृते ॥६९॥
स एव हरिभक्तानां पाशो भवति बन्धदः ।
तस्य त्यागेन सद्भक्त्या ज्ञानान्मुक्ता भवंति ते ॥७०॥
अतएव तथैकस्य रामस्य भजनं विना ।
जना यमपुरे याथ यूयं तद् भाषते गुरुः ॥७१॥
रामभक्तिं विना नैव शमादिमन्तरा नहि ।
कामत्यागं विना नैव ज्ञानं कुत्रापि लभ्यते ॥७२॥
" *अविद्याया न चोच्छित्तौ ज्ञानादन्यदपेक्षते ।
ज्ञानोत्पत्तौ न चैवान्यच्छमादिभ्यो ह्यपेक्षते ॥७३॥
भूमौ यथाऽऽहितं लौहं भूमित्वमुपगच्छति ।
मनोऽक्षरे धृतं तद्वदक्षरत्वं निगच्छति ॥७४॥
तावत्तरङ्गत्वमयं करोति जीवः स्वसंसारमहासमुद्रे ।
यावन्न जानाति परं स्वभत्वं निरामयं तन्मयतामुपेतः"॥७५-१०६॥

इति हनुमद्दासकृतायां शब्दसुधायां रामप्राप्ति विना देहिनां दुःखकर्मवश्यतादिवर्णनं नामैकचत्वारिंशत्तमस्तरङ्गः ॥४१॥

विषयादिरूप माया में सत्य वुद्धि से प्रेम ही हरि भक्तों के लिये फासी है। इससे उस स्नेह का त्यागपूर्वक एक शुद्ध राम को भजने विना बाधा हुआ यमपुर में जाते हो (भाव है कि अजामिल की शुभ गति उस साधु की कृपा से हुई कि जो पुत्र का नारायण नाम रखने का उपदेश दिये थे। और प्रथम कोई शुभ कर्म था कि जिससे साधु की कृपा हुई, अन्त में नारायण कह सका इत्यादि। रावण आदि तो

* बृहदा. वा. १।३।१८॥ बृ वा. ४।४। ७२६॥ यो. वा. नि. उ. ८२।२५॥

जन्मान्तर के हरिदास ही थे. केवल शाप भोग के लिये तत्तत् शरीर धारण किये थे। इससे इनके दृष्टान्त से नामादि मात्र से मुगति समझना उचित नहीं है इत्यादि ) ॥१०६॥

इति राम विना दु:खादि वर्णन प्रकरण ॥४१॥

## शब्द १०७, मायाकृत भ्रमतरणार्थोपदेश प्र. ४२.

है कोइ गुरु ज्ञानि जगत मे, उलटी वेदो बूझै ।
पानी मे आग लागी, अन्धहिं आँखि न सूझै ॥

गुरोर्लब्धावबोधोऽत्र ज्ञानी कोपि स विद्यते ।
वेद्यान् यो वैपरीत्येन जानाति विश्ववर्तिनः ॥१॥
मनोवृत्त्यात्मकं ज्ञानं परावृत्य भवाच्च यः ।
वेदानुद्धाट्य सद् वेत्ति गुरुर्ज्ञानी स कथ्यते ॥२॥
शान्ते शुद्धे परानन्दे ह्यज्ञानात्तापलक्षणाः ।
अग्नयो हि प्रतीयन्ते वेद्ये तद्विपरीतता ॥३॥
निरुद्धाक्षश्च यो बाह्याद्वेदसिद्धान्तविन्मुनिः ।
ज्ञानविज्ञाननेत्राभ्यां तत्त्वं स एव पश्यति ॥४॥
किञ्चेन्द्रियगणैः शून्यो योऽचक्षुर्वर्तते शिवः ।
स एव निखिलं विश्वं नेत्रैः पश्यति सर्वदा ॥५॥

सद्गुरु से ज्ञान के लाभ करनेवाले ज्ञानी ससार में कोई विरले हैं। जो वेद (वेद्य पदार्थ या वेदों) को उलट कर समझते हैं। अर्थात् सत्यादि भासता हुआ ससार को जो असत्यादिरूप समझते हैं। और अर्थवादादि का प्रवृत्ति में तात्पर्य समझते हैं इत्यादि ॥ इस समझ के विना पानी (आनन्द स्वरूप) आत्मा मे तापरूप अग्नि लगी हुई प्रतीत

होती है और अन्ध (जड़) में आखों द्वारा देखना भास रहता है। या पानी में आग लगी प्रतीत होती है, परन्तु अन्ध (अविवेकी) को यह बात आखों से नहीं सूझ रही है, इससे भ्रम की निवृत्ति के लिये यत्न भी नहीं करता है इत्यादि ॥

गाई तो नाहर को खलो, हरिणी खैलो चीता।
कागा नगरे फांदिके, बटेरन बाज जीता ॥

मनोमायात्मकौ गावौ पुरुषव्याघ्रसत्तमम्।
खादतः स्वाविवेकेन विवेके त्वन्यथा भवेत् ॥६॥
ज्ञानिनां हि मनः कालं करालमपि बाधते।
अन्यबाधे कथा काऽस्ति सर्वानात्मविबाधनात् ॥७॥
इन्द्रियाण्येव चाज्ञानां हरिणाश्चञ्चलाः सदा।
तानि खादंति चैतन्यं संतोषादिविवेकिनाम् ॥८॥
ज्ञानिनां हरिनिष्ठात्मा हरिणी तापरूपिणीम्।
तरक्षुं चैव चिन्तां च खादत्येव न संशयः ॥९॥
तित्तिर्यो वृत्तयस्तुच्छाः पुंकाकनगरे गताः।
विचाराद्यात्मकां च्छयेनानजयन्नञ्जसा ततः ॥१०॥
तथा सत्सङ्गिनो लोके नरांल्लङ्घ्य कुत्सितान्।
श्येनान् कालादिकाञ्जित्वा ब्रह्मानन्देऽभवन् स्थिराः ॥११॥

गाई (मन वा माया) नाहर (बड़ा व्याघ्रतुल्य बड़े लोगों) को खाया। हरिणी (चञ्चल इन्द्रियाँ) चीता (छोटा व्याघ्रतुल्य छोटे लोगों) को खाया। बटेरन (तुच्छ वृत्तियाँ) काकतुल्य पुरुषों के समुदायों का आक्रमण उलङ्घन करके उनके विचार बुद्धि आदिरूप बाजों को जीता है ॥

मूसा तो मंजारे खैलो, स्यारे खैलो श्वाना ।
आदि का उद्देश जाने, तासू विश्वे बाना ॥

मूषिका वासना तुच्छा शास्त्रजं बोधमद्भुतम् ।
मार्जारं खादतिस्मैतद्नभ्यासफलं विदुः ॥१२॥
ज्ञानिनां सुमनोवृत्तिरनादिं च दुरक्षराम् ।
मायां मार्जारिकां तूर्णं खादित्वा सा स्वर्गगता ॥१३॥
मनश्चेन्द्रियदेवाश्च जम्बुकास्तेऽविवेकिनम् ।
श्वानं विषयिणं नूनं खादन्तिस्म स्वपुष्टये ॥१४॥
ज्ञानिनामुपदेशो वा जम्बुको वादतत्परान् ।
शुनः खादितवानेव ह्यन्यानपि सुदुश्चरान् ॥१५॥
इत्यादिसुविवेकेन वेद्यान् कृत्वेव चान्यथा ।
अबोधकालिकान् धीरो ज्ञादितत्त्वोपदेशनम् ॥१६॥
तत्त्वेनैव विजानाति तस्य विश्वेऽपि सर्वशः ।
कार्याणि खलु सिद्ध्यंति यशोऽप्यस्य स्थिरायते ॥१७॥

मूसा ( मलिन वासना ) मजार ( शास्त्रजन्य बोधादि ) को खाया । स्यार ( भूतप्रेतादि कुदेव ) श्वान ( कुभक्त मांसाहारी ) को खाया । आदिका ( आदितत्त्व का ) उद्देश ( उपदेशादि ) को जो जानता है तासु (तिसमें) विश्वे बाना ( सब संसार स्वाग के समान ) होता है ॥

एकहीं तो दादुर खैलो, पांचे हू भुवंगा ।
कहहिं कबीर पुकारिके, है दोउ एक संगा ॥१०७॥

एकैव चास्थिरा बुद्धिः प्रमादभ्रमसंयुता ।
मण्डूकी पञ्चसर्पान् सा खादतिस्म मुहुर्मुहुः ॥१८॥

विवेकं सुविरागं च शमं ज्ञानं दमं तथा।
तथा विद्याप्यविद्यादीन् खादत्येव न संशयः ॥१९॥
आश्चर्यं यद्विरुद्धास्ते वर्तन्ते सह जन्तुषु।
कश्चित्केचिन्निवर्तन्ते प्रौढज्ञानादिना खलु ॥२०॥
अतस्तस्यैव लाभार्थं दयया प्रेरितो गुरुः।
पौनःपुन्येन तत्तत्त्वं भाषते येन मुच्यते ॥२१॥
ब्रह्मात्मन्यपि सर्वं तद्विरुद्धं वर्तते जगत्।
आनन्दे दुःखभानं च जडे ज्ञानस्य कल्पना ॥२२॥
सर्वार्था विपरीताश्च द्वन्द्वान्यपि च सर्वशः।
तानि सर्वाणि नश्यंति तद्वाक्यामृतपानतः ॥२३-१०७॥

दादुर ( अविद्यायुक्त बुद्धि ) पाच भुवंग ( विवेक, विराग, शम, दम, ज्ञान ) को खाया। या विद्यादियुक्त बुद्धि अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेशरूप पाच भुवंग को खाया॥ और ये दोनों विरोधी गुण प्रगटरूप से शरीर जीव में ही रहनेवाले हैं। इत्यादि ॥१०७॥

## शब्द १०८.

योगिया के नगर बसै मति कोई। जोरे बसै सो योगिया होई॥
वहि योगिया के उलटा ज्ञाना। कारा चोला नाहीं म्याना॥

मुमुक्षवो न केऽप्यत्र संसक्तेषु कुयोगिषु।
निवसेयुर्यतस्तत्र वसन्तः स्युर्हि तादृशाः ॥२४॥
" कामिनां* कामिनीनां च संगात्कामी भवेत्पुमान्।
देहान्तरे ततः क्रोधी लोभी मोही च जायते " ॥२५॥

* आत्मपु. अ. ७।६४॥

" + सङ्गं न कुर्यादसतां शिश्नोदरतृपां क्वचित् ।
तेषां सङ्गात्तमस्यन्धे पतत्यन्धानुगोऽन्धवत् " ॥२६॥
ज्ञानं सर्वं कुयोगानां विपरीतं हि वर्तते ।
शरीरमुभय तेषां क्रूरं तीक्ष्णं च खड्गवत् ॥२७॥
तस्य संयमनार्थं च कोशतुल्य विवेकजम् ।
न वैराग्यादिकं तेषां तेन घ्नन्ति हि सङ्गतः ॥२८॥

योगिया ( सयोगी कुयोगी आसक्त मनुष्य ) के सग में कोई नहीं बसो, उसके साथ जो मन्द विवेकी कोई सज्जन बसता है, तो वह भी योगिया हो जाता है। और उस योगिया के सब ज्ञान उलटा ( विपरीत ) रहते हैं। और चोला ( सूक्ष्म स्थूल दोनों देह ) कारा ( क्रूर तीक्ष्ण घातक ) रहते हैं। और उन्हें वश में रखने के लिये वेराग्यादिरूप म्यान ( कोश ) योगिया के पास नहीं रहते हैं, इससे वह संगी को अवश्य पीड़ित करता है ॥

प्रगट सो कन्था गुप्ता धारी। तामहँ मूल सजीवन भारी ॥
यहि योगिया के युक्ति जो बूझै। राम रमै तेहि त्रिभुवन सूझै ॥
अमृत वेली क्षण क्षण पीवै। कहँ कबिर योगि युगयुग जीवै ॥१०८॥

प्रत्यक्षां स्थूलरूपां ते गुप्तां सूक्ष्मस्वरूपिणीम् ।
कन्थां वै दधते गर्वात्तयोरभ्यन्तरे स्थिताम् ॥२९॥
अविद्यां मूलभूतां च जीवयन्तीं जगत्त्रयम् ।
विशालां दधते यद्वा परं संजीवनौषधम् ॥३०॥
आत्मैव वर्तते तस्य ज्ञानं तेषु न विद्यते ।
अतो देहाभिमानाद्यैः संसरंति कुयोगिनः ॥३१॥

+ भा. स्क. ११।२६।३॥

कुयोगिभवयोग यो जानात्यत्र विवेकवान्।
रमते स्वात्मरामे च त्रिलोकीं स प्रपश्यति ॥३२॥
रसं चामृतवल्ल्याः स विद्यानन्दाभिधं सदा।
पिबन् साक्षिस्वरूपेण तिष्ठतीति गुरोर्मतम् ॥३३॥
वदन्त्यन्ये तु तेषां यो यागदानादिलक्षणाम्।
युक्तिं वेत्ति तटस्थे च रामे वै रमते तथा ॥३४॥
तस्य त्रिभुवनज्ञानं जायते योगमन्तरा।
संगत्यागेन किं तस्य वैराग्येण च किं भवेत् ॥३५॥
वदंति कवयश्चान्ये ते प्राप्य स्वर्गमूधसु।
पानं चामृतवल्ल्या वै रसस्य कुर्वते सदा ॥३६॥
भूत्वैव ह्यमरास्तत्र जीवन्त्येव युगंयुगम्।
नावर्तन्ते पुनस्तेऽत्र मुक्ता एव भवन्त्यत ॥३७-१०८॥

प्रगट ( प्रत्यक्ष स्थूल देह ) कन्था ( गुदरी ) गुप्त ( सूक्ष्मदेह ) को सो योगिया धरा है, इनमें अभिमान किया है। तामहँ ( उन दोनों में ) उनका मूल ( कारणदेह ) भारी सजीवन ( ज्ञान विना अविनाशी महान् ) है॥ उस योगिया का संसार से युक्ति (सम्बन्ध) को समझकर जो सर्वात्मा राम में रमता है, उसको तीनों भुवन (लोक) सूझता है। अर्थात् वह सब लोकों के तत्त्वस्वरूप को जान जाता है। और विद्याबेली का अमृतरस ( जीवन्मुक्ति का सुख ) को क्षण२ पीता है। और अमर साक्षिस्वरूप से सदा जीता है। सो बड़े२ आचार्य भी कह गये हैं॥ 'वहि योगिया के युक्ति जो बूझे' इत्यादि का दूसरा अर्थ है कि नामादि मात्र से मुक्ति माननेवालों का कथन है कि, योगिया के सगादि से हानि नहीं होती, उसके यागदानादिरूप युक्ति को जो समझता है, 'और तटस्थ राम में रमता है, उसे सिद्धि के बल से

तीनों लोक सूझता है। तथा स्वर्ग सान्तादि लोकों में जाकर अमृतवेली के रस का पान करके युग२ जीता है इत्यादि ॥१०८॥

## शब्द १०९.

भाइ रे बिरले दोस्त हमारे, बहुत बहुत का कहिये।
गढन भञ्जन समारन आपे, राम रखै त्यों रहिये॥

भो भ्रात र्बह्वो येऽत्र संति संयोगिनो जनाः।
निमग्ना वै जगज्जाले तेभ्यो बहु वदामि किम् ॥३८॥
ये केचिद्विरलाः संति मत्प्रेमनिरता नराः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो जिज्ञासादिसमन्विताः ॥३९॥
तेभ्यः संकथयामीदमसङ्गत्वसुसिद्धये।
राम एव स्वयं कर्ता शक्तियुक्तो महाप्रभुः ॥४०॥
सत्तया स्वप्रकाशेन सर्वेषां रक्षकस्तथा।
अन्ते नाशयिता सैव ज्ञात्वेवं तं बुधाः सदा ॥४१॥
तत्र संलग्नचित्ताः स्त यथा रक्षति स प्रभुः।
यथा स्थापयते चात्र तथा तिष्ठत सर्वदा ॥४२॥
चिन्तां त्यक्त्वा शरीरादेस्तच्चिन्तास्तत्पराः सदा।
विमोक्ष्यध्वे तथा तूर्णं नान्यथा मोहयन्त्रिताः ॥४३॥
रामं बहुं न मन्यध्वमेकं स्मरत तं प्रभुम्।
सर्वात्मानं समर्थं च निर्मलं नित्यसाक्षिणम् ॥४४॥

रे भाई! हमारे (सद्गुरु के) विरले दोस्त (प्रेमी) हैं, उनके प्रति बहुत से बहुत बात क्या कहें॥ या उन दोस्तों से भिन्न जो बहुत लोग हैं, उनके प्रति बहुत क्या कहें॥ प्रेमी भक्तों के प्रति केवल इतना ही कहना है कि सर्वात्मा राम आपही गढन समारन

भञ्जनहार ( उत्पत्ति पालन नाशनहार ) है, इसलिये वह जैसे रखे, तैसे ही चिन्तारहित होकर रहना चहिये ॥

आसन पवन योग श्रुति स्मृती, ज्योतिष पढ़ि वैलाना ।
छौ दरशन पाखण्ड छयानवे, एकल काहु न जाना ॥
आलम दुनी सकल फिरि आयो, एकल उहै न आना ।
ताजी करिगह जगत उपायो, मनमहँ मन न समाना ॥

असंसक्तिं विना केचिदासनाभ्यासतत्पराः ।
वायुयोगपराश्चैव प्राणायामपरायणाः ॥४५॥
श्रुतिं स्मृतिं पठित्वाऽन्ये ज्योतिषं च बहुश्रुताः ।
जडा एव प्रदृश्यन्ते स्वात्मज्ञानाद्बहिष्कृताः ॥४६॥
ये षड्दर्शनिनः सर्वे पाषण्डनिरता जडाः ।
केवलं तेऽगुणं ह्येकं केऽपि जानन्ति नोऽबुधाः ॥४७॥
सर्वे संघाश्च संसारे तीर्थादौ सर्वयोनिषु
लोकेषु च मुहुर्भ्रान्त्वा ह्यागताश्चात्र भुक्तये ॥४८॥
तत्त्वं नालभ्यत क्वापि केनापि वा कथञ्चन ।
आत्मरामं विना भद्र ! यतः स एकलः शिवः ॥४९॥
तत्त्वप्राप्तिं विना ते हि गृहं करिगहं पुनः ।
नूतनं देहरूपं वै जनयन्तिस्म संसृतौ ॥५०॥
यतस्तेषां मनो नैव गृहीतं मनसाऽभवत् ।
आशातृष्णादिसंयुक्तं कर्मादि वर्तते ततः ॥५१॥

उक्त ज्ञान के विना आसनाभ्यास, पवनयोग ( प्राणायाम ) परायण श्रुति स्मृति ज्योतिषादि पढनेवाले भी वैलाना ( बैलतुल्य ) हुए रहते हैं, इसीसे षड्दर्शनी छयानवे पाखण्डी कोई भी एकल राम को नहीं

जाना ॥ मकुल आलम ( जमात ) दुनी ( दुनियाँ ) मे फिर आया। परन्तु एकल वह रामही है। अन्य कहीं कुछ नहीं मिला। और राम की प्राप्ति विना जगत में ताजी ( नवीन ) करिगह (देहरूप घरविशेष) उपायो ( उत्पन्न किया ) और मन में मन नहीं समाया ( मन स्ववश नहीं हुआ ) ॥

कहहिं कबिर योगी औ जंगम, फीकी इनकी आशा।
राम नाम रटिये ज्यों चातक, निश्चल भक्ति निवासा ॥१०९॥

मनसोऽग्रहणात्सम्यग् योगिनो जङ्गमस्य च ।
हृदि स्फुरति तुच्छाऽऽशा निष्फला सबला मुहुः ॥५२॥
अतो मनो निगृह्येव कर्तृत्वं परिहृत्य च ।
चातकेन समं प्रेम्णा रामनाम रटादरात् ॥५३॥
तेन ते निश्चला भक्ति र्हृदये वत्स्यति द्रुतम् ।
भाषते सद्गुरुश्चैवं सर्वथा मुक्तिसिद्धये ॥५४॥
तुच्छया वाऽऽशया युक्ता वदन्त्येवं कुयोगिनः ।
रटनाच्चातकस्येव भक्तिर्वसति निश्चला ॥५५॥
आशापाशैर्गुणविरचितैः कामलोभादिबन्धैः,
स्वाङ्के नीत्वा तदनु सकलान् वासनादौ निपात्य ।
श्वभ्रे मिथ्यावचनकलहैर्मानसं स्वं च माया,
जीवान् हंति प्रबलरिपुवद्रामभक्त्या तरैते ॥५६-१०९॥

इति हनुमद्दासविरचितायां शब्दसुधायां मनोमायाकृतभ्रमतरणोपदेशवर्णनं नाम द्वाचत्वारिंशत्तमस्तरंगः ॥४२॥

साहब का कहना है कि ज्ञानादि विना योगी आदि की भी आशा फीकी ( निष्फल ) उत्पन्न होती है। इसलिये आशादि को त्यागकर

रामनाम को चातक के समान प्रेम से रटो तो निश्चय हृदय में भक्ति निवास करेगी। और ज्ञान होगा॥ या फीकी आशायुक्त योगी आदि कहते हैं कि चातक के समान केवल नाम रटने से अवश्य भक्ति प्राप्त होगी इत्यादि॥१०९॥

इति मायाकृत भ्रमतरणार्थोपदेश प्रकरण॥४२॥

## शब्द ११०, संशयजन्य जन्मादि प्र. ४३.

रामुरा संशय गाँठि न छूटै। ताते पकरि पकरि यम लूटै॥
है मिस्कीन कुलीन कहावहु, तुम योगी संन्यासी।
ज्ञानी गुणी शूर कवि दाता, या मति किनहुं न नाशी॥

रामनामधना भो भो रामात्मानश्च मानवाः।
यत. संशयकामाशामोहाद्यात्मकग्रन्थयः॥१॥
अध्यासग्रन्थयश्चैव न नश्यंति ततः सदा।
ग्राहं ग्राहं यमो नित्यं जनान्नाशयतेऽखिलान्॥२॥
भूत्वा मस्करिणो यूयं भक्ताश्च साधवोऽपि वा।
योगिनो जङ्गमाश्चैव वेषमात्रेण नान्यथा॥३॥
कुलीनाश्चापि कथ्यन्ते ह्यभिमानं च कुर्वते।
शास्त्राणां ज्ञानिनो भूत्वा शिल्पज्ञा गुणिनोऽपि च॥४॥
दानिनः कवयो धीराः संशयान्नाशयंति न।
मतिं न विपरीतां चेदभिमानयुतां कुधीम्॥५॥
तदा सर्वं हि तद् व्यर्थं विपरीतफलप्रदम्।
नैव स्वर्गप्रदं नापि मोक्षदं तत्कदापि हि॥६॥

हे रामुरा ! ( रामधनवाले ! ) जिससे संशय गाठि ( अज्ञान संशयादिजन्य अध्यास कामादि बन्धन ) नहीं छूटते हैं, तिसीसे यम पकर २ के लूटता ( नष्ट करता ) है ॥ संशयादि से ही तुम सब मिस्कीन ( दीनदास साधु सन्यासी ) वेषमात्र से होकर भी कुलीनता आदि के अभिमान रखते हो, और योगी सन्यासी आदि कहाते हो, परन्तु किसीने या मति ( संशयविपर्यय बुद्धि ) को नहीं नष्ट किया ॥

सुस्मृति वेद पुराण पढ़ै सब, अनुभव भाव न दरशै ।
लोह हिरण्य होत दहुं कैसे, जो नहिं पारस परसै ॥

स्मृती वेदान् पुराणादीन् पठन्ति सर्वमानवाः ।
आत्मानुभवभावो न तथापि तेषु दृश्यते ॥७॥
मनोग्रहं विना तद्वदाशात्यागादिकं विना ।
जायतेऽनुभवो नैव यमबाधा न नश्यति ॥८॥
यावन्न दृश्यते चात्मा तावल्लोहसमोऽप्ययम् ।
कथं हिरण्यतुल्यः स्याज्जीवो मुक्तश्चिदव्ययः ॥९॥
पार्श्वाख्यमणिसम्बन्धं विना लौहं कथं भवेत् ।
हिरण्यं तत्समः पन्था जीवब्रह्मत्वसिद्धये ॥१०॥

सुन्दर स्मृति पुराणादि सब पढ़ते हैं परन्तु अभिमान संशयादि की निवृत्ति विना सत्यात्मा के अनुभव ( ज्ञान ) अपरोक्ष परिचय का भाव ( सत्ता ) किसीमें दीख नहीं पडता है। और जबतक आत्म अनुभव नहीं हुआ है तबतक लोहतुल्य जीव हिरण्य तुल्य उज्वल मुक्त होत दहु ( होवे तो ) कैसे, यदि आत्मस्वरूप पारस से परस (सम्बन्ध) ही नहीं हुआ है ॥

जियत न तरेहु मुये का तरिहो; जियतहिं जो न तरै ।
गहि परतीति कियो जिन जासो, सोइ तहाँ अमरे ॥

आशापाशं विलूयात्र त्वभिमानं विधूय चेत् ।
जीवन्तो नैव मुच्यध्वे मुच्यध्वे वै मृताः किमु ॥११॥
ये जीवन्तो न मुच्यन्ते ते यत्र प्रीतिसंयुताः ।
दृढविश्वासयुक्ताश्च भवंति मरणावधि ॥१२॥
मृतास्तत्रैव जायन्ते कर्मनद्धाः कदाशया ।
नियद्धा यमपाशैश्च पीड्यन्ते यमदुर्भटैः ॥१३॥
जगद्भ्रमं परिज्ञाय त्यजन्ति वासनां तु ये ।
ते विरक्ता विमुच्यन्ते जीवन्तो न मृताः पुनः ॥१४॥

आत्मानुभवादि से यदि जियते ही नहीं तरेहु ( मुक्त हुए ) तो मरने पर क्या तरोगे। जो कोई जियते ही में नहीं तरे, इस कारण से जिन लोगों ने जासो ( जिससे ) गहि परतीति ( दृढ विश्वास–प्रेम ) किये सोइ ( वे ) अमरे ( मरने से प्रथमादि ) तहाँ ( वहाँ ) स्थिर हुए ॥

जो कछु कियो ज्ञान अज्ञाना, सोई समुझ सयाना ।
कहहिं कबिर तासों का कहिये, देखत दृष्टि भुलाना ॥११०॥

ज्ञानाज्ञाने च ये केचित्कर्मोपासनलक्षणे ।
कृते स्तो मानवैर्विश ते विद्धि फलदे मृतौ ॥१५॥
तत्फलं भुज्यते मृत्वा ज्ञानाऽज्ञानैश्च यत्कृतम् ।
नान्यद्धि प्राप्यते किञ्चित्कुतो मोक्षः कुतः सुखम् ॥१६॥
रागादियुक्ततां बन्धं तद्विमुक्तिं च मुक्तताम् ।
प्रत्यक्षमपि यो दृष्ट्वा भ्रान्तो भ्रमति मोहतः ॥१७॥

तं किं वच्मि कथं तं च बोधयामि परं पदम् ।
इत्येवं सद्गुरुः प्राह ज्ञात्वा मोहं महत्तमम् ॥१८॥
" असंशयवतां मुक्तिः संशयात्मा विनश्यति ।
मानेनैव च नश्यंति तमसा ये पराजिताः ॥१९॥
निर्मानमोहा जितसंगदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्"॥२०-११०

इति हनुमद्दासकृतायां शब्दसुधायां सद्ग्रन्थ्यादितो जीवन्मुक्तेर्भावादिवर्णनं नाम त्रिचत्वारिंशत्तमस्तरंगः ॥४३॥

ज्ञान ( उपासना, या ज्ञानपूर्वक ) अज्ञान ( कर्म या बिन जाने ) जो कुछ शुभाऽशुभ किये हो, सोई ( उसीके फल ) मरने पर प्राप्त होता है ऐसा समझो, मुक्ति जियतेही होती है ॥ दृष्टि ( आंख ) से कर्मफल बन्धमोक्षादि को देखकर भी जो भूले हैं, तिनसे क्या कहा जाय ॥११०॥

इति संशयजन्य जन्मादि प्रकरण ॥४३॥

## शब्द १११, ज्ञान विना सर्वनिष्फलता प्र. ४४.

देखि देखि जिव अचरज होई । यह पद बूझै विरला कोई ॥
धरती उलटि आकाशहिं जांई । चिउँटी के मुख हस्ति समाई ॥
बिनु पवने जो पर्वत ऊड़ै । जीव जन्तु सब वृक्षहिं चूड़ै ॥

ये दृष्ट्वाऽपि भ्रमन्तीह दृष्ट्वा दृष्ट्वा हि तान् सदा ।
आश्चर्यं जायते स्वान्ते जगल्लीलां विलोक्य च ॥१॥
अपरोक्षं पदं ह्येतमात्मानं विरला जनाः ।
पश्यन्त्यन्ये च भूमिस्थाः स्वर्गाय संति सोद्यमाः ॥२॥

आत्मनो विमुखा मान्या योगिनोऽपि हि केचन ।
पार्थिवीधारणाद्यन्ते व्योम्नि गच्छन्ति मुक्तये ॥३॥
पिपीलिकाऽऽस्यतुल्याया हस्तितुल्याः शरीरिणः ।
संविशन्ति मनोवृत्तौ वासनायां सुखाशया ॥४॥
अहो वायु विना यत्र मायावेगेन पर्वताः ।
उड्डीयन्ते समाधिस्थास्तत्रान्ये जन्तवः खलु ॥५॥
ससारवृक्षचूडायां स्वर्गे गत्वा प्रपातदे ।
सुख शांतिं विमृग्यंति मोहवात्यायुते सदा ॥६॥
योगिनः पवनं स्वदूध्वोड्डीयोड्डीयानवन्धतः ।
शरीरशिखरे यांति स्वेन्द्रियैर्जन्तुभिः सह ॥७॥

जान बूझकर भ्रमते हुए को देख २ कर जिव ( मन ) में आश्चर्य होता है। और यह ( अपरोक्ष ) आत्मपद ( सर्वाधार ) को बूझनेवाले तो बहुत विरले कोई मनुष्य होते हैं॥ किन्तु सब धरती ( पृथिवी ) वासी उलटि कर आकाश ( स्वर्ग ) में जाना चाहते हैं। और चिउँटी तुल्य सूक्ष्म वासना के मुख में हस्तीतुल्य महान् जीव समाते हैं॥ जहाँ विना वायु के पर्वततुल्य समाधिस्थ भी मनोमाया के वेग से उड़ रहे हैं, तहाँ साधारण जीवजन्तु सब ससारवृक्ष पर चढ़ना और इसकी चूडा स्वर्गादि में स्थिति चाहते हैं॥

सूखे सरवर उठे हिलोर। विनु जल चकवा करै किलोर॥
बैठा पण्डित पढ़ै पुरान। विन देखे का करै वखान॥
कहहिं कबिर जो पद को जान। सोई सन्त सदा परमान॥१११॥

शुष्के सरोवरे तत्र सत्यानन्दादिवर्जिते ।
तद्दृष्ट्याऽऽनन्दभङ्गोऽपि बहुधा जायते खलु ॥८॥

चक्रवाकसमास्ते च सत्यानन्दजलं विना ।
कल्लोलं कुर्वते तत्र स्वात्मानं मन्वते नहि ॥९॥
पण्डिताश्चोपविश्यात्र पुराणानि पठंति ये ।
परोक्षस्य कथां तेऽपि कुर्वते नैव चात्मनः ॥१०॥
सद्गुरुश्चाह ये लोके त्वपरोक्षं पदं विदुः ।
त एव साधवस्तेषां प्रमाणं वचनं सदा ॥११॥
त एव सज्जनैः सेव्यास्त्याज्याः सर्वे कुबुद्धयः ।
ज्ञेयः स निर्गुणो रामो हेया वै संशयादयः ॥१२-१११॥

सूखा हुआ सरोवर तुल्य ( सत्यानन्द रहित ) स्वर्गादि में अज्ञ दृष्टि से हिलोर ( आनन्द के तरग ) उठते ( उत्पन्न होते ) हैं। और सुखरूप जल के विनाही चकवा ( देवादि ) किलोर ( कल्लोल ) करते हैं॥ पंडित लोग बैठेर पुराण पढ़ते हैं, और विनु देखे ( परोक्ष ) स्वर्गादि ) का व्याख्यान करते हैं, परन्तु पद ( अपरोक्ष आत्मस्वरूप आधार ) को जो जानता है, सोई सन्त है, और उसीके वचन सदा प्रमाण स्वरूप हैं ॥१११॥

## शब्द ११२.

तुम यहि विधि समुझहु लोई हो, गोरी मुख मॉदर बाजै ।
एक सगुण पट चक्रहिं बेध्यो, बिनु वृष कोल्हु माचै (जै) ।
ब्रह्महिं पकरि अग्निमहँ हून्यो, मच्छ गगन चढ़ि गाजै ।

अये जिज्ञासवो लोका इत्थमुक्तं हि बुध्यताम् ।
परोक्षवादिनां वाक्यं सम्यगालोच्य यत्नतः ॥१॥
मुखवाद्येन ते तावद्विशुद्धं कथयंति हि ।
कुण्डलिन्या मुखे चैषां संशुद्धे व्यज्यते रवः ॥२॥

एकस्तु सगुणः कश्चित्तेषां 'चक्रेषु षट्स्वथ ।
संविद्धो वर्तते तेन तानि विद्ध्यंति ते खलु ॥३॥
न तु विद्ध्यंति शुद्धेन वाक्येऽन्यद् हृदयेऽन्यथा ।
एषां हि वर्तते तेन गुरुर्न लभ्यते हरिः ॥४॥
वृषं धर्मं विना तद्वद् वृषं ज्ञानं विना च ते ।
शरीरं तैलयन्त्रं हि चालयंति मृजन्ति च ॥५॥
मोक्षं सौख्यं न तैलं ते लभन्ते तेन सत्कचित् ।
निबद्धा विकलाश्चैव भ्रमन्ति भवकानने ॥६॥
मनो ब्रह्म हि तान् सर्वान् हुत्वा तापत्रयाग्निषु ।
ज्योतिष्वेव जगत्यां च गगने मोदते स्वयम् ॥७॥
मनोमायात्ममत्स्यो वा जीवान् ब्रह्मात्मकान् खलु ।
अग्नौ हुत्वा स्वयं सैव गगनं प्राप्य राजते ॥८॥
तं कश्चित्पश्यति ब्रह्म कश्चित्सौख्यं प्रपश्यति ।
तस्य साक्षिस्वरूपं तु विशुद्धं नैव पश्यति ॥९॥

हे सुजन लोगो ! आप इस प्रकार समझो कि इन परोक्षवादी लोगों के मुखरूप मादर (बाजाविशेष) ही गोरी (शुद्ध निर्गुण) बाजता (बोलता) है ॥ और एक कोई सगुण पदार्थ इनके छवों चक्रों में व्याप्त रहता है, और सत्य धर्म ज्ञानादिरूप वृष (बैल) के विना ही इनके देहरूप कोल्हु जलादि से धोया माजा जाता है ॥ या नाचता है । अथवा ये लोग बैल विना (बैल नहीं होते) भी कोल्हु तुल्य भवचक्र में निरन्तर चलते हैं ॥ इससे मन रूप ब्रह्मही इन्हें पकड़ कर तापादि रूप अग्नि में हवन किया है । और मनोमायादिरूप मछली इनके हृदयादिरूप गगन में चढ़कर गाजती है, इत्यादि ॥ या मनमायारूप मछली जीवरूप ब्रह्म को संसाराग्नि में हवन करके आप गगन में विराजती है ॥

नित्य अमावस नित्य ग्रहण है, राहु ग्रसन नित दीजे ।
सुरहीं भक्षण करत वेद मुख, घन बरषै तन छीजै ॥

ज्ञानेनापि विना नित्यं चित्तचन्द्रलयात्मिका ।
योगिस्वान्तेष्वमावास्या जायते ग्रसनं तथा ॥१०॥
इन्द्रियादिग्रहैरेवं जीवचन्द्रस्य विद्यते ।
ग्रहणं ग्रसनं चापि कालभेदेन सर्वदा ॥११॥

सुष्मणाप्राप्तिरूपापि त्वमावास्या सदा भवेत् ।
इडया कुण्डलिन्यां च प्राप्तिः संग्रसनं विधोः ॥१२॥

नाडया पिंगलयाप्राप्तिः कुण्डलिन्यां तु या भवेत् ।
सा सूर्यग्रहणं नित्यं योगिनां हृदये भवेत् ॥१३॥
इत्थं संग्रसनेऽप्यस्य योगिचित्तस्य सर्वदा ।
तस्याभिव्यक्तिरूपा च द्वितीया वर्तते सदा ॥१४॥

हठेनैतन्निरुद्धं हि प्रादुर्भवति नित्यशः ।
अतो ज्ञानं विना तस्य विनाशो नैव विद्यते ॥१५॥
"" सर्व एव परिक्षीणाः संदेहा यस्य वस्तुतः ।
सर्वार्थेषु विवेकेन स विश्रान्तः परे पदे" ॥१६॥
" ज्ञानादवासनीभावं स्वनाशं प्राप्नुयान्मनः ।
प्राणास्पन्दं च नादत्ते ततः शान्तिर्हि शिष्यते ॥१७॥
वेदमुख्यांश्च वेदैर्हि देवाः खादंति सर्वदा ।
कर्मादिघनवर्षेऽपि तनुस्तेषां तु हीयते ॥१८॥
लम्बिकाविधिना योगा सुरभीनामिकां निजाम् ।
जिह्वामेव हि भ्लक्षंति ज्ञात्वा वेदविधिं हि तत् ॥१९॥
चन्द्रनाडीघनस्तत्र वर्षत्यमृतविन्दुकान् ।
पिबतां तांश्च तेषां वै तनोर्नाशो भवत्यलम् ॥२०॥

वांछया तेऽमरत्वस्य तान् पिबंति तथापि न ।
तत्फलं जायते साधो स्रियन्ते ते तु मोहतः ॥२१॥

चित्त चन्द्रमा का लयरूप अंगावास्या योगियों के हृदय में सदा होती है तथा हठ से उसका ग्रहणरूप ग्रास भी होता है। परन्तु फिर उसका आविर्भाव रूप दूजा ( द्वितीया ) भी ज्ञान मोक्ष विना होती ही है॥ फिर वेदमुख ( वेदवक्ताओं ) को भी गुरुही ( देवही ) भक्षण करते हैं, चित्त की सत्ता रहते विद्वान् भी देवाधीन होते हैं। घन (बहुत) कर्मादि की वर्षा करने पर भी शरीर का नाश अवश्य होता है। योगी लोग वेदविधि समझकर खेचरी मुद्रा की विधि से सुरभी नामक निज जिह्वा का भक्षण करते हैं, और अमरत्व की वाञा से अमृत बिन्दु की वर्षा करके उसका पान करते हैं परन्तु शरीर अवश्य नष्ट होता है॥

त्रिकुटी मध्ये मांदर बाजै, अवघट अम्बर छीजै।
पुहुमिक पनिया अम्बर भरिया, ई अचरज को बूझै (बीजै)॥

त्रिकुट्यां च मृदङ्गो यो वाद्यते प्राणवायुना ।
तस्मिन्नपि कुघट्टे हि नश्यत्येव चिदम्बरम् ॥२२॥
नादाभ्यासरतो यस्मादात्मज्ञानं विना भजन् ।
विनिमज्जत्यविद्यायां नैव जातु चिदात्मनि ॥२३॥
तुच्छे पार्थिवदेहे च योगजानन्दलक्षणम् ।
पानीयमयमादत्ते सिद्धिजं नतु बोधजम् ॥२४॥
इदमत्र महाश्चर्यमानन्दात्मा स्वयं सदा ।
सुखमन्वेषते तुच्छं तत्को वेत्ति त्वखण्डितः ॥२५॥
चिदानन्दस्वरूपोपि विमलाद्विमलस्फुटः ।
अनन्तोपि न जानाति दुःखी दीर्घाय खण्डितः ॥२६॥

योगियों की त्रिकुटी में माँदर (मृदंग–अनहद बाजा ) बजता है। उसी अवघट ( कुघाट ) में अम्बर ( चिदाकाशरूप जीवात्मा )' छीजता ( बोध बिना नष्ट होता ) है ॥ क्योंकि पुहुमी ( पृथिवी ) के पानी ( आनन्द ) को उस चिदम्बर ने प्राप्त किया ( अर्थात् पार्थिव देह-विषयादि के तुच्छ सुख को ही सत्य समझकर उसकी प्राप्ति किया ) या आश्चर्य का बीज ( कारण ) है, इसको बूझ ( समझ ) भी कौन सकता है इत्यादि ॥

कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो, योगिन सिद्धि पियारी ॥
सदा रहत सुख संयम अपने, वसुधा आदि कुमारी ॥११२॥

उवाच सद्गुरुः साधो शृणु त्वं योगिनां गतिम् ।
एतेषां सिद्धयो नित्यं विद्यन्तेऽतिप्रियाः खलु ॥२७॥
अतश्च स्वसुखार्थं ते संयमे' निरताः सदा ।
भवन्त्येव न बोधार्थं तेन चादिकुमारिकाः ॥२८॥
वर्तन्ते पत्युरप्राप्त्या पृथिव्यां सच्चिदात्मनः ।
यस्य लाभात्सदा सैव पात्यनन्तात्मरूपतः ॥२९॥
" ये केचन जगद्भावास्तानविद्यामयान् विदन् ।
कथं तेषु किलात्मज्ञस्त्यक्ताविद्यो निमज्जति" ॥३०॥
अनात्मज्ञास्तु तान् मत्वा सत्यसौख्यमयान् किल ।
यतमानास्तदर्थं च निमज्जन्ति भवार्णवे ॥३१॥
आशां कुर्वंति चान्येषामात्मानं मन्यते नहि ।
लभन्ते सत्पतिं नैव त्वहो मोहकदर्थना ॥३२-११२॥

जिन योगियों को सिद्धियाँ प्यारी हैं, वे लोग सदा अपने सुख मान बड़ाई आदि के ही लिये संयम ( धारणा ध्यान समाधि ) में लगे रहते हैं । और सच्चा पति को नहीं प्राप्त कर सकते इत्यादि ॥११२॥

## शब्द ११३.

झूठहिं जनि पतियाहु हो, सुनु सन्त सुजाना।
घटहीं में ठग पूर है, मति खोहु अपाना॥

भोः सुज्ञाः साधवो नित्यं शुद्धबुद्धनिजात्मनः।
सत्यस्य श्रवणादीनामभ्यासोऽत्र विधीयताम्॥३३॥
मिथ्याभूतं जगत् किञ्चित् सिद्धिसम्पत्तिबान्धवम्।
प्रतीयता न सत्त्वेन विश्वासो नात्र धीयताम्॥३४॥
मनःकामेन्द्रियादीनां वञ्चकानां पुरं गृहम्।
युष्मत्कलेवरेष्वस्ति तत्संगत्या स्वकं धनम्॥३५॥
ज्ञानं शमादिकं नैव नाशयध्वं प्रमादतः।
रक्षणीयः सदैवात्मा ह्यात्मनैव नचान्यतः॥३६॥
सद्रत्नं च स्वमात्मानं न विस्मरथ कुत्रचित्।
नामरूपात्मकेऽस्य ये कल्पिते विश्वमण्डले॥३७॥
असत्संगो न कर्तव्यो विश्वासो ह्यसतां नहि।
सतां सङ्गः सदा कार्यस्तेभ्यश्च श्रवणादिकम्॥३८॥

हो झूठ ही (मिथ्या वस्तु झूठा पुरुष ही) को जनि पतियाहु (सत्य सुखदायीपन का विश्वास नहीं करो) सुनहु, सन्त सुजाना (ज्ञानी सन्त से श्रवणादि करो)। घट (देह) में ही मन कामादि ठगों के पुर (ग्राम) हैं, उनके वश होकर अपने ज्ञानादि रत्नों को नहीं खोवो॥

झूठे का मण्डान है, धरती असमाना।
दशहुं दिशि वाके फन्द है, जिव घेरे आना॥
योग जाप तप संयमा, तीरथ व्रत दाना।
नौधा वेद कितेब है, झूठे का बाना॥

भूम्यादिगगनान्तं हि विस्तृतं विश्वमण्डलम् ।
मिथ्यामायामनःकार्यं मिथ्यात्ममण्डनं च तत् ॥३९॥
मायाया मनसः पाशो दिक्षु सर्वासु वर्तते ।
तस्यैवावरणे सर्वे ह्यज्ञा जीवाः समागताः ॥४०॥
सकामानां हि योगश्च तपश्च जपसंयमाः ।
तीर्थानि व्रतदानानि भक्तयो नवधा तथा ॥४१॥
नामात्मकास्तथा वेदा ग्रन्थाश्चान्येव सर्वशः ।
मिथ्यावेषस्वभावा हि शब्दवाक्यार्थलक्षणाः ॥४२॥
सत्यो भावो न जन्मप्रभृतिमनुभवेत्स्वरतः सर्वदेव,
नैवासत्यः कदाचिज्जनिमृतिवशगः संभवेद्वा प्रसंगात् ।
एवं बोधान्निवृत्तिर्जगति सदसतोर्नैव दृष्टा न बाधः,
बन्धोऽवाच्यस्ततोऽयं जनिमृतिवशगो विचिवाच्यः प्रतीतः ॥४३॥

झूठे ( मनमायादि ) का मण्डान ( विस्तार या शोभा ) रूप यह संसार है, जो धरती ( पृथिवी ) और असमान ( आकाश ) आदि रूप है । और दशों दिशा में उसी मनमाया के कामलोभमोहादिरूप फन्द ( पाश ) फैले हैं और अज्ञ जीव उसी पाश के घेरे में आया है ॥ सकाम योगादि नौधा भक्ति नवधा संसार शब्दमय वेदादि भी उस झूठ मनमाया के ही बाना ( स्वांग–वेष–स्वभाव ) रूप है ॥

काहू के शब्दे फुरे, काहू करमाती ।
मान बड़ाई ले रहे, हिन्दु तुरुक दु जाती ॥

कस्यचिद्योगिनः शब्दा वाक्यसिद्ध्या स्फुरंति हि ।
शक्तिर्भवति काव्यस्य लोके कीर्तिप्रदा खलु ॥४४॥
निग्रहेऽनुग्रहे शक्तिर्वाचा भवति कस्यचित् ।
वरशापादिभि[illegible] वशग[illegible] सः ॥४५॥

आकाशगमनादिश्च सिद्धिर्भवति कस्यचित् ।
क्रियात्मिका यया लोकेऽप्याश्चर्यं मन्यते बहु ॥४६॥
सिद्धा हि सिद्धिभिः सर्वे प्रतिष्ठां श्रेष्ठतां तथा ।
प्राप्नुवंति सदाऽऽर्येभ्यस्तुरुष्केभ्यश्च मान्यताम् ॥४७॥
आर्याश्च यवनाः सर्वे द्विजातीनां गणास्तथा ।
मानाद्यर्थं सदा यत्नं कुर्वन्ति नहि मुक्तये ॥४८॥
*एष मायाकृतः पाशो बध्यन्ते ह्यत्र योगिनः ।*
द्विजातयोऽपि विद्वांसस्तुरुष्काद्या हि सर्वशः ॥४९॥

काहूके ( किसीके ) शब्दे फुरे ( शब्द सत्य होते हैं, या शब्द के स्मरण फुरणा होते हैं ) किसीमें करमात (आकाशगमनादि, अणिमादि) होते हैं। जिससे योगी लोग हिन्दू तुरुक दोनों जाति से मान बडाई लेते रहते हैं इत्यादि ॥

बात कथैं असमान के, मुद्दत निगरानी ॥
बहुत खुदी दिल राखते, बूडे बिनु पानी ॥

व्याख्यातारः परोक्षस्य वार्तां स्वर्गस्य कुर्वते ।
आकाशस्य व्यवस्थां च युगानि प्रगतान्यतः ॥५०॥
आयुषश्चापि मर्यादा ह्यागताऽति समीपतः ।
गोचराणां तथाप्येते धरंति हृदये क्षणान् ॥५१॥
असारं वस्तुमानं च ह्यहंकारं मनोऽग्रताम् ।
दधते च निमज्ज्यातस्ते ब्रुडंति जलं विना ॥५२॥
मनो न दद्यादिह भोगमुक्तये दद्यात्स्वद्वैतनिजयोगयुक्तये,
सैव हि दया भवसिन्धुसेतवे तत्त्वादिकं सद्गुरवेऽर्हहेतवे ।
तत्त्वा तदीयं बहु सेवनं चरेत स्वान्तेन तच्चिन्तनभक्तिमाहरेत् ।
वाचा तदीयान् सगुणानुदाहरेन्न जातु दोषं सुधनैश्च तोषयेत् ॥५३॥

असमान ( आकाश–स्वर्ग ) की बात ब्योंत ( बाचनिक व्यवस्था ) करते २ मुद्दत ( अन्त समय ) नियरा ( पास में ) आ गया। आयु की मर्यादा पास में आ पहुची तौभी जो बहुत खुदी ( खुदगर्जीपन, या खुदी तुच्छ विषयादि ) को ही अपने२ हृदयों में राखते हैं, इससे वे लोग बिनु पानी के ही बूड़ गये इत्यादि ॥

कहहिं कबिर कासो कहौं, सकलो जग अन्धा ।
सांचा सो भागा फिरै, झूठे का बन्दा ॥११३॥

इति सद्गुरुकबीरकृते बीजकाख्यग्रन्थेऽखिलसंशयशमनदमन द्वितीय शब्दप्रकरण समाप्तम् ॥

सद्गुरुराह कस्मै तत्कथयामि चिदव्ययम् ।
विवेकचक्षुषा लभ्यं श्रद्धैकाग्र्यधनैर्जनैः ॥५४॥
सर्वे संति जनास्त्वन्धाः संसारेऽत्राविवेकिनः ।
सत्यादेव पलायन्ते वन्दन्त्यनृतमादरात् ॥५५॥
त्यक्त्वा सद्गुरुमप्येते धावन्ते च यतस्ततः ।
भूत्वा चानृतिनां दासास्तं वन्दंति सदा जनाः ॥५६॥
विमुच्यन्तां कथं चैते न शृण्वंति पराऽमृतम् ।
कुर्वते न विवेकं चेद्वैराग्यं नाश्रयंति च ॥५७॥
शमानित्वमुखैर्हीनाः शमादिगुणवर्जिताः ।
लाभलोभादिनिघ्नाश्च मुच्यन्तां दुर्जनाः कथम् ॥५८॥
योगैरपि च ये भोगं सिद्धीः सम्पत्तिमेव च ।
वांछन्ति ते कथं मुक्ता भवन्तु वाऽभिमानिनः ॥५९॥
शान्त्यादिगुतगुणभूषणभूषिता ये,
सद्वाक्यसागरसुधारसलालसाश्च ।
कैवल्यकारणगुरोः पदमाश्रिता वै,
मुक्ता भवन्ति भवभावनया विमुक्ताः ॥६०॥

निष्कामयोगादथ साधुसेवनात्,
कामाद्यरीणां परिवर्जनाद्बलात् ।
स्वात्मानुभूत्या परमात्मभावनात्,
मुक्ता भवन्त्याप्तजनाः सुखं भवात् ॥६१॥
मिथ्याऽभिमानं परिहृत्य दूरे,
मिथ्यैव बुद्ध्वाऽखिलविश्वमेतत् ।
कृत्वा विभूतौ म्रियतां कश्चिन्न,
ह्यात्माभिरामा भवबन्धमुक्ताः ॥६२॥
गुरुभक्त्या मतिं शुद्धां विधाय हरिनिष्ठया ।
क्षिप्रं विमुच्यते बन्धाज्ज्ञानादेव न चान्यथा ॥६३-११३॥

इति हनुमद्दासकृतायां शब्दसुधायां योगस्वर्गादिसम्पत्तितुच्छतावर्णनं नाम चतुश्चत्वारिंशत्तमस्तरङ्गः ॥४४॥

---

## अथोपसंहारः ।

शब्दामृतप्रकाशेन मोदन्तां गुरवो मम ।
प्रीतो भवतु सर्वात्मा साक्षिरूपो महेश्वरः ॥१॥
निर्मथ्य सागरं शब्दं सुधेयं प्रकटीकृता ।
पिबन्तु सुधियः शश्वन्मोदन्तां मोक्षलब्धये ॥२॥
शब्दामृतमिदं तावदल्पमेवोद्धृतं मया ।
यतन्तामत्र चान्येऽपि यथाशक्त्यमृताय च ॥३॥
साकल्येन समुद्धर्त्तुं क्षमोऽप्यस्माच्च को भवेत् ।
येनाऽयं रचितः सिन्धुस्तं विना परमं गुरुम् ॥४॥
देवासुरैर्मिलित्वापि मथित्वा क्षीरसागरम् ।
उद्धृतं घटिकामात्रं हृतास्तेनाऽभवन् सुराः ॥५॥

मयाऽध्येतत्प्रयत्नेन ह्यत्यल्पं विमलामृतम् ।
उद्धृतं तेन तृप्यन्तु सज्जना ये विमत्सराः ॥६॥
तुष्यन्तु साधवो ह्यस्माद्यजन्तु दुरितं खलाः ।
असाध्यसाधने कश्च शक्तः स्यादीश्वरं विना ॥७॥
यद्भक्त्या जायते नैव जगत्यां मानवः पुनः ।
तं सर्वसुहृदं रामं प्रपद्येऽहं भयापहम् ॥८॥
यद्भक्त्यैव जनो नैव नरकेषु निपात्यते ।
तं वन्दे दुःखहन्तारं पातारं पितरं गुरुम् ॥९॥
यद्भक्त्या जनिभङ्गानां नामापि श्रूयते नहि ।
अजन्मानमहं वन्दे तमद्वयासं विभुं सदा ॥१०॥
जगतां सारभूताय चिद्रूपायाऽखिलात्मने ।
सर्वेषां सुहृदे नित्यं रामाय गुरवे नमः ॥११॥
यस्य वाक्यसुधायाश्च सकृत्पानाद् बुधो भवेत् ।
मुधा भवति विश्वं च तं कबीरं भजाम्यहम् ॥१२॥
सुधावसेकवचस्य वचनात्तापनाशनम् ।
शासनं यमराजस्य तं कबीरं नमाम्यहम् ॥१३॥
दीक्षाशिक्षाप्रदान् वन्दे विद्यापतृन् सुसज्जनान् ।
पूज्यान् सर्वाघमस्यामः कुर्वन्तु श्रोतृमङ्गलम् ॥१४॥

इति श्रीसद्गुरुकबीरचरणकमलभृङ्गश्रीमोहनश्रीरमितागुरुचरणदास श्रीहरिहरमुख्यान्तेवासिहनुमद्दासकृतेयं शब्दसुधा समाप्ता ॥

साहेब पुकार के कहते हैं कि यह सकलो जग ( सब संसारी ) अन्धा ( विवेकरहित ) है। इससे सच्चा गुरु सत्य शब्द सत्य वस्तु, से भागा फिरता है, और झूठों के बन्दा ( दास ) होता है, उनकी स्तुतिवन्दना करता है इत्यादि ॥११३॥

इति ज्ञान बिना सर्वनिष्फलता प्रकरण ॥४४॥

# अथ परिशिष्टशब्दप्रकरणम् ।

## शब्द १.

सारशब्द से बाँचि हो, मानहु इतबारा हो ।
आदिपुरुष एक वृक्ष है, निरञ्जन डारा हो ॥

ये हि सत्यं न मन्यन्ते तेऽत्र सन्तु यथा तथा ।
ये तु मन्तुं समर्था वै तान् प्रत्याह गुरुर्वचः ॥१॥
सारशब्दविचाराद्यैर्ज्ञानाच्च सारवस्तुनः ।
जन्मादिजमहादुःखात्कालान्मुक्ता भविष्यथ ॥२॥
कुरुध्वञ्चात्र विश्वासो यतस्तेन विना नहि ।
विचारादौ प्रवृत्तिः स्याज्ज्ञानं नैव च जायते ॥३॥
श्रद्धाभक्त्यादिभिर्ज्ञेयः सारशब्दादितश्च यः ।
स सर्वाद्यखिलाधारो महावृक्षोऽस्ति पूरुषः ॥४॥
एक एवाद्वितीयः स प्राणिपक्ष्याश्रयः सदा ।
अधिष्ठानं च सर्वेषामसङ्गो निर्गुणोऽव्ययः ॥५॥
तस्मिन्नेव तु मायया महिम्नेव निरञ्जनः ।
मूलस्तम्भोऽभवद्देवो य ईश इति कथ्यते ॥६॥

सार ( सत्य ) शब्द के विचारादिजन्य ज्ञान वैराग्यादि से ही जन्म मरणादि संसार और काल यमयातनादि से बचोगे ( मुक्त होगे ) इसलिये सद्गुरु और सारशब्द का इतबार ( विश्वास ) मानो। और समझो कि सबके आदिस्वरूप सर्वात्मा सबके हृदयपुर में रहनेवाला जो एक पुरुष है, सोई माया से इस संसार वृक्षरूप

हुआ है, अर्थात् इसमें उसीकी सत्ता है। और इस वृक्ष में निरञ्जन ( मायी ईश्वर मुख्य ) डार ( मूल-स्तम्भ ) हैं॥

त्रिदेवा शाखा भये, पत्रहुं संसारा हो।
ब्रह्मा वेद सही कियो, शिव योग पसारा हो॥
विष्णु माया उतपति कियो, उरलै व्यवहारा हो।
तीन लोक दशहूं दिशा, यम रोकिन द्वारा हो॥

ब्रह्माद्या हि त्रयो देवाः शाखाः सन्ति पृथग्विधाः।
संसारेऽत्र शरीराणि पत्राणि क्षणिकानि वै॥७॥
जीवानां शिवसिद्ध्यर्थं ब्रह्मा वेदांश्चकार ह।
शिवोऽपि योगविस्तारं कृतवांश्छुभवाञ्छया॥८॥
विष्णुश्च बहुधा ज्ञानं ममतादिप्रपञ्चनम्।
रचयामास दृष्ट्वैव व्यवहारान् स्वमानसे॥९॥
व्यवहारपरान् दृष्ट्वा जीवान् बलियमस्ततः।
त्रिषु लोकेषु मोक्षस्य ह्यरुणद् द्वारकाणि सः॥१०॥
रुद्ध्वा द्वाराणि सर्वाणि दशदिक्षु यमो बली।
कृतवान् स्ववशे सर्वान् कुरुते ज्ञानवर्जितान्॥११॥

ब्रह्मा आदि तीन देव उस वृक्ष के शाखा उपशाखा आदि हुए और क्षणभगुर शरीरादि कार्यरूप सब ससार, उस महावृक्ष के पत्र हुए ( जिससे जीव के बार २ जन्मादि होते हैं ) इस ससार से रक्षा के लिये ब्रह्माजी ने ज्ञानप्रधान वेदों को रचा। शिवजी ने योग का विस्तार किया, और विष्णु सबके पालनादि व्यवहारों को अपने मन में समझकर माया ( हिताऽहितादि का ज्ञान ममतादि ) को उत्पन्न

किया। फिर जीव अत्यन्त व्यवहारपरायण हो गये। तब यम ने इनकी सुगति के द्वारों को तीन लोक और दशों दिशाओं में रोक दिया॥

कीर भये सब जियरा, लिये विष के चारा हो॥
ज्योति स्वरूपी हाकिमा, जिन अमल पसारा हो॥
कर्मकि बंसी डारिके, पकर्‌यो जग सारा हो।
अमल मिटावों तासुके, पठवों भवपारा हो॥
कहहिं कबिर निर्भय करों, परखो टकसारा हो॥१॥

कीरवद्भवन् जीवा विषयविषभक्षकाः।
सर्वे तेषां प्रभुर्नेताऽभवज्ज्योतिर्मयो यमः॥१२॥
प्रभुत्वं यस्य संसारे वर्तते सर्वतः सदा।
स कर्मबडिशैः सर्वान् स्ववशे कृतवान् यमः॥१३॥
तत्प्रभुत्वं विनाश्याहं भवाब्धेः पारमञ्जसा।
जीवं करोमि योऽस्माकं सारशब्दं निरीक्षते॥१४॥
परीक्ष्य सारशब्दं यो सारं तत्त्वं निरीक्षते।
तं यमः क्रूरकर्मापि सत्करोति न दण्डनम्॥१५॥
अतस्तस्माद्विमुक्तोऽसौ योगयुक्तो नरः सुधीः।
मुच्यते सर्वबन्धेभ्यः सद्गुरोर्वचनं यथा॥१६॥१॥

सुगति के द्वारों को रुकने पर, परवश कीर की नाईं सब जीव हो गये। परवश विषयविष के चारा (भोग) लेने लगे। फिर जिस यमराज ने सबके ऊपर अपना अमल पसारा है (प्रभुत्व स्थापित किया है) उन जीवों के लिये वह ज्योतिस्वरूप यमराज हाकिम (न्यायकर्ता ईश्वर) हुआ। और कर्म की बंसी लेकर सारा (सब) संसार को पकड़ लिया। साहब का कहना है कि यदि जीव हमारा

टकसार ( सचा मार्ग सारशब्द ) को परख ले तो मैं यमराज का अमल ( दखल प्रभुत्व ) को मिटा दू और जीव को ससारसागर से पार कर दू, इसलिये विश्वास पूर्वक सारशब्द परखो इत्यादि ॥१॥

## शब्द २.

सन्तो ऐसी भूल जग माहीं । जाते जीव मिथ्या मे जाहीं ॥
पहिले भूले ब्रह्म अखण्डित, झाई आपुहिं मानी ।
झांई मे भूलत इच्छा कीन्ही, इच्छा ते अभिमानी ॥
अभिमानी कर्ता हो वैठे, नाना पन्थ चलाया ।
वही भूल मे सव जग भूला, भूल का मर्म न पाया ॥

साधो यथाद्य संसारे स्वरूपाज्ञानविस्मृती ।
विद्येते हि यथैवात्र तथा सर्वत्र सर्वदा ॥१७॥
स्वस्वरूपस्य चाज्ञानाद्विस्मृतेश्चैव जन्तवः ।
मिथ्याभूतेऽत्र संसारे जायन्ते प्राप्नुवन्ति तम् ॥१८॥
ब्रह्माखण्डनिजात्मानमादौ विस्मृत्य मोहतः ।
शोकादियुक्तमाभासमात्मानं मन्यते जनः ॥१९॥
समष्टिजीवे सर्गादौ जाते चेत्थं भ्रमे खलु ।
एकोऽहं बहुधा स्यामित्येवमिच्छा व्यजायत ॥२०॥
जातायां चै तथैच्छायां ब्रह्मविष्णुहराभिधाः ।
गुणाभिमानिनो देवा जाता ये लोकविश्रुताः ॥२१॥
ते प्रजापतयो भूत्वा ह्यतिष्ठन् विश्वमण्डले ।
मार्गान् प्रावर्तयन्नाना लोकवेदानुसारिणः ॥२२॥
अज्ञानाऽस्मृतिभेदं ये नाविदुर्मूढजन्तवः ।
संसारिणो विमुह्यन्ति मूलमोहेन ते समे ॥२३॥

हे सन्तो! ऐसी (वर्तमान के समान) भूल (अज्ञानविस्मृति) संसार में अनादि से है, जाते (जिससे) जीव मिथ्या संसार में बार२ जाही (जन्म लेते प्राप्त होते हैं)। सबसे पहली अनादि काल की यह भूल है कि समष्टि जीव अपने अखण्ड ब्रह्मस्वरूप को भूला। और अपने को झाईं (शोकादिवाला आभास प्रतिबिम्ब) माना (समझा) फिर झाई में भूलने (आत्माभिमान होने) से एकोऽहं बहु स्याम्, यह इच्छा हुई। फिर गुणाभिमानी ब्रह्मा आदि त्रिदेव उत्पन्न हुए, फिर अभिमानी देव जगत के कर्ता (प्रजापति) होकर स्थिर हुए। और नाना पन्थ (धर्म व्यवहार के मार्ग) चलाये, इस प्रकार संसार की वृद्धि हुई, परन्तु सब उस आदि भूल में ही भूले (फँसे) गुरु विना उस भूल का मर्म कोई नहीं पाया॥

लख चौरासी भूल से कहिये, भूल से जग विटमाया।
है जो सनातन सोई भूला, अब सो भूलहिं खाया॥
भूल मिटै गुरु मिलै पारखी, पारख देहिं लखाई।
कहहिं कबीर भूल का औषध, पारख सबका भाई॥२॥

वेदाष्टलक्षयोनीनां सिद्धिरज्ञानतोऽभवत्।
जगतो विस्तृतिश्चैव स्यादज्ञानान्न संशयः॥२४॥
योऽनादिः स स्वमात्मानमादौ विस्मृतवान् स्वयम्।
तदज्ञानं सदेदानीं खादतीव तमञ्जसा॥२५॥
सद्गुरुश्चेन्मिलेज्ज्ञानी भाग्याज्जीवस्य तत्त्ववित्।
कृपयात्मपरीक्षां स दर्शयेद्बोधसिद्धये॥२६॥
तदाऽज्ञानजरोगो वै नश्येदेव समूलतः।
यतो विवेकजं ज्ञानं भवन्त्यात्यौषधं महत्॥

आधयो व्याधयश्चैव सर्वे नश्यंति मूलतः ।
सद्गुरुवाक्यलब्धेन ज्ञानेनेति विदां मतम् ॥२८॥२॥

चौरासी लाख योनिरूप संसार की सिद्धि भूल ( अज्ञान ) से ही कही जाती है । और भूल से ही जग ( संसार ) बिटमाया ( विस्तारभाव वृक्षरूपता को प्राप्त हुआ ) है, जो सनातन ( अनादि ) जीव का स्वरूप है, सो भूला है । और वह भूल अब जीव को खा रही है ( पीड़ित करती है ) । यदि पारखी (विवेकी–अनुभवी) गुरु मिलें, और पारख ( विवेक–अनुभव ) लखाय दें ( प्राप्त करावें ) तो सब भूल क्षण में मिट जाय; क्योंकि सभी भूलात्मक रोगों की पारख ही औषधि है ॥२॥

॥ इति सटीकं शब्दपरिशिष्टप्रकरणं समाप्तम् ॥

श्रीसद्गुरुचरणकमलेभ्यो नमः।

—: सद्गुरु :—

# बीर साहेब कृत बीजक।

[ स्वानुभूतिसंस्कृतव्याख्यासहित ]

## अथ तृतीय कहरा प्रकरण ।

*देहादिबन्धरहितं सहितं प्रकृत्या,
भक्तेष्टसाधनविधावनुवर्तमानम् ।
सङ्गादिहीनपरपावनदिव्यरूपं,
रामं नमामि नमतां सदभीष्टदोहम् ॥१॥
सर्वाभिमानभयरोषविवर्जितो यो,
मन्युस्पृहादिविगतः करुणैकमूर्तिः ।
शीलादिशुद्धगुणभूषणभूषितो वै,
तं सद्गुरुं तनुमनोवचनै र्नमामि ॥२॥
मानादतिवर्द्धते मृषा तृष्णा धनादेर्ममतामदादि च ।
तत्त्वस्य सुदर्शनाय हि तन्वा जुगुप्सा गुरुणा निगद्यते ॥३॥
नेन्यात्र हि भक्तिसंयुतं योगं विरागं च विवेकमादरात् ।
शुद्धं शममुक्तवान् गुरुः संक्षेपतस्तत्सुजनैर्निशम्यताम् ॥४॥

* देहकामादिबन्धै रहितम् । प्रकृत्या शुद्धसात्त्विकमायाशक्त्या
। सङ्गादिभिर्हीन पर ( उत्कृष्ट ) पावन (दिव्य) रूप (स्वरूप)

## कहरा १, तनुधनादिजुगुप्सा प्र. १.

ऐसन देह निरापन बौरे, मुये छुवै नहिं कोई हो ।
हँड़वक डोरवा तोरि लड़वलन, जो कोटिन धन होई हो ॥

+ ह्यंयोऽयं मानवो देह आत्मीयो नहि कस्यचित् ।
आत्मत्वे किन्तु वक्तव्यं मलिनस्य स्वभावतः ॥१॥
दुःखात्मनो ह्यनित्यस्य शुद्धस्त्वात्मा §सुखः स्वयम् ।
नित्यो विभुः सदाऽसङ्गश्चिन्न देहात्मको भवेत् ॥२॥
देहश्चाशुचिरत्यन्तं तस्मान्मृत्योरनन्तरम् ।
स्पृश्यते केनचिन्नैव चेत्स्याद्ब्रह्मसुतस्य यः ॥३॥
अनात्मीयत्वतश्चायं यदा केन न गच्छति ।
तदा परिकरो × ह्यस्य कथं केन गमिष्यति ॥४॥
कश्चास्य परिवारो वा * परिच्छदमुखाश्च के ।
जीवेन सह गन्तारो द्रव्यादीन्यथवा परे ॥५॥

---

यस्य तम् । मनु योऽमित इष्टस्तस्य दोह (पूरक-प्रापक) राम नमामि ॥१॥ खर्वा ( नीचा ) येऽभिमानादयस्तैर्विवर्जितः । मन्युः ( शोको दैन्य ) स्पृहा ( इच्छा ) आदिभिर्विगतः । करुणा एका ( मुख्या ) मूर्तिर्यस्य । शीलादयो ये शुद्धा गुणास्त एव भूषणानि तैर्भूषितः ॥२॥ कायस्य तत्त्वमतिजुगुप्सितत्त्व तस्य ज्ञानार्थम् ॥३॥

+ दयितः प्रिय इति यावत् । § सुखयतीति सुख. । × अस्य देहस्य परिकर. परिवारः सम्बन्धीति यावत् ।

* परिच्छाद्यतेऽनेनेति संज्ञायां घ॰, छादेर्घेऽद्व्युपसर्गस्येति ह्रस्वः । परिच्छदो मृत्यादिः ॥

अतश्च मृतिकालेऽस्य कटिसूत्रं जना अपि।
छित्वा न्यस्यन्ति वै भूमौ निजाः कोटिपतेरपि ॥६॥

हे बौरे! (देहाभिमानी!) लोगो! यह देह ऐसा निरापन (स्वत्व-रहित–अपावन) है कि मुये पीछे इसे कोई छूता तक नहीं है। और डँडवक (कमर के) डोरा (डाँरा–कटिसूत्र) को भी लोगों ने तोड़कर लइवलन (गिरा दिया)। यदि करोड़ों रुपये धन हो तौभी एक डोरा (धागा) तक भी किसीके साथ नहीं गया ॥

ऊर्ध्वे श्वासा उपजी त्रासा, हँकराइन परिवारा हो।
जो कोइ आवे वेगि चलावै, पल इक रहन न पारा हो॥
चन्दन चरचि चतुर सब लेपिन, गले गज मुक्ता हारा हो।
चहुं दिशि गीध मुये तनु लूटै, जम्बुकन ऊदर फारा हो॥

अत्यन्तं दुःखरूपोऽयं मृतिकालेऽतिखिद्यते + ।
उच्छ्वसन्तमतो दृष्ट्वा जनास्त्रस्यन्ति तत्क्षणात् ॥७॥
विह्वलाः स्वजनानाशु भीताश्चाह्वयंति थान्।
ते त्वागत्यातितूर्णं तं बहिः क्षेप्तुं जनान् मुहुः ॥८॥
प्रेरयंति पलं नैव सहन्ते तु विलम्बनम्।
भयादीनां निवृत्त्यर्थमन्यकृत्यसमाप्तये ॥९॥
एतज्ज्ञानं विना लोके विषयाणां विचक्षणाः× ।
चन्दनादि निघृष्याङ्गे पृचते कांतिसिद्धये ॥१०॥
एवं मुक्तामयीं मालां कन्धरास्वर्पयन्ति ते।
क्षणात्तु मृतिसंप्राप्तौ क्रव्यादा गृध्रजम्बुकाः ॥११॥

---

+ अत्यन्तदुःखरूपेण भातीति भावः॥ × विचक्षणः पण्डितः। अनुदात्तेतश्च हलादेरिति युच्प्रत्ययान्तस्तद्योगे कर्तृकर्मणोरिति षष्ठी।

स्थित्वा चतुर्षु वै दिक्षु कृत्वा कुट्टचर्णं मुहुः ।
सर्वतो वै विलुण्ठंति पिचण्डं* च दशंति हि ॥१२॥

मरण काल में ऊर्ध्व श्वास होते ही दूसरे को त्रास भय उपजता (उत्पन्न) होता है, तो वह अपने परिवार (लोग कुटुम्ब) को हँकराता (बोलाता) है। फिर जो आता है वह वेगि (शीघ्र) घर से चलाता (बाहर करता) है। इससे एक पल भी रहने नहीं पारा (पाया)॥ तौभी चतुर लोग चन्दन चरचि (घीस) कर इस देह में लेपते हैं, गले में गजमुक्ता आदि के हार पेन्हते हैं, परन्तु अन्त में गीध इसे लूटते हैं इत्यादि ॥

कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो, ज्ञान हीन मति हीना हो ।
इक इक दीन यही गति सबकी, क्या राव क्या दीना हो ॥१॥

भोः साधो शृणु तत्त्वेन सुविचार्य विनिश्चिनु ।
अज्ञानां मतिहीनानामेकैकस्मिन् दिने, सदा ॥१३॥
एतादृशी दशाऽवश्यं जायते भूभृतामपि ।
दरिद्राणां च सर्वेषां ज्ञानिनां नैव कुत्रचित् ॥१४॥
मतिज्ञानविहीना या सन्त. शृण्वन्तु सर्वदाः ।
राजानो दुर्गताः के वा सर्वेषां न्मा दशैकदा ॥१५॥
विज्ञा देहाद्विविच्य स्वं तिष्ठंति सच्चिदात्मना ।
अतस्तेषां मृतिर्नास्ति विद्यते त्वविवेकिनाम् ॥१६॥
म्रियन्ते ह्यविवेकेन सर्वे देहाभिमानिनः ।
न तु विज्ञा यतः साधो जीवन्मुक्ता भवंति ते ॥१७॥

* उदर तुन्दम् ।

" ज्ञानस्वरूपमखिलं § जगदेतदबुद्धयः ।
अर्थस्वरूपं पश्यन्तो भ्राम्यन्ते तमसः प्लवे " ॥१८॥

हे सन्तो! सुनो सब ज्ञानहीन मतिहीनों की एक२ दिन यही गति (दशा) होती है, चाहे राजा या रंक होवें। देहाऽभिमानी की यह दशा अवश्य होती है, और विवेकी ज्ञानी तो सदा देहाभिमान रहित रहते हैं, इससे देह की अवस्थाओं से असङ्ग ही रहते हैं ॥१॥

## कहरा २.

रामनाम भजु रामनाम भजु, चेति देखु मन माहीं हो ।
लक्ष करोड़ जोरि धन गाड़े, चलत डोलावत बाँहीं हो ॥

त्यक्त्वादेहाभिमानादीन् रामनामानमेवहि ।
सर्वात्मानं भजध्वं तं यूयं नान्यं कदाचन ॥१९॥
सावधानाः सदा भूत्वा तं च स्वे मनसि स्थितम् ।
अपरोक्षं विजानीत सर्वयत्नेन सज्जनाः ॥२०॥
"*सुप्ताः प्रबुद्धाः पश्यंति दृश्यं दृश्ये रता यथा ।
तथाऽदृश्ये रताः शान्ताः सन्तः पश्यंति सत्पदम् ॥२१॥
विना यत्नभरेणेदं न कदाचन सिद्ध्यति ।
महतोऽभ्यासवृक्षस्य फलं विद्धि परं पदम्" ॥२२॥
अविदित्वा तु रामं ये लक्षं कोटिं धनानि वै ।
भूमौ निखन्य रक्षंति मत्ता गच्छंति गर्वतः ॥२३॥
बाहू संदोलयन्तो वै गणयन्तो न कञ्चन ।
ते नश्यंति मुधा मोहात्माप्नुवंति न किञ्चन ॥२४॥

§ पद्मपु. सृष्टिखं. अ. ३।४७॥
* यो. वा. निर्वाण प्र. उ. स. १६३।४९-४६॥

रामनामवाला हरि को भजो, रामनाम ही को भजो। और अपने मन में चेति ( सावधान हो ) कर देखो कि जो कोई लाखों करोड़ों धन जोड़कर भूमि में गाड़ते हैं और गर्व के मारे बाहु डोलाते चलते हैं सो कैसी बात है ॥

बावा दादा औ परपाजा, जिनके ई भुंइ भाँडे हो।
अँधरे भये हियहुं की फूटी, तिन काहे सब छाड़े हो॥
ई संसार असार को धंधा, अन्तकाल कोइ नाहीं हो।
उपजत बिनशत बार न लागै, जस बादर की छांहीं हो॥

बाहू संदोलयन्तस्ते गच्छन्तो न विदंति किम्।
पितॄन् पितामहांस्तद्वत्तांश्च प्रपितामहान् ॥२५॥
अन्धाः किमभवंश्चैते हृच्चक्षुर्व्यनशत् किमु।
किं न पश्यंति यद्येषां भूमिभाण्डादिसंचयैः ॥२६॥
वयं वै धनिनो जातास्ते त्यक्त्वा किं समव्रजन्।
किं न सर्वं समादाय तेऽगमन् मम पूर्वजाः ॥२७॥
यथा नैनं गतः कोपि संचयो न तथा मया।
कश्चिद्यास्यति सार्द्धं तज्ज्ञातव्यं मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥२८॥
संसारोऽयमतथ्याया व्यवहारस्त्वसन् सदा।
अत्रत्य व्यवहारोऽपि तुच्छस्तुच्छफलप्रदः ॥२९॥
मृत्युकाले न कोप्यत्र कस्यापि संभवत्यथ।
परान्ते ज्ञानकाले च किञ्चित्सद्यात्र शिष्यते ॥३०॥
वर्तमानेऽपि कालेऽस्य समुत्पत्तिविनाशयोः।
वासरा नैव गच्छन्ति स्थिरताप्रत्ययो भ्रमात् ॥३१॥
मेघो यथा च तच्छाया क्षणाद् भवति नश्यति।
तथैव विश्ववर्गोऽयं क्षणाद्भवति लीयते ॥३२॥

वे अभिमानी लोग अंधे हुए हैं, उनके हृदय की आँख भी फूटी हैं, इसीसे यह नहीं समझते कि बाबा ( पिता ) दादा ( पितामह ) परपाजा ( परपितामह ) जे हुए, जिनके ये भूमि भाडे थे, वे लोग,.सब काहे छोड़ गये इत्यादि ॥ असार ( मिथ्या ) मनमाया का धंधा ( कार्य व्यवहार ) रूप यह संसार है । अन्त काल में कोई किसीका नहीं होता है, और इसके उपजते विनशते में वार ( समय ) नहीं लगता है, बादर की छाया की तरह तुरन्त उत्पन्न नष्ट होता है ॥

नाता गोता कुल कुटुम्ब सब, इन कर कौन बड़ाई हो ।
कहहिं कबिर एक राम भजे बिनु, बूड़ल सब चतुराई हो ॥२॥

सम्बन्धैः कुलगोत्राद्यैः कुटुम्बैः क्रियते किमु ।
किम्वा श्रेष्ठत्वमेतैः स्याच्छ्रीरामभजनं विना ॥३३॥
एकस्याद्वयरामस्य भजनेन विना सदा ।
अनश्यत्सर्वचातुर्यं न्यमज्जन् कुशला भवे ॥३४॥
रामनाम्नि परे तत्त्वे दृष्टे जन्मादिवर्जिते ।
शुद्धे सर्वाणि मुच्यन्ते बन्धनानि हि सर्वथा ॥३५॥
रामनाम्नि स्थिते चित्ते वैराग्यरसरञ्जिते ।
शमादौ साधिते सर्वास्त्रुट्यन्ति भववागुराः ॥३६॥
सर्वेषां यः शुभकरसुहृत् सर्वात्मात्मा सुविदितपरः ।
शान्तो दान्तो जितरिपुगणो नैवासौ क्वापि वसति गुणे॥३७-२॥

इति हनुमदीये कहराकल्पे * तनुधनादिजुगुप्सावर्णनं नाम प्रथमा शिक्षा ॥१॥

---

* कल्पः शास्त्रे विधौ न्याये, इति कोशः ॥

नाता (सम्बन्ध) गोता (गोत्र) कुल (घर खानदान) कुटुम्ब (सम्बन्धी) इनकी बड़ाई तुच्छ है। और एक सर्वात्मा राम को भजने बिना सब चतुराई भी बूड़ल (नष्ट हुई) इत्यादि ॥२॥

इति ननु धनादि जुगुप्सा प्रकरण ॥१॥

## कहरा ३, कामी जुगुप्सा प्र. २.

ननदी गे तैं विषम सोहागिनि, तैं निगले संसारा गे।
आवत देखि एक संग सूती, तैं औ खसम हमारा गे॥

भो मूढा वञ्चका देवदासाः कर्मठकामुकाः।
स्त्रीवत्परवशाः प्रीतिसंयुता विषमेषु च ॥१॥
युष्माभिर्विनिगीर्णा वै सर्वे संसारिणो जनाः।
मिथ्याभिनन्दनासक्तिस्वार्थसाधनतादितः ॥२॥
यूयं भजथ रामं नो नैवोपदिशथापि च।
तत्त्वं किन्त्वन्यथा ब्रूथ तेन नश्यन्ति मानवाः ॥३॥
अस्माभिर्दृश्यते चैतद्यत्राऽऽगमनेऽहनि।
अस्माकं स्वामिना सार्द्धमात्मरामेण संगताः ॥४॥
सुप्ताश्चैवागताः सर्वे भवन्तो मोहनिद्रया।
तां त्यजन्ति नचाद्यापि तेनानर्थपरंपरा ॥५॥
शुद्धात्मा चैव जीवश्च ह्यवेवास्तां तदा हृदि।
जीवेन कल्पितो भूयो ह्यनन्तः स्वपतिव्रजः ॥६॥

गे (हे) ननदी (नाता आदि में आसक्त, अनात्मपति के अभिनन्दनादि करनेवाला कामी वञ्चकादि लोगो!) तैं (तुम सब) सम परमात्मतत्त्व को छोड़कर, विषम (क्रूर) देव विषयादि के

सोहागिन (प्रेमी) हुए हौ। और विषम सोहागिन होकर तुम संसारी जीवों को निगले (पीडित किये) हौ। और आवते (जन्मते) काल में तैं (तुम) जीव को और हमारा खसम (स्वामी) सर्वात्मा प्रभु को, हमलोगों ने एक संग सोया देखा है, तुम दोही देहवृक्ष के हृदय-कोटर में सोये थे "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्ष परिषस्वजाते" मुण्ड. ३।१॥

मोर बाप कहँ दुइ मेहररूआ, मैं अरु मोर जेठानी गे।
जब हम अइली रसिक के संग में, तबहिं बात जग जानी गे॥
माय मोर मुवलि पिता के संगे, सारा रचि मुवल सँघाता गे।
आपुहिं मुई ओर लै मुवली, लोग कुटुम्ब संग साता (था) गे॥

द्वावेव वल्लभौ मेऽत्र वर्तेते स्वामिनः पितुः।
एकोऽहं यश्च मत्तोऽपि श्रेष्ठः कोपि विचारवान् ॥७॥
विमुक्तो भवपाशेभ्यो जीवन्मुक्तो विदेहकः।
स्ववशोऽसङ्गधीः शान्तः परार्थघटकः सुधीः ॥८॥
यदा चाहं रसज्ञस्य सुसङ्गेऽत्र समागतः।
तदा ज्ञातं जगत्कृत्स्नं वाचारम्भणमात्रकम् ॥९॥
किञ्च यज्जगतोप्यस्य तत्त्वं तद्विदितं मया।
यस्मिञ्ज्ञाते न किञ्चिद्धि ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥१०॥
माया माता मृता चाद्य पितुरासाद्य मेऽन्तिकम्।
तटस्थस्वामिभिः सार्द्धमविद्याऽपि मृताऽनृता ॥११॥
ज्ञानाग्नेश्च चितां कृत्वा संघातान्माऽतिवल्लभा।
वनिताऽपि मृता साऽत्र न पुनर्भवनाय वै ॥१२॥
संघातं ज्ञानयुक्तं वा चितां कृत्वाऽतिचञ्चला।
स्वयं तत्र मृताऽन्यांश्च गृहीत्वा लोकसंघकान् ॥१३॥

इन्द्रियादिकुटुम्बांश्च तृष्णादिगणांस्तथा ।
सा ससापि गृहीत्वेव व्यनश्यद्योगदुर्गमा ॥१४॥

मोर बाप (सर्व पिता) राम के दो मेहरारू (अर्धांगी स्त्री) रूप हैं। एक मैं (वर्तमान ज्ञानी) और मोर जेठानी (मुझसे बड़े तथा प्रथम के ज्ञानी भक्त)। जब हम रसिक (ब्रह्मानन्द के अनुभवी) के सग में आये तब ससार को बात (वाणीमात्र) जान गये॥ मेरी माय (माया) सर्वात्मा पिता के सग (ज्ञान) होते ही मर गई। और सघात (शरीरादि) ज्ञानाग्नि की सारा (चिता) रचकर मर गये, और माया मरते समय और को भी साथ लेकर मरी, लोग कुटुम्ब सात सगी (महतत्त्व, अहंकार, पञ्चतन्मात्रा) और सब साथी नष्ट हो गये।

जबलगि श्वास रहे घट भीतर, तबलगि कुशल परीहैंगे ।
कहहिं कबिर जब श्वास निसरिगौ, मन्दर अनिल जरीहैंगे ॥३॥

इत्थं नष्टेऽपि सर्वस्मिन्चिदग्धपटवत् किल ।
चिरधवर्तते देहो ज्ञानिनामपि सम्प्रति ॥१५॥
प्रारब्धवशतः किञ्च कार्यशक्त्यवशेषत. ।
यावत्संतिष्ठते प्राणस्तावद्देहेऽस्ति मङ्गलम् ॥१६॥
प्राणस्य निगमेऽस्यापि पुनर्दाहो भविष्यति ।
सवासनं समूलं च सद्गुरुस्तद्धि भाषते ॥१७॥
अथवाऽस्य देहेऽपि यावच्छ्वासं हि मंगलम् ।
श्वासस्य विगमे सोऽत्र वह्नौ दग्धो भविष्यति ॥१८॥
ज्ञानेन भवेदिह मुक्तता योगेन न कर्मभिराश्रमैः ।
सर्वात्मसु चात्मनि तुल्यता चेद्विघ्नगण. क्व च संसृति ॥१९॥
इन्द्रियाणि सन्नियम्य विश्वं यः सदाजगन्स्पृशेन पश्यन् ।
तिष्ठति स्वरामनामधामनि नैव नेह चंक्रमीति चक्रे ॥२०॥

यस्य मनस्तुष्टं स्वबोधतो दोषगुणौ सम्यक् च निर्गतौ।
यश्च शुभे संस्कारतो वसेच्चैव स दोषैर्लिप्यते स्वतः॥२१-३॥

जबतक ज्ञानी के स्थूल देह में प्रारब्ध कर्मवश प्राण रहता है, तबतक इसके मूल नष्ट होने पर भी इसकी स्थिति रहने से इस का कुशल रहता है। प्रारब्ध के क्षय होने पर प्राण के निकलने पर तो इस देह मन्दिर का अग्नि में दाह होता ही है। अथवा अज्ञ के देह में प्राण रहते ही कुशल है फिर कहीं नहीं, विज्ञ के लिये सदा सर्वत्र कुशल है इत्यादि ॥३॥

## कहरा ४.

रामनाम विनु रामनाम विनु, मिथ्या जन्म गमायहु हो।
सीमर सेइ शुगा ज्यों जहड़े, ऊन परे पछताई हो।
जैसे मदुआ गाँठि अर्थ दे, घरहुंक अकिल गमाई हो॥

रामनाम विना साधो रामप्राप्तिं विनैव हि।
मिथ्याभूते जगत्यस्मिन् सर्वे स्वायुष्यनाशयन्॥२२॥
निषेव्य शाल्मलिं कीरो यथा लोकेऽतिवंच्यते।
तूलपाते शरीरे च पश्चात्तापेन पीडयते॥२३॥
संसारशाल्मलिं तद्वन्निषेव्य मानवा अपि।
वञ्चिता रसलोभेन पीड्यन्तेऽसारवस्तुभिः॥२४॥
मद्यपो वा यथा वित्तं ग्रन्थिस्थं च सुरक्षितम्।
तद्विक्रेत्रे स्वयं दत्त्वा पीत्वा तन्मायति क्षणात्॥२५॥
बुध्यते न प्रमत्तः सन् गृहदेहादिकान् स्वकान्।
गोचरादौ तथा क्षिप्त्वा मनोबुद्धी इमे जनाः॥२६॥

भोगासक्तिप्रमादाद्यैः माद्यंति मद्यपा इव ।
बुध्यन्ते न सदा राममानन्दं निकटे स्थितम् ॥२७॥

रामनामवाला तत्त्व की भक्ति प्राप्ति बिना ही जिन मनुष्यों ने मिथ्या ( झूठ वस्तुव्यवहार ) में जन्म ( आयु ) गमाया । वे लोग सीमर को सेव कर जैसे सूवा जहडना ( पीडित ) होता है, उन (रूआ) देह पर पड़ने से पछताता है, तैसेही जहड़े पछताये । और मदुआ ( मद्यप ) जैसे गाठ के पैसे देकर घर के होश को नष्ट करता है, तैसे ये लोग होश गमाये इत्यादि ॥

स्वादे उदर भरे नहिं कबहूं, ओसे प्यास न जाई हो ।
द्रव्यहीन कैसन पुरुषारथ, मनहिं माहँ पछताई हो ॥

यथा स्वादेन मद्यस्य ह्युदरं न प्रपूर्यते ।
विषयस्वादतस्तद्वत्तृप्तिर्जातु न जायते ॥२८॥
तुषारेण तृषा यद्वन्न कदाचन नश्यति ।
सुतुच्छैर्गोचरैस्तद्वत्तृष्णाशा शांतिमेति न ॥२९॥
द्रव्यहीनस्य दीनस्य पुरुषार्थः कथं भवेत् ।
दानभोगादिरूपो वा बहुव्यापारलक्षणः ॥३०॥
इच्छया केवलं सोपि पश्चात्तापेन तप्यते ।
मनोरथभराऽऽक्रान्तः शांतिं क्वापि न विन्दते ॥३१॥
एवं रामं विना तस्य भक्तिज्ञानादिकं विना ।
मनोरथशताक्रान्तः शांतिं मुक्तिं न विन्दते ॥३२॥
रामप्राप्तिविहीनस्य पुरुषार्थोत्तमः कुतः ।
पश्चात्तापेन सततं केवलं तप्यते ह्यसौ ॥३३॥

स्वादे ( मद्य वा किसी विषय का स्वाद से ) कबही उदर ( पेट नहीं भरता है, न तृप्ति होती है; जैसे ओस से प्यास नहीं जाती

द्रव्यहीन का पुरुषार्थ कैसा, वह केवल मन में बार२ पश्चात्ताप करता है, गया द्रव्य हाथ नहीं आता ॥

गाँठी रतन मरम नहिं जाने, पारख दीन्हा छोरी हो ।
कहहिं कबिर यह अवसर बीते, रतन न मिले बहोरी हो ॥४॥

सद्रत्नं विद्यते बुद्धिग्रन्थिस्थं चातिनिर्मलम् ।
यस्य विज्ञानमात्रेण पुनः शोको न बाधते ॥३४॥
अहो तस्य रहस्यं न जना जानंति मोहतः ।
तद्विवेकविचारादींस्त्यक्त्वा तिष्ठंति दूरतः ॥३५॥
अमूल्योऽवसरो याति यदि तन्नात्र लभ्यते ।
अन्यत्र नैव तल्लब्धुं शक्यमस्ति कथञ्चन ॥३६॥
दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां शुभभक्तिदः ।
तत्रातिदुर्लभं मन्ये स्वात्मतत्त्वावलोकनम् ॥३७॥
" चतुर्विधशरीराणि + धृत्वा भुक्त्वा सहस्रशः ।
सुकृतान् मानवो भूत्वा ज्ञानी चेन्मोक्षमाप्नुयात् ॥३८॥
चतुरशीतिलक्षेषु शरीरेषु शरीरिणाम् ।
न मानुषं विनाऽन्यत्र तत्त्वज्ञानं तु लभ्यते " ॥३९॥४॥

जिस द्रव्य विना मोक्षरूप पुरुषार्थ नहीं मिलता, सो रत्न बुद्धिरूप गांठि में ही वर्तमान है, तिसका मर्म मनुष्य गुरु विवेकादि विना नहीं जानते हैं । उसकी पारख करना छोड़ दिये हैं। साहब का कहना है कि इस अमूल्य अवसर के बीतने पर बहोरि (फिर) यह निर्मल रत्न मिलता भी नहीं है ॥४॥

+ गरुडम. पु. अ. ४९।१२–१३॥

## कहरा ९.

मति सुनु माणिक मति सुनु माणिक, हृदया बन्ध निवारहु हो
अटपट कुम्हरा करे कुम्हरैया, चमरा गाम न बांचे हो
निति उठि कोरिया बेठ भरतु हैं, छिपिया आँगन नाचे हो।

हे जीव! रामरत्नात्म! शृणु त्वं मतिमादरात्।
भावियन्धविनाशाय समर्थामात्मगोचराम् ॥४०॥
श्रुत्वा ज्ञात्वा च तां धीर! कामादिबन्धनानि वै।
हृत्स्थानि वारयस्वाशु भवबाधाऽभिभूतये ॥४१॥
बन्धनैर्यन्त्रितस्त्वं हि कुम्भकारसमः सदा।
शरीरघटसिद्ध्यर्थं कुयत्नं कुरुषे बहु ॥४२॥
कोटिधापि कृते यत्ने चर्मनद्धं कलेवरम्।
तत्स्थो वोऽत्राभिमानी वा कालपाशान्न मुच्यते ॥४३॥
तथापि त्वं समुत्थाय तन्तुवायसमः स्वयम्।
शरीरपटवानार्थं वर्तसे वेतनं विना ॥४४॥
भरणस्य ह्यलाभेन कायैः कञ्चुकितः सदा।
संसारचत्वरे नित्यं नर्तक इव नृत्यसि ॥४५॥

हे माणिक! (निर्मल रत्नरूप जीव!) तुम मति (सद्विचारादि का श्रवण करो। और हृदय के कामादि बन्धनों का निवारण करो क्योंकि कुम्हार के समान अटपट कुम्हरैया (हीन व्यवहार) करते हो यह चमरा गाम (चर्मादिनिर्मित देह सब) तो बांचनेवाला है नहीं सदा उठकर (जन्म लेकर) कोरिया (जुलाहे) के समान बेठ भरते (वेगार करते हो) और छिपिया के समान संसारांगना में व नाचते हो॥

निति उठि नौवा नाव चढतु हैं, बेरहिं बेरा बारे हो।
राउर के कछु खबर न जानहु, कैसे झगर निबारे हो॥
एक गाम बसे पाँच तरुणियाँ, तामहँ जेठ जेठानी हो।
आपन आपन झगर पसारिन, पिय सो प्रीति नशानी हो॥

महद्भ्यश्चान्धकूपेभ्य उत्थायापि सदैव च।
सुदृढां मानवीं मूर्तिं तरिं लब्ध्वा भवार्णवे ॥४६॥
नाविकस्येव चास्हा मतिमान्द्यात्कुयोगतः।
सर्वास्त्यजसि ता मोहात् पारं यासि ध्रुवं नहि ॥४७॥

सर्वश्रेष्ठस्य देवस्य किञ्चित्तत्त्वं न वेत्सि चेत्।
इन्द्रियादिगणस्यात्र कलहो वार्यते कथम् ॥४८॥
एकस्मिन्नगरे देहे तरुण्यः पञ्च संति वै।
इन्द्रियाणि हि तेष्वङ्ग ज्येष्ठं तद्विद्यते मनः ॥४९॥
ज्येष्ठा तेषां कुबुद्धिश्च ताः सर्वाः संगताः सदा।
स्वार्थाय कलहायन्ते नष्टा प्रीतिस्ततः प्रभौ ॥५०॥

सदा अन्य योनियों से उठकर नौवा ( केवँट ) के समान मानव तनुरूप नौका पर चढते हो, परन्तु उन सब बेरा ( नावों ) को बारे ( त्यागते ) जाते हो, ससार से पार नहीं होते हो। राउर ( श्रेष्ठ सद्गुरु सत्यात्मा ) की कुछ भी खबर नहीं जानते हो, तो इन्द्रियादि के झगड़ाओं का निवारण कैसे कर सकते हो॥ एक गाम ( देह ) में पाँच ज्ञानेन्द्रियरूप पाच तरुणी बसती हैं। उनमें ज्येष्ठ ( बड़ा ) मन है, जेठानी कुबुद्धि है। वे सब अपने २ झगड़ा फैलाये हैं, और प्रियतम आत्मदेव से प्रीति को नष्ट किये हैं॥

भैंसिन माहँ रहे नित बंकुला, तकुला ताकि न लीन्हा हो ।
गायन माहँ वसेहु नहिं कबहूं, कैसे के पद चीन्हा हो ॥
पन्थिक पन्थ चीन्ह नहिं लीन्हा, मूढहिं मूढ गमारा हो ।
घाट छोरि कस अवघट रेंगहु, कैसे लगवहु पारा हो ॥

कलहस्यातिविस्तारात्प्रभुभक्तेरभावतः ।
वकवृत्तिर्भवाञ्छश्वद्वर्तसे महिषीसमे ॥५१॥
तामसे महिषे तिष्ठन्निन्द्रियाणां गणे तथा ।
अवश्यमेव बोद्धव्यं तत्त्वं नैवाववुद्धवान् ॥५२॥
गायकेषु गुणज्ञेषु विद्वत्सु सात्विकेषु च ।
नो तिष्ठसि कदाचिच्चेत्कथं ज्ञास्यसि सत्पदम् ॥५३॥
संसारपथिकश्चेत्त्वं + महासुपथिगामिनः ।
पृष्ट्वा वेत्सि न सन्मार्गं मूढान्मूढोऽसि पामरः ॥५४॥
मूढैः कुपुरुषैः सार्द्धं सङ्गमेन च सत्पथम् ।
सुघट्टमपि सत्यज्य कुघट्टे धावसे कथम् ॥५५॥
कुघट्टे धावमानश्च भवाब्धेः पारमव्ययम् ।
कथं त्वं लप्स्यसे सौख्यं सम्यगेतद्विचारय ॥५६॥

बकुला (बकवृत्ति) होकर भैंस तुल्य तामसी पुरुषों में सदा रहते हो। और तकुला (अवश्य ताकने देखने योग्य) तत्त्व को तुमने ताकि (देखि) नहीं लिया है। और गायन (वक्ता ज्ञानी) के संग में कभ नहीं बसते हो, तो अचल पद को कैसे चीन्होगे ॥ पन्थि ससार पथ

+न पूजनादिति निषेधात्, ऋक्पूरब्धूःपथामिति, अप्रत्ययो भवति। शोभनः पन्थाः सुपन्थाः, महान् सुपन्था इति विग्रहे सन्महदित्या दिना समासे, आन्महत इत्यात्त्वम्। महासुपन्थान शमाद्यमानित्यादिरू गन्तु शील यस्य तस्मात् ॥

गन्ता) सुपथ को नहीं पहचाना है, स्वयं मूढ गमार किसी मूढ गमार से मिले हो, सुघाट (शमादि) को छोड़कर अवघट (कुघाट) में क्यों रेंगते (चलते) हो, इस प्रकार भवाब्धि के पार कैसे लगोगे ॥

जतइत के घन हेरिया ललची, कोदइत के मन दौरा हो ।
दुइ चकरी है दरन पसारिनि, तब पैहो थिति ठौरा हो ॥

उत्तरणं विना चास्य संसाराम्धेरयं जनः ।
आनन्दघनसद्वस्तु वस्तुष्वन्वेषते मुहुः ॥५७॥
यतस्तन्नो विमृग्याऽयं लब्ध्वा किञ्चित्सुखादिकम् ।
तृप्तिं न विन्दते क्वापि लोभग्रस्तो व्रजत्यतः ॥५८॥
सुखादेश्चात्र को दाता मनसेत्थं विचिन्त्यते ।
कश्चकोद्रवैस्तुल्यान् मनो ध्यायति गोचरान् ॥५९॥
कांश्चिच्च विषयान् प्राप्य कोद्रवान् वै जनोऽधमः ।
वितुषीकरणायैव तान् सौख्यप्रचुरान् मुहुः ॥६०॥
कर्तुमिच्छन् हि कर्मादि तनुते भोगमेव वा ।
लोकयोरुभयोस्तच्च प्रतनोति महत्तमम् ॥६१॥
अनेनैव स्थितेः स्थानं लप्स्येऽहमिति मन्यते ।
असुखे सुखबुद्ध्यैवमस्थिरे स्थिरबुद्धितः ॥६२॥

जतइतके ( जहाँ तहाँ ) घन हेरिया ( बहुत ढूंढा ) या घन (आनन्द-घन) को हेरिया ( खोजा ) और ललची ( विषय भोगादि का लालच लोभ किया ) और लोभ करने पर, कोदइत ( कोदों तुच्छ तुच्छ विषय ) के लिये मन दौड़ा, या कौद ( कौन दाता ) है, इतके ( इस तरफ ) मन दौड़ा ॥ फिर कर्मादि द्वारा कुछ विषयादि कोदों की प्राप्ति करके दो लोकरूप चकरी में उसीके दरन (विचार भोगादि) को पसारिन ( फैलाया ) कि तब (इसीसे) मैं स्थिति का स्थान पाऊँ

प्रेम बाण एक सतगुरु दीन्हा, गाढो तीर कमाना हो ।
दास कबीर कियो यह कहरा, महरा माँह समाना हो ॥५॥

सद्गुरस्तु विलोक्यैतत्प्रभौ प्रेम विना महत् ।
अनर्थं तस्य नाशाय प्रेमबाण प्रदत्तवान् ॥६३॥
एकमेकात्मविषयं सर्वद्वन्द्वविवर्जितम् ।
सदा सौख्यावह सर्वबन्धच्छेदविधायकम् ॥६४॥
एकस्य तस्य बाणस्य दृढता धैर्यलक्षणा ।
महद्धनुर्हतस्तेन सर्वानर्थो विनश्यति ॥६५॥
देवदासादिजीवास्तु कुघट्टे धावनादिकम् ।
कुकर्म कृतवन्तो वै महत्स्वप्यविशंश्च तत् ॥६६॥
व्यवसायात्मिका बुद्धिरेका भवति निश्चला ।
अन्या ह्यनन्तशाखा स्याच्चलाऽनन्तस्वरूपिणी ॥६७ ५॥

इति हनुमदीये कहराकल्पे कामिजुगुप्सादिवर्णन नाम द्वितीय शिक्षा ॥२॥

सद्गुरु ने स्थिति ठौर की प्राप्ति सब अनर्थ की निवृत्ति के लिये प्रियतमात्मराम विषयक सत्प्रेमरूप एकही बाण शिष्यों के प्रति दिया है और उस प्रीति में गाढ ( दृढ ) पन तथा अचल धारणा धैर्यादिक हैं उस तीर ( बाण ) का कमान ( धनुष ) है । और देवादि के दास ( भक्त ) कबीरों ( जीवों ) ने तो यह कुघाट में धावनादिरूप कहर ( दुःख के साधन ) किये हैं। जो महरा ( कहारतुल्य वा महान् ) में मैं समाया है ॥

इति कामी जुगुप्सा प्रकरण ॥२॥

## कहरा ८, धारणोपदेश प्र. ३.

सहज ध्यान रहु सहज ध्यान रहु, गुरु के वचन समाई हो ।
मेली शिस्त चरा चित राखहु, रहहु दृष्टि लौ लाई हो ।
जस दुख देखि रहहु यह अवसर, अस सुख होइहिं पाई हो ॥

महानर्थनिवृत्यर्थं सहजानन्दलब्धये ।
*राजयोगस्य सिद्ध्यर्थं सहजानामकस्य च ॥१॥
+सद्गुरोर्वचने स्थित्वा सदा ध्यानं कुरु प्रभोः ।
ध्याने नित्यं स्थितः किञ्चित्त्वन्यत्त्वं न चिन्त्यताम् ॥२॥
चञ्चलं यन्महच्चित्तं शस्ते शिष्टे गुरोरथ ।
ध्रियतां मेलयित्वाऽत्र वृत्तिर्लक्ष्ये निधीयताम् ॥३॥
× दुःखं दृष्ट्वा त्विदानीं त्वं यथा स्थास्यसि निश्चलः।
अभ्यासादौ तथैवाङ्ग ! लप्स्यसे निश्चलं सुखम् ॥४॥

हे सत्य के प्रेमी जनो ! सहज समाधि के लिये ध्यान में स्थिर रहो और सदा गुरु के वचन में समाय (स्थिर होय) कर सहज ध्यान ही मे लगो ॥ और शिस्त (शस्त-कल्याण वस्तु लक्ष्य) में चरा (चञ्चल) चित्त को मेल (लगा) कर रखो । और दृष्टि (मनोवृत्ति) से सदा उसीमें लौ

---

* राजयोगः समाधिश्च उन्मनी च मनोन्मनी । अमरत्वं लयं तत्त्वं शून्याऽशून्यं परं पदम् ॥ अमनस्कं तथाऽद्वैतं निरालम्ब निरञ्जनम् । जीवन्मुक्तिश्च सहजा तुर्या चेत्येकवाचकाः । हठयोगप्र. उ. ४।३–४॥

+ दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनम् । दुर्लभा सहजाऽवस्था सद्गुरोः करुणा विना ॥ महोप. ४।७७॥

× आत्मानं नियमैस्तैस्तैः कर्षयित्वा प्रयत्नतः । प्राप्यते निपुणैर्धर्मो न सुखाल्लभते सुखम् ॥ वाल्मीकीयरा. युद्धकां. स. ९।३१॥

(प्रेम या लक्ष्य) लगाय रहो। या दृष्टि (नेत्र) पर लौ (लक्ष्य) लगाय रहो। इस अभ्यासादिजन्य दुःख को देखकर भी इस समय जैसे स्थिर रहोगे, ऐसा ही स्थिर सुख फिर प्राप्त होगा॥

जो खुटकार वेगि नहिं लागै, हृदय निवारहु कोहू हो।
मुक्ति की डोरि गाढ़ि जनि खैंचहु, तब बझिहिं बड़ रोहू हो॥

संदेहजनकं चेतद् व्यर्थंचेष्टाप्रवर्तकम्।
मनश्चेन्न लगेच्छीघ्रं सत्पदे गुरुभाषिते॥५॥
तथापि त्वं प्रयत्नेन स्वान्तान्मन्युं निवारय।
येन केन प्रकारेण स्वं चित्तं संप्रसादय॥६॥
लगेद्वाऽपकृतिः कापि वेगेन कियतापि चेत्।
तथापि न त्वया कोपः * कार्यः कस्मै जनाय वै॥७॥
मुक्तिमत्स्यप्रदा शुद्धा शमादिगुणसंयुता।
चित्तवृत्तिर्घटी कापि शीघ्रमाकृष्यतां + नहि॥८॥
कोपं सर्वान् प्रति त्यक्त्वा धैर्यमालम्ब्य यत्नतः।
चित्तेन्द्रियनिरोधेन सहजा वृत्तिराप्यते॥९॥
इत्थमेव कृते साधो महत्सौख्यं परं पदम्।
लप्स्यतेऽत्र त्वया शीघ्रं जन्मापि न भविष्यति॥१०॥

जो ( यदि ) खुटकार ( खटका–संदेहादि उत्पन्न करनेवाला ) मन वेगि ( शीघ्र ) अभ्यासादि में नहीं लगे, या किसीका खुटकार (उपद्रव–अपकार ) चाहे कितनाहू वेग से न लगे, तौ भी तुम अपने हृदय से

* अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कञ्चन। न चेमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित्॥ मनु अ. ६।४७॥

+ शनैःशनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया। आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥ भ. गी. अ. ६।२५॥

क्रोध का निवारण किये रहो ॥ और मुक्ति की डोरी ( ध्यानरत चित्तवृत्ति ) को गाढ़ (जोर) से नहीं खींनो ( इसमें शीघ्रता घबराहटादि नहीं करो ) तभी बड़ा रोहुतुल्य मन बाझेगा ( स्ववश होगा जन्मादि भय मिटेगा मुक्ति मिलेगी ) इत्यादि ॥

मनुअहिं कहो रहो मन मारे, खिझुआ खीझि न बोले हो ।
मानू मीत मितैयो न छोड़े, कमऊँ गाँठि न खोले हो ॥

क्रोधवेगे समुत्पन्ने स्वं मनः परिबोधय ।
क्रुद्धः कोपाच्च कश्चिच्च किञ्चिद्वद कदाचन ॥११॥
×कामक्रोधोत्थवेगेन लोभेन ह्रियते न यः ।
स योगी स च मोक्षस्य भाजनं भक्तिभाजनम् ॥१२॥
कामक्रोधौ व्युदस्यातो मित्राणि विद्धि सज्जनान् ।
मित्रता त्यज्यतां नैव तद्ग्रन्थिर्न विमुच्यताम् ॥१३॥
अथवा सर्वभूतेषु मित्रतां भावय स्विकाम् ।
न कदापि च तद्ग्रंथिं मित्रतां वा परित्यज ॥१४॥
सुखितादिजनेष्वेवं§ मैत्र्यादेर्भावनां कुरु ।
प्रसाद्यतां तया चित्तं येन बुद्धिः स्थिरा भवेत् ॥१५॥

काम क्रोध के वेग होने पर भी मनुअहिं ( मन को ) कहो (समझावो ), उस मन को मारे ( दबाये ) रहो । हे खिझुआ (क्रोधी) मनुष्यो ! खीझि ( क्रोधकर ) के किसीसे नहीं बोलो । और सुखी दुःखी

× शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् । कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥ भ. गी. ५।२३॥

§ मैत्री करुणा मुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् । योगद. १।३३॥

आदि मनुष्यों को अपना मित्र समझो, मितैया ( मित्रता ) कमी नहीं छोड़ो। और कमऊँ ( काम की ) गाँठि ( गठरी ) नहीं खोलो (अत्यन्त कामी नहीं बनो ) या कमऊँ ( कमी ) मित्रता के गाँठि ( प्रेमबन्धन ) को नहीं खोलो ॥

भोगहु भोग भुक्ति जनि भूलहु, योग युक्ति तन साधहु हो ।
जा मत से कग्हू मतवाली, ता मत के चित बाँधहु हो ॥

भोगोऽपि भुज्यतां युक्त्या भुक्तौ नैव निमज्ज्यताम् ।
योगयुक्त्या शरीरं च संशुद्धं स्ववशं कुरु ॥१६॥
* आहारलघुताब्रह्मचर्यशौचवितृष्णताः ।
युक्तक्रियाऽऽत्मचिन्ताद्याः संति वै योगयुक्तयः ॥१७॥
यया मत्या च कुरुषे गर्वमुन्मादमेव वा ।
तां बधान स्वचैतन्ये धीरधारणया सदा ॥१८॥
या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वपहारिषु ।
सा चेदात्मनि देवे स्यान्मुक्तौ कास्ति कदर्थना ॥१९॥
यया मत्या जनो बद्धो निरयेषु निपात्यते ।
तां नियुज्य प्रभौ रामे बन्धान्मुक्तः सुखी भवेत् ॥२०॥

शरीर की स्थिति परोपकारादि के लिये उचित भोग भोगो। परन्तु भुक्ति ( भोग ) में भूलो ( आसक्त होवो ) नहीं। योग की युक्ति ( अल्पाहारादि ) से तनु ( देह ) को साधो ( वश करो ) ॥ और जा मत ( जिस समझ वा बुद्धि ) से मतवाली (मतवालापन–गर्वप्रमादादि) करते हो, ता मत के ( उस मत को ) चित ( चेतनात्मा ) में बाधो ( लगाओ ) ॥

* युक्ताऽऽहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु। युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ भ. गी. अ. ६।१७॥

नहिं तो ठाकुर है अति दारुण, करि हैं चाल कुचाली हो ।
मारि बाँधि डाँरि सब ली हैं, छूटि हिं सब मतवाली हो ॥

> इत्थं चेत् क्रियते नैव यमराजः प्रभुर्मनः ।
> गुणाधिकारवन्तश्च सर्वेऽतिदारुणास्तव ॥२१॥
> कुक्रियां कुस्थितिं तेऽत्र करिष्यंति कृते तव ।
> सुदण्डं ते विधास्यंति निबध्य ताडनादितः ॥२२॥
> तदा ते मत्तता गर्वः सर्व एव नशिष्यति ।
> तत्राऽलाभेन च चातु विह्वलो रोरुदिष्यसे ॥२३॥
> * स्वस्वकर्मानुसारेण सुखं दुःखं च विन्दते ।
> भयं यद्वाऽभयं सर्वं मृतौ नान्यत्तु किञ्चन ॥२४॥
> कामी वै बध्यते मृत्यौ निष्कामोऽतिविमुच्यते ।
> योगयुक्तो विशुद्धात्मा तस्माद्योगं समाश्रयेत् ॥२५॥

नहिं तो (पूर्व कही रीति से अभ्यासादि नहीं करने पर) तेरे लिये ठाकुर (ईश्वर-अधिकारी देव यमराज गन) अत्यन्त दारुण (क्रूर शत्रु) हैं। तेरा चाल कुचाल करेंगे। और बाँध मारकर सब अपराधों के दण्ड लेंगे औ तब तेरी सब मतवाली (गर्व) छूटेगी ॥

जबहीं सावट आनि पहूंचा, पीठि साट भल टूटी हो ।
ठाढ़े लोग कुटुम सब देखैं, कहे न काहु कि छूटी हो ॥
एक पै नग्न पायँ परि विनवैं, विनति किये नहिं मानै हो ।
अनचिन्ह रहहु कियेहु न चिन्हारि, सो कैसे पहिचानै हो ॥

---

* पापी महाभयं पश्येत्कालान्तकमुखैर्वृतम् । सौम्यरूपं तु पुण्यात्मा धर्मराजं मृतौ किल॥ मनुष्या एव गच्छन्ति यमलोकं न चापरे। धार्मिकः पूज्यते तत्र पापः पाशगलो भवेत् ॥

समायाति कशाघाती यदैव यमकिंकरः ।
तदा पापात्मनः पृष्ठे कशां स त्रोटयत्यलम् ॥२६॥
तत्र स्थित्वा कुटुम्बश्च लोकः पश्यति तां दशाम् ।
*कस्यापि × वचनान्नैव तदा मोक्षो हि जायते* ॥२७॥
एकोऽसौ म्रियमाणश्च प्रणिपातपुरस्सरम् ।
तदा स्तौति न तत्किञ्चिन्मन्यते यमकिंकरः ॥२८॥
पूर्वं परिचयस्तस्य मरणान्तं कृतो न यैः ।
तानिदानीं कथं सोपि जानीयाद्यमकिंकरः ॥२९॥
यमराजोऽपि तान्नैवावबुध्येत नराधमान् ।
यैस्तेन संस्तवः पूर्वं कृतो न मरणावधि ॥३०॥

जब सावट ( साट कैंत मारनेवाला ) यमकिंकर आ पहुंचता है, तब पीठ पर साट ( कोरा कैंत ) भलीभांति से तोड़ता है, खड़ेर लोग कुटुम्बादि देखते हैं, परन्तु किसीके कहने से छूटी नहीं मिलता है ॥ एक पै ( सिर्फ अकेला ) नष्ट ( मृत्युग्रस्त ) जीव उस समय पावँ परके विनय स्तुति करता है, परन्तु वह दण्डदाता एक भी नहीं मानता । ऐसाही उचित भी है, क्योंकि जिससे तुम सदा अनचिह्न रहते हौ, वह उस समय तुमको किस प्रकार पहचाने, कैसे खातरी करे इत्यादि ॥

लेन बोलाय बात नहि पूछै, कपट गर्व तन घोलै हो ।
जाके गांठ समर कछु नाहिं, सो निथाह भय डोलै हो ॥

स नैवाऽऽह्वयते शान्तं वार्ता काञ्चिन्न पृच्छति ।
दुःखाढ्येस्ताद्कोऽप्येष गर्वदेहेन भाषते ॥३१॥

× आत्मैव यदि नात्मानमहितेभ्यो निवारयेत् । कोऽन्यो हितकरस्तस्मादात्मानं तारयिष्यति ॥ गरुडपु. अ. ४९।२२॥

जीवकर्ममयो देवस्तदा भाति निरञ्जनः।
गर्वी पश्यति गर्वित्वं शान्तस्तत्र हि शान्तताम् ॥३२॥
यस्य स्वान्ते न सत्कर्म + ज्ञानध्यानादिशम्बलम्।
अनन्ते स भयस्थाने कम्पते तत्र विह्वलः ॥३३॥

वह ठाकुर, पहचान योग भक्ति आदि रहित जीवों को प्रेम से नहीं बुला लेता है। न कुछ बातही पूछता है, किन्तु वह केवट ( भक्त योगी आदि को भवाब्धि पार करनेवाला प्रभु ) भी निज मायाशक्ति से गर्वमय तनु का धारण करके बोलता है। तब जिसके गाठ ( हृदय ) में सत्‌कर्म भक्ति ज्ञानादिरूप समर ( शम्बल ) नहीं रहते हैं, वह जीव निथाह ( अथाह—अगम अपार ) भव के स्थानों में विह्वल होकर डोलता ( कापता ) है इत्यादि ॥

जिन समयुक्ति अगुअन कै राखिन, धरिन मच्छ भरि डेहरि हो ॥
जेकरा हाथ पावँ कछु नाहीं, धरे लागु तेहिं सो हरि हो ॥

यस्तु स्वान्तं निजात्मानं नियोज्यात्मन्यधारयत्।
शम्बलं ज्ञानयोगादि सम्पाद्य धृतवांश्च वा ॥३४॥
स मनोवांछितं पूर्णमानन्दघनमव्ययम्।
सुमत्स्यं लब्धवान् यद्वा स्वर्गं कर्मानुसारतः ॥३५॥
यस्य नो पाणिपादादि चक्षुरादि न किञ्चन।
देहो लगति यस्मिन्सो लभ्यो मत्स्यो हरिर्हि सः ॥३६॥

---

+ ये नरा ज्ञानशीला वै ते यान्ति परमां गतिम्। पापशीला नरा यान्ति दुःखेन यमयातनाम् ॥ गरुडपु. प्रे. अ. १।१७॥

स एव मायया सर्वग्रहणायाऽलगत्स्वयम् ।
यो हि संसारबन्धस्य स्थितेर्मोक्षस्य * कारकः ॥३७॥

जिन जीवों ने अगुअन ( आगे–प्रथम ) से ही समयुक्ति ( सग्रह ) करके ज्ञान ध्यानादि शम्बल राखा, वे लोग भर डेहरि ( मनभर–मनोवाञ्छित ) मंच्छ ( आनन्द–मोक्ष ) धरिन ( धरे–पाये ) ॥ वस्तुतः जिसके हाथ पावँ आदि कुछ नहीं है, न धरे ( धड़–देह ) का जिसमें लाग ( सम्बन्ध ) है, प्राप्त करने योग्य सोई हरि है ॥ अथवा जो हाथादि रहित है सोई हरि जीवों के कर्मानुसार निजमाया से यमराजादिरूप ठाकुर बनकर मूँढ जीवों को धरने पकड़ने दण्ड देने में लगा है इत्यादि ॥

पेलना अच्छत पेलि चलु बोरे, तीर तीर का डोलहु हो ।
उथले रहहु परहु जनि गहिरे, मति हाथहु के खोवहु हो ॥

विषमते शरीरे स्वे नावि स्वस्थेन्द्रियादिके ।
अरित्रक्षेपणीसत्त्वे संवाह्य भवमुत्तर ॥३८॥
क्षिप्रं तत्तरणे यत्नं कुरुष्व त्वं जनः शुभम् ।
भवसिन्धोस्तटे किं वै भ्रान्तो भ्रमसि सर्वदा ॥३९॥
यावन्नास्य परं पारं त्वया संप्राप्यते बुध ।
तावदप्युत्तते मार्गे पदे तिष्ठ विवेकतः ॥४०॥
गम्भीरे भवचक्रे हि रागद्वेषभयाकुले ।
पत मा मोहतो यत्नं हस्तस्थं त्यज्यतां नहि ॥४१॥
अमूल्याऽवसरो याति मानुष्यं चातिदुर्लभम् ।
सुलभ्यं ह्यात्मरत्नं तदनेनाल्ययासा खलु ॥४२॥

---

* संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतु । श्वे ६।१६॥

हे वीरे ! पेलना (मानवदेहादिरूप नौकादि) के अछत (रहते) ही पेलि (खेव) कर ससार सागर से पार चलो। तीर २ (किनारे २) क्या डोलते हो॥ सद्विवेक ध्यानादिरूप उंथले (उच स्थान) में रहो। रागद्वेषादिरूप गहिरे (गम्भीर) सागर में जनि (नहिं) पड़ो। और हाथ में प्राप्त इस अमूल्य अवसरादि को भी व्यर्थ नहीं खोवो॥

ऊपर के घाम तरे के भूंभुरि, छाँह कतहुं नहिं पायहु हो।
ऐसे जानि पसीजहु सीजहु, कस न छतरिया छावहु हो॥

रत्नाऽलाभे हि तापास्त्वां दैहिकाद्या निरन्तरम्।
बहिः संतापयिष्यंति तथान्तस्तत्तथालुकाः ॥४३॥
आधयः शोकमोहाद्या धक्ष्यन्त्येव निरंतरम्।
ततश्चोभयतस्त्वं हि क शान्तिर्लप्स्यसे सुखम् ॥४४॥
सच्छायां नैव कुत्रापि ज्ञानयोगादिकं विना।
लब्धवाश्चैव लब्धासि ततस्तापैर्निपीड्यसे ॥४५॥
एवं ज्ञात्वापि किं जीव! घर्मयुक्तोऽतितप्यसे।
छदिः संछाद्यते किन्न ज्ञानयोगादिलक्षणा ॥४६॥
ज्ञानयोगाद्यभावे हि गते युगसहस्रके।
न कश्चिच्छान्तिलाभः स्यान्मुक्तिर्नैव च नैव च ॥४७॥

इस अवसर के व्यर्थ नष्ट करने पर दैहिकादिता रूप ऊपर के घाम (धूप) से तथा शोकादिरूप तरे (भीतर) के भूंभुरि (तप्त बालू) से पीडित होने पर तुमने कहीं छाँह (आनन्द का स्थान) नहीं पाया है, न पावोगे॥ ऐसे ही जानो (समझो) और प्राय. ऐसा जानकर भी पसीजते (घर्मार्त होते पसीना टपकाते रोते) हो, सीजते (पकते-भुनते) हो। परन्तु छाया शान्तिप्रद ज्ञान ध्यानादिरूप छतरी (घर) क्यों नहीं छाते हो॥

जो कछु खेल कियो सो कीयो, बहुरि खेल कस होई हो ।
सासु ननद घर देत उलाटन, रहहु लाज मुख गोई हो ॥

पटलाऽसाधने त्वत्र क्रीडायुक्तं कुतूहलम् ।
कृतं यत्तत्कृतं विद्धि पुनर्नेत्थं भविष्यति ॥४८॥
तिर्यग्योनिषु संप्राप्तौ नरकेष्वथ संकटे ।
कथं कौतूहलं सिद्ध्येत्तदद्यैव विचिन्त्यताम् ॥४९॥
माया ह्येषा जगच्छ्वश्रूः स्वामिनां जननी मता ।
असतां सा कुबुद्धिश्च ननान्दा लोकघातिनी ॥५०॥
ते उमे वैपरीत्येन प्रदर्श्यार्थान् जनान् प्रति ।
अनन्तदेहगेहेषु क्षिपतो ज्ञानमन्तरा ॥५१॥
उपालम्भमुभे दत्तो जनेभ्यश्च सदा ततः ।
लज्जितैरेव युष्माभिर्मुखमाच्छाद्य जीव्यते ॥५२॥

ज्ञान ध्यानादिरूप छत्री नहीं छाने पर जो कुछ खेल इस मानव तनु में कियो सो कियो, फिर कैसा खेल होगा सो समझो ॥ सासु (माया) ननद ( अविद्या कुबुद्धि ) आदि, अनन्त देहरूप घरों में जीवों के प्रति उलाटन ( ओलहन–उपालम्भ ) देती दिलाती हैं, जिसकी लाज के मारे तुम जीव सब मुख गोये ( छिपाये ) रहते हो ॥

गुरु भौ ढील गोण भौ लचपच, कहा न मानहु मोरा हो ।
ताजी तुरुकी कबहुं न साधेहु, चढेहु काठ के घोड़ा हो ॥

देहनौगुणवृक्षोऽयं मेरुदण्डोऽदृढोऽभवत् ।
नाड्याद्यास्तद्गुणाश्चैव शिथिलत्वमुपाव्रजन् ॥५३॥
अहो तथापि सद्वाक्यं गुरूणां मन्यते नहि ।
मन्यते त्वसतां वाक्यं पीड्यन्ते तेन जन्तवः ॥५४॥

×तौरुष्की तरुणी याऽश्वा तद्वद्धि प्रापिकां लघु§।
सत्तत्त्वस्यात्मबुद्धिं नो सहजां साधयन्ति वा ॥५५॥
कदाचिद्धे भवन्तोऽत्र काष्ठस्याश्वसमं कथम्।
काम्यकर्मादिकं तुच्छमाश्रयन्ति जडं तु वा ॥५६॥
जडासक्त्या न मोक्षः स्यात्काम्येन कर्मणा नहि।
न सौख्यं नापि विज्ञानं न ध्यानं धारणा शुभा ॥५७॥

संसार सागर से पार करने में समर्थ मानवतनुरूप नौका के गुरु (गुणरखा) मेरुदण्ड ढील हो गया। और गोण (नशनाडीरूप गुण या देहरूप बोरा) लचपच (कमजोर) हो गये। तौभी मोरा (सद्गुरु का) कहा नहीं मानते हो॥ और ताजी (नवीन) तुरुकी (तुर्कस्थान की घोड़ी) तुल्य शीघ्र इष्ट स्थान में प्राप्त करानेवाले ज्ञान ध्यानादि को कभी नहीं सिद्ध करते हो, किन्तु काम्यकर्मादि विषयादिरूप काठ के घोड़े पर चढ़े हो॥

ताल झांझ भल बाजत आवै, कहरा सब कोइ नाचै हो।
जेहि रंग दुलहा ब्याहन आवै, तेहि रंग दुलहिनि राचै हो॥

स्थितानां तत्र युष्माकं कल्पितैः स्वामिभिः सह।
विवाहाय विवाद्यन्ते तालाश्च झर्झरादिकाः ॥५८॥
आयांति वाद्यन्तश्च तान् सर्वेऽप्यविवेकिनः।
जडाः सर्वेऽत्र नृत्यन्ति मनस्तेषां विकुर्दते ॥५९॥
सात्त्विकै राजसैर्यद्वा तामसैर्यैस्तु रञ्जितः।
रङ्गैर्वरः समायाति रज्यध्वे यूयमत्र तैः ॥६०॥

× तुरुष्काणां देशे जाता॥ § शीघ्रम्॥

रञ्जितास्तैर्भवन्तश्च प्राप्नुवंति हि तान् सदा ।
नैव सत्यं परात्मानं संसाराब्धेः परं स्थितम् ॥६१॥
वर्जितं सर्वरङ्गैश्च विशुद्धं पावनं परम् ।
असङ्गं निर्गुणं नित्यं विभुमानन्दचिद्घनम् ॥६२॥

काठ के घोड़े पर चढ़े हुए मनुष्यों का विवाह के लिये ताल झाझ आदि भले (अच्छी तरह) बाजते आते हैं। और कहरा ( कहारतुल्य ) लोग सब नाचते हैं। और जिस सात्विकादि रंगवाला दुलहा ब्याहन को आता ( कल्पित होता ) है। उसी रंग से जीवरूप दुलहिन या उसकी बुद्धि राची ( साजी ) जाती है॥

नौका अछत खेवहु नहिं जानहु, कैसे लगवहु तीरा हो।
कहहिं कबीर राम रस माते, जोलहा दास कबीरा हो ॥६॥

स्थितायामेव नाव्यत्र जानंति वाहनं न चेत् ।
भवाब्धेः सत्परं पारं प्राप्नुवन्तु कथं जनाः ॥६३॥
विजानन्तु कथं चेते वाहनं साधनं तथा ।
तटस्येव रामस्य रसे मत्ता हि सन्ति चेत् ॥६४॥
त्रैगुण्यैर्हि रसैर्मत्ता विन्दन्ते न परं पदम् ।
इत्येवं सद्गुरुः प्राह दासाञ्जीवान् सुदेहिनः ॥६५॥
ब्रह्मण्येवेदं सर्वं विश्वं मायासिद्धं सत्यार्थैः शून्यम् ।
अत्रासक्ता ये मोहैर्मत्तास्तेषां यातायातं स्यान्नित्यम् ॥६६॥
तेषां कृते च भूतात्मा भूतैर्नानाविधास्तनूः ।
सृजत्यविरतं सर्वान् भ्रामयन् मायया मुहु ॥६७ ६॥

मानव तनुरूप नौका के अछते ( रहते ) भी यदि इसे खेवना नहीं जानते हो, तो पार तीर परं कैसे पहुच सकते हो। साहब का

कहना है कि ये दास कबीर (जीव) लोग खेवना जान भी कैसे सकते हैं। तटस्थ त्रिगुणमय राम के रस (आनन्द) से ही जोलहा तुल्य दास कबीर माते (मस्त हुए) हैं ॥६॥

## कहरा ७.

ओढन मेरो रामनाम मैं, रामहिं के वणिजारा हो ॥
रामनाम के करौं वणिजिया, हरि मेरे हटवाई हो।
सहस नाम का करौं पसारा, दिनदिन होत सवाई हो ॥

उपासीनो हि नामैव प्राह रामेति नाम मे।
उत्तरीयपटैस्तुल्यं शैत्यतापादिवारकम् ॥
अतस्तद्व्यहर्त्ताऽहं किं मे ध्यानादितो भवेत् ॥६८॥
रामनाम्नो हि वाणिज्यं सदैवात्र करोम्यहम्।
हरिरेव फलोन्माता दाता तस्य सदाऽव्ययः ॥६९॥
हरेः सहस्रनाम्नां च सुविस्तारं करोम्यहम्।
येनास्मदीयवाणिज्ये सदा वृद्धिर्हि पादशः ॥७०॥
ज्ञानिनस्तु वदन्त्यत्र रामनामास्ति सत्पटः।
तेन वास्यं जगत्सर्वं तस्य व्यापारिणो वयम् ॥७१॥
उपदेशादिकं तस्य वाणिज्यं क्रियते यतः।
स हरिर्भृतिरस्माभिः प्राप्यते ह्यक्षयाद्वयः ॥७२॥
अनन्तनामकस्यास्य विस्तारो वर्ण्यते यतः।
सदा लोके सुखादीनां वृद्धिर्भवति पादशः ॥७३॥

नामोपासक रामनाम को अपना (ओढना शीतातपादि द्वन्द्व नाशक) समझते हैं, उसीके वणिजारा (व्यापारी) होते हैं। रामनाम के वणिजी (व्यापार) में हरि को ही अपना हटवाई (हटवापन की मजदूरी) समझते

हैं। सहस्रनाम का पसारा (वाणिज्य विस्तार) से दिन २ सवाई वृद्धि होती है, यह भक्त का निश्चय है ॥

जाकु देव (मैं) नव पँच सेरवा, ताको होत अढाई हो ।
कान तराजु सेर तिन पौवा, डहकिन ढोल बजाई हो ॥

यस्मै ददामि भक्त्या वै नवधास्तुनिधेस्तथा ।
पञ्चाक्षरस्य मन्त्रस्य विधिनैवोपदेशनम् ॥७४॥
अर्धाऽधिकद्विमात्रस्य प्राप्तिस्तस्य भवेद् ध्रुवा ।
ओंकारस्येत्युपासीनो भाषते नाममात्रकम् ॥७५॥
सेटकानि हि यस्यैव नव पञ्चेन्द्रियाणि च ।
प्राणा देवमयानि स्युः सोंकारार्थं समाप्नुयात् ॥७६॥
इत्येवं भाषते ह्यज्ञ जानन् सर्वमयम् हरिम् ।
तुलयाऽसमया लोकरूपया सेटकेन च ॥
पादोनेनैव सर्वेऽमी पीड्यन्ते त्रिगुणेन हि ॥७७॥
वञ्चका वञ्चयन्त्येतांस्तया तेन च वै जनान् ।
प्रत्यक्षं वादयित्वेव ढक्कान् कोपि न बुध्यते ॥७८॥

जाकु (जिसको) मैं नव सेरवा ( नवधा भक्ति आदि ) पँच सेरवा (पञ्चाक्षर मन्त्रादि ) देव ( देता हूं ) ताको ( तिसको ) अढ़ाई ( ढाई मात्रावाला ओंकार के अर्थ ईश्वर) की प्राप्ति होती है ॥ कान (समता रहित त्रिगुण लोकादि) तराजु (तुला) तिन पौवा (तीन गुण रूप तीन पाव के) सेर से ढोल बजाकर वञ्चकों ने जीवों को डहकिन (डहकाया– पीडित किया धोखा दिया) इत्यादि ॥

सेर पसेरी पूरा करि लेहु, पासंग कतहुं न जाई हो ।
कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो, जोर चले जहडाई हो ॥७॥

प्रस्थद्रोणादिकं सर्वं ज्ञानध्यानादिलक्षणम् ।
सुपूर्णं क्रियतां साधो क्वापि पापे न गम्यताम् ॥७९॥
वासनाऽप्यूनतात्मा या समतावाधिका दृढा ।
पूर्णज्ञानं विना सा न क्वचिद्याति दुरुद्धरा ॥८०॥
पूर्णज्ञानं विना ये तु हठेन वासनाक्षयम् ।
नामायैः कर्तुमिच्छन्ति वञ्चितास्ते व्रजंति हि ॥८१॥
वञ्चयित्वा जनांस्ते च वञ्चका ह्यतिदुर्धियः ।
अधो यान्ति न संदेहो वञ्चना ह्यत्यनर्थदा ॥८२॥
इत्येवं सद्गुरुः प्राह शृण्वन्तु सर्वसज्जनाः ।
त्यजन्तु वञ्चकत्वं च वञ्चकानां कुसङ्गतिम् ॥८३-७॥

इति हनुमदीये कहराकल्पे धारणोपदेशवर्णनं नाम तृतीया शिक्षा ॥३॥

ज्ञान ध्यान विरागादिरूप सेर पसेरी को पूर्ण करो, अन्यथा वासनादिरूप पासग ( पसगा-हीनता ) नहीं नष्ट होंगे। ऐसा नहीं करके जोर ( हठ ) करनेवाले जहड़ जहड़ाय कर नष्ट हुए ॥७॥

इति धारणोपदेश प्रकरण ॥३॥

## कहरा ८, रामविचार भक्ति प्र. ४.

रहहु सम्हारे राम विचारे, कहता हौं पुकारे हो ॥
मूंड़ मुंड़ाय फूलि क्या बैठे, मुद्रा पहिरि मजूषा हो ।
ता ऊपर कछु छार लपेटे, भीतर भीतर घर मूसा हो ॥

स्थीयतां सावधानेन रामो हृदि विचार्यताम् ।
आहूयोच्चै र्वदाम्येतद्विचारे मा प्रमाद्यताम् ॥१॥

मुण्डनं कारयित्वैव मुद्रां धृत्वा च सेलिकाम् ।
किं कुगर्वेण चोत्फुल्ल्य वर्तसे दम्भवर्द्धितः ॥२॥
अहो मुण्डितदेहस्य बहिर्भस्मप्रलेपनम् ।
क्रियते यच्च कामाद्यैश्चौरैरन्तः प्रलुण्ठनम् ॥३॥
क्रियते चेन्न तद्वेत्सि वृथेव सफलं भवेत् ।
तस्मात्त्वं सावधानेन चौराञ्ज्ञात्वा जहीहि तान् ॥४॥

सावधानी से सर्वात्मा राम के विचार में स्थिर रहो। मैं पुकार के कहता हूं। केवल माथ मुँड़ाकर क्या गर्व से फूल कर बैठे हो, तथा कान में मुद्रा, गले में मजुषा (सेली आदि) क्या पहिरे हो। और ता ऊपर (तिसके बाद) देह में कुछ छार (राख) लपेटते हो, परन्तु देह के भीतरे २ जो कामादि चोर घर (हृदय) को मूसते (चोराते) हैं तिसका होश नहीं करते हो सो उचित नहीं है, होश करो ॥

गाम बसतु हैं गर्व भारती, काम क्रोध हंकारी हो।
मोहन जहाँ तहाँ लै जै हैं, नहिं पति रही तुम्हारी हो ॥

भारत्याद्युपनामाद्यैर्ये युक्तास्तेऽपि वेषिणः ।
गर्विता ग्राम्यधर्मेषु ग्रामेषु च वसन्त्यहो ॥५॥
किं वा गर्वस्य नगरे तेषां वासो हि विद्यते ।
अहंकारवतां वासः कामे क्रोधे च सर्वदा ॥६॥
अहंकारयुतांस्तांश्च मोहस्य जनका हि ते ।
प्रापयिष्यन्ति यत्रैव तत्रैवानिश्चिते स्थले ॥७॥
यत्र वा मोहनो देवो यमराड् वर्तते स्वयम् ।
तत्र ते प्रापयिष्यन्ति महाघोरे भयावहे ॥८॥
भो जीव! न तदानीं ते मर्यादा प्रभुताऽथवा।
किञ्चिद्वर्तिष्यते तस्मादद्य साधु विधीयताम् ॥९॥

गर्वी भारती आदि नामधारी सन्यासी भी ग्रामों में बसते हैं। तथा काम क्रोध अहंकार युक्त दीखते हैं। उनके प्रति साहब का कहना है कि मोहन (मोहित करनेवाले) कामादि तुझे जहाँ तहाँ ले जायंगे (नरकादि में प्राप्त करायगे) तब तुम्हारी पति (इज्जत) नहीं रहेगी, या जहाँ मोहन (यमराज) रहते हैं तहाँ कामादि ले जायंगे इत्यादि ॥

मांझ मँझरिया बसै जो जानै, जन है हैं सो थीरा हो।
निर्भय भै तहँ गुरु की नगरिया, (सुख) सोवै दास कबीरा हो ॥८॥

कामादिकं परित्यज्य मध्येऽत्र मध्यसंयुताः।
वस्तुं ये हि विजानंति लभन्ते ते स्थितिं जनाः ॥१०॥
स्थितिं यत्र लभन्तेस्म निर्भयाः प्राक्तना जनाः।
गुरूणां नगरी तत्र तद्दासास्तत्र शेरते ॥११॥
अन्यदासा भयस्थाने संसारे मोहनिद्रया।
शेरते नैव पश्यंति भयं जन्मादिजं सदा ॥१२॥
शेरते योगनिद्राभिर्गुरुभक्ता निजात्मनि।
पश्यंति च विवेकेन सत्यासत्ये च सर्वशः ॥१३॥
यदा कर्मसु काम्येषु दुःखहत्यै सुखाय च।
क्रियमाणेषु संपश्येद्विपरीतफलं सुधीः ॥१४॥
तदा गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्।
ब्रह्मनिष्ठं महाप्राज्ञं संशान्तकरणव्रजम् ॥१५॥
सर्वस्मान्मनसोऽसङ्गं तथा सङ्गं सुसाधुषु।
मैत्र्यादिकं च भूतेषु सर्वमेतद्यथोचितम् ॥१६॥
विदध्याच्च गुरौ भक्तिमेषा मध्यदशा स्मृता।
अनयाऽत्र च संसारे सुखं मोक्षं हि विन्दते ॥१७॥८॥

जो इस माँझ (मध्य) लोक में मझरिया (मध्य दशा) से गर्वादि त्यागकर बसने जानता है, सो जन स्थिर होगा। क्योंकि उसी निरभिमान मध्य दशा में गुरु की नगरी है। वहां दास (भक्त) जीव सुख से योगनिद्रा का अनुभव करता है ॥८॥

## कहरा ९.

रामनाम का सेवा बीरा, दूरि नाहिं दुरि आशा हो।
आन देव का सेवहु बौरे, ई सब झूठी आशा हो॥
उपरक केश कहाँ भौ ऊजर, भीतर अजहुं कारो हो।
तनके वृद्ध कहाँ भौ बौरे, भीतर अजहु बारो हो॥

रामेति नाम किं भ्रातः सेव्यते केवलं त्वया।
दूरस्थस्य न चेदाशा नश्यत्यनुभवं विना ॥१८॥
सेवया रामनाम्नो वा दूराशा न यया गता।
न सा सेवेति विज्ञेया मिथ्या सा वाचिकी कथा ॥१९॥
सर्वदेवमयाद्रामाद्देवान् किं सेव्यसेऽन्यकान्।
मूढ तत्त्वं विजानीहि मिथ्याशैषा निगद्यते ॥२०॥
रामादन्यस्य सर्वाशा मिथ्या सविषया यदि।
हृदयान्न गता बाह्यपलितत्वेन किं भवेत् ॥२१॥
वर्तते यावदाशैषा हृदि तावद्धि कृष्णता।
तमसो विद्यमानत्वाद्रागद्वेषादिसत्त्वतः ॥२२॥
आशासत्त्वे च वार्द्धक्यान्मूढवुद्धेर्भवेत् किमु।
आशादिजनकं ह्यन्तस्तरुणं वर्तते मनः ॥२३॥

हे बीरा (हे भाई)! यदि दूर देशादि की आशा दूर (नष्ट) नहीं हुई, तो रामनाम की सेवा से क्या हुआ। और राम से आन (अन्य)

देव को हे बौरे! क्या सेवते हौ, ई सब ( अन्य देव की सेवादि की ) आशा झूठी है॥ और आशा कामादि नहीं निवृत्त हुए तो ऊपर के केश के ऊजला होने से क्या हुआ, भीतर कालापन अवही वर्तमान है। और शरीर के वृद्ध होने पर भी भीतर मन जुवा है॥

मुख के दांत कहाँ गौ बौरे, भीतर दांत लोहे के हो।
फिरि फिरि चना विषय के चबै हो, काम क्रोध मद लोभक हो॥
तन की सकल संज्ञा घटि गयऊ, मनहिं दिलासा दूनी हो।
कहहिं कबिर एक राम भजे बिन, सकल सयानप ऊनी हो॥९॥

मुखस्थाश्चेद्गता दन्ता मूढस्य तेन किं गतम्।
अन्तस्तस्याद्य वर्तन्ते दन्ता लौहमया इव॥२४॥
कामः क्रोधो मदो लोभो मोहश्च मत्सरादयः।
अन्तरस्था इमे दन्ता यैर्गोचरमयान् सदा॥
चर्विष्यसि हि चणकान् देहे देहे पुनः पुनः॥२५॥
देहेन्द्रियादिशक्तिस्तेऽभवन्न्यूना हि वार्द्धके।
आशातृष्णादयः स्वान्ते दृश्यन्ते द्विगुणास्ततः॥२६॥
दयालुर्गुरुराहातो रामस्यैकस्य सर्वदा।
भजनेन विना सर्वं चातुर्यमूनमेव हि॥२७-९॥

आशादि के रहते मुख के दात यदि गये तो कहाँ गया ( क्या गया, या क्या भया ) भीतर ( हृदय ) में तीक्ष्ण मजबूत लोहे के दांत कामाशादि वर्तमान हैं। उनसे फिर२ बार२ जन्म ले२ कर विषय के चणा चबावोगे ( भोगोगे )॥ तन (देह) की सकल संज्ञा ( शक्ति-ज्ञान-होश ) घट गई। परन्तु मनहिं ( मन में ) दिलासा

( इच्छा ) दूनी ( दुगुणा ) हो गई। इससे सब आशा कामादि को त्यागकर एक सर्वात्मा राम को भजे विना सब सयानप ( चतुराई ) ऊनी तुच्छ है ॥९॥

## कहरा १०.

हाँ सवन में हौंना हौं मोहि, विलग विलग बिलगाई हो ।
ओढन मोरा एक पिछौरा, लोग बोलु एकताई हो ॥

यस्य रामस्य भजनाद्भवबन्धो निवर्तते ।
आत्मैव स च रामो मे वर्तेऽहं सर्वतस्ततः ॥२८॥
असङ्गत्वान्न वा क्वापि पुरुषो वास्मि चेतनः ।
एकानन्दघनश्चैव माया बुद्धिर्विभेदिका ॥२९॥
बहुभेदेन युक्तं मां ह्यसती सा चकार ह ।
सैवावरणशक्त्या स्यादुत्तरीयसमा मम ॥३०॥
स्वरूपे साऽप्रयिष्ठा मे कल्पिता चैकदेशतः ।
अतो मे सर्वथैवैक्यं वदन्ति ज्ञानिनो जनाः ॥३१॥
विदिताऽविदिताभ्यां यो ह्यन्यः सन् स्वप्रभत्वतः ।
विदितः प्रतिबोधं च तं स्मरंति सदा बुधाः ॥३२॥

हौं ( आत्मा रामरूप मैं ) सबनमें हौं ( सब में अखण्ड साक्षी स्वरूप से वर्तमान हूं ) ना हौं ( असंग निराधार होने से किसीमें नहीं हूं ) या ना ( पुरुष-चेतन ) स्वरूप हूं, तौ भी मोहि ( मुझको ) माया बुद्धि आदि उपाधियों ने विलग २ ( पृथक् २ ) बिलगाया ( भिन्न किया ) है ॥ आवरणशक्तिवाली एक माया ही मेरा पिछौरा ( मेरा गमछा चादर ) रूप ओढ़ना है, इससे विवेकी लोग मेरे विषे वस्तुतः एकताई ( एकरूपता ही बोलते ( कहते ) हैं ॥

एक निरन्तर अन्तर नाहीं, ज्यों घट जल शशि झांई हो।
एक समान कोइ समुझत नाहीं, जरा मरण भ्रम जाई हो॥

साजात्याद्यैर्नचैकत्वं किन्तु तत्सर्वथैव मे।
अतो निरन्तरश्चैको ह्यखण्डः सर्वदास्म्यहम् ॥३३॥
सर्वेषां हि विभेदानामभावेन विभौ मयि।
अन्तरं वर्तते नैव व्यवधानादिलक्षणम् ॥३४॥
विभेदानामभावेऽपि यो भेदो भासते चिति।
स घटस्थजलस्थासु प्रतिमासु यथा विधोः ॥३५॥
एकं समरसं कोऽपि वेत्ति नैवाविवेकवान्।
जरामरणमापद्य भ्रमो येन विनश्यति ॥३६॥
ब्रह्मविद् भवति ब्रह्म शोकं तरति चात्मवित्।
नान्यः पन्था विमुक्तेश्च सर्वे वेदा वदन्ति तत् ॥३७॥

मैं एक और निरन्तर (व्यवधान रहित–अखण्ड) हूं। सजातीयादि भेद के अभाव होने से मुझमें किसीका अन्तर (भेद–पड़दा) नहीं है। जो भेद प्रतीत होता है, सो घट के जलों में चन्द्रसूर्यादि के प्रतिबिम्ब के समान, बुद्धिगत मेरे प्रतिबिम्बों में है॥ इस एक और समान (एकरस) आत्मा को कोई नहीं समझता है कि जिससे आत्मा में जरामरणादि के भ्रम नष्ट हो जायँ, और नित्यमुक्ति का लाभ होय॥

रैनि दिवस में तहवॉ नाहीं, नारि पुरुप समताई हो।
नहिं मैं बालक बूढ़ो नाहीं, नहिं मेरे चिलकाई हो॥
त्रिविधि रहौं सबहीं महँ बरतौं, नाम मोर रमुराई हो।
पठय न जाउँ बोलय नहिं आऊँ, सहज रहौं दुनियाई हो॥

रात्रिंदिवविभेदो न यत्राहं तत्र विद्यते ।
स्त्रीपुंसादिषु सर्वत्र वर्तते समता मम ॥३८॥
बालो नाहं न जीनश्च मे डिम्भत्वं न विद्यते ।
त्रिविधेऽपि वसंश्चाहं वर्ते सर्वत्र सर्वदा ॥३९॥
अत्र मेस्ति हि नामैतद्रामेति विश्वराडिति ।
रमन्ते योगिनः सर्वे सत्ये मय्येव चिद्घने ॥४०॥
नाहं विसर्जनाद्यामि प्रेरणात्कस्यचित्कचित् ।
आहूतो नैव कुत्रापि ह्यागच्छामि स्वभावतः ॥४१॥
जीवरूपेण सर्वत्र वर्ते संसारमण्डले ।
स्वरूपेण तथाऽसङ्गस्तिष्ठामि नात्र संशयः ॥४२॥

मैं तहवाँ ( मेरे स्वरूप में ) रातदिन का भेद नहीं है । और नारीपुरुष में भी मेरा स्वरूप समान ( तुल्य ) है ॥ चिलकाई (बचापन ) मुझमें नहीं है, तौभी त्रिविध ( वृद्ध, बालक, चिलका ) रूप से उपाधियों द्वारा रहते भी स्वरूप से सबमें वर्तमान हूं । इससे मेराही रमुराई ( रामराजा ) नाम है । पठये ( भेजने ) से मैं कहीं नहीं जाता हूं, न बोलय ( बोलाने–पुकारने ) से आता हू । किन्तु सहज (स्वभाव) से ही दुनियाई ( ससार के व्यवहार ) में रहता हूं इत्यादि ॥

जोलहा तान बान नहिं जानै, फाट बिनै दश ठांई हो ।
गुरुप्रसाद जिन्हें जस भाख्यो, जन विरले सिधि पाई हो ॥

जीवरूपः कुविन्दोऽयं संसारपटसंहतौ ।
सर्वातानवितानेषु सत्यं यावन्न पश्यति ॥४३॥
तावद्दशप्रदेशेषु दशद्वारैर्युतं पटम् ।
सच्छिद्रं खण्डितं शश्वद्वयत्येव विमोहतः ॥४४॥

जरामरणजं दुःखं पौनःपुन्येन सर्वदा ।
तेन भुंक्ते भ्रमन् विश्वे लभते न स्थितिं क्वचित् ॥४५॥
येभ्य उक्तं यथा तत्त्वं सच्चिदानन्दलक्षणम् ।
तेषु केचित्तथा तत्त्वं लभंते कृपया गुरोः ॥४६॥
सत्त्वादिभिर्गुणैरात्मा देवतिर्यङ्नरादिभिः ।
स्वरूपैर्भासमानोऽपि स्वयमेकोऽव्ययस्त्वजः ॥४७॥
मनसा योऽमतो नित्यं मनो येन मतं भवेत् ।
मनसो यो मनो देवोऽबुधस्तं हि कथं स्मरेत् ॥४८॥

जीवरूप जोलहा संसार पट के तानबान ( आतानवितान—तानी-भरनी ) में वर्तमान तत्त्व को नहीं जानता है। इससे दश ठांई ( दश ठिकाने ) फाटा हुआ ( दश द्वारयुक्त ) देहपट को बार२ बिनता है ॥ और जिन जीवों को जैसा तत्त्व कहा है, वैसे तत्त्व को विरले जन सद्गुरु के प्रसाद ( प्रसन्नता ) से पाते हैं ॥

अनन्त कोटि मणि हीरा वेध्यो, फिटिक मोल नहिं पाई हो ।
सुर नर मुनि जा खोज परे हैं, कछु कछु कविरन पाई हो ॥१०॥

विरला लब्धवन्तो ये तत्तत्त्वं कृपया गुरोः ।
तद्दृष्ट्वानन्तकोट्यन्तैर्मणिभिर्हीरकादिभिः ॥४९॥
विद्धं मालादिकं सर्वं तुच्छमूल्यविवर्जितम् ।
देवा मुनिमनुष्याश्च मार्गयन्ते हि तत् सदा ॥५०॥
केपि केपि जनाः किञ्चित्तत्त्वं प्राप्नुवन् क्वचित् ।
कृपया च गुरोः सम्यक् लब्धवन्तो हि सज्जनाः ॥५१॥
देहप्राणादयो येन सत्प्रकाशस्वरूपिणा ।
जीवन्ति प्रचरन्तोऽत्र तं जानंति हि सज्जनाः ॥५२॥

वाचाऽनभ्युदितो वाचो वागात्मा योऽभिधीयते ।
प्राणः प्राणस्य यः स्वच्छस्तं स्वं जानाति शुद्धधीः ॥५३॥
चक्षुरादिभिरग्राह्यस्तदात्मा यः स्वयंप्रभ ।
विजानाति हि तं ब्रह्म नान्यं यं वा ह्युपासते ॥५४॥

इति हनुमदीये रहस्यकल्पे रामभक्तिविचारादिवर्णन नाम चतुर्थी शिक्षा ॥४॥

जो लोग उक्त तत्त्व को पाते हैं, उनकी दृष्टि से अनन्त कोटि मणि हीरा आदि से वेधा ( व्याप्त ) माला आदि फिटिक ( तुच्छ फिटकिरी ) के मूल्य नहीं पाते हैं । परन्तु उसका पाना दुर्लभ है, इसीसे सुरनरादि सभी जिसके खोज में परे (लगे) हैं उसको कछु २ (कोई२) कबिरन ( जीवों ) ने पाया है ॥१०॥

इति रामविचार भक्ति प्रकरण ॥४॥

## कहरा ११, माया से जन्मादि प्र. ५.

क्षेम कुशल औ सही सलामत, कहहु कवन कहं दीन्हा हो ।
आवत जात दुनों विधि लूटै, सामर गहिरे लीन्हा हो ॥

मायादिविषयान् ये हि क्षेमादिजनकान् विदुः ।
सद्गुरुस्तान् प्रति प्राह भवद्भिः कथ्यतामिदम् ॥१॥
क्षेमं च कुशलं कस्मै सत्यस्वास्थ्यं सुखादिकम् ।
विषया दत्तवन्तो वै वराकाः क्षणभंगुराः ॥२॥
तुण्टाकाः प्रत्युतैते चाऽऽगतौ गमने तथा ।
जन्मना मरणेनैव लुण्ठंति प्राणिनः सदा ॥३॥

शम्बलं सद्विवेकादि गम्भीरं सुखसाधनम् ।
आच्छिद्य विषयैस्तद्धि निगृहीतं कृतं क्वचित् ॥४॥
गुणैर्गुणान् भजन्नज्ञः स्वात्मप्रद्योतिते स्वके ।
शरीरे ह्यात्मता भ्रान्त्या सज्जते च विमुह्यति ॥५॥
कर्मणा लभते देहं देहात्कर्म करोति च ।
एवं वभ्रम्यमाणेन विश्रमः कुत्र लभ्यते ॥६॥

उक्त आत्मज्ञानके विना मायिक विषयादि कवन कहँ (किसको) क्षेमकुशल (नित्यकल्याण) तथा सही सलामत (सच्चा स्वास्थ्य सत्य पूर्ण आरोग्य) दिया। उलटा संसार में आतेजाते ( जन्मते-मरते ) समय जन्ममरणरूप दोनों प्रकार से, विषयवासना आदि सब क्षेमकुशलादि को लूटते हैं, और विवेकादिरूप गम्भीर सागर ( शम्बल ) को भी लेते ( नष्ट करते ) हैं ॥

सुर नर मुनि जति पीर औलिया, मीरा पैदा कीन्हा हो ।
कहँ ले गणौं अनन्त कोटि लै, सकल पयाना दीन्हा हो ॥
पानी, पवन आकाश जाहिंगे, चन्द जाहिंगे सूरा हो ।
येभि जाहिंगे वोभि, जाहिंगे, परत न काहुक पूरा हो ॥

सुराधरान् मुनींश्चैव यतीन् यवनदेशिकान् ।
यवनानां तथा साधून् राजानं स्वामिनं प्रभुम् ॥७॥
विषया जनयन्तिस्म ह्यनन्तकोटिसंख्यकान् ।
कियद्वच्मि तु संख्याय विषयैर्जनिता हि ये ॥८॥
मृत्योर्मुखेऽपि ते सर्वे तैश्च दत्ता मुहुर्मुहुः ।
तैर्हि प्रस्थापिताः केचिज्जले यास्यंति केचन ॥९॥

पवने केचिदाकाशे चन्द्रे सूर्ये क्षितौ द्यवि ।
जलाद्याश्च गमिष्यन्ति विषयैः प्रेरितास्तथा ॥१०॥
मर्त्याद्याः स्वर्गिणश्चैव पूर्णता तैर्न कस्यचित् ।
विषयैर्जायते कापि तृप्तिः शांतिर्न विद्यते ॥११॥

देव मनुष्य मुनि ( मननशील ) जति ( यति–सन्यासी ) पीर ( मुसलमान के गुरु ) औलिया ( विरक्त फकीर ) मीरा ( स्वामी ) इन सबको विषयवासनादिकों ने ही पैदा किया ( जन्म दिया ) है। गिनकर कहाँतक कहा जाय, अनन्त कोटि लै ( तक ) प्राणियों को विषयों ने पैदा किया है। और वे सब प्राणी पयाना ( यात्रा ) किये। और विषय ही पयाना दिये॥ और पयान करके प्राणी सब फिर पानी पवनादि में प्राप्त हुए, जल जन्तु आदि हुए। पानी या पवनादि भी जायगे, तथा ये भी ( इस लोक के वासी भी ) वो भी ( परलोक वासी भी ) सब जायगे। परन्तु विषयवासनादि रहते किसीको पूर्णता की प्राप्ति तृप्ति नहीं होती है॥

कुशले कहत कहत जग विनशल, कुशल काल की फांसी हो ।
कहहिं कबिर सारि दुनिया विनशल, रहल राम अविनाशी हो॥११॥

अतृप्ता व्यनशन् सर्वे वदन्तः कुशलं हि तेः ।
तज्जन्यं कुशलं यातः कालपाशो भयावनौ ॥१२॥
तेन बद्धा इमे सर्वेऽनश्यन् संसारिणो मुहुः ।
अविनाशी सदैवास्ते रामस्तद् भाषते गुरुः ॥१३॥
जाग्रदादिष्ववस्थासु भूतभौतिकवस्तुषु ।
कूटस्थः साक्षिरूपोऽसौ स्वयंसिद्धः सनातनः ॥१४॥

आत्माऽसौ केवलः स्वच्छः सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरः शिवः ।
सर्वान्तरः सदानन्दचिन्मात्रस्तमसः परः ॥१५॥
सोऽन्तर्यामी स पुरुषः स प्राणः स महेश्वरः ।
स कालो दिक् तदव्यक्तं वेदवेद्यः प्रतापवान् ॥१६॥
जनिरहितो मृतिविगतस्तत इह तापविरहितः ।
विकृतिविदो नहि विकृतिः कृतिकलिकामविरहितः ॥१७-११॥

मायिक विषयों से कुशल ( कल्याण ) कहतेर संसारी सब नष्ट हुए। क्योंकि विषयजन्य कुशल ही काल की फासी है। साहब का कहना है कि काल पाकर सबके नष्ट होने पर भी अविनाशी राम ही रहा और रहता है, इससे सो राम ही कल्याण स्वरूप है ॥११॥

## कहरा १२.

यह माया रघुनाथ के बौरी, खेलन चली अहेरा हो ।
चतुर चिकनियहिं चुनिचुनि मारे, काहु न राख्यो न्यारा हो ॥
मौनी वीर दिगम्बर मारे, ध्यान धरन्ते योगी हो ।
जंगल में के जङ्गम मारे, माया किनहुं न भोगी हो ॥

जगदीशस्य रामस्य चराचरप्रभोर्विभोः ।
विषयाद्यात्ममायेयमविवेकस्वरूपिणी ॥१८॥
मत्तावद्वर्तते सा चाऽऽगच्छदाखेटकाय वै ।
ज्ञाननिर्वेदहीनांश्च कुशलान् राजसांस्तथा ॥१९॥
देहादेर्मण्डने सक्तान् निहन्त्येव विचित्य सा ।
स्वपाशाच्च पृथक् कश्चित्स्थातुं साऽत्रानुमन्यते ॥२०॥
वाङ्मौनव्रतिनः शूरान् सर्वानेव दिगम्बरान् ।
सा प्रमापयते माया ध्यानस्थान् योगिनस्तथा ॥२१॥

जङ्गमान् विपिनस्थांश्च मायाभोगस्य कामुकान् ।
सर्वान् मारयते माया तां केऽपि भुञ्जते नहि ॥२२॥

यह ( प्रत्यक्ष ) विषयादि, रघुनाथ (जीवों के स्वामी–सर्वात्मा राम) की माया ( अनिर्वचनीया अद्भुत शक्ति ) रूप है। और सो बौरी ( मत्ता ) माया अहेर ( शिकार ) खेलने चली है। सो लौकिक चतुर और चिकनिया ( राजसी ) लोगों को चुन२ कर मारती है। किसीको अपने मोहजाल से न्यारा नहीं रहने दिया है॥ माया के भोग की इच्छावाले मौनी आदि सभी को उसने मारा, और उनमें से किसीने माया को भोगने भी नहीं पाया॥

वेद पढन्ते पाँडे मारे, पूजा करते स्वामी हो ।
अर्थ विचारत पण्डित मारे, बांध्यो सकल लगामी हो ॥
शृङ्गी ऋषि बन भीतर मारे, ब्रह्मा के शिर फोरी हो ॥
नाथ मच्छदर चले पीठि दे, सिंहल हूं मे बोरी हो ।

वैदिकान् पठतो वेदान् स्वामिनः पूजने रतान् ।
पण्डितान् बहुशास्त्रार्थविचिन्तनरतानपि ॥२३॥
भोग्या प्रमापयत्सैव सर्वांश्च भोगलालसान् ।
मनसा प्रग्रहेणैव त्वबध्नात्सर्वकामुकान् ॥२४॥
कानने चर्य्यशृङ्गं सा ह्यमारयद्विचक्षणा ।
ब्रह्मणश्च शिरः सैवाऽस्फोटयन्मोहलीलया ॥२५॥
मत्स्येन्द्रो हि महायोगी तस्याः प्रावृत्य यत्नतः ।
कृत्वा तां पृष्ठतो द्वीपे सिंहले चागमत्तथा ॥२६॥
चञ्चला तत्र गत्वा सा तं नाथं मोहसागरे ।
न्यमज्जयत्तु गोरक्षः शिष्यवर्यो ह्यरक्षयत् ॥२७॥

वेद पढन्ते (पढ़ते में) पाडे (वेदपाठी पण्डित) को, धनादि की रक्षा के वास्ते पूजा करते हुए धनादि के स्वामी (धनी) को, शास्त्रार्थ वा लौकिकार्थ को विचारते हुए पण्डित (विद्वान्) को वह माया मारती है, और मनरूप लगाम से सबको बांध रखी है ॥ उसने शृङ्गी ऋषि को वन के भीतर जाकर मारा, ब्रह्मा के शिर फोडा (कटवाया), मच्छंदरनाथ (गोरखनाथ के गुरु) माया से पीठि देकर चले (भगे) तो सिंहलद्वीप में जाकर उन्हें भी बोरा (मोहनदी में डुबोया) ॥

सांकठ[१] के घर कर्ता धर्ता, हरि भक्तन की चेरी हो।
कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो, ज्यों आवै त्यों फेरी हो ॥१२॥

१ इति निखिलमोहनिवारक तृतीयं कहराप्रकरणं समाप्तम् ॥

गुरुदीक्षाविहीनानां शाक्तादीनां गृहे हि सा।
स्वतन्त्रा सर्वकर्त्री च स्वामिनीव विराजते ॥२८॥

हरिभक्तगृहे सा च दासी भूत्वा विशल्यलम्।
उभयान् वञ्चयत्येव भोग्यभूताऽतितामसी ॥२९॥

किम्वाऽभक्तगृहे याऽत्र स्वतन्त्रा राजते सदा।
सैव भक्तगृहे नित्यं सुदासीव विकम्पते ॥३०॥

सद्गुरुश्चाह भोः साधो श्रवणं सुविधीयताम्।
विमोक्षाय ततो मार्ग एक एव सुखंगमः ॥३१॥

भोग्यभूता यदाऽऽगच्छेत्तदैव तां परित्यज।
परिवर्तय तूर्णं तां दृष्टिस्तत्र न दीयताम् ॥३२॥

" मादयति प्रमदां दृष्ट्वा सुरां पीत्वा च माद्यति।
तस्माद् दृष्टविषां नारीं दूरतः परिवर्जयेत्" ॥३३॥

" सङ्गः सर्वात्मना त्याज्यः स चेत्यक्तुं न शक्यते ।
स सद्भिः सह कर्तव्यः सतां सङ्गो हि भेषजम्" ॥३४॥
" शान्तानां गतकामानां स्वात्मनस्त्वावलोकिनाम् ।
साधूनां समचित्तानां सङ्गोपि शेवधि र्नृणाम्" ॥३५॥
क्षणार्द्धं हि सतां सङ्ग आदरेण सदा कृतः ।
शातयत्येव पापानि तारयेच्च भवार्णवात् ॥३६॥
कायमनोवाक्यैः परिशुद्धैर्यस्य सदा सत्संसदि भक्तिः ।
राज्यपदैर्हर्म्यावलिविचित्रैर्नित्यचलैर्वित्तैरलमस्य ॥३७॥
कहराकल्पमाकर्ण्य कलहं च कलेवरम् ।
कान्ताकनककामित्वं कुकीर्तिं कर्मकच्चरम् ॥३८॥
कदर्थं च कदध्वानं कदाचारांश्च कामुकान् ।
कृत्वा दूरे सदा ध्येयो रामनामा निरञ्जनः ॥३९॥
क्लेशान् कर्माशयान् कृन्त्वा कृत्वा कल्याणमुत्तमम् ।
ध्येयो रामः सदा ज्ञेयो ज्ञानान्मोक्षफलप्रदः ॥४०॥
मायां मोहं ममत्वं च मत्सरं काममण्डनम् ।
खण्डित्वा योगतो ज्ञेया रामनामसुगीतिका ॥४१॥
दम्भं दर्पं कुदाक्ष्यं च व्युदस्य दयया युतम् ।
दण्डान् धृत्वा हृदा पेयं रामनाम परामृतम् ॥४२॥
दमयित्वा मनो दत्वा जन्तुभ्योऽभयदक्षिणाम् ।
दयया चार्द्रचित्तः सन् पेयो रामरसायनः ॥४३॥
मत्वा नैवातिदूरे च हृत्वा नैव धनादिकम् ।
स्वमनोमन्दिरे गत्वा नमस्कार्यो निरञ्जनः ॥४४॥
+ कलं कलकलं धूत्वा प्रकल्यं कल्पसंयुतम् ।
कहराया मनोऽप्यापि रागाद्यस्यात्र संस्फुरेत् ॥४५॥

---

+ कलो गम्भीरः । कलकलः कोलाहलः ।

जगतां, वल्लभे नैव मनश्चेत्प्रीतिमाहरेत्।
किन्नरः पल्लवासक्तमनाः कश्चित्स वानरः ॥४६॥
यः क्लेशांश्च विलोक्य सर्वभुवने वैराग्ययुक्तो नरः,
मायामोहमदादिहीनमनसा रामं सदा सेवते।
पक्षापक्षविभेदहीनधिषणः कैवल्यमार्गे रतः,
ज्ञेयोऽसौ परमेश्वरो भुविगतस्तस्मै नमः, सर्वदा ॥४७॥१२॥

इति हनुमदीये कहराकल्पे मायाजन्यजन्मादिसंसारवर्णनं नाम पञ्चमी दिक्षा ॥५॥

समाप्तश्चाय कहराकल्पः ॥

साकठ (हरिगुरुभक्तिहीन) के घर में तो माया ही कर्ताधर्ता आदि सब रूप होकर विराजती है। और हरिभक्तों के घर में चेरी (दासी) बनकर रहती है। साहब का कहना है कि यदि इस माया के फन्दे से बचना चाहो तो यह माया (विषय स्त्री आदि) ज्यों ही आवे त्यों ही फेर दिया करो; इनका संग रागद्वादि नहीं करो इत्यादि ॥१२॥

इति माया से जन्मादि प्रकरण ॥५॥

संग त्यागि गुरुरामके, चरण शरण ढिग जाय।
हनूमान जो नर सोइ, तारण तरण कहाय ॥१॥

इति तृतीय कहरा प्रकरण संपूर्ण।

श्रीसद्गुरुचरणकमलेभ्यो नमः ।

—: सद्गुरु :—

# कबीर साहेब कृत बीजक ।

[ स्वानुभूतिसंस्कृतव्याख्यासहित ]

## अथ चतुर्थ विप्रमतीसी प्रकरण ।

ब्रह्मज्ञानपरः सुकर्मनिरतो विद्यावदातो हि यः,
कामक्रोधमदादिदुर्गुणगणैः स्पृष्टो न चान्तस्तथा ।
द्वन्द्वातीतविमत्सरोऽतिनिपुणो धर्मादिसंदेशने,
सद्विप्रो जपयोगदाननिरतोऽलुब्धोऽस्तु तस्मै नमः ॥१॥

ब्रह्मनिष्ठः परं ब्रह्म स्वयं वेधा विवेकवान् ।
तत्संगत्या च तद्भत्या परं ब्रह्माधिगम्यते ॥२॥

ये हिंसकाः पापपरायणा नरा दयादिहीना मदमानसंयुताः ।
क्रूराः प्रकृत्या त्वतिलोभसंयुतास्ते राक्षसा ज्ञानविचारवर्जिताः ॥३॥

प्रकृत्या राक्षसा ये हि तेषां सङ्गादिभिर्जनाः ।
अधो यान्ति च पीड्यन्ते निरयादौ निरन्तरम् ॥४॥

प्रकृत्या राक्षसा ये च ये च देवास्तयोर्भिदाम् ।
बोधयन् सद्गुरुः किञ्चित्प्रोक्तवांस्तन्निशाम्यताम् ॥५॥

## विप्रमतीसी १.

सुनहु सबन मिलि विप्रमतीसी । हरि बिनु बूड़ी नाव भरीसी ॥
ब्राह्मण ह्वै के ब्रह्म न जानै । घरमहँ जगत् प्रतिग्रह आनै ॥

मायया हृतबोधानां विप्राणां यादृशी मतिः ।
वर्तते तां मिलित्वाऽत्र सर्वे शृण्वन्तु सज्जनाः ॥१॥
यया मत्या हि विप्राणां पूर्णा नौरिव जीवनम् ।
जातिर्यशश्च विद्यादि संसाराब्धौ निमज्जति ॥२॥
जन्मना नाममात्रेण भूत्वा ते ×ब्राह्मणा अपि ।
वेदतत्त्वं न जानन्ति महद्ब्रह्माऽद्वयं सुखम् ॥३॥
ब्रह्मविद्भिर्य आदेयो लोके तं हि प्रतिग्रहम् ।
आनयन्ति गृहे मूढास्तेन नश्यन्ति दुर्बुधाः ॥४॥
सर्वस्माज्जगतः किञ्च प्रतिगृह्णन्ति लोभतः ।
ग्राह्याग्राह्यं न पश्यन्ति लोभेन हतबुद्धयः ॥५॥

सब मिलकर विप्रमतीसी (कलि के बहु विप्रों की मति) को सुनो। हरि बिनु (सर्वात्मा हरि के ज्ञान भक्ति आदि विना) भरीसी (भरी हुई के तुल्य) नाव (नावतुल्य मानवजीवनादि) डूब गई। और ब्राह्मण होय के (कहायके) भी ब्रह्म (वेदात्मा) को नहीं जानते हैं, तौ भी ब्रह्मविद् से लेने योग्य जो प्रतिग्रह, उसे मूढ भी अपने घर में आनते लाते हैं ॥

---

× योगस्तपो दमो दानं सत्यं शौचं दया श्रुतम् ।
विद्याविज्ञानमास्तिक्यमेतद्ब्राह्मणलक्षणम् ॥
यो वदेदिह सत्यानि गुरुं संतोषयेत च ।
हिंसितश्च न हिंसेत तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥
वसिष्ठस्मृ. अ. ६।२०। म. भारतेऽपि च ॥

जे सिरजा तेहि नहिं पहिचाने । कर्म भरम लै बैठि बखानै ॥
ग्रहण अमावस सायर दूजा । स्वस्तिक पात प्रयोजन पूजा ॥
प्रेत कनक मुख अन्तर वासा । आहुति सत्य होम की आशा ॥

येन सृष्टमिदं सर्वमीशेन ब्रह्मणा स्वयम् ।
तं विविक्तं न पश्यंति ह्यन्यं जल्पन्ति ते स्थिताः ॥६॥
काम्यानि बहुकर्माणि भ्रान्तिसिद्धानि सर्वदा ।
भाषन्ते कल्पितान्येव पदार्थोपासनानि च ॥७॥
ग्रहणं ग्रहणे काले दानादीन् दर्शसंविधाम् ।
समुद्रदर्शनस्पर्शं द्वितीयादींस्तिथींस्तथा ॥८॥
स्वस्तिकं पात्रदानं च प्रयोजनविधिं बहुम् ।
देवपूजाविधानं च भाषन्ते ह्याशया मुहुः ॥९॥
मुखे वसति वै प्रेतो हृदये कनकं सदा ।
मुखे च हृदये चैव प्रेतस्य कनकं खलु ॥१०॥
प्रेतानां वदने यद्धि कनकं दीयतेऽल्पकम् ।
तच्चापि हृदये येषां वर्तते किं वदामि तान् ॥११॥
देवाऽऽह्वानाग्निहोत्रादेर्लौकिकाऽलौकिकस्य च ।
संकल्पस्य च ते ह्याशां कुर्वते भोगसिद्धये ॥१२॥

जिस सत्य कर्ता से जगत हुआ उसको नहीं पहचानते हैं, और भ्रान्तिसिद्ध कर्मादि को लेकर बैठकर व्याख्यान करते हैं । ग्रहण अमावास्यादि तिथि उनके दानफलादि का, सायर (समुद्र) के दर्शनस्पर्शनादि का, दूजा (द्वितीयादि तिथि या दूसरी बातों का), स्वस्तिक (मंगलद्रव्य) का, पात (पात्र) या स्वस्ति (आशीर्वादादि के वास्ते संकल्पित पात्र) का लौकिक प्रयोजन (कार्य) का, तथा पूजा का व्याख्यान करते हैं । और प्रेत तथा कनक या प्रेत सम्बन्धी कनक भी इनके मुख और हृदय

बखता है । और आहुति ( देवाऽऽह्वानस्तुति या हवनादि ) तथा सत्य (संकल्पादि) की आशा करते हैं ॥

उत्तम कुल कलि माहँ कहावै । फिरिफिरि मध्यम कर्म करावै ॥
सुत दारा मिलि जूठो खाहीं । हरि भक्ता के छूति कराहीं ॥
कर्म अशौच उचिष्टा खाहीं । मति भ्रष्ट यमलोकहिं जाहीं ॥
न्हाय खोरि उत्तम ह्वै आवै । विष्णु भक्त देखे दुख पावै ॥

कलौ ह्युत्तमगोत्रास्ते कथ्यन्ते च कुलीनकाः ।
कारयन्ति च कर्माणि बहुशो मध्यमानि वै ॥१३॥
हिंसादीन्यधमान्येव कर्माणि कारयन्ति ये ।
का च तेषां कथा वाच्या वर्तते लोमहर्षणा ॥१४॥
पुत्रैर्दारैर्मिलित्वा ये तूच्छिष्टं भक्षयन्ति वै ।
हरिभक्तेषु ते मोहादशुचित्वं हि मन्वते ॥१५॥
तैश्च स्पर्शादिना ह्यज्ञाः प्रायश्चित्तं च कुर्वते ।
अशौचं कुर्वते लोके वह्वीश्चात्र विडम्बनाः ॥१६॥
अशौचे कर्मणि प्रेतस्योच्छिष्टं ये तु भुञ्जते ।
मतिभ्रष्टा हि ते यांति यमलोके भयावहे ॥१७॥
स्नात्वा विशेषकं कृत्वा ह्यागच्छन्ति सभादिषु ।
विष्णुभक्तं हि दृष्ट्वाऽत्र दुःखिनस्ते भवन्ति च ॥१९॥

कलिमाँह ( कलियुग में ) उत्तम कुल कहाते हैं, परन्तु फिरि २ ( बार२ ) मध्यम ( हीन ) कर्म कराते हैं । सुतदारा ( पुत्र स्त्री ) के साथ मिलकर जूठा खाते हैं, परन्तु पवित्र हरिभक्त के सम्बन्धादि से छूति ( अशौच प्रायश्चित्त ) कराते हैं ॥ अशौच कर्म ( श्राद्ध ) में प्रेत के उच्छिष्ट खाते हैं, इससे मतिभ्रष्ट होकर यमलोक में जाते हैं, न्हाय-

( स्नानकर ) के, सोरि ( तिलककर ) के, उत्तम हे ( श्रेष्ठता के अभिमानी होकर ) आते हैं, परन्तु श्रेष्ठ विष्णुभक्त को देखकर दुःख पाते हैं ॥

स्वार्थ लागि जे रहै बेकाजा। नाम लेत पावक ज्यों डाजा ॥
रामकृष्ण की छोड़िन आशा। पढ़ि गुणि भये कृतम के दासा ॥
कर्म पढ़े कर्महिं कहँ धावै। जे पूछे तेहि कर्म दिढ़ावै ॥

तुच्छस्वार्थस्य सिद्ध्यर्थं प्रवर्तन्ते विकर्मसु ।
हिंसादिषु निषेधाय तन्नाम्नैव ज्वलंति च ॥१९॥
अग्निवद्दग्धुमिच्छंति क्रुधैव प्रज्वलंति चेत् ।
शृण्वंति न हितं वाक्यमभिमानहता नराः ॥२०॥
सर्वात्मनो हि रामस्य कृष्णस्य, ब्रह्मरूपिणः ।
आशा ह्येतैः परित्यक्ता पठित्वापि विचार्य च ॥२१॥
कार्यस्य क्वापि मूर्त्यादेः काम्यकर्मादिकस्य च ।
दासा एतेऽभवन्मोहाद् बन्धाऽनर्थप्रदस्य वै ॥२२॥
कामं पठंति कर्माणि ध्यायंति तत्फलानि च ।
धावंते फललब्ध्यर्थं भाषंते तानि पृच्छते ॥२३॥
दृढं कुर्वन्ति लोके च कर्तव्यत्वं हि कर्मणाम् ।
नैव जातु विवेकादेः सद्भक्त्यादेः कदाचन ॥२४॥

स्वार्थ लागि ( तुच्छ स्वार्थ के लिये ) जे ( जो ) ब्राह्मण जिस बेकाज ( कुकर्म हिंसादि ) में लगे रहते हैं, उसे त्यागने के लिये नाम लेते ही पावक की नाईं डाजा ( दग्ध करनेवाला ) क्रोधी होते हैं, सच्चा रामकृष्ण ( ईश्वर ) की आशा ( भक्ति ) को ये लोग छोड दिये। और पढगुणकर भी अत्यन्त कृतम ( कार्य ) के दास हो गये। इससे तुच्छ

कर्म पढते उसीके लिये धावते (दौडते वा ध्यान करते) हैं। जो कोई पूछता है उसके प्रति भी कर्म ही दृढाते हैं इत्यादि ॥

नि:कर्मी को निन्दा कीजै। कर्म करै ताही चित दीजै ॥
ऐसी भक्ति हृदया महँ लावै। हिरणाकश के पन्थ चलावै ॥
देखहु सुमती केर प्रकाशा। अभ्यन्तर भये कृतमक दासा ॥
*जाके पूजे पाप न ऊड़े। नामे सुमरनी भव महँ बूड़े ॥*

त्रैगुण्यग्रन्थमुक्तानां नैष्कर्म्यफलशालिनाम्।
निन्दा कार्या दिशन्त्येवं कुर्वते च स्वयं तथा ॥२५॥
कर्मकारिषु तद्देयं स्वचित्तं सावधानतः।
इत्येवं च दिशन्त्यज्ञाः कुर्वते चातिदुष्करम् ॥२६॥
भक्तिं चेतादृशीं स्वान्तेष्वाहरति यया किल।
हिरण्यकश्यपस्यैव सम्प्रदायः प्रवर्तते ॥२७॥
एतेषां सुमतेश्चैव प्रकाशो दृश्यतां जनैः।
मनसाऽप्यभवन् येन दासाः कार्यस्य कर्मणः ॥२८॥
यस्य कार्यस्य पूजाभिः पापं किञ्चिन्न नश्यति।
तन्नाम्नः प्रत्युत स्मर्ता निमज्जति भवार्णवे ॥२९॥
तस्य येऽत्राऽभवन् दासास्तेषां च पूजनाद्धि हि।
पापं नश्यति तन्नाम्ना भवबाधा च वर्तते ॥३०॥

लोगों को समझाते हैं कि निष्कर्मी (कर्ममुक्तों) की निन्दा करनी चाहिये, कर्म करनेवालों में मनोयोग देना चाहिये। और ये लोग अपने हृदयों में तो ऐसी तामसी भक्ति लाते हैं कि मानो हिरण्यकश्यप के पन्थ ही चलाते हैं॥ इनकी सुमति के प्रकाश को तो देखो कि जिस करके अन्तःकरण से कार्यरूपों के ही दास हुए हैं। यहा कुमति व्यंग्य है।

जाके ( जिस कार्य वा कार्यभक्त के ) पूजे ( पूजने से ) पाप न ऊड़े ( नहीं नष्ट होता ) उल्टा उसके नाम समरनी ( नाम के सुमिरण करनेवाला ) संसार में डूबता ही है ॥

पाप पुण्य के हाथे पाशा । मारि जगत को कीन्ह विनाशा ॥
ई वन्हि कुल वन्ही कहारे । ई गृह जारे ऊ गृह मारे ॥
बैठा ते घर साहु कहावै । भीतर भेद मुस मनुअँ लखावे ॥

दढौ तेषा करे पापपुण्यरूपौ हि पाशकौ ।
विद्येते कल्पितौ याभ्या बद्ध्वा सर्वान्जगज्जनान् ॥३१॥
मारयित्वेव विद्ध्वस्य भूयो भूयो व्यनीशनशन् ।
अद्यापि नाशयन्त्येव ये विवेकविवर्जिताः ॥३२॥
रक्षको भक्षको यत्र जीवनस्यात्र का कथा ।
सुख शातिश्च मोक्षश्च दूराद्दूरे हि वर्तते ॥३३॥
कथ्यन्ते वन्हयश्चैते विश्वस्मै स्वकुलाय च ।
अत एत गृह लोक परलोक दहन्ति रे ॥३४॥
लोकयो नापका विप्रा संजातास्तद्विनाशकाः ।
अहो मायाबल तीव्र किं किं सा नहि साधयेत् ॥३५॥
गृहे तेऽपि स्थिता श्रेष्ठा कथ्यन्ते साधवस्तथा ।
अन्त स्थिताय मनसे चौर्यभेदान् दिशति ये ॥३६॥

इनके हाथे ( हाथ में ) पापपुण्य कर्म के पाशा (फासी) है । उन से जगत को मारकर विनष्ट किया । रे अज्ञ मनुष्य ! इसीसे इन्हें ई ( इस संसार ) और अपने कुल दोनों के लिये वन्हि (अग्नि) कहा है । वन्हि होने से इ गृह ( इस लोक ) को जारते हैं, और ऊ गृह (परलोक) को भी मारते हैं ॥ ते ( वैसे लोग ) अपने घर में बैठे साहु कहाते हैं ।

और भीतर वर्तमान मन के प्रति मुस ( चोरी ) के भेद ( मर्म ) लखाते ( समझाते ) रहते हैं ॥

ऐसी विधि सुर विप्र भनीजै, नाम लेत पीठासन दीजै ॥
बूड़ि गये नहिं आपु सँभारा। ऊँच नीच कहु काहि जोहारा ॥
ऊँच नीच है मध्यम बानी। एकै पवन एक है पानी ॥
एकै मटिया एकै कुम्हारा। एक सबन को सिरजनहारा ॥

ईदृशा अपि विप्रास्ते कथ्यंते भूसुरास्तथा।
दीयते नाममात्रेण तेभ्यः पीठासनं जनैः ॥३७॥
यद्यप्येते प्रपूज्यंते तथापि भववारिधौ।
निमग्ना न स्वमात्मानं स्वयमेवोद्धरंति ते ॥३८॥
श्रेष्ठा नामकुलाद्यैश्चेत्कर्मभिर्नीचतां गताः।
कथ्यतां तु तदा केभ्यो ह्यभिवादो विधीयते ॥३९॥
वस्तुतः कुलगोत्राद्यैरार्योऽवर्णादिरेकधा।
मध्येव वर्तते लोके देहदृष्ट्या न तत्त्वतः ॥४०॥
देहेष्वपि च वर्तन्ते प्राणास्तुल्या जलानि च।
मृत्तिकैकविधा कुम्भकारो जीवो विधिस्तथा ॥४१॥
एकधा वर्तते सर्वस्रष्टा चैकः परेश्वरः।
निर्गुणे सगुणे वास्मिन् भेदगन्धो न विद्यते ॥४२॥

ऐसी ( पूर्व कहे ) विधि ( प्रकार चाल ) वालों को भी लोग कहते हैं कि इन्हें भूसुर ( भूदेव ) विप्र ( ब्राह्मण ) भनीजै ( कहना चाहिये ) और नाम लेते ही पीठासन ( उच्चासन ) या पद्मासन ( कुशासन ) देना चाहिये। परन्तु ये लोग स्वयं भवार्णव में बूड़ गये,

अपने को आप संभारा नहीं, नाममात्र से ऊंच होते भी कर्मादि से नीच हो गये, फिर कहो किसके प्रति जोहार ( प्रणाम ) किया जाय ॥ तत्वविचार करने पर तो ऊंचनीचादि बानी ( शब्द ) मध्यम हैं, सबमें एके पवनपानी आदि वर्तमान हैं इत्यादि ॥

एक चाक सब चित्र बनाया। नाद बिन्द के मध्य समाया ॥
व्यापी एक सकल की गौती। नाम धरे का कहिये भौती ॥
राक्षस करणी देव कहावै। वाद करै गोपाल न भावै ॥
हंस देह तजि न्यारा होई। ताकर जाति कहहु दहुं कोई ॥

एकस्मिन् गर्भचक्रे च चित्रं सर्वमजीजनत् ।
नादे बीजे प्रविष्टं तत् किं हीनं चोत्तमं च किम् ॥४३॥
गोऽतीतो विभुरात्मैकः सर्वगोत्रेषु वर्तते ।
व्याप्तः सर्वेन्द्रियातीतो नाम्ना स्याद्भौतिकस्य किम् ॥४४॥
भौतिकस्यास्य देहस्य कृतैश्च बहुनामभिः ।
नात्मा तैः कथ्यते किन्तु देह एव विकथ्यते ॥४५॥
यद्धे सत्कर्मणा श्रेष्ठत्वं तच्च तेषु न दृश्यते ।
कर्मणा राक्षसा एव कथ्यन्ते भूसुरा अहो ॥४६॥
कुर्वते बहुवादांश्च गोपालो रोचते नहि ।
एभ्यो ब्राह्मणमन्येभ्यः सर्वव्यापी निरञ्जनः ॥४७॥
जात्या किं क्रियते गर्वो जीवात्माऽप्यवलोक्यताम् ।
यदा देहं परित्यज्य हंसो भिन्नो भवत्ययम् ॥
कथ्यतां तस्य का जातिस्तदा कैरपि कीदृशी ॥४८॥

एक गर्भचक्र पर सब देहचित्र बने हैं। सो नाद ( शब्द ) और बिन्दु में पैठे ( स्थिर ) हैं। एक आत्मा सकल की गौती ( गोत ) में

व्यापक है । भौती ( भौतिक ) देह के नाना नाम धरने से आत्मा में क्या हो सकता है ॥ कर्म से व्यावहारिक भेद श्रेष्ठता होती है, तहाँ राक्षस करणीवाले देव कहाते हैं इत्यादि । और, हंस ( जीव ) जब देह त्याग कर न्यारा होता है तो उसकी भी कोई जाति नहीं कही जा सकती ॥

श्वेत स्याह की राता पियरा । अवरण वरण कि ताता सियरा ॥
हिन्दू तुरुक की वृढ़ा बारा । नारि पुरुष मिलि करहु विचारा ॥
कहिये काहि कहा नहिं माना । दास कवीर सोइ पै जाना ॥

श्वेतोऽसौ ब्राह्मणो यद्वा श्यामः शूद्रस्वरूपकः ॥
रक्तोऽस्ति क्षत्रियो यद्वा पीतात्मा वैश्यवर्णकः ॥४९॥
अवर्णः सवर्णो वा सोष्णोऽस्ति शीत एव वा ।
आर्यो वा यवनो वाऽसौ वृद्धस्तरुण एव वा ॥५०॥
नारी किं पुरुषो वासौ सर्वैरित्थं विचार्यताम् ।
नारीभिः पुरुषैर्येन मोहो ज्ञानाद्विनश्यतु ॥५१॥
सद्गुरुश्चाह कस्यैतद्रहस्यं कथ्यतामिमे ।
मन्यन्ते नैव कार्याणां दासास्तान्येव मन्वते ॥५२॥
गुरुभक्ताश्च ये केचिद्भविष्यन्ति नरोत्तमाः ।
मंस्यन्ते त इदं तत्त्वमन्यस्मै कथ्यतां किमु ॥५३॥

देहरहित जीवात्मा श्वेत स्याह ( स्याम वा काला ) राता ( लाल ) पियरा ( पीला ) अवरण ( जातिरंग रहित ) वरण ( जातिरूपादि सहित ) इत्यादि नहीं है । ताता ( गर्म ) सियरा ( शीत ) हिन्दु आदि वारा ( युवा ) भी नहीं है, स्त्रीपुरुष सब मिलकर विचार करो कि श्वेतादि से भिन्न आत्मा कैसा है, किसने कहा जाय, देवादि के दास जीव सोई ( श्वेतादि ) को ही मानते हैं । कोई हरिगुरुदास जो होंगे सो इस तत्त्व को विचार कर समझेंगे ॥

## साखी ।

बढ़िया है बहि जात है, करे गहे चहुं ओर ।
जो कहा नहिं माने तो, दे धक्का दुइ और ॥१॥

इति विप्रमतीसीप्रकरण समाप्तम् ।

नन्ववाह्यन्त सर्वेऽमी जन्तवोऽनन्तकालतः ।
इदानीमपि वाह्यन्ते भवनद्याऽतिवेगतः ॥५४॥
मनोबुद्धिकराभ्याञ्च चतुर्दिक्षु हि गोचरान् ।
गृहीत्वाऽत्र वहन्त्यज्ञा मन्यन्ते न सतां कथाम् ॥५५॥
तथापि विदुषामेतदुचितं कथ्यतां हि यत् ।
हित्स्तेभ्यो यदि मन्येरन् हितं तेषां भवेत्परम् ॥५६॥
लौहकान्तो यथा लौहं व्यवधाने न चाहरेत् ।
सन्निधावाहरेन्नूनं व्यवधानव्यपायतः ॥५७॥
वासनाकामकर्माद्यैर्व्यवधाने तथा नहि ।
चिदानन्दमयं ब्रह्म स्वात्मनेऽप्याहरेन्मनः ॥५८॥
ईश्वरोऽप्यात्मयोगाय मुक्तये न कदाचन ।
भक्तिहीनं मनो हृत्वा स्वस्मिन् संहर्तुमीशते ॥५९॥
वासनाकामकर्मादीन्यनुरुध्य परेश्वरः ।
प्राणिभ्यः फलमाहर्ता नान्यत्कर्तुं स शक्नुयात् ॥६०॥
वासनादिविशुद्धौ च भक्तियुक्त मनः सदा ।
आहरेदीश्वरो ब्रह्म लौहकान्तवदेव हि ॥६१॥
न तत्र रागो न च दोषरोपौ न च क्रिया कापि विचित्ररूपा ।
कामादियोगेन हि सर्वजन्म तेषां वियोगेन च मुक्तता स्यात् ॥६२॥
विप्रादिसुमतिं सम्यग् बुद्ध्वा यद्वचनादिह ।
पुनर्न भ्राम्यति क्वापि तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥६३॥

विप्रसुधीपुष्पजमकरन्दं माद्यतु पीत्वा हरिजनभृङ्गः ।
पश्यतु शुद्धाऽद्वयमनवद्यं तिष्ठतु शुद्धे पथि परविद्यः ॥६४॥

॥ इति हनुमद्दासकृता विप्रमतिमकरन्दव्याख्या समाप्ता ॥

संसारनदी में जीव सब अनन्तकाल से बह चुके हैं, और अब भी बहे जा रहे हैं। तथा मन बुद्धिरूप कर में विषयकामवासनादि को चारों तरफ से पकड़े हैं। उनके त्याग से इनका कल्याण होता है, तिसै त्याग के लिये कहना यदि नहीं मानते हैं, तो दो धक्का और भी देना चाहिये, अर्थात् त्यागादि के लिये दो चार बार और भी कहना चाहिये। और बलात्कार से भी हीन कामादि का त्याग कराना चाहिये ॥१॥

इति चतुर्थ विप्रमतीसी प्रकरण संपूर्ण।

श्रीसद्गुरुचरणकमलेभ्यो नमः।

—ः सद्गुरुः—

# कबीर साहेब कृत बीजक।

[ स्वानुभूतिसंस्कृतव्याख्यासहित ]

---

## अथ पञ्चम हिंडोला प्रकरण।

दोलादोलितमानसान् निजजनान् संप्रेक्ष्य यो विह्वलान्,
त्रासात्तूर्णमतारयत्तुविमलैः पद्यैस्त्रिभिः संविदान्।
तं सर्वस्य हितं महाकविवरं कल्याणकल्पद्रुमं,
वन्दे सद्गुरुरूपिणं करुणया युक्तं कबीरं परम् ॥१॥
यस्य विज्ञानमात्रेण दोलाया न भयं क्वचित्।
तं वन्दे परमानन्दं शुद्धं सत्यं चिदात्मकम् ॥२॥
यदाश्रिताः कर्मभयाश्च कर्मकालादयः कर्मफलं प्रदातुम्।
सामर्थ्यवन्तो नितरां भवंति तज्ज्ञानतस्ते विलयं प्रयान्ति ॥३॥
अतो गुरुस्तस्य सुबोधहेतुं विवेकवैराग्यजनौ समर्थम्।
चकार पद्यत्रितयं सुबोधं विचारसत्संगसुमार्गदीपम् ॥४॥
हनुमन्तं हि यः शीघ्रं दोलादिजमहाभयात्।
अतारयत्तमचलं भजेऽहं सद्गुरुं हरिम् ॥५॥

## हिंडोला १.

भरम हिंडोला ना ( जामे ), सब जग झूलै आय ॥
पाप पुण्य के खम्भ दोऊ, मेरु माया मानि ।
लोभ मरुआ विषय भँवरा, काम कीला ठानि ॥
शुभ अशुभ बनाय डाँडी, गह्यो दोनों पानि ।
यह कर्म पटरी बैठिके, (को)को न झूलै आनि ॥

भ्रमसिद्धा हि दोलेयं मनोदेहात्मकं जगत् ।
यत्रागत्य हि सर्वेऽमी दोलायन्ते शरीरिणः ॥१॥
पापपुण्यमयौ स्तम्भौ ह्यधस्थावुच्छ्रितौ दृढौ ।
मेरुस्तम्भोऽत्र मायेव तिर्यक् ताभ्यां परं स्थिता ॥२॥
लोभो गोपानसी चात्र विषया भ्रमणप्रदाः
प्रेह्वास्थानादिका ज्ञेया यत्र भ्राम्यति वेगतः ॥३॥
लोभो मरुवको यद्वा भ्रमरा विषया मताः ।
कामः कीलोऽत्र विज्ञेयो येन सर्वो निबध्यते ॥४॥
शुभाशुभौ पदार्थौ द्वौ दण्डौ तत्र कृतौ हि तौ ।
हस्ताभ्यां निगृहीतौ वै सर्वैर्वा मनसा धिया ॥५॥
प्रसिद्धं यदिदं कर्म कामक्रोधादिदूषितम् ।
तत्र स्थित्वा न के केऽत्र दोलयन्ते देवमानवाः ॥६॥

ना ( पुरुष—जीव ) के देहादिरूप हिंडोला भ्रमसिद्ध है। सब जग इस पर आकर झूलता है। इस हिंडोला में पापपुण्य के दो खम्भे हैं। माया मेरु है ऐसा मानो। लोभ मरुआ ( पुष्प, या छाया आदि के लिये लगाई हुई लकड़ी ) है। शब्दादि विषय भवरा (भ्रमर, या भ्रमण के स्थान) है। काम कील है। शुभ अशुभ पदार्थ दण्ड

है, जिन्हें जीव दोनों हाथे पकड़े हैं। प्रसिद्ध कर्मपटरी पर बैठकर कौन नहीं आकर झूलता है ॥

झूले तो ब्रह्मा दत्त शिव, झूले तो सुरपति इन्द्र ।
झूले तो नारद सारदा, झूले व्यास फणीन्द्र ॥
झूले तो गण गन्धर्व मुनि, झूले सूरज चन्द ।
आपु निर्गुण सगुण होयके, झूलिया गोविन्द ॥

ब्रह्मा संदोल्यते देही दत्तात्रेयो महामुनिः ।
सर्वज्ञश्च शिवो देवराडिन्द्रश्च प्रतापवान् ॥७॥
देवर्षिर्नारदश्चैव भारती पावनी मता ।
व्यासोऽपि सर्वविज्ञानी फणीन्द्रः शेष एव च ॥८॥
गणगन्धर्वदेवाश्च मुनयः सूर्यचन्द्रको ।
स्वयं यन्निर्गुणं ब्रह्म गां लब्ध्वैवेन्द्रियादिकम् ॥९॥
दोलायां दोल्यते नित्यं भूत्वेव सगुणं गुणैः ।
जीवेशादिस्वरूपेण नानाऽवस्थासु गच्छति ॥१०॥
यद्वा गोविन्दनामा यो विष्णुर्देवः सनातनः ।
दुर्गुणै रहितो भूत्वा दोल्यते सद्गुणैः सह ॥११॥

दत्त ( दत्तात्रेय ) सारदा ( सरस्वती ) फणीन्द ( शेषनाग ) गण ( गणदेवता ) आपु निर्गण (स्वय निर्गुण ब्रह्म) गोविन्द ( इन्द्रियवाला ) सगुण होकर झूलता है। या गोविन्द ( विष्णुदेव ) स्वय निर्गुण ( दुर्गुणरहित ) और सगुण ( शुभ कल्याण गुण सहित ) होकर झूलते हैं अनेक अवस्था को प्राप्त होते हैं ॥

छ चारि चौदह सात इकिस, तीनि लोक बनाय ।
खानि बानि खोजि देखहु, स्थिर न कोइ रहाय ॥

खण्ड ब्रह्मण्ड खोजि देखहु, छुटत कतहूं नाहिं।
साधु सन्त विचारि देखहु, जिव निस्तरि कहँ जाहिं॥

जन्मादीन् सविकारान् षट् कामाद्यरिगणांस्तथा।
खन्यनस्थायुगार्दींश्च भुवनान् भूतसर्गकान्॥१२॥
सप्तस्वरान् समुद्रांश्च तन्मात्राणि मनोधियम्।
नरकान् विंशतिं चैकं लोकांस्त्रीन् साधनान्वितान्॥१३॥
रमते रचयित्वाऽत्र गोविन्दो जीव एव वा।
स्थितिं न लभते क्वापि दोलया दोलितः सदा॥१४॥
किञ्च षड् दर्शनादीनि विचार्यैतेषु मृग्यताम्।
खनिवाणीषु सर्वासु स्थिरः कोपि न लभ्यते॥१५॥
अन्विष्याऽऽलोक्य खण्डेषु ब्रह्माण्डेषु विलोकय।
मुच्यते क्वापि बन्धान्नो कोपि विज्ञानमन्तरा॥१६॥
साधवः सज्जनाश्चैतत् सुविचार्य प्रपद्यत।
कुत्र गत्वा ह्ययं जीवो निर्वाणं पदमेष्यति॥१७॥
ज्ञानं विना न कुत्रापि गत्वाऽयं मुच्यते तथा।
ज्ञानाद् ध्वान्तनिवृत्तौ तु मुक्त एव गताशयः॥१८॥
साधुभिः सज्जनैर्वैतद्विचार्यैव प्रदृश्यताम्।
कुत्र याति विमुक्तोऽयं जीव संसारबन्धनात्॥१९॥

छ ( छौ शास्त्र वेदाङ्ग दर्शनादि ) चार ( वेद अवस्थादि ) सात ( द्वीपसमुद्रादि ) इक्किस ( नरकादि ) बनाय ( रचकर ) जीवात्मा इनमें झुलता है। या बनाय ( अच्छीतरह ) इनमें खोजकर देखो, कोई स्थिर नहीं रहता है। खानि ( अण्डजादि ) बानी ( वेदादि )॥ ज्ञान विना खण्ड ब्रह्माण्ड में कहीं छुटकारा नहीं है, इसलिये साधुसन्तों से विचार कर जानो कि जीव मुक्त होकर कहाँ जाते हैं॥

(जहँ) रैनि दिवस न चन्द सूरज, तत्त्व पल्लव नाहिं ।
काल अकाल प्रलय नहिं तहँ, सन्त विरले जाहिं ॥
तहँ के बिछुरे (बहु) कल्प बीते, भूमि परे भुलाय ।
साधु संगति खोजि देखहु, बहुरि (न) उलटि समाय ॥

नक्तंदिवप्रभेदो नो सूर्यश्चन्द्रो न यत्र वै ।
पञ्चतत्त्वानि नैवैषां विस्तारो यत्र नास्ति च ॥२०॥
सुकालो नैव दुष्कालः प्रलयो न कथञ्चन ।
सन्तो विवेकिनः केचित्तत्र यांति विमत्सराः ॥२१॥
वियुक्तानां ततश्चैषां गताः कल्पा ह्यनन्तकाः ।
अनादिकालमारभ्य भूमौ भ्राम्यंति सर्वथा ॥२२॥
जीवाः सर्वे हि कल्पान्ते यांति तत्रैव साशयाः ।
आयांति च पुनस्तेन गर्भादिषु विमोहतः ॥२३॥
साधूनां सङ्गतौ चैतदन्विष्यात्र प्रपश्यत ।
येन भूयो न कुत्रापि संसारे विशताशया ॥२४॥
यद्वा निराशयैस्तत्र पुनस्तत्त्वे निविश्यताम् ।
नैवागमनं येन दोलायां संभविष्यति ॥२५॥

जिसमें रातदिनादि नहीं हैं, न पाचतत्त्व का पल्लव ( विस्तार ) है, न सुकाल दुष्काल वा मरण मोक्षादि है, उस स्वरूप में कोई विरले सन्त प्राप्त होते हैं ॥ उससे वियुक्त हुए अनन्त कल्प हुए, भूमि आदि में प्राप्त होकर जीव उसे भूला है । साधुसग में खोजकर देखो कि जिससे ससार से उलट कर उसीमें मन लीन हो, ससार में नहीं जाय ॥

यहि झूलवे की भय नहीं, जो होहिं सन्त सुजान ॥
कहहिं कबिर सत सुकृत मिलै(तो), बहुरि न झूलै आन ॥१॥

ज्ञानवन्तो हि ये सन्तस्तेषां दोलाभय नहि ।
विद्यते हीति निश्चित्य शुद्धं ज्ञानमुपार्जय ॥२६॥
आह गुरुवरो येषां संमिलेत्सद्गुरु' क्वचित् ।
सत्यवक्ता सुहृच्चैव पुण्यं निष्कामकर्मजम् ॥२७॥
ते पुनर्नैव दोलायामायास्यंति कदाचन ।
जीवन्मुक्ता विमुक्ताश्च ते स्थास्यंति सदव्यये ॥२८॥

सर्वं विहायात्र मनो निदध्याद्रामे परे ब्रह्मणि शान्तरूपे,
सर्वं क्षणात्तद्धि विलाप्य दुःखमुत्तिष्ठते सौख्यमयं विशुद्धम् ।
न यस्य मोहो न मदो न मत्सरः समस्वभावेन तु वर्तते सदा,
न रागरोषौ न च दोषदुर्विधा स एव साक्षात्परतः परो भवेत् ॥२९-१॥

जो सुजान (ज्ञानी चतुर) सन्त होते हैं, उन्हें उक्त हिंडोला का भय नहीं रहता है। जिसको सत सुकृत (श्रेष्ठ पुण्य निष्काम शुभकर्मोपार्जनादि या सच्चा ज्ञानी गुरु ) मिलते हैं सो बहुरि ( फिर ) आन (आयकर) नहीं झूलता है ॥१॥

## हिंडोला २.

बहुविधि चित्र बनाय के हरि, रची क्रीड़ा रास ।
जेहि झूलवे कि इच्छा नहिं, अस बुद्धि (है) केहि पास ॥
झूलत झूलत बहु कल्प बीते, मन नहिं छोड़त आस ।
मचो रहत हिंडोल अहनिशि, चारि युग चौमास ॥

चित्राणि बहुधा कृत्वा स्वाद्यलीलां हरिः स्वयम् ।
सत्यामरचयत्रैषा भ्रमरूपेति केचन ॥३०॥

यथा नात्र भवेदिच्छा क्रीडितुं सा मतिः कुतः ।
वर्तते हृदये कस्य हरेस्तन्त्रं * जगत् समम् ॥३१॥
दोलायां क्रीडतां जातो बहुकल्पा गताः खलु ।
मनस्त्यजति नैवाशां हरिर्यावन्न चेच्छति ॥३२॥
रहस्यरचिता चेयं चला दोला ह्यहर्दिवम् ।
चत्वारि च युगान्यत्र चतुर्मासाः प्रवर्षणाः ॥३३॥

किन्हीका कहना है कि समारम्भमादि सिद्ध नहीं है किन्तु हरि (परमात्मा) स्वयं क्रीडाराम (क्रीडासमूह) रचा है। झूलने की इच्छा न हो ऐसी बुद्धि भी किसीके पास (अधीन) नहीं है। इसीसे झूलतेर अनन्त कल्प बीतने पर भी हरि की इच्छा विना मन आशा को नहीं छोड़ता है और हिंडोला भी दिनरात मचो रहत (चलती रहती) है। चारों युग चातुर्मास बना रहता है इत्यादि ॥

कबहुं (क) ऊंचे कबहुं (क) नीचे, स्वर्ग भूतले जाय ।
अति भ्रमत फिरत हिंडोलवा (हो), नेकु नहिं ठहराय ॥
डरपत हौं यह झूलवे कि, राखु (हो) यादवराय ।
कहँ कबिर गोपाल विनति, शरण हरि को पाय ॥२॥

कदाचिद्याति चोर्ध्वं सा त्वधः स्वर्गेऽथ भूतले ।
भ्रमत्येवं हि वेगेन किञ्चित्क्वापि न तिष्ठति ॥३४॥

---

* यच्छक्तयो विश्वमल सृजन्ति रक्षन्ति निघ्नन्ति जनेषु विश्यन् । तन्नामरूपाकृतिभिः स्वय च विभिद्य चास्ते हि महाविभूतौ ॥ उभयोरात्मभूतोऽथ स्वतन्त्रो धारको हरिः । प्रेरको मारको लिप्तो भोजको भोगवर्जित. ॥ मसहिता ॥ उभयोश्चिदचितोः । लिप्त. ससङ्ग. ॥

यादवानां हि राजा त्वं हे हरे ! भक्तवत्सल ! ।
पाह्यस्मान् वयमद्यास्माद्दोलनात्संविभेमहि ॥३५॥
इत्येवं कवयः प्राहुस्तथाऽऽचार्याः प्रमेनिरे ।
गोपालशरणं प्राप्य चक्रुस्ते विनयं बहु ॥३६॥
यद्वा सद्गुरुरेवाह सर्वात्मा श्रीहरिः स्वयम् ।
जीवकर्मानुसाराद्यैः कृत्वा चित्राण्यनेकधा ॥३७॥
लीलया लोकवत्सैव क्रीडारासं तु मायया ।
चकार जीवरूपेण प्रविश्य चित्रविश्वयोः ॥३८॥
" रमणार्थमिदं सर्वं ब्रह्मैव स्वेच्छयाऽभवत् ।
यथा सर्पः स्वेच्छयैव कुण्डलाकारतां व्रजेत् " ॥३९॥
विभेत्यत्र यदा जीवो यादवानां प्रभुं तदा ।
स्तौति मां शरणे रक्ष विभेम्यत्र ह्यहं विभो ॥४०-२॥

उक्त हिंडोला ऊंचे नीचे आदि अत्यन्त वेग से भ्रमते फिरती है ॥ नेकु (थोड़ा भी या शीघ्र) ठहरती नहीं है । यह झूलवे कि (इस झूलने से) मैं डरपत (डरता) हूं, हे यादवराय ! रक्षा करो; इस प्रकार कबीर (कवि) लोग गोपाल की विनती करते हैं । इत्यादि ॥२॥

## हिंडोला ३.

लोभ मोह के खंभ दोऊ, मन से रची हिंडोल ।
झुलहिं जीव जहान जहँलो, कतहुं नहीं थित ठौर ॥
चतुर झुलहिं चतुराइया, झुलहिं राजा शेष ।
चान्द सूर्य दोउ झूलहीं, उनहुं न भौ उपदेश ॥

लोभमोहमयैः स्तम्भैर्युक्तां दोलां भ्रमात्मिकाम् ।
मनसाऽरचयन् जीवा विशेषेण पृथक् पृथक् ॥४१॥

रचयित्वा च दोलां ते दोलायन्ते हि सर्वशः ।
ये केचिद्देहिनो लोके भुवने क्वापि सन्ति हि ॥४२॥
परिणामक्रियायैश्च दोलनात्सर्ववस्तुनः ।
सर्वत्रैवात्र संसारे स्थितेः स्थानं क्वचिन्न हि ॥४३॥
चतुरश्चात्र चातुर्याद्राजा शेषादिकोपि च ।
भवे दोलायतेऽप्यासौ चन्द्रः सूर्यः प्रतापवान् ॥४४॥
उपदेशो यतो नैतैः पूर्वजन्मस्वलभ्यत ।
खेलायन्ति ततः सर्वे कृत्वा कर्माणि कामतः ॥४५॥

भ्रमजन्य लोभमोह के दो खमे हैं, और यह व्यष्टि हिंडोला मन से रची गई है, और जहान ( समार ) जहँलो ( जहाँतक ) है तहाँ तक जीव झूलते हैं। कतहु ( कहीं भी ) थित ( स्थिर ) ठार ( स्थान ) नहीं है ॥ राजा ( ज्ञानी ) प्रारब्धानुसार झूलते हैं। या राजा ( ब्रह्मा आदि अधिकारी लोग ) और शेष (शेषनाग, वा ज्ञानी ब्रह्मादि अन्य ) सब झूलते हैं ॥ पूर्वजन्म में झूलना रहित होने के लिये उपदेश की नहीं प्राप्ति होने से ही सूर्यादि भी झूलते हैं ॥

लक्ष चौरासि जिव झूलहिं, रविसुत धरिया ध्यान ।
कोटिन कल्प युग बीतिया, अजहुं न मानै हान ॥
धरति अकाश दुइ झूलहीं, झूलहिं पवना नीर ।
देह धरे हरि झूलहीं, देखहिं हंस कबीर ॥३॥

इति पञ्चम हिंडोला प्रकरणं समाप्तम् ।

उपदेशं विनैवास्य ह्यसद्दस्यात्मनः सदा ।
युगाष्टलक्षयोन्यादौ दोलायन्तेऽत्र जन्तवः ॥४६॥

खेलायन्तो न जानंति वैवस्वतयमं जनाः ।
स च दत्तावधानो वै वर्तते सर्वतः सदा ॥४७॥
इत्थमेषां गतान्यत्र कल्पाश्चैव युगानि च ।
कोटयो नैव जानंति स्वहानिं दुःखवेदनाम् ॥४८॥
दोलायन्ते पृथिव्यां च तथाकाशे च वायुषु ।
अप्सु चान्ये तथा चैते देवाः क्षित्यादिसंज्ञकाः ॥४९॥
विष्णुश्चैव स्वयं देवो देहं धृत्वा पृथग्विधम् ।
भवे दोलायते ह्यत्र पश्यन्त्येवं विवेकिनः ॥५०॥
सर्वांश्चैव हरिर्यद्वा देहं धृत्वा पृथक् पृथक् ।
भवे दोलायते तं च पश्यन्ति ज्ञानिनोऽचलम् ॥५१॥
हिंदोलाललितं ह्येतद्विलोक्य कृतिनो जनाः ।
त्यक्त्वा लोभादिकं सर्वं द्वन्द्वमुक्ता भवन्तु वै ॥५२॥
हिंदोलाललित विलोक्य विबुधस्त्यक्त्वा भ्रमं दूरतो,
धर्माधर्ममयान् विपाट्य विपुलान् स्तम्भांश्च पार्श्वां तथा ।
लोभं गोचरकामकर्मकलहं हित्वा हरिं संभजन्,
मोहध्वान्तविमुक्तमानसतयाऽसौ निश्चलो मोदताम् ॥५३॥३॥

। इति हिन्दोलाललित समाप्तम् ।

रविसुत ( यमराज ) सब जगह ध्यान से देख रहा है, और अनन्तों युग बीतने पर भी जीव अपनी हानि को अबही भी नहीं मानता ( समझता ) है। पृथिवी आदि सब झूल रहे हैं, इस बात को हंस ( विवेकी ) जीव समझते हैं इत्यादि ॥३॥

इति पञ्चम हिंडोला प्रकरण संपूर्ण ।

श्रीसद्गुरुचरणकमलेभ्यो नमः ।

—: सद्गुरु :—

# कबीर साहेब कृत बीजक।

[ स्वानुभूतिसंस्कृतव्याख्यासहित ]

## अथ षष्ठ वसन्त प्रकरण ।

सत्यानन्दघनं प्रदर्श्य विमलं कामादिकं मार्जयन्,
मोहध्वान्तहरः स्ववाक्यकिरणैः सत्कोमलैः शीतलैः ।
हृद्गेहान्तरवर्तिनां च कलहं यो वारयत्यञ्जसा,
तं सत्यं हि कबीरमत्र सुखदं भानुं परं संश्रये ॥१॥
यस्य वाक्किरणैर्ध्वस्तास्तमोरागादयोऽरयः ।
नाऽवर्तन्ते पुनः क्वापि तं वीरं मिहिरं भजे ॥२॥

यद्द्वादशात्मान इमे वसन्तकाः,
स्वान्ते हरन्ते ननु सर्वदा तमः ।
महार्हरत्नं च हरिं निजान्तिके,
प्रकाशयन्ते तमहं भजे सदा ॥३॥

वर्तते नित्यमानन्दो यद्दयया हनूमतः ।
तस्य सच्चरणद्वन्द्वमद्वन्द्वं नित्यमाश्रये ॥४॥

## वसन्त १, जीवसंस्तृतिप्रकार वर्णन प्र. १.

शिव काशी कस भई तोहारि। अजहूँ हो शिव देखु विचारि ॥
चोवा चन्दन अगर पान। घर घर स्मृती होत पुराण ॥
बहु विधि भवनन लागु भोग। (अस) नगर कोलाहल करत लोग ॥

> पुण्यपापमयी नित्यं लोभमोहमयी चला।
> नगरीयं भवाख्या ते शिवात्मन्नभवत्कथम् ॥१॥
> अद्यापि त्वं विचार्येदं पत्तनं, पश्य कारणम्।
> तत्र विद्धि च तत्त्यक्त्वा मुक्तसङ्गः सुखी भव ॥२॥
> यक्षधूपस्य सारोऽथ गन्धसारोऽथ वंशकम्।
> नागवल्लीदलं चैव निगमे ह्यत्र लभ्यते ॥३॥
> देहगेहेषु सर्वत्र प्राक्तना विषयास्तथा।
> भुक्ताभुक्ताश्च रागेण संस्मर्यन्ते पुनः पुनः ॥४॥
> प्राप्त्यर्थं च स्मृतानां वै यत्नोऽत्र क्रियते सदा।
> तत्प्राप्त्या भवनेष्वेषु भोगस्तेषां हि जायते ॥५॥
> तद्भोगेनैव तुष्टाश्च सर्वे लोका बहिर्मुखाः।
> मत्ताः कलकलं शश्वत्कुर्वते नात्मचिन्तनम् ॥६॥

हे *शिव* ! ( *कल्याणरूप जीव ! या विश्वनाथ महादेव !* ) तुम्हारी काशी ( संसार या बनारस ) कस ( किस प्रकार से या कैसा ) भई है, सो अजहू ( अब भी ) विचार कर देखो। चोवा आदि भोग के साधन मिलते हैं। घर २ ( देहे २ या सब घरों ) में स्मृति ( धर्मशास्त्र या यादगारी ) पुराण ( पुराणग्रन्थ या पुराणे विषय ) कहे या प्राप्त किये जाते हैं। भवनों ( देह वा घरों ) में बहुत प्रकार के भोग लगते हैं प्राप्त होते हैं इत्यादि ॥

बहुविधि परजा लोग तोर । तेहि कारण चित्त ढीठ मोर ॥
सुनिकै शंकर भयउ कोह । अस काहु नहिं कहले मोह ॥

प्रजा बहुविधाश्चात्र पुत्रपौत्रादिलक्षणाः ।
संप्राप्यन्ते त्वया शंभो तस्माच्चित्तेऽस्ति धृष्टता ॥७॥
धृष्ट जात त्विदं चित्तं ममतामत्र भावयत् ।
इदं मे स्यादिदं मे स्यान्नेव तज्जातु तृप्यति ॥८॥
इत्थं ते नगरी प्राप्ता ममतामोहतः शिव ।
त्यक्त्वा त्वं ममतां मोहं मुक्तसङ्गः सुखी भव ॥९॥
श्रुत्वैममुपदेशं च शङ्करोपासको नरः ।
तामसोऽत्र सुरो बुद्ध्या सक्तः क्रुद्धोऽभवत्क्षणात् ॥१०॥
अवदत्स न कोऽप्येवमद्यावध्युक्तवान् मम ।
शिवस्त्वं मोहतश्चाय भवबन्धस्तवेति च ॥११॥
अहमज्ञोऽस्मि जीवश्च शिवो वै भगवान् प्रभुः ।
सर्वज्ञः सर्वविच्चैव कर्ता धर्ता च हारकः ॥१२॥

बहुविधि के तोर परजा लोग ( प्रजा—जनसंघ, वा संतति लोग ) हैं, तिसी कारण से मोर चित्त ढीठ है ( मेरा चित्त ढीठ हुआ है, और कहने के लिये साहस किया है। या तेरा चित्त ढीठ हुआ है और तू मोर २ करता है) शंकर ( शिवजी वा उनके उपासक जीव ) को उक्त कथन सुनकर कोह ( क्रोध ) हुआ इत्यादि ॥

सुर नर मुनि सब धरहिं ध्यान । तू बालक कछु कहै न जान ॥
हमरा बलकवक इहै ज्ञान । तोहरा को समुझावै आन ॥

यस्य ध्यानं सुराः सर्वे नराश्च मुनयस्तथा ।
कुर्वन्ति तं न वेत्सि त्वं बालो वक्तुं न वेत्सि च ॥१३॥

एतदप्यस्ति काश्याश्च प्राप्तेः कारणमुत्तमम्।
यद्यद्यावधि सत्यस्य ह्युपदेशमयातवान् ॥१४॥
श्रुत्वापि च क्रुधामेति मन्यते न हितं वचः।
यावदेतत्र तावद्धि संसारो विनिवर्तते ॥१५॥
तथाभूते न वक्तव्यमित्यप्यत्रोपदिश्यते।
दैवादुक्तौ च शान्त्यैव वर्तितव्यं तथाविधे ॥१६॥
बालस्य मम बोधो हि वर्तते तादृशः स्थिरः।
त्वां च बोधयितुं शक्तः कोऽन्यो लोकेऽपि विद्यते ॥१७॥
बोधो वा मम शिष्याणामीदृशो वर्तते सदा।
त्वां को बोधयितु शक्तो मां चेद्बालेति भाषसे ॥१८॥

सुरादि सब जिस शिव के ध्यान धरते हैं, उस शिव के विषय में बाल्बुद्धि तुम कुछ कहना नहीं जानते हो, यह क्रुद्ध शिव की उक्ति है। सद्गुरु का कहना है कि हमरा बल्कवक (बालकरूपधारी मेरा या हमारे शिष्यों) का इहै (पूर्ववर्णित ही) ज्ञान है इत्यादि ॥

जेहि जाहि मनसे रहल आय। जिवको मरण कहु कहाँ समाय ॥
ताकर जो कछु होय अकाज। ताहि दोष नहिं साहेब लाज ॥
हर हर्षित अस कहल भेव। जहँ हम तहँ दूसर न केव ॥

बोधाऽभावाद्य यो यत्र मनसा वर्तते जनः।
मृत्वा पुनः स तत्रैव स्वयमागत्य तिष्ठति ॥१९॥
आगत्यात्र च जातानां जीवानां मरणं पुनः।
अवश्यं भविता तच्च कथ्यतां कुत्र यास्यति ॥२०॥
विमुखानां हरेश्चैवं सद्गुरोस्तत्त्वदर्शिनः।
जायते यन्महत्कष्टं यातनाऽकार्यकर्म वा ॥२१॥

हानिस्तत्र हि दोषाणां तेषामेवास्ति हेतुता ।
प्रभौ गुरौ हरौ नैव मन्दाक्षमस्य विद्यते ॥२२॥
व्रीडा विषमताद्येः स्यात्ते न संति स्वयं प्रभौ ।
स्वस्वकर्मानुसारेण फलं चादन्ति जन्तवः ॥२३॥
एतच्छ्रुत्वा हरः कश्चिद्विषयाहरणे रतः ।
हर्षितः प्रोक्तवानित्थं स्वस्वरूपं सुदर्पितः ॥२४॥
यत्राहं तत्र कोन्योऽस्ति प्रभुर्वा गुरुरव्ययः ।
अहमेव करोमीदं यद्यदिच्छामि तत्खलु ॥२५॥
हर्षितो ज्ञानतो यद्वा स्वात्मनिष्ठो हरः स्वयम् ।
आत्मनि भेदज्ञातानां निषेध उक्तवानिति ॥२६॥

जेहि ( जो जीव ) मन से जाहि ( जिस ) में रहल ( रहे ) आत्मविचारादि नहीं किये, उनके मरण कहो कि कहाँ ( कैसे ) समाय (निवृत्त होय) इससे फिर आय (जन्म ले) कर अवश्य मरना होता है ॥ और जो कुछ उस जीव को अकाज ( हानि ) होता है, सो ताहि दोष ( उसीके दोष ) से होता है । उसमें साहब को लाज नहीं है । हर ( शिव या शिवभक्त ) अपना भेद ऐसा कहा कि जहाँ मैं हू तहाँ दूसरे किसीकी जरूरत नहीं है इत्यादि ॥

दिना चार मन धरहु धीर । जस देखहि तस कहहि कबीर ॥११॥

तस्मै गुरुरुवाचेत्थं धैर्यं कुरु चतुर्दिनम् ।
गर्वस्यापि फलं तूर्णं सगमिष्यति निश्चितम् ॥२७॥
नाहं शापं ददाम्येतन् मिथ्या नैव वदामि च ।
प्रपश्यामि यथा किन्तु तथा वच्मि हि तत्त्वतः ॥२८॥
यद्वा प्रोक्तोपदेशेन हर्षितो दोषनाशतः ।

रहस्यं प्रोक्तवान् कश्चिद्वरो भेदविवर्जितः ॥२९॥
मत्स्यरूपे भिदा नैव विद्यते वै कथञ्चन।
जिज्ञासुजनमुख्याय गुरुभिश्चात्र कथ्यते ॥३०॥
चत्वार्येव दिनान्यङ्ग धैर्यं मनसि धारय।
विवेकादिपरो नित्यं जीवन्मुक्तो भविष्यसि ॥३१॥
नाहं परोक्षवाद्यस्मि तत्त्वं पश्यामि यादृशम्।
तादृशं संवदाम्यत्र तत्त्वं जानीहि सुव्रत ॥३२॥१॥

दिना चार ( चार दिन ) धीर ( धैर्य ) धरो, तो सब भेद खुलेगा, मैं परोक्षवादी नहीं हू किन्तु जैसा देखता हू तैसा कहता हू। मिथ्या अभिमान का फल बुरा होता है, सर्वात्मभाव का फल उत्तम शान्ति होता है, यह ज्ञानी महात्माओं को प्रत्यक्ष है इत्यादि ॥

## वसन्त २.

घरहिं मे बावू बढलि रारि। उठिउठि लागै चपलि नारि ॥
एक बड़ि जाके पांच हाथ। पाँचहुं केर पचीस साथ ॥
पचीस बतावै औरऔर। और बतावै कैउ ठौर ॥

भो हंस ! प्रिय ! भेदात्त्वे विग्रहो विद्यते महान्।
अनिशं वर्द्धते चायं गृह एव कलेवरे ॥३३॥
उत्थायोत्थाय युद्ध्यन्ति मायाऽविद्यादिबुद्धयः।
परस्परं च संलग्ना दृश्यन्तेऽत्यन्तदुर्मदाः ॥३४॥
चञ्चलास्ताः स्त्रियो नित्यं कलहायन्ते परस्परम्।
लगन्तीव विमोहेन दृश्यन्ते त्वयि दुर्भगाः ॥३५॥
मायैका विद्यते ज्येष्ठा तस्या हस्तसमानि वै।
पञ्चभूतान्यविद्यायाः सर्वकार्यप्रसाधने ॥३६॥

तैश्च सार्द्धं सहाया वै भूतप्रकृतयः खलु ।
पञ्चविंशतिसंख्याकाः संति तृष्णादयस्तथा ॥३७॥
अन्यमन्यं हितं सौख्यं दर्शयन्ति जनान् हि ताः ।
दुर्मनीपादयश्चान्ये स्थानानि कतिधा खलु ॥३८॥
दर्शयन्ति सदा जीवान् कल्पितान्येव सर्वथा ।
न तस्यमेकमात्मानं सनातनमविक्रियम् ॥३९॥

हे बाबू ! ( प्यारे जीव ! ) घर ( देह ) में रारि ( झगड़ा युद्ध ) बढ़लि ( बढ़ा है ) चपलि ( चञ्चल ) माया आदिरूप नारी ऊठ२कर झगड़ा में लागै ( लगती है ) एक माया प्रकृति बड़ी है, जिसके पांचतत्त्व या अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश; ये पाच हाथ तुल्य या वश में हैं। और उन पाचों के पचीस प्रकृतियाँ साथी हैं। पाचों और२ अन्य२को सुखद बताती हैं। प्रकृति दुर्बुद्धि आदि किसी और को और किनने ठिकाने को बताती हैं इत्यादि ॥

अन्तर मंध्यें अन्त लेत । झकझोरि झेला जीवहिं देत ॥
आपन आपन चाहै भोग । कहु कस कुशल परीहैं योग ॥
विचार विवेक न करै कोय । (सब) खलक तमासा देखै लोय ॥

इत्थं यास्ताः स्त्रियो नित्यमन्तस्तिष्ठंति सर्वदा ।
तासां मध्ये तु यस्तिष्ठेत्तस्यान्तं ताः प्रकुर्वते ॥४०॥
स्वान्तमध्ये च ताः स्थित्वा संपदयन्त्यन्तरं सदा ।
संप्राप्य चान्तरं तूर्णं द्वन्द्वान्येताः प्रकुर्वते ॥४१॥
द्वन्द्वानि प्रविधायैवं कृत्वैवात्यन्तचञ्चलम् ।
कष्टं शोकं ददत्यस्मै मोहं द्वैविध्यव्यग्रताम् ॥४२॥

स्व स्वं भोगं च वाञ्छन्ति नात्मनो वै गतिं शुभाम्।
विवेकादि विना चात्र क्षेमयोगः कथं वद ॥४३॥
अहो केपि विवेकं च विचारं न प्रकुर्वते।
किन्तु सर्वे प्रपश्यंति जगतः कौतुकं महत् ॥४४॥
नारीणां कलहादेश्च विलोक्य कुतुकं जनाः।
सुखं मत्वाऽत्र तिष्ठन्ति यतन्ते नैव मुक्तये ॥४५॥

अन्तर ( भीतर ) रहनेवाली स्त्रियों के मध्ये ( मध्य में ) रहनेवालों के ये स्त्रियाँ अन्त ( भेद ) लेती रहती हैं। और झकझोरि ( चञ्चल खैंचतान ) करके जीवों के प्रति झेला ( संसारझूलना कष्ट ) देती हैं॥ सब अपनार भोग चाहती हैं। कहु ( कहो ) कि इस अवस्था में कस ( कैसे ) कुशल का योग ( संयोग ) परी है ( प्राप्त होंगे )। विवेकादि कोई नहीं करते हैं। किन्तु खलक ( संसार ) के तमासा सब लोग देखते हैं इत्यादि ॥

मुख फारि हंसे रावरंक। (ताते) धरे न पावै एको अंक ॥
नियर न खोज बतावै दूरि। चहुंदिशि बागुर रहल पूरि ॥

दृष्ट्वापि कलहं द्वन्द्वं सुखं मत्वा नरा इमे।
मुखं व्यादाय सर्वेऽपि हसंति नृपदुर्गताः ॥४६॥
तस्मादेकं हृदिस्थं सद्धर्तुं शक्ता भवंति ते।
वञ्चिताश्चैव धावंति संसारेषु कुवर्त्मसु ॥४७॥
एकामपि स्त्रियं यद्वा किञ्चिदेकं सुलक्षणम्।
वशीकर्तुं नचार्हन्ति नैकं देवं कथञ्चन ॥४८॥
मार्गयंति समीपे नो दूरे संदर्शयंति च।
स्वामिनं च सुखं तदर्थं वागुरा यत्र वर्तते ॥४९॥

मनोमृगस्य बन्धाय जीवस्यापि च सर्वतः ।
चतुर्षु दिक्षु पूर्णा सा मोहमारादिलक्षणा ॥५०॥
स्त्रीवित्तादिस्वरूपा या वागुरा साऽतिविस्तृता ।
जीवमृगस्य बन्धाय कुशलः कोपि मुच्यते ॥५१॥

राजा रंक सब तमासा से मुख फारकर हंसते हैं। इससे एक को भी अंक ( गोद ) में धरने नहीं पाते हैं। नियरे ( पास में ) तत्त्व मोक्ष को नहीं खोजते हैं, किन्तु दूर देश में बताते हैं। जहाँ चारों तरफ वागुरा ( काममोहादिरूप जाल ) पूर्ण व्याप्त हो रहा है इत्यादि ॥

लक्ष अहेरी एक जीव। ताते पुकारै पीव पीव ॥
अब कि बार जो करै चुकाव। कहहिं कबिर ताकि पूरि दाव ॥२॥

मनसो वृत्तयो दुष्टाः कामाद्याश्चेन्द्रियादयः ।
लक्षमाखेटकारा वै जीवश्चैको मृगोऽबलः ॥५२॥
तस्मात्स्वस्य सहायार्थमाह्वयेच्चेत्प्रभो प्रभो ।
तावता नास्य मोक्षो वै विद्यते कामशत्रुतः ॥५३॥
तस्मात्स्वस्य विचारादि कर्तव्यं वै मुमुक्षुभिः ।
अभ्यासादिपरो भूत्वा ज्ञानं प्राप्य सुदुर्लभम् ॥५४॥
विरक्तः शमनिष्ठश्च वासनामखिलां त्यजेत् ।
अत्र जन्मनि यो धीरः कर्मबन्धं विलापयेत् ॥५५॥
निःशेषं नाशयेन्मोहमविद्याकामपञ्जरम् ।
तस्यैवात्र जयं पूर्णं कबीरो भाषते गुरुः ॥५६॥
उपरत्या तथा भक्त्या विरक्त्याऽहरहस्तथा ।
परां पुष्णाति संशांतिं मुक्तिस्त्वनुभवेन हि ॥५७॥
सर्वभूतेषु संपश्यन् ब्रह्मत्वं वै निजात्मनः ।
भूतान्यात्मनि चापश्यन् विरक्तः पुरुषोत्तमः ॥५८॥

चतुर्थीं भूमिकां प्राप्य जीवन्मुक्तो भवत्यलम्।
अवस्थायाः समुत्कर्षादानन्दो व्यज्यते किल ॥५९-२॥

लक्ष ( लाखों ) काम तृष्णादादि, अहेरी ( शिकारी ) हैं, इससे भयभीत जीव पीवर पुकारते हैं। इस मानवतन में जो कामादि के चुकाव (समाप्ति नाश) करे, उसीकी पूर्ण दाव (बाजी जीत) है ॥२॥

## वसन्त ३.

राम नाम भजु लागु तीर । ऐसो दुर्लभ जात शरीर ॥
गयउ वेणु बलि गयउ कंस । गौ दुर्योधन बूड़ेउ वंश ॥
पृथु गये पृथिवी के राव । गये त्रिविक्रम रहा न काव ॥
छौ चकवे मण्डलि केझारि । अजहू हो नल देखु विचारि ॥

भजतां रामनामानं संसाराब्धेः परं तटम्।
क्षिप्रमाश्रयतामीदृग् देहो याति सुदुर्लभः ॥६०॥
गृहनारीप्रपञ्चे वा वाह्यवित्तादिसंहृतौ।
क्वापि नैव मनो देयं सर्वं त्यक्त्वैव यास्यसि ॥६१॥
गतो वेणुर्बलिः कंसो वंशो दुर्योधनस्य च।
पृथिव्या ईश्वरः सर्वं त्यक्त्वा चैवागमत्पृथुः ॥६२॥
गतस्त्रिविक्रमो देवो न चिरं कोऽप्यविद्यत।
सुरा वा ह्यसुरा मर्त्या राजानो दुर्गतास्तथा ॥६३॥
सार्वभौमा गताः पदं ते सर्वे वै मण्डलेश्वराः।
अद्याप्येतद्विचारेण द्रुतं पश्यन्तु मानवाः ॥६४॥

रामनामवाला को भजो, और इसी जन्म में ससाराब्धि के तीर ( किनारे ) लगो। यह ऐसा ( सुन्दर अमूल्य ) दुर्लभ शरीर जा रहा

है ॥ वेणु आदि गये, कोई यहाँ रहने नहीं पाये फिर अन्य कौन रहेगा। त्रिविक्रम ( तीनों लोक में विशेष गमनकर्ता वामन भगवान् ) द्वारि ( सब ) मण्डलि के छौ चक्रवर्ती राजा गये, सो अब भी विचार कर देखो ॥

हनुमत कश्यप जनक बालि । ई सब छेंकल यम के द्वारि ॥
गोपीचन्द भल कीन्ह योग । (जस) रावण मारे करत भोग ॥
ऐसो जात सबन को जान । कहहिं कबीर भजु रामनाम ॥३॥

हनूमान् कश्यपश्चैव जनको वालिरेव च ।
यमद्वारस्य चैतेऽपि ह्यागन्तुत्वं समाप्नुवन् ॥६५॥
यमद्वारेऽगमंश्चैते निरुद्धो मृत्युनाऽभवन् ।
तदाऽन्येषां कथा काऽस्ति देहिनां मृत्युसंभवे ॥६६॥
यद्वा रामस्य भक्त्यैते ज्ञानं प्राप्य सुदुर्लभम् ।
यमद्वाराण्यरुन्धन् वै लेभिरे राममुत्तमाः ॥६७॥
गोपीचन्द्रश्चकारैवं योगं परमपावनम् ।
यमद्वार्यगमत्सो वा यमद्वारं ह्यरुन्धत ॥६८॥
भोगासक्तं विमूढं तं रावणं न्यवधीत् प्रभुः ।
रामचन्द्रस्तथैवान्यान् गच्छतो विद्धि वै जनान् ॥६९॥
सर्वानेवं विदित्वा च भोगासक्त्यादिकं त्यज ।
भजस्व रामनामानं कबीरो भाषते गुरुः ॥७०-३॥

इति वसन्तवल्लरौ जीवसंसृतिप्रकारवर्णनं प्रथमं पुष्पम् ॥१॥

हनुमानादि भी यमद्वार को छेंकिन ( मृत्युद्वार पर प्राप्त हुए ) या रामभजन से यम के द्वार ( मार्ग ) को रोक दिया। गोपीचन्द ने भी भला योग किया कि जिससे यमद्वार को रोका। और जैसे भोग करते

में रावण मारा गया, अन्य सब लोगों को ऐसेही जाते ( मरते ) जानकर रामनाम को भजो यह सद्गुरु कबीर का कहना है ॥३॥

## वसन्त ४, गर्वमोहमहत्त्ववर्णन प्र. २.

सबहिं मद मांते कोइ न जाग । संगहिं चोर घर मूसन लाग ॥
पण्डित मांते पढ़ि पुराण । योगी मांते योग ध्यान ॥

अहो सर्वेऽत्र गर्वेण मत्ताः सुप्ताश्च जन्तवः ।
रामभक्त्या विवेकाद्यैः कोपि जागर्ति नो कुधीः ॥१॥
यावज्जाग्रति नैते हि कामाद्यास्तावदत्र तु ।
गृहे मुष्णन्ति सर्वेस्वं स्तेनाः सर्वे सहासनाः ॥२॥
पुराणानि पठित्वैव मत्तो भवति पण्डितः * ।
वेदा यत्रापरास्तत्र पुराणं किं न वेत्ति सः ॥३॥
× योगी योगस्य युक्त्या च ध्यानाद्यैश्च प्रमाद्यति ।
सिद्धयो योगविघ्नास्तान् न तथा वेद कर्हिचित् ॥४॥

जबतक सर्वात्मा राम की भक्ति ज्ञाननिष्ठ नहीं हुए, तबतक सब लोग मद ( गर्व ) से माते, भक्ति ज्ञाननिष्ठा विना कोई भी जाग नहीं सके ( मोह गर्व को नहीं त्यागे ) फिर साथही में रहनेवाले कामादि चोर घर ( देह ) के आनन्दादि को मूसने ( चोराने ) लगे हैं ॥

---

* अत्र पण्डितशब्देन बुद्धिमत्त्वाद्यभिमानवन्त एव गृह्यन्ते, नतु, पाण्डित्य निर्विद्यबाल्येन तिष्ठासेदिति श्रुतिप्रोक्ता आत्मविषयबुद्धिमन्तस्तत्राभिमानाऽसम्भवात् । पण्डाऽऽत्मविषया बुद्धिर्जाता येषा ते पण्डिताः ॥

× योगिशब्देनानात्मज्ञा एव गृह्यते नतु ज्ञानयोगसांख्यबुद्धियुक्ताः स्थितप्रज्ञा उक्तहेतोरेव ॥

सूक्ष्मबुद्धित्वादि के अभिमानी पण्डित पुराण पढ़कर माते हैं, योगीलोग योगध्यान में मस्त हैं इत्यादि ॥

तपसी मांते तप के भेव । संन्यासी मांते करि हमेव ॥
मोलना मांते पढ़ि मोसाफ । काजी मांते देइ निसाफ ॥

तपस्वी तपसो भेदज्ञानेनैव प्रगर्वितः ।
सकामतपसस्तुच्छं फलं नैव च वेत्ति सः ॥५॥
वर्णाश्रमाभिमानेन ह्यहंयुश्चाविवेकवान् ।
+ संन्यास्यप्यभवन् मत्तो वेपं बन्धं न वेत्ति सः ॥६॥
मौलवीति प्रसिद्धो यस्तुरुष्कः सोऽप्यधीत्य च ।
मुसाफं स्वकुराणादि मत्तो मृत्युं न पश्यति ॥७॥
काजीति च प्रसिद्धो यो न्यायं स्वस्य प्रदर्श्य सः ।
मत्तः पण्डितमानी सन् नात्मतत्त्वं प्रपश्यति ॥८॥

तपस्वी लोग तप के भेद का ज्ञान से माते रहते हैं । और हमेव ( अहंकार ) से संन्यासी माते हैं । मोलना ( मोलवी ) मोसाफ पढ़कर मातते हैं, काजी ( पंडित ) निसाफ ( फैसला–न्याय–व्यवस्था ) देकर माते रहते हैं ॥

संसारी मांते मायक धार । राजा मांते करि हंकार ॥
मांते शुक उद्धव अक्रूर । हनुमत मँाते धरि लंगूर ॥

सर्वे संसारिणोऽप्यन्ये वधूपुत्रादिलक्षणे ।
मायानद्याः प्रवाहेऽत्र खरे मत्ता भयावहे ॥९॥

---

+ संन्यासिशब्देन तामसराजससत्यागवन्तो गीतायां १८।७–८ प्रोक्ता एव गृह्यन्ते, येषु मोहादयः संभवन्ति, न तु गुणातीताः सर्वकर्माभिमानादित्यागवन्तो ज्ञानिनो निरभिमाना विमत्सरा विविदिषवो वेति मन्तव्यम् ॥

अहंकारेण राजानः सर्वे मत्ताः प्रमेनिरे ।
वयमेव वरा नान्ये नात्मानं धर्ममेव वा ॥१०॥
असंसारी शुकश्चैवं ज्ञानमत्तो बभूव ह ।
उद्धवोऽक्रूरभक्तश्च ज्ञानभक्तिरसैः सदा ॥११॥
हनूमान् पुच्छसामर्थ्यात्तं धृत्वा प्रामदद्बलात् ।
असुराञ्छातयँल्लोके रामभक्तिं चकार ह ॥१२॥

साधारण संसारी लोग माया के धार ( प्रवाह ) में माते रहते हैं। राजा लोग अहंकार करके मातते हैं ॥ असंसारी शुकदेवादि भी ज्ञानभक्ति आदि में माते रहते हैं इत्यादि ॥ शुकादि,में अभ्युपगमवाद से मदादि का वर्णन है ॥ सो भी मद के प्राबल्य प्रदर्शनार्थ है ॥

शिव मांते हरिचरण सेय । कलि मांते नामा जयदेव ॥

हरेर्हि पादसेवायां शिवो मत्तो बभूव ह ।
नामदेवो कलौ मत्तो जयदेवोऽप्यभूत्तथा ॥१३॥
मदमत्तो हि संसारी ज्ञानमत्तो विमुक्तधीः ।
भक्तियोगप्रमत्तस्तु सदानन्दं समश्नुते ॥१४॥
यद्वाऽभ्युपगमेनात्र परं वादेन कथ्यते ।
शुकदेवादिमत्तत्वं मायिके वस्तुविग्रहे ॥१५॥
" स चोवाच प्रियारूपं लब्धवन्तं शुकं हरिः ।
त्वं मे प्रियतमा भद्रे सदा तिष्ठ ममान्तिकम् " ॥१६॥
इत्यादिषु पुराणेषु शुकादीनां हरेः किल ।
स्त्रीत्वं संवर्णयन्त्येव कल्पन्ये मतवादिनः ॥१७॥
अनयैव दिशा ज्ञेया हनुमत्कश्यपादिषु ।
यमद्वारेषु बद्धत्वं गोपीचन्द्रे तथैव च ॥१८॥

आत्मनोऽन्यत्र ये सक्तास्ते सर्वे यमसद्मनि ।
बध्यन्ते नात्र संदेहः स्वसिद्धान्तस्तथा नहि ॥१९॥

शिवजी हरि के चरणों को सेवकर मस्त रहे। कलियुग में नामदेव भक्त और जयदेव कवि हरिचरण सेवकर मस्त हुए ॥

सत्य सत्य कहै स्मृति वेद । (जस) रावण मारे घर के भेद ॥
चञ्चल मन के अधम काम । कहहिं कबिर भजु रामनाम ॥४॥

वेदा वा स्मृतयश्चैव सत्यमेव वदन्ति तत् ।
रावणो गृहभेदेन यथा नष्टस्तथा जनाः ॥२०॥
देहगेहस्य भेदेन मनोऽनैकाग्र्यतस्तथा ।
नश्यन्ति मोहकामाद्यैः कार्याऽकार्याविवेकतः ॥२१॥
मनसश्चञ्चलस्यास्य कार्यं गर्ह्यं हि विद्यते ।
तच्छान्त्यै भज रामं त्वं सद्गुरुराह सज्जनम् ॥२२॥
सर्वात्मानं परं रामं भजन् योगी ह्यनन्यधीः ।
अहंकारादिसंशून्यो जीवन्मुक्तो हि जायते ॥२३॥
आत्मानंदे स्थितो योगी ह्यर्थाननुभवन्नपि ।
न हृष्यति नच द्वेष्टि मायात्वं प्रविचारयन् ॥२४॥
यस्य स्वः पर इत्येवं भेदो न हृदि वर्तते ।
देहादौ सति शान्तात्मा स्मृतः स पुरुषोत्तमः ॥२५॥
सर्वस्मै विभवायापि यो नात्मानं क्षणं त्यजेत् ।
सर्वभूतसमः शान्तः सर्वमुख्यः स अग्रणीः ॥२६-४॥

स्मृति और वेद यह बात सत्यही कहते हैं कि जैसे रावण घर के भेद ( फूट ) से मारा गया। तैसे सब प्राणी अपनेर घर के भेद ( देहमन की चञ्चलता ) से मारे जाते हैं। क्यों कि चञ्चल मन के

अधम (हीन) काम होते हैं। उस चञ्चलता की निवृत्ति के लिये रामनाम भजो यह सद्गुरु का उपदेश है ॥४॥

## वसन्त ९.

हमरा कहल के नहिं पतियार। आपु बुड़े नल सलिल धार ॥
अन्ध कहे अन्धे पतियाय। जस वेश्या के लगन जाय ॥
सो तो कहिये ऐसो अबूझ। खसम ठाढ़ ढिग नाहिं सूझ ॥

मनसा गेहदाज्याद्यैः पुमांसो ये पराजिताः।
अस्माकं भाषिते तेषां विश्वासो नैव जायते ॥२७॥
गुरूणां वचनेऽप्रीत्या ते स्वकीयापराधतः।
निमज्जन्ति स्वयं मूढा मोहादिसलिलार्णवे ॥२८॥
मोहान्धजल्पितेष्वेव ते विश्वासं च कुर्वते।
तेन वेश्येव जायन्ते संलग्ना वै कुवर्त्मसु ॥२९॥
वेश्यालग्नस्य चिन्तेव तेषां संलग्नचिन्तनम्।
जायतेऽसद्विवाहार्थं तटस्थैः पतिभिः सह ॥३०॥
अहो तेऽतिविमूढाश्च कथ्यन्तेऽन्धसमा नराः।
स्थितं स्वसविधे सत्यं पतिं पश्यन्ति नो यतः ॥३१॥

चञ्चल मन के वशवर्ती मनुष्य हमारा (सद्गुरु) का कहल के पतियार (प्रतीति–विश्वास) नहीं करता है। इससे आप मोहसलिल के धार में बूड़ता है। मोहान्ध के कहे में मोहान्ध विश्वास करता है। इससे जैसे वेश्या की लगन धरी जाय, तैसे इसकी लगन धरी जाती है। अर्थात् असत्पति में आसक्त वेश्या की तरह यह स्वयं असत् में आसक्त है, फिर भी किसी असत् के साथ विवाह के लिये

लगन शोची जाती है। सो तो ( मोहान्ध तो ) ऐसो ( वेश्या अन्ध के तुल्यही ) अबूझ ( अविवेकी अज्ञ ) कहिये ( कहने योग्य ) है कि जिससे इसके पास में सदाही सचा ससम ठाढ ( वर्तमान ) है सो इसको सूझ नहीं पड़ता है ॥

आपन आपन चाहै मान। झूठ प्रपञ्च सांच कै मान ॥
झूठा कबहुं न करिहैं काज। मैं बरजौ तैं सुनु निलाज ॥
छाड़हु पाखण्ड मानहु बात। नहिं तो परि हौ यमके हाथ ॥
कहहिं कबिर नल कियो न खोज। भटकि मुये जस वन के रोझ ॥५॥

> ज्ञानं विनैव मोहान्धः स्वं स्वं मानं प्रतीक्षते ।
> मिथ्याभूतं प्रपञ्चं च मन्यते सत्यमेव सः ॥३२॥
> मिथ्याभाषी गुरुर्नैव सत्कार्यं ते कदाचन ।
> करिष्यति हि निर्लज्ज ! ततस्त्वां वारयाम्यहम् ॥३३॥
> पाषण्डं त्यज्यतां सद्यो मन्यतां सद्गुरोर्वचः ।
> अन्यथा यमहस्ते त्वं विवशः संगमिष्यसि ॥३४॥
> गुरूणां शरणे गत्वा यैस्तत्त्वं न विमार्गितम् ।
> गुरोश्चान्वेषणं यैर्वा कृतं नैव समादरात् ॥३५॥
> स्थितेः स्थानं ह्यलब्ध्वा ते कामकर्मवशानुगाः ।
> आरण्यमृगवद् भ्रान्त्वा मुहुर्नेशुः कुबुद्धयः ॥३६-५॥

अविवेकी गुरु लोग अपना२ मान चाहते हैं। और झूठ प्रपञ्च को ही सत्य समझते हैं। हे निर्लज्ज ! वह झूठा तेरा काज कभी नहीं करेगा, इसलिये मैं बरजता हूं कि झूठों से बचो। और इस बात को ध्यान देकर सुनो, और बात मानो पाखण्ड त्यागो, नहीं तो यम के वश में पड़ोगे। जिन लोगों ने सद्गुरु के उपदेश को नहीं माना न खोज

(विचारादि) किया, ये लोग वन के रोझ (पशुविशेष) की नाईं भटककर मरे ॥५॥

## वसन्त ६.

बुढ़ि हंसि बोले मैं नितहिं बारि।
मोहि अस तरुणि कहु कौनि नारि॥
दात गयल मोर पान खात।
केश गयल मोर गंग नहात॥

यस्या वै पुटभेदेषु परिवाहेषु जन्तवः।
ब्रुडन्त्यनवधानेन वृद्धयाऽनादिशाम्बरी ॥३७॥
सा ब्रवीति हसित्वेवं वयस्थास्मि सदा ह्यहम्।
मारणे तारणे शक्ता भोग्यभोगादिसिद्धिषु ॥३८॥
नागवल्लीदलं यद्वत् खादन्त्या राजसान् नरान्।
दन्ता मे विगताः कालाद्यात्मकाः क्षणभंगुराः ॥३९॥
तमोगुणात्मकाः केशा नष्टाः प्रलयकालिकाः।
स्नानेन कार्यगंगायां रजः स्वरप्रवृत्तितः ॥४०॥
यद्वा विज्ञानसंस्वादात्कामक्रोधादिलक्षणाः।
दन्ता नष्टाश्च सत्कर्म गंगायां स्नानमात्रतः॥
तम:केशा निवृत्ता मे भवन्ति हि जनाश्रिना. ॥४१॥

बुढ़ि (वृद्धा अनादि माया) हंसकर कहती है कि मैं नितहिं (सदा) बारि (युवती) हूं। मोहि अस (मेरे समान) तरुणी कौन नारी है सो कोई कहो॥ दात (क्षणभंगुर कालादि) पान (राजसी) के खाने में गये और जाते हैं। केश (प्रलयकालिक तमोगुण) गंगा (कार्यब्रह्म) के सम्बन्ध से गया है॥

नयन गेल मोर कज्जल देत। वयस गेल परपुरुष लेत ॥
जान पुरुषवा मोर अहार। अनजाने का करौं सिंगार ॥

नमःकज्जलदानेनाऽकर्माञ्जनसमर्पणात् ।
दृक्शक्तिर्नयनं नष्टं रजो नष्टं शमादितः ॥४२॥
वयश्च मे गतं यावद्नात्मपतिसेवनात् ।
यद्वा नश्यति तारुण्यं मायाया बन्धकारकम् ॥४३॥
परस्य पुरुषस्यात्र नामध्यानादियोगतः ।
ज्ञानात्तु सर्वथा सैव नष्टा भवति शाम्बरी ॥४४॥
अज्ञाः कापुरुषाः सर्वे ममाहारं विदन्ति वै ।
न विदन्ति तु ये केचित्तेभ्यस्तद्बोधनाय च ॥४५॥
सुशृङ्गारं करोम्येतं त्रिगुणैर्विश्वमण्डले ।
यद्वा तैः पुरुषैरज्ञैः स्वशृङ्गारं करोम्यहम् ॥४६॥
विज्ञाः विरयिणः किञ्च ममाहाराः सदैव हि ।
पामरार्थस्तु श्रृङ्गारः सर्वोऽपि मम विद्यते ॥४७॥

नयन ( पुरुषाश्रित सात्त्विकाश-ज्ञानशक्ति ) कजल (तामस प्रवृत्ति) देने से गया। वयस ( अवस्था ) परपुरुष ( भिन्न पुरुष-या श्रेष्ठ पुरुष ) के आश्रय लेते ही गया। पुरुषवा ( कुपुरुष ) तो मोरे ( माया के ) ही आहार को जानते हैं। और आहार देकर मेरी सेवा करते हैं। अनजानों को जनाने के लिये मैं अपना शृङ्गार करती हूं इत्यादि ॥

कहहिं कबिर वुढ़ि आनंद गाय। पूत भतारहिं बैठी खाय ॥६॥

इयं मायाऽतिवृद्धापि स्वर्गादौ विषयादिषु ।
सत्यानन्दं प्रगायैव पवित्रं स्वपतिं प्रभुम् ॥४८॥

खादित्वैवात्र तिष्ठन्ती लक्ष्यते सा विवेकिभिः ।
अज्ञः प्रलोभितः सम्यक्तया नश्यति मोहतः ॥४९॥
यद्वा कुगुरवो वृद्धाः स्वपतिप्राप्तिहेतवे ।
तारुण्यं दर्शयन्त्येव त्वन्यत्र कारणानि च ॥५०॥
अस्माकं पुरुषो वेत्ति ह्याहारं सर्वमुत्तमम् ।
अज्ञेयपुरुषस्यार्थे श्रृङ्गारः क्रियतां किमु ॥५१॥
अज्ञातः पुरुषो यश्च निर्विशेषः सदा समः ।
स करिष्यति किं भद्रमित्येवं ते ब्रुवंति हि ॥५२॥
स्वर्गे प्रगाय चानन्दं पुत्रं शिष्यं पतिं तथा ।
सत्ताप्रदं परं शुद्धं खादित्वैव च तेन ते ॥
तिष्ठन्तीति गुरुः प्राहः कबीरः करुणानिधिः ॥५३-६॥

इति वसन्तवक्तर्यां गर्वमोहमहत्वाख्यं द्वितिय पुष्पम् ॥२॥

आनद गायकर ( बताकर ) पूत भतारहिं ( पवित्र पति को, पुत्र और पति को ) वह बुढ़िया खाय बैठी (खाय लिया) इत्यादि ॥६॥

इति गर्व मोह महत्त्व वर्णन प्रकरण ॥२॥

## वसन्त ७, अद्भुत नारीवर्णन प्र. ३.

हुम बूझहु पण्डित कौनि नारि । काहु न व्याहल ह कुमारि ॥
सब देवतन मिलि हरिहिं दीन्ह । चारिहुं युग हरि संग लीन्ह ॥
प्रथमे पद्मिनी रूप आय । है साँपिनी जग खेदि खाय ॥

बुध्यध्वं पण्डितास्तावत् का सा नार्यत्र विद्यते ।
यां न कोप्यूढवाँल्लोके ह्यद्यावध्यविवेकवान् ॥१॥

कुमारी वर्तते या च चितिपतुर्ह्यन्तिके सदा ।
असङ्गश्च पिता नास्या विवाहायापि बुध्यते ॥२॥
देवाः सर्वे मिलित्वा तां हरये वै ददुर्यदा ।
एनां चतुर्युगे पार्श्वे तदा हरिरपालयत् ॥३॥
अमन्यत स्वभार्यां तां सदैव वशवर्तिनीम् ।
सन्निधौ वर्तमानापि सा च नैवममन्यत ॥४॥
आदौ सा पद्मिनी भूत्वा संसारेष्वागना पुनः ।
भूत्वैव सर्पिणी सर्वान् धावित्वेनात्ति सर्वदा ॥५॥

बूझहु ( समझो ) कि यह कौन नारी है कि जिसे किसीने ब्याहा नहीं है, इससे वह सदा कुमारी है। सब देवता लोगों ने मिलकर उसे हरि ( विष्णु भगवान् ) के प्रति दान किया। हरि भी चारों युग में उसे साथ लिये रहे। परन्तु वह तो प्रथम पद्मिनी ( सुखदा ) रूप से संसार में आकर फिर सापिनी ( क्रूरा ) होकर जगत् को खदेड़कर खाती है ॥

यह वर युवती वै वर नाह। अति रे तेज तिय रैनि ताह ॥
कहहिं कबिर यह जगत पियारि। अपन बलकवहिं रहल मारि ॥७॥

श्रेष्ठेयं युवती भाति विष्णुः श्रेष्ठः पतिः स च ।
अज्ञानमोहरात्रौ च तस्यास्तेजोऽतिवर्द्धते ॥६॥
अहो जगत्प्रिया चैषा सर्वेषां मातृवत्तथा ।
विमोह्य विविधैर्जालैः स्वस्या एव तु बालकान् ॥७॥
मारयन्त्यत्र तिष्ठन्ती खादन्ती सर्पिणीव च ।
वर्तते तां बुधा वित्त यतध्वं च विमुक्तये ॥८॥
आदौ सा सुखदा भूत्वा पश्चाद्दुःखकरी सदा ।
तदा त्यक्तुं समिच्छद्भिस्त्यक्तुं शक्या भवेन्नहि ॥९॥

अतो यतध्वं हि सदा स्वमुक्तये, वाल्याद् भजध्वं हरिमात्मशुद्धये ।
त्यक्त्वैव मायां ममतां सुदूरे, हिंसां च दंभं कपटं न कुर्वताम्॥१०॥७॥

यह पद्मिनी माया वर ( श्रेष्ठ ) युवती है, और वे ( विष्णु ) वर नाह ( श्रेष्ठ स्वामी ) हैं। परन्तु उस तिय ( युवति स्त्री ) और ताह ( तिस ) विष्णु के रैनि ( अज्ञान रात्रि ) में ही अत्यन्त तेज रहता है, ज्ञानावस्था में स्वयज्योति एक ही सर्वात्मा राम रहता है इत्यादि ॥७॥

## वसन्त ८.

कर पल्लव केवल खेलै नारि। पण्डित होय सो करै विचारि॥
कपरा न पहिरै रहै उघारि। निर्जिव सो धनि अति पियारि॥

नार्येव केवला सर्वं कृत्वा विस्तारमद्भुतम् ।
खेलायति हि तां कोपि पण्डितश्चिन्तितुं क्षमः ॥११॥
योऽस्ति वै पण्डितस्तस्या विचारं स करोतु च ।
साक्षिमात्रोऽत्र देवोऽस्ति माययैव करोति च ॥१२॥
तथैव विदुषामेषा करपत्रदलेन च ।
पदवाक्यादिरूपेण माया नृत्यति सर्वदा ॥१३॥
विद्यापटं न धत्ते सा तां दृष्ट्वैव विलीयते ।
तां विना तु सदैवैषा विवृता वर्ततेऽसती ॥१४॥
आवृणोति परं देवं स्वयं सैव निरञ्जनम् ।
निर्जीवा च जडा सैव भवति प्रेयसी जने ॥१५॥
निर्जीवधनधान्येभ्यः सजीवस्त्रीस्वरूपिणी ।
अतिप्रियतमा लोके विद्यते साऽविवेकिनाम् ॥१६॥

केवल नारी ( माया ) पल्लव ( विस्तार ) करके खेलती है । जे पण्डित ( विद्वान् ) होय, सो विचार करे । विद्यारूप कपड़ा वह नहीं पहनती है । न चेतन ईश्वररूप वस्त्र से वह ढपती है, इससे सदा उघार रहती है । और निर्जीव ( जड ) भी सो मायारूप धनी ( स्त्री लोगों को अति प्यारी लगती है, या निर्जीव माया से सजीव स्त्रीमाय अति प्यारी लगती है इत्यादि ॥

उलटी पलटी बाजू तार । काहू मारै काहु उबार ॥
कहै कबिर दासन के दास । काहू सुख दे काहु उदास ॥८।

मितवर्णस्वरूपा च पौर्वापर्यविभेदतः ।
भूत्वाऽनन्तात्मिका सैव तार शब्दायते मुहुः ॥१७॥
प्राणापानादिरूपेण दिनमासादिरूपतः ।
भूतभौतिकरूपेण चित्तत्त्वे च समाश्रिता ॥१८॥
कञ्चिन्मारयते मूढमविद्यावपुषा हि सा ।
विज्ञं तारयते सैव सत्त्वविद्यास्वरूपिणी ॥१९॥
दासदासा वदन्त्येवं सा निहंति न कञ्चन ।
सौख्यं दत्ते हि कस्मैचिद्दौदासन्यं तु कस्यचित् ॥२०॥
भुञ्जते हि फल सर्वे कर्मणो मृत्युभागिनः ।
कर्म मायात्मकं तच्चेद्भवतु तच्च धार्यते ॥२१-८॥

इति वसन्तपल्लवावद्भुतनारीवर्णन तृतीय पुष्पम् ॥३॥

।और परिमित वर्णादिरूप भी माया उलट पलट कर अन- पदवाक्यादिरूपों से तार ( जोर से ) बाजती है । और उन रूपोंद्वा किसीको मारती है किसीको उबारती है ॥ दासों के दास कबीर क

हैं कि वह किसीको भी मारती नहीं है किन्तु किसीको लोरही ,में सुख देती है। किसीको उदासीन (विरक्त ब्रह्मनिष्ठ) करके मुक्त करती है ॥८॥

इति अद्‌भुत नारी वर्णन प्रकरण ॥३॥

## वसन्त ९, अद्भुत मानव चरित्र वर्णन प्र. ४.

मायि मोर मनुवा अति सुजान। धान कूटि कूटि करै विहान ॥
बड़े भोर उठि आंगन बाढ़ि। बड़े खॉच लै गोबर काढि ॥

सद्गुरोः प्रियभक्ता ये मायां कृत्वा वशे स्थिताः।
विवेकेन विरागार्थविचारेण निरन्तरम् ॥१॥
अतिनिष्ठा हि ते धीरा मायाजालनिकर्तने।
कुर्वन्ति दुष्करं सर्वं लभन्ते दुर्लभं पदम् ॥२॥
सत्याऽनृताऽविवेकात्मव्रीहीन् घ्नन्ति विवेकतः ।
तद्व्यापारेण मोहान्धरात्रिं विगमयन्ति ते ॥३॥
उत्थाय चातिकल्ये से ह्युपरत्या समन्ततः।
वैराग्यशोधिनी नीत्वा शोधयंति हृदाजिरम् ॥४॥
रागाद्यवकरं कृत्वा दूरे ते हि विवेकतः ।
विशालमतिपात्रेण कुमंशावासनादिकम् ॥
नयन्ते गोविषं दूरे सदाऽभ्यासादितत्पराः ॥५॥

सद्गुरु का ,कहना है कि मायी (माया को जीतनेवाला) मोर मनुवा (मेरा शिष्य भक्त) अत्यन्त सुजान है, वह धान (अविवेक सत्यानृत) को कूट२ कर (विविक्त भिन्न समझकर) विहान (सुप्रकाश) करता है। मोहान्ध रात्रि को नष्ट करता है॥ बड़े भोर (प्रथम

विवेक ) काल में उठि ( उपरत हो ) कर वैराग्यरूप झाड़ू से अपने हृदय को बुहारकर साफ करता है। और बड़े खाचतुल्य श्रेष्ठ विचारादि से आशातृष्णादिरूप गोबरों को शरीरगृह से काढ़कर बाहर नष्ट करता है इत्यादि ॥

बासी भात मनुष ले खाय। बड़े बैल ले पनियक जाय ॥
अपना सयाँ के बांधो पाट। लैरे बेचो हाटे हाट ॥

भक्तं पर्युषितं यच्च प्रारब्धकर्मलक्षणम् ।
भुञ्जते तद्धि हर्षेण भुक्त्वैव क्षपयंति च ॥६॥
शमादिशालिसद्बुद्धिघटमादाय यत्नतः ।
विज्ञानवारिलाभार्थं यांति ते गुरुसन्निधौ ॥७॥
तत्र कुर्वन्ति विनयं ज्ञानं मे दीयतां प्रभो ।
स्वामिनो मे निजस्यैव नित्यस्यापरिणामिनः ॥८॥
हृत्पटे तद्धि संस्थाप्य बध्वा च प्रेमबन्धनैः ।
रक्षिष्यामि सदा देव ! दीयतां दीयतामिति ॥९॥
सच्छिष्येभ्यस्तु दत्त्वैव ज्ञानं विज्ञानसंयुतम् ।
गुरवः शिक्षयन्त्येवं रे मद्भक्ता इदं शुभम् ॥१०॥
जिज्ञासुजनहट्टेषु विक्रेतव्यं सदा खलु ।
भक्त्यादिमूल्यमादाय देयं योग्याय नान्यथा ॥११॥

बासी भात ( प्रारब्ध कर्मादि ) को वह ले खाय (भोग लेता है) बड़े बैल (बड़ा घड़ा–शमादियुक्त बुद्धि) को लेकर पनियक (ज्ञानविज्ञान पानी के लिये) गुरुशरण में जाता है ॥ और सद्गुरु की विनय करता है कि मैं अपना सयाँ ( स्वामी ) को हृदय पाट ( पट ) में बांधकर धरूंगा, मुझे बताइये मिलाइये। फिर सद्गुरु उपदेश देकर कहते हैं कि रे

मेरा भक्त! इसे लेकर सज्जन जिज्ञासुओं के हाटेहाट बेंचो (श्रद्धा भक्ति आदि मूल्य देसकर दो) इत्यादि ॥

कहहिं कबीर ई हरि के काज। जोइयक ढिग रहि नाहिं लाज ॥९॥

इदमेव हरेः कार्यं नान्यल्लोकेषु विद्यते।
सुप्रसन्नो हरिश्चातः क्षणान्मुक्तं करोति हि ॥१२॥
ज्ञानेन चोपदेशेन विना नास्ति विमुक्तता।
मायायोषित्समीपे हि लज्जा कस्यात्र तिष्ठति ॥१३॥
निर्लज्जाः पतिता भूत्वा सर्वे धावंति सर्वतः।
तन्निवृत्त्यै गुरुः प्राह कबीरः करुणार्णवः ॥१४॥
ब्रह्मचारी मिताहारी तितिक्षुः संयतेन्द्रियः।
तुष्टो विविक्तसेवी च निष्पृहोप्यार्जवान्वितः ॥१५॥
धीरो दयालुरद्रोही दम्भाहंकारवर्जितः।
जन्ममृत्युजरादीनां दोषाणामनुचिन्तकः ॥१६॥
यः पुत्रादिष्वनासक्तो योगयुक्तो ह्यसङ्गधीः।
आत्मचिन्तापरो भक्तो ज्ञानं लब्ध्वा स मुच्यते ॥१७-९॥

सद्गुरु कबीर का कहना है कि, विवेक वैराग्य सद्भक्ति उपदेश-ज्ञानादिक ही सर्वात्मा हरि के कार्य हैं, और इसीके विना मायारूप जोइयक (स्त्री के) ढिग (पास) में किसीकी लाज (इज्जत—बड़ाई) नहीं रहने पाती है ॥९॥

## वसन्त १०.

रसना पढु हो श्रीवसन्त। पुनि जे परिहहु यम के फन्द ॥
मेरु दण्ड पर डंक कीन्ह। अष्ट कमल परजारि दीन्ह ॥

उपकण्ठेऽत्र यस्यान लज्जा संस्था च तिष्ठति ।
तस्या भक्तोऽत्र कश्चिद्धि प्राहैवं योगवित्तथा ॥१८॥
जिह्वया श्रीनिवासं त्वं भजस्व मुच्यसे ततः ।
अन्यथा यमपाशेषु पुनर्गत्वा पतिष्यसि ॥१९॥
एवं श्रुत्वा जनाः केचिन्मेरुदण्डलतोपरि ।
गोचरैः सहितं चित्तं ह्यर्पयन्तो मुहुर्मुहुः ॥२०॥
अष्टौ वै कमलान्येतैरिन्द्रियार्थविषैः खलु ।
अदहन्हि चानन्दरससेकैर्व्यवर्द्धयन् ॥२१॥
यद्वा सद्गुरुरेवाह भोः श्रीवासन्तिक प्रधि ।
मा पठान्यं रसं त्वं हि त्यक्त्वात्मनं हरिं परम् ॥
अन्यथा यमपाशेषु पुनर्गत्वा पतिष्यसि ॥२२॥
तीक्ष्णतुण्डप्रघातेन मेरौ वै कमलानि ते ।
प्रज्वालयद्यमः पूर्वं तं विस्मरति किं भवान् ॥२३॥

हो श्रीवसन्त ! ( नित्यानन्द के प्रेमी ! ) रसना ( जिह्वा ) से श्रीवसन्त ( हरि ) को पढो । या अन्य रस को ना पढु ( नहीं पढो ) अन्यथा फिर भी यम के फन्दे में पड़ोगे इत्यादि सद्गुरु का कहना है ॥ या विष्णु भक्त का कहना है कि श्री जिसमें बसती है उस हरि को भजो, नहीं तो यमफन्द में पड़ोगे, जिस यम ने मेरुदण्ड पर डंक देकर आठों कमलों को दग्ध किया है उससे बचो । या विषयी जीव विषयविषयुक्त मनोवृत्तिरूप डंक मेरुदण्ड पर दिया है इत्यादि ॥

ब्रह्म अग्नि कीयो परकाश । अर्द्ध ऊर्ध्व तहँ वहै बतास ॥
नव नारी परिमाला गाव । सखी पांच तहँ देखन धाव ॥

पद्मे गत्वा सहस्रारे तत्र स्वीयमनीषया ।
ब्रह्माग्नेर्हि प्रकाशं ते संचक्रुर्योगिनो भ्रमात् ॥२४॥

यतस्तत्र ह्यधश्चोर्ध्वं वायुश्चलति सर्वदा ।
तत्संघर्षेण जातो न प्रकाशो ब्रह्म विद्यते ॥२५॥
नव नाड्यः प्रधानानि प्राणान्तःकरणानि वा ।
संघर्षजपरानन्दं गायंति जनयंति च ॥२६॥
सख्यस्तद्दर्शनार्थैव पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि च ।
तत्रैव खलु धावंति त्यक्त्वा स्वां स्वां क्रियां तदा ॥२७॥
यद्वा सद्गुरुणादिष्टं यमकृत्यं पुरास्कृतम् ।
प्राज्वालयन्महाग्निं स त्वद्दाहाय तदा यमः ॥
वायुर्वातिस्म तीव्रात्मा ह्यधश्चोर्ध्वं समन्ततः ॥२८॥
अहो तथापि ते प्राणा इन्द्रियाणि मनस्तथा ।
नाड्याद्यास्तत्र संयांति गायंति गीतकानि च ॥२९॥

ब्रह्माग्नि ( ब्रह्मरूप अग्नि–या महानाग्नि ) का प्रकाश किया। बतास ( वायु ) नीचे ऊपर बहता ( चलता ) है। नव नारी ( प्रधान नौ नाड़ी या चतुष्टय अन्त:करण पाच प्राण ) परिमाला (परमानन्द–गीत) सखी पाँच ( पाच ज्ञानेन्द्रिय ) ॥

अनहद बाजा रहल पूरि । पुरुष बहत्तर खेलै धूरि ॥
माया देखि कस रहहु भूलि । जस बनासपति रहली फूलि ॥
कहैं कबीर हरीके दास । फगुआ मागे वैकुण्ठ वास ॥१०॥

वाद्यं ह्यनाहतं तत्र तदा पूर्णं विराजति ।
द्विसप्ततिप्रकोष्ठस्था नाडीस्थास्तत्र वायवः ॥३०॥
वसन्तानन्दधूलिं हि किरन्तीव परस्परम् ।
मायारिमकां न सद्रूपां किमु भ्राम्यत दर्शनात् ॥३१॥
वनस्पतौ यथा पुष्पं कल्पनाभिर्लगेत् क्वचित् ।
मूर्धज्योतिषि भूमत्वं तथैव कल्पनात्मकम् ॥३२॥

तटस्थस्य हरेर्दासा वदंति कवयस्तथा ।
न ते फाल्गुनिका भ्रान्ता वैकुण्ठे किन्तु संस्थितिम् ॥३३॥
याचन्ते ते हरेः साक्षान्न मोक्षं निर्विशेषकम् ।
सोस्ति मिथ्या तु वैकुंठेस्थितिः सत्यास्ति मुक्तता ॥३४-१०॥

*इति वसन्तवल्लरावद्भुतपुरुषचरित्रवर्णन नाम चतुर्थं पुष्पम् ॥४॥*

अनहद शब्दरूप बाजा वहाँ पूर्ण हो रहा है । बहत्तर कोठे की वायुरूप पुरुष धूलि खेलते हैं । साहब का कहना है कि उक्त अग्नि बाजा आदि रूप माया को ही देखकर कैसे भूले हैं, कि जैसे वनस्पति फूल रहा हो ॥ और कवि लोग कहते हैं कि फगुआ ( फाल्गुन के आनन्द से युक्त ) हरि के दास लोग भूले नहीं हैं, किन्तु वैकुण्ठ में वास मागते हैं । निर्विशेष मोक्षसुख नहीं चाहते इत्यादि ॥१०॥

इति अद्भुत मानव चरित्र वर्णन प्रकरण ॥४॥

## वसन्त ११, उपदेशोपसंहार प्र. ५.

(जाके) बारह मास वसन्त होय । (ताके) परमारथ बूझै विरला कोय ॥
बरषै अग्नि अखण्ड धार । हरिय ( भौ ) वन अठारह भार ॥

सर्वदा सर्वमासेषु वसन्तो यस्य विद्यते ।
सर्वत्र ज्ञानलाभेन नित्यतृप्तस्वभावतः ॥१॥
परमार्थं परानन्दं तस्यात्र विरला जनाः ।
श्रेष्ठा एव हि जानंति नान्ये विषयिणो नराः ॥२॥
ज्ञानिनां हृदयेऽखण्डो ज्ञानाग्निर्हि प्रवर्षति ।
अखण्डं सच्चिदानन्दं जलं दृदाति सर्वदा ॥३॥

तेन हृष्यंति लोमानि सत्येन सुजलेन वै।
यानि ह्यष्टादशै भारै र्वानस्पत्यैः समानि च ॥४॥
नित्यं ज्वलति तापाग्नौ नैव म्लायंति कर्हिचित्।
आनन्दवारिणा तूर्णं तापा नश्यंति ते यतः ॥५॥
हरेर्भक्ता वदन्त्येवं वैकुण्ठादौ सदैव च।
वसन्तो वर्तते तस्य तत्त्वं कोपि सुबुध्यते ॥६॥
संसारे तापसत्त्वेऽपि तत्रत्यवनसन्ततिः।
सततं हरितैवाऽऽस्ते संज्ञाद्दलितभूमिगा ॥७॥

जिसके हृदयवन में बारह मास (सदा) वसन्त (आनन्द विशेष) रहता है, उसके परमारथ (तात्विक भेद) को विरला कोई समझता है। ज्ञानी के हृदय में ज्ञानाग्नि अखण्ड धारा से बरसती है। और उसीसे उनके अठारह भार वनस्पतितुल्य लोमगण हर्षित हुए रहते हैं इत्यादि॥

पनिया आदर धरै न लोय। पवन गहै कस मलिन धोय॥
बिनु तरुवर फूले आकाश। शिव विरञ्चि तहँ लेहिं वास॥
सनकादि भूले भँवर होय। लख चौरासी जीव जोय॥
जो तोहि सतगुरु सत्य लखाव। ताते न छूटे चरणभाव॥

ज्ञानानन्दजलं नैव लोका गृह्णन्ति चादरात्।
प्राणवायुं निगृह्णंति मलिनं क्षाल्यतां कथम् ॥८॥
यावन्न मार्ज्यते चित्त तावत्सत्यतरुं विना।
आकाशं पुष्पितं भाति तत्र शम्भुर्वसत्यजः ॥९॥
भूत्वा भ्रमरवत्तत्र सनकादिसुरर्षयः।
मत्ता भ्रान्ताश्च तिष्ठंति जीवाश्च सर्वयोनिगाः ॥१०॥
संमार्जनां विना बुद्धेर्विज्ञानादि विना तथा।
यत्सत्यत्वेन संभाति तद्विज्ञानान्मृषा भवेत् ॥११॥

अनृतात्तु विवेकेन त्वामेव सद्गुरुस्तु यः ।
संदर्शयति सत्यं तत्पादे भावं न वै त्यज ॥१२॥
गुरुपादे सदा भावाद्धरौ भक्त्या सदा सुखम् ।
लभ्यते मलिनं सर्वं क्षाल्यते नात्र संशयः ॥१३॥

विवेक विज्ञान सद्भक्तिरूप पनिया ( पानी ) को लोय ( लोग ) आदर से नहीं भरते हैं। केवल पवन ( प्राण ) को गहते ( रोकते ) हैं, तो अविद्यारूप मलिन ( मल–पाप ) कैसे धोय ( निवृत्त होय )। अज्ञों को विना वृक्ष के ही आकाश फूला हुआ प्रतीत होता है, और शिवादि वहाँ वास लेते ( बसते वा गंध लेते ) हुए भासते हैं॥ इससे सनकादि ( निवृत्तिमार्ग के वेषधारी ) लोग भी उसी कल्पित फूल ( सुखविषयादि ) में भँवर होकर भूले हैं, तथा चौरासी लक्ष योनि के जीव सब भी भूले हैं॥ यदि तुम इस भूल से रहित होना चाहो तो जो सद्गुरु तेरे स्वरूप को ही तेरे प्रति सत्य लखाते हैं, उनके चरण तथा सत्य से भाव ( प्रेम–भावना ) नहीं छूटना चाहिये॥

अमरलोक फल लावै चाय। कहँ कबिर बूझै सो खाय ॥११॥

कवयस्तु वदन्त्येवं देवलोकं य इच्छति ।
देवादीन्सत्करोत्येव सैवाप्नोति सुखं फलम् ॥१४॥
अथवाऽमरलोकात्मस्वरूपे सत्फले हि ये ।
जिज्ञासां च मुमुक्षां च समन्तादानयंति वै ॥१५॥
गुरोश्च शरणे गत्वा पृष्ट्वा श्रद्धासमन्विताः ।
तत्स्वरूपं विजानंति ते मोक्षं प्राप्नुवंति हि ॥१६॥
इत्येवं ज्ञानिनस्तत्त्व सर्वे सम्यग् वदंति हि ।
तस्मात्स एव योद्धव्यः सर्वैरेव मुमुक्षुभिः ॥१७॥

यद्वा भक्तिजलं नैव लोका गृह्णंति सादरम् ।
गृह्णंति पवनं केन मलिनं मार्ज्यतामिति ॥१८॥
वृक्षं विनापि वैकुण्ठे ह्याकाशं पुष्पितं सदा ।
वर्तते तत्र शंभुश्च वेधास्तिष्ठति सर्वदा ॥१९॥
सनकाद्याश्च ये सिद्धा ज्ञानित्वेनापि संमताः ।
ते तत्र भ्रमरा भूत्वा तिष्ठन्त्यानन्दकानने ॥२०॥
सर्वयोनिस्थभक्ता ये तेपि तिष्ठन्ति तत्र वै ।
तत्रैव च मनोयोगादन्योऽपि फलमत्ति वै ॥२१-११॥

अमरलोक (देवलोक वा अजाविनाशी आत्मलोक) फल के लिये जो कोई चाव (इच्छा) लावै, और उसके तत्त्व को बूझै (समझै) सो अपनी२ समझ के अनुसार फलों को खाय (भोगे या प्राप्त करे) यह सब कवियों आचार्यों का कथन है ॥२१॥

## वसन्त १२.

(मैं) आयउं मेहतर मिलन तोहि । ऋतु वसन्त पहिराउ मोहि ॥
लम्बी पुरिया पाई क्षीण । सूत पुराना खूंटा तीन ॥

देवभक्ता गुरोर्भक्ता गत्वा च तस्य सन्निधौ ।
कुर्वते च स्तुतिं देव महत्तर दयानिधे ॥२२॥
त्वयैव संगमार्थोऽहमागतस्तव मंदिरे ।
शरणे चैव हे देव वसन्तानन्दवर्द्धनम् ॥२३॥
योग्यं पटं शरीरं मे ज्ञानं सत्यं च दीयताम् ।
अज्ञा वाछंति देवत्वं विज्ञा मोक्षं सनातनम् ॥२४॥
प्राप्तस्य च पटस्यास्य विस्तारोऽस्ति महान् प्रभो ।
क्षयिष्णुस्तत्र शुद्धिश्च विरलाऽल्पतरा तथा ॥२५॥

वासनाकर्मभूताद्यास्तन्तवोऽस्य पुरातनाः ।
जीर्णाः संति तथा कीला गुणदोषात्मकास्त्रयः ॥२६॥

देवभक्त ना शिष्यकृत विनय का इस बसन्त में वर्णन है । हे मेहतर ! ( अत्यंत महान् ! लोकनायक ! ) देव ! गुरो ! मैं तुमसे मिलने आया हू । ( बसन्त तुल्य आनन्दजनक दिव्य देह वा ज्ञान मोक्षपट ) मुझे प्राप्त कराओ । इस प्राप्त पट के पुरिया ( थान ) लम्बी ( अनादि विस्तृत ) है, और पाई ( शुद्धि ) क्षीण ( अति अल्प ) है । सूत ( बासना कर्म भूतादि ) पुराने ( अनादि ) हैं, और खूंटा आधार खूंटी ) तीन ( गुण या दोष ) हैं ॥

शर लागे तेहि तिनि से साठि । कसनि बहत्तर लागु गाँठि ॥
खुर खुर खुर खुर चले नारि । बैठि जोलहदि आसन मारि ॥
ऊपर नचनी करै कलोल । करिगह में दुइ चलै गोर ॥

शतानि त्रीणि षष्टिश्च यान्यस्थीनि कलेवरे ।
दिनानि वत्सरस्याथ शरास्तान्यस्य संभवे ॥२७॥
द्विसप्ततिश्च नाडीनां कोष्ठयो वायवस्तथा ।
बन्धनान्यत्र विद्यन्ते नाड्यः क्षिप्रं चलंति च ॥२८॥
बहिर्नद्यश्चलन्त्येवं चन्द्रसूर्यादयस्तथा ।
स्थिराः केऽपि न विद्यन्ते दीयतां सुस्थिरं पदम् ॥२९॥
अस्थिरे चात्र लोकेऽथ देहे च बुद्धिरूपिणी ।
तन्तुवायी स्थिताऽऽस्ते मे ह्यासनं परिकल्प्य तु ॥३०॥
ऊर्ध्वनर्तनशीलेन यन्त्रेण च समानि वै ।
इन्द्रियाणि च चन्द्राद्याः कल्लोलं कुर्वते बहु ॥३१॥
वायुर्नृत्यति सर्वत्र शब्दं कुर्वन् पृथग्विधम् ।
ब्रह्माण्डे च गृहे देहे यन्त्रगेहसमे सदा ॥३२॥

चंद्रसूर्यौ हि पादौ द्वौ बुद्धेः संचलतो मुहुः ।
अध्यात्ममधिभूतं वा चलं सर्वं चराचरम् ॥३३॥

एक वर्ष के दिन या देह की हड्डियाँ तीनसौ साठ भर लगे हैं। बहत्तर नाड़ी वा वायु, के गाठि कसनि ( कसकर बांधनेवाली ) गाठि लगे हैं ॥ नारि ( नाड़ियाँ ) खुर ४ ( बहुत शीघ्र ) चलती हैं। जोल्हदी ( जीवरूप जोल्हा की स्त्री ) आसन लगाकर बुद्धि बैठी है ॥ ऊपर की तरफ नचनी ( नाचनेवाली कल ) की तरह इन्द्रिय वायु आदि कल्लोल ( शब्द ) करते हैं ॥ और करिगह ( करघायुक्त घर ) रूप देहादि में चन्द्रसूर्यादिरूप दोनों गोड़ ( पैर ) समय२ पर चलते हैं ॥

पांच पचीसों दशहु द्वार। सखी पांच तहँ रची धमार ॥
रंग विरङ्गी पहिरी चीर। हरिक चरण धरि गावै कबीर ॥१२॥

इति सद्गुरुकबीरकृते निखिलकलिकलुषविध्वंसने बीजकनाम्नि ग्रन्थे परमानन्दसम्पादक षष्ठ वसन्तप्रकरण समाप्तम् ॥

दिक्षु द्वारेषु दशसु पञ्चतत्त्वानि संति हि ।
तेषां प्रकृतयः पञ्चविंशतिसंख्यकास्तथा ॥३४॥
पञ्च प्राणा इमे सख्यः इन्द्रियाणि तथैव च ।
धैवतं हि स्वरं यद्वा धमाराख्यं धुकौतुकम् ॥३५॥
गानं वा कुर्वते येन भक्त्यानन्दादिदुर्लभम् ।
भवत्यथ पटो देहो जायते सुलभः सदा ॥३६॥
इत्थं सिद्ध पटं चित्रं परिधाय हि सज्जनाः ।
भक्ता जिज्ञासवः सर्वे हरेर्धृत्वा पदं मुहुः ॥३७॥
गायति सुगुणांस्तस्य हरेश्च सद्गुरोस्तथा ।
पटस्यान्यस्य लब्ध्यर्थं सदैव नूतनस्य वै ॥३८॥

भक्ता देवस्य मन्यन्ते देवदेहांस्तथाविधान् ।
मुमुक्षवः परं ब्रह्म तस्य प्राप्तेः समिच्छया ॥३९॥
आत्मभावेन तल्लब्ध्वा मोदन्ते ते सदैव च ।
पुनरावृत्तिहीनं त मोक्षं यांति विदेहिनः ॥४०॥
यदीयवाक्यामृतपानमात्राज्जनो विमुक्तो भवतीह बन्धनात् ।
यथा श्रुतेः साररसाऽनुभूत्या विमुक्तिभाजः सुजना नुमस्तान् ॥४१॥
वसन्तवल्लरिं दृष्ट्वा कलिकाभक्तिसंयुताम् ।
मोदन्तां सुजनाः सर्वैर्ब्रह्मानंदोऽनुभूयताम् ॥४२-१२॥

इति वसन्तवल्लर्यामुपदेशोपसहारवर्णन पञ्चम पुष्प समाप्तम् ॥५॥

समाप्तेयं वसन्तवल्लरि. ॥

इस देह में पाच तत्त्व पचीस प्रकृति दश द्वार वर्तमान हैं। और तहाँ पाँच ज्ञानेन्द्रिय वा प्राणरूप पाच सखियों ने धमार नामक खेल रचा है। और उक्त रीति से सिद्ध रगविरङ्गी ( विचित्र ) चीर ( वस्त्र ) को पहिर कर और हरि ने चरण धरके कबीर ( उपासक या गुरुभक्त जीव स्तुति गाते हैं ॥ अथवा पाच पचीस के कार्यरूप दश द्वारयुक्त बहुरग के चीर पहिरकर पांच सखियाँ ( पचदेवोपासकादि ) धमार रची हैं। और इन सब प्रपञ्चों से रहित होने के लिये हरि (सर्वात्मा देव गुरु) के चरण धरके कबीर नित्य धमार वंसत गाते हैं इत्यादि ॥१२॥

इति उपदेशोपसहार प्रकरण ॥५॥

जिहि पद भजि नर पावई, नित्य वसन्त उदार ।
हनूमान तिहि चरणरज, प्रणमत वारंवार ॥१॥

इति षष्ठ वसन्त प्रकरण संपूर्ण ॥

---

श्रीसद्गुरुचरणकमलेभ्यो नमः ।

—: सद्गुरु :—

# कबीर साहेब कृत बीजक ।

[ स्वानुभूतिसंस्कृतव्याख्यासहित ]

## अथ सप्तम चांचर प्रकरण ।

स्नेहाख्यपाशाद्विनिवारयन्तं रामाख्यरत्नं दरिदर्शयन्तम् ।
मोहान्धकूपाच्च हि तारयन्तमपारसौख्यैकघनं प्रपद्ये ॥१॥
अद्वन्द्वानन्दसंदोहं पादद्वन्द्वं सदा भजे ।
गुरूणां ज्ञाततत्त्वानां कृपागारं हरिं श्रये ॥२॥
रामनाम्नि स्मृते गीते मधुरे मधुराक्षरे ।
पीते श्रोत्रपुटाभ्यां च कामबाधा न विद्यते ॥३॥
कामारिसैन्यं वनमालिदेवं स्रष्टुस्तथेशं त्रिजगन्निवासम् ।
सुज्योतिषां ज्योतिषमप्यकामं रामं भजेहं गणनाथनाथम् ॥४॥
श्रीरामाभजनाद्या च श्रीरामभजनाच्च या ।
भ्रान्ताऽभ्रान्तोऽत्र हनुमान् कां दशां नानुभूतवान् ॥५॥

### चांचर १.

जारहु जग का नेहरा मन बौरा हो ।
जा महँ शोक संताप समुझ मन बौरा हो ॥

अप्रबुद्धमना भोस्त्वं प्रमूढ स्वान्तवान् जनः ।
विवेकवन्हिना स्नेहं जगतां परिदाहय ॥१॥
यत्र स्नेहेन शोकश्च संतापो जायते हृदि ।
तं जानीहि च तत्रत्यं स्नेहं त्वं परिमार्जय ॥२॥

हे मन बौरा ( उन्मत्त मनवाला, या बौरा मन )! जग का नेहरा ( सांसारिक प्रेम ) को जारहु ( नष्ट करो )। जा महँ ( जिस स्नेह वा जगत् में ) शोक संतापादि होते हैं, उसे समझ लो ॥

विना नेव का देवघरा मन बौरा हो।
विनु कहगिल की ईंट समुझु मन बौरा हो ॥

सन्निवेशं विनैवाऽयं संसारो देवमन्दिरम् ।
सुधाकर्दमहीनाश्च पदार्था इष्टका यथा ॥३॥
वास्तुरत्र * च नास्त्येव ह्यसङ्गः पुरुषो यतः ।
दृश्यमानं च निर्मूलं मिथ्या मायामनोमयम् ॥
विनश्वरं सदैवेदं पतयालु च गत्वरम् ॥४॥

संसार बिना नेव के देवघर ( मन्दिर ) तुल्य है। इसके पदार्थ कारण बिनु कहगिल ( कादों गारा ) के ईंट तुल्य हैं ॥

कालबूत की हस्तिनी मन बौरा हो।
चित्र रच्यो जगदीश समुझु मन बौरा हो ॥
काम अंध गज वशि परे मन बौरा हो।
अंकुश सहिहो शीश समुझु मन बौरा हो ॥

* वेश्मभूर्वास्तुरित्यमरः ॥

हस्तिनीप्रतिमेवैतत् स्त्रियाश्चित्रं जगत्पतिः।
कालरूपं व्यरचयत्तद्विवेकेन बुध्यताम् ॥५॥
कामान्धगजवद् भूत्वा ह्यन्यथा विवशः सदा।
तीव्रमङ्कुशवद्विद्धि यातनादि सहिष्यसे ॥६॥

कालबूत ( कालस्वरूप या कलबूत देह ) की हस्तिनी के समान स्त्रीरूप चित्र को जगदीश रचा है॥ कामान्ध गज तुल्य मनुष्य परवश होकर अकुशतुल्य यातना को शिर पर सहता है, और तुम सहोगे॥

तन धन सो क्या गर्वसी मन बौरा हो।
भरम कृमि जाकि साज समुझु मन बौरा हो॥
मरकट मूठी स्वाद की मन बौरा हो।
लीन्हो भुजा पसारि समुझु मन बौरा हो॥

तन्वा धनादिभिः किञ्च गर्वं त्वं कुरुषे मुधा।
विद्धि तत्साधनं सर्वं कृमिर्भस्म,भवेद् ध्रुवम् ॥७॥
वनौका इव बध्वा त्वं मुष्टिं प्रसार्य दोस्तथा।
अगृह्णाः स्वादु तेन त्वं बद्धं विद्धि नचान्यथा ॥८॥

तन धन से क्या गर्वसी ( गर्व करते हो ) कि जाके ( जिसके ) साज ( साधन समूह ) भस्म वा कृमि अन्त में होते हैं॥ मरकट जैसे स्वाद की ( स्वादयुक्त वस्तु की ) मूठी बांधता है। तैसे तुम भुजा पसार कर स्वादु वस्तु लिये हो॥

छूटन की संशय परी मन बौरा हो।
घर घर नाचे द्वार समुझु मन बौरा हो॥

मोक्षस्य संशयस्तावद्यावत्स्वादु न हीयते ।
स्नेहो वा यावदत्राङ्ग द्वारेष्वत्र सुनृत्यसि ॥९॥
मर्कटो हि यथा द्वार्षु नृत्यत्येव गृहे गृहे ।
तथैव त्वं शरीरेषु विद्धि बद्धो हि नृत्यसि ॥१०॥

भुजा पसार कर पकड़ने से छूटने के सशय में बुद्धि पड़ी है ॥ और मरकटतुल्य घर२ के द्वारों पर नाचते हो ॥

ऊँच नीच जानै नहीं मन बौरा हो ।
घरघर खायहु डाँग समुझु मन बौरा हो ॥

कीशवत्त्वं प्रधानं वा निकृष्टं नैव वेत्स्यसि ।
गृहदेहेषु तद्विद्धि दण्डाघातं सहिष्यसे ॥११॥
नर्तितं हि त्वया तद्वत्सोढं च बहु ताडनम् ।
तद्विद्धि त्यज चाद्यापि स्नेहपाशं भयंकरम् ॥१२॥

मरकट के समान बद्ध जीव ऊँच नीच कुछ नहीं समझता । और उसीके समान घर२ में डाग (लाठी मार) खाये हौ सो समझो ॥

ज्यों सुगना नलिनी गह्यो मन बौरा हो ।
ऐसो भरम विचार समुझु मन बौरा हो ॥
पढे गुणे का कीजिये मन बौरा हो ।
अन्त विलैया खाय समुझु मन बौरा हो ॥

गृहीत्वा नालिकां यद्वद् गृहीतोऽस्मीति मन्यते ।
कीरस्तथा भ्रमं विद्धि विचारं कुरु मुक्तये ॥१३॥

भ्रान्तिश्चेन्नहि ते नष्टा पठित्वा वा प्रगुण्य च।
किं त्वयाऽन्तेऽस्ति कर्तव्यं माया मार्जारिकाऽत्स्यति ॥१४॥
पठन्तं हि यथा कीरं बद्धमत्ति बिडालिका।
तथा विपर्यिणं मूढं मायाऽविद्येति विद्धि ताम् ॥१५॥

जैसे सुग्गा नलिनी को स्वयं पकड़कर भ्रम से बन्धन समझता है, वैसाही भ्रम विचार से अपने में समझो॥ यदि भ्रम नहीं छूटा तो पढ़गुणकर भी क्या करोगे, पढ़नेवाले सूगों की तरह तुझे भी अन्त में माया कालरूप बिलाव खा लेगा॥

शूने घर का पाहुना मन-बौरा हो।
ज्यों आवै त्यों जाय समुझु मन बौरा हो॥

यथा शून्यगृहात्कश्चिदतिथिर्वा कुटुम्बकः।
क्षिप्रं यथाऽऽगतं याति सत्कारादिविवर्जितः ॥१६॥
भ्रान्तो यथाऽऽगतं याति विद्या तद्धृदयात्तथा।
तद्विद्धि सत्कुरुष्वैनां स्वयं च सत्कृतो भव ॥१७॥

शून्य घर के पाहुन की तरह शून्य हृदय में विद्या जैसे आती है, वैसे ही चली जाती है, सत्कारादि नहीं पाती है॥

नहाने को तीर्थ घना मन बौरा हो।
पूजन को बहु देव समुझ मन बौरा हो॥
बिनु पानी नल बूड़ि हो मन बौरा हो।
(तुम) टेकहु राम जहाज समुझ मन बौरा हो॥

स्नानार्थबहुतीर्थानि पूजार्थदैवतानि च।
भ्रान्तिसत्त्वे हि विद्यन्ते विद्धि तानि विवेकतः ॥१८॥

विवेकादि विना त्वङ्ग जलेनापि विना भवे ।
निमङ्क्ष्यसि, ततो रामं विद्धि तत्पोतमाश्रय ॥१९॥

विद्यारहित पुरुष के नहाने के वास्ते बहुत तीर्थ हैं, और पू
को बहुत देव भासते हैं, हे नर ! इसीसे विना पानी के बूड़ोगे । इ
अवही भी एक सर्वात्मा राम जहाज को टेको, ( शरण लो ) जि
कल्याण हो ॥

कहहिं कबीर जग भर्मिया मन बौरा हो ।
(तुम) छाड़हु हरि को सेव समुझु मन बौरा हो ॥१॥

रामं संश्रित्य सर्वं त्वं त्यजान्यत्तीर्थदैवतम् ।
भ्रान्तं तत्र जगत्कृत्स्नं तन्निबोध विवेकतः ॥२०॥
सद्गुरुश्चाह भोः साधो सर्वं त्यक्त्वा हरिं भज ।
सच्चिदानन्दरूपं वै नित्यानन्दस्य लब्धये ॥२१॥
श्रुते मते वै जगतां निवासे ध्याते च दृष्टे खलु रामनाम्नि ।
परात्परे ब्रह्मणि निर्विशेषे कामादिबाधा नहि वर्ततेऽत्र ॥२२॥
स्नेहश्च मोहो ममता गृहादिषु कामश्च क्रोधोऽपि मदोथ मत्सरः
यावद्धि चैते ननु विद्यया किमु हन्याद्धरे र्ज्ञानधनुर्विधाय तान् ॥२

यावत्कामश्च लोभश्च दुराशा मत्सरो मदः ।
रागद्वेषौ कुतस्तावन्मोक्षवार्ताऽपि संभवेत् ॥२४॥
ममतां तु निराकृत्य कामक्रोधादिकं तथा ।
गच्छन्ति परमं स्थानं वीतरागा विमत्सराः ॥२५॥
इन्द्रियाणि वशे कृत्वा ज्ञात्वा देवं निरञ्जनम् ।
मायामयं जगज्ज्ञात्वा मोक्षं विन्दन्ति निःस्पृहाः ॥२६-१॥

साहब का कहना है कि सब संसारी भ्रम में पड़ा है, तुम
को छोड़ो, और केवल हरि को ही सेवो ॥१॥

## चॉचर २.

खेलत्ति माया मोहिनी मन बौरा हो । -
(जिन) जेर कियो ससार समुझ मन बौरा हो ॥

जनतामोहिनी माया क्रीडतीव जगत्त्रये ।
यया संसारिण: सर्वे जीर्णा गीर्णा निपीडिताः ॥२७॥
कौतुकं चांचराख्यं सा कुर्वन्तीव विलासिनी ।
कुरुते बहुधा लीलां तां विद्धि दु:खदा सदा ॥२८॥

जिस माया ने ससारी जीव को जेर, ( तग-हीन-हैरान ) किया है। सो मोहिनी माया सर्वत्र खेल रही है ॥

रच्यो रंग तिनि चूनरी मन बौरा हो ।
सुन्दरि पहिरे आय समुझ मन बौरा हो ॥
शोभा अदबुद रूप की मन बौरा हो ॥
महिमा वरणि न जाय समुझ मन बौरा हो ॥

त्रिभिर्गुणमयै रागैः पटं चित्रं विधाय च ।
विद्धि तां सुन्दरी भूत्वा परिधायात्र चागताम् ॥२९॥
तस्या रूपस्य शोभा सा परमाद्भुतरूपिणी ।
अनिर्वाच्यं महत्त्वं च ज्ञायतां स्वविवेकतः ॥३०॥

माया ने तीन रग ( सत्त्व रज तम या श्वेत रक्त स्याह ) से चूनरी ( चित्रपट या त्रिगुण पदार्थ ) को रचकर, और सुन्दरी होकर उसे पहिरकर आई है ॥ उसकी अदबुद ( आश्चर्यमय ) शोभा और महिमा का वर्णन नहीं किया जा सकता ॥

चन्द्रवदनि मृगलोचनी मन बौरा हो ।
बुन्दका दियो उघारि समुझु मन बौरा हो ॥
यती सती सब मोहिया मन बौरा हो ।
गज गति वाकी चाल समुझु मन बौरा हो ॥

चन्द्रवद्वदनं यस्या लोचनं मृगनेत्रवत् ।
ललाटविन्दुमुद्घाट्य स्थितां विद्धि विशेषकम् ॥३१॥
यतीन् सतीः सतः सवान् सा मोहितवती तथा ।
गजवद्गतिशीला या विद्धि त्वं तां विमोहिनीम् ॥३२॥

नारद के मुख माँड़िके मन बौरा हो ।
लीन्ही वसन छिनाय समुझु मन बौरा हो ॥

नारदस्य मुखे सैव निहत्येव चपेटिकाम् ।
विभूष्य मर्कटाकारैर्वस्त्रं तस्य जहार च ॥३३॥
प्रतिष्ठामहरत्तस्य मर्यादां च बहूत्तमाम् ।
आच्छादनं च मनसस्तां विद्धि चातिदुर्विधाम् ॥३४॥

नारदजी के मुख माडिके ( मुख में मारकर या मुख को वानर-मुखाकार से विभूषित करके ) उनके वसन ( वस्त्र–परदा–या प्रतिष्ठा ) को छिनाय लिया (नष्ट किया) अर्थात् ललाट के बिन्दु (तिलक) आदि को देखाकर, यती आदि को मोहनेवाली चन्द्रवदनी मृगलोचनी गजगामिनी माया ने नारद ऐसे देवर्षि की भी अचल स्थिति नहीं रहने दिया ॥

गर्व गहेली गर्व ते मन बौरा हो ।
उलटि चली मुसुकाय समुझु मन बौरा हो ॥

शिव सन ब्रह्मा दौड़ि के मन वौरा हो ।
दोनों पकरिन जाय समुझ मन वौरा हो ॥

गर्वसंग्राहिणी गर्वान्निवृत्य सा ततोऽगमत् ।
संस्मित्य नारदात्तां हि विद्धि गर्वस्वरूपिणीम् ॥३५॥
महायोगीश्वरं शंभुं विश्वराजं विधिं तथा ।
किम्वा ताभ्यां समान् सर्वान् योगिनो विश्वमानिनः ॥
अगृह्णाद्विद्धि धावित्वाऽगृह्णीतामथ तौ च ताम् ॥३६॥

गर्वगहेली (गर्व रखनेवाली) माया मुसुकायकर नारदजी से उलट चली ॥ शिवसन ( शिवजी ऐसे ) योगी और ब्रह्मा ये दोनों दौड़कर जाय (पहुंच) कर उसे पकड़िन । या माया इन दोनों को पकड़ा ॥

फगुआ लीन्ह छिनाय के मन वौरा हो ।
वहुरि दियो छिटिकाय समुझु मन वौरा हो ॥

नित्यानन्दवसन्तं च समाच्छिद्य तयोर्बलात् ।
प्रायोजयदनित्येन सुखलेशेन तावुभौ ॥३७॥
तस्मादपि कदाचिच्च तौ क्षुधेव व्ययोजयत् ।
दैत्यैर्युद्धादिकालेषु विद्धि तां चञ्चलागतिम् ॥३८॥

फगुआ ( नित्य वसन्तानन्द ज्ञानफाग ) तुच्छ सुख देकर छीन लिया । फिर उस तुच्छ सुख से भी छिटकाय ( पृथक् कर ) दिया ॥

अनहद ध्वनि वाजा वजै मन वौरा हो ।
श्रवण सुनत भौ चाव समुझ मन वौरा हो ॥
खेलनिहारा खेलि है मन वौरा हो ।
वहुरि न ऐसो दाव समुझ मन वौरा हो ॥

अनाहतो ध्वनिर्यस्तु श्रूयते श्रवणादिषु ।
वाद्यं नदति तच्छ्रुत्वा वाञ्छा भवति विद्धि ताम् ॥३९॥
दक्षाः केलिं करिष्यंति केऽपि कौतुकिनस्तया ।
मोक्षश्रियोऽत्र लाभाय ह्यानन्दघनलब्धये ॥४०॥
भूयो नावसरो हीदृक् प्राप्स्यते सत्वरं जनैः ।
बुद्ध्वेति सावधानेन क्रीडतो विद्धि ताञ्जनान् ॥४१॥

अनहद की ध्वनि चाँचर खेल का बाजा है, जिसे कान से सुनने पर योगियों को योग की चाव ( इच्छा ) होती है। या भूषणादि के शब्द सुनने से कामादि उत्पन्न होते हैं, इससे वेही अनहद बाजे हैं इत्यादि ॥ कोई विरल ज्ञानी खिलाड़ी, इस माया के साथ सावधानी से खेलेंगे, जो जानते हैं कि फिर ऐसा दाव ( मौका-अवसर ) नहीं मिलेगा ॥

ज्ञान ढाल आगे दिये मन बौरा हो ।
टारे टरत न पावँ समुझु मन बौरा हो ॥

ज्ञानचर्म हि तैर्दत्तमग्रतो धारणादितः ।
मनो बुद्धिश्च पादौ नो कदाचिदपगच्छतः ॥४२॥
विचालनाच्च मायाया ये चलन्ति कदाचन ।
तान् वै विजयिनो विद्धि मायायाश्च भवस्य च ॥४३॥

ज्ञानी ज्ञान ढाल आगे दिये ( किये ) रहते हैं, और धारणा ज्ञान भूमि आदि से उनके पावँ ( मन बुद्धि ) किसी प्रकार भी नहीं हट सकते ॥

खेलनिहारा खेलहीं मन बौरा हो ।
जैसी धाकी दाव समुझु मन बौरा हो ॥
सुर नर मुनि औ देवता मन बौरा हो ।
गोरख दत्ता व्यास समुझु मन बौरा हो ॥
सनक सनन्दन हारिया मन बौरा हो ।
और कि केतिक बात समुझु मन बौरा हो ॥

ये त्वन्येऽनवधानेन खेलायंति कुयोगतः ।
तस्या अवसरो येन तान्नष्टान् विद्धि वै जनान् ॥४४॥
तस्यै यावद्ददुः केऽपि प्रस्तावं भूसुरा नराः ।
मुनयो देवता दत्तो गोरक्षो व्यास एव वा ॥४५॥
सनन्दनश्च सनकः सर्वे तावत्पराजिताः ।
पराभूतौ तदन्येषां किं वक्तव्यं हि विद्धि तत् ॥४६॥

सब खेलनेवाले माया के साथ खेलते हैं, परन्तु जैसी उसकी दाव ( अवसर ) रहती है वैसा खेलते हैं, इससे पराजित होते हैं । उसकी दाव के अनुसार खेलनेवाले भूसुर नर मुनि आदि सब हार गये। गोरखादि भी जबतक उसकी दाव के अनुसार खेले तबतक हारे, फिर अन्य की बात ही क्या है ॥

छिलकत थोंथे प्रेम के मन बौरा हो ।
धरि पिचकारी गात समुझु मन बौरा हो ॥
कै लीयो वशि आपने मन बौरा हो ।
फिरिफिरि चितवत जात समुझु मन बौरा हो ॥

मिथ्याप्रेमात्मिकां धृत्वा रागप्रक्षेपिणीं करे ।
रागं क्षिपति सर्वेषां देहे तच्चिन्त्यतां त्वया ॥४७॥

इत्थं कृतवती सर्वान् स्ववशे सा पुनः पुनः ।
पश्यन्त्येव परावृत्य याति तां विद्धि कास्ति सा ॥४८॥

थोंथे ( नकली–कुण्ठित ) प्रेम की पिचकारी हाथ में धरके रागादि रूप रंग लोगों के गात ( देह ) पर माया छिलकती ( डारती ) है ॥ और इस प्रकार सबको अपने वश में कर लिया है, फिर २ कर देखती जाती है कि कोई बच नहीं जाय ॥

ज्ञान गाड़ लै रोपिया मन बौरा हो ।
त्रिगुण दियो है साथ समुझु मन बौरा हो ॥

सद्विवेकं हि सर्वेषां मोहश्वभ्रे व्यरोपयत् ।
किम्वाऽसत्त्रिगुणज्ञाने रन्ध्रे सर्वान् व्यपातयत् ॥
त्रिगुणं सर्वबन्धाय सर्वैः सह चकार सा ॥४९॥
कृत्वाऽनुकरणं सर्वं चांचरस्य हि चञ्चला ।
बध्नाति पुरुषान् सर्वांस्तद्विद्धि त्वं विवेकतः ॥५०॥

सबके ज्ञान को मोहरूप गाड़ ( खाई ) में लेकर रोपा (गाड़ा) है । या त्रिगुण के ज्ञानरूप गाड़ में सबको खड़ा किया है, और बन्धन के लिये तीन गुण सबके साथ दिया (किया) है ॥

शिव सन ब्रह्मा लेन कह्यो मन बौरा हो ।
और कि केतिक बात समुझु मन बौरा हो ॥
एक ओर सुर नर मुनी मन बौरा हो ॥
एक अकेली आप समुझु मन बौरा हो ॥
दृष्टि परै छाड़े नहीं मन बौरा हो ।
कै लियो एक धाप समुझु मन बौरा हो ॥

विधातारं शिवं स्वस्या वशे कर्तुमुवाच सा ।
किम्वा ताभ्यां समान् सर्वान् कान्यवार्तेति बुध्यताम् ॥५१॥
एकतो मुनयो देवाः सर्वे तिष्ठन्ति मानवाः ।
सब्रह्माः केवला सैव चान्यतो विद्धि तां सदा ॥५२॥
दृष्टेर्गोचरतां प्राप्ते जनं कमपि नाऽत्यजत् ।
एकेनाक्रमणेनेयं पदाक्रान्तं चकार ह ॥५३॥

शिवसन ( शिव समान ) और ब्रह्मा को भी स्ववश में लेने ( करने ) के लिये कहा ( प्रतिज्ञा किया ) है। फिर अन्य की केतिक ( कितनी क्या ) बात है ॥ एक ओर ( तरफ ) सुरनरादि सभी हैं, और एक तरफ अकेली आप ( माया ) है ॥ परन्तु दृष्टि परने (देखने) पर किसीको छोड़ा नहीं, सबको एकहीं धाप ( डेग–फलान ) में वश कर लिया इत्यादि ॥

जेते थे तेते लियो मन बौरा हो ।
घूंघुट माहिं समोय समुझु मन बौरा हो ॥
कज्जल वाके रेखवा मन बौरा हो ।
अदग गया नहिं कोय समुझु मन बौरा हो ॥

आक्रान्ता ह्यभवन् ये ये तान् सर्वान् स्वावृतौ किल ।
अवगुण्ठे समावेश्य धारयत्तच्च बुध्यताम् ॥५४॥
तामस्याः खलु मायाया आकारः कज्जलाकृतिः ।
निष्कलङ्को न कोऽप्यस्या गतस्तत्सङ्गवाञ्जनः ॥५५॥

जो इसके संग सन्मुख हुए उन सबको घूंघुट ( मोह–आवरण ) में कर लिया ॥ और इसका रेखवा ( रेख–आकार ) कज्जल (कारीख) के समान है, इससे अदग ( दाग–फलंक रहित ) कोई नहीं गया ॥

इन्द्र कृष्ण द्वारे खड़े मन बौरा हो ।
लोचन ललचि नचाय समुझु मन बौरा हो ॥

तस्या द्वारि स्थितो हीन्द्रः कृष्णश्चैव प्रतापवान् ।
दर्शनायाऽतिलुब्धः सन् दृष्ट्वा नृत्यति विद्धि तत् ॥५६॥
इन्द्रियद्वार्षु यद्वैते हीन्द्रविष्ण्वादयः सदा ।
तिष्ठंति तज्जलोमेन दृष्ट्वा नृत्यन्ति जन्तवः ॥५७॥

इन्द्र कृष्ण भी माया के द्वार पर खड़े हैं, और नेत्र से उसे देखने के लिये लालच ( लोभ ) करते हैं, उसे देखकर नाचते हैं। या इन्द्रिय द्वार पर इन्द्रकृष्णादि देव खड़े हैं, जिससे नेत्रादिद्वारा देखने आदि के लिये जीव को लालच होता है इत्यादि ॥

कहहिं कबीर ते ऊबरे मन बौरा हो ।
जाहि न मोह समाय समुझु मन बौरा हो ॥२॥

इति सद्गुरुकबीरकृते विविधबंधबीजविध्वंसने बीजकनाम्नि ग्रन्थे मोहविध्वंसनं चाचराख्यं सप्तमं प्रकरणं समाप्तम् ॥

विनिर्जित्य हि मायां स मुक्तो भवति सर्वथा ।
यस्य हृदि यदा मोहः संविशेन्न कदाचन ॥५८॥
"+विनीतमानमोहश्च बहुसंगविवर्जितः ।
तदात्मज्योतिषः साधो निर्वाणमधिगच्छति " ॥५९॥
तस्मात्सद्गुरुणाहैवं कबीरः सर्वसज्जनम् ।
मोहं मार्जयतां त्यक्त्वा सङ्गं चैव सुखी भव ॥६०॥

+ग. मा शा. अ. १६।१६॥

मायामयं विदयमलं विदित्वा त्यक्त्वैव मोहं ममतां च दूरे ।
गतस्मया हर्षविषादहीना विजित्य मायां सुखिनो भवन्ति ॥६१॥

स्नेहसूर्यादिजं तापं पापमायादिजं तमः ।
हरन्ती चांचराब्जस्य चन्द्रिकेयं विराजताम् ॥६२॥

दृष्ट्वा चांचरचन्द्रिकां हि सुजनः संसारसिन्धोस्तटम्,
आश्रित्याजरमक्षयं सुविमलं रामं परं पावनम् ।
त्यक्त्वा रागरसं च मोहमिहिकां कृत्वा करिं मायया,
छित्त्वा तां च विवेकखड्गतरसा सत्ये पदे राजताम् ॥६३॥

इति चांचरचन्द्रिका समाप्ता ।

हनूमान हरिभजन बिनु, जग का नेह न जाय ।
नेह गये बिनु जीव जग, फिरि फिरि भटका खाय ॥१॥
हरिगुरु भक्ति विचार करि, नेह मोह करि दूर ।
जे निर्भय विचरहिं मही, ते पावहिं पद पूर ॥२॥

इति सप्तम चाचर प्रकरण संपूर्ण ॥

श्रीसद्गुरुचरणकमलेभ्यो नमः।

—:सद्गुरु:—

# कबीर साहेब कृत बीजक।

[ स्वानुभूतिसंस्कृतव्याख्यासहित ]

## अथ अष्टम (ज्ञान) चौंतीसी प्रकरण।

यः शुद्धो ज्ञानमूर्तिः स्थिरचरनिकरं व्याप्य चास्ते स्वभासा,
भोगान् भुक्त्वेव लोके तनुमनिमनसां साक्षिभूतोऽद्वितीयः।
हृत्वा सर्वान् विवर्तान् स्वमहिमनि तदा मायया सुप्तवच्च,
* आनन्तं तं तुरीयं परममममृतमाश्रये शान्तमाद्यम् ॥१॥

अक्षराणां समूहैर्यः प्राप्यते ह्यक्षरोऽपि सन्।
ओंकाराद्यभिधेयं तं सद्वाच्यं सदा भजे ॥२॥

अक्षरैरक्षरं नित्यं बोधयन्तं विभुं परम्।
अक्षयं तं गुरुं वन्दे परमानन्दचिद्घनम् ॥३॥

सोपानभूतान् सुविधाय योऽक्षरान् निरक्षरेऽप्यक्षधियां प्रकाशके।
प्रावेशयत्साधुजनस्य मानसं तं दैशिकेन्द्रं प्रणमामि सर्वदा ॥४॥

---

* अनन्तमेव-आनन्तम् ॥

+अलब्ध्वा रक्षणं सम्यग् निजं वैदिककर्मसु।
ययुर्यच्छरणं देवास्तमोंकार* गुरुं भजे ॥५॥

## चौंतीसी १, ओंकारार्थप्रदर्शन प्र. १.

ओअंकार आदि जो जानै। लिखि के मेटे ताहि सो मानै ॥
ओअंकार कहै सब कोई। जिन यह लखा सो विरले होई ॥

इदं सर्वं यदोंकारो ब्रह्मास्ति चैतदक्षरम्।
एतदालम्बनं श्रेष्ठमित्यादिशासनाद्धि ये ॥१॥
ओंकारं परमं पूज्यं × सर्वस्यादिं विदन्ति ते।
यं लिखित्वा विलुम्पंति तं मन्यन्ते विमोहतः ॥२॥

---

+ अयं छा.–अ. १ खं. ४ द्रष्टव्यो वर्तते विषयः ॥

* ओंकारः प्रथमस्तत्र चतुर्दशस्वरास्तथा। स्पर्शाश्चैव त्रयस्त्रिंशदनुस्वा-रस्तथैवच ॥ विसर्जनीयश्च परो जिह्वामूलीय एवच। उपध्मानीय एवास्ति द्विपञ्चाशदमी स्मृताः ॥ स्कन्दपु. खं. १।२।५।५१–५२॥ अ, इ, उ, ऋ, लृ, एषां ह्रस्वदीर्घभेदेन द्वैविध्यात् प्लुतस्य प्रयोगबाहुल्याभावाद्दीर्घेणैव ग्रहणाल्लृतिलृवेति निहितलृवर्णस्य दीर्घत्वात् स्वराणां चतुर्दशत्वं, स्पर्शानां पञ्चविंशतित्वम्, अन्तःस्थानां चतुष्ट्वम्, ऊष्मणां च तथेति मेलयित्वा त्रयस्त्रिंशत्वं तथा चोकारीत्याऽक्षराणां द्विपञ्चाशद्भेदभिन्नत्वेऽपि (काव्यमार्गे स्वरो न गण्यते) इति काव्यप्रकाशनवमोल्लासस्यनयस्वीकारे ककारादिकमेवाक्षरशब्देन गृह्यते, ओ अंकार, इत्यादिकं मंगलाऽभिन्नो-पक्रमरूपम्, तस्मादस्य प्रकरणस्य चौंतीसीति नाम संगच्छते, ज्ञानोपदे-शाज्ज्ञानचौंतिसीत्यपि कथ्यत इति दिक् ॥

× प्रणवं हीश्वरं विद्यात्सर्वस्य हृदि संस्थितम्। सर्वव्यापिनमोंकारं मत्वा

लिखित्वेदं जगच्चित्रं यद्धि ब्रह्म निगूहते ।
ओंकारं तद्धि मन्यन्ते गुरुभक्ता विवेकिनः ॥३॥
ओंकारं शब्दमात्रं हि वदंति बहवो जनाः ।
ये तु तत्त्वेन जानंति भवंति विरला हि ते ॥४॥
परमात्मप्रतीकत्वं श्रेष्ठता तस्य नामसु ।
ओंकारस्य यथा तच्च श्रुतिस्मृत्योः स्फुटं परम् ॥५॥१॥

जो लोग शास्त्रद्वारा ओंकार को सबका आदि जानते हैं वे लोग भी जिसे लिखकर मेटते हैं, उसे ही विवेक विना ओंकार मानते हैं। और विवेकी लोग ससारचित्र लिखकर मेटनेवाला को ओंकार मानते हैं। ओंकार शब्द को बहुत लोग कहते हैं, परन्तु जिन्होंने इसे लखा ( जाना ) है वे विरले होते हैं ॥१॥

## चौंतीसी २.

कक्का कमल किरणमहँ पावै । शशि विकसित संपुट महँ आवै ॥
तहँ कुसुम्भ रंग जो पावै । अगह गहीके गगन रहावै ॥

स्वयंप्रकाशसूर्यात्मा क इति कथ्यते बुधैः ।
लभ्येत किरणस्तस्य यदा हृत्कमले स्वके ॥६॥
फुल्लचन्द्रसमहृदः सम्पुटे चाव्रजेत्स चेत् ।
रूपं तत्रोपलभ्येत * कुसुम्भरूपवत्तथा ॥७॥

धीरो न शोचति ॥ अमात्रोऽनन्तमात्रश्च द्वैतस्योपशमः शिवः । ओंकारो विदितो येन स मुनिर्नेतरो जनः ॥ गौडपादीयका. प्र. १।२८—२९॥ तस्मादो मित्युदाहृत्येति । भ. गी. १७।२४॥ ब्रह्मणः प्रणव कुर्यात् । मनु० । २।७४॥

* नीहारधूमार्कोऽनिलाऽनलानां खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम् । एतानि रूपाणि पुरःसराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे ॥ श्वे. २।११॥

ध्यायकेन तदा सर्वं त्यक्त्वैव कमलादिकम् ।
अग्राह्यं निर्विशेषं तद् गृहीत्वैव चिदम्बरे ॥८॥
स्थातव्यं हृदये यद्वा स्वोंकारार्थममात्रकम् ।
गृहीत्वा तत्र तादात्म्यात्स्थातव्यं सर्वदा सुधैः ॥९॥
किम्वाऽऽनन्दप्रकाशस्य विन्देत्किरणमात्मनः ।
शशिवद्विकचे सम्यग् हृत्पद्मे सम्पुटेऽथवा ॥१०॥
बुद्धौ मनसि वा रागे कुसुम्भवत्सुरञ्जके ।
अग्राह्यमनघं बुद्ध्वा तदा तिष्ठेच्चिदम्बरे ॥११॥२॥

कक्षा ( आत्मा ) के किरण ( प्रकाश ) जब कमल ( हृदय ) में पावे, चन्द्रमा के समान विकसित हृदय सम्पुट में जब वह किरण प्राप्त हो, और तहँवा ही कुसुम्भ रंग जब प्राप्त हो ( ज्ञात हो ) तब अगह आत्मा को गहकर गगन में स्थिर होना चाहिये ॥२॥

## चौंतीसी ३.

खखा चाहै खोरि मनावै । खसमहिं छोड़ि दशहुं दिशि धावै ॥
खसमहिं छोड़ि क्षमा ह्वै रहई । ह्वै न क्षीण अक्षय पद लहई ॥

चिदाकाशः सुखं स्वर्गः खशब्देन निगद्यते ।
तत्र यः स्थितिमिच्छेत्स ईश्वरप्रार्थनादिभिः ॥१२॥
दोषान् क्षमापयेत्स्वस्य दुष्टं चानुनयेन्मनः ।
धारणाध्यानतः सम्यग् धर्मसत्सङ्गमादिभिः ॥१३॥
कल्पितं च पतिं त्यक्त्वा धावेद्दिक्षु दशस्वपि ।
आत्मदृष्ट्या गुरुञ्चापि मार्गयेत्सर्वतः प्रभुम् ॥१४॥
पतिं त्यक्त्वा क्षमाद्यैश्च संयुतो निवसेत्सदा ।
क्षीणो न भवति ह्येवं लभते चाक्षयं पदम् ॥१५॥

स्वस्मिंस्त्यक्त्वा पतित्वं च क्षमाशीलो जितेन्द्रियः ।
निर्ममो निरहङ्कारो निर्द्वन्द्वः संगवर्जितः ॥१६॥
सर्वत्र समबुद्धिश्च पदं गच्छत्यनामयम् ।
जीवन्मुक्तोऽभयः शान्तः सर्वत्र मुदमेति सः ॥१७॥३॥

खखा ( चिदाकाश–सुख–स्वर्ग ) जो कोई चाहे, सो खोरियों ( दोषों ) को मनावे ( भक्ति आदि द्वारा ईश्वर से क्षमा करावे, और दुष्ट मन को शान्त करे ) तथा पतित्व ( स्वामित्व ) के गर्व, असत् पति को छोड़कर, सत्पति सद्गुरु की प्राप्ति के लिये दशोंदिशा में धावा करे । और असत् खसम–पतित्व के अभिमान को छोड़कर, क्षमाशील होकर जो कोई रहे, सो कभी क्षीण ( नष्ट ) नहीं होता है; किन्तु अक्षय पद का लाभ करता है इत्यादि ॥३॥

## चौंतीसी ४.

गगगा गुरु के वचने माने । दूसर शब्द करे नहिं काने ॥
तहाँ विहङ्गम कवहुं न जाई । औगह गहिके गगन रहाई ॥

विघ्नहर्ता गणेशोऽत्र गशब्देन निगद्यते ।
तद्रूपं सद्गुरुं पश्येन्मन्येत वचनं तथा ॥१८॥
अन्यं न शृणुयाच्छब्दं गुरुं च हृदि धारयेत् ।
एवं द्विविपदां केऽपि कदाचित्तत्र यांति नो ॥१९॥
विघ्नमाचरितुं किन्तु सहायास्ते × भवंति हि ।
ज्ञाने ध्याने तथा भक्तौ धर्मे मुक्तौ च सर्वथा ॥२०॥

× य एवं वेदाऽहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति तस्य न देवाश्च नाऽभूत्या ईशते । बृ. १।४।१०॥

देवानां च सहायत्वे निष्पत्यूहो नरोऽप्यसौ।
अग्राह्यं परमं बुद्ध्वा चिदाकाशे वसत्यलम् ॥२१॥
शौचेन तपसा मौनादजस्रं श्रवणादिभिः।
अहिंसाद्यैश्च संशुद्धैरेषा बुद्धिरवाप्यते ॥२२॥
सद्भक्तिर्या गुरुषु च भक्तिः सर्वस्माच्चेतसि च विरक्तिः।
हिंसात्यागः सममतिशुद्धा चित्तिः प्राज्ञे ह्यतिविमला स्यात् ॥२३-४॥

इति चौंतीसीचर्चायामोंकारार्थप्रदर्शनं नाम प्रथमं वाक्यम् ॥१॥

गगुगा ( विघ्नहर्ता गणेश ) गुरु के वचन को माने। और दूसरे शब्दों का कान ( श्रवण ) नहीं करे। तो तहाँ ( उसके पास ) विहगम ( पक्षी–आकाशगामी–विघ्नकर्ता देवादि ) कभी नहीं जाते हैं, इससे वह पुरुष औगह (अग्राह्य–अथाह) को गहकर चिदाकाश वा हृदाकाश में स्थिर रहता है ॥४॥

इति औंकारार्थ प्रदर्शन प्रकरण ॥१॥

## चौंतीसी ५, देहविषयतत्त्वप्रदर्शन प्र. २.

घघुघा घट फूटे घट होई। घटही मे घट राखु समोई ॥
जो घट घटे घटै फिरि आवै। घटहीं मे फिरि घटहिं समावै ॥

घटो घनो ह्यधर्मश्च 'घ'शब्देन निगद्यते।
घटवद् घनवच्चैव देहरूपो घटः सदा ॥
भज्यते जायतेऽधर्मोऽघोघो यावद्धि विद्यते ॥१॥
अतो गुरोर्वचः श्रुत्वा घटं देहद्वयात्मकम्।
अविद्यात्मघटे क्षिप्त्वा स्थाप्यतां स न चिन्त्यताम् ॥२॥

नेत्थं कृत्वा शरीरेऽत्र घटते यः सदा कुधीः ।
स आयाति घटे शश्वद् घटे चास्य घटो विशेत् ॥३॥
मातुर्निविशते गर्भे देहाभिमितितस्तथा ।
स्वयमेव घटो भूत्वा घटादौ वर्तते पुनः ॥४॥
किम्वाऽधर्मेण नष्टेस्मिन् देहेऽपि स पुनर्भवेत् ।
सूक्ष्मदेहघटश्चैनं स्थूलेप्वावेश्य रक्षति ॥५॥
यदाऽधर्मः शरीरं च विवेकान्न्यूनतां व्रजेत् ।
तदा घटो घटे यायात् क्रमशो लीनतां व्रजेत् ॥६॥
असङ्गे नैव सम्बन्धो देहस्य भासते तदा ।
राजते च तदात्माऽयं कूटस्थो ह्यचलो ध्रुवः ॥७॥

घघुघा ( मेघ ) तुल्य यह घट ( देह ) क्षण में फूटता और होता है, और यही घट जीवात्मा को माता के घट में समाकर रखता है। जो कोई इस घटही में घटता ( आसक्त होता ) है, सो घटों में ही फिर भी आता है। फिर भी घटही में घटाभिमानी होकर समाता है ॥५॥

## चौंतीसी ६.

ङङ्ङा निरखत निशिदिन जाई। निरखत नयन रहा रतनाई ॥
निमिप एक जो निरखै पावै। ताहि निमिप में नयन छिपावै ॥

भैरवो विपयश्चैव स्मरणं च स्पृहा तथा ।
कथ्यते वै ङकारेण ताडनं चापि कथ्यते ॥८॥
भीपणान् विपयादींस्तान् पश्यतां यात्यहर्दिवम् ।
घोराणां दर्शने येपां नेत्रं रत्नसमं सदा ॥
निश्चलं वर्तते रक्तं विद्यते चाऽविवेकिनाम् ॥९॥

मन्दप्रज्ञो हि कश्चिच्चेत्पलमेकमपि क्वचित् ।
तान् द्रष्टुं लभते कालं तावता घ्नन्ति ते धियम् ॥१०॥
विवेकनेत्रमाच्छाद्य कुमार्गेषु नयंति ते ।
अहो तथापि पश्यन्तस्ताञ्जना मन्वते सुखम् ॥११॥
अथवाऽहर्दिवं याति विश्वं पश्यति दारुणम् ।
स्मरणं च सतां पश्य ताडनं च यमादिभिः ॥१२॥
स्पृहणीयं स्वमात्मानं विद्धि तेभ्यो विवेकतः ।
विद्यते मानवे देहे नेत्रं रत्नसमं तव ॥१३॥
एकमेव निमेषं चेदात्मानं मन्तुमर्हसि ।
तावन्मात्रेण सर्वांस्त्वमन्या दृष्टीर्विलोप्स्यसि ॥१४॥६॥

हड्डा ( भयानक विषयादि ) निरखत ( देखते ) में रातदिन जा रहे हैं। और उन्हें देखने में नयन रतनाई ( रत्नतुल्य पलरहित या लाल ) हो रहा है। और विषयों का स्वभाव है कि जो कोई मन्द विवेकी उन्हें एक पल भी देखने पाता है, तो उतनेही काल में उसके विवेक नेत्र को वे विषय छिपाते हैं इत्यादि ॥६॥

## चौंतीसी ७.

चच्चा चित्र रच्यो बहु भारी। चित्रहिं छाडु चेतु चित्रकारी ॥
जिन यह चित्र विचित्र उखेला। चित्र छाड़ि तें चेतु चितेला ॥

चन्द्रः सूर्यश्च चौरश्च निर्मले दुर्जनश्च चः ।
देहविश्वात्मकं चित्रं चन्द्रसूर्यादिसंयुतम् ॥
महातस्करवद् घोरं रचितं दुर्जनैः समम् ॥१५॥
हरति स्वात्मसर्वस्वं चित्तं चोरयते तथा ।
रचितं निर्मलेनापि माययैतादृशं कृतम् ॥१६॥

तत्यक्त्वा चित्रकारं त्वं तं जानीहीदृशं जगत् ।
विचित्रं रचितं येन चित्रकारः स चेतनः ॥१७॥
त्वमेवासि ततस्त्यक्त्वा चित्रं देहात्मकं त्वया ।
आत्मैव ज्ञायतां देवश्चित्रकारो निरञ्जनः ॥१८॥७॥

इति चौंतीसीचर्चायां देहविषयतत्त्वप्रदर्शनं नाम द्वितीय वाक्यम् ॥२॥

बहुत भारी चच्चा ( चोर ) रूप स्त्री आदि चित्र, जगदीश द्वारा रचे गये हैं। तुम चित्रों को छोड़कर चित्रकार को चेतो ( समझो )। जिन्होंने इस विचित्र चित्र को उखेला ( रचा ), चित्र को छोड़कर उन्हीं चितेला ( चितेरा-चित्रकार ) को तुम समझो ॥७॥

इति देहविषय तत्त्व प्रदर्शन प्रकरण ॥२॥

## चौंतीसी ८, निर्मलात्मप्राप्त्युपायप्रदर्शन प्र. ३.

छछ्छा आहिं छत्रपति पासा । छकि क्यों न रहसि मेटि सब आशा ॥
मैं तोही क्षिण क्षिण समुझाया । खसम छोड़ि कस आपु बँधाया ॥

निर्मलं छं समाख्यातं तत्क्षेत्रज्ञोऽतिसन्निधौ ।
आत्मत्वाद्वर्तते नित्यं सार्वभौमनृपोपमः ॥१॥
तं ज्ञात्वा नित्यतृप्तस्त्वमाशां निर्मूल्य सर्वथा ।
किं तिष्ठसि न चाऽव्यग्रो निर्मलोऽसि सदाऽव्ययः ॥२॥
अहं बोधितवानस्मि ह्येवं प्रतिपलं हितम् ।
त्वां तथापि कथं त्यक्त्वा पतिं बद्धः स्वयं भवान् ॥३॥
अद्यापि स्वपतिं बुद्ध्या गृहीत्वा स्वात्मभावतः ।
आशापाशं निराकृत्य बन्धान्मुक्तः सुखी भव ॥४॥

आशापाशाच्च निर्मुक्ति निर्मलज्ञानमन्तरा।
तं ज्ञात्वा तामशेषं त्वं जहीहि दृढबोधतः ॥५॥
आशा हि लोहरज्जुभ्यो विषमा विपुला दृढा।
तां संहर्तुं विवेकं च वैराग्यं प्रथमं श्रय ॥६॥८॥

छछ्छा ( निर्मल ) छत्रपति ( राजा–क्षेत्रज्ञ ) अत्यन्त पास में आहिं ( हैं ) उनके ज्ञानध्यानादि से सब आशाओं को मेटकर छकि (तृप्त हो) कर क्यों नहीं रहते हो। मैं ( गुरु ) ने तुझे क्षण२ मे इस प्रकार समझाया है, तौभी उक्त खसम ( स्वामी ) को छोड़कर क्यों आप बन्धन में पड़े हो ॥८॥

## चौंतीसी ९.

जज्जा ई तन जियत हिं जारो। यौवन जारि युक्ति तन पारो ॥
जो कछु जानि जानि पर जरै। घटहिं जोति उजियारी करै ॥

जेता च गायनश्चैव वेगितश्च निगद्यते।
जेमनं च जकारेण तस्मादित्थं विबुध्यताम् ॥७॥
जेता स्वमनसो भूत्वा षडरींश्च विजित्य वै।
प्रारब्धं चैव भुञ्जानो विमोक्षायातिवेगितः ॥८॥
गायनो वचसां भूत्वा सतां च शान्तमानसः।
इदं कलेवरं जीवन्भस्मसात् कुरु मूलतः ॥९॥
यौवनं च मदं त्यक्त्वा यौवने सति युक्तितः।
देहसिंधोः परे पारे प्राप्तो भव त्वमञ्जसा ॥१०॥
ज्ञातं ज्ञातं हि यत्किञ्चिदात्मान्यद्दिह्यते जगत्।
दग्धं ज्ञानाग्निना तच्च स्वान्ते ज्योतिः प्रकाशयेत् ॥११॥

" * वैराग्याभ्यासवशतस्तथा तत्त्वावबोधनात् ।
संसारस्तीर्यते तेन तत्रैवाभ्यासमाहर " ॥१२॥९॥

जज्जा ( मन को जीतकर ) ई तन ( इस देह ) को जीवित दशा में ज्ञानाग्नि से जलावो । और यौवनमद को जलाकर सुयुक्ति से सब तनु ( देह ) से पार होवो । जो कुछ जानि२ ( ज्ञात ) वस्तु हैं, वे सब जब परजरैं ( अत्यन्त नष्ट होवैं—परतत्त्व में लीन होवैं ) तो इस देह में ही परम ज्योति का प्रकाश कर सकते हैं ॥९॥

## चौंतीसी १०.

झझ्झा अरुझ सरुझ कित जाना । हींढ़त ढूढ़त जात पराना ॥
कोटि सुमेरु ढूढ़ि फिरि आवै । जो गढ़ गढ़ा गढ़हिं सो पावै ॥

रवो नष्टश्च वायुश्च नैपथ्यश्च झ उच्यते ।
तदात्मकेऽत्र संसारे देहे प्राणे च किं भवान् ॥१३॥
संसजत्यविवेकेन कुत्र गत्वा विवेक्ष्यति ।
आत्मानं वा परं वापि सक्तो वा कुत्र यास्यति ॥१४॥
यद्यत्र लभते नैव विविक्तं स्वं परं पदम् ।
तदा तेऽन्वेषमाणस्य सुगं सत्यं परं पदम् ॥
व्यर्थं प्राणाः प्रयास्यन्ति धावमानस्य सर्वतः ॥१५॥
सुमेरुकोटिदुर्गेषु ह्यन्विष्यापि यदा भवान् ।
आगत्य मानवे देहे विचारादि करिष्यति ॥१६॥
येनेदं रचितं चित्रं गृहं तं तु गृहेऽत्र वै ।
संलप्स्यसे तदा नैव त्वन्यत्र बहुजन्मसु ॥१७-१०॥

* यो. वा. ६।२।२१॥

इस झञ्झा ( संसार नेपथ्य शब्दादि ) में अरुझे ( फसे ) हो, सरुझ ( विवेक ) करना कित ( कहाँ ) तुमने जाना ( समझा ) है। यदि इस देह में सरुझ नहीं हुआ, तो अन्यत्र हीँढते ढूंढते में तुम्हारा प्राण व्यर्थ जाता है, या तुम परानै ( भगे ) जाते हो। क्योंकि करोड़ों सुमेरुओं पर से भी दूढकर जब मानव तनु में जीव आता है, तब जो इस गढ़ ( देह ) को गढ़ा (रचा) है, उसे इसीमें पाता है ॥१०॥

## चौंतीसी ११.

बजुवा निग्रह से करु नेहू। करु निरुआर छाडु संदेहूं ॥
नहिं देखै नहिं भाजै केहू। जानहु परम सयानप येहू ॥
नहिं देखै नहिं आपु भजाऊ। जहाँ नहीं तहँ तन मन लाऊ॥
जहाँ नहीं तहँ सब कछु जानी। जहाँ नहीं तहँ लै पहिचानी॥

गायने शयने चैव ञशब्दः प्रोच्यते बुधैः
केवलाद् गायनाच्चैव मोहस्वप्नान्निरन्तरम् ॥
मनसो निग्रहे प्रीतिः साधो सम्यग् विधीयताम् ॥१८॥
शयालुर्मोहतः किञ्च गायकोऽपि भवन् पुरा।
इन्द्रियाणां निरोधेऽत्र स्नेहः सद्यो विधीयताम् ॥१९॥
मोहनिद्रां परित्यज्य जागृहि स्वं विविङ्धि च।
संदेहस्त्यज्यतां साधो मा द्वैविध्येन पीड्यताम् ॥२०॥
विश्वं नैवेन्द्रियं पश्येत्सत्यत्वेन मनस्तथा।
न चेद्धावेत कुत्रापि विद्ध्येतत्परविज्ञताम् ॥२१॥
यश्च सत्पुरुषः किञ्चित्सत्यं नैवात्र पश्यति।
नात्मनोऽन्यत्र कुत्रापि धावते चाशयाऽमृते ॥२२॥

तत्र तत्परमं ज्ञेयं चातुर्यं मोक्षदं शुभम् ।
वैराग्यमात्मविज्ञानं समता क्षांतिरक्षया ॥२३॥
अतस्त्वयाऽत्र सत्यं नो किञ्चित्साधो निरीक्ष्यताम् ।
आत्मनो न पृथग् याहि तृष्णाशादिभिरङ्ग हे ॥२४॥
किन्तु यत्र न किञ्चिद्धि सर्वं यत्र च दृश्यते ।
तत्रैव स्वतनुः स्वस्य मनश्च नीयतां त्वया ॥२५॥
यत्र किञ्चिन्न तत्रैव विश्व ज्ञात्वा हि कल्पितम् ।
तत्र सत्यं सुखं मोक्षश्चैतन्यं परिचीयताम् ॥२६॥११॥

इति चौंतीसीचर्चायां निर्मलात्मप्राप्त्युपायप्रदर्शनं नाम तृतीयं वाक्यम् ॥३॥

हे संजुजा ! (मोह से सोनेवाले–शब्दों के गानेवाले !) शब्दादिरूप झझझा से मन इन्द्रियों का निग्रह ( निरोध ) से, नेह ( प्रेम ) करो। और आत्मानात्मादि का निरुवार ( विवेक ) करो। संदेहों को छोड़ो। यदि मन और इन्द्रियाँ उक्त झझझाओं को सत्य नहीं देखे, और अनात्म पदार्थ में नहीं भगें, तो यह परम सयानप (ज्ञानीपन) जानो॥ ऐसाही चतुर न अन्य किसीको देखता है, न आप अपने स्वरूप से कहीं भागता है, और जहँ सत्य संसार नहीं है, वहाँ तनु मन को लगाता है, जहाँ कुछ नहीं है वहाँ सब संसार को कल्पित जानकर, और सत्य सुखादि समझकर, जहाँ नहीं है तहाँ ही पहचान ( जान ) लेता है इसलिये ऐसा करना चाहिये ॥११॥

इति निर्मलात्मप्राप्त्युपाय प्रदर्शन प्रकरण ॥३॥

## चौंतीसी १२, मनः प्रपञ्चप्रदर्शन प्र. ४.

टट्टा विकट बाट मन माहीं। खोलि कपाट महल ते जाहीं ॥
रहि लटपटी जुटा तन मांहीं। होहिं अटल ते कतहुं न जाहीं ॥

टो धरित्र्यां ध्वनौ चैव तत्र गन्तुं स्वमानसे।
विषमो वर्तते मार्गस्तेन गत्वा स्वहृद्गृहात् ॥१॥
विवृत्य स्वेन्द्रियद्वारं वहिर्गच्छन्ति जन्तवः।
विषयादौ शरीरे च समासक्ता विमोहतः ॥२॥
अध्यासेन भवन्त्यत्र ह्येकीभूताः सदाऽचलाः।
सत्सङ्गादौ विवेकार्थं नैव कुत्रापि यान्त्यतः ॥३॥
ध्वनिरेवास्ति मार्गो वा स्वान्तेऽतिविषमः शुभः।
विवृत्यैव कपाटं च बुधा मोहादिलक्षणम् ॥४॥
तेन मार्गेण संयान्ति हृद्गेहे योगयुक्तितः।
मिलित्वा स्वात्मना तत्र सदा तिष्ठन्त्यभेदतः ॥५॥
अतस्ते ह्यचला भूत्वा नैव यांति पुनः क्वचित्।
भ्रमन्त्यज्ञाश्च सर्वत्र हृद्गृहे नैव यान्ति ते ॥६॥
विषयाः संविशन्त्येव तेषां च हृदये सदा।
वासनाद्यात्मना तत्र स्थिराश्चैव भवंति ते ॥७॥१२॥

अनिरुद्ध मन में टट्टा ( ध्वनि आदि ) विषयों के पैठने के लिये विकट ( कठिन ) मार्ग है, उसी मार्ग को खोलकर ते (ध्वनि आदि) हृदय महल में जाते हैं। और वासना आदिरूप से लटपट ( मिश्रित ) होकर जुटे ( लगे ) रहते हैं, अटल होते हैं, विवेकादि विना कभी कहीं जाते ( निवृत्त होते ) नहीं हैं ॥१२॥

## चौंतीसी १३.

ठठ्ठा ठौर दूर ठग नियरे । नित के निठुर कीन्ह मन धीरे ॥
जे ठग ठगु सब लोग सयाना । सो ठग चीन्हि ठौर पहिचाना ॥

जनतायां ध्वनौ शून्ये महेशे चन्द्रमण्डले ।
शठे प्रयुज्यते चायं ठशब्दः शब्दकोविदैः ॥८॥
शठेभ्यो जनसंघेभ्यो ध्वनिकर्मभ्य एव च ।
सर्वप्रपञ्चसंशून्यो महेशः स्थानमव्ययम् ॥९॥
आत्मैव सर्वभूतस्याप्यतिदूरे हि वर्तते ।
कामाद्या वञ्चकाश्चैव तिष्ठंति निकटे सदा ॥१०॥
ते च नित्यं शनैः स्वान्तं कृतवन्तोऽतिनिष्ठुरम् ।
दयामैत्र्यादिभिर्हीनं घातुकं वञ्चनापरम् ॥११॥
वञ्चका वञ्चयन्त्यत्र ये सदा कुशलानपि ।
सर्वांस्तान् सुविदित्वैव ज्ञायते शाश्वतं पदम् ॥१२॥
अतो ज्ञात्वा च तांस्त्यक्त्वा धूर्तान् कामादिकान् खलु ।
आत्मानं सदधिष्ठानं विद्धि विद्धं चिदव्ययम् ॥१३-१३॥

ठठ्ठा ( जनसंघ ) से नित्य ठौर दूर है, और कामादि ठग सदा नियरे ( पास ) में हैं। सो कामादि नितके ( सदा के लिये ) मन को धीरे२ निठुर ( क्रूर ) कर दिये हैं। और जो ठग सब सयानों ( चतुरों ) को भी ठगते हैं उन्हें चिन्ह करके ही विवेकियों ने नित्य निर्मल ठार को पहचाना ( जाना ) है ॥१३॥

## चौंतीसी १४.

डड्डा डर उपजे डर होई । डर्हीं में डर राखु समोई ॥
जो डर डरे डरे फिरि आवै । डरहीं मे फिरि डरहिं समावै ॥

> डकारः शंकरे त्रासे ध्वनौ भीमे निरुच्यते ।
> स्थानाऽपरिचयाद् भीष्माच्छंकराच्च ध्वनेरपि ॥
> भयमुत्पद्यते पुंसां त्रासात्त्रासश्च जायते ॥१४॥
> सकारणमतस्त्रासं भीतेरपि भयप्रदे ।
> ईश्वरे जगतां सारे स्थापयित्वा लयं कुरु ॥१५॥
> नैवं कृत्वा तु यः कश्चिद्बिभेति भयकारणात् ।
> स स्वयं भयदो भूत्वा ह्यायाति साध्वसप्रदे ॥१६॥
> आगतौ तत्र चान्यस्माद् भयं तस्य विजायते ।
> अन्ततो वै यमान्मृत्योर्दुःखाच्च जायते भयम् ॥१७॥
> " शोकस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च ।
> दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम्" ॥१८॥१४॥

इति चौंतीसीचर्चायां मनःप्रपञ्चप्रदर्शनं नाम चतुर्थं वाक्यम् ॥४॥

उक्त ठौर के ज्ञान बिना डड्डा (शंकर भयानक ध्वनि आदि) से भय उत्पन्न होता है ॥ तुम सब भयों को, भयों के [illegible] [illegible] में समोई (लयकर) के रख दो। ऐसा नहीं करने [illegible] डर के [illegible] ईश्वरादि से डरता है, सो भेद बुद्धिवाला फिर भी डर [illegible] [illegible] [illegible] है, फिर भी डर (भय) में मगरूर होकर [illegible] है ॥१४॥

इति मनःप्रपञ्च प्रदर्शन [illegible] ॥४॥

## चौंतीसी १५, आत्मान्वेषणागम्यसंसारप्रदर्शन प्र.५

ढढ्ढा ढूंढत है कत आना। हींढत ढूढत जात पराना ॥
कोटि सुमेरु ढूंढि फिरि आवै । जो गढ़ गढ़ा गढ़हिं सो पावै ॥

ढकारो निर्गुणं ब्रह्म तत् किमन्यत्र मृग्यसि ।
स्वस्मादन्यत्र तन्मृग्यस्तस्मात्त्वं म्लायसे सदा ॥१॥
अन्यं मृगयमाणश्च सुमेरुष्वपि कोटिषु ।
तद्प्राप्यैव चागत्य देहगेहे हि लप्स्यसे ॥२॥
येनेदं रचितं हर्म्यं स सदाऽत्रैव तिष्ठति ।
असङ्गो लभते· तं च ज्ञानेनामलचेतसा ॥३॥
असङ्गो भव शीघ्रं त्वमन्यथा मृगयतस्तव ।
प्राणा यास्यन्त्यसन्मार्गे स्थिति· क्वापि भवेन्नहि ॥४॥
" * नाहं कर्ता न भोक्ता च न बाध्यो न च बाधकः ।
इत्यसज्जनमर्थेषु सामान्यासङ्गनामकम् ॥५॥
नाहं कर्तेश्वरः कर्ता कर्म वा प्राक्कृतं मम ।
कृत्वा दूरतरे नूनमिति शब्दार्थभावनम् ॥
यन्मौनमासन शान्तं तच्छ्रेष्ठासङ्ग उच्यते " ॥६॥१५॥

ढढ्ढा ( निर्गुण ब्रह्म ) को आन ( अन्यत्र अन्य जानकर ) कत ( क्यों ) ढूढता हो, इस प्रकार हींढते ढूढते ( बार२ खोजते ) तो तुम सत्य निर्गुण ठौर से दूर पराना ( भगा ) जाता है। या इससे व्यर्थ तेरा प्राण जाता है। करोड़ों सुमेरु पर ढूढकर फिर आने पर जिसने इस गढ़ को गढ़ा है, उसे गढ़ही में पावोगे ॥१५॥

* योगवासिष्ठ.

## चौंतीसी १६.

णणूणा दुई बसाये गाऊ। रे णणूणा टूटे तेरि नाऊ॥
मूये एक जाय तजि घना। मुये इत्यादि कहौं कत गना॥

णकारो निश्चये ज्ञाने निर्णयेऽपि च पठ्यते।
निश्चयज्ञानरूपोऽयं जीवात्मा सुखलब्धये॥
स्वर्गमर्त्यावुभौ ग्रामौ वासयामास कर्मतः॥७॥
यशो नामप्रसिद्ध्यर्थं पदार्थनिचयं बहु।
अगृह्णाच्च ततः प्राह सद्गुरुर्मोक्षसिद्धये॥८॥
निर्णीतज्ञानरूपात्म रे जीव! तव नाम च।
यशश्च त्रुट्यते कालैरन्यत्सर्वं च नश्यति॥९॥
मृत्वा यासि स्वयं चैकस्त्यक्त्वा बहुधनादिकम्।
एवं मृतोऽसि जातोऽसि कियत् संख्याय कथ्यताम्॥१०॥
कालो महाबली सेकस्ते तोडति तनू. सदा।
त्रुट्यन्ति सर्वसम्बन्धाः स्म लुण्ठति धनादिकम्॥११॥
तस्मात्सर्वं परित्यज्य स्वयं त्वं मनसा सुधीः।
अनासक्तो गतस्नेहः कालातीतं सुसाधय॥१२॥१६॥

णणूणा ( निश्चय निर्णीत ज्ञानरूप ) जीव ने अपने नाम यश के लिये लोक परलोक दो ग्राम बसाया है, परन्तु रे णणूणा ( जीव )! अन्त में तेरा नाम टूटता है। मरने पर तुम एकायी घना ( बहुत ) वस्तु को छोड़कर जाता है। और तेरी मुये इत्यादि ( मरणादि ) की कथा कत ( कितना ) गना ( गिन ) कर कहा जाय॥१६॥

## चौंतीसी १७.

तत्ता अति त्रियो नहिं जाई । तन त्रिभुवन मे राखु छपाई ॥
जो तन त्रिभुवन मांह छपावे । तत्त्वहिं मिलै तत्त्व सो पावै ॥

तकारः कथितश्चौरो ब्रह्म जीवश्च कथ्यते ।
देहादिषु समासक्तो जीवोऽयं त्रिगुणात्परे ॥
देहादिभ्यः परे नैव शुद्धे ब्रह्मणि गच्छति ॥१३॥
अतस्त्रिभुवने स्वस्य तनुं संछाद्य यत्नतः ।
चेष्टते रक्षितुं जीवस्तन्न सिद्ध्यति जातुचित् ॥१४॥
किञ्च यो भुवने स्वस्य तनुं गोप्तुमिहेच्छति ।
मिलति पञ्चतत्त्वेषु तत्त्वानि लभते च सः ॥१५॥
किम्वाऽतिचतुराश्चौराः स्त्रियो वा त्रिगुणादयः ।
हरन्ते भावसर्वस्वं ज्ञानध्यानादिकं समम् ॥१६॥
नैव गत्वा त्वया तेषु स्वस्य ज्ञानादिलक्षणाम् ।
संसाध्य रक्ष्यतां शुद्धां भुवनेषु तनुं त्रिषु ॥१७॥
किञ्च स्वस्य शरीरं च मनो रुध्वा कुमार्गतः ।
संसारस्य निदाने तज्जहीहि च लयं कुरु ॥१८॥
एवं यो भुवने स्वस्य तनुं छादयते बुधः ।
परे तत्त्वे मिलत्येष तच्च प्राप्नोति सर्वथा ॥१९-१७॥

दो ग्राम बसानेवाला तत्ता ( जीव ) अति त्रियो ( त्रिगुणपर ) में नहीं जाता है । किन्तु देह को ही तीनों भुवन ( लोक ) में छिपाकर रखना चाहता है । और जो तनु को त्रिभुवन में छिपाता है, सो पांच तत्त्व से ही मिलता है, पाच तत्त्व ही पाता है । अथवा अति तत्ता ( अत्यन्त चोर ) त्रियो ( त्रिगुण या स्त्री ) के वश में नहीं जाकर,

अपने तनु मन आदि को त्रिभुवन में उनसे छिपाकर रखो। क्योंकि जो तन को त्रिभुवन में छिपाता है, सो परम तत्त्व से मिलता है इत्यादि ॥१७॥

## चौंतीसी १८.

थथ्था अथाह थाहि नहिं जाई। ई थिर ऊ थिर नाहिं रहाई ॥
थोरे थोरे थिर हो भाई। बिनु थम्भे जस मन्दिर थम्हाई ॥

शिलोच्चये थकारः स्यात्रयस्य च सुरक्षणे।
शिलोच्चयो मनश्चेदमगम्यं सर्वजन्तुभिः ॥
यतोऽत्र तदमुत्रापि न कचित् स्थितिमेति हि ॥२०॥
अभ्यासेन विरागेण शनैस्त्वं स्थिरतां व्रज।
यथा स्तम्भं विना लोके वर्तते देवमन्दिरम् ॥२१॥
मनःसुमेरुणा यद्वा नावगाह्यो भवार्णवः।
सद्धर्मो नीतिमार्गश्च गुणदेहचयोऽथवा ॥२२॥
विद्यते स हि गम्भीरः पारावारविवर्जितः।
सद्बोधादि विना सर्वैस्तलं तस्माच्च लभ्यते ॥२३॥
तथापि ह्यस्थिरं मत्वा लोकमिममर्मुं तथा।
स्थिरो भव शनैर्भ्रातरन्यथा त्वस्त्यसंभवः ॥२४॥
स्तम्भाद्यैर्हि विना यद्वद्गृहं न स्थिरतां व्रजेत्।
अभ्यासादि विना तद्वच्च स्थिरं लभते पदम् ॥२५॥१८॥

यह मनरूप थथ्था (पहाड़) अथाह (अगम्य) है, किसीसे थाहा नहीं जाता, ई (यह) ऊ (वह) लोक परलोक में स्थिर नहीं रहता। हे भाई! थोरे २ (धीरे २) थिर होओ। जैसे बिना थम्भ के खिलान पर धीरे २ देवमन्दिर थम्हाया जाता है, तैसे मन को स्थिर

करो ॥ या मनरूप थथ्था ( पहार ) से भवसागर थाहने योग्य नहीं है, न लोक परलोक थिर रहनेवाले हैं इत्यादि ॥१८॥

## चौंतीसी १९.

ददा देखहु विनशनहारा । जस देखहु तस करहु विचारा ॥
दशहूं द्वारे तारी लावै । तब दयाल को दर्शन पावै ॥

दकारोऽभ्रे कलत्रे च धारणे शोभने मतः ।
शोभनं यत् कलत्रादि व्यवहारस्य धारणम् ॥
अपि दृश्यं जगत्सर्वं नश्वरं विद्धि मेघवत् ॥२६॥
प्रत्यक्षमभ्रवद् दृष्ट्वा भूतभाविषु वस्तुषु ।
नश्वरत्वं विजानीहि विचाराच्च गुरोर्मुखात् ॥२७॥
इत्थं ज्ञात्वा त्रिलोकस्थं दशद्वारेषु यन्निकाम् ।
निरोधाख्यां यदा दत्ते विरागाभ्यासतो हि यः ॥२८॥
स तदैव दयालोश्च सर्वस्य सुहृदः प्रभोः ।
सर्वसाक्षिस्वरूपस्य दर्शनं लभते ध्रुवम् ॥२९॥
*अनित्यं सर्वमेवेदं तापत्रितयदूषितम् ।*
असारं निन्दितं हेयमिति निश्चित्य शाम्यति ॥३०-१९॥

इति चौंतीसीचर्चायामात्मान्वेषणागम्यससारप्रदर्शनं नाम पञ्चमं वाक्यम् ॥५॥

इस प्रत्यक्ष संसार को ददा ( मेघ ) तुल्य विनशनिहार ( नश्वर ) देखो ( जानो ) और प्रत्यक्ष को जैसा देखो तैसाही परोक्ष भूत भावी दूरस्थ को भी विचारो ( जानो ) ऐसा जानकर जो कोई जन दशों

द्वारों में निरोधरूप तारो ( समाधि वा ताला ) लगाता है, तभी वह दयालु सर्वात्मा राम का दर्शन पाता है ॥१९॥

इति आत्मान्वेषणागम्यसंसार प्रदर्शन प्रकरण ॥५॥

## चौंतीसी २०, जीवसंसारादि प्रदर्शन प्र. ६.

धधधा अर्ध माहँ अँधियारी। अर्द्ध ऊर्ध्वे लेहु विचारी ॥
अर्द्ध छाड़ि ऊर्ध्वे मन लावै। आपा मेटिके प्रेम बढ़ावै ॥
चौथे वे नन्ना महँ जाई। राम के गदह होय खर खाई ॥

धं धने सधने धः स्याद्विधातरि मनावपि।
नो नेता चन्द्रमा सूर्यो वन्धुश्च कथ्यते तरिः ॥१॥
अधोलोकेऽथ मध्ये च धनं च धनितादिकम्।
अन्धकारमयं नित्यं चिन्तागर्वादिवर्द्धनम् ॥२॥
यथैवात्र तथैवोर्ध्वे स्वर्गेऽपि ज्ञायतां त्वया।
रागद्वेषादिहेतुत्वाद् दुःखालयमशाश्वतम् ॥३॥
विचारेण परिज्ञाय हीरथं तत्रत्यसम्पदम्।
निरुध्यैव मनस्तस्मात्स्वात्मन्येव वशं नय ॥४॥
एवमत्र त्वबुद्ध्वा यस्त्यक्त्वाऽप्यत्रत्यसम्पदम्।
ऊर्ध्वलोके मनो धत्ते तत्रत्यं धनमिच्छति ॥५॥
ममतामत्र हित्वा च बन्ध्वादिषु सुरादिषु।
स्नेहं वर्द्धयते नित्यं तत्रत्यवस्तुबन्धुषु ॥६॥
चतुर्थे जनलोके स चन्द्रे सूर्येऽथवा क्वचित्।
तुरीयोऽपि स्वयं गत्वा तत्रत्यस्वामिनो वशे ॥
तस्य गर्दभवद् भूत्वा फलमत्ति स्वकर्मजम् ॥७॥

विधातोक्तदयालोर्वा ह्यधस्ताद्वर्तते मनुः ।
यतस्तत्रापि मोहान्धरात्रिरद्यापि विद्यते ॥८॥
अतोऽधःस्थं तथोर्ध्वस्थं विचारेण विलोक्यताम् ।
तत्त्यक्त्वा चात्मसंस्थः सञ्जीवन्मुक्तो हि जायताम् ॥९॥२०॥

धधुधा ( धन वा धनिकता का गर्व ) ही इस अर्ध ( अधो वा मध्य ) लोक में अँधियारो ( अंधकार ) रूप है, और अर्ध की बात ही ऊर्ध्व लोकों में भी विचार से जान लो। जो कोई अर्ध के धनादि को छोड़कर, ऊर्ध्व के धनादि में मन लगाता है, और यहाँका आपा को मेटकर देवादि से प्रेम बढ़ाता है, सो चौथे ( जन ) लोक में वा चन्द्रसूर्यादि लोकों में जाकर, वहाँके नन्ना ( नेता ) ओं के वश में होकर, उक्त नेतारूप राम के भारवाही गर्दभ होता है, और स्वकर्मार्जित खर ( तृणतुल्य फल ) खाता ( भोगता है। या राम का गदहा होकर खरखाह ( मान्य ) होता है। मुक्त नहीं हो सकता ॥२०॥

## चौंतीसी २१.

नन्ना निरखत निशिदिन जाई। निरखत नयन रहा रतनाई ॥
निमिष एक जो निरखे पावै। ताहि निमिष में नयन छपावै ॥

पश्यतो बन्धुवर्गांस्ते सदा याति ह्यहर्दिवम् ।
तेषां च दर्शने नेत्रं रक्तं रत्नं यथाऽस्ति च ॥१०॥
दर्शनात्पलमात्रं हि येषां ज्ञानं विनश्यति ।
तान् पश्यसि सदैव त्वं कथं ते कुशलं भवेत् ॥११॥
अथवाऽहर्दिवं याति पश्य विद्यात्मिकां तरिम् ।
नेतारं च परं शुद्धं नेत्रं ते वर्ततेऽमलम् ॥
रत्नवद्दर्शनार्हं च ज्ञायतां ज्ञायतां त्वया ॥१२॥

पलमात्रमपि ज्ञानमस्य चेत्ते भविष्यति।
तावतैवान्यदृष्टिस्ते लुप्तो स्यान्नात्र संशयः ॥१३॥२१॥

नन्ना ( बन्धुओं ) को देखते ही मे तेरा रातदिन बीता जाता है, इत्यादि डड्डा तुल्य अर्थ जानना॥ या परम शुद्ध नन्ना ( नेता ) को देखो, उसके लायक रत्नतुल्य नेत्र तुझे मिला है। यदि उसे एक निमिष भी तुम देखोगे, तो अन्य सब भ्रमदृष्टि शीघ्र नष्ट हो जायगी ॥२१॥

## चौंतीसी २२.

पप्पा पाप करे सब कोई। पाप करे कछु धर्म न होई॥
पप्पा कहै सुनहु रे भाई। हमरे सेवे कछू न पाई॥

पाने पातरि पः प्रोक्तो विषयाणां पिवः समः।
तेषां रसस्य पानात्मकल्मषं कुरुते सदा ॥१४॥
तत्राऽऽसक्त्याऽविवेकेन तृष्णाकामादियन्त्रितः।
हितं पश्यति न स्वस्य न धर्मं न परां गतिम् ॥१५॥
अतिपापे कृते चात्र सद्धर्मो नैव कश्चन।
जायते न सुखं नैव विश्रमः शान्तिरेव वा ॥१६॥
अतः पापफलस्यात्ता दर्शयन् स्वदशां ननु।
पातारं हि वदत्येवं भो भ्रातः श्रूयतामिदम् ॥१७॥
मां सेवित्वा न कुत्रापि किञ्चित्सत्प्राप्यते जनैः॥
इदमेव वचः पातुः पानस्यापि च बुध्यताम् ॥१८॥
अर्थकामेष्वसक्तैर्हि धर्मो ज्ञानं च लभ्यते।
तत्रासक्तैरधर्मादि नरकस्तदनन्तरम् ॥१९॥
" गतसारेऽत्र संसारे सुखभ्रान्तिः शरीरिणाम्।
लालापानमिवांगुष्ठे बालानां स्तन्यविभ्रमः" ॥२०-२२॥

पप्पा ( विषयरस को पीनेवाले ) सब कोई, पापरूप पाप करते हैं, पाप करने पर कुछ भी धर्म नहीं होता। इसलिये पप्पा ( पापफल भोक्ता ) जीव दशा दिखाकर मानो कहता है कि रे भाई ! सुनो, हमारी सेवा से कुछ नहीं पावोगे ॥२२॥

## चौंतीसी २३.

फफ्फा फल लागा बड़ि दूरी। चाखै सतगुरु देइ न तूरी॥
फफ्फा कहै सुनहु रे भाई। फल विहीन कहुं थिर न रहाई॥

निष्फले भाषणे फः स्यादाह्वानेऽपि फलेऽपि च ।
मिथ्यानिष्फलभाषिभ्य आह्वायकजनात्तथा ॥
कामिभ्यो ह्यतिदूरे सत्फलं लगति सर्वदा ॥२१॥
स्वदते सद्गुरुः सत्यं फलं तच्च निरन्तरम् ।
तोडित्वा न ददात्येभ्यो जनेभ्यश्च कदाचन ॥२२॥
निष्फलं भाषणं तच्च ह्याह्वानं केवलं तथा ।
संजातं फलरूपेण भाषते सज्जनं प्रति ॥२३॥
भो भ्रातः श्रूयतामेतत्सत्यं मे परमं वचः ।
सत्फलेन विहीनो हि कोऽपि कुत्रापि न स्थिरम् ॥
स्थातुमर्हति कालेन भीतो भ्रमति सर्वतः ॥२४॥
" दिनमेकं शशी पूर्णः क्षीणस्तु बहुवासरान् ।
सुखाद्दुःखं सुराणामप्यधिकं का कथा नृणाम्" ॥२५॥२३॥

फफ्फा ( निष्फल भाषण वा केवल आमाह्वान ) से सच्चा फल बहुत दूर लगता है, और सद्गुरु सदा उस फल को चखते हैं ( उसका स्वाद लेते हैं ) परन्तु निष्फलभाषी आदि के प्रति वह फल तोडकर नहीं देते, और फफ्फा कहता है कि रे भाई ! सुनो, सत्यफल विहीन जीव कहीं थिर नहीं रहने पाता है इत्यादि ॥२३॥

## चौंतीसी २४.

बबूबा बर बर करे सब कोई। बर बर किये काज नहिं होई॥
बबूबा बात कहै अर्थाई। फल का मर्म न जानै भाई॥

व: फलेऽत्र कथां तस्य कुर्वते सर्वमानवाः।
तावता नैव कार्यस्य सिद्धिर्भवति कस्यचित् ॥२६॥
वार्ता सत्यफलस्यापि व्याख्यायुक्तां प्रकुर्वते।
तस्य मर्म न जानन्ति फलस्यापरिणामिनः ॥२७॥
"× आशावैवश्यविरसे चित्ते संतोषवर्जिते।
म्लाने वक्त्रमिवादर्शे न ज्ञानं प्रतिबिम्बति ॥२८॥
यथा देहोपयुक्तं हि करोत्यारोग्यमौषधम्।
तथेन्द्रियजयेऽभ्यस्ते विवेकः फलितो भवेत् ॥२९॥
विवेकोस्ति वचस्येव चित्रेऽग्निरिव भास्वरः।
यस्य तेनापरित्यक्ता दुःखायैवाविवेकिता" ॥३०-२४॥

बबूबा (फल) के बर२ (बडाई, कथा) प्रायः सब कोई करते हैं। परन्तु बर२ करने मात्र से कार्य की सिद्धि नहीं होती। बबूबा (फल) की बातों को लोग अर्थाई (व्याख्या कर) के कहते हैं, परन्तु फलों के मर्म (रहस्य विचारादि) को नहीं जानते हैं ॥२४॥

## चौंतीसी २५.

भभ्भा भरम रहा भरि पूरी। भभरे ते है नियरे दूरी॥
भभ्भा कहै सुनहु रे भाई। भभरे आवे भभरे जाई॥

× योगवासिष्ठः।

आकाशे भवने चात्र भ्रमणे भः प्रकीर्तितः ।
संसारभवने देहे सर्वत्राकाशमण्डले ॥
गृहादिविषया भ्रान्तिः पूर्णा नित्यादिगोचरा ॥२५॥
भ्रान्त्यैव च समीपस्थाज्जीवो दूरे हि वर्तते ।
आत्मनोऽपि निजात्सोऽपि तस्माद् दूरतरः शिवः ॥२६॥
भ्रमणं च गृहं चैतद्वदतीव जनं मुहुः ।
भ्रातर्भ्रान्त्यैव सर्वेऽस्मी यान्त्यायान्ति च सर्वदा ॥२७॥
अन्धं तमो विशन्त्येते पुत्रदारादिमोहदम् ।
अनित्ये चाशुचौ दुःखे रमन्ते न निजात्मनि ॥२८-२९॥

भम्भा ( गृहदेहादि ) के भरम ( भ्रान्ति ) सत्यत्वात्मत्वादि ज्ञान सर्वत्र भरपूर हो रहा है। और भमरे ते ( भ्रान्त होने से ) नियरे ( पास की वस्तु ) से जीव दूर है। और भम्भा भी कहता है कि रे भाई ! सुनो, भमरे ( भ्रान्त होने ) से ही जीव आताजाता है ( जन्म-मरणादि संसारचक्र मे पड़ा रहता है ) ॥२५॥

## चौंतीसी २६.

मम्मा सेवे मर्म न पावे । हमरे सेवे मूल गमावे ॥
मम्मा कहे सुनहु रे भाई । मूल छोड़ि कस डारहिं जाई ॥

शिवे चन्द्रे च मः प्रोक्तो बन्धने च विधातरि ।
बन्धनात्मगृहादीनां शिवादीनां च कामतः ॥
सेवनात्सत्फलस्यात्र मर्म कोपि न विन्दते ॥२९॥
किन्तु तेषां ममत्वेन सेवनान्मूलमात्मनः ।
धनं लुम्पति येनात्र त्वनाथ इव धावति ॥३०॥

किम्वा सद्गुरुसेवातो जन्ममूलं विनश्यति ।
अज्ञानं तेन लभते धनं मूलं निजेप्सितम् ॥३१॥
शिवाद्याश्च वदन्त्येवं मूलं त्यक्त्वाऽत्र किं भवान् ।
याति शाखासु संमोहाद्देवतासु गृहादिषु ॥३२॥
"आत्माज्ञानादहो प्रीति विषये भ्रमगोचरे ।
शुक्तेरज्ञानतो लोभो यथा रजतविभ्रमे ॥३३॥
"* पञ्चाग्निवित्तथाऽन्योऽपि गृहस्थान्यत्रयाश्रमी ।
पुण्यं कर्म विधायापि विशन्ति मोहगह्वरे ॥३४॥
देवभक्ताश्च तैर्लब्ध्वा परमैश्वर्यमत्र वै ।
कर्मिभ्योऽप्यधिकासक्ता जायन्तेऽनात्मविभ्रमे"॥३५-२६॥

गम्मा ( बन्धनरूप गृहादि ) के सेवने से सत्फल का मर्म कोई नहीं पाता है। किन्तु हमरे ( सद्गुरु के ) सेवने से संसार के मूल अज्ञानादि को गमाता ( नष्ट करता ) है। या गृहादि को ये हमरे ( मेरे ) हैं, इस प्रकार सेवने से जीव मूल धन को गमाता है। मम्मा ( शिवादि गृहादि ) कहते हैं कि रे भाई ! सुनो, मूल को छोड़कर डार पर क्यों जाता है ॥२६॥

## चौंतीसी २७.

यय्या जगत रहा भरिपूरी। जगतहुं ते है यय्या दूरी॥
यय्या कहै सुनहु रे भाई। हमरे सेवे जय जय पाई॥

यशो यानं च वायुश्च त्यागो येनात्र कथ्यते ।
त्यागः परवशः पूर्णः संसारे विद्यते सदा ॥
विवेकेन तु यस्त्यागो जगतो दूरतो ह्यसौ ॥३६॥

* आत्मपु.

एवं यशोपि यानं च वायुश्च विदितं भुवि ।
सत्यं यशश्च यानं च प्राणात्माऽस्ति तथा नहि ॥३७॥
विवेकजनितस्त्यागोऽभिधत्ते शृणु सज्जन ! ।
अस्माकं सेवया सत्यजयस्ते सर्वतो भवेत् ॥३८॥
सेवनात्सत्ययशसो यानात्सत्ये निजात्मनि ।
प्राणप्राणस्य विज्ञानात्पुनर्जन्म न विद्यते ॥३९॥
" * सति सक्तो नरो याति सद्भावं ह्येकनिष्ठया ।
कीटको भ्रमरं ध्यायन् भ्रमरत्वाय कल्पते ॥४०॥
वाह्ये निरुद्धे मनसः प्रसन्नता मनःप्रसादे परमात्मदर्शनम् ।
तस्मिन् सुदृष्टे भवबन्धनाशो बहिर्निरोधः पदवी विमुक्तेः" ॥४१-२७॥

इति चौंतीसीचर्चायां जीवसंसारादिवर्णनं नाम षष्ठं वाक्यम् ॥६॥

यय्या ( त्याग ) जगत में भरपूर है ( अन्त में सभी सब त्याग कर चलते हैं ) परन्तु सच्चा त्याग तो जगत से बहुत दूर है। और वह सच्चा त्याग कहता है कि रे भाई ! सुनो, हमारी सेवा से ही सर्वत्र जय की प्राप्ति होती है ॥२७॥

इति जीवसंसारादि प्रदर्शन प्रकरण ॥६॥

## चौंतीसी २८, परमात्मविचार प्रदर्शन प्र. ७.

रर्‍रा रारि रहा अरुझाई । राम कहत दुख दारिद जाई ॥
रर्‍रा कहै सुनहु रे भाई । सतगुरु पूछि के सेवहु जाई ॥

रामे तथाऽनिले भूमौ धने चेन्द्रियरश्मु च ।
रशब्दः कथ्यते तेषु विग्रहो विद्यते महान् ॥१॥
रामेति कथनात्केचित्केचित्प्राणनिरोधनात् ।
मोक्षं वदन्ति वादांश्च कुर्वते बहुधाऽबुधाः ॥२॥

* विवेकचूडामणिः ।

भूमेर्धनस्य लब्ध्यर्थमिन्द्रियाणां च तृप्तये ।
युद्ध्यन्ति बहुधा लोका व्यापारान् कुर्वते बहून् ॥३॥
रामेति कथनादेव दुःखं दारिद्र्यमेव च ।
रुड् नश्यतीति कथयन् प्रमादं कुरुते जनः ॥४॥
अतो रामो गुरुः प्राह भो भ्रातः शृणु सादरम् ।
सद्गुरुं परिपृच्छ्यैव रामं गत्वा सुसेवताम् ॥५॥
अनात्मचिन्तनं त्यक्त्वा कश्मलं दुःखकारणम् ।
चिन्तयात्मानमानन्दरूपं यन्मुक्तिकारणम् ॥६॥२८॥

ररा ( राम भूमि धनादि ) के रारि ( झगड़ा ) में संसार अरुझा ( फंस ) रहा है। और कहता समझता है कि राम कहते ही दुःख दारिद्र्यादि सब नष्ट हो जाते हैं। ररा ( रामरूप ज्ञानी ) तो कहते हैं कि, रे भाई ! सुनो, सद्गुरु से पूछकर राम के शरण में जाओ, रामही को सेवो भजो तो निर्द्वन्द्व होंगे ॥२८॥

## चौंतीसी २९.

लला तुतरे बात जनाई। तुतरे तुतरे परिचय पाई ॥
अपने तुतर औरको कहई। एके खेत दोऊ निर्वहई ॥

लो दीप्तौ चवि भूमौ च भये चाह्लादनेऽपि च ।
दाने च साधने श्लेषे ह्याश्रये मानसे तथा ॥
इन्द्रे विधातरि भोक्तः प्रलये सान्त्वनेऽपि च ॥७॥
आत्मदीप्तिस्वरादीनां वार्तां संदेहसंयुताम् ।
अस्फुटां स्वल्पमापन्त लोहला गुरवोऽनृताम् ॥८॥
तेनान्येऽपि ततो बोधमव्यक्तं लेभिरे ननु ।
प्रत्यक्षं स्वयमात्मानं साक्षिरूपं हि लेभिरे ॥९॥

लोहलाल्लोहलः श्रुत्वा ज्ञानिमानी भवत्यथ ।
लोहलान् वदतश्चान्यान् क्षेत्रात्मकौ स्वयं तु तौ ॥१०॥
यद्वा स्वयं विमूढोऽपि ह्यन्यं किमपि भाषते ।
गुरुमन्यस्ततश्चोभावेकक्षेत्रनिवासिनौ ॥
क्षेत्रज्ञं नैव जानीतो देवः किं लक्षणो ह्यसौ ॥११॥
विधाताऽप्यथवा वेदे ह्यव्यक्तं प्रोक्तवांस्ततः ।
मन्दप्रज्ञा न वेदेन सम्यग् बोधादि लेभिरे ॥१२॥२९॥

गुरुआ लोगों ने लहा ( आत्मरामप्रकाशादि साधनादि ) की बातों को तुतरे ( अस्पष्ट ) जनाई है और तुतरे ( अस्पष्टभाषी ) से तुतरे लोगों ने परिनय ( अस्पष्ट मिथ्याज्ञान ) पाया है। और आप तुतर होते भी और ( अन्य ) का सब तुतर कहते हैं, और स्वय गुरु शिष्य दोनों किसी एक खेत ( क्षेत्र ) में ही निर्वाह करते हैं, क्षेत्रज्ञ के मर्म नहीं जानते इत्यादि ॥२९॥

## चौंतीसी ३०.

बबूआ बर बर करे सब कोई। बर बर किये काज नहिं होई।
बबूआ कहै सुनहु रे भाई। स्वर्ग पताल कि खबरि न पाई॥

परमात्मनि तद्भक्ते वशब्दः परिपठ्यते ।
तयोः श्रेष्ठत्वं च सर्वेऽमी भाषन्ते मानवा भुवि ॥१३॥
तावता कार्यसिद्धिर्न कस्यापि जायते ततः ।
भक्तो वदति चेशोऽपि भवद्भिर्ज्ञायते नहि ॥१४॥
परमात्मास्ति कुत्रेति स्वर्गे पाताल एव वा ।
यावन्न ज्ञायते तावत्कथनात्किं भवेन्मुहुः ॥१५॥

विकल्प्य बहुधा वेशं तच्छ्रैष्ठ्यमपि मन्वते ।
विवदन्तश्च भाषन्ते मतभेदैरनेकधा ॥१६॥
तेन कस्यापि कार्यस्य सिद्धिः कापि न जायते ।
ब्रह्ममूर्तिर्गुरुस्तस्माच्छ्रवणायैतदुक्तवान् ॥१७॥
स्वर्गपातालयोर्दुःखं भवद्भिः ज्ञायते नहि ।
तेन तत्र सुखं मत्वा तत्रैवेशं च मन्वते ॥१८॥२०॥

इति चौंतीसीनिर्णीतापरमात्मविचारप्रदर्शनं नाम सप्तमं वाक्यम् ॥७॥

बबुवा ( परमात्मा परमात्मभक्त ) को सब कोई बर२ करते ( श्रेष्ठ२ कहते ) हैं। परन्तु बर२ करने ( कहने ) से किसी कार्य की सिद्धि नहीं होती। बब्बा ( सच्चे भक्त परमात्मा ) तो कहते हैं कि रे भाई! सुनो, स्वर्ग पाताल की खबर तुमने नहीं पाई है कि परमात्मा कहा रहता है इत्यादि ॥२०॥

इति परमात्मविचार प्रदर्शन प्रकरण ॥७॥

## चौंतीसी ३१, आनन्दात्मराम प्रदर्शन प्र. ८.

शशा सर देखे नहिं कोई। सर शीतलता एक होई ॥
शशा कहे सुनहु रे भाई। शून्य समान चला जग जाई ॥

श श्रेयश्च सुखं शस्तु शान्ते शेषेऽथ सीम्नि च ।
शान्तशेषसुखस्यैवं श्रेयसश्च सरः सदा ॥
प्रत्यक्षं विद्यते तन्न मूढाः पश्यन्ति केचन ॥१॥
आनन्दसिन्धुरानन्दस्त्वेक एवात्र विद्यते ।
सुबोधेन तथा भाति दुर्बोधेन निभिद्यते ॥२॥
सीमभूतोऽस्य विश्वस्य वदति ज्ञानवान् ननु ।
भ्रातः शृणु विना तेन जगद्याति हि शून्यवत् ॥३॥२१॥

शशा ( नित्य सुख ) के सर ( तालाब ) को कोई नहीं देखता कि जहाँ सर शीतलता ( सुखसिन्धु सुख ) एकही हैं। शशा ( उस सुखरूप शान्त ज्ञानी) तो कहते हैं कि रे भाई ! सुनो, उसके ज्ञान विना संसारी लोग शून्य समान होकर जा रहे हैं ॥३१॥

## चौंतीसी ३२.

पपा पर पर कर सब कोई । पर पर किये काज नहिं होई ॥
पपा कहैं सुनहु रे भाई । रामनाम ले जाहु पराई ॥

पः श्रेष्ठे च परोक्षे च तथा गम्भीरलोचने ।
श्रेष्ठत्वं स्वमतेष्वेवं परोक्षेषु च वस्तुषु ॥
सत्यत्वं हि प्रभाषन्ते सर्वे मोक्षो न तावता ॥४॥
विज्ञाश्च कथयन्त्यस्माद् भ्रातस्त्वं श्रवणं कुरु ।
रामनामानमात्मानं गृहीत्वैभ्यो द्रुतं व्रज ॥५-३२॥

इति चौंतीसीचर्चायामानन्दात्मरामप्रदर्शन नामाष्टम वाक्यम् ॥८॥

पपा ( परोक्ष श्रेष्ठ वस्तु ) को सब कोई परपर ( सत्य२ ) किया ( कहा ) करते हैं। परन्तु उस कहने से कार्य नहीं बनता है। इस लिये पपा (श्रेष्ठ ज्ञानी) कहते हैं कि रे भाई ! सुनो, अपरोक्ष रामनाम ( सर्वात्मा राम ) को प्राप्त करके संसार झंझट से दूर भगो ॥३२॥

इति आनन्दात्मराम प्रदर्शन प्रकरण ॥८॥

## चौंतीसी ३३, कोपादिप्रदर्शन प्र. ९.

ससा सरा रचो बरियाई । शर वेधे सब लोग तबाई ॥
ससा के घर सुन गुन होई । इतनी बात न जानै कोई ॥

स: कोपे वरणे चैव परोक्षे शूलिनीश्वरे ।
कोपाद्यात्मचिता तीव्रा कृता मूढविदग्धये ॥
ईश्वरेण च विश्वात्मा सुदीप्ता रचिता चिता ॥१॥
तत्र स्थाप्य जनान् कालो मनश्चैवेन्द्रियाणि च ।
शोकादिलक्षणैर्बाणैर्विध्वैव तापयन्ति तान् ॥२॥
यत्किञ्चित् क्रियते लोकैस्तत्सर्वमीश्वराश्रमे ।
श्रूयते तावदन्यो न कश्चिद्वेदितुमर्हति ॥३॥
एवं कोपगृहे स्वान्ते हीन्द्रियार्थस्य संश्रुतौ ।
मनोरथादिबाणैस्तन्मनो विद्ध्यति देहिनम् ॥४॥
परोक्षस्याशयाऽप्येवं विद्ध्यन्ति केपि मानवान् ।
अहो एतन्न पश्यन्ति मूढास्तु मन्वते हितम् ॥५॥३३॥

सस्सा ( ईश्वर ) ने संसाररूप बरियाई ( प्रबल ) चिता रचा है। या कोपरूप चिता बरियाई ( बलात्कार ) से रची गई है। उस चिता में अज्ञ सब जीवों को डारकर शोकादि शरों से बेधकर मनकामादि शत्रु जीवों को तपाते ( पीडित–तप्त करते ) हैं। जितनी बात के सुन गुन ( श्रवण विचार ) ईश्वररूप सस्सा के घर ( हृदय ) में होता है, इतनी बात को कोई नहीं जानता है, न उक्त चिता से बचने के लिये यत्न करता है इत्यादि ॥३३॥

## चौंतीसी ३४.

हहहा करत जीव सब जाई। हर्ष शोक सब माहिं समाई ॥
हँकरि हँकरि सब बड़बड़ गयऊ। हहहा मर्म न काहू पयऊ ॥

ह: कोपे वारणे हश्च तं कृत्वा जन्तवः स्वयम् ।
चित्यां यान्त्यथ चिन्तायां वारणेऽपि कृते ननु ॥६॥

अतो हर्षश्च शोकश्च सर्वेषु संविशत्यलम् ।
द्वन्द्वमुक्ता न दृश्यन्ते नैव विज्ञानसंयुताः ॥७॥
द्वन्द्वमोहाभिभूताश्च महान्तोऽपि जनाः सदा ।
रुदित्वैव मुहुर्नष्टाः क्रुधो मर्म न चाविदुः ॥८॥
" *सापराधं हि हिंस्रं यः शपेत्कोपेन धार्मिकः ।
विनाशः सापराधस्य धर्मो नष्टश्च धर्मिणः ॥९॥
+जयन्ति मुनयः केचित्पश्चबाणं कथश्चन ।
तदीयं तनयं क्रोधं शक्ता जेतुं न तेऽपि हि ॥१०॥
अश्ववारं यथा दुष्टो वाजी गर्ते निपातयेत् ।
एवं क्रोधोपि नरके नरं विज्ञानवर्जितम् " ॥११-३४॥

हहहा करते ( क्रोध करते, या वारण करते रहने पर भी ) जीव सब संसारचिता में जा रहे हैं, इससे हर्षशोकादि द्वन्द्व भी सबमें रमा रहे हैं, द्वन्द्वपीडित होने पर बडेर लोग हकरर ( रोर ) कर गये, और हहहा ( क्रोध या वारण ) के मर्म किसीने नहीं पाया ॥३४॥

## चौंतीसी ३५.

क्षक्षक्षा क्षण में सब मिटि जाई । क्षेव परे कहु को समुझाई ॥
क्षेव परे काहु अन्त न पाया । कहहिं कबिर अगुमन गुहराया ।

इति सद्गुरुकबीरकृते भवबीजविध्वंसने बीजकग्रन्थे ज्ञानप्रदगष्टम चौंतीसीप्रकरण समाप्तम् ॥

क्षः शब्दशासने क्षेत्रे क्षेत्रपाले च कथ्यते ।
सर्वं नश्यति यत् क्षेत्रं क्षणादेव न संशयः ॥१२॥

* ब्रह्मवैवर्तपु. कृ. अ. ५९।६॥
+ आत्मपु अ. ४।१३९॥ अ २।७५॥

कथ्यतां तत् त्वया साधो सुविचार्य च दृश्यताम् ।
मृत्युना छियमानं सत् कुत्राविशति सत्वरम् ॥१३॥
क यानि क्षेत्रपालश्च छिन्ने ह्यस्मिन् कलेवरे ।
अद्यैव ध्यायतां चैतन्मृत्योः पश्चान्न कश्चन ॥१४॥
अस्यान्तमविदश्चैव क्षेत्रज्ञं लब्धवानिति ।
प्राणाः प्रोचुस्तदाहूय आत्मना गुरवो हि ये ॥१५॥
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्यावद्विवेको नात्र जायते ।
न तावन्मुच्यते कश्चिदपि चेद्वेदविद् भवेत् ॥१६॥
कर्मबीजस्य यावार्थे क्षेत्रं यद्धि कलेवरम् ।
मृत्युना छियमानं तत्प्रकृतावेव लीयते ॥१७॥
आत्मा क्षेत्रज्ञ इत्युक्तः कूटस्थो दोषवर्जितः ।
अविनाश्यप्रमेयश्च साक्ष्यसङ्गोपि चिद्वपुः ॥१८॥
तस्याभासाविवेकाभ्यां प्रकृतिः सर्वकारिणी ।
धारिणी हारिणी चैव ह्यध्यासात्सर्वमात्मनि ॥१९॥

यावन्निजात्माऽनुभवो भवेन्नहि तावत्प्रकृत्या खलु जायतेऽखिलम् ।
सा क्षेत्ररूपा प्रतनोति संततिं क्षेत्रज्ञस्य देवोऽपि तथैव कारकः ॥२०॥
भक्त्या विशुद्धो गतरागरोषो विविक्ततत्त्वे स्थिरमानसश्च ।
क्षेत्रं समूलं प्रविलय्य धीरो जीवन् विमुक्तः पुनरेव मोक्ता ॥२१॥
द्विधाऽत्र माया परिकथ्यते या भवत्यविद्याऽथ परा च विद्या ।
विद्या ह्यविद्यां प्रविलय्य तूर्णं वह्निर्यथा नश्यति सा स्वयं च ॥२२॥
तूलेति मूलेति विभेदतोऽपि व्यष्ट्यादिभेदेन पुनर्द्विधा सा ।
आद्या विनष्टा भवति प्रबोधात् तिष्ठेद् द्वितीया ननु बाधितापि ॥२३॥
आद्यानिवृत्तावपि सैव देहं यावद्विदेहं धरते बुधानाम् ।
प्रारब्धकर्मानुमतौ स्थिता वै नान्ते पुनः कर्तुमसौ समर्था ॥२४॥
यावन्न बोधो हि परात्मनः स्यात्तावत्प्रसूते धरते च संघान् ।
ज्ञातेन दृष्टे तदबोधसंघे नैव प्रसूते खलु सा कदाचित् ॥२५॥

प्राणान् मनो नैव जहाति तावद्यावन्न बोधं लभतेऽतिशुद्धम् ।
धृत्वैव चैतान्ननु धावते तत्सर्वासु योनिष्वपि संकटेषु ॥२६॥
लब्ध्वा च बोधं खलु तान् विहाय तूर्णं विलीनं निजबोधरूपे ।
नैवाश्रयेत्तान् हि ततश्च ते स्वे स्वयं विशीर्णा विलयं व्रजन्ति ॥२७॥
इत्थं यतः स्वात्मनिबोधतः स्यान्नित्यो विमुक्तो निजसौख्यरूपः ॥
सर्वं परित्यज्य विवेकमार्गात्तस्माद्गुरुः सर्वमिदं जगाद ॥२८॥
चौंतीस्याः खल्वियं चर्चा चर्या चारविधायिनी ।
चर्विता साधुभिश्चित्ते चैतन्यरसवर्द्धिनी ॥२९॥
चन्द्रकान्तसमा चेयं ज्ञानचन्द्रसमाश्रयात् ।
ब्रह्मानन्दरसैर्नित्यं पुनात्वेव हि सज्जनान् ॥३०॥३५॥

इति चौंतीसीचर्चायां कोपक्षेत्रक्षेत्रज्ञप्रदर्शनं नाम नवमं वाक्यम् ॥९॥
समाप्तेयं चौंतीसीचर्चा ॥

क्षत्रुआ ( क्षेत्र ) रूप देह सब क्षणमात्र में मिट जाते (नष्ट होते) हैं तहाँ कहो ( समझो ) कि क्षेव पड़ने ( मृत्यु होने ) पर जीवात्मा कहाँ समाता है, देह कहाँ लीन होता है इत्यादि। और इस बात को अभी समझो, क्योंकि क्षेव ( मृत्युकृत शस्त्रप्रहार ) पड़ने पर त इस बात का अन्त किसीने पाया नहीं, सो अगुअन ( आगे महात्मा ) गोहरा ( पुकार ) कर कह गये हैं ॥३५॥

इति कोपादि प्रदर्शन प्रकरण ॥९॥

जिहि पदरज को सुमिरि नर, चौंतिस अक्षर पार।
हनूमान पावै सहज, सो हरु सकल विकार ॥१॥

इति अष्टम ज्ञान चौंतीसी प्रकरण संपूर्ण।

---

श्रीसद्गुरुचरणकमलेभ्यो नमः ।

—ः सद्गुरु ः—

# कबीर साहेब कृत बीजक।

[ स्वानुभूतिसंस्कृतव्याख्यासहित ]

---

## अथ नवम वेलि प्रकरण ।

ोहान्धकूपात्परिवारयन्तस्त्वं जागृहि प्रापत मा रटन्तः ।
ा हिंधि माऽमार्गगतो व्रज त्वं ये वै सदा तान् प्रणमामि शुद्धान् ॥१॥

लब्धव्यो यो हि देवो निगमनिकुरम्बं विमृशता,
प्राप्तव्यं यच्च सौख्यं निगमविहितैः कर्मनिर्वहैः ।
यत्सांख्यैर्यैश्च योगैः स्थितिमितिहितं शेषविधिभिः,
तत्सर्वं यस्य भक्त्या हि सुलभतरं तं भज मनः ॥२॥

### वेलि १.

हंसा सरवर शरिर में हो रमैयाराम ।
जागत चोर घर मूसल हो रमैयाराम ॥

सरोवरे शरीरे स्वे रममाणोऽत्र कामतः ।
संसुप्तो मोहतश्चैव धावमानश्च लोभतः ॥१॥

हंस ! जागृहि तूर्णं त्वं मोहनिद्रां परित्यज ।
* कामादिलक्षणाश्चौरा मुष्णंति मन्दिरं तव ॥२॥
संसारिभवनाश्चैते हरन्ति धनमुत्तमम् ।
सुखशान्त्यादिरूपं वै व्यवहारे हि जाग्रतः ॥३॥

मानवदेहरूप श्रेष्ठ सर में वर्तमान हे रमैयाराम हंसा ( जीव ) जागत ( जागो ) मोहनिद्रा त्यागो। तेरे घर ( हृदय ) को कामा. चोर मूसते हैं ॥

जो जागल सो भागल हो रमैयाराम ।
सुतल से गेल विगोय हो रमैयाराम ॥

अजाग्रन् ये विवेकेन ते गृहीत्वा स्वकं धनम् ।
पलायन्तैव चौरेभ्यः प्राप्ताश्च नित्यमुक्तताम् ॥४॥
अशेरत तु ये मोहादासक्ताश्च सरोवरे ।
स्वसर्वस्वं विनाश्यैते क्व गतास्तन्न विद्महे ॥५॥

जो जगा सो भग गया ( चोर संसार झंझट से रहित हुआ ) सो वाला अपना सर्वस्व विगोय ( खोय ) कर गया ॥

आजु वसेड़ा नियरे हो रमैयाराम ।
काल्हु वसेड़वा ( वड़ि ) दूरि हो रमैयाराम ॥

मोक्षाख्याद् भवनाद्राज्यादद्यत्वे निकटे स्थितिः ।
वर्तते मानवे देहे पश्चाद्दूरे भविष्यति ॥६॥
कुत्सिता च स्थितिस्तत्र भविता तिर्यगादिषु ।
देवत्वेऽपि न सुलभो मोक्षो बोधो भवेद्‌तः ॥७॥

* ... ॥ ...

आजु (इस तन में) बसेड़ा (वास–स्थितिः) मोक्ष भवन के नियरे (पास) में है । और काल्हु (जन्मान्तर में) दूर वास होगा ॥

परेहु बिराणे देश (वा) हो रमैयाराम ।
नयन मरेहु गे दूर हो रमैयाराम ॥

अस्वतन्त्रोऽन्यदेशेषु यथा कश्चिद्वसेत्तथा ।
अवात्सीस्त्वं च भूयोऽपि यस्ता विज्ञानमन्तरा ॥८॥
तत्र च ज्ञानविज्ञाननेत्राभ्यां दूरतः स्थितः ।
त्वं मृतोऽसि तथा मर्ता शांतिं लब्धा न कुत्रचित् ॥९॥
स्वदेशादात्मनोऽन्यत्र स्थितोऽसि च यतः सदा ।
ततो नेत्रैर्विहीनः सन् मरिष्यसि विरुद्ध च ॥१०॥

ज्ञानादि विना बिराने (अन्य के) देश (मायादि) में पड़े हो । विज्ञानादि नेत्र से दूर रहकर मरोगे तो यही दशा रहेगी ॥

त्रास मथन दधि (मथन) कीयो हो रमैयाराम ।
भवन मथेउ भरपूर हो रमैयाराम ॥
फिरि हंसा पाहुन भयउ हो रमैयाराम ।
वेधिन्ह पद निर्वाण हो रमैयाराम ॥

त्रासश्च दधिवत्त्वां वै न्यमथ्नाच्च भविष्यति ।
भवनान्यपि ते सैव न्यमथ्नादधिकं सदा ॥११॥
शरीरे मथितेऽत्यन्तं हंसो गन्ताऽभवत्पुनः ।
भविताऽतिथिवत्तस्मान्निर्वाणमप्यनाशयत् ॥१२॥

विवेकादि रहित जीव को त्रास (भय) ने दधि की तरह मथ दिया । और इसके भवन (देह) को भी भरपूर (अत्यन्त) मथा ।

फिर हंस ( जीव ) पाहुन हुआ ( इसे त्याग कर चला ) और निर्वाण पद का भी बेधन ( नाश ) किया ॥

तुम हंसा मन मानिक हो रमैयाराम ।
हटलो न मानहु मोर हो रमैयाराम ॥
जस रे किय तस पायहु हो रमैयाराम ।
हमर दोष जनि देहु हो रमैयाराम ॥

मनसोऽस्यनुगन्ता त्वं विवेकविकलस्य च ।
अतो मे वारणं नैवामन्यथा वै कुमार्गतः ॥१३॥
यथा कृतं त्वया कर्म फलं प्राप्तं च तादृशम् ।
पुनः कर्मानुसारेण प्राप्स्यते हि फलं सदा ॥१४॥
ईश्वरेभ्यो गुरुभ्यो वा दोषा देया नहि त्वया ।
तेषां दोषस्य चोक्तौ ते दोषो वृद्धिं गमिष्यति ॥१५॥

हे हंसा ! ( जीव ! ) तुम मनमानिक ( मन के कहने में ) हौ। इससे मेरा हटल ( निवारण ) तुमने नहीं माना । जैसा कियो वैसा पाये हौ पावोगे, हमरा ( ईश्वर गुरु ) को दोष नहीं देना ॥

अगम काटि गम कियेहु हो रमैयाराम ।
सहज कियेहु व्यापार हो रमैयाराम ॥

अगम्यवनवत्कष्टं छित्त्वैव यातनामयम् ।
संसारं कृतवान् गम्यं मनुष्यत्वे कथञ्चन ॥१६॥
अहो तत्रापि मोहेन व्यापारं कृतवान् भवान् ।
तुच्छं स्वभावजं नित्यं नैव जातु विवेकजम् ॥१७॥

अगम्य वनतुल्य यातनादि कष्टमय संसार को काटकर तुमने मान वावस्था में कुछ गम किया है । परन्तु फिर भी मोह से सहज ( स्वाभा निक ) व्यापार किये हो ॥

रामनाम धन वणिज किय हो रमैयाराम ।
लादेहु वस्तु अमोल हो रमैयाराम ॥

रामनाम्नो धनस्याथ वाणिज्यं कृतवांस्तथा ।
आरोपितममूल्यं च स्वयमेव धनं हृदि ॥१८॥
अगोचरं हि यत्तत्त्वं सुखं चैवाव्ययं सदा ।
नाममात्रेण तत्प्राप्तिं मुक्तिं चेच्छति वै भवान् ॥१९॥

रामनाम रूप धन का तुमने वणिज ( व्यापार ) किया है, तथा अमूल्य वस्तु ( मोक्ष ) को भी तुमने लादा है, अर्थात् केवल नाम से मोक्ष को प्राप्त ही समझा है ॥

पांच लदनु (आँ) लादि चले हो रमैयाराम ।
नव बहियाँ दश गोण हो रमैयाराम ॥

व्यापारे भवतश्चात्र संति भारसहा वृषाः ।
पञ्चतत्त्वानि ते कर्मभारमादाय यन्ति हि ॥२०॥
अन्तःकरणसंघाश्च प्राणाश्च सङ्गिनो नव ।
दशेन्द्रियाणि पात्राणि गोणाख्यानि भवन्ति च ॥२१॥
मोक्षतत्त्वं न चास्तीत्थं यत्स्यादिन्द्रियगोचरम् ।
मन्यते तु भवानेवं तथाप्यत्र विमोहतः ॥२२॥

उस अमूल्य वस्तु को पाच लदनु ( बैलतुल्य पाच तत्त्वमय देह ) पर लादकर तुम चले हो ( शारीरिक सुखादि को ही मोक्ष समझते हो )

चार अन्तःकरण पाच प्राण इन नवों को बहियाँ ( साथी ) बनाये हो। दशेन्द्रियों को गोणि ( बोरा ) बनाये हो ॥

पांच लदनुआँ हारे हो रमैयाराम ।
खॉखर डारिन फोरि हो रमैयाराम ॥
शिर धुनि हंसा उड़ि चले हो रमैयाराम ।
सरवर मीत जोहार हो रमैयाराम ॥

तत्त्वानि हि यदा देहे जरारोगादिपीडनात् ।
शिथिलानि भवन्त्यङ्ग तदा ते सम्मतं सुखम् ॥
निःसारं नाशयन्त्येव शरीरं च कुपात्रवत् ॥२३॥
निःसारं हि शरीरादि यदा तानि व्यनाशयन् ।
शिरो विधूय संताड्य हंसोऽप्युड्डीय चागमत् ॥२४॥
तस्मिन् कालेऽपि मित्रं स नमस्कृत्य सरोऽगमत् ।
आसक्त्या वा पुनश्चान्यत्सरसोऽन्वेषणाय वै ॥२५॥

पाच भूत जब वृद्धादि अवस्था में हारे तब खाखर ( असार तुच्छ सुखादि देह कुपात्र ) को फोर ( नष्ट ) कर दिये। फिर जीव शिर धून कर सरवर मित्र को जोहार ( नमस्कार ) करके चला, या दूसरे देह का जोह ( खोज ) में चला ॥

आगि जो लागि सरवर (में) हो रमैयाराम ।
सरवर जरि भेल धूरि हो रमैयाराम ॥
कहहिं कबिर सुनु सन्तो हो रमैयाराम ।
परखि लेहु खरा खोंट हो रमैयाराम ॥१॥

त्यक्ते सरसि तस्मिंश्चाऽलगदग्निस्ततस्तु तत् ।
दग्धं सदभवद्धूलि जीवोऽन्यत्र समाविशत् ॥२६॥
विना ज्ञानं न मोक्षोऽभून्नाम्ना व्यापारतोऽथवा ।
सद्गुरुरेवमाहातः साधो त्वं श्रवणं कुरु ॥२७॥
मननादि विधायैवं सत्यानृतविवेकतः ।
जानीहि त्वनुभूत्याऽत्र सत्यमेवामृतं परम् ॥२८॥
अज्ञानविपयाद्यस्माज्जन्मादिभयमापतेत् ।
सम्यग्ज्ञानाच्च तस्यैव भयं सर्वं विलीयते ॥२९॥
अग्निं मत्वा मणिं दूरात्तत्संस्पर्शाद्बिभेति यः ।
स तं चिन्तामणिं बुद्ध्वा स्कन्धेऽर्पित्वा विराजते ॥३०॥
एवमीशं पृथङ् मत्वा यो बिभेत्यस्य शासनात् ।
स तं सौख्याकरं बुद्ध्वा स्वात्मानं तेन राजते ॥३१॥
विमलदृशा भवभावगणे विचरति मोहगणैर्विगतः ।
तिमिरमुदस्य विधूय मलं हरिमलमत्र मुदा लभते ॥३२-१॥

फिर त्यागा हुआ देह में अग्नि-लगी, वह जल कर धूलि हो गया । ज्ञानादि विना उससे सत्य फल नहीं मिला ॥ इससे साहब का कहना है कि श्रवणादि करो, और-सत्य मिथ्या को परख लो, विवेक विज्ञान कर लो कि जिससे यह देह सफल हो ॥१॥

## बेलि २.

भल सुमिरण जहडायहु हो रमैयाराम ।
धोख कियहु विश्वास हो रमैयाराम ॥

संसारे स्वशरीरे वा रममाणेन कामतः ।
सद्विचारस्त्वया त्यक्तोऽभिभूतश्च विवेकवान् ॥३३॥

सुस्मृते विषयश्चात्मा सत्यो न चिन्तितस्त्वया ।
किन्तु मिथ्या कुमार्गादौ विश्वासो वञ्चके कृतः ॥३४॥

भल सुमिरण ( श्रेष्ठ स्मरण–विचारवानों को, या भले श्रेष्ठों के स्मरण, श्रेष्ठ स्मरण ) को तुमने जड़ड़ाया ( तग किया, वा त्यागा ) और धोखे में विश्वास किया ॥

ई तो है वन सीकत हो रमैयाराम ।
सीरा कियो विश्वास हो रमैयाराम ॥

संसारवनमध्ये ये विषया वालुका इमे ।
विरसा घातुकाश्चैव प्राणिनां बन्धनप्रदाः ॥३५॥
बडिशादिसमास्तीक्ष्णास्तत्र भोग्यत्वबुद्धितः ।
महत्त्वं सरसत्वं च मोहतः कल्पितं त्वया ॥३६॥

ई ( यह ) संसारवन के नीरस वालुतुल्य विषयादि को तो तुम सीरा ( श्रेष्ठ सरस महाभोग ) पने का विश्वास किये हौ ॥

ई ( तो ) है वेद भागवत हो रमैयाराम ।
गुरु मोहि दीहल थापि हो रमैयाराम ॥

कस्मिंश्चिदर्थवादादौ कुस्मृतौ कल्पितं त्वया ।
अयं वै भगवान् वेदो ह्यास्ते भागवतं त्विदम् ॥३७॥
गुरुभिर्मे विमोक्षाय स्थापितः सेतुरद्भुतः।
अनेनैव भवाम्भोधेः पारं यास्यामि निर्वृतः ॥३८॥

किसी स्तुति आदि अर्थवाद वाक्यों में तुमने विश्वास किया है, कि यही वेद और भागवत है, गुरु ने मेरे लिये इसकी स्थापना किया है ॥

गोवर कोट उठायहु हो रमैयाराम ।
परिहरि फेकहु खेते हो रमैयाराम ॥

तत्रोक्तं निश्चयं कृत्वा प्राकारो गोमयस्य च ।
कृतो वै भूतसंघस्य देहलोकमयश्चलः ॥३९॥
अनेन न कदाप्यङ्ग कामाद्यरिपराजयः ।
भवितेति सुनिश्चित्य क्षेत्रेषु क्षिप्यतां हि तम् ॥४०॥
आत्मतां सत्यतां त्यक्त्वा, तत्रासत्यधियं कुरु ।
क्षेत्रज्ञं च ततो भिन्नं विद्धि देवं निरञ्जनम् ॥४१॥

गोबरतुल्य भूतों के लोक देहरूप कोट ( किला ) तुम अपनी रक्षा के लिये उठाये हो ॥ उसे परिहरि ( त्यागकर ) प्रकृतिरूप खेत में फेंको ॥

बुधि बल जहँा न पहुंचे हो रमैयाराम ।
तहवाँ खोज कस होय हो रमैयाराम ॥
सो सुनि मन धीरज भयल हो रमैयाराम ।
मन बढि रहल लजाये हो रमैयाराम ॥

यत्र बुद्धेर्बलं नैव याति देवे निरञ्जने ।
तस्याप्यन्वेषणं केन प्रकारेण भवेत्प्रभो ॥४२॥
इत्येवं सद्गुरुं पृच्छ श्रद्धाभक्त्यादिसंयुतः ।
तस्योपदेशातस्ते स्याच्छांति धैर्यं निरन्तरम् ॥४३॥
तस्यैव चोपदेशेन हृदयेऽप्यभवत् स्थिरम् ।
धैर्यं पूर्वं मुमुक्षूणां गर्वो च लज्जितोऽभवत् ॥४४॥
लज्जितेव मनोवृद्धिः संकोचं चागमत्ततः ।
सुबुद्धेः सुप्रकाशेन जीवन्मुक्तिरवर्तत ॥४५॥

जहाँ बुद्धि का बल नहीं पहुंचता तहवाँ ( निर्गुण में ) भी किस प्रकार खोज ( विचार ) होता है। इस बात को सद्गुरु से पूछकर समझो; क्योंकि सो मुनि ( इसीके श्रवणादि से )प्रथम जिज्ञासुओं के मन में धीरज ( धैर्य ) हुआ, आर मनबढ़ि ( अभिमानी–मनबढु ) लोग लजित हो रहे। या मन की वृद्धि लजित की नाईं निवृत्त हो गई ॥

फिरि पाछे जनि हेरहु हो रमैयाराम ॥
कालभूत सब आहीं हो रमैयाराम ॥
कहहिं कबिर सुनु सन्तो हो रमैयाराम ।
मति ढीगहु फैलाये हो रमैयाराम ॥२॥

इति सद्गुरुकबीरकृते बधबीजनिध्वसने बीजकनाम्नि ग्रन्थे माया-निवृत्तिसंपादकं नवमं बेलि प्रकरणम् ॥

उपदेशं गुरोः श्रुत्वा पश्चाद् भूयो न पश्यतु ।
किन्तु भूमिषु चोर्ध्वासु सावधानेन धावताम् ॥४६॥
आत्मनो ये ह्यधोलोकाः पश्चाच्च वर्तते जगत् ।
कालभूतं हि तत्सर्वं दुःखद्वन्द्वादिकारणम् ॥४७॥
अतः साधो कुरुष्व त्वं श्रवणं च मतिं स्वकाम् ।
निकटे स्वात्मतत्त्वेऽत्र विस्तारय न कुत्रचित् ॥४८॥
अविद्यो बन्धकक्षो विरमति सुगुरोर्वाक्यजाद्बोधवन्हे-
र्वैराग्याद्यैः सुदीप्ताच्छमदमनिरतैर्योगभक्त्याविलब्धात् ।
नैवायं कर्मजातैर्विरमति सदनुष्ठानहेत्वादिसिद्धे-
रेवं निश्चित्य धीमान् गुरुवरचरणं सेवमानो यतेत ॥४९॥

(बेल्या) वल्ल्या विलासममलं मधुरं निरीक्ष्य,
निर्गृह्य मानसमलं ममतां विहाय ।
आहृत्य लोककलनाच्चलनाच्च चित्तं,
लोका विशन्तु निकटे परमात्मधाम्नि ॥५०॥
दीव्यन्तं बालवज्जीवं दिव्यभोगादिवांछया ।
अजस्रं वारकं वन्दे कबीरं करुणामयम् ॥५१॥२॥

इतिवेलिविलासाख्या व्याख्या समाप्ता ॥

सद्गुरु के उपदेश को सुनकर फिरि ( लौटकर—या पुनः ) पाछे ( संसार तरफ ) जनि ( नहीं ) हेरो ( देखो ), संसार की सब वस्तु कालभूत (मृत्युस्वरूप) हैं ॥ साहब का कहना है कि हे सन्तो ! श्रवणादि करो, और अपनी गति ( बुद्धि ) को ढ़िग ( पास ) में ही फैलावो ( हृदय में विचारादि करो ) या फैलाये ( संसार विस्तार में ) मन इन्द्रियादि को मति ढीगहु ( नहीं त्यागो ) इत्यादि ॥२॥

माया बेली केलि से, मोह द्रोह से पार ।
जो सद्गुरु तिहि चरणरज, हनूमान शिरधार ॥१॥

इति नवम बेलि प्रकरण संपूर्ण ।

श्रीसद्गुरुचरणकमलेभ्यो नमः ।

—: सद्गुरु :—

# कबीर साहेब कृत बीजक ।

[ स्वानुभूतिसंस्कृतव्याख्यासंहित ]

## अथ दशम विरहुली प्रकरण ।

तत्त्वज्ञानं विना ये स्वजनिमृतिसुखं मन्यमानाश्च दीनाः,
सत्यानन्दाऽद्वितीयस्वपतिविरहजे दुःखसिन्धौ निमग्नाः ।
मोहाख्यैश्चातितीव्रै विषयविषधरैस्तद्विपैर्व्याप्तचित्ता-
स्तेषां दैन्यादिहत्यै गुरुवरवचनं मन्त्ररूपं प्रवृत्तम् ॥१॥

विरहिणं प्रतिबोधनदक्ष हे विरहसर्पनिवारणरक्षक ।
विषयसर्पसुदष्टसुदुःखिनं गरुडमन्त्रबलेन सुशिक्षय ॥२॥

कुरु दयां करुणार्णव मां प्रति प्रतिपलं विषमं विषमश्नुते ।
नहि विरागसुयोगशमादयो हृदि लसन्ति वसंति न धर्मकाः ॥३॥

तनुधनादि जनादि न मे प्रभो भयनिवारणकारणमस्ति चेत् ।
न वनिता न सुतो न सहोदरस्तव कृपालवमात्रमथोऽस्ति तत् ॥४॥

इति निशम्य सुदीनवचः प्रभुर्भयनिवारणतारणहेतवे ।
गुरुवरो वरगारुडिवत्स्वयं विरहुलीं वरमन्त्रमुवाच ह ॥५॥

आत्मैव सर्वजनकः स च मूलहीनो,
निःसाक्षिकस्य जननस्य हि मानबाधात् ।
किञ्चास्य मूलकलने कलहो न नश्येद्,
आत्माश्रयादिसकलः कलिराश्रयेत्तत् ॥६॥

निःसङ्गसाक्षिततरूपतयाऽद्वितीयः,
स्वात्मा श्रुतौ स्मृतिचये विमलस्त्वनङ्गः ।
ज्ञातः स एव गुरुणा विमलानुभूत्या,
लभ्यस्ततो गुरुवरैरुपदिश्यतेऽसौ ॥७॥

मायामयो हि सकलः खलु विश्वभेद-
स्तेनास्य सङ्कलना नहि विद्यतेऽलम् ।
एतत्सुबोधजननाय गुरोः प्रवृत्ति-
स्तेनेह मुक्तिरपि साधुजनस्य सिद्धा ॥८॥

## बिरहुली १.

आदि अन्त नहिं होते बिरहुली ।
नहिं जर पल्लव पेंड़ बिरहुली ॥
निशिवासर नहिं होते बिरहुली ।
पवन पानि नहिं मूल बिरहुली ॥

अये विरहिणो नैव युष्माकमादिरस्ति नो ।
अन्तो वा विद्यते मध्यो ह्यात्माऽखण्डोऽस्ति सर्वदा ॥१॥
सर्वत्रात्मास्ति युष्माकं तस्य मूलं न विद्यते ।
पल्लवा नैव सन्त्येव मध्यस्कन्धः कुतो भवेत् ॥२॥
नक्तंदिवप्रभेदो नो स्वप्रकाशेऽत्र विद्यते ।
असङ्गत्वान्न पवनः पानीयं मूलमस्य वा ॥३॥

हे विरहुली ( विरही ! ) तेरे आदि अन्त ( जन्म मरण ) नहीं होते हैं। तुम अज अविनाशी हो। तुममें जर पल्लव ( जड़ पत्र ) पेड़ आदि नहीं हैं। न रातदिन का भेद है। न पवन पानी का सम्बन्ध है, न तेरा कोइ मूल कारण है, न पवनादि के कारण से तुझे सम्बन्ध है इत्यादि ॥

ब्रह्मादिक सनकादिक विहुरली ।
कथि गये योग अपार विरहुली ॥
मास असाढे शीतल विरहुली ।
बोइन सातों बीज विरहुली ॥

अस्यैवात्रोपलब्ध्यर्थं ब्रह्माद्या सनकादयः ।
कर्मज्ञानादियोगाश्च प्रोचुस्ते बहुधा बुधा ॥४॥
आदौ कृतयुगे शुद्धे शुचितुल्ये सुशीतले ।
सप्तभूमिकबोधस्य बीजान्यूपुर्हि ते तदा ॥५॥
सप्तधातुकदेहस्य सप्तस्वरमयस्य च ।
शब्दस्याप्युप्तवन्तस्ते बीजानि विविधानि वै ॥६॥

उक्त आत्मतत्त्व के ज्ञान के ही लिये ब्रह्मादिक और सनकादिक अपार ( अनन्त प्रकार के ) योग कह गये हैं। और आद्य सतयुगरूप शीतल ( सात्त्विक ) आषाढ़ मास में उन लोगों ने सात भूमिकायुक्त ज्ञान का बीज बोया ॥

निति कोड़हिं निति सींचहिं विरहुली ।
निति नव पल्लव पेंड विरहुली ॥
छिछिल विरहुली छिछिल विहुरली ।
छिछिल रहल तिहु लोक विरहुली ॥

तेषां क्षेत्राणि चाद्यापि जना अन्येऽपि यत्नतः ।
नित्यं कर्षन्ति सिञ्चन्ति यथायोग्यं पृथक् पृथक् ॥७॥
तेन संजातवृक्षेषु स्कन्धाश्च नवपल्लवाः ।
नित्यमेव हि जायन्ते विस्तारं यान्ति सर्वतः ॥८॥
शब्दज्ञानात्मका वृक्षा देहाद्यात्मान एव च ।
विस्तृतास्त्रिषु लोकेषु तच्छाखाद्यास्तथैव च ॥९॥

उक्त बीज के क्षेत्रों को विवेकी लोग आज भी सदा कोड़ते सींचते हैं। जिससे सदा नवीन २ पल्लव पंड़ादि होते ही रहते हैं। और वह ज्ञानादि वृक्ष भी सर्वत्र छिछिल ( फैल–छितराय ) रहा है। तथा तीनों लोक में छा रहा है इत्यादि ॥

फुलवा एक भल फुलल विरहुली ।
फूलि रहल संसार विरहुली ॥
सो (फुल) बन्द हिं भक्तजना विरहुली ।
बन्दिके राउर बॉह निरहुली ॥

संसारे वृक्षरूपे च योषास्वर्णादिलक्षणम् ।
पुष्पमेकमफुल्लच्चह्निश्वे सर्वत्र वर्तते ॥१०॥
आपातरमणीयं तद्दोषयुक्तं सदेव हि ।
तस्यैव चात्र लब्ध्यर्थं भक्ता वन्दन्ति देवताः ॥११॥
स्तुवन्ति चेश्वरं केचित्कुर्वते बहुकर्म च ।
देवादीनां बलं स्तुत्वा तत्पुष्पं चिन्वते सदा ॥१२॥

और एक भला ( मनोहर ) स्त्री धनादिरूप फूल संसारवृक्ष में फूला ( विकसा ) है। सो संसार में सब जगह फूल रहा है। उक्त

ज्ञानादि के विना इस सासारिक फूल के ही लिये भक्तजन भी देवादि की वन्दना ( स्तुति ) करते हैं। और राउर ( सर्वश्रेष्ठ ) ईश्वर के वाद ( सामर्थ्य ) की वन्दना करके उसी फल को चाहते हैं ॥

सो (फुल) लोढ़हिं सन्त जना विरहुली ।
डंसि गेल बैतल साप विरहुली ॥
विषहर मन्त्र न मानै विरहुली ।
गारुड़ बोलै अपार विरहुली ॥

आश्चर्य यद्धि सन्तोपि विरक्ते वेषधारिणः ।
पुष्पं चयन्ति तत्तुच्छ स्वर्गं वाञ्छन्ति तद्यतः ॥१३॥
ततश्च तीव्रकामादिरूपो मत्तो भुजङ्गमः ।
तान् सर्वानदशद्वेगान्मोहाद्यं विषमाविशत् ॥१४॥
विषस्य हारकान् मन्त्रान् मन्यन्ते यदि ते नहि ।
गुरवो गारुडान् मन्त्रान् वदन्त्येभ्यस्ततः किमु ॥१५॥
अपारस्यात्मनो.बोधो यद्येषां नैव जायते ।
कुविचारादिदोषेण तत्कथाया भवेत् किमु ॥१६॥

वेषधारी सन्त लोग भी उसी फल को लोढते ( प्राप्त करते ) हैं। जिससे तीव्र कामादि बौरा साप ने इन्हें डस लिया है, इससे ये लोग भी विषहर मन्त्र को नहीं मानते, गुरुगारुडी तो बहुत कुछ कहते ही हैं ॥

विष कि क्यारि तुम बोयहु बिरहुली ।
लोढत का पछताहु बिरहुली ॥
जन्म जन्म यम अन्तर विरहुली ।
फल एक कनयल डार विरहुली ॥

कहहिं कविर सचु पाव विरहुली ।
जो फल चाखहु मोर विरहुली ॥१॥

इति सद्गुरुकबीरकृते निखिलकलिमलविध्वसने बीजकनाम्नि ग्रन्थे निखिलविषविध्वंसन दशम विरहुलीप्रकरण समाप्तम् ॥१०॥

कुविचारफलस्यान भोगकाले सदा जनाः ।
पश्चात्तापेन पीड्यन्ते तान् प्रति कथ्यते त्विदम् ॥१७॥
विषयान् विषकेदारेषूप्तवन्तो भवे यदि ।
शोकः किं क्रियतेऽद्यत्वे फलकाले।मुपस्थिते ॥१८॥
प्रारब्धं भुज्यतां हर्षादुद्वेगो न विधीयताम् ।
भाविदुःखनिवृत्त्यर्थमुपायश्च सुचिन्त्यताम् ॥१९॥
बोधवृक्षस्य शाखास्थं स्वादिष्टं परमामृतम् ।
फल चेत्स्वाद्यतेऽस्माकं जीवन्मुक्तिकरं शुभम् ॥२०॥
महद्भिरीक्षितं शुद्धं पावनं तत्सनातनम् ।
लप्स्यतेऽत्र तदा सौख्यमचलं गुरुराह तत् ॥२१॥

यदि विषयविष की कियारी संसार में वासनादि बीज बोये हो। तो उसके फल फूल को लोढते ( चुनते–भोगते ) समय क्यों पश्चात्ताप करते हो ॥ हरएक जन्म में यम के अन्दर ( वश ) में होना ही रूप एक मुख्य फल संसाररूप कनयल ( विषवृक्ष ) के डार में लगता है ॥ साहब का कहना है कि यदि तुम एक बार भी मेरा फल ( मोक्षानुभव ) को चखो तो सदा सचु ( सत्यानन्द ) पावो, फिर विष भी शान्त हो जाय इत्यादि ॥

फुलवा एक भल फुलल वि. । फूलि रहल संसार वि.॥
सो लोढहिं सन्तजना वि. । बन्दिके गाउर जाहिं वि. ॥
सो बन्दहिं भक्त जना वि. । डँसि गेल बेतल सांप वि. ॥

इत्येव पाठभेदपक्षे, श्वेतकरञ्जफलात्सर्पविष निवर्तते, इति लोकप्रसिद्धे स्वीकारे चार्थभेदः । तथाहि—

विज्ञानादि सुपुष्पं वै फुल्लमेकं च वर्तते ।
संसारद्रुमशाखायां लग्नं तदपि चाद्भुतम् ॥२२॥
गुरुभक्त्या विचाराद्यैस्तद्धि चिन्वन्ति साधवः ।
मुमुक्षवो विरक्ताश्च सदाऽध्यात्मपरायणाः ॥२३॥
सद्गुरुं परमात्मनं ज्ञानविज्ञानतत्परान् ।
अभिवाद्यैव सर्वास्ते भवमुक्ता भवंति हि ॥२४॥
पुनरावृत्तिहीनं सत्पदं गच्छंति सज्जनाः ।
हृदिस्थं विमलं चैव विभुं च प्रकृतेः परम् ॥२५॥
सकामाश्चान्यभक्ता वै काम्यकर्मात्मकं मृषा ।
संचिन्वंति सदा पुष्पं बन्धदं न विमोक्षदम् ॥२६॥
कालरागादिकास्तेन ह्युन्मत्ताः पवनाशनाः ।
अदशन् तांश्च मन्यन्ते मन्त्रांश्च विषहारकान् ॥२७॥
सद्गुरुर्भाषते नित्यमनन्तं मन्त्रसत्पदम् ।
किं करोतु त्वसाध्यत्वे विषस्यास्योल्वणस्य वै ॥२८॥
पश्चात्तापैः किमद्यत्वे ह्युक्तं चेद्विषये विषम् ।
यमधाम्नोऽन्तरे तेन प्राप्तिर्भवति जन्मसु ॥२९॥
मिथ्यास्वाद्यत्वहीनेऽस्मिन् मम वाक्यकरञ्जके ।
मधुरेऽमधुराभासे फलमेकं हि लभ्यते ॥३०॥

स्वाद्येत यदि तद् युक्त्या गुरुसत्संगलब्धया।
लभ्येत हि तदा सौख्यमित्येवं गुरुराह तान् ॥३१॥
न रात्रिंदिवभेदोऽस्ति यस्मिन् परमशाश्वने।
देशकालभिदा नैव दिशन्तं संश्रयामि तम् ॥३२॥
यः प्रोवाचाक्षरैरल्पैर्वेदसारं जगद्धितम्।
हिंसाकल्कादिशुद्धं तमास्तिकः संश्रयेन्न कः ॥३३॥
यस्योपदेशसाम्राज्यात्कामक्रोधादयोऽरयः।
क्षीयन्तेऽपुनरावृत्ति तं कबीरं भजाम्यहम् ॥३४॥
यस्य वाक्यात्सुमन्दोऽपि द्वन्द्वमुक्तो भवत्यलम्।
स्वच्छन्दं तमहं वन्दे कबीरं भावभास्करम् ॥३५॥
यस्य सत्ताप्रकाशाभ्यां ब्रह्मविष्णुहरादयः।
अवतारान् प्रतन्वन्ति दिशन्तं तं भजाम्यहम् ॥३६॥

नाऽस्पर्शि यो दोषलवैर्विशुद्धो यस्मिंश्च सर्वे सुगुणा वसंति।
भिन्ने गुणैराकुलिताश्च लोका भेदैर्विहीनं तमहं भजामि ॥३७॥
तत्त्वज्ञसत्तत्त्वपरं जितेन्द्रियं जितामयं चैव जितारिसंचयम्।
शान्तं सदा शान्तिपरं जनप्रियं वन्दे मुनीन्द्रं हि कबीरसंज्ञकम् ॥३८॥
धर्मैर्विहीनं गतकामकल्मषं क्रोधादिदोषैः खलु वर्जितं सदा।
गुणज्ञमुख्यं च परार्थवृत्तिनं वन्दे कबीरं करुणामयं गुरुम् ॥३९॥
सत्यैकसंधं निजबोधनिर्मलं सांख्ये च योगे परिनिष्ठितं कविम्।
सर्वज्ञसर्वाभयविग्रहं हितं ह्याहारसंहारविवर्जितं भजे ॥४०॥
ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिर्नान्यः पन्था मुक्तये चेति वाक्यात्।
ज्ञौ साक्षान्मुक्तिहेतुत्वमत्र तत्संसिद्ध्यै यो हि वक्ता नुमस्तम् ॥४७॥
विरहिवर्तनमाशु निरीक्ष्यतां स्वजननादिभयं च विसृज्यताम्।
अतिविशुद्धमनन्तचिदव्ययं परिनिरीक्ष्य जनैः सुखमास्यताम् ॥४८॥

इति विरहुलीवर्तनाख्यव्याख्या समाप्ता।

विज्ञानरूप एक भला फूल भी संसार में फुला है, उसीके लिये ईश्वर गुरु की वन्दना करके जो उस फल को लोढते ( प्राप्त करते ) हैं। सो सज्जन संसार से परे पहुंच जाते हैं॥ और सकाम भक्त भी उसके लिये वन्दना करते हैं, परन्तु कामरूप बौरा साँप के काटने से मुक्ति नहीं पाते ॥१॥

हरिगुरु चरण सरोज में, भाव सहित शिर नाय।
हनूमान सहजे तरै, वारिधि विरह बलाय ॥१॥

इति दशम विरहुली प्रकरण संपूर्ण।

---

श्रीसद्गुरुचरणकमलेभ्यो नमः ।

—: सद्गुरु :—

# कबीर साहेब कृत बीजक।

[ स्वानुभूतिसंस्कृतव्याख्यासहित ]

## अथ एकादश साखी प्रकरण ।

मायामात्रमिदं कलेवरगृहं कुर्वंश्च विश्वं तथा,
तत्रास्ते हि य एक निर्गुणसुखः *साक्षी स्वयं चाव्ययः ।
तं सत्यं निगमागमैः निगदितं ध्यानैकगम्यं परं,
सद्भक्त्या प्रणमाम्यहं सुविमलो भूयासमन्ते × सदा ॥१॥
दानं गुरोः +सकलविघ्नहरं ह्यजस्रं,

---

* एकोऽद्वितीयश्चासौ निर्गुणः स एव सुखयतीति सुखः । एष ह्येवानन्दयतीत्यादिश्रुतेः ॥

× जीवन्मुक्तौ विदेहमुक्तौ च सत्याम् । अथवा स्वरूपे निकटे निश्चये काले चेत्यर्थः। अन्तःस्वरूपे निकटे प्रान्ते निश्चयनाशयोरिति हैमः ॥

+ अत्र शेषत्वविवक्षया षष्ठी, गुरुणा कृतं मन्त्रादीना दान शिष्यं प्रति शिष्यैरेव कृतं वा तन्वादीनामर्पणलक्षणं दान गुरुं प्रति, तनुधनाभ्या शुश्रूषणादाज्ञापरिपालनाच्च, तद्दान निखिलविघ्नहरं भवति, तेन निर्विघ्न-श्रेयोऽनुष्ठीयते ॥

ज्ञानं तदीयमनघं§ प्रवदंति सन्तः ।
मानं सदा मदहरं भवतीति सत्यं,
ध्यानं धुनोति हि भवं भुवि भावुकानाम् ॥२॥
शिष्यः कश्चिदुदारमानसयुतो गत्वा गुरोः सन्निधौ,
नत्वा प्रेमपरंपरागतमनाः सौम्यं वचश्चाददे ।
देवो देव ! सदास्ति * सर्वसुहृदां बन्धुः परः पावनो,
यस्तं दर्शय सारगर्भितगिरा यस्माद्भवेद् + भावुकम् ॥३॥
आदौ सद्गुरुमेव मोदय मुदा सत्यं सदा संश्रय,
शौचाचारपरायणः शमदमैर्नित्यं मनः शोधय ।
इत्थं × स्वात्मविवेकवारिविमलं चित्तं परं बोधय,
कामादीन् खलु रोधयैव § सगणान् देवं परं लप्स्यसे ॥४॥
देवं दूरदिशासु नैव लभते कश्चित्सदाऽन्वेषयन्,
नैवं † देशकुलादिषु प्रविचरंश्चेतः स्वकं भ्रामयन् ।

§ गुरोः सकाशाल्लब्धं ज्ञानं निर्दोषं भवति । आचार्याद्धयेव विदिता विद्या साधिष्ठं प्रापयति । छा. ४।९।३॥ गुरोर्मानं–सत्कृतिः, भावुकाना–भवनशीलानाम् ॥

* सर्वेषां प्राणिनां मित्रभूतानां सर्वेभ्यो दत्ताऽभयानामहिंसकानामिति यावत् ॥

+ कुशलं–मोक्ष इति भावः ॥

× स्वात्मविवेक एव वारि तेन शुद्धम् ॥

§ रिरंसादिरूपो हि कामः, मत्सरेच्छातृष्णाकार्पण्याद्यात्मकस्तद्गणः । क्रोधेर्ष्याऽसूयाद्यात्मको द्वेषगणः । विपर्ययसंशयाद्यात्मको मोहगणः ॥

† आत्मविचारादिकं त्यक्त्वा तीर्थादिदेशेषु विचरन्, जातिकुलादिव्यवहारेष्वासक्तस्तदभिमानवान् स्वचित्तं बाह्ये क्षोभयन्, स्वात्मतत्त्वं

आत्मन्येव स आत्मना तु लभते सङ्ग सदा वर्जयन्,
तस्मादात्मविचारणां कुरु मुदा नान्यं हृदा चिन्तय ॥५॥

## साखी १, साक्षिस्वरूपसारशब्दादिवर्णन प्र. १.

जहिया जन्ममुक्ता हता, तहिया हता न कोय।
छठी तुम्हारी हौं जगा, तू कहँ चला बिगोय ॥१॥

जन्ममुक्तो यदासीस्त्वं तदासीत्ते न कश्चन।
माता पिता सुहृद् बन्धुर्धनदारासुतादिकः ॥१॥
गृहक्षेत्रादिकं नासीत्त्वात्मैवासीत्तु केवलः।
षष्ठे चेतन्यरूपेऽत्राऽहङ्कारो बन्धदोऽभवत् ॥२॥
*अहङ्कारविलासेन देहस्ते समपद्यत।
विस्मृत्यात्र तमात्मनं देहे किमिति सज्यते ॥३॥
साक्षिभूतं स्वमात्मानं पञ्चकोशविलक्षणम्।
भूतपञ्चकदगरूपं त्यक्त्वा वभ्रम्यते भवान् ॥४॥
इत्यहो महदाश्चर्यं स्वात्मानन्दमहोदधिम्।
त्यक्त्वा यद् भ्राम्यते जन्तु विषयप्रेक्षया चिरम् ॥५॥

---

नैवापरोक्ष करोति, किन्तु सङ्गत्यागेनाक्षुब्धचेता. सन् स्वकीयान्त.करणे प्रतिबिम्बितमानन्दरूपमात्मानमविषयभूतमपि सम्यग् जानाति विचारवान्। यथा चक्षुष्मानादर्शे प्रतिबिम्बित स्वचक्षुर्मुख चक्षुषा सम्यग् जानाति तस्माद्विचारवता भाव्यमिति ॥

* अहङ्कारस्य विलास कार्योन्मुखत्व तेन, अहङ्कारात्मको वा विलासोऽविद्याकार्यं तेनेत्यर्थ । आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषविध सोऽनुवीक्ष्य नान्यदात्मनोऽपश्यत्सोऽहमस्मीत्यग्रे व्याहरत्ततोऽहं नामाऽभवत्। बृ. १।४।१॥

यद्वा जन्मविमुक्तस्त्वं यदासीस्तमसाऽऽवृतः ।
तदाऽऽसन्नैव ते केऽपि ह्यद्यमासं तदा शिवः ॥६॥
चेतनश्च तवात्माऽहं षष्ठोऽस्मि चित्स्वरूपकः ।
त्यक्त्वा मां कुत्र यास्यङ्ग शास्त्रदृष्ट्या हि विद्धि माम् ॥७॥
× प्रातर्दनसमः शिष्यो गुरुं ज्ञात्वा विवेकतः ।
लक्षितं स्वात्मरूपं हि मुच्यते वामदेववत् + ॥८॥
आत्मदृष्ट्या हि संप्राप्य सद्गुरोः शरणे त्वया ।
अन्यो न चिन्त्यतां विद्वन् हेलयापि कदाचन ॥९॥१॥

जहिया ( जब—प्रलय या जन्म से पूर्वकाल में ) तुम इस वर्तमान जन्म देहादि से मुक्त ( मुक्त रहित ) हता (था) तहिया ( तब ) तेरे वर्तमान जन्म देहादि के मातापिता जातिकुलकुटुम्बादि कोई नहीं थे, किन्तु पंचकोश पांचतत्त्व से विलक्षण चेतनात्मा उस समय भी था। उसी छठी स्वरूप के अज्ञान से हौं ( अहंकार ) जगा ( उत्पन्न ) हुआ जिससे यह जन्म हुआ है, फिर उसे विगोय ( भूल ) कर तूं कहाँ लोकव्यवहार में चले हो। या जब कोई नहीं था तब भी छठी ( चेतन ) स्वरूप हौं ( मैं ) जगा ( प्रकाशवान् ) था और हूं। फिर तुम गुरुरूप मुझको छोड़कर कहाँ चला है इत्यादि ॥१॥

जाय छठीली आपनी, बात न पूछो कोय ।
जिन यह भार लदाइया, निर्वाहैगा सोय ॥२॥

गत्वा षष्ठे स्वरूपे स्वे वार्तां पृच्छ न कामपि ।
येनाऽयं भर उद्धूर्णः स स्वयं संविधास्यति ॥१०॥

× शारीरके, अ. १।१।११। द्रष्टव्योऽयं विषयः ॥
+ अहं मनुरभवं सूर्यश्च, इत्यादि वामदेव्यमन्त्राः । ऋ. ६।१५।४।३।२६।

ज्ञात्वा सत्यं स्वमात्मानं नान्यन्मनसि धीयताम्।
यैरिदं रचितं सर्वं तैस्ते वृत्तिर्विधास्यते ॥११॥
किमर्थं खिद्यते सर्वप्रभुर्हृद्येव वर्तते।
अव्यग्रं स्थीयतां सैव शुभं सर्वं करिष्यति ॥१२॥
" तत्त्वमाध्यात्मिकं दृष्ट्वा तत्त्वं दृष्ट्वा तु बाह्यतः।
तत्त्वीभूतस्तदारामस्तत्त्वादप्रच्युतो भवेत् ॥१३॥
वृत्त्यर्थं नातिचेष्टेत सा हि धात्रैव निर्मिता।
गर्भादुत्पतिते जन्तौ मातुः प्रस्रवतः स्तनौ" ॥१४॥२॥

अपने छठीली ( छठी ) स्वरूप में जाकर ( मन लगाकर ) किसीसे कोई बात नहीं पूछो, जिन ( ईश्वर कर्मादिकों ) ने यह देहरूप भार लादा है वे ही इसका निर्वाह करे करायगे ॥२॥

शब्द, शब्द बहु अन्तरे, सार शब्द मत लीजै।
कहहिं कबिर (जहँ) सार न दर्शे, धृक जीवन सो जीजै ॥३॥

बह्वन्तरं हि शब्देषु सारशब्दमतं भज।
जीवनं तत्तु धिग् लोके यत्र सारो न दृश्यते ॥१५॥
+विधिमन्त्रादिभेदेन ×भूताऽभूतार्थभेदतः।
सारासारार्थभेदेन शब्दो बहुविधः स्मृतः ॥१६॥
तत्र सारार्थमेवेमं शब्दं यो विविनक्ति वै।
तस्य जीवनसाफल्यमायुस्तस्य च शोभते ॥१७॥

+ विधि, मन्त्र, नामधेय, निषेधार्थवादभेदेन पञ्चविधः शब्दः कर्मकाण्डात्मकवेदगतः ॥

× भूतार्थः-सिद्धार्थः, अभूतार्थः-साध्यार्थः, सारार्थः-सत्यार्थः, असारार्थोऽसत्यार्थः ॥

अतः सारविवेकेन सैव चित्ते निधीयताम् ।
क्रियतां न क्वचित्संगोऽसारेऽत्र विश्वमण्डले ॥१८॥
सारासारविवेकेन स्वात्मतत्त्वं न वेत्ति यः ।
जीवनं धिक्कृतं तस्य ह्यायुरायासकारणम् ॥१९॥
आह स सद्गुरुश्चैतच्छ्रुत्वा सारः सुगृह्यताम् ।
असारस्त्यज्यतामङ्ग शब्दश्चार्थश्च सर्वथा ॥२०-३॥

शब्द २ ( शब्दों ) में बहुत अन्तर ( भेद ) हैं । विवेकपूर्वक सारशब्द के मत का धारण करो । जिसको सारशब्द के मत के दर्शन ( विवेक ) नहीं है, उसके जीवनादि धिक्कार के योग्य हैं ॥३॥

शब्द हमारा आदि का, पल पल करहू याद ।
अन्त फलैगी माहली, ऊपर के सब बाद ॥४॥

सार एवास्मदादीनां शब्दः सर्वादिबोधकः ।
शोधकः पापपुञ्जस्य तं त्वं प्रतिपलं स्मर ॥२१॥
अजस्रं स्मरणात्तस्य सद्विवेकः स्फुटो भवेत् ।
मोहान्धकारनाशेन सर्वाऽऽयासो निवर्त्स्यति ॥२२॥
ये त्विहानात्मकोशेषु संसक्ता विषयात्मकाः ।
सारासाराविवेकेन तेषां सर्वं हि निष्फलम् ॥२३॥
धिक् तेषां मानुषं जन्म यौवनं धनसंचयम् ।
कुलं कर्म यशो वीर्यं प्रभुत्वं मानगौरवम् ॥२४॥
यादृशी हि भवेत्पुंसां वासना वा मति र्दृढा ।
फलं तादृग् भवेदन्ते बाह्यवस्तु ह्यनर्थकम् ॥२५॥
बाह्यवस्तु फलं सूते ह्यन्ते स्ववासनादितः ।
अतोऽन्तस्तद्विपं तीव्रं सुधोपरि मनोहरम् ॥२६॥४॥

हमारा ( सद्गुरु का ) शब्द आदिका ( आद्य तत्त्व का बोधक, ) है। उसको पल २ में याद ( स्मरण ) करो। और ऊपर ( बाहर ) के सब ( शब्द अर्थ ) बाद ( व्यर्थ ) हैं। और अन्त ( मरण ) काल में उनमें माहली ( माहुरी विष ) समान फल लगेंगे। जो माहली मनोहर लाल ऊपर से होता है। भीतर काला कटु होता है, इससे उसमें ऊपर की शोभा व्यर्थ होती है। इसी प्रकार बाह्य विषय को जानो, इसमें आसक्त होने से तीव्र दुःखादि की प्राप्ति होती है ॥५॥

शब्द हमारा आदिका, शब्दहिं पैठा [illegible]।
फूल रहन की टोकरी, घोरे खाया [illegible] ॥५॥

सारशब्दोऽस्मदादीनां जीवोऽविदित्व [illegible] × ।
पुष्पपात्रसमं जातमाज्यं + मथित [illegible] ॥२७॥
सारशब्दाविवेकेन शब्दाभासे [illegible]वान् ।
पुष्पपात्रसमस्तेन वासन[illegible]वत् ॥२८॥
पुष्पपात्रं हि पुष्पाणां गन्धैः [illegible] यथा ।
भवलेपमयं जन्तुः [illegible]नायुतः ॥२९॥
आज्यं च तक्रसंगेन यद्व [illegible] विनश्यति ।
तथाऽयमकृतात्मापि * [illegible]विनश्यति ॥३०॥

इससे जैसे घोर ( तक्र ) घी को खाता ( नष्ट करता ) है। तैसेही वासना जीवों को नष्ट कर रही है ॥५॥

शब्द हमारा तु शब्द का, सुनि मति जाहु सरक।
जो चाहहु निज तत्त्व को, शब्दहिं लेहु परक ॥६॥

सारशब्दोऽस्मदीयोऽयं त्वञ्चास्यैवाधिकारवान्।
तं श्रुत्वा न कचिद्याहि विवेकं तेन साधय ॥३१॥
तत्त्वनिश्चयकामश्चेत्सारशब्दो विविच्यताम्।
तमन्तरा न लभ्योऽयमात्मा देवः कथञ्चन ॥३२॥
परीक्ष्याऽऽदत्स्व वै सारशब्दं नैवेतरं क्वचित्।
अन्यथा भवरोगोऽयं मत्पदं तरुणायते ॥३३॥
त्वमिच्छसि निजं तत्त्वं ज्ञातुमवाप्तुमञ्जसा।
यदि तर्हि विवेकेन विना किञ्चिन्न गृह्यताम् ॥३४-६॥

हमारा सारशब्द है, और तुम इस शब्द के अधिकारी हो। इसे सुनकर फिर कहीं सरक ( गिर ) नहीं जावो। यदि तुम निजतत्त्व को प्राप्त करना चाहो तो विविक्त इस सार शब्द द्वारा ही उसे परख लो ॥६॥

शब्द हमारा आदिका, अतिबल दिखा न कोय।
आगे पीछे जो करे, सो बलहीना होय ॥७॥

विविक्तः सारशब्दो मे बलयुक्तेन लभ्यते।
सैवातिबलयुक्तस्तु दृश्यते नेह कश्चन ॥३५॥
ये संशयितचित्ता वै बलहीना भवन्ति ते।
सारशब्दो न तेष्वङ्ग स्फुरतीह कदाचन ॥३६॥

यस्मान्नास्ति परं किञ्चिन्नापरं विद्यते तथा ।
तेषु स्फुरति तत्तत्त्वमेकं नेह कदाचन ॥३७॥
विचाराद्यैः समायुक्ताः शमादिगुणशालिनः ।
सद्भक्तिसंयुताः सर्वे बलवन्तो विवेकिनः ॥३८॥७॥

हमारा शब्द आदिका है, परन्तु इसे प्राप्त करनेवाला अतिबली कोई नहीं दीख पड़ता है। जो कोई आगेपीछे ( इत उत सशय ) करता है, सो बलहीन ही होता है, या जो आत्मा से आगे ( परे ) की कल्पना करता है, या पीछे ( पश्चाद्भावी ) शरीरादि कार्य में आसक्त होता है, सो दिन२ बलहीन होता है [ नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः । मुण्ड. ३।२।४॥ यस्मात्पर नापरमस्ति किञ्चित् । श्वे ३।९॥] ॥७॥

शब्द विना श्रुति ऑधरी, कहहु कहाँ को जाय ।
द्वार न पावे शब्द का, फिरिफिरि भटका खाय ॥८॥

सारशब्दविहीना हि मनोवृत्तिरदृक्समा ।
कुत्र यास्यति सन्मार्गे कथ्यतां यन्मनीति चेत् ॥३९॥
संसारकारागृहमध्यसक्ता बभ्रम्यमाणा सुतरां सदा सा ।
द्वारं न वै विन्दति सारशब्दं तस्माद्विमुग्धा खलु चंचुरीति ॥४०॥
श्रोत्रजा वृत्तिरेवं हि सारशब्दं विना कथम् ।
कुत्र यास्यति चान्धा सा कथ्यतां तच्च बुध्यताम् ॥४१॥
यावच्छब्दस्य सद्द्वारं प्राप्यते न तया स्वयम् ।
तावज्जीवो मुहुर्भ्रान्त्वा कष्टमाप्नोति सर्वदा ॥४२॥८॥

इति साक्षिसाक्षात्कारे साक्षिसारशब्दादिवर्णन नाम प्रथमा विवृतिः ॥१॥

सारशब्द के विना श्रुति ( मनोवृत्ति-श्रोत्रेन्द्रिय ) अन्ध समान है। तो कहो वह किस सत मार्ग से कहाँ जा सकती है। वह जबतक

शब्द के द्वारों को नहीं पाती है, तबतक शब्द अर्थजाल कोट में गिर २ कर भटका ( धोखा—कष्ट ) खाती भोगती है ॥८॥

इति साक्षिस्वरूप सारशब्दादि वर्णन प्रकरण ॥१॥

## साखी १, शब्दमहिमाविवेकादि प्र. २.

शब्दे मारा गिर परा, शब्दे छोड़ा राज ।
जिन यह शब्द विवेकिया, तिनको सरा काज ॥१॥

यदुशक्तिर्ह्ययं शब्दस्तेनाभिचरणादिकम्§ ।
विरागो यागयोगाद्या सिद्ध्यन्ति नात्र संशयः ॥१॥
अपतच्छन्दघातेन कश्चिद्राज्यं प्रदत्तवान् ।
रक्तोऽन्यस्तु कुशब्देन तिष्ठत्यत्रैव दीनधीः ॥२॥
ईदृशेभ्यस्तु शब्देभ्यः सारशब्दो विवेचितः ।
येनैव गुरुभक्तेन तेनाप्तं जन्मनः फलम् ॥३॥
सारशब्दविवेकेन स्वात्मानुभववान्नरः ।
+ गच्छत्यपुनरावृत्तिमिहस्थोऽपि प्रमोदते ॥४॥१॥

मारणादिरूप शब्द के मार से कोई गिर पड़ा, विरागबोधक शब्द से कोई राज्य छोड दिया। ऐसे महाबली शब्दों का जिन्होंने विवेक किया, और विवेकपूर्वक सारशब्द को समझा, तिनका कार्य सुधर गया ॥१॥

§ अभिचरण मारणक्रिया श्येनयागादिलक्षणा ॥
+ मुक्तिं प्राप्नोति—जीवन्मुक्तिकालेऽलौकिकानन्दवान् भवति ॥

जौं जिव जानहु आपना, करहु जीव को सार।
जियरा ऐसा पाहुना, मिलै न दूजी बार ॥१०॥

आत्मानं यदि जानासि तर्हि त्वं स्वं करोपि सत्* ।
अत्रोपकारको देहो मानवो न पुनः पुनः ॥५॥
अनेनातिथितुल्येन देहेन येन साधितम् ।
ज्ञानं निजात्मनश्चैकं तेन किं न कृतं भवेत् ॥६॥
यदीच्छसि सदा सौख्यं यदीच्छस्यपुनर्भवम् ।
तर्ह्यागन्तुकतुल्येनानेन त्वं स्वं विचारय ॥७॥
अत्रैव मानवे देहे स्वात्मा लभ्यः प्रियोऽतिथिः ।
अनुभूत्या विवेकेन तस्य पूजा विधीयताम् ॥८॥
स्वस्मै यच्च हितं वेत्सि तत्परस्मै विधीयताम् ।
ईदृशो नातिथिर्भूयो लभ्यो जन्मान्तरेषु वा ॥९॥
आत्मौपम्येन सर्वत्र हितं कुर्वन् हि मानवः ।
विन्दते परमं श्रेयो योगं विज्ञानमेव च ॥१०॥१०॥

जौं ( यदि ) अपना जीवात्मा के कार्य की सिद्धि जानो ( चाहो ) तो उसे सार ( साक्षी ) रूप करो ( समझो ) यह जियरा ( देह ) ऐसा पाहुन है कि फिर दूसरे बार शीघ्र नहीं मिलता। और आत्मस्वरूप अतिथि दूसरे देह में नहीं प्राप्त होता, इसलिये शीघ्र इसी देह में समझो ॥१०॥

जौं जानहु जग जीवना, जौं जानहु तौं जीव।
पानप चाहहु आपना, पनियाँ मांगि न पीव ॥११॥

* सत् सत्य ब्रह्मेति

+ मा न भूवं हि भूयासमिति चेदस्ति वांछितम् ।
महत्त्वमपि चेदिच्छेर्विषयं न विषं पिब ॥११॥
विषया * विषवैषम्या वामा कामविमोहदा ।
तांस्त्यक्त्वा सर्वथा विद्वंश्चिरं जीव सुखी भव ॥१२॥
किञ्च त्वं जीवनस्याशां चेत्करोष्यविवेकतः ।
तर्हि जीवत्वमायासि सत्यानन्दमयोपि सन् ॥१३॥
अतस्त्वं जीवितस्याशां धनाशां च सुदूरतः ।
त्यक्त्वा गुरोः सुधावाक्यं याचयित्वा हृदा पिब ॥१४॥

यदि जगत में जीना जानो (चाहो) तो जीवो, परन्तु अपना पानप ( इज्जत ) चाहो तो पानी भी मागकर नहीं पीवो ( आत्मावलम्बन करो आशा आदि त्यागो )। या जग में जीने की यदि तुम आशा करते हो तो जाननेवाला तुम जीव कहाते हो। [ यावद्विषयभोगाशा जीवाख्या तावदात्मनः। यो. वा. ६।१२१।१ ] इत्यादि ॥११॥

पानी प्यावत क्या फिरो, घर घर सायर वारि ।
तृषावन्त जन होहिंगे, पीवहिंगे झँख मारि ॥१२॥

पाययन् किं जलं स्वादु घूर्णसे कोपि सज्जनः ।
गृहे गृहेऽत्र चास्त्येव वारिधेर्वारि पूर्वतः ॥१५॥
संसाराम्बुनिधेर्दुष्टं वारि यस्य हृदि स्थितम् ।
तस्मिन्न स्वदते स्वच्छं गुरुवाक्यं सुधोपमम् ॥१६॥

---

+ अहं मा भूवमिति न किन्तु भूयासमेवेति · चेत्तवेच्छाविषयः ॥
* विषं इव वैषम्यं येषु तथाभूता विषयाः, कामेन विमोहं ददाति सा वामा ॥

आनन्दाब्धिरसः पूर्णस्तस्य यस्य तृषा भवेत् ।
स स्वयं गुरुपादाब्जे नम्रः सत्यसुधां पिबेत् ॥१७॥
यावन्नास्य मुमुक्षा स्यादुत्कटा न विरक्तता ।
शतकृत्वः श्रुतोप्यात्मा तावन्नायं प्रसीदति * ॥१८॥
वैराग्ये च विवेके च विमले सति मानसे ।
× उपयुक्ते शमादौ च क्षणादात्मा प्रसीदति ॥१९-१२॥

अनधिकारियों के प्रति सदुपदेशादिरूप पानी क्या पिलाते फिरते हो, सबके घर२ ( हृदयों ) में ससारसमुद्र आत्मसमुद्र के वारि विषयवासना–और आनन्द ) वर्तमान है ॥ जो जिसकी तृषावाले होंगे, सो आपही झॅस मारकर उस वारि को पीवेंगे ॥१२॥

हंसा मोति विकानियॉ, कञ्चन थार भराय ।
जो जस मर्म न जानये, सो तस काह कराय ॥१३॥

हंसार्थं मौक्तिकं पूर्णं विक्रीणाति हि काञ्चने ‡ ।
कश्चिज्जानाति नो तस्य रहस्यं स करोतु किम् ॥२०॥
स्थितं सौवर्णपात्रे हि महार्घं * मौक्तिकं यथा ।
हंसो भुंक्ते न काकादिर्बकादिर्वा कुमत्स्यभुक् ॥२१॥

* तावदय प्रत्यक्षोऽभिमुखो न भवति ॥

× अनुष्ठिते ॥

‡ काञ्चने भाजने पूर्णं मौक्तिक कश्चिद्धंसार्थं विक्रीणाति, तस्य मौक्तिकस्य रहस्य गुप्त मर्म यो नो जानाति, स तत्क्रयणादिकं किं करोतु नैव करोतीत्यर्थ. ॥

* महान् अर्घो मूल्य यस्य ॥

तथा गीतं हि सच्छास्त्रे निहितं गुरुमानसे ।
रहस्यज्ञोऽधिकारी सज्ज्ञानीयाद्यविवेकवान् ॥२२॥
नि:सीमं सुखसिन्धुं ये परिज्ञातुमनीश्वराः ।
ते मन्दा हतभाग्यत्वात् किं कुर्वन्तु निजात्मने ॥२३-१३॥

हंसतुल्य विवेकी जिज्ञासु के लिये, सत्सगादिरूप हाट में सत् शास्त्रादिरूप थाली में भरकर, ज्ञानयोगादिरूप मोती बिक रहे हैं। जो लोग उसका जैसा मर्म ( भेद ) है, वैसा उसको नहीं समझते, सो उसका उस प्रकार से उपयोग करके फल की प्राप्ति क्या कर सकते हैं ॥१२॥

हंसा तूं सुवरण वरण, कहा वरण को तोहि ।
तरुवर पाय पहेलि हो, तबहिं सराहो तोहि ॥१४॥

हंसासि स्वर्णवर्णस्त्वमुक्तवानस्मि तत्तथा ।
अब्धौ वृक्षं समासाद्य तीर्णः श्लाघ्यो भविष्यसि ॥२४॥
योऽसौ सुवर्णवर्णीतः कोटिसूर्यसमप्रभः ।
शास्त्रेषु वर्णितः सम्यक् स तवात्मा न संशयः ॥२५॥
देहादिवृक्षमासाद्य सर्वत्रासक्तधीर्यदि ।
निस्तीर्णः स्या भवाम्भोधेर्मुक्तः श्लाघ्यो भविष्यसि ॥२६॥
सदानन्दस्वरूपोऽपि देहवृक्षकसगतः ।
मनोरथेन वेगेन भवनद्या त्वमुह्यसे ॥२७॥
संसारनद्या खलु चोह्यमानश्चेत्सेवसे सद्गुरुपादनावम् ।
सत्यात्मबुद्ध्या प्रतरन् भवाब्धिं श्लाघ्यः सतां शुद्धतरः सदा स्याः ॥२८॥
हंसदीप्तसुवर्णस्त्वं देहवृक्षे वसन्नपि ।
घोरोत्तमैर्हि कामाद्यैर्मन॰ ॰ ध्यो न चान्य ॥२९॥

सत्यः सुखो द्युतिरनादिदेवो गीतः सुशास्त्रेषु तथाऽनुभूतः।
आत्मैव तेऽस्त्यत्र न संशयोस्ति दुर्बोधतस्त्वं परिनिन्धसेऽलम्
॥३०॥१४॥

इति साक्षिसाक्षात्कारे शब्दमहिमवर्णनपुरःसरं विवेकादिवर्णनं नाम द्वितीया वित्तिः ॥२॥

हे हंस! (जीव!) तुम सुवर्णतुल्य दीप्त स्वरूप हो, तेरा ही वर्ण को मैं छठीली जगास्वरूप कहा हूं। संसारनदी में बहते हुए वृक्ष तुल्य देहादि को पाकर भी इसमें नहीं फंसकर यदि पहेलिहो (पार होगे) या इसे कहानीमात्र खेलरूप जानोगे, या आनन्दवृद्धि को प्राप्त करोगे, तभी मैं तुझे सराहूंगा ॥१४॥

इति शब्द महिमा विवेकादि प्रकरण ॥२॥

## साखी १५, अविवेककृत संसारलोभादि प्र. ३.

हंसा तूं तो सबल था, हलुकी अपनी चाल।
रंग कुरङ्गे रंगिया, किया और लगवार ॥१५॥

हंस! भोः सबलोपि त्वं गत्यैव हीनया त्वया।
कुरागै रञ्जितो देवं पश्यस्यन्यं पतिं यथा ॥१॥
आत्मा ते सर्वतः शक्तो मायया ऽबलतां गतः।
शरीरे दुर्गुणे सक्तोऽन्यान्पतींस्त्वं हि नाथसे ॥२॥
अविद्यासंश्रयादात्मा बलीयानपि दुर्बलः।
अविद्याराजयक्ष्माऽस्य कार्श्यमेति तया यतः ॥३॥
मोहोदयो महामृत्युर्मुमुक्षोर्वपुरादिषु।
मोहस्य विनिवृत्तिं तु मोक्षमाहुर्मनीषिणः ॥४॥

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शांतिः शाश्वती नेतरेषाम्"
॥५॥१५॥

हे हंस ! जन्म से प्रथम तथा बाल्यावस्था में भी तूं सबल (उत्कट रागद्वेषादि रहित ) था, संसार को जीत सकता था। परन्तु अविद्या कामादिवश अपनी हलुकी चाल से कुरग रंग ( देहादि ) में रंग गया है। और अन्य लगवार ( असत्पति ) सिद्ध किया है, जिससे तूं अत्यंत अबल हुआ है ॥१५॥

हंसा सरवर तजि चले, देही परि गौ शून ।
कहहिं कबीर पुकारि के, तेई दर तेइ थून ॥१६॥

देही हंसः सरस्त्यक्त्वा मोहं+ मूर्च्छामुपागतः ।
तत्रैव बध्यते कीले बहुधा वासनादिभिः ॥६॥
देहाभिमानवाञ्जीवो देहत्यागान्न मुच्यते ।
तस्मात्तृणजलूकेव गृहीत्वाऽन्यं विमुञ्चति ॥७॥
स्वप्नवन्मरणे काले गृहीत्वाऽन्यं कलेवरम् ।
जीर्णं कलेवरं त्यक्त्वा पुनस्तत्र प्रवर्तते ॥८॥१६॥

देही हंसा जब देहसरोवर त्यागकर चला तो शून्य पड़ गया ( मोह ने घेर लिया ) और अविवेक से तेई दर ( उसी जगह ) फिर उसी समान थून ( स्तम्भ ) में बंध गया ॥ या विवेकी जब देह को त्यागे तब देह को उसी जगे थून ( गाड़ ) दो, संस्कारादि से कोई फल नहीं है ॥१६॥

---

+ अविद्याम् ॥

हंसा के घट भीतरे, बसे सरोवर खोंट ।
एको ठौर न लागिया, रहा स ओटे ओट ॥१७॥

अविवेकवतां ह्यन्तर्वासनाकामकोटयः ।
वर्तन्ते तन्मयास्तेऽतो नच मुक्ता भवन्ति हि ॥९॥
ज्ञानस्याभ्यासतस्तावद्वासना संप्रलीयते ।
वासनायाः क्षये मुक्तः सदा तिष्ठति योगवित् ॥१०॥
शरीरे चाऽत्र हंसस्य मनः खातं कुकर्मणाम् ।
विद्यते तेन सुस्थानं ह्यप्राप्यैकं निलीयते × ॥११॥१७॥

जिन हंसों के घट के अन्दर खोंट ( पाप दुर्वासनादि ) के सरोवर है। उनमें से एक भी एको ठौर ठिकाने नहीं लगे। ओटे ओट रह गये ॥१७॥

हंस बक देखि एक रंग, चरहिं हरियरे ताल ।
हंस क्षीर ते जानिये, बकउ धरेंगे काल ॥१८॥

बद्धमुक्तौ कथं ज्ञेयावित्येवं हृदये यदि ।
विमर्शो विद्यते विद्वन् रहस्यं श्रूयतां तदा ॥१२॥
यथा हंसबकौ श्वेतौ सरस्येकत्रचारिणौ ।
क्षीरनीरविवेकेन हंसो विज्ञायते स्फुटम् ॥१३॥
बको मत्स्यादिघातेन तथा ज्ञानेन मुक्तधीः ।
कामदम्भादभावेन वैराग्येण च लक्ष्यते ॥१४॥

× एकमद्वितीयं सुस्थानमप्राप्यैव सद्गुरुभ्यो निलीनोऽन्तर्हितो भवति। तथाऽविद्यायामावरणशक्त्या निलीनस्तिष्ठतीति भावः ॥

अज्ञो देहाभिमानेन हिंसादिभिश्च बुध्यते ।
स तिष्ठति सदा दीनः कालचक्रमुपागतः ॥१५॥
परस्वादानविरतो ज्ञः स्वार्थानप्युपेक्षते ।
समाहर्तुं परार्थांश्च ह्यबुधश्चेष्टते सदा ॥१६-१८॥

हस बक तुल्य विवेकी बकध्यानी एक रग ( तुल्य ) दीख पड़ते हैं, हरियर ताल के समान मनुष्य लोक में विचरते हैं। परन्तु क्षीरनीर के विवेकतुल्य आत्मानात्मादि के विवेकविचारादि से हस को पहचानो। और काल के समान बकवृत्ति लोग जीव विषयादि को पकड़ेंगे, उससे उन्हें पहचानो ॥१८॥

काहे हरिणी दूबरी, इहे हरियरे ताल ।
लक्ष अहेरी एक मृग, केतिक टारै भाल ॥१९॥

शुभेऽस्मिन् मानवे देहे तृणयुक्तसरोनिभे ।
सति जीवमृगोऽयं किमत्यन्तं हि कृशायते ॥१७॥
इत्यालोच्य ततो विद्वन् कारणान्यत्र निश्चिनु ।
यदेकैकस्य नाशाय लक्षव्याधा हि वञ्चकाः ॥१८॥
कामलोभादयश्चैव सन्त्येव घातुकास्तथाः ।
कस्यचिद् बाणधाण्या च सोऽसदर्थिकया क्षतः ॥१९॥
घूर्णतेऽयं मृगो व्यग्रो न शर्म लभते क्वचित् ।
मृगीव चास्य बुद्धिर्वै कृशा दीना च तिष्ठति ॥२०॥
वाग्बाणवारणाशक्ता मनोरथशतैर्हता ।
विकल्पजालबद्धा च न तृप्यति गुरुं विना ॥२१॥
हीयते हि मतिस्तावद्धीनैः सह समागमात् ।
जीवोऽप्यबलतामेत्य वाग्बाणाद्यैर्विनश्यति ॥२२-१९॥

मानवलोक रूप इस हरे ताल के किनारे, बुद्धिरूप हरिणी क्यों दुबली पतली हुई है, ऐसी जिज्ञासा होने पर गुरु कहते हैं कि कुगुरु कामलोभादिरूप लाखों अहेरी (व्याधा) हैं, और जीवरूप मृग एक है, वह कितने भाला (बाण बरछी) को टारे, उनके वाग्वृत्तिरूप बाण से वेधित होने के कारण इसकी बुद्धि दुबली है ॥१९॥

लोभे ज्ञान गमाइया, पापे खाया पून।
आधी सो आधी कहै, तापर मेरा खून ॥२०॥

वञ्चकवचनैर्मोहैर्लोभात्माणमनाशयत् ।
पापाग्नदयति सत्पुण्यं लोभात्सर्वं विनश्यति ॥२३॥
" नचास्ति धर्मसम्बन्धो लोभाक्रान्तस्य देहिनः।
स एव धर्मविध्वंसी लोभः परमदारुणः " ॥२४॥
एको लोभो महाग्राहो लोभात्पापं प्रवर्तते।
अतः शोकश्च कोपश्च तथा दुःखमनुत्तमम् ॥२५॥
लोभस्यास्य विनाशार्थमर्द्धमात्रात्परेऽव्यये * ।
मनो धृत्वा जहिह्येनं, ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥२६॥
देहादौ ममतां त्यक्त्वा ह्यात्मन्येव विधीयताम्।
एवं लोभो महापापः कामश्च नङ्क्ष्यति स्वयम् ॥२७॥
+ ओंकारो ह्यर्द्धसाक्ष्यात्मा तदर्द्धस्यैव भावने।
लोभादेव प्रवर्तन्ते जना वै विषयात्मकाः ॥२८॥

* प्रणवस्यार्द्धमात्रावाच्यान्मायाशबलात्परे शुद्धे ब्रह्मणीति।

+ ओंकारवाच्यः शुद्धापेक्षयाऽर्द्धसाक्षिस्वरूपस्तस्मादप्यर्द्धस्वरूप एकमात्रादिवाच्यः। अथवा पदद्वयात्मकत्वाद्वाक्यस्यैकपदात्मक ओंकारोऽर्द्धसाक्षिस्वरूपोऽर्द्धवाक्यरूप इति यावत् ॥

लोभस्यैतस्य नाशार्थं प्रणवार्द्धस्य चिन्तनात् ।
यच्छोकात्मफलं × प्रश्ने श्रुतं तदिह खण्ड्यते ॥२९॥
लोभाद्विमुक्तो गुरुपादरक्तः सक्तः सदा स्वात्मपदावलोके ।
यो वै विरक्तश्च सतां सुभक्तो मुक्तो भवेन्मोहमदादिरिक्तः ॥३०-२०

इति साक्षिसाक्षात्कारेऽविवेककृतससारबधनलोभादिवर्णनं नाम तृतीया वित्तिः ॥३॥

मिथ्योपदेशादिजन्य लोभ से लोगों ने व्यर्थही जान ( प्राण–ज्ञान ) को गमाया । लोभजन्य पाप पुण्य को नष्ट किया । आधी साखी (ओंकार) से भी आधी जो उसके एक दो मात्रा उससे भी परे अमात्र चेतन में मेरापन का खून ( लय ) करके लोभादि को जीतना चाहिये ॥२०॥

इति अविवेककृत ससारलोभादि प्रकरण ॥३॥

## साखी २१, ओंकारतत्त्वादिनिर्णय प्र. ४.

आधी साखी शिर कटी, जो निरुवारी जाय ।
क्या पण्डित की पोथिया, राति दिवस मिलि गाय ॥२१॥

शिरोबन्धनहीनो य ॐकारोऽस्त्यर्द्धसाक्षिवत् ।
लिप्यां तन्निर्णये नास्ति ग्रन्थैरन्यैः प्रयोजनम् ॥१॥
+ ओंकारार्थस्य विज्ञानात्सर्वं सद्विदितं भवेत् ।
वेदनान्मुक्तिरित्याहुरध्ययनं फलयत्कथम् ॥२॥
" आत्मानं विन्दते येन सर्वभूतगुहाशयम् ।
श्लोकेन वा तदर्द्धेन क्षीणं तस्य प्रयोजनम् ॥३॥

---

× स यद्येकमात्रमभिध्यायीत । प्र. ५।३॥

+ ब्रह्म ह ब्रह्माणं पुष्करे ससृजे । स खलु ब्रह्मा सृष्टश्चिन्तामापेदे ।

युञ्जीत प्रणवे चेतः प्रणवो ब्रह्मनिर्भयम्।
प्रणवे नित्ययुक्तस्य न भयं विद्यते क्वचित्" ॥४॥
ओंकारार्थाऽविवेके तु युक्तिमन्तोऽपि पण्डिताः।
× मिथ्यात्मन्यभिमानेन संसरन्ति निरन्तरम् ॥५-२१॥

शिरकटी (शिरोबन्धनरहित) आधी साखी ओंकार का यदि निरुआर (विवेकादि) कर लिया जाय। या निःसत्त्व माया का आत्मा से निवारण कर लिया जाय, तो उन पण्डितों के पोथियों से क्या मतलब है, कि जिन्हें लोग रातदिन मिलकर गाते हैं, अर्थात् ॐकारार्थ का निर्णय से सब प्रयोजन की सिद्धि होती है इत्यादि ॥२१॥

पांच तत्त्व का पूतला, युक्ति रची मैं कीव।
मैं तोहि पूछौं पण्डिता, शब्द बड़ा की जीव ॥२२॥

पञ्चतत्त्वात्मिका ह्येषा पुत्रिका §युक्तिभिः कृता।
तत्र पृच्छामि विद्वंस्त्वां को महाञ् जीवशब्दयोः ॥६॥
भौतिके पुत्रिकादेहे ममताऽनर्थकारणम्।
युक्तिं कृत्वापि कुरुते तां तु मूढो न पण्डितः ॥७॥
कृतां पाञ्चालिकां ज्ञात्वा सुखी तत्र विचारवान्।
विचारः क्रियतां तस्मात्स्वात्मदेहेषु को महान् ॥८॥

---

येनाहमेकेनाक्षरेण सर्वांश्च कामान् सर्वांश्च लोकान् सर्वांश्च देवान् सर्वांश्च वेदान् सर्वांश्च यज्ञान् सर्वांश्च शब्दान् सर्वांश्च व्यूष्टीः सर्वाणि च भूतानि स्थावरजङ्गमानि अनुभवेयमिति। स ब्रह्मचर्यमचरत् स ओमित्येतदक्षर मपश्यत्। गोपथब्रा. १।१६॥

× शरीरे ॥ § पञ्चीकरणादिभिर्युक्तिभिरिति भावः।

आत्मनः सत्तया सर्वमिदं जातं चराचरम् ।
अत्रात्मानं पृथक् कृत्वा *वाचाऽऽरम्भणकं त्यज ॥९॥
" साकारमनृतं विद्धि निराकारं तु निश्चलम् ।
एतत्तत्त्वोपदेशेन न पुनः भवसंक्रमः" ॥१०॥२२॥

जो पण्डित बहुविध युक्ति रचकर भी पाचतत्त्व के पुतला में मैं (ममता) किये हैं, उनसे मैं (गुरु) पूछता हू कि शब्द (वाचारम्भणमात्र विकार पुस्तकादि) बड़े हैं कि ओंकारार्थ जीवात्मा बड़ा है, सो समझो कहो ॥ अथवा ब्रह्मात्मदृष्टि से साहब का कहना है कि मैं ने ही युक्ति से रचकर पाचतत्त्व के पुतला को सिद्ध किया है, तहाँ समझो कि शब्द बड़ा है कि जीव, अर्थात् आधी साखी पद से शब्दमात्र नहीं समझो किन्तु उसके द्वारा आत्मा को समझो इत्यादि ॥२२॥

पॉच तत्त्व लै या तन कीन्हा, सो तन का लै कीन्ह ।
कर्महिं के वश जीव कहत हैं, कर्महिं कहँ जिव दीन्ह ॥२३॥

आदाय पञ्चतत्त्वानि कृत्वा चेदं कलेवरम् ।
अहो मूढैः कृतं तेन किं तन्मनसि चिन्त्यताम् ॥११॥
आत्मनो ह्यविवेकेन सत्यानन्दमया अपि ।
कर्मवश्या भवन्तोऽज्ञा जीवत्वं समुपागताः ॥१२॥
अहो मोहात्पुनस्तेऽत्र घटन्ते कर्मणे सदा ।
देहेन मानवेनैव नात्मानं प्रोद्धरन्ति च ॥१३॥

---

* वाचारम्भण विकारो नामधेयमिति श्रुतिबोधित, वाचैवारभ्यमाणं व्यवह्रियमाण विकारजातम् । यतो नामधेयमात्रमर्थशून्यमस्ति तस्माद्वागा वलम्बन तत् ॥

अहो मोहस्य माहात्म्यं स्वात्मानन्दमहोदधिम्।
हित्वा क्षणिकदेहेषु रमन्ते ह्यभिमानतः ॥१४॥
ओंकारार्थे विविक्ते तु मत्वाऽऽनन्दादिलक्षणे।
त्यक्त्वा कर्माणि कोशांश्च परं ब्रह्माधिगम्यते ॥१५॥

जीवात्मा के विवेक के अभाव से ही जीवात्मा ने पांचतत्त्व को लेकर कर्मानुसार देह को बनाया है। फिर भी विवेक बिना इस देह को लेकर क्या किया है कि जिन कर्मों के वश परवश जीव कहा जाता है, उन कर्मों ही के प्रति इस देह का भी अर्पण कर दिया ( फिर सकामादि कर्मों में प्रवृत्त हुआ ) आत्मविचारादि नहीं किया॥ या परमात्मा ने पांचतत्त्व से देह बनाकर, कर्माधीन जीव कहानेवालों को कर्म ही के लिये दिया है इत्यादि ॥२३॥

पाँचतत्त्व का पूतला, मानुष धरिया नाम।
एक कला के बीछुरे, विकल होत सब ठाम ॥२४॥

तत्त्वपाञ्चालिका देहो नामधेयेन मानवः।
*कलामात्रस्य वैषम्यात्क्षणाद्भ्रष्टो भवत्ययम् ॥१६॥
अतो नात्मास्ति देहोऽयमेवं प्राणादिकोऽपि च।
नात्मा जडत्वधर्मत्वादात्माऽनंशः सदाऽव्ययः ॥१७-२४॥

पांचतत्त्व का पुतला देह का ही मानुष नाम धरा गया है, आत्मा का नहीं, और प्राणादि सोलह कलाओं में से किसी एक का वियोग से भी यह सर्वत्र विकल ( व्याकुल ) होता है॥ या चन्द्रमा के स्थायी कलातुल्य आत्मा के बिछुरे ( वियुक्त-अज्ञात ) रहने से जीव सर्वत्र विकल होता है ॥२४॥

* प्राणाद्यासु षोडशकलासु मध्यादेकस्या अपि वैषम्यादिति।

पांच तत्त्व के भीतरे, गुप्त वस्तु अस्थान ।
विरले मरम पाई हैं, गुरु के शब्द प्रमान ॥२५॥

पञ्चतत्त्वान्तरे चायमात्मा गूढो हृदम्बरे ।
सदा व्यवस्थितश्चास्ते गुरुशब्देन लभ्यते ॥१८॥
अभिमानादिहीनेन नान्यैर्यत्नशतैरपि ।
अभिमानमतस्त्यक्त्वा गुरुपादं समाश्रयेत् ॥१९॥
व्यापकोपि सदात्माऽयं व्यक्तत्वात्कथ्यते हृदि ।
व्यक्तं तं हि परिज्ञायाऽव्यक्तं पश्यति तं बुधः ॥२०-२५॥

इस पांचतत्त्व का शरीर के भीतर गुप्त वस्तु ( आत्मदेव ) की प्राप्ति का स्थान है । उसका मर्म विरला पुरुष गुरु के शब्दरूप प्रमाण से पाता है ॥२५॥

अशून्य तखत अड़ि आसन, पिण्ड झरोखे नूर ।
जाके दिल में हौं बसे, सेना लिये हजूर ॥२६॥

स्वे महिम्नि स्थितो ह्यात्मा प्रतिबोधं प्रकाशते ।
लभ्यते गुरुभक्तेन वैराग्यादियुतेन वै ॥२१॥
सिंहासने त्वशून्येऽत्र स्वासनं प्रविधाय सः ।
गवाक्षपिण्डमार्गेषु ज्योतिः किरति जागृतौ ॥२२॥
शून्यात्परे मनःस्थानं कुर्या हृदि चिदम्बरे ।
सर्ववृत्तिषु चात्मस्थं प्रकाशमवलोकय ॥२३॥
अभिमानं परित्यज्य समाधानं विधीयताम् ।
क्रियतां न कचित्सङ्गस्ततो मुक्तो भवान् स्वयम् ॥२४॥
येऽत्राभिमानिनः क्रूरास्तच्छिक्षायै चमूवृतः ।
महाराजो निजात्मैव स एव यमराट् स्वयम् ॥२५॥

" न यमं यममित्याहुरात्मा वै यम उच्यते ।
आत्मा संयमितो येन तं यमः किं करिष्यति" ॥२६-२६॥

शून्य ( आकाशमिव, सत्य स्वस्वरूप, वा प्रकाशमान हृदय ) तखत ( सिंहासन ) पर आसन अड़ा ( लगा ) कर आत्मदेव राजा बैठा है। और पिण्ड ( देह ) के झरोखों ( द्वारों ) पर उसीका नूर (प्रकाश) है। जिसके दिल ( मन ) में हौं ( गर्व ) बसता है, उसको दण्ड देने के लिये भी वह सेना लेकर हजूर ( उपस्थित ) रहता है। या जिसके दिल में हौं ( मैं सद्गुरु ) बसता हूं, उसके लिये परमात्मदेव भी प्रत्यक्षही उपस्थित है ॥२६॥

रंगहिं ते रंग ऊपजे, सब रंग देखी एक ।
कौन रंग है जीव का, ताकर करहु विवेक ॥२७॥

यथा वर्णाद् भवेद् वर्णस्तथा मायादितो जगत् ।
भूतरागात्मकं मिथ्या विद्धि मायामनोमयम् ॥२७॥
इत्थमेतत्परिज्ञाय जीवात्मा वै विविच्यताम् ।
किं स्वरूपो ह्यसौ शश्वद्यथा गर्वो न बाधते ॥२८॥
रूपाद्भवन्ति रूपाणि वर्णाद्वर्णा भवन्ति च ।
सर्वाण्येकं विलोक्याच्छे स्वस्वरूपे स्थिरो भव ॥२९॥
यदि भूतविकारांस्त्वं द्रक्ष्यसि भूतमात्रकान् ।
तत्क्षणाद्बन्धनिर्मुक्तः स्वरूपस्थो भविष्यसि ॥३०॥
" नाहं देहो न मे देहो बोधोऽहमिति निश्चयी ।
कैवल्यमिव संप्राप्तो न स्मरत्यकृतं कृतम्" ॥३१-२७॥

रंग से रंग ( देह से देह—रागादि से रागादि ) उत्पन्न होते हैं, तहाँ सब कार्यस्वरूप रंगों को एक कारणस्वरूप ही देखकर, जीवात्मा का कौन रंग ( स्वरूप ) है, तिसका विवेक करो ॥२७॥

जाग्रत रूपी जीव है, शब्द सोहागा शेत ।
जलद बुन्द जल कूकुढ़ी, कहहिं कबिर कोइ देख ॥२८॥

नित्यजाग्रत्स्वरूपोऽयं जीवात्मा चित्स्वरूपतः ।
आपातरमणीयाश्च शब्दादिविषयाः खलु ॥३२॥
क्षारद्रव्यस्य संसर्गाद्यथा लौहं विलीयते ।
अकृतात्मा तथा तेषां संगात्प्रच्यवते स्वतः ॥३३॥
जले जलदबिन्दूनां पाते बुद्बुदसंततिः ।
यथा तद्वदिदं विश्वं पश्यन्ति वै विवेकिनः ॥३४॥
मनोमायादियोगेन जाता विश्वपरंपरा ।
क्षणिका सा च मोहेन विपरीता विभाति हि ॥३५॥
जाग्रदादिष्ववस्थावान् योऽयं जीवः प्रतीयते ।
निरवस्थोऽपि मोहेन ह्यशुद्धो जन्ममृत्युमान् ॥३६॥
गुरूणां सारशब्देन शुद्धः सन् प्रतिभानवान् ।
जलबुद्बुदवद्विश्वं स्वाऽभिन्नं च प्रपश्यति ॥३७-३८॥

जीव का स्वरूप नित्य जाग्रत् (चेतन) रूप है, शब्दादि विषय सोहागा तुल्य देखने में श्वेत (सुन्दर-सुखद) हैं । परन्तु लोहतुल्य जीव को विलीन करनेवाले हैं । या अज्ञान काल में जाग्रदादि अवस्था के अभिमानी जीव हैं, सोहागा के समान गुरु के सारशब्द उसे शुद्ध करता है । कोई विरला शुद्ध जीव जलद बुन्द से होनेवाले जल के कूकुढी (बुद्बुद) के समान विश्वदेह शब्दादि को देखता है ॥२८॥

हृदया भीतर आरसी, मुख देखा नहिं जाय ।
मुख तो तब ही देखिये, दिल की दुविधा जाय ॥२९॥

सर्वस्य हृदये ह्येदं मुकुरो विद्यते मनः ।
तत्रापि संशयादिभ्यो मुख्यात्मा नोपलभ्यते ॥३८॥
विगमे संशयादीनां लभ्यतेऽयं स्वयंप्रभः ।
तत्त्वज्ञैर्हि सुमार्गस्थैरिन्द्रियाऽगोचरोऽपि सन् ॥३९-२९॥

हृदय कमल के अन्दर मनरूप आरसी (दर्पण) वर्तमान है, तौ भी आत्मस्वरूप मुख लोगों से नहीं देखा जाता, वह तो तब देखा जा सकता है कि जब दिल (मन) के दुविधा (संशय-पाप) नष्ट हो जायँ ॥२९॥

कबीर का घर शिखर पर, जहाँ सलहली गैल
पाँव न टिके पपील का, खलको लादै बैल ॥३०॥

तत्त्वज्ञानां स्थितिः स्वस्मिन् संसारशिखरोपरि ।
विद्यते चास्य मार्गोऽतिसूक्ष्मोतिचिक्कणं तथा ॥४०॥
तर्कस्य विषयो नात्मा ह्युपदेशं विना सताम् ।
सुसंदिग्धे कथं कोऽत्र स्थातुं वा गन्तुमर्हति ॥४१॥
काम्यकर्मप्रसक्तानां मनः सक्तं सुरालये ।
तस्यापि सरणिः सूक्ष्मा सर्वागम्या च पातदा ॥४२॥
स्वर्गं सर्वेऽभिवांछन्ति जानंति नो मनोगतिम् ।
अतः संभ्रम्यमाणास्ते लभन्ते नैव निर्वृतिम् ॥४३॥
यत्र पिपीलिकापादतुल्यं किञ्चिन्न तिष्ठति ।
वृषभभारान् सुसंधाय कः खलोऽत्र गमिष्यति ॥४४॥
किम्वा पिपीलिकापादा यत्र तिष्ठन्ति नैव हि ।
संसारिणो हि यान्तीमे तत्रादाय मनो वृषम् ॥४५॥

यो वै नित्यं श्रवणमननैर्ध्यानैः सदा संस्कृते,
स्वात्मारामः सदयहृदये निःसंशये पावनम् ।
आत्मानन्दं परमविमलं सत्यं मुदा भावयेत्,
सोऽत्रैवास्ते सुखनिधिरजोऽव्यक्तो यथा केवलः॥४६-३०॥

इति साक्षिसाक्षात्कारे गुरुलब्धोंकारादिनिर्णयवर्णनं नाम तुर्या मितिः ॥४॥

कबीर ( ज्ञानी ) का घर समाधपर्वत के शिखर से भी ऊपर है। या अज्ञों का घर स्वर्गरूप मेरु शिखर पर है, वे वहाँही मन से पहुचे हैं। परन्तु इन दोनों जगहों के गैल ( मार्ग ) सलइली ( सकीर्ण वा चिक्कण ) हैं, इससे जहाँ चीऊँटी के भी पाँव नहीं टिकते ( सूक्ष्मबुद्धि तर्कादि की भी जहाँ गति नहीं है ) वहाँ बैल की लदनी कौन॰ एल कर सकता है, अर्थात् वहाँ दुष्कर्मी कभी नहीं जा सकते। या वहाँ सब खलक ( ससार ) बैल की लदनी किया चाहता है, सो हो नहीं सकता इत्यादि ॥३०॥

इति ओंकारतत्त्वादि निर्णय प्रकरण ॥४॥

## साखी ३१, अज्ञानकृत अनधिकार चेष्टादिवर्णन प्र. ५.

बिन देखे वह देश की, बात कहै सो कूर ।
आपुहिं खारी खात है, बेचत फिरै कपूर ॥३१॥

विवेकेनापरिज्ञाय स्वर्गादीन् विषयी नरः ।
अन्यान् प्रत्युपदेशाय घटते स कुबुद्धिमान् ॥१॥
निरसे विषये मग्नो नानन्दं जातु विन्दते ।
परस्य वञ्चनार्थाय केवलं स प्रवर्तते ॥२॥

स्वयं क्षारं सदा खादेत् कुर्यात्कर्पूरविक्रयम् ।
यथाऽऽक्षिप्तस्तथैवायं कुरुते मन्दधीन्वतः ॥३-३१॥

विचारादि द्वारा देखे ( जाने ) विना या देश ( आत्मा-स्वर्गादि ) की बात को जो कहता है, सो कूर है। वह आप तो खारीतुल्य तुच्छ विषय को खाता ( भोगता ) है। और अन्य के लिये ( स्वर्ग-मोक्ष ) बेचते फिरता है ॥३१॥

जिहि मारग सनकादि गे, ब्रह्मा विष्णु महेश ।
सो मारग सब थाकिया, काहि कहो उपदेश ॥३२॥

सकामकर्मणा येन त्रिगुणोपासनेन वा ।
सनकादिविधात्राद्या अगमन् स्वर्गमूर्धनि ॥
श्रान्तास्तत्र जनाः सर्वे कस्मै स्वात्मोपदिश्यताम् ॥४॥
ब्रह्मलोकादि वांछन्ति नात्मलोकमिमे जनाः ।
सनकादींस्तु मन्यन्ते लोकान्तरगतान् खलु ॥५-३२॥

जिस सकाम कर्मादि मार्ग से सनकादि ब्रह्मादि स्वर्ग में गये, उसी मार्ग में सब लोग थके हैं, मैं साक्षिस्वरूप का उपदेश किससे कहूं। इसके अधीकारी दुर्लभ हैं, सभी लोग बड़ेर देव ऋषि को भी सकाम कर्मादिनिष्ठ स्वर्गगामी मानकर स्वय भी स्वर्गेच्छु हैं ॥ यहाँ अभ्युपगमवाद है ॥ "सोइ मारग सब थापिया" यह तृतीय चरण का पाठभेद है, तब भाव है कि, सनकादि ब्रह्मादि के मार्ग का निश्चय सबने किया है, परन्तु उसमें चलते नहीं हैं, फिर मै किससे क्या कहू ॥३२॥

परवत ऊपर हर वहै, घोड़ा चढि वस गाम ।
बिनु फुल भवँरा रस चहै, कहु विरवा के नाम ॥३३॥

पर्वतपृष्ठदेशेषु हलं *वहति कामिनाम् ।
कामादिलक्षणं तुच्छमनोरथशतैर्युतम् ॥६॥
अश्वारूढा इमे ग्रामा निवसंति निरन्तरम् ।
सुपुष्पैश्च विनैवात्र भ्रमरा रसलोलुपाः ॥७॥
×मेरोरुपरि वासार्थं संकल्प्य मनसा स्वयम् ।
+जाग्रत्परिकराः सर्वे स्वान्तमश्वं विधाय च ॥८॥
गन्तुं तत्रोत्सुकाश्चैव विरसे रसलोभिनः ।
मत्तभ्रमरवद् भ्रान्ता न पश्यन्ति मृषात्मकम् ॥९॥
विश्ववृक्षं सदा तुच्छमासक्त्या भवभीतिदम् ।
शमपुष्पविहीनञ्च शान्तिपत्रविवर्जितम् ॥
नामापि कथ्यतामस्य किं सत्यमिह विद्यते ॥१०-३३॥

सुमेरु पर्वत के ऊपर सब जीवों के हर रहता है ( वहाँ जाने के लिये सब कर्म करते हैं ) मन इन्द्रियरूप घोड़ा पर चढ़कर ग्राम के ग्राम बस रहा है। ( वहाँ जानेके लिये उत्कण्ठित हो रहा है )। और जीव फूल विना ( सत्य साधन विना ) रस ( आनद ) चाहता है। भला ससारवृक्ष के ही तो नाम कहो, कि यहो कहाँ सत्य है, इसके मिथ्या होते सुख वा साधनादि कैसे सत्य होंगे ॥३३॥

चन्दन बास निवारहू, तुझ कारण वन काटिया ।
जियता जीव न मारहू, मूये सबे निपातिया ॥३४॥

---

* नदी वहतीतिवदर्थान्तरवृत्तेरकर्मकताऽत्र ॥

× एकविंशतिस्वर्गा वै निविष्टा मेरुमूर्धनि । नरसिंहपु. ३०।२७॥

+ जाग्रत्–सुसाधित उत्फुल्लो परिकर· परिवारः साधनसामग्री येषा ते ॥

गन्धं वर्जय भद्रश्री ! वनं छिन्नं कृते तव ।
नैव मारय जीवांश्च मृतास्ते पातयन्त्यधः ॥११॥
अथवेच्छसि चेन्मुक्तिं सुखं वा त्वमखण्डितम् ।
श्रीखण्डगोचराणां वै वासनादीन्निराकुरु ॥१२॥
वासनोच्छेदनायैव संसारवनखण्डनम् ।
कण्डनं मोहजालस्य सद्भिश्च क्रियते मया ॥१३॥
मृत्योः पूर्वं न चेदेषा वासना स्यान्निराकृता ।
मृत्योरनन्तरं शश्वद्विनाशं जनयिष्यति ॥१४॥
त्वया चेत् क्रियते किञ्चित् प्राणिनामिह हिंसनम् ।
अज्ञानादिवशात्सर्वे हनिष्यन्ति च ते तदा ॥१५॥
" सुखं वा यदि वा दुःखं यत्किञ्चित् क्रियते परे ।
यत्कृतं तु पुनः पश्चात्सर्वमात्मनि तद् भवेत् " ॥१६-३४॥

हे चन्दन ! ( सवासन जीव ! ) तुम वास ( वासना ) स्वर्गादि की भी इच्छा का निवारण करो, तुझ कारण ( तेरे हित के लिये ) ससार वन को महात्माओं ने काटा ( मिथ्या दर्शाया ) है ॥ और जियता जीव ( सचेत प्राणी ) को नहीं मारो, नहीं तो मरने पर वे सब भी तेरा निपात ( नाश ) करेंगे । या जीवित दशा में वासना आदि को नष्ट करो इत्यादि ॥३४॥

चन्दन सर्प लपेटिया, चन्दन काह कराय ।
रोम रोम विष भींजिया, अमरित कहाँ समाय ॥३५॥

वासनाविषसंयुक्तैः स्वान्तसर्पैरयं यदि ।
आच्छन्नश्चन्दनो जीवः किं कुर्यादात्मने हितम् ॥१७॥

सविषैस्तैः समासङ्गाद्विषव्याप्तौ तु कृत्स्नशः ।
अमृतत्वं विशेत्कुत्र कुतो वाऽस्य सुखं भवेत् ॥१८॥
कामाद्यैरपि संछन्नः सर्पैर्जीवो हि पादपः ।
लभते नामृतत्वं हि जन्मकोटिशतैरपि ॥१९॥
आत्मा चन्दनवत्स्वच्छ आनन्दाकृतिरव्ययः ।
अविद्याद्यैः परिव्याप्तान् किं करोतु स्वकल्पितान् ॥२०॥
" अविद्याहेतवः कामाः काममूलाः प्रवृत्तयः ।
धर्माऽधर्मौ च तन्मूलौ देहोऽनर्थाऽऽश्रयस्ततः ॥२१॥
अतोऽविद्यानिरोधे स्यान्निरोधो विदुषां सदा ।
निःशेषकर्महेतूनां कामादीनां नचान्यथा " ॥२२॥
आद्यन्तादिविहीनमेकमजरं शान्तं शिवं शाश्वतम्,
ज्ञात्वा स्वर्गपरं गुहाऽऽहिततमं संतिष्ठते वक्ति वा ।
त्यक्त्वा मानसुखं सवासनमनो रक्तो नच क्वापि यो,
विज्ञोऽसौ भवबंधमुक्तहृदयो युक्तो जनान् मोचयेत् ॥२३-३५॥

इति साक्षिसाक्षात्कारेऽनधिकारचेष्टावासनानिवारणार्थोपदेशवर्णन नाम पञ्चमी वित्तिः ॥५॥

चन्दन ( सवासन जीव ) को मनकामादि सर्प लपेट लिये हैं। फिर जीव अपने हित के लिये क्या कर सकता है। इसके रोम २ में वासनामनोरथादि विष जबतक व्याप्त हैं, तबतक अमृतरूप उपदेशादि भी यहाँ समा सकते हैं [ यावत्कर्माणि दीयन्ते यावत्संसारवासना। यावदिन्द्रियचापल्य तावत्तत्त्वकथा कुतः ॥ ] ॥३५॥

इति अज्ञानकृत अनधिकारचेष्टादि वर्णन प्रकरण ॥५॥

## साखी ३६, विषयासक्त मन आदि प्र. ६.

पानि हु ते अति पातला, धूम हुं ते अति छीन ।
पवन हुं ते उताहुला, दोस्त कबीरा कीन ॥३६॥

अतिसूक्ष्मं जलात्स्वान्तं धूमात्क्षीणतरं चलम् ।
वायोरतिरयं जीवैर्मोहान्मित्रं कृतं सदा ॥१॥
वासनादिसमावेशान्मनश्चेदं सुसूक्ष्मताम् ।
जलादपि समादत्ते निवेष्टुं विषयेऽल्पके ॥२॥
उत्कृष्टां क्षीणतां धूमाद्वृत्तेरनुपलत्वतः ।
वायोरप्यधिकं वेगं समादत्ते स्वयं सदा ॥३॥
अहो बत त्विमे लोका हीत्थंभूते हृदि स्वके ।
विश्वस्ता मित्रभावेन नाशयंति स्वसम्पदम् ॥४॥
विश्वासेन मनश्चेदं वर्द्धते न तु शाम्यति ।
अनात्मन्यात्मभावेन देहमात्रास्थया तथा ॥५॥
स्नेहेन धनलोभेन पुत्रदारादिसंगमात् ।
ममतामलसंगेन दुर्जयं तज्जयेत्कथम् ॥६॥३६॥

जो मन पानी से भी अत्यन्त पातला (सूक्ष्म) धूम से भी अत्यन्त क्षीण ( क्षणभंगुर ) वायु से भी उताहुल ( वेगवाला ) है, कबीरा ( सवासन जीव ) ने उसी मन को अपना दोस्त ( मित्र--हितचिन्तक ) किया है। इस अवस्था में सदुपदेशादि कैसे लगे [ यावद्देहाभिमानश्च ममता यावदेव हि । यावत्प्रयत्नवेगोस्ति यावत्संकल्पकल्पना ॥ यावन्नो मनसः स्थैर्यं न यावच्छास्त्रचिन्तनम् । यावन्न गुरुकारुण्य तावत्तत्वकथा कुतः ॥ ] ॥३६॥

## क्षेपक-साखी ।

पुष्पवास से पातला, सूक्षम जाके अंग ।
कबिरा तासो मिलि रहा, कबहुं न छाड़े संग ॥१॥

सूक्ष्मं यत्पुष्पगन्धेभ्यः सूक्ष्माण्यङ्गानि यस्य च ।
तत्रैव संगता जीवाः सङ्गं नास्य त्यजन्ति हि ॥७-१॥

पुष्प के गध से भी पातला ( सूक्ष्म ) जिस मन का अग (स्वरूप वा वृत्ति ) है, अविवेकी जीव सदा उसीसे मिल रहा है, कभी उसका सग को नहीं छोड़ता है ॥१॥

ज्यों मुदाद समशील की, सब इक रूप समाहिं ।
कहहिं कबिर सावज गती, तबकी देखि भुकाँहि ॥३७॥

यथा मुदादनाम्नि स्यादुपले प्रतिबिम्बनम् ।
केक्याऽऽकृत्या हि सर्वेषां तथा ममतया हृदि ॥८॥
मानसे विषये यच्च स्वानन्दादि प्रतीयते ।
भिन्नं तदात्मनो मत्वा तदर्थं यत्यते जनैः ॥९॥
यथा श्वा प्रतिबिम्बं स्वं भक्ष्यं मत्वा मुदादके ।
तदर्थं यतते भूयो भषन् सन् वै पुनः पुनः ॥१०॥
अविवेकिजनाश्चैवं विषयानवलोक्य वै ।
वासनामनुकुर्वन्तो यतन्ते बहु चक्षते ॥११॥३७॥

ज्यों ( जैसे ) मुदाद पत्थर होता है, उसीके सम तुल्य शील की ( स्वभाववाला ) मन है । जैसे उस पत्थर में सब वस्तु एकरूप ( हरा मोराकृति ) से समाते ( प्रतिबिम्बित ) होते हैं । तैसेही मन में भी सब वस्तु ममता वासनारूप से समाते हैं । सो कुत्ता उसमें

सावज (मोर) की गति देखकर क्या भूकता है। इसी प्रकार मनुष्य भी विवेक बिना वर्त्ते हैं ( ज्यों मुदाद समसान शिल, सबे रूप समसान ) जैसे मुदाद एक स्वभाववाला पत्थर है, तैसे उसमें सब पदार्थ के रूप भी *सम स्वभाव के ही भासते हैं, यह पाठभेद का भाव है ॥३७॥*

देखहु शील मुदाद की, प्रीति करै बल जोर।
तीनि लोक की सूरति, तामें दीसै मोर ॥३८॥

मुदादस्य स्वभावं त्वं स्वके जानीहि मानसे।
लोकत्रयं ममत्वेन यद्दर्शयति सर्वदा ॥१२॥
" यथा यथाऽसौ यतते मनो देहो हि देहिनाम्।
तथा तथाऽसौ भवति स्वनिश्चयफलैकभाक् " ॥१३॥
निगृहीतं मनः शश्वत्सूते ज्ञानविरागकौ।
सद्बुद्धेर्नित्ययुक्तस्य ह्यसङ्गस्य विवेकिनः ॥१४॥
मलिनं हि मनस्तात महानर्थप्रवर्तकम्।
कुसङ्गत्या सदा कुर्याद्वासनामलधारणम् ॥१५॥
धर्मं हंति ज्ञानहानिं विधत्ते द्वंद्वो धत्ते कामकोपौ प्रसूते।
बन्धं दत्ते लोभमोहौ हि सूते पुंसां शश्वद्यागृहीतं मनश्चेत् ॥१६-३८॥

इति साक्षिसाक्षात्कारे मनःकदर्थनावर्णनं नाम षष्ठी वित्तिः ॥६॥

मुदाद पत्थर के ही शील (स्वभाव) अपने मन में देखो (जानो)। यह मन बलजोर ( बलात्कार ) से सबसे प्रीति ( स्नेह ) करता है। जैसे तीनों लोक के वस्तु की सूरति (आकार) उसमें मोर के समान प्रतीत होती है, तैसे मन में भी सब वस्तु ममता के विषय होती है इत्यादि ॥३८॥

इति विषयासक्त मन आदि प्रकरण ॥६॥

## साखी ३९, मनोदुर्जयत्व प्र. ७.

गही टेक नहिं छोडई, चोंच जीभ जरि जाय ।
ऐसा तप्त अँगार है, ताहि चकोर चबाय ॥३९॥
चकोर भरोसे चन्द्र के, निगले तप्त अँगार ।
कहहिं कबिर डाहै नहीं, ऐसी वस्तु लगार ॥४०॥

चकोरको यथा पक्षी न जहाति स्वनिश्चयम् ।
अतितप्तं यदङ्गारमत्ति दाहेषु सत्स्वपि ॥१॥
चन्द्राभिध्यानतश्चैनं नाग्निर्दहति सर्वथा ।
वस्तूनां हि विचित्रास्ति सङ्गतिश्चेह दृश्यते ॥२॥
तथा चन्द्राधिदेवेन सङ्गतं खल्विदं मनः ।
विषमान् विषयान् भुङ्क्ते ह्यादत्ते वासनां तथा ॥३॥
विवेकाग्निं विना चेदं नश्यति नहि सर्वथा ।
अतस्त्वं स्वविवेकेन नाशयैनत्सवासनम् ॥४॥
दृढभक्त्या विवेकेन संयुक्ता ये जना इह ।
तेऽपि स्वनिश्चयं नेव त्यजन्ति च विपत्स्वपि ॥५॥
ज्ञानचन्द्रसमालोकान्मोहावरणवारणात् ।
विद्यते - विषयैर्नैतैस्तेषां क्षोभो मनागपि ॥६ ४०॥

जैसे चकोर अपने गृहीत टेक को नहीं छोड़ता, चाहे उसके चोंच जीभ भी जल जाय, तौभी ऐसा ( प्रसिद्ध ) तप्त अगार को भी चबा लेता है, तैसेही कष्ट होने पर भी मन दु:खद विषय को भोगता है॥३९॥

वह चकोर चन्द्र के भरोसा ( आशा–ध्यान ) से तप्त अगार को निगलता है, इसीसे अगार उसको अत्यन्त नहीं जलाता है । इसी प्रकार

मन भी चन्द्राधिदेव के बल से विषयों को भोगता है, और विपत्तियों से नहीं डरता, ऐसाही वस्तुओं का लगाव ( लग–संबन्ध ) है ॥४०॥

गाम ऊँचो पाहाड़ पर, औ मोटे की बाँह।
ऐसा ठाकुर सेविये, उबरिय जाकी छाँह ॥४१॥

मनसश्च विनाशार्थं परे नाकाद्विहाऽऽहिते।
स्वात्मनो नगरे तिष्ठ जितारिं च गुरुं भज ॥७॥
स्वाराज्यस्य प्रदातारमरिवर्गाऽवशं प्रभुम्।
भजन्ति ये गुरुं भक्त्या तेषां न भवसंक्रमः ॥८॥
सेवनीयः प्रभुस्तादृग् यद्बाहोरन्तिके सदा।
तापेभ्यो मुच्यते जन्तुर्लभ्यते च परं सुखम् ॥९॥
ग्रामोऽस्ति मनसो वाऽस्य सदैव पर्वतोपरि।
देवस्य वर्तते चेदं बलिनो बाहुसंश्रितम् ॥१०॥
इदानीं सेवनीयश्च प्रभुरेतादृशो जनैः।
गतो यच्छरणे भूयो दुःखलेशो भवेन्नहि ॥११-४१॥

सुमेरु आदि ऊचे पहाडों से भी परे सर्वात्मदेव में ग्राम बसाना ( मनबुद्धि को लगाना ) चाहिये। और मोटे ( समर्थ ) सद्गुरु सर्वेश्वर के बाहु के आश्रित रहना चाहिये। तथा ऐसा प्रभु को सेवना चाहिये, कि जिनकी छत्रछाया में उबार हो। मानस प्रपञ्चतापादि से बचा जाय॥ अथवा वासनासहित मनवाले के ग्राम ऊचे पहाड़ ( स्वर्गादि ) में हैं, सो मोटे ( समर्थ ) देव के बाहु आश्रित हैं, अब ऐसा ठाकुर को सेवना चाहिये कि जिसकी छत्रछाया में सर्वथा उबार हो ॥४१॥

झिलि मिलि झगरा झूलते, बाकी छूटि न काहु।
गोरख अँटके काल पुर, कौन कहावै साहु ॥४२॥

चञ्चलायां मनोमय्यां दोलायां वै नरास्तु ये ।
आरूढास्ते भ्रमन्तीह भोक्तारोऽखिलसञ्चितान् ॥१२॥
हठाद्ये मनसो रोधं कुर्वन्तीहाविवेकिनः ।
तेऽपि मृत्युमयं लोकं नातिक्रामन्ति देहकम् ॥१३॥
" विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते" ॥१४॥
इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च ।
स्वात्मनश्चावलोकेन सिद्धिमाप्नोति पूरुषः ॥१५॥
" न तथैतानि शक्यन्ते सन्नियन्तुमसेवया ।
विषयेषु प्रयुक्तानि यथा ज्ञानेन नित्यशः" ॥१६॥
जीवनस्याशया यत्र सिद्धीनामपि कामुकाः ।
योगिनो ह्यपि बध्यन्ते तत्रान्येषां कथैव का ॥१७-४२॥

चञ्चल दीपवत् झिलमिलाते ( डोलते ) हुए, मनोमय झगड़ा ( हिंडोला ) पर झूलनेवाला किसी भी मनुष्य का काहु ( कोई ) बाकी ( संचित कर्म ) भोगने बिना नहीं छूटा । इससे गोरख ( इन्द्रियों के रक्षक हठी योगी ) भी ज्ञान बिना कालपुर ( शरीर-संसार ) में अँटके ( आसक्त हुए ) तो फिर अन्य कौन अविवेकी साहु ( सच्चा साधु-भक्तादि ) कहा सकता है ॥४२॥

गोरख रसिया योग के, मुये न जारि देह ।
मांस गली माटी मिला, कोरो माँजरि देह ॥४३॥

सिद्धीनां वांछया ये हि वांछन्ति बहुजीवनम् ।
रक्षंतिस्म सदा देहं तेऽपि नश्यंति कामुकाः ॥१८॥
मांसादीनां विनाशेन ह्यस्थिव्यूहोऽवशिष्यते ।
देहमन्यं समादत्ते कामकर्मवशानुगः ॥१९॥

योगस्य रसिको योऽसौ गोरक्षो न मृतश्चिरम्।
देहं नादाहयच्चैवं * कङ्कालोऽस्याप्यशिष्यत ॥२०॥
ज्ञानयोगेन विद्वांसो जीवन्मुक्ता भवंति हि।
शुद्धचिन्मात्रदेहास्ते पुनर्नायांति संसृतौ ॥२१॥
ये शीलंति समाधिं च स्वस्वरूपे चिदव्यये।
तेषामत्र कुतश्चाशा कुतो जन्मजरादिकम् ॥२२॥
दग्धं बीजं यथा लोके न प्ररोहक्षमं तथा।
ज्ञानदग्धं हि कर्मादि न जन्मादिप्रदं भवेत् ॥२३॥
ज्ञानेन दग्धा यदि कर्मवासना, चित्तं च नष्टं यदि तत्त्वचिन्तया।
आशाव्रतत्याः खलु मूलसंक्षये, स्वयं मनो मीलति पावने पदे ॥२४॥
न साङ्ख्ययोगैर्न तपोभिरुग्रैः क्रियाकलापैरपि नैव चेदम्।
मनो निमीलेदपि वर्षपूगैर्युगैरनन्तैरपि बोधतोऽलम् ॥२५-४३॥

इति साक्षिसाक्षात्कारे गुरुज्ञानमन्तरा मनोदुर्जयत्ववर्णनं नाम सप्तमी वित्तिः ॥७॥

गोरख (हठी योगी) हठयोग के रसिक होकर न मुये न देहं को जलाये (काल की वञ्चना करके चिरकाल तक रहे) तौभी अन्त में मांस गलकर मिट्टी में मिला, और देह में कोरो (पसलियों) के माँजर (कंकाल) ही रह गया॥ "कोरो मांजी देह" इस पाठ भेद पक्ष में अर्थ है कि, जो ज्ञानी गोरख मरने पर देह को नहीं जलाया, किन्तु जीते जी ज्ञानाग्नि से देह को दग्ध किया, उसको कोरो (नित्य नवीन) माजी (माजा धोया) शुद्ध चेतनरूप देह प्राप्त हुआ ॥४३॥

इति मनो दुर्जयत्व वर्णन प्रकरण ॥७॥

* एवमपि कृतेऽस्य कङ्काल एवाशिष्यत मांसादिकं रानदग्धेन ॥

## साखी ४४, मनोविजयादि विना वेषधारी की दुर्दशा म.८

बन ते भागा बिहड़े पड़ा, करहा अपनी बान ।
वेदन करहा कासो कहे, को करहा को जान ॥४४॥

" सद्गुरूणामलाभेऽपि ये त्यजन्ति गृहादिकम् ।
अविवेकं कृतं दौस्थ्यं तेषां किञ्चिदिदं शृणु ॥१॥
यथा सिंहभयात्कश्चित्करी वेगाद्वनाद्बहिः ।
गच्छन् व्याधकृते गर्ते कामेन पतति स्वयम् ॥२॥
यद् दुःखं जायते तत्र तस्य स्वस्याविवेकतः ।
कमय तद्ब्रवीतु स्वं दुःखं कश्च शृणोति वा ॥३॥
तथा मृत्युमुखाद्भीतो गृहादेश्च विनिर्गतः ।
अविवेकी नरो मोहात्कामाद्वा याति संसृतौ ॥४॥
गर्भादौ मृत्युकाले वा वेदना याऽस्य जायते ।
तां को वाऽत्र विजानाति शृणोत्येवात्र कस्तथा ॥५॥
" प्रवृत्तिलक्षणो योगो ज्ञानं संन्यासलक्षणम् ।
तस्माज्ज्ञानं पुरस्कृत्य संन्यसेदिह बुद्धिमान्" ॥६-४४॥

करहा ( करी ) बन से भागकर अपनी बान ( स्वभाव—काम ) से हस्तिनी के चित्र देखकर बिहड़ ( कठिन ) गड्ढें में पड़ा तो उस समय की वेदना को किससे कहे, और कौन उसको समझता है। इसी प्रकार अविवेकी पूर्ण वैराग्यरहित मनुष्य गृहस्थाश्रमादि से भागकर वेषधारी योगी आदि बनता है, फिर अपनी आदत वश प्रपञ्च गर्भादि में प्राप्त होता है, तो वहां की वेदना किससे कहे इत्यादि ॥४४॥

बहुत दिवस ते हींड़िया, शून्य समाधि लगाय ।
काहा परिया गाड़ में, दूरि परा पछताय ॥४५॥

यथा गर्तगतो हस्ती स्वयूथं परिहाय वै ।
चिरं निष्क्रमणं ध्यात्वा तस्यालाभेन खिद्यते ॥७॥
तथा गृहादिकं त्यक्त्वा निर्जनेषु वसन्नपि ।
आत्मवित्तिं विना मूढः पश्चात्तापेन दूयते ॥८॥
वेषमात्राच्च वै मुक्तिर्गुहाया न समाश्रयात् ।
न च प्राणनिरोधेन ब्रह्माण्डोपरि वासतः ॥९॥
" अव्यवस्थितचित्तानां न जने न वने सुखम् ।
जनं दहति संसर्गाद्वनं संगविवर्जनात् " ॥१०॥
नाटयित्वा समाधिं ते शून्येषु बहुवासरान् ।
दूरे गर्ते स्थिता गर्मे तप्यन्ते रागिणः सदा ॥११-४५॥

जैसे वह करहा गर्त से निकलने के लिये रास्ते को बहुत दिन तक खोजता है, परन्तु मार्ग के नहीं मिलने से दूर शून्य देश में पड़ा हुआ पश्चात्ताप करता है, तैसेही अविवेकी कामी वेषधारी भी शून्य में समाधि लगाकर बहुत दिनों तक मार्ग खोजता है, और विवेक विना पास के ही सद्वस्तु से दूर पड़ा पश्चात्ताप करता है इत्यादि ॥४५॥

कबीर भरम न भाजिया, बहुविधि धरिया वेष ।
सांई के परिचावना, अन्तर रहिगौ रेख ॥४६॥

वेषेण विविधेनापि धृतेन विधिपूर्वकम् ।
भ्रान्तिर्न विगता नापि स्वामित्वेनेशबोधनात् ॥१२॥
स्वामित्वेन स्वविज्ञानाद् भेदाद्भीत्यादिकं भवेत् ।
भयादीनां च सत्त्वे हि का मुक्तिः का च विज्ञता ॥१३॥
चित्ते स्वल्पोऽपि चेद्भेदो भासते खलु तत्त्वतः ।
सोऽपि रागादिमूलत्वाद्भयस्य जनको भवेत् ॥१४॥

" अपि वालाग्रमात्रेण विदुषः प्रत्यगात्मनः ।
भिन्नं ब्रह्मेति संमोहादात्मैवास्य भयं भवेत्" ॥१५॥
धारणाद्बहुवेषाणां पलायन्त भ्रमा न च ।
बोधनात्स्वामिदृष्ट्यान्तर्भेदरेखा स्थिराऽभवत् ॥१६॥४६॥

लोगों ने बहुत प्रकार के वेषों का धारण किया, परन्तु इससे भ्रम नहीं भागा । या भ्रम भागा नहीं, और ज्ञानी योगी आदि के वेषों का धारण कर लिया । और तटस्थ स्वामी रूप से परिचय (बोध) कराने से अन्तःकरण में भ्रम भेद की रेखा ( लकीर ) रह गई ॥४६॥

बिनु डाँड़े जग डाँड़िया, सोरठ परिया डाँड़ ।
बाट निहारे लोभिया, गुड़ ते मीठी खाँड़ ॥४७॥

भेदस्यात्मनि सत्त्वेन भयादीनां च सत्त्वतः ।
आशालोभादिभिश्चेशं भजन्तेऽज्ञा न भक्तितः ॥१७॥
केनाऽप्यदण्डिताश्चाज्ञा अजस्रं दण्डभागिनः ।
भवन्ति चात्र लोभेन ध्यायन्ति वै नवं नवम् ॥१८॥
संतोषं न लभन्ते ते तृष्णया विवशीकृताः ।
भजन्ते न कचित्स्थैर्यं धैर्यं यातो भ्रमन्ति ते ॥१९॥
अविवेकाद्धि ये मूढाः प्राणाद्यासु कलासु वा ।
सक्ताः स्वात्मादिभावेन ते भेदेन भ्रमन्ति हि ॥२०॥
कर्तृत्वकर्मादिकमीशकर्तृकं नैवास्ति नैवेशकृतं फलं तथा ।
अज्ञानलोभादिकृतं स्वभावजं सर्वं ततो मुक्तिकरं गुरोर्वचः ॥२१॥४७

इति साक्षिसाक्षात्कारे मनोविजयादि विना वेषमात्रस्याकिञ्चित्करत्व वर्णन नामाष्टमी वित्तिः ॥८॥

विना दण्ड दिये ही संसारी दण्डभागी हो रहा है, इसे अज्ञान से सोरठ ( निःसन्धि-निरंतर ) दण्ड प्राप्त हो रहा है। तौ भी लोभी जीव विषयादि के ही बाट ( मार्ग ) को निहारता ( देखता ) है, और समझता है कि गुड़ से खाड मीठी होती है इत्यादि। परन्तु सर्वप्रिय आत्मा को नहीं समझता इत्यादि॥ या वागादि का दण्ड ( दमन ) विना लोग दण्ड भोगते हैं जिसका सोरठ ( हल्ला ) पड़ा है इत्यादि [ वाग्दण्डो हन्ति विज्ञानं मनोदण्डः परां गतिम्। कर्मदण्डस्तु लोकांस्त्रीन् हन्यादपरिरक्षितः॥ ] बांटनिहारे लोभिया, गुरु ते मीठी खांड॥ बाँटनेवाले ( गुरु ) जहां लोभी हैं, तहां लोभ रहित शिष्य ही श्रेष्ठ है, यह पाठभेद का भाव है॥४७॥

इति मनोविजयादि विना वेषधारी की दुर्दशा प्रकरण॥८॥

## साखी ४८, मलिन मति से साधुत्वाभाव वर्णन प्र. ९.

मलयागिरि के वास में, वृक्ष रहा सब गोय।
कहवे को चन्दन भया, मलयागिरि नहिं होय॥४८॥

यथा मलयगन्धेन गन्धवन्तोऽपि शाखिनः।
भवन्ति मलया नैव ×परं चन्दननामता॥१॥
प्राणखाद्यास्तथा सर्वे स्वात्मनः सङ्गतः सदा।
आत्मत्वेन च सत्त्वेन भासन्ते न तु ते तथा॥२॥
साधुसंगेन मूर्खो वा साधुत्वेनावभासते।
अत्यन्तजडबुद्धिर्नो भजते जातु साधुताम्॥३-४८॥

× केवलम्॥

मलयाचल के वास ( गन्ध ) में पास के वृक्ष सब अपने २ स्वरूप को गोय ( छिपाय ) रहते हैं। कहने के लिये चन्दन भी हो गये, परन्तु मलयरूप ही नहीं हुए। इसी प्रकार प्राणान्तःकरणादि सत्य चेतन के सम्बन्ध से सत्यादि प्रतीत होते हैं, परन्तु सत्यादि नहीं हुए हैं॥ या अविवेकी लोग साधुसंग में वेषादि से छिपे हैं, परन्तु सच्चा साधु नहीं हुए हैं इत्यादि ॥४८॥

मलयागिरि के वास में, वेध्यो ढाक पलास ।
वेना कबहुं न वेधिया, युग युग रहते पास ॥४९॥

अन्तःसारविहीनेषु नोपदेशद्रुमः खलु ।
फलवान् स्यात्कदाप्यत्र +वेणूनां मलयो यथा ॥४॥
शुभसंस्कारवत्त्वेन *विवेकादिगुणेषु च ।
येषु केषु च जायन्ते ह्युपदेशाः फलप्रदाः ॥५॥
यथा कुवृक्षकेऽप्यत्र मलयः फलति स्वयम् ।
नात्र जात्यादयः क्वापि हेतुतां संभजन्ति हि ॥६॥
आत्मनो वा विभुत्वेऽपि घटादौ न स्फुरत्ययम् ।
अन्तःकरणशून्यत्वाच्छरीरे च प्रकाशते ॥७॥
अस्मिन्निदर्शनं स्पष्टं मलयाचल एव हि ।
स सारवति गन्धं स्वमर्पयति न वेणुषु ॥८॥
मलयाचलगन्धेन पालाशाद्याः कुवृक्षकाः ।
गन्धयन्तः समापन्ना वेणवो न कदाचन ॥९॥४९॥

---

+ वेणूनां मध्ये वर्तमानस्तत्सम्बन्धी वा मलयो यथा फलवान् न भवति, तथा विवेकादिसाररहितेषूपदेशोपीति ॥

* विवेकादयो गुणा येषु तेषु ॥

जैसे मलयगिरि के वास (गन्ध) से ढाक पलाशादि कुवृक्ष भी वेधित होता है; परन्तु युग २ पास में रहने पर भी अन्तःसार रहित वेना ( बांस ) नहीं वेधित होता है। तैसेही अन्तःसार अन्तःकरण सहित सब देह में विभु चेतनात्मा की चेतनता वेधती ( अभिव्यक्त होती ) है। घटादि में सामान्य सत्ता भासने पर भी चेतनता नहीं अभिव्यक्त होती॥ तथा हीन कुलजाति के भी शुभ संस्कारवाले सत्संगादि से सज्जन ज्ञानी हो गये, उनमें सदुपदेश वेध गया। परन्तु बडे २ लोग भी शुभ संस्कारादि विना सत्संगादि के पाने पर भी असन्त अज्ञानी रह गये ॥४९॥

चलते चलते पशु थका, नगर रहा नौ कोश।
बीचहिं में डेरा परा, कहहु कौन का दोष ॥५०॥

गच्छतो हि मुहुः पादौ व्यथितौ धीमनोमयौ।
गन्तव्यं नगरं चास्ते नवक्रोश्याः परं यदि ॥
कथ्यतां कस्य दोषोऽत्र मध्ये येनाऽत्र तिष्ठति ॥१०॥
* देहान्तःकरणप्राणक्रोशेषु गमिकर्मसु।
कयश्चित्केऽपि गच्छंति क्रोशमेकं हि कर्मठाः ॥११॥
स्थूले ह्यनात्मतां केचिज्जानन्तीह कथञ्चन।
पिपासाशोकवन्तं च नानात्मानं विदंति ते ॥१२॥
एषु क्रोशेषु दशसु स्थूलकायमुखेषु वै।
क्रोशमात्रात्परं गत्वा तिष्ठंति ह्यविवेकिनः ॥१३॥

* आत्मन आच्छादकत्वेन कोशात्मकत्वेऽपि शरीरादीनां तानुल्लङ्घ्यात्मनो गन्तव्यत्वात्तेषु गन्तव्यक्रोशात्मकत्वं परिकल्प्येयमुक्तिः। कर्मठा हि स्थूलात्परमात्मानं ज्ञात्वा कर्मादिकं कुर्वन्ति, किन्तु शोकपिपासादिरहितात्मतत्त्वस्य ज्ञानाभावात्तद्वत्सु प्राणादिष्वेवात्मत्वं कल्पयन्तीति भावः॥

लभन्ते नाऽत्र पातारं भ्रमंति च मुहुर्मुहुः ।
निजापराधवृक्षस्य फलं भवति चेदृशम् ॥१४-५०॥

कर्मोपासना के मार्गों में जलते २ जीवों के मनबुद्धि पैर थक गये, परन्तु स्थूल देह चार अन्तःकरण पांच प्राणरूप दश कोशों में से एक स्थूल देह से परे कर्मी लोग गयें, और अन्य नव कोश से परे ही आत्मा रूप नगर रहा, इससे उन नव कोशों के ही बीच में डेरा पड़ा ( आत्मबुद्धि हुई ) तहाँ कहो इसमें दोष किसका है, यह अपने ही अपराध का फल है ( ज्ञानेन्द्रियों का अन्तःकरण में, कर्मेन्द्रियों का प्राण में अन्तर्भाव से, अविद्या की विद्या से साक्षाद्वृत्ति से गन्तव्य दश ही कोश हैं ) ॥५०॥

झालि परे दिन आथये, अन्तर परिगौ सांझ ।
बहुत रसिक के लागते, वेश्या रहिगौ बांझ ॥५१॥

सूर्यो ह्यस्तंगतो ध्वान्तमागतं संध्यया हृदि ।
रसिकानां च संगत्या वंध्या वेश्येव धीः स्थिता ॥१५॥
प्राणभानौ गते ह्यस्ते वृद्धत्वे वाऽप्युपस्थिते ।
मोहान्धेन मनोध्यातौ नरो नवसु दीनधीः ॥१६॥
तिष्ठति स्वाविवेकेन कुलटेयास्य धीस्तथा ।
वन्ध्यतां वै गता सूते न च ज्ञानविरागकौ ॥१७॥
मनो ध्यायति वै स्वर्गं कदाचिद्विषयान् बहून् ।
स्थितिं न लभते कापि व्यग्रं विषयसंगतः ॥१८॥
दैन्यदोषमयी दीर्घा वर्द्धते वार्द्धके स्पृहा ।
सर्वापदामेकसखी हृदि दाहप्रदायिनी ॥१९॥५१॥

अति वृद्धादि होने पर शालि (झोलि) तुल्य नेत्रों में अंधकार छा गया। दिनकर के समान प्राण या ज्ञान अस्त होने चले। अन्तःकरण में या उक्त नौ कोश के अन्तर (मध्य) में साझ (संध्या) पर गई (तमोगुण घेर लिया। या मरण उपस्थित हुआ) परन्तु अन्त में रक्षा करनेवाले ज्ञानविराग रूप पुत्र नहीं हुए, क्योंकि वेश्या की तरह जीव की बुद्धि बहुत रसिक (रागी) के साथ लाग (सबन्ध) से। बाझ (वृष्या) रह गई ॥५१॥

मन कहै चलये चलये, चित्त कहै कब जाव।
छौ मासे के हींड़ते, आध कोश पर गाम ॥५२॥

चलनार्थं मनो वक्ति चित्तं यास्ये कदेति च।
अर्द्धकोशात्परो ग्रामः षण्मासेषु विमृग्यताम् ॥२०॥
अर्द्धमात्राऽर्द्धकोशो वै तद्वाच्यात्स परोऽव्ययः।
निजात्मा दृश्यते नैव शुद्धोऽयुक्तैर्हि कर्हिचित् ॥२१॥
आत्मनः स्वल्पलाभेन मनः स्फुरति नित्यशः।
चिन्ताव्याप्तं सदा चित्तं चञ्चलं शांतिमेति न ॥२२॥
षण्मासान्नित्ययुक्तस्य रागादिरहितस्य वै।
उपेक्षकस्य धीरस्य यताहारस्य सर्वदा ॥२३॥
एकान्तमनसो ह्यात्मा स्फुटं भाति हृदि स्वयम्।
ओंकारेणेति विज्ञेयः शास्त्रसिद्धान्त उत्तमः ॥२४॥
अन्यथा बहुजन्मान्तेऽप्यमात्रो नैव लभ्यते।
शुद्धः सर्वगतो नित्य आत्मा वै सर्वदेहिनाम् ॥२५-५२॥

बुद्धि के वेश्या तुल्य वष्या रहने से मन सदा जहाँ तहाँ चलने के लिये कहता है। चित्त कहता है कि स्वर्गादि में कब जा पहुँचेंगे। और

अनन्त छौ मास के हींडने ( ढूढ़ने ) पर भी अर्द्धमात्रारूप आध कोश से परे ही शुद्ध स्वरूप गाम रह जाता है ( षण्मासान्नित्ययुक्तस्य शब्द ब्रह्मातिवर्तते । म. भा. शा. अ. २४०।३२ ) इस स्मृति में छौ मास योगयुक्त होने ही से शब्दब्रह्म ( ओंकार ) अपने अर्थ को प्रगट करता है, यह कहा है परन्तु बुद्धि की वन्ध्यता से उक्त दशा है ॥५२॥

गृह तजि भये उदासिया, बनखंड तप को जाय ।
चोला थाके मारिया, बरइनि चुनि चुनि खाय ॥५३॥

सदात्मनो ह्यलाभे ये गृहं त्यक्त्वाऽविवेकिनः ।
उदासीनाः समभवन् वेषमात्रान्न चान्यथा ॥२६॥
तपोर्थं च वने यातास्तावता नहि मुक्तता ।
शरीरान्ते हि तान् सर्वानत्ति माया विमृग्य वै ॥२७॥
आसक्तिं वासनां सर्वां त्यक्त्वैव मुच्यते जनः ।
अन्यथा सर्ववित् सिद्धो धर्मस्थोऽपि निबध्यते ॥२८॥
" आसक्तिमाहुः कर्तृत्वमकर्तुरपि तद् भवेत् ।
मौर्ख्ये स्थिते हि मनसि तस्मान्मौर्ख्यं परित्यजेत्" ॥२९॥
अन्यथा य उदासीनास्तपोर्थं यान्ति वै वने ।
शरीरे कञ्चुके ग्लानावत्ति माया विमृग्य तान् ॥३०॥
ताम्बूलव्यवहर्त्रीव तेषां प्राणेन्द्रियादिभिः ।
प्राणिवर्गस्य देहाद्यैर्नित्यं सा व्यवहारिणी ॥३१॥
गुरो र्न लाभो न विरागलाभो भवेन्न सारो हृदये च यस्य ।
मनो न रुद्धं न च योगशुद्धं करीव सो नश्यति नष्टदृष्टिः ॥३२॥
अनात्मदेहादिषु चात्मभावो भवेन्न भावस्त्वतिभावुकेऽपि ।
हरौ गुरौ यावदिहात्मबोधे भवेन्न तावद्धितसौख्यलेशः ॥३३॥

न यावद्विरागो न वा सद्गहानं भवेन्नैव धैर्यादियुक्तं मनश्च।
भवेत् किं सुवेषैः सुदेशैश्च तावन्न यावत्सुयोगा हृदि स्वे वसंति॥३४॥
न यावत्समत्वं वने प्राङ्गणे वा सुवर्णे च काचे मृतौ चाङ्गनायाम्।
भवेद् वृद्धभावेन किं तावदत्र न यावत्समूलस्य कामस्य नाशः॥
३५-५३॥

इति साक्षिसाक्षात्कारे मलिनमतीनां साधुत्वाद्यभाववर्णनं नाम नवमी वित्तिः॥९॥

जो लोग घर त्यागकर उदासिया (कुविरक्त) वेषधारीमात्र हुए और वनखण्ड में तप के लिये जाते हैं, उनके चोला (शरीर) के थाकने पर मायारूप बरइन (तमोलिन) उन्हें मारती है। सकाम अज्ञ तपस्वियों को अन्त में नष्ट ही करती है। सड़ते गलते पान के समान उन्हें चुन २ कर खाती (अपने में लीन करती) है। क्योंकि संसार बरेव (पान के खेत) की वह मालिक है इत्यादि॥५३॥

इति मलिन मति साधुत्वाभाव वर्णन प्रकरण॥९॥

## साखी ५४, नामरूपाधीन गति प्र. १०.

रामनाम जिन चीन्हिया, झीने पिञ्जर तासु।
नयन न आवै निन्दरी, अंग न चढिया मॉसु॥५४॥

आत्मानं यो न जानाति नाममात्रं च वेत्ति चेत्।
तपसा स्वशरीरं स मुधा क्लिश्नाति कामतः॥१॥
शोषणान्न शरीरस्य निद्राया विजयान्न वा।
लभ्यते स परो देवो विवेकादि विना क्वचित्॥२॥

देहाख्यं पिञ्जरं तस्य कृशतामेति नो मनः ।
चिन्तया नैव निद्राऽस्य नेत्रयोर्न तमोव्ययात् ॥३॥
न प्रतीकेषु मांसानि संलसंति न कान्तयः ।
भ्रान्तेः सत्त्वेन खेदाद्वा भयाद्वाविवर्जनात् ॥४॥
आत्मारामो हि यो विद्वान् मोहनिद्राजितो मुनिः ।
माया तस्य हि किं कुर्यात्स तद्दृष्टेः सुदूरतः ॥५॥
तच्छरीरं सदात्मैव सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं हि तत् ।
मांसादिसंगहीनं सन्मोहाद्यविषयः सदा ॥६॥

जिन लोगों ने केवल राम के नाम को चीन्हा है, उन विरही कामी तपस्वियों के पिञ्जर ( देह ) झीना ( कृश ) हो गये। चिन्ता के मारे नेत्रों में निद्रा नहीं आती, न अगों पर मास चढता है ॥ या राम नामवाला पर तत्त्व को जाननेवालों की देह भी सूक्ष्म आत्मस्वरूप ही हो जाती है, मोहनिद्रा बुद्धिनेत्र में नहीं आती, न उनके वास्तविक अगों पर मासादि का सग होता है ॥५४॥

जो जन भींगे रामरस, विकसित कबहु न रूख ।
अनुभव भाव न दरशये, ते नल दुःख न सूख ॥५५॥

तावद् भयकरी माया पाण्डित्यं यावदत्र नो ।
तदेव खलु पाण्डित्यं यस्मान्न भवसंक्रमः ॥७॥
पण्डितत्वमलब्ध्वा ये नामादिषु रता नराः ।
शोकव्याकुलिता रूक्षा न प्रफुल्ला भवंति ते ॥८॥
आत्मनोऽनुभवाऽभावाद्ये हि देहाभिमानिनः ।
न सुखं दृश्यते तेषु दुःखं तथैव दृश्यते ॥९॥
आत्मप्रेमनिमग्नास्तु स्वानन्दाप्फुल्लवक्त्रकाः ।
जगत्स्वप्नं प्रपश्यन्तो द्वन्द्वमुक्ताश्चरन्त्यहो ॥१०॥

स्वानुभूतिप्रभावेण दृश्यं न दृश्यते यदा।
तदा दुःखस्य का वार्ता ह्यखण्ड वर्तते सुखम् ॥११॥
" दृश्यं नास्तीति बोधेन मनसो दृश्यमार्जनम्।
सम्पन्नं चेत्तदुत्पन्ना परा निर्वाणनिर्वृतिः" ॥१२-५५॥

जो लोग रामरस ( तटस्थ राम के प्रेम ) से भींगे ( आर्द्र ) हैं। वे लोग कभी विकसित ( आनन्दित ) नहीं होते, किन्तु रूख ( खिन्न ) रहते हैं। जिनमें सत्यात्मा के अनुभव का भाव ( सत्ता ) नहीं दीखता, उन्हें दुःख ही होता है, सुख नहीं ॥ या जो लोग सत्यात्मा राम के आनन्द प्रेम में मग्न होते हैं, सो सदा विकसित वदन रहते हैं, कभी रूखे सूखे नहीं होते। आत्मानुभव के प्रभाव से उन्हें ससार सत्य नहीं दीखता, उन्हें दुःख नहीं होता सुखरूप ही रहते हैं इत्यादि ॥५५॥

जेहि राहे पण्डित गये, वोही गया वहीर।
ऊँची घाटी राम की, तिहि चढ़ि रहा कबीर ॥५६॥

संसृतौ सत्यताज्ञानादात्माऽपरिचयात्तथा।
शास्त्रज्ञाः श्रुतिहीनाश्च काम्यकर्मरताः समे ॥१३॥
पण्डिता ह्यगमन् येन तेनातो बधिरा अपि।
अगमन् कर्ममार्गेण संसृतौ न निजात्मनि ॥१४॥
देवभक्तास्तटस्थेशाचिन्तका भक्तमानिनः।
स्वर्गाद्युच्चैः प्रदेशानां मार्गे दत्तस्वचित्तकाः ॥१५॥
मुह्यन्ति तेऽत्र संसारे लभन्ते च गतागतम्।
अहो मोहस्य माहात्म्यं स्वात्मानं न ह्यवन्ति ते ॥१६॥
विवेकिनस्तु हित्वेममखिलं विद्ववविभ्रमम्।
संसारसरसो वेगाद्रक्षन्त्यात्मानमात्मना ॥१७॥

यत्र सर्गाब्धिवेगस्य नामापि श्रूयते न च ।
तत्र स्थिताः सदैवैते तुष्यंति विरमंति च ॥१८-५६॥

आत्मज्ञान रहित पण्डित जिस सकामादि कर्मादि मार्ग से गये, श्रवणादि रहित बधिर भी उसी मार्ग से गया। और तटस्थ राम के स्वर्ग वैकुण्ठादि जो ऊची घाटी ( स्थान वा मार्ग ) हैं। उनमें चढ ( मन लगा ) कर, उपासक कबीर ( कवि वा जीव ) स्थिर हुए। या ज्ञानी कबीर काम्यकर्मादि से ऊची घाटी में चढकर स्थिर हुए, अन्य सब पातादि के भय से चञ्चल हैं इत्यादि ॥५६॥

ये कबीर तैं उतरि रहु, सम्मल परो न साथ ।
समल घटे औ पगु थके, जीव विराने हाथ ॥५७॥

त्यक्त्वा सुखमयं मार्गं यान्ति पातप्रदे हि ये ।
मार्गे तान्-सद्गुरुश्चाह हितं तत्कृपया पुनः ॥१९॥
अवरुह्य मनःस्थैर्यं कुरुत शम्बलं स्थिरम् ।
अस्थिरस्य विनाशेऽस्य ह्यशक्ताः किं करिष्यथ ॥२०॥
सुकर्मणोऽस्य नाशे च विशक्तौ पुनरर्जने ।
विकर्मपरिपाकेन जीवः परवशो भवेत् ॥२१॥
भवद्भिः श्रूयतामेतद्दुराशा त्यज्यतामतः ।
अन्विष्यतामिहैवात्मा सत्संगे हृदये तथा ॥२२॥
स्वर्गस्य यदि पाथेयं तच्चाक्षयफलप्रदम् ।
कर्मार्जितस्य सर्वस्य क्षयिष्णुत्वं विनिश्चितम् ॥२३॥
पुण्यक्षयात्पतन्त्येव सर्वे ते स्वर्गगामिनः ।
विवेकादेरसामर्थ्यात्पराधीना भवन्ति च ॥२४॥

" कृतस्य कर्मणः स्वर्गे भुज्यते वै फलं जनैः ।
नैवान्यत्क्रियते कर्म मूलोच्छेन भुज्यते ॥२५॥
ब्रह्मलोकेऽथवा स्वर्गे पाताले नरकेऽपि वा ।
भूमौ वा स्वात्मविज्ञानं मुक्तिहेतुरसंशयम् ॥२६॥५७॥

ऐ कवीर ( कवि–जीव ) उच्च ऊची घाटी से उतर कर आत्म विचारादि में स्थिर होवो। तुझे परो ( अक्षय श्रेष्ठ ) सम्बल ( बाट खर्च ) साथ में नहीं है । तुच्छ कर्मादि शम्बल के भोग से घटने पर और कर्म के सामर्थ्य रूप पगु के थकने पर हे जीव ! तुम विराने हाथ ( परवश ) होगे । इसलिये अक्षय साधन की प्राप्ति करो ॥५७॥

काटे आम न मौलसी, फाटे जुटे न कान ।
गोरख पारस परस बिनु, काहे को नुकसान ॥५८॥

छिन्नो यथाम्रवृक्षो न सुपुष्पफलवान् भवेत् ।
तथा न भेदितः कर्णः स्वात्मानं लभते स्वयम् ॥२७॥
भिन्नो वाऽत्र यथा कर्णः स्वयं न मिलति द्रुतम्।
भो गोरक्ष तथैतस्मिन् देहे नष्टे भवेन्नहि ॥२८॥
सुलभं स्वात्मविज्ञानं मोक्षो वा भक्तिरुत्तमा ।
अत्रैतत्सुलभं सर्वं साधो ! यत्नो विधीयताम् ॥२९॥
आत्मनश्चाविवेकेन सर्वस्वं नाश्यते त्वया ।
लभ्यते नात्र किञ्चित्सत् केवलं खिद्यते सदा ॥३०॥
असङ्गनिशिताश्रेण ज्ञानेनाद्भुतकर्मणा ।
छिन्नः संसारवृक्षोऽयं न पुनर्दुःखकृद् भवेत् ॥३१॥
मनोऽपीदं सकृच्चेद्धि स्वात्मानन्दं पिबेदलम् ।
तन्न स्मरेदिदं विश्वं नित्यानन्दमयत्वतः ॥३२॥

आत्मनः सुपरीक्षाया अलाभेन महत्यथ ।
क्षतिः किं सह्यते साधो! न विद्मस्तत्र कारणम् ॥३३-५८॥

हे गोरस (इन्द्रियपोषक जीवों या योगियों)! जैसे काटा आम नहीं मोरता (फुलता) है, तथा फटा हुआ कान नहीं जुटता है, तैसेही मरने से ज्ञान या मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है, तो फिर सद्‌गुरु सत्यात्मा पारस के परस (स्पर्श-सम्बन्ध) विना क्यों नुक़सान (घाटा) सहते हो॥ या जैसे काटा हुआ आम में मौर (मोजर) नहीं लगता, तैसे फटा हुआ कान सत्मार्गादि में नहीं जुटता, तो फिर कान फड़ाकर क्यों नुक्सान सहते हो इत्यादि ॥५८॥

पारस रूपी जीव है, लोह रूप संसार ।
पारस ते पारस भया, परस भया टकसार ॥५९॥

अपूर्वोदमाऽयमात्माख्यो यत्सम्बन्धाज्जडं जगत् ।
रत्नं सच्चिदिवाभाति ज्ञाने तद्रूपतां व्रजेत् ॥३४॥
शुद्धचैतन्यरूपोऽयं पुरुषः परमार्थतः ।
मोहादेव तु संसारी ततो मोक्षं च वांछति ॥३५॥
गुरुज्ञानप्रसादेन सत्सङ्गस्यानुभावतः ।
मुच्यते चित्स्वरूपेण शिष्यतेऽयं स्वयंप्रभः ॥३६॥
स्पर्शमणिरयं जीवो लौहं संसारविभ्रमः ।
तादात्म्येन च संस्पर्शाज्ज्ञानात्तद्रूपतां व्रजेत् ॥३७॥
" यावद्धेतुफलावेशः संसारस्तावदायतः ।
क्षीणे हेतुफलावेशे संसारं न प्रपद्यते " ॥३८॥५९॥

जीव का स्वरूप पारस रूप है, मन इन्द्रिय विषयादि संसार लोह-रूप है, और इस आत्मस्वरूप पारस के ही परस (सम्बन्ध) से

लोहरूप ससार भी पारस ( सत्यादि ) स्वरूप हुआ है। विवेकादिपूर्वक ज्ञान रूप परस से अधिकारी लोग नित्यमुक्त हुए हैं। इसीसे अनुभव रूप परस टकसार ( सचा टकसाल ) है ॥५९॥

प्रेम पाट का चोलना, पहिरि कबीरा नाच।
पानप दीन्हो ताहि को, तन मन बोलै सॉच ॥६०॥

यो मोहस्नेहजे देहेऽभिमानं नेह मुञ्चति।
स पुनस्तं गृहीत्वैव चंक्रमीति भवाजिरे ॥३९॥
पाषण्डिनं वहिष्प्रज्ञमतथ्यवादिनं शठम्।
देहाभिमानिनं मूढं गुरवस्तारयंति नो ॥४०॥
देहाभिमानपाषण्डानृतादिभिश्च वर्जितम्।
सुहृदं सर्वभूतानां गुरवस्तारयंति हि ॥४१॥
गुरूणामात्मनो भक्ता निर्भया विचरंति ये।
कञ्चुकं परिधायाङ्गे भक्तिजं वोति सुन्दरम् ॥४२॥
मनसा वचसा तन्वा शुद्धाः सत्यं चरंति च।
तेभ्य एवात्मनिष्ठेभ्यो महत्त्वं तैर्वितीर्यते ॥४३॥
कामक्रोधविनिर्मुक्तः शोकमोहपरं गतः।
तृष्णालज्जाविषादाद्यै विमुक्तो वै महान् भवेत् ॥४४॥
नाम्नीव रूपे च हि यस्य मानसं सक्तं सदा नो विविनक्ति तत्त्वकम्।
वेषैश्च हार्दैश्च स तेन वञ्चितो जानाति नैवेदमखण्डचिद्घनम् ॥४५॥
सर्वं ह्यानादस्य तु जागतं भ्रमं सौख्येषु दुःखेषु समानमानसाः।
उलङ्घ्य गच्छंति हि शाश्वतं पदं ज्ञानेन सत्यं गुरुभिः सुमङ्गताः ॥४६॥६०॥

इति साक्षिसाक्षात्कारे नामरूपासक्तानां विभिन्नगतिवर्णनं नाम दशमी विस्ति. ॥१०॥

अथ कबीरा ( जीव ) देहगेहादि विषयक प्रेमपट की चोलना ( देह ) को पहिर ( धर ) के संसार में नाचता है। या भक्तिरूप प्रेम पट की चोलना पहन कर सत्संगादि में विचरता है। महात्मा सद्गुरु तो उसीको पानप ( इज्जत–बड़ाई ) दिये हैं कि जो तन मन से भी साच ही बोलता है ॥६०॥

इति नामरूपाधीन गति प्रकरण ॥१०॥

## साखी ६१, विषयिगतागत वर्णन प्र. ११.

दर्पण केरी गुफा में, श्वनहा पैठा धाय।
देखी प्रतिमा आपनी, भूंकि भूंकि मरि जाय ॥६१॥

दर्पणै रचितायां श्वा दर्यां निविशते यदि।
प्रतिबिम्बं स्वकं दृष्ट्वा भषित्वा म्रियते यथा ॥१॥
तथाऽविवेकिनोऽनित्ये विषयादौ स्वकं सदा।
प्रतिबिम्बात्मकाऽऽनन्दं जीवं देवं निरीक्ष्य हि ॥२॥
लोकदर्यां प्रविष्टा वै शत्रुमित्रादिभावतः।
हेयपूज्यादिबुद्ध्या च स्तुतिनिन्दादितत्पराः ॥३॥
भ्रमंति वा म्रियंते च लभन्ते नैव निर्वृतिम्।
मोहिताः कर्मणा स्वेन पश्यंतो भिन्नमेव हि ॥४॥
यावत्पश्यत्यनात्मानमात्मान्यं वा महेश्वरम्।
तावद् भ्राम्यति लोकोऽयमविद्यापाशपाशितः ॥५॥
इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च।
आत्मनश्च विवेकेन मुक्तो भवति नान्यथा ॥६॥६१॥

जैसे दर्पण की गुफा में यदि कुत्ता दौड़ कर पैठता है, तो अपने प्रतिबिम्ब को देखकर, उसमें शत्रु आदि बुद्धि से भूक २ कर मरता है।

तैसेही अनात्मप्रेमी जीव संसार शरीरादि रूप गुफा में पैठकर, मनुष्य देहादि में शत्रुमित्रादि की भावना से निज प्रतिबिम्बरूप आनन्दादि के लिये वक २ कर मरता है इत्यादि ॥६१॥

ज्यों दर्पण प्रतिबिम्ब देखिये, आप दुनों महँ सोय ।
या तत्त्वहीं से वा तत्त्व है, पुनि याही है सोय ॥६२॥

दर्पणाद्यभिसंबन्धाद्यथैकोपि द्विधा भवेत् ।
बिम्बत्वप्रतिबिम्बत्वभेदेनेह तथा स्वयम् ॥७॥
आत्मैव परजीवादिभेदेन बहुधाऽस्ति सन् ।
मायामनोऽभिसम्बन्धात्तं विना केवलः स्फुरेत् ॥८॥
एकोऽपि बहुधा सूर्यो जलाधारेषु दृश्यते ।
तथैव परमात्मापि सर्वोपाधिषु भिद्यते ॥९॥
समाध्यादौ स्फुरत्यात्मा केवलो भेदवर्जितः ।
व्युत्थितस्य समुत्थेन संस्कारजनितेन तु ॥१०॥
स्मरणेन भवेत्तस्य वित्तिर्वा गुरुवाक्यतः ।
सच्छास्त्रैः सुविचाराद्यैर्नान्यथा जन्मकोटिभिः ॥११॥
पश्यत्यात्मानमन्यच्च यावद्वै परमात्मनः ।
तावत्संभ्राम्यते जन्तु र्नायाति तदात्मताम् ॥१२॥६२॥

जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब देखा जाता है, तहाँ आप वह द्रष्टा दोनों ( दर्पण और बाहर ) स्थान में प्रतीत होता है । अर्थात् एकही में कल्पित बिम्बत्व प्रतिबिम्बत्व दो धर्म से या कल्पित प्रतिबिम्ब (आभास) से एकही दो रूप दीख पड़ता है, तैसे या तत्त्व ( इस अपरोक्षसाक्षी ) से ही माया अविद्यान्तःकरणादि उपाधि द्वारा तटस्थ ईश्वर देवादि

सिद्ध हुए हैं, उपाधियों के अभाव या अप्रतीति काल में वे सब इस साक्षीमात्र ही हो जाते हैं ॥६२॥

जो वन सायर मूझ ते, रसिया लाल कराहिं ।
अब कबीर पाँजी परी, पन्थी आवहिं जाहिं ॥६३॥

मत्तो यद्वनमब्धिश्च रसिकास्तद्धि मन्वते ।
अमूल्यं शोणरत्नं वै तदभ्यासोऽद्य वर्तते ॥१३॥
पथिका इव तेनाऽत्र पुनरायान्ति यान्ति च ।
आशालोभभराऽऽक्रान्ताः क्षुब्धा मुग्धा मुहुः पथि ॥१४॥
केवलस्यात्मनो ज्ञानं विना मूढा भवार्णवे ।
अरण्यानीसमे लोके स्वात्ममायाविलासके ॥१५॥
महाभयङ्करे स्थाने पातोत्पातविधायिनि ।
विश्वस्ताः सुखबुद्ध्याद्यैरसत्ये वासनामयैः ॥१६॥
अनादिवासनाऽभ्यस्ते यान्त्यायान्ति पुनःपुनः ।
लभन्ते निर्वृतिं नैव योन्यादौ पथिका इव ॥१७॥

मायाप्रसूना खलु जागती श्रीः सत्ये विलग्नेव सदा विभाति ।
मूढैस्तु तत्त्वेन विभाव्यमाना भवे भवेत्पातविधायिनी सा ॥१८॥६३॥

इति साक्षिसाक्षात्कारे विषयानन्दमग्नानां गतागतवर्णनं नामैकादशी विवृत्तिः ॥११॥

जो समारस्वर्गादि वन स्त्रीपुत्रधनादि सायर (समुद्र) मुझ (निजात्मा) से हुए हैं। और मायामात्र हैं। रसिया ( रसिक–विषयी ) जीव उन्हीं को लाल ( शोणरत्न ) कराहिं ( करते–समझते हैं )। साहब का कहना है कि अब इन्हें मिथ्या ज्ञान चाल की ही पाजी ( आदत ) पड़ गई है, इससे संसारपथ के पथिक होकर बार २ आते जाते हैं इत्यादि ॥६३॥

इति विषयिगतागत वर्णन प्रकरण ॥११॥

## साखी ६४, शरीरासक्त गुरुविमुखसंसार प्र. १२

दुहरा तो नूतन भया, पदहिं न चीन्है कोय ।
जो यह पदहिं विवेकिया, छत्र धनी है सोय ॥६४॥

द्वितीया नूतना तस्य तनुर्जाता न यो पदम् ।
विविनक्ति विवेकी तु सार्वभौमोऽस्त्यधीश्वरः ॥१॥
नूतनां तनुमास्थाय योनौ योनौ चरेज्जनः ।
सारशब्दाऽविवेकेन स्वरूपस्याविवेकतः ॥२॥
सारशब्दविवेकेन सत्याऽधिष्ठानविन्निमान् ।
स्वतन्त्रोऽसौ महाराजश्चेश्वराणामपीश्वरः ॥३॥
जातं वा नूतनं दोहावृत्तं सर्वेहितप्रदम् ।
पदमस्य न जानाति जनो मोहवशंवदः ॥४॥
यो जानाति पदं त्वस्य विवेकेन सुबुद्धिमान् ।
सर्वेश्वरो भवेत्पूज्यः स एवात्र न संशयः ॥५॥६४॥

पांजी पढ़ने ही से नूतन २ दुहरा ( दूसरा २ देह ) हुआ है, या स्थूल सूक्ष्म दोनों का संघात हुआ है । तौभी इससे मुक्ति के लिये कोई सद्गुरु के सार शब्द या आत्मपद ( स्थान ) को नहीं चीन्हता है । या दुहरा ( दोहा आदि ) मय यह ग्रन्थ नूतन ढंग का हुआ है, इसका पदार्थ को भी कोई सहसा नहीं समझ सकता, परन्तु जो कोई इस पद को विवेक करेंगे, वे ही छत्रधारी राजा के तुल्य स्वतन्त्र ज्ञानी होंगे और हैं ॥६४॥

कबीर जात पुकारिया, चढ़ि चन्दन की डार ।
बाट लगाये ना लगै, पुनि का लेत हमार ॥६५॥

गच्छन्तः स्वयमस्मान्द्धि संसाराच्चन्दनस्य च ।
देहवृक्षस्य शाखायां तुर्याख्यायां स्थिता: सदा ॥६॥
गुरवः प्राप्तये तत्र मार्गांश्चोपदिशन्ति ते ।
हतभाग्या न शृण्वंति तत्र नैव प्रयान्ति चेत् ॥७॥
गुरूणां तेन का हानिः पुनस्तैर्लभ्यते च किम् ।
जन्मान्तरेषु ते मूढाः प्रपीडयन्ते न योगिनः ॥८॥
कृपालिन्धून् गुरून् प्राप्य यैश्चात्रात्मा न रक्षितः ।
जन्मान्तरेषु तद्रक्षा प्रायेणात्यन्तदुर्लभा ॥९॥
संसारात्ते हि गच्छन्त उच्चैराकार्य सर्वथा ।
सन्मार्गे गमनार्थाय प्राहुर्जीवा व्रजन्ति नो ॥१०॥
जन्मकर्मस्वभावादीन् सर्वान् सद्गुरुरुक्तवान् ।
न पश्यंति जना मोहाद् गुरुस्तेषां करोतु किम् ॥११॥६५॥

साहब का कहना है कि मैं इस संसार से जाता हुआ भी देहरूप चन्दन वृक्ष की तुरीय स्वरूप डार पर चढ़कर, अन्य के लिये भी सुन्दर मार्ग पुकार के कहता जाता हूं। यदि कोई इस मार्ग में लगाने से नहीं लगेगा, तो फिर हमारा लेता भी क्या है । या जीवों की जात ( जाति–जन्म–स्वभाव–स्वरूपादि ) को मैंने पुकार के कह दिया है इत्यादि ॥६५॥

सबही ते साँचा भला, जो दिल साँचा होय ।
साँच विना सुख नाहिं है, कोटि करै जो कोय ॥६६॥

स्वयं भवार्णवात्तीर्णा गुरवः प्रदिशन्ति यान् ।
मार्गास्तैरेव गन्तारो लभन्ते परमं पदम् ॥१२॥
तेषु मार्गेषु सर्वेषु सत्यं विद्धि परं महत् ।
मनसा कर्मणा वाचा त्वसत्यं तत्प्रशस्यते ॥१३॥

यथोपलब्धं यद्वाक्यं × हिंसाकल्कविवर्जितम् ।
सर्वधर्मविदः प्राज्ञास्तत्सत्यं प्रतिजानते ॥१४॥
नहि सत्यात्परो धर्मो नानृतात्पातकं परम् ।
नहि सत्यात्परं ज्ञानं तस्मात्सत्यं समाचरेत् ॥१५॥
नैव सत्यं विना सौख्यं विद्यते क्वापि कस्यचित् ।
कुर्वतः साधनान्यत्र कोटिधाऽन्यानि सर्वदा ॥१६॥
सत्यमेव परं ब्रह्म सत्यमेव परं तपः ।
सत्यमेव परो यज्ञः सत्यमेव परं श्रुतम् ॥१७-६६॥

सब साधन साध्य से साचा ( सत्यवचन–व्यवहार.) सत्यात्मा की प्राप्ति ही भला ( श्रेष्ठ ) है । यदि दिल ( मन ) भी साचा ( निष्कपट–आत्मनिष्ठ ) हो । इस साच के बिना कहीं भी सुख नहीं है, चाहे कोई करोड़ों उपाय क्यों न करे, सुख तो साँच ही से होगा ॥६६॥

साँचा सौदा कीजिये, अपने दिल में जानि ॥
साँचे हीरा पाइये, झूठे मूलौ हानि ॥६७॥

सत्यं सम्पाद्यतां शश्वत्तं च स्वान्ते प्रबुध्यताम् ।
युद्ध्यतां तु तदर्थाय स्वेन्द्रियैः स्वविरोधिभिः ॥१८॥
सत्यं बुद्ध्या समालोच्य विचार्य च पुनः पुनः ।
सत्यं ह्यर्ज्यतां विद्वन्नासन्ये क्रियतां मतिः ॥१९॥
सत्येन लभ्यते ज्ञानरत्नं मोक्षः सुखं सदा ।
नश्यत्यसत्यतः सर्वं मूलं च प्रविनश्यति ॥२०॥
सर्वसाधनमूलं हि मानुष्यमतिदुर्लभम् ।
नहि चेच्छक्नुयाद् वृद्धौ मूलं यत्नेन रक्षयेत् ॥२१॥

× कल्को–दम्भः पापाशयो वा ।

अत्र वाऽन्यत्र मानुष्ये सति ज्ञानं हि लभ्यते ।
अन्यत्रापि क्वचिच्चेत्स्यान्मानुष्ये कृतसाधनात् ॥२२॥
आप्तेन गुरुणा सार्द्धं व्यवहारो विधीयताम् ।
अनाप्ते व्यवहरन् धीमन् मूलनाशं प्रणङ्क्ष्यसि ॥२३॥
सत्येन लभ्यते चात्मा ह्याप्तेन गुरुणा तथा ।
तपसा ब्रह्मचर्येण सम्यग् ज्ञानेन सर्वदा ॥२४॥
जीवनाशं स नष्टः स्याद्यो न सत्यादिमान् भवेत्।
अतः सर्वप्रयत्नेन सत्यादीन् रक्ष भो बुध ॥२५॥
सत्यं भूतहितं प्रोक्तं नाऽयथार्थाभिभाषणम् ।
भूतानामहितं सत्यमसत्यं फलतो भवेत् ॥२६॥६७॥

अपने दिल में जानि (सोच समझ) कर, सत्यात्मा सत्य व्यवहार रूप सौदा (वस्तु) प्राप्त करो। या साँचा सौदा करो, और उसे अपने दिलही में समझो। या साँचा सद्गुरु के विज्ञानादि सौदा करो। और यह निश्चय अपने दिल में समझो कि साँचा से ही हीरा (ज्ञानरत्नात्मादि) प्राप्त होता है, झूठे लोग बातादि से तो सब साधनादि के मूल मनुष्यत्व का भी व्यर्थ नाश होता है, सब सुख के मूल आत्मानन्द की अप्राप्ति होती है॥६७॥

सुकृत वचन मानै नहिं, आपु न करै विचार ।
कहहिं कबीर पुकारि के, स्वप्ने गया संसार ॥६८॥

यो न गृह्णाति सद्वाक्यं स्वविचारं करोति न ।
स्वप्नतुल्ये स संसारो गतो यास्यति वै पुनः ॥२७॥
कामक्रोधादिसंयुक्तो हिंसालोभसमन्वितः ।
मनुष्यत्वात्परिभ्रष्टो नरकादौ प्रपद्यते ॥२८॥

शृणोति यो नैव सतां सुभाषितं करोति नैवात्मविचारणामपि।
मज्जन् कुमार्गेण स आत्महा नरश्चलाचलः क्वापि न सत्यमश्नुते ॥२९॥६८॥

इति साक्षिसाक्षात्कारे शरीरासक्तगुरुविमुखानां संसारभ्रमणादिवर्णनं नाम द्वादशी वित्तिः ॥१२॥

जो संसारी जीव सुकृत (पुण्यात्मा गुरु के पुण्य) वचन को नहीं मानता है, न आपही सद्विचारादि करता है, सो स्वप्नतुल्य संसार ही में गया, और बार२ जाता है ॥६८॥

इति संसारासक्त गुरुविमुख संसार प्रकरण ॥१२॥

## साखी ६९, ज्ञानाग्न्यादि प्र. १३.

आगि जो लागि समुद्र में, धुआँ न परगट होय।
सो जानै जो जरि मुआ, जाकी लाई होय ॥६९॥

स्वप्नतुल्येऽत्र संसारे ह्यब्धौ मारमुखाग्नयः।
लग्ना न लक्ष्यते धूमो मूढैस्तत्र ज्वलंति ते ॥१॥
ये मृतास्तैस्तु संतप्ता यैश्चानीतास्तदग्नयः।
तेषां त एव धूमं च तांश्च जानंति तत्त्वतः ॥२॥
संसाराब्धौ च दीप्यंते संलग्ना ज्ञानवह्नयः:
मिथ्यात्वात्संसृतेर्नूनं मूढैरेतन्न * लक्ष्यते ॥३॥
प्राक्तना गुरवो ये च तथेदानींतनाश्च ये।
ज्ञानाग्निदग्धदेहा वै तैरेवैतत्तु लक्ष्यते ॥४॥

* एतत ज्ञानाग्निलग्नम्-सम्बन्ध इति यावत् ॥

गुरुभक्तैर्विरक्तैर्हि प्लुष्टाभिमितिपङ्कैः ।
विचारशुद्धहृदयै लक्ष्यते प्राप्यतेऽपि च ॥५॥
अद्भुतोऽयं माहाग्निर्यद्धूमोऽप्याविर्भवेन्न च ।
ज्ञातारोऽस्य म्रियन्तेऽथ यैश्चानीतो नरोत्तमैः ॥६-६९॥

ससार के स्वप्नतुल्य होने से जो ज्ञानाग्नि ससार समुद्र मे लगी है, उसका धूम ( चिन्ह ) अज्ञों के प्रति प्रगट नहीं होता है । इसीसे इस अग्नि को सोई पुरुष जानता है, कि जो उस अग्निद्वारा अपने अभिमानादि को नष्ट करके मानो जल मुआ है, या जिन सद्गुरु की वह अग्नि लाई ( शिष्यों में प्राप्त कराई ) है । या जिसके हृदय में उसका सचार वर्तमान है ॥ अथवा ज्ञान विना काम विरहादि अग्नि ससाराब्धि में लगी है इत्यादि ॥६९॥

लाई, लावनहार की, जाकी लाई परजरै ।
बलिहारि लावनहार कि, छप्पर बांचे घर जरै ॥७०॥

आनीतस्य च आनेता धन्यथादोऽस्य विद्यते ।
यदानीतेन दग्धं स्यात्परं वस्तु समूलतः ॥७॥
अहो तेन गृहं दग्धं जायते रक्ष्यते छदिः ।
सत्यात्मलक्षणं यद्धि नित्यच्छायाप्रदं विभु ॥८॥
धन्यः सोऽत्र गुरुर्वन्द्यो यः शिष्यहृदये गृहे ।
समानयति बोधाख्यं वह्निं परंपरागतम् ॥९॥
तस्मादनात्मकोशादिगृहदाहो हि जायते ।
शिष्यते चाऽयमात्मा यः सर्वसत्ताप्रकाशदः ॥१०॥
क्षुण्णे चानादिमार्गे यो ज्ञानात्मनि न तिष्ठति ।
न तं गुरुं विजानीयात्कल्पितस्य प्रवर्तकम् ॥११॥

अनन्तजन्मसंप्राप्तकर्मबन्धविदाहिने ।
आत्मज्ञानप्रदानेन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥१२॥७०॥

उस लावनहार ( ज्ञानाग्नि के लानेवाले ) गुरु की बलिहारी है, जो अनादि काल से परपरा लाई को लानेवाले ( शिष्य को देनेवाले ) हैं। और जिनकी लाई हुई अग्नि से पर ( अनात्म ) वस्तु तथा कामादि शत्रु जल करके नष्ट हो जाते हैं। और सबको छाया ( आनन्द आश्रय ) देनेवाला छप्पर आत्मा ही उस अग्नि से बचता है, तीनों देहरूप घर जल जाते हैं ॥७०॥

*आगि जो लागि समुद्र में* जरे स कादो झारि ।
पुरब पछिम के पण्डिता, मुये विचारि विचारि ॥७१॥

ज्ञानाग्नेर्यस्य सम्बन्धान्मनोमोहादिकर्दमैः ।
सार्द्धं विश्वोदधिर्दग्धेत्तज्ज्ञानं परमं मतम् ॥१३॥
एतस्यैव च बोधस्य लब्धये ये विवेकिनः ।
पूर्वापरस्य कालस्य भूषणं सुविचारिणः ॥१४॥
आप्राणान्तं विचार्यैव म्रियन्ते ते मृतास्तथा ।
न जात्ववसरो दत्तः कामादीनां न दीयते ॥१५॥
कामाद्यग्निभिरप्येवमापातालं , ससर्गकम् ।
इदं जगज्ज्वलत्येव ह्यज्ञाने सति मानसे ॥१६॥
सम्यक् च जनिते ज्ञाने कामाद्यग्निर्न बाधते ।
अतो विचारिणः प्राज्ञा म्रियन्ते सुविचारतः ॥१७॥
विरहाद्यग्निभिः केचिद्विचार्यापि कुपण्डिताः ।
*मृता नैव च तान्धीन् समर्था वर्जितुं च ते ॥१८-७१॥*

जो ज्ञानाग्नि संसारसमुद्र में लगती है, उससे मायामोहादि कादो (कीचड़–मूल) सहित यह समुद्र जलता (बाधित होता) है, इसीसे उस अग्नि के लिये पूर्व पश्चिम (भूत वर्तमानादि काल) के पण्डित (विवेकी–विद्वान्) सब विचार २ कर मरे और मरते हैं। अर्थात् मरणपर्यन्त विचारादि करते हैं, कामादि के वश नहीं होते ॥७१॥

आगि जो लागि समुद्र में, टुटि टुटि खॅसये झोल।
रोवै कविरा डम्फिया, हीरा जरै अमोल ॥७२॥

विश्वाब्धौ ज्ञानरूपाग्निरलगत्तस्य वेगतः।
मदकाममुखा उल्का नश्यंति प्रपतंति च ॥१९॥
ज्ञानिदेहगृहे चैषां नाशं दृष्ट्वाऽविवेकिनः।
रुदंति दास्य लोका वै नश्यंतीति शुचार्पिताः ॥२०॥
कालाद्यग्निभिरप्येवं लोकाः सर्वे ज्वलंति हि।
नश्यंत्यनुक्षणं सर्वे दम्भिनोऽत्र रुदंति च ॥२१॥
ज्ञानिनां नाऽत्र शोकः स्यान्न मोहो नैव दीनता।
स्वप्नवत्ते प्रपश्यंति जगदेतच्चराचरम् ॥२२॥
स्वप्नपुत्रे विनष्टे वा जाते वाऽत्र क दीनता।
हर्षो वा युज्यते लोके जाग्रत्येवं विदन्ति ते ॥२३॥
मूर्खस्तु हीरको नष्ट इति मत्वा रुदंश्चिरम्।
पुत्रवित्तादिशोकेन म्रियते वा विमुह्यति ॥२४॥७२॥

ज्ञानाग्नि के संसारसमुद्र में लगने से कामकर्म मोहाभिमानादिरूप झोल (कुकुदी) ज्ञानी के देहरूप घर से टूट २ कर गिरते हैं। सो देखकर उनके पितापुत्रादि डंफिया (दंभी–अभिमानी) कबीरा (जीव) सब रोते हैं कि कर्मादि विना इसके लोकादिरूप हीरा जरते हैं। तथा

कामादिसंस्कृते क्षेत्रे स्वान्ते विषयवासनाः ।
बीजान्येव वपन्त्यज्ञाः स्वभावेन वशीकृताः ॥३०॥
शतकृत्त्वोऽमृतत्वाय यद्यप्यात्मोपदिश्यते ।
तथापि न त्यजन्त्येते कुविचारं कथञ्चन ॥३१॥
सद्भक्त्यभ्यासयोगाद्यै र्वासनानां तु तानवे ।
उपदेशा लगन्त्येषु नान्यथा जन्मकोटिभिः ॥३२॥
सुक्षेत्रे विषवृक्षश्चेन्निरूप्य सिच्यतेऽमृतैः ।
तथापि स स्वभावं स्वं न जहाति कदाचन ॥३३॥
तथा संसारिणश्चैते वासनावेशशालिनः ।
स्वभावं स्वविचारं न जहति योऽत्र वर्तते ॥३४॥७४॥

उक्त ज्ञान के विना जीवों ने अपने २ अन्तःकरणरूप जिमी (भूमि) में कामादिरूप खाद देकर विषयरूप जहर (विष) के वासनारूप बीज बोया है। इससे यदि कोई सैकड़ों वार अमृतस्वरूप आत्मा का उपदेश देते हैं, तो वह खलक (संसारी) अपने उस स्वाभाविक विचार को नहीं छोड़ता है कि जो कुविचार जिसमें प्रथम से वर्त्तमान है। जैसे जहर का बीज को दूधादि से पटांने (सींचने) से भी वह अपना स्वभाव को नहीं छोड़ता, तैसे दृढ कुवासनावाला जीव भी सदुपदेश से स्वभाव को नहीं छोड़ता, किन्तु भोगाभ्यासादि से स्वभाव बदलता है ॥७४॥

दव की डाढ़ी लाकरी, ऊभी करै पुकार ।
अब जो परे लुहार घर, डाहै दूजी बार ॥७५॥

अलागेनोपदेशस्य कुविचारेण कर्मणा ।
संसारतापदग्धा ये दावदग्धेन्धनं यथा ॥३५॥

आह्वयन्ति हि ते देवानीश्वरं च कदाचन।
विश्यतः कल्पयन्त्यन्तर्यमोऽस्मांस्तापयिष्यसि ॥३६॥
लौहकारगृहे यद्वद्दह्यते हीन्धनं पुनः।
तद्वदेव यमो जीवान् दग्धान् दहति पापिनः ॥३७॥
नैतावता तु तत्तापो निवर्तते कदाचन।
न लभन्ते च ते शर्म यावदात्मा न लभ्यते ॥३८॥
यावद्विवेकोऽपि न विद्यते वा यावन्न लिङ्गं खलु बोधवन्हेः।
विलक्ष्यते शुद्धतमं विचित्रं तावन्न तापो विनिवृत्तिमेति ॥३९-७५॥

इति साक्षिसाक्षात्कारे ज्ञानाग्निज्ञानदौर्लभ्यवर्णनं नाम त्रयोदशी विवृत्तिः ॥१३॥

अपने २ कुविचारों को नहीं त्यागने से दावानल से दग्ध लकड़ी के समान संसार विरहादि के ताप से तप्त दग्ध कोयला समान जीव देवादि को पुकारते हैं, और कहते हैं कि लोहार तुल्य यमराज के घर में यदि हम प्राप्त हुए, तो वह दूसरी बार भी जलावेगा, जैसे कोयला को लुहार जलाता है इत्यादि ॥७५॥

इति ज्ञानाग्न्यादि प्रकरण ॥१३॥

## साखी ७६, विरही की दशा प्र. १४.

विरह कि ओदी लाकड़ी, सपुचे ओ धुँधुआय।
दुःखते तबही बाँचि हो, जब सकलो जरि जाय ॥७६॥

सूर्यतापाद्ययोगेन ह्यन्तरार्द्रेन्धनं यथा।
सशब्दं कुरुते धूमं रुदंति कामिनस्तथा ॥१॥
वियोगेनात्मनश्चैते कदाचिद्धि रुदंति च।
हसंति बहुधा तद्वद् द्वन्द्वमुक्ता भवंति न ॥२॥

यदा वासनया सार्द्धमभिमानमदादयः ।
आत्मज्ञानाग्निनाऽशेषं नश्यंति विदुषः खलु ॥३॥
तदा द्वन्द्वानि मुच्यन्ते न पुनर्भवनाय यत् ।
ततो यतस्व भो साधो येन द्वन्द्वं न बाधते ॥४॥
नाशयस्वाभिमानादीन् वासनाश्च विनाशय ।
एतेषां सर्वथाऽभावे दुःखान्मुक्तो भविष्यसि ॥५॥
सर्वथैव सुदग्धस्य हीन्धनस्य यथा नहि ।
दहनं स्यात्तथा ज्ञस्य पुनर्दाहो न जायते ॥६॥७६॥

जैसे सूर्यतेजादि के विरह ( अप्राप्ति ) से ओदी ( कची ) लकड़ी अग्नि लगने पर सपुचती ( पानी छोड़ती ) है और धुँधुआती है । तैसेही सद्गुरु आत्मज्ञानादि के विरह से कामी जीव भी रोते गाते हैं । यहाँ सद्गुरु का कहना है कि रोने गाने से क्या होगा, दुःख से तो तभी बाचोगे कि जब वासना कामादि सब ज्ञानाग्नि से जल जायगे ॥ या विरहाग्नि से जलते हुए जीव उसे बढ़ाते हैं कि जब विरहाग्नि से ही सर्वथा जल जायगे तब दुःख रहित होंगे इत्यादि ॥७६॥

विरह बाण जिहि लागिया, औषध लगै न ताहि ।
सुसुकि सुसुकि मरि मरि जिवै, उठै कराहि कराहि ॥७७॥

असद्धागधनुषा ह्यात्मवियोगविशिखो हृदि ।
यस्य स्वादेशितः पूर्वमुपदेशो न तत्र हि ॥७॥
फलति सोऽवरोरुद्य म्रियते जायते पुनः ।
जातो जातश्च कामाय कर्मणे घटते पुनः ॥८॥
भ्रमित्वा बहुयोनौ च सुप्त्वाऽत्र मोहनिद्रया ।
ततः कथञ्चिदुत्थाय शर्मणे घटते न च ॥९॥

अतो ज्ञानौषधं तस्मिन् सर्वतापविनाशकम् ।
चैन्न लगति किं कुर्युर्गुरवोऽपि महाधियः ॥१०-७७॥

जिनके हृदय में परमात्मपति के विरह का उपदेशरूप बाण प्रथम से लगा है, उसको सत्यात्मोपदेशरूप औषध नहीं लगता है, इससे वह पीड़ा के मारे मुकुर २ कर रोता है। मर २ कर जीता (जन्मता) है। फिर कराहि २ करके उठता है (सकाम कर्मादि में ही लगता है, आत्मविचारादि नहीं करता। या कहँरता चिल्लाता है इत्यादि ॥७७॥

दुहरा कत कहहिं कबीर, प्रतिदिन समय जु देख ।
मूये गये न ऊबरे, बहुरि न ऐहौ पेख ॥७८॥

जायन्ते विरहाद्देहाः कस्तान् संख्यातुमर्हति ।
के निरूपयितुं शक्ता वर्तमानांश्च सम्प्रति ॥११॥
अनिशं दृश्यते यद्वा लोकवृत्त शुभाऽशुभम् ।
दोहावृत्तादिभि. सर्वं गुरुभिस्तन्निगद्यते ॥१२॥
मृत्वा कुत्रापि गत्वा हि केऽपि मुक्ता नचाऽभवन् ।
पुनः स्याज्जन्मने तस्मादत्र ज्ञानं विधीयताम् ॥१३॥
किं बहुनोपदेशेन ह्येतावन्तं विनिश्चिनु ।
जीवन्मुक्तो भवेन्मुक्तो मृत्वा गत्वा न मुच्यते ॥१४॥
यस्मान्मोक्षसुखादन्यत्सुखं क्वापि न विद्यते ।
तस्मान्मुमुक्षुणा भाव्यं नैव भोगेच्छुना क्वचित् ॥१५॥
यावन्नाश्रयते दुःखं यावन्नायान्ति चापदः ।
यावन्नेन्द्रियवैकल्यं तावच्छ्रेयः समभ्यसेत् ॥१६-७८॥

प्रतिदिन सब समय जो दुहरा (देह) देखे जाते हैं, उनका कत (कितना) कथन किया जाय। इतना कहना है कि जो कोई मर

कर कहीं गये सो जन्मादि संसार से नहीं ऊबरे, इसलिये उस तत्त्व मार्ग को देखो कि जिससे संसार में फिर नहीं आओगे ॥ या साहब का कहना है कि मैं कितना दोहा कहूं, प्रतिदिन जो समय मिले उसमें तुम यही देखो कि मरकर कहीं भी जानेवाले नहीं ऊबरे। और फिर नहीं जन्मने के उपाय को इसी जन्म में समझ लो ॥७८॥

साँचा शब्द कबीर का, हृदया देखु विचारि।
चित्त दै समुझै नहीं, कहत भेल युग चारि ॥७९॥

यथा न भवचक्रे ते पुनरागमनं भवेत्।
तथा विलोकयात्मानं मोहादीन् परिमार्जय ॥१७॥
आत्मनश्चावलोकाय मोहाद्यपगमाय च।
सद्गुरोः सारशब्दस्य विचारः सुविधीयताम् ॥१८॥
तस्यैवाभ्यासयोगेन स्वात्मानं हृदि पश्य भोः।
विचारार्थं विना तेऽत्र कालो बहुरगादयम् ॥१९॥
श्रवणान्मननाच्चैव निदिध्यासनतस्तथा।
स्वविवेकादिभिर्विद्धचिह्नैवात्मा सुदृश्यते ॥२०॥
सद्गुरोरुपदेशोऽपि विचारोऽभ्यस्यते न चेत्।
अलब्धसंयमः पूर्वमात्मा नैवेह लभ्यते ॥२१॥
श्रवणेऽपि कृते भूयो मनसाऽऽलोच्यते नहि।
अतः कथयतोऽगच्छत्साखशब्दं चतुर्युगम् ॥२२॥
ये मृत्वाऽन्यत्र गच्छन्ति मुच्यन्ते ते न जन्मभिः।
अतस्तथा विधातव्यं यथाऽत्र स्याद् विमुक्तता॥२३-७९॥

कबीर ( सद्गुरु ) का साँचा ( सत्य-सार ) शब्द को विचारकर अपने हृदय में ही आत्माराम को देखो (अपरोक्ष करो) दूर की आशा

छोड़ो । तुम चित्त देकर नहीं समझते हो, इसीसे सद्गुरु के कहतेर चार युग बीत गये, और तुझें ज्ञान नहीं हुआ इत्यादि ॥७९॥

जो तैं साचा वाणिया, साची हाट लगाव ।
अन्दर झारू देइके, वाहर कुरा वहाव ॥८०॥

वणिक् चेदसि सत्यस्त्वं हट्टं सत्य कुरु स्वके ।
हृदये शोधनीं दत्त्वा वहिश्च संकरं कुरु ॥२४॥
सत्यात्मनो हि जिज्ञासा मुमुक्षा यदि वा हृदि ।
वर्तते चातिमन्दाऽपि तदा सत्सङ्गमाचर ॥२५॥
विवेकं च विधायैव वैराग्येण वरेण च ।
हृदयं स्वस्य संशोध्य तां सुतीव्रां तु साधय ॥२६॥
तीव्रायां हि मुमुक्षायां श्रवणादीन् विधाय च ।
स्वात्मानन्दं समालोच्य मुक्तसंगः सुखी भव ॥२७॥
सतां सुसङ्गेन विवेकवारिणा, सुतीव्रवैराग्यरसेन धर्मतः ।
विशोध्य चान्तःकरणं सदा बुध, वियोगबुद्धिं प्रजहीहि दूरतः ॥ २८॥८०॥

इति साक्षिसाक्षात्कारे विरहाग्निविचारादिवर्णनं नाम चतुर्दशी त्रिशि ॥१४॥

यदि तुम सारशब्द सत्यात्मा के साँचा वाणिया ( व्यापारी ) होना चाहो वा हो तो साँची हाट लगावो ( सत्संग सद्विचारादि करो ) सब व्यवहार सचाई से करो । और विवेक वैराग्यरूप झाड़ू अन्दर में लगाकर रागद्वेषादिरूप कूड़ा को बाहर बहावो ( धोवो ) ॥८०॥

इति विरही की दशा प्रकरण ॥१४॥

ढिग बूडा उछिला नहीं, इहे अँदेशा मोहि ।
सलिल मोह के धार में, कस निन्द आई तोहि ॥८३॥

निमग्नः सविधेऽप्यब्धौ नोन्मज्जसि कदाचन ।
आश्चर्यं महदेतन्मे विद्यते संशयावहम् ॥१४॥
मोहवारिप्रवाहे ते निद्राऽऽयाति कथं दृढा ।
प्रमादविषयाऽऽस्वादलक्षणा संसृतिप्रदा ॥१५॥
अहो मोहस्य माहात्म्यं लब्ध्वा मानुष्यमुत्तमम् ।
संसाराब्धितटे यातः पुनरत्र निमज्जसि ॥१६॥
महाभयप्रदे स्थाने जागरितव्य एव च ।
अनादिमोहनिद्रेयं भवता स्वाद्यते कथम् ॥१७॥
त्यज शीघ्रमिमां निद्रां जागृहि त्वं निजात्मनि ।
इन्द्रियाणि वशे कृत्वा यथासुखमिहास्यताम् ॥१८॥८

मानव तनु पाकर वैष्णवादि कहाकर जो संसार में आसक्त हुअ सो संसारसमुद्र के ढिग ( किनारे–तट ) पर आकर डूब गया और पि उछिला ( उतराया ) नहीं, इस बात की मुझे अंदेशा ( आश्चर्य–संशय है, कि मोहजाल की धारा ( संसार ) में तुझे निन्द ( आलस्य विष सादि ) कैसे प्राप्त हुई ॥८३॥

साखी कहै गहै नहीं, चाल चली नहिं जाय ।
सलिल मोह नदिया बहै, पाँव कहाँ ठहराय ॥८४

यश्चात्मनि न जागर्ति जल्पत्येव तु साक्षिणम् ।
नेंद्रियाणि वशे यस्य स्थितिं स लभतां कुतः ॥१९॥
कुशलाश्चात्मवार्तायां वृत्तिहीना हि रागिणः ।
ते मृत्योर्वशतां यांति कामक्रोधादिसंयुताः ॥२०॥

मोहमय्यां महानद्यां न जातु लभते स्थितिम् ।
मनो बुद्धिश्च मूढानां मुधा पण्डितमानिनाम् ॥२१॥
प्रमाणं वक्ति यो मार्गं न गृह्णाति न गच्छति ।
मोहवारिनदीवेगे पादः कास्यात्र तिष्ठतु ॥२२॥
चरितेन तु यः शुद्धः सुशान्तश्च समाहितः ।
स स्थितिं लभते नूनमात्मवश्यो जितेन्द्रियः ॥२३॥
" गुरुप्रज्ञाप्रसादेन मूर्खो वा यदि पण्डितः ।
यो हि सम्बुध्यते तत्त्वं विरक्तो भवसागरात् ॥२४॥
रागद्वेषविनिर्मुक्तः सर्वभूतहिते रतः ।
अमानित्वादियुक्तश्च स प्राप्नोति परं पदम् "॥२५॥८४॥

जो लोग साखी ( साक्षी आत्मा या वेदादि प्रमाण ) का कथन ‍। हैं । परन्तु उसको मन से गहते ( धरते जानते ) नहीं हैं, न से मुचाल चला ही जाता है । तो मोहपानी की जो रागद्वेषादि । बह रही है, उसमें उनके पाँव ( मन ) कहा ठहर ( टिक ) ा है, और पाँव के नहीं ठहरने से महासमुद्र में अवश्य प्राप्त हैं ॥८४॥

कहता तो बहुते मिला, गहता मिला न कोय ।
नो कहता बहि जान दे, जो न गहन्ता होय ॥८५॥

मिलन्तेऽत्र हि वक्तारो ग्रहीता मिलते न सः ।
वदन्तु तेऽत्र वक्तारो ग्रहीतारो न संति चेत् ॥२६॥
वक्तारो बहवः संति धर्मादेः श्रुतिशास्त्रयोः ।
धर्मादेर्निजतत्त्वस्य ग्रहीता विरलो जनः ॥२७॥
साक्ष्यात्मनोऽपि वक्तारो विद्यन्ते बहवो जनाः ।
अवगन्ता न कोप्यस्ति स्वाविवेकाभिमानवान् ॥२८॥

यश्च परं विवक्ता हि नावगन्ता कदाचन ।
मोहनद्याः स्यदेनासावुह्यते पात्यते ह्यधः ॥२९॥
" संसारमोहनाशाय शब्दबोधो नहि क्षमः ।
तिमिरं न निवर्तेत कदाचिद् दीपवार्तया " ॥३०॥
अतो युक्तेन मुक्तेन सङ्ग आशु विधीयताम् ।
क्रियतां च हितं स्वस्मै नापरं क्रियतां क्वचित् ॥३१॥८५॥

साखी शब्दादि के कहनेवाले बहुत मिलते हैं। परन्तु गहनेवाला कोई विरला ही मिलता है, जो गहनेवाला नहीं है, उस कहनेवाला को मोहनदी में बह जाने दो, उसके सगादि नहीं करो। या जो तुमसे गहते नहीं बने उसकी कहता ( कथा ) को त्यागो ॥८५॥

एक एक निरुवारिये, जो निरुवारी जाय ।
दुइ दुइ मुँह का बोलना, घना तमाचा खाय ॥८६॥

यतमानादिना विद्वन् वैराग्येणेन्द्रियाणि हि ।
एकैकं विनिरुन्धस्व त्वं यथाशक्ति यथाक्रमम् ॥३२॥
सत्यसंधः सदा भूत्वा ह्यसत्यं परिवर्जय ।
यतोऽसत्येन लभ्यन्ते चपेटाः शमनान्मुहुः ॥३३॥
एकं ब्रूहि सदा सत्यं न ब्रूहि संशयावहौ ।
अर्थौ द्वौ द्वौ प्रवक्ता हि चपेटा लभते मुहुः ॥३४॥
यदि ते विद्यते श्रद्धा शक्नोति यदि वा भवान् ।
एकमेव निजात्मानं विविङ्ग्धि निजसद्गुरुतः ॥३५॥
द्वैतस्यासत्यभूतस्य न दातव्यो मुमुक्षवे ।
उपदेशस्त्वया विद्वन् दाने दण्डो विधीयते ॥३६॥८६॥

एक एक इन्द्रियों का निरुआर ( निरोध ) करो, तथा एक २ वस्तु का विवेक करो। और जो तुमसे निरुवारी जाय उसीका निरु-

वार के लिये चर्चा भी करो, क्योंकि सशयजनक दो २ बातों को मुँह से बोलनेवाला घना (बहुत) तमाचा (चपेटा) खाता है ॥८६॥

प्राणी ते जिह्वा डिगा, क्षण क्षण बोल कुबोल।
मन घाले भरमत फिरे, काल हिं देत हिंडोल ॥८७॥

जिह्वा ते पतिता प्राणिन् कुशब्दं वक्ति सर्वदा।
प्रतिपलं मनश्चेदं शुभं हंति भ्रमत्यलम् ॥३७॥
ददाति तेन कालाय दोलां तद्भ्रमणाय वा।
कालो ह्यस्मै ददात्यत्र दोलां संभ्रमणाय वै ॥३८॥
असत्यरतया तावज्जिह्वयेव तमस्विनः।
नरके विनिपात्यन्ते विच्छिद्य स्वात्मतः खलु ॥३९॥
असत्यभाषिणी क्रूरा त्वसंबंधप्रलापिनी।
जिह्वा कालप्रिया ज्ञेया सुमनोघातिनी चला ॥४०॥
"कल्पनाबद्धजन्तुश्च सदा जल्पति, दोषवत्।
वपुर्नृत्यति रथ्यायां यावत्पतति भूतले" ॥४१॥८७॥

हे प्राणि! ते (तेरी) जिह्वा सत्यादि से डिगी (गिरी) है। इससे छन२ में कुबोल (कुशब्द) बोलती है। सत्यरहित मन भी तुम को घालता (नष्ट करता) है। और काल को ही मानो क्रीडा के लिये हिंडोला देता है। या तुम्हें काल पुण्यपापादिमय हिंडोला देता है इत्यादि ॥८७॥

जाके जिह्वा बध नहीं, हृदया नाहीं साच।
ताके सग न लागिये, घाले घटिया मांझ ॥८८॥

यज्जिह्वायां न बन्धोऽस्ति सत्यं च हृदये नहि ।
तेन सङ्गो न कर्तव्यो मध्यमार्गे स नाशयेत् ॥४२॥
तेन सार्द्धं गतो लोको मार्गमध्ये विनश्यति ।
पदं न लभते पूर्णं स पातयति सर्वथा ॥४३॥
सतां न सङ्गो न विवेकरङ्गो नचास्ति सत्यं हृदये तु यस्य ।
परिभ्रमन् मोहमये स लोके विनाशमेत्येव कुसङ्गमाद्य ॥४४॥८८॥

इति साक्षिसाक्षात्कारे कुसंगादिफलवर्णनं नाम पञ्चदशी वित्तिः ॥१५॥

*जिसके जीभ में बन्धन ( सत्य हित बोलने का नियम ) नहीं है ।* और हृदय में सद्भाव नहीं है, उस झूठा अविवेकी के साथ नहीं लगो, साथ लगने से वह मध्य रास्ते में डाँकू की तरह घाले ( नष्ट करै ) गा ॥८८॥

इति कुसङ्गादि फल प्रकरण ॥१५॥

## साखी ८९, विचारार्थोपदेश प्र. १६.

जिह्वा तो बन्धन देइ, बहु बोलन निरुवार ।
सारथी सो संग करी, गुरुमुख शब्द विचार ॥८९॥

सत्यां सदैव जिह्वायां बन्धं नियतिलक्षणम् ।
प्रदाय खलु वाग्मित्वं वाचालत्वं परित्यज ॥१॥
सत्यं मितं प्रवक्ता सन् वागीशत्वं समाश्रय ।
प्रियंवदत्वमाश्रित्य हितवक्ता सदा भव ॥२॥
आत्मानं रथिनं ज्ञात्वा शरीरं रथमेव च ।
इन्द्रियाख्यहयस्यात्र प्रग्रहं च मनस्तथा ॥३॥
एतत्संयमनार्थी च सद्बुद्धिं सारथिं कुरु ।

" नारुंतुदः स्यादार्तोऽपि न परद्रोहकर्मधीः।
ययाऽस्योद्विजते वाचा नालोक्यां तामुदीरयेत् ॥५॥
यस्य वाङ्मनसे शुद्धे सम्यग् गुप्ते च सर्वदा।
स तत्सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम् " ॥६-८९॥

सत्य हित मित बोलने का नियमरूप बंधन जीभ में देकर बहुत बोलना निरुआरो ( त्यागो ) और इन्द्रियरूप घोड़ा के मनरूप लगाम को पकड़नेवाला सुबुद्धिरूप सारथी से संग करके, तथा सत्पुरुष सद्गुरु के संग करके गुरुमुख से प्राप्त सारशब्द का विचार करो ॥८९॥

हिलगी भाल शरीर में, तीर रहो है टूटि।
चुम्बक विना न नीकले, कोटि पाहन गौ छूटि ॥९०॥

शरीरे प्राविशद्बाणस्तच्छल्यं त्रुटितं यदि।
तिष्ठति देहिदेहे नोन्मज्जति चुम्बकं विना ॥७॥
चुम्बकेन विना चेत्स्युः कोटयोऽन्येऽश्मराशयः।
नोत्क्रामति तथाप्येतच्छल्यं यद्धि शरीरगम् ॥८॥
यच्चासतामसद्वाक्यं बाणभूतं शरीरके।
प्रविष्टं तस्य शल्यं च वासना वर्तते हृदि ॥९॥
भवकान्तारदुर्मार्गे सहाया गुरवश्च ये।
तत्सङ्गत्या सदा तेषां वक्त्रादुच्चरितं वचः ॥१०॥
समालोच्य विचारेण हृदयाच्छल्यमुद्धर।
उपायकोटिभिश्चान्यैर्नैवमुद्ध्रियते यतः ॥११॥
कामक्रोधादयश्चान्या वासना वा विषोपमाः।
वर्तन्ते हृदये नित्यं शूलभूतास्तु दुःखदाः ॥१२॥
तेषामुद्धरणे शक्ता गुरोर्वाक् परमौषधम्।
यथा वै चुम्बकः शक्तः शल्योद्धारे नचेतरः ॥१३-९०॥

संसारी सबे विचारी, क्या विरही क्या योग ।
अवसर मारे जात हैं, चेत विराने लोग ॥९२॥

सुविचारैः समुत्पन्ने ज्ञाने माया न वाधते ।
सुविचारः सदा कार्य• सर्वैः संसारिभिस्ततः ॥२५॥
योगिभिश्च वियुक्तैश्च कार्यो ह्यन्यैश्च सर्वथा ।
विचार इति भोः प्राज्ञा ! विशेषोऽत्र क उच्यताम् ॥२६॥
प्रस्तावो नश्यति व्यर्थं भवन्तश्चान्यमानसाः ।
वर्तन्ते तच युक्तं हि प्रस्तावः सफलोऽस्तु वै ॥२७॥
नोत्पद्यते विना ज्ञानं विचारेणान्यसाधनैः ।
अन्यप्रेमरसं त्यक्त्वा स्वात्मैवातो विचार्यताम् ॥२८॥
पदार्थस्य न भानं स्यात्प्रकाशेन विना यथा ।
विचारेण विना तद्वत्स्वतत्त्वं नोपलभ्यते ॥२९॥
स्वात्मपरात्मनोरैवं जगतश्च विचारतः । ,
एकं तत्त्वं परिज्ञाय भेदं मायामयं त्यजेत् ॥३०-९२॥

हे संसारी लोगों !, क्या ( चाहे ) विरही भक्त क्या योगी होवो, परन्तु सब सुविचारी होवो । ये अमूल्य अवसर मारे ( नष्ट किये ) जा रहे हैं । हे विराने ( परवश ) लोगों ! शीघ्र चेतो ॥ 'संसारी समय विचारी, क्या गिरही क्या योग ।' इस पाठभेद का अर्थ है कि चाहे गृहस्थ वा विरक्त होवो, पर सब कोई समय पर ध्यान दो, ध्यान विना समय ही तुम सबको नष्ट करते जा रहे हैं इत्यादि ॥९२॥

संशय सब जग खंधिया, संशय खँधे न कोय ।
संशय खंधे सो जना, शब्द विवेकी होय ॥९३॥

विचारेण विना स्वात्मसंशयो न निवर्तते ।
स एव सर्वविध्वंसी तं निहन्ति न कश्चन ॥३१॥

सद्गुरोः सारशब्दस्य विवेकेनात्र यो नरः।
स्वात्मनो वै विवेकी स्यात्स हन्यात्संशयं परम्॥३२॥
विना विचारेण न जातु जायते चिरानविज्ञानजशान्तिरव्यया।
निवर्तते नैव च संशयो महान् भवाम्बुधौ ग्राहसमो भयावहः॥
३३॥९३॥

इति साक्षिसाक्षात्कारे विचारकर्तव्यतावर्णनं नाम षोडशी वित्तिः॥१६॥

विचारादि के विना संशय (दुविधा भ्रम) सब संसारी को लंघिया (खाया—नष्ट किया) और संशय का खंडन नाश कोई नहीं कर सका। संशय का (खंडन) सो जन कर सकते हैं, जो सारशब्द के विवेकपूर्वक आत्मविवेकी हो सक्ते हैं॥ "नैषा तर्केण मतिरापनेया, प्रोक्ताऽन्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ॥" हे प्रेष्ठ! (प्रियतम!) यह आत्ममति तर्क से प्राप्त या निषेध करने योग्य नहीं है, किन्तु नास्तिकादि से अन्य सद्गुरु से ही उपदिष्ट यह मति आत्मसाक्षात्कार के हेतु होती है॥९३॥

इति विचारार्थोपदेश प्रकरण॥१६॥

## साखी ९४, ज्ञान में विचारसाध्यता प्र. १७.

बोलता है बहु भांति के, नयनन नहिं कछु सूझ।
कहहिं कबीर पुकारि के, घट घट बाणी बूझ॥९४॥

शब्दो बहुविधो वाच्यः सत्यं नैवैनं दृश्यते।
विचारेण विना तस्मात्सत्यमार्गो न लभ्यते॥१॥
अतः सर्वेषु देहेषु वर्तमानस्य चात्मनः।
उपदेशं गुरोः श्रुत्वा स्वात्मानं त्वं विचारय॥२॥

संसारी सबै विचारी, क्या विरही क्या योग ।
अवसर मारे जात हैं, चेत विराने लोग ॥९२॥

सुविचारैः समुत्पन्ने ज्ञाने माया न वाधते ।
सुविचारः सदा कार्य सर्वैः संसारिभिस्ततः ॥२५॥
योगिभिश्च वियुक्तैश्च कार्यो ह्यन्यैश्च सर्वथा ।
विचार इति भोः प्राज्ञा ! विशेषोऽत्र क उच्यताम् ॥२६॥
प्रस्तावो नश्यति व्यर्थं भवन्तश्चान्यमानसाः ।
वर्तन्ते तच्च युक्तं हि प्रस्तावः सफलोऽस्तु वै ॥२७॥
नोत्पद्यते विना ज्ञानं विचारेणान्यसाधनैः ।
अन्यप्रेमरसं त्यक्त्वा स्वात्मैवातो विचार्यताम् ॥२८॥
पदार्थस्य न भानं स्यात्प्रकाशेन विना यथा ।
विचारेण विना तद्वत्स्वतत्त्वं नोपलभ्यते ॥२९॥
स्वात्मपरात्मनोरेवं जगतश्च विचारतः ।
एकं तत्त्वं परिज्ञाय भेदं मायामयं त्यजेत् ॥३०-९२॥

हे ससारी लोगों ! क्या ( चाहे ) विरही भक्त क्या योगी होवो, परन्तु सब सुविचारी होवो । ये अमूल्य अवसर मारे ( नष्ट किये ) जा रहे हैं । हे विराने ( परवश ) लोगों ! शीघ्र चेतो ॥ 'संसारी समय विचारी, क्या गिरही क्या योग ।' इस पाठभेद का अर्थ है कि चाहे गृहस्थ वा विरक्त होवो, पर सब कोई समय पर ध्यान दो, ध्यान विना समय ही तुम सबको नष्ट करते जा रहे हैं इत्यादि ॥९२॥

संशय सब जग खंधिया, संशय खँधे न कोय ।
संशय खंधै सो जना, शब्द विवेकी होय ॥९३॥

विचारेण विना स्वात्मसंशयो न निवर्तते ।
स एव सर्वविध्वंसी तं निहन्ति न कश्चन ॥३१॥

सद्गुरोः सारशब्दस्य विवेकेनात्र यो नरः ।
स्वात्मनो वै विवेकी स्यात्स हन्यात्संशयं परम् ॥३२॥
विना विचारेण न जातु जायते विरागविज्ञानजशान्तिरव्यया।
निवर्तते नैव च संशयो महान् भवाम्बुधौ ग्राहसमो भयावहः॥
३३॥९३॥

इति साक्षिमाक्षात्कारे विचारकर्तव्यतावर्णनं नाम षोडशी वित्ति ॥१६॥

विचारादि के विना संशय (दुविधा भ्रम) सब संसारी को खा गया (खाया—नष्ट किया) और संशय का खण्डन नाश कोई नहीं कर सका। संशय का (खंडन) सो जन कर सकते हैं, जो सारशब्द के विवेकपूर्वक आत्मविवेकी हो सकते हैं॥ "नैषा तर्केण मतिरापनेया, प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ॥" हे प्रेष्ठ! (प्रियतम!) यह आत्ममति तर्क से प्राप्त या निषेध करने योग्य नहीं है, किन्तु नास्तिकादि से अन्य सद्गुरु से ही उपदिष्ट यह मति आत्मसाक्षात्कार के हेतु होती है॥९३॥

इति विचारार्थोपदेश प्रकरण ॥८६॥

## साखी ९४, ज्ञान में विचारसाध्यता प्र. १७.

बोलना है बहु भाँति के, नयनन नहिं कछु सूझ।
कहहिं कबीर पुकारि के, घट घट बाणी बूझ॥९४॥

शब्दो बहुविधो वाच्यः सत्यं नेत्रैर्न दृश्यते ।
विचारेण विना तस्मात्सत्यमार्गो न लभ्यते ॥१॥
अतः सर्वेषु देहेषु वर्तमानस्य चात्मनः ।
उपदेशं गुरोः श्रुत्वा स्वात्मानं त्वं विचारय ॥२॥

चक्षुः सत्यं श्रुतौ प्रोक्तं लोके विश्वासकृद्यतः ।
अस्तीदं तु महच्चित्रं चक्षुर्दृष्टं जगन्मृषा ॥३॥
नेत्रैः सारे ह्यदृश्ये तु बहुशब्दश्रुतौ तथा ।
सर्वं श्रुत्वा विवेकेन ततः सारं पृथक् कुरु ॥४ ९४॥

सारशब्द का विवेक अवश्य करना चाहिये, क्योंकि बोलना (शब्द) बहुत प्रकार के हैं, और नेत्र से कुछ भी सत्य वस्तु धर्म स्वर्गादि दीख नहीं पड़ते हैं कि जिससे देखकर निश्चय कर लिया जाय। नेत्र के विषय संसार मिथ्या ही है, इससे साहब का कहना है कि घटर की वाणी को बूझो (विचारो–समझो) और सारशब्दादि का विवेक करो, या सब घट में वर्तमान ब्रह्मात्मा के बोधक वाणी को समझो, अन्यथा शब्दजाल से संसार की निवृत्ति नहीं हो सकती है ॥९४॥

मूल गहन ते काम है, तैं मति भरम भूलासि ।
मन सायर मनसा लहर, बहीं कतहु मति जासि ॥९५॥

मूलात्मग्रहणेनैव कार्यसिद्धिर्भविष्यति ।
शब्दजालेऽन्यदृश्ये वा भ्रम्यतां न कदाचन ॥५॥
भ्रान्तानामिह जीवानां मन एव सरित्पतिः ।
मनोरथो रयस्तस्य न ताभ्यामुह्यतां क्वचित् ॥६॥
विचारमुत्सृज्य हि यश्च धावति,
मनो विकल्पे न तु जातु चिद्घने ।
परिव्रजन् संसृतिमेव शाश्वतीं,
भवाम्बुवेगेन सदा स उह्यते ॥७॥९५॥

इति साक्षिसाक्षात्कारेऽद्वयात्मानुभवस्य विचारैकसाध्यतावर्णनं नाम सप्तदशी वित्ति ॥१७॥

हे सज्जनो ! मूल ( सारशब्द सत्यात्मा ) के गहने ( विवेक निष्ठा ) से ही काम ( कार्य–मोक्ष ) की सिद्धि होती है। इससे तैं ( तुम ) भरम ( अनात्म शब्दजाल ) में मति ( नहीं ) भूलो। और मनरूप सायर ( समुद्र ) मनसा ( मनोरथ ) रूप लहर (तरंग) के वश होकर कहीं बह नहीं जाओ ॥ भगवान् मनु ने कहा है कि– "वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानमिन्द्रियाणां च संयमः। अहिंसा गुरुसेवा च निःश्रेयस्करं परम् ॥ सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम्। तद्ध्यग्र्यं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः ॥९५॥

इति ज्ञान में विचारसाध्यता प्रकरण ॥१७॥

## साखी ९६, मनोमनोरथवशवर्ती की दशा प्र. १८

भँवर बिलम्बा बाग में, बहु फूलन की बास।
जीव बिलम्बा विषय में, अन्तहु चला निराश ॥९६॥

भ्रमरा गन्धलोभेन सज्जन्त्युपवने यथा।
तथा वासनया जीवा आसक्ता विषये भ्रमात् ॥१॥
मनोमनोरथाख्यां च बद्धाः सर्वेऽविवेकिनः।
अन्तेऽतृप्ता हि गच्छन्ति कामेन यमसद्मनि ॥२॥
राज्येन लभते भोगो भोगस्यान्ते न किञ्चन।
एतद्विमृश्य धीरास्तु मोक्षार्थं चिन्तयन्ति हि ॥३॥
तपो भोगाय कुर्वन्ति भोगान्नश्यति तत्तपः।
मन्त्रादिशुद्धचित्तानां तपोभोगमतिः कुतः ॥४॥
यस्य मित्रं न शत्रुश्च नोपादेयादिविभ्रमः।
आत्मनिष्ठो मुनिः कामाद् घटेत तपसे कथम् ॥५-९६॥

जैसे भवँरा बहुत फूलों की बास ( गंध ) से बाग में विलमता ( आसक्त होता ) है। तैसे ही सब जीव सुखादि की इच्छा से विषयों में विलमे हैं, इससे सुख तृप्ति चाहते हैं, परन्तु अन्त में निराश ( हताश ) होकर चलते हैं ॥९६॥

भवँरजाल बकजाल है, बूडे बहुत अचेत ।
कहहिं कबिर ते बाचि हैं, जाके हृदय विवेक ॥९७॥

संसारसागरे रूढा आवर्ता विषया मता ।
चक्रीभूता नरास्तत्र पतति स्वाविवेकत: ॥६॥
विवेकिनस्तु ये धीरा निमज्जति न तेषु ते ।
अन्ये तत्र निमज्जति ह्यहो मोहकदर्थना ॥७॥९७॥

ससार के वर्तमान विषय भवर जाल हैं ( भवर तुल्य जीव को फसानेवाले हैं ) भावि विषय बकजाल ( बकवृत्ति को फँसानेवाले ) हैं। या सब विषय ससारसमुद्र के बक ( वक्र ) भवँर ( आवर्त ) जालरूप हैं। इससे बहुत अचेत लोग बूड गये, वे ही बचेंगे कि जिनके हृदय में सारासारादि के विवेक होगा ॥९७॥

तीनि लोक टीडी भया, ऊडा मन के साथ ।
जाने बिन भटकत फिरै, परे काल के हाथ ॥९८॥

त्रिलोकीवासिनोऽभूवन् बृहद्वनपतङ्गवत् ।
मनसा सह चोड्डीना भ्रमति च पतति च ॥८॥
सदात्मनोऽपरिज्ञानात्स्वयमेवाविवेकिन. ।
कालस्य वशतां याति सहन्ते च कदर्थनाम् ॥९८॥

विवेकादि विना तीनों लोक के जीव टीड़ी तुल्य हो रहे हैं, मनोरथादि के अनुसार मन के साथ ऊड रहे हैं। और जाने विना ( सत्यज्ञान विना ) भटकते फिरते हैं जिससे वार २ काल के हाथ में पड़ते हैं। "हरिजन हरि जाने विना" इस पाठ का भाव है कि हरिजन को हरिरूप जाने विना, हरिजन होकर हरि को जाने विना, हरिजन और हरि को पहचानने विना काल के हाथ में पड़ते हैं ॥९८॥

नाना रंग तरंग है, मन मकरन्द असूझ ।
कहहिं कबीर पुकारिके, अकल कला ले बूझ ॥९९॥

मनसो बहुरूपाणि तरङ्गा भववारिधेः ।
विह्वलाः खलु तैरेते विनिमज्जन्त्यबुद्धयः ॥१०॥
विषयानन्दरूपस्य मकरन्दस्य पानतः ।
माद्यति भ्रमरश्चायं मनोरूपो दुराशया ॥११॥
मनसस्तस्य सङ्गेन जीवाश्चापीह दुर्धियः ।
मकरन्दं सदानन्दं पश्यंति न कदाचन ॥१२॥
अतस्तत्सङ्गतिं त्यक्त्वा बुद्ध्या सत्कौशलेन च ।
अकलं सकलं चैव विवेकेन सुबुध्यताम् ॥१३-९९॥

मन के कामभयादिरूप नाना रंग ( आकार ) ही संसार समुद्र के तरंग हैं। और विषयरसरूप मकरन्द ( पुष्परस ) के पान से मनरूप भवँरा असूझ ( अंध ) हुआ है। इससे साहब पुकार के कहते हैं कि उस मन का साथ छोड़ो, और अकल ( बुद्धि ) की कला ( प्रभाव ) से सत्य को बूझ समझ लो॥ या मन के नानारूप तरङ्ग के मारे मन में वर्तमान मकरन्द ( परमानन्द ) नहीं सूझता है। तुम अकल ( निरवयव निर्गुण ) और प्राणादि कलाओं को समझ लो ॥९९॥

बाजीगर का बान्दरा, अस जिव मन के साथ ।
नाना नाच नचाय के, राखे अपने हाथ ॥१००

मनीषया विना मूढाः स्वार्थशालिमनोवशे ।
*भूत्वा भ्रमंति संसारे नटस्य मर्कटा यथा ॥१४॥*
भ्रामयित्वा तु सर्वास्तद्रक्षति स्वकरे जनान् ।
स्ववशे स्थापयत्येतान् नटो हि मर्कटान् यथा ॥१५ १००

बाजीगर ( नट ) के वानर की तरह अज्ञ जीव मन के साथ हैं और वह स्वार्थी मन नट के समान इन्हें नाना नाच नचाकर अप हाथ ( वश ) में रखता है ॥१००॥

मन रंगे सब रंगिया, रंगिया रंग कुरंग ।
कहहिं कबिर कस बाँचि हो, बसेहु शब्द के संग ॥१०१

मनसो वशवर्तित्वात् कामाद्यैर्हि मनोगुणैः ।
ह्रीभीभ्यां च सदाऽभद्रे रञ्जिताः सर्वजन्तवः ॥१६॥
अहो दौर्भाग्यमेतेषां मनसः सात्विकैर्गुणैः ।
वैराग्यधर्मविज्ञानैः सजंति न कदाचन ॥१७॥
समासक्तं यथा चित्तं जन्तोर्विषयवर्त्मनि ।
यद्येवमात्मनि स्यात् तत् को न मुच्येत बन्धनात् ॥१८
मनोरूपं जगत्सर्वं न विना तेन किञ्चन ।
असारशब्दसंगत्या नैतस्मान्मुच्यते जनः ॥१९॥
कुशब्दैः सह वासोऽस्ति कथं मुक्तो भविष्यसि ।
अद्यापि कुत्सितं सङ्गं त्यज मुक्तो भविष्यसि ॥२०-१०१

मन के रंग में सब जीव रंगे हैं, परन्तु धर्म ज्ञान वैराग्य ऐ भक्ति आदि सुरंग से नहीं रंगाकर कुरंग अधर्मादि से रंगे हैं, -

असार शब्दादि के सग बसते हैं, साहब का कहना है कि इस अवस्था में मन के फन्दे से कैसे बँच सकते हो ॥१०१॥

इ मन चञ्चल इ मन चोर, इ मन शुद्ध ठग हार।
मन मन कहत सुर नर मुनि, मन के लक्ष दुआर ॥१०२॥

असारशब्दसंगत्या मनो भवति चञ्चलम्।
चौर्यं च वञ्चकत्वादि स्वीकरोति कुयोगतः ॥२१॥
एतदेव मनः सारशब्दसंगात्सुहृद् भवेत्।
शुद्धतां समुपादत्ते रक्षणाय निरन्तरम् ॥२२॥
मन एव स्वयं ब्रह्मा मन एव जगत्पतिः।
सुरा नराः प्रभाषन्ते द्वाराणि लक्षमस्य च ॥२३॥
मनसो बहुरूपत्वमात्मा त्वेकरसः शिवः।
असङ्गः साक्षिरूपश्च सदेति मुनिभाषितम् ॥२४॥
"मन एव हि संसारो मनश्चागाढबन्धनम्।
यन्मनस्तन्मयो मर्त्यः सत्यमेतन्न संशयः" ॥२५॥
मनोविकल्पैः खलु जीवसङ्घा बद्धाः सदा वासनया भ्रमन्ति।
विवेकवैराग्यवता च तेन विज्ञाय तत्त्वं मुदमेति मुक्तिम् ॥२६-१०२॥

इति साक्षिसाक्षात्कारे मनोविलासवर्णन नामाष्टादशी वित्तिः ॥१८॥

असारशब्द के सगादि से मन ही चञ्चल चोर ठगहारादि होता है। और सारशब्दादि से शुद्ध धर्मादियुक्त भी होता है। इससे विवेकी देव मुनि मनुष्यलोग कामादि प्रपञ्च को मनही रूप कहते हैं। और उस मन की गति के लाखों द्वार बताते हैं इत्यादि ॥१०२॥

इति मनोमनोरथ वशवर्ती की दशा प्रकरण ॥१८॥

## साखी १०३, विरहकदर्थना प्र. १९.

विरह भुवंगम पैठिके, कीन्ह कलेजे घाव ।
साधु अंग नहिं मोरहिं, ज्यों भावे त्यों खाव ॥१०३॥

पत्युर्वियोगबुद्ध्या ये वेषवन्तोऽपि सज्जनाः ।
विरहाय मनो दत्तं विचाराय न तैस्तथा ॥१॥
विरहात्मा भुजङ्गश्च चित्ते दशति सर्वदा ।
सर्वस्वं भक्षते चैषां ह्युपित्वा वियोगिनाम् ॥२॥
भक्षतां स यथेष्टं च मतिस्त्वित्थं वियोगिनाम् ।
अतो नैते च तत्सर्पादङ्गं प्रावर्तयन्ति हि ॥३-१०३॥

उक्त चञ्चल मन आदि से सिद्ध परमात्मपति का विरह ( वियोग ) रूप भुवगम ( सर्प ) ने मनुष्यों के कलेजे ( हृदय ) में घाव (शोकादि) किया है। और साधु ( विरही भक्तादि ) उस सर्प से अपने अग ( गात ) को मोरते ( हटाते ) नहीं हैं, किन्तु उस सर्प को जैसे भावे ( अच्छा लगे ) तैसे खाय, ऐसा समझते हैं इत्यादि ॥१०३॥

करक करेजे गड़ि रहा, वचन वृक्षि के फांस ।
निकसाये निकसे नहीं, रहा सो काहु गांस ॥१०४॥

असद्वाक्तीक्ष्णशल्यं हि मग्नं यद्धृदि वर्तते ।
दुनोत्येवानिशं तन्नवोद्ध्रियेत यत्नतः ॥४॥
श्रद्धया जडया लोको विरहेणातिपीड्यते ।
गुरवः किं हि कुर्वन्तु ह्यसाध्याऽयोगवेदना ॥५॥
" स्वरूपे ह्यात्मनः स्थानमाहुर्निःश्रेयसं परम् ।
ततोऽन्येनाभिसंबन्धस्त्वज्ञानाद्दुःखकारकः " ॥६-१०४॥

मन तो विरहादि के कारण है ही, मिथ्या वचनरूप बर्छी के पॉस ( नोंक कार्णिका ) भी अज्ञों के हृदय में गड़ ( धस ) रहा है। और कलेजे में करकता ( चूभता ) है, निकालने से भी नहीं निकलता, किसी न किसी गाँसि ( सँधि-) में वह रही गया है ॥१०४॥

विरह भुवंगम तन डॅस्यो, मन्त्र न मानै कोय।
राम वियोगी ना जिवै, जिवै तो बौरा होय ॥१०५॥

विरहेण भुजङ्गेन दष्टमस्ति हि यन्मनः।
स कश्चिदपि सन्मन्त्रं न शृणोति न मन्यते ॥७॥
मन्त्रस्याश्रवणात्सोऽत्र रामस्य विरहीव सन्।
अजरात्मस्वरूपेण नो जीवत्युन्मदायते ॥८॥
"यो हि प्रकुरुते भेदं स्वात्मनश्च परस्य च।
भिन्नदृष्टेर्भयं तस्य मृत्युः कुर्यान्न संशयः" ॥९॥
भयाद्विरहदुःखाच्च जीवंश्च विरही नरः।
मृतवन्मत्तवन्नित्यं वेत्ति नैव हिताऽहितम् ॥१०-१०५॥

परमात्मपति के विरह का निश्चयरूप सर्प ने जिनके तन ( मन ) में काटा है, वे लोग सदुपदेशरूप कोई मन्त्र नहीं मानते हैं, न उनका विष उतरता है, इससे राम के वियोगी जीव अमरात्मरूप से नहीं जीते हैं, शरीररूप से जबतक जीते हैं, तबतक भी भय दुःख प्रेमादि से बावरा की तरह जीते हैं इत्यादि ॥१०५॥

राम वियोगी विकल तन, इन दुखवै मति कोय।
छूवत ही मरि जाहिंगे, ताला बेली होय ॥१०६॥

रामाद् वियोगिनश्चित्तं विह्वलं वर्तते सदा ।
शरीरं तापयुक्तं च दयनीया भवंति ते ॥११॥
बुद्धिभेदो न फर्तव्यो वियुक्तानां त्वया क्वचित् ।
ज्ञानेष्वनधिकारित्वान्मा ते भ्रष्टा भवन्त्विति ॥१२॥
निष्कामे भक्तिमार्गे ते योजनीयाः सुकर्मणि ।
कालेन शुद्धचित्ताश्च शान्तात्मानो विमत्सरा. ॥१३॥
विमदा वीतरागाश्च मुमुक्षादिसमन्विताः ।
विचार्य गुरुमन्विष्य लप्स्यन्ते हि परां गतिम् ॥१४॥
रामाद्वियोगात्मकजिह्मगेन दष्टः प्रमत्तो हि नरो विमुह्यन् ।
शृणोति मन्त्रं न बुधैः प्रयुक्तं न तं स्पृश एवं म्रियतेऽन्यथा सः ॥
१५-१०६॥

इति साक्षिसाक्षात्कारे विरहकदर्थनावर्णन नामैकोनविंशी वित्तिः ॥१९॥

रामवियोगी का देह दुःख से विकल ( व्याकुल ) रहता है, इन वियोगियों को। कोई दुसावो नहीं, ये छूवतही ( छेंड़ते ही ) मरि जाहिंगे ( मूर्छित उभयभ्रष्ट होंगे ) क्यों कि ये लोग तालाबेली ( लज्जावन्ती की तरह, या ताप से तलफते की तरह ) होते हैं ॥१०६॥

इति विरह कदर्थना प्रकरण ॥१९॥

## साखी १०७, कालादि कदर्थना प्र. २०.

काला सर्प शरीर में, खाइन सब जग झारि ।
विरला ते जन बाँचि हैं, रामहिं भजै विचारि ॥१०७॥

तमोऽहङ्कारपापात्मा भुजङ्गो वर्तते हृदि ।
महाविषधरः कृष्णः क्षिणोति स्म जगन्मुहुः ॥१॥

यो विचार्य परात्मानं रामं भजति कोविदः।
स सर्वसुहृदं नित्यं रामं लब्ध्वा विमुच्यते ॥२॥
आत्मना परमेदस्य भेदकं तु यदैव हि।
विभाति हृदि विज्ञानं तदा माया विलीयते ॥३॥
मायाया विलये विद्वन् कालसर्पो जगद्रिपुः।
न जाने कुत्र यात्येष पुनर्नायाति चांतिके ॥४-१०७॥

आत्माराम की प्राप्ति विना अहंकार पाप कालादिरूप काले सर्प सबके शरीर में वर्तमान हैं। और सब जग को झारि (ढूढ़) कर खा गये। वे ही विरले जन इन सर्पों से बचेंगे जो सारशब्द के द्वारा विचार करके राम ही को भजेंगे ॥१०७॥

काल खड़ा शिर ऊपरे, जागु विराने मीत।
जाका घर है गैल में, सो क्यों सोव निचीत ॥१०८॥

शीर्षे तिष्ठति कालोऽत्र जागर्तु परमित्रक!।
जनशून्ये गृहं यस्य सुप्यात्स निःस्मृतिः कथम् ॥५॥
बुध्यतां त्यज्यतां कामो मोहनिद्रां परित्यज।
प्रमादो नात्र कर्तव्यः कालः शिरसि वर्तते ॥६॥
शत्रवो बहवस्तेऽत्र स्वेन्द्रियाणि मनस्तथा।
कामादयस्तथा चौराः कथं स्वपिसि निर्भयम् ॥७॥
गृहं ते हृदि चैकान्ते सहायोऽन्यो न विद्यते।
अत्र स्वापो न युक्तस्ते निरुद्योगो न शोभसे ॥८॥
"प्रारब्धव्ये निरुद्योगो जागर्तव्ये प्रसुप्तकः।
विश्वासेन भयस्थाने हा नरः को न हन्यते" ॥९-१०८॥

हे विराने मीत! (अनात्मप्रेमियो!) शिर के ऊपर काल खड़ा है, जागो, (मोहादि त्यागो) जिसका घर गैल (एकान्त–वा मार्ग) में

है सो निश्चिन्त होकर कैसे सो सकता है । तेरा घर भी एकान्त हृदय में है, संसारमार्ग में है जहाँ कामादि चोर कालादि डाकू का भय रहता है, जागने से भय नष्ट होती है इत्यादि ॥१०८॥

कलि काठी कालो घुना, यतन यतन घुन खाय ।
काया मध्ये काल बस, मरम कोइ नहिं पाय ॥१०९॥

कलिं काष्ठं घुणः कालो बहुयत्नैर्हि खादति ।
देहमध्ये वसन्नित्यं रहस्य कोपि वेत्ति न ॥१०॥
अज्ञानमोहयुक्तो हि नरः कलिरिति स्मृतः ।
काष्ठभूतं च तं नित्यं कालकीटो ग्रसत्यलम् ॥११॥
संशयाद्यात्मकः कालः सर्वेषां हृदि वर्तते ।
विचाराद्यैर्विना चैनं विन्दन्ति नाऽविवेकिनः ॥१२॥
शरीरं कलिरूपं च कालो भक्षति सर्वदा ।
मूढश्च नाभिजानाति शरीरं मन्यते स्थिरम् ॥१३॥१०९॥

[ कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः । उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृत सम्पद्यते चरन् ॥ ] इस शास्त्रवचन के अनुसार मोहनिद्रा से सोया हुआ पुरुष कलि है, तथा कलह कामादि के आश्रय उसके मन शरीरादि कलि हैं सो काष्ठ तुल्य हैं । और यमसंशयादिरूप काल घुन ( काष्ठकीट ) हैं । सो उन काष्ठों को बहुत यतन से खा रहे हैं । या बहुत यतन करने पर भी खा रहे हैं । और वे काल देह के अन्दर बसते हैं । परन्तु गुरुगम रहित कोई मनुष्य उसके भेद नहीं जानते हैं ॥१०९॥

मन माया की कोठरी, तन संशय का कोट ।
विषहर मन्त्र न मानये, काल सर्प का चोट ॥११०॥

मनो मायागृहं यावत्तनुः संशयसालकः ।
मन्त्रं विषहरं नैव मन्यते यावदेव च ॥
तावत्कालाख्यसर्पस्य वेगो नैव निवर्तते ॥१४॥
शरीरे स्थैर्यविभ्रान्तौ छलभ्रान्त्यादिरूपिणी ।
माया मनोगृहे गत्वा विद्यते चात्र निर्भया ॥१५॥
मायायाश्चात्र संवासे देहः संशयसालताम् ।
गच्छत्यत्र च कालाख्यः सर्पो वसति सर्वदा ॥१६॥
कालस्य वशतां यातो जीवः सद्गुरुदेशनाम् ।
न शृणोत्येव चेन्मन्त्रं गुरुस्तस्य करोतु किम् ॥१७॥
" यस्मै देवाः प्रयच्छन्ति पुरुषाय पराभवम् ।
बुद्धिं तस्यापकर्षन्ति विपरीतं स पश्यति ॥१८॥
न कालो दण्डमुद्यम्य शिरः कृन्तति कस्यचित् ।
कालस्य बलमेतावद्विपरीतार्थदर्शनम् " ॥१९-११०॥

उक्त भेद के ज्ञान विना यह मन छल भ्रान्त्यादिरूप माया की कोठरी बना है, देह संशयों का कोट हुआ है । या दुष्ट मन और माया की कोठरीरूप तनु संशय का कोट बना है । इसीसे कालरूप सर्प का चोट ( आक्रमण ) बार २ होता है, और वह विषहर मन्त्र को नहीं मानता है । न उसके वशवर्ती जीव ही उपदेशरूप मन्त्र को मानते हैं ॥११०॥

मन माया दुइ एक हैं, माया मनहिं समाय ।
तीनि लोक संशय परी, काहि कहो समुझाय ॥१११॥

मनोमाये न भिन्ने स्तो यतो मनसि साविशत् ।
संशयं जनयन्ती च त्रिषु लोकेषु वर्तते ॥२०॥

विश्वरूपतयैवेदं तनोति मलिनं मनः ।
इंद्रोऽपि मायया चैतद्बहुरूपं तनोति हि ॥२१॥
ताभ्यां जगति संव्याप्ते कस्मै स्यात्मोपदिश्यताम् ।
अनात्मनि शरीरादौ कस्त्वाग्रह विसज्जति ॥२२-१११॥

मन और माया दोनों एकही स्वभाव के हैं, और माया मन के अन्दर समाती है, जिससे तीनों लोक में माया ही संशयरूप से परी (व्याप्त) है। उस मन की शुद्धि विना किससे क्या समझाकर कहा जाय ॥१११॥

बेढ़ा दीन्हो खेत को, बेढ़ा खेतहिं खाय ।
तीनि लोक संशय परी, काहि कहो समुझाय ॥११२॥

क्षेत्राणामत्र रक्षायै मनोऽङ्गैर्वरणः कृतः ।
मायामयं जनैर्मोहात्तच्च तान्यत्ति सर्वदा ॥२३॥
दुष्कर्मादौ प्रवृत्यैतान् संशयांश्च प्रसूयते ।
संशयाक्रान्तलोकेभ्यः कथमात्मोपदिश्यताम् ॥२४॥
श्रद्धां भक्तिं विना तावदुपदेशाः फलन्ति न ।
ताभ्यां विना गुरुः कस्मै किं बोधयतु तत्त्वतः ॥२५-११२॥

लोगों ने देह खेत की रक्षा के लिये उक्त मन का बेढ़ा (बाड़ा) दिया है, सो बेढ़ा मनही कुमार्ग में प्रवृत्त कराकर इसे खाता (नष्ट करता) है। और इस मन से ही तीनों लोक में संशय व्याप्त है, फिर किसको क्या समझा कर कहा जाय ॥११२॥

मन सायर मनसा लहर, बूड़े बहुत अचेत ।
कहहिं कबिर ते बांचि हैं, जिनके हृदय विवेक ॥११३॥

मनोरूपसमुद्रस्य मनोरथतरङ्गके ।
समासक्ता निमज्जन्ति परं नैव विवेकिनः ॥२६॥
मनसैवेन्द्रजालश्रीर्जगत्यां प्रवितन्यते ।
यावल्लसति चैतद्धि तावत्तत्त्वकथा कुतः ॥२७॥
रामाद्वियोगेन हि वर्ततेऽयं कालः सदा मूर्द्धनि मानसस्य ।
विकल्पजालैः सततं निविष्टं सुखं कथं विन्दतु मन्दबुद्धिः ॥२८॥
विवेकिनस्तु प्रनिपद्य रामं मनोरथं चैव मनो विजित्य ।
कामादिकं संपरिवर्ज्य धीराः कालादिमुक्ताः सुखिनो भवंति ॥
२९-११३॥

इति साक्षिसाक्षात्कारे कालादिकदर्थनावर्णन नाम विंशी वित्तिः ॥२०॥

मनोमय इस संसारसमुद्र में मनसा ( मनोरथ ) रूप लहर ( तरङ्ग ) के मारे बहुत अचेत ( अविवेकी ) लोग बूड़ही गये। वे ही लोग इससे बचेंगे कि जिनके हृदय में आत्मानात्मादि के विवेक विज्ञानादि होंगे इत्यादि ॥११३॥

इति कालादि कदर्थना प्रकरण ॥२०॥

## साखी ११४, कुटिल मनकृत कुगति प्र. २१.

सायर बुद्धि बनाय के, बाम विचक्षण चोर ।
सब दुनियाँ जहड़े गया, कोइ न लागा ठौर ॥११४॥

वामभूतो मनश्चौरः समुद्रीकृतदुर्मतिः ।
वञ्चयित्वा जगत् सर्वं संपातयति सागरे ॥१॥
एतेन वञ्चिताः सर्वे संयाता वाममार्गिणः ।
विचक्षणाश्च ते चौराः सर्वस्वं यद्धरंति हि ॥२॥

अशुद्धे शुद्धताबुद्ध्या त्वनात्मन्यात्मताधिया ।
आत्मानं च परं चैवं पीडयन्तः कुबुद्धयः ॥३॥
भ्रामयन्तो जनान् सर्वांस्त्रासयन्तो जगत्तथा ।
पतंति नरके घोरे गच्छन्ति नो परं पदम् ॥४॥
वामभूतमनोदेशैर्वाममार्गिजनैस्तथा ।
वञ्चितं वै जगत्सर्वं नालगत्कोपि सत्पदे ॥५-११४॥

विचक्षण ( चतुर ) चोररूप वाम ( कुटिल कुमार्गी ) मन या वाममार्गी, बुद्धि को भी सायर ( भयावह—ससारपरायण ) बनाकर सब दुनियाँ में स्वय जहड़ने के लिये गया, और दुनियाँ को भी जहड़ाया। इससे कोई जीव सत्य ठौर में नहीं लगा [ अन्तः शाक्ताः बहिः शैवाः सभामध्ये च वैष्णवाः । नानारूपधराः कौला विचरन्ति महीतले ॥ ] कौलाः ( वाममार्गिणः ) इस वचन से भी स्पष्ट चोरत्व की प्रतीति होती है ॥११४॥

मानुष व्हे के नहिं मुवा, मूवा डाँगर ढोर ।
एको जीवहिं ठौर नहिं, भै सो हाथी घोर ॥११५॥

इत्थंभूताऽसदाऽऽचारा मानुष्यं नात्र लेभिरे ।
असंख्याता मनुष्येषु मृत्वाऽपि पशवोऽभवन् ॥६॥
सत्येवात्र हि मानुष्ये स्वर्गो मोक्षश्च लभ्यते ।
मोक्षो दूरतरस्तेभ्यो ये मानुष्यं न लेभिरे ॥७॥
निद्रा मैथुनमाहारः सर्वेषां प्राणिनां समम् ।
ज्ञानवान् मानवः प्रोक्तो ज्ञानहीनः पशुः स्मृतः ॥८॥
कोपि भूत्वा मनुष्यो न मृतः किन्तु वृषादिकः ।
भूत्वा मृतो न कोप्यातो लब्धवान् स्थानमुत्तमम् ॥९॥

स्थानालाभाच्च हस्त्यश्वमुखासु बहुयोनिषु ।
भ्रमति स हि मूढात्मा क्लेशं च सहते मुहुः ॥१० ११५॥

उक्त वामविचक्षण चोर के वशवर्ती कोई मनुष्य वस्तुतः मनुष्य होकर नहीं मरा, किन्तु ढॉगर ढोर ( निंदित पशु बैल ) होकर मरा। इससे ऐसा एको जीव ठौर नहीं लगा ( मुक्त नहीं हुआ ) न मरने पर स्वर्गी वा मनुष्य हो सका। किन्तु हाथी घोड़ा आदि हुआ इत्यादि ॥११५॥

मनुष विचारा क्या करै, जाके शून्य शरीर ।
जो जिय झाँकि न ऊपजै, काह पुकार कबीर ॥११६॥

शून्यं हि हृदयं यस्य सद्विचारेण वर्तते ।
सदीनो मानुषो लोके किं करोत्यात्मने हितम् ॥११॥
यस्यात्मदर्शनं नैव कथञ्चिचेह जायते ।
गुरवोऽपि महात्मानः कथञ्चोपदिशन्तु तम् ॥१२॥
सद्विवेकादिभिः शून्यं यस्य चास्ति कलेवरम् ।
तस्मिन्मनुष्यता नास्ति सत्सुबोधादिलक्षणा ॥१३॥
अतो मनुष्यताबुद्ध्या कर्तव्यं नात्र किञ्चन ।
आत्मदृष्टेरसंभूतौ वक्तव्यं शोभतेऽत्र किम् ॥१४॥
किमन्येन विचारेण यस्य शून्यं कलेवरम् ।
तद्दर्शनं न चेज्जातमन्यस्तुत्या भवेत्किमु ॥१५-११६॥

वह विचारा ( दीन ) मनुष्य अपना हित पुरुषार्थ क्या कर सकता है, कि जिसका शरीर सद्विचारादि से शून्य ( रहित ) है। और यदि उसको झाँकि ( आत्मदर्शनादि ) नहीं उत्पन्न होता, तो कबीर ( गुरु ) भी क्या कहाँतक पुकारें ( कहें )॥ या जिसका शरीर सद्विचारादि

से रहित है, उसमें मनुष्यता का विचार क्या करते हो, उसे पशु ही समझो इत्यादि ॥ या हे मनुष्यों ! अन्य विचार क्या करते हो, जिस परब्रह्म का शून्य ( आकाश ) भी शरीर है, यदि उसका दर्शन नहीं हुआ तो अन्य के पुकारने से क्या इत्यादि ॥११६॥

मानुष ते बड़ पापिया, अक्षर गुरुहिं न मान ।
बार बार वक कूतिया, गर्भ धरे अवधान ॥११७॥

सावधानेन चित्तेन सद्गुरोरुपदेशनम् ।
श्रुत्वा ये नाभिमन्यन्ते तेऽतिपापात्मका नराः ॥१६॥
" सोपानभूतं मोक्षस्य मानुष्यं प्राप्य दुर्लभम् ।
ये तारयंति नात्मानं तेभ्यः पापतरोऽत्र कः" ॥१७॥
ते हि पापेन नीमेण वकर्दयादिषु योनिषु ।
पौनःपुन्येन जायन्ते तद्गर्भध्यानतत्पराः ॥१८॥
सद्गुरो ह्यक्षरत्वं वा परब्रह्मत्वलक्षणम् ।
ये न जानंति ते मूढा भवंति मलिनाशयाः ॥१९॥
निरर्थकं वचश्चोक्त्वा श्वभिस्तुल्याः पुनः पुनः ।
आत्मनोऽत्रापरिज्ञानात्सर्वयोनौ भ्रमंति हि ॥२०॥
मनुष्योऽसौ महापापी मन्यते नाक्षरं गुरुम् ।
पुनः पुनर्वकीशुन्योर्गर्भे धरति सुस्पृहाम् ॥२१-११७॥

वे मनुष्य बड़े पापी हैं, जो सद्गुरु के अक्षर ( उपदेश ) को नहीं मानते, या गुरु को अक्षर ( अविनाशी ) नहीं समझते, किन्तु देहदृष्टि करते हैं, जिससे वार२ कुतिया की तरह वकते हैं । इससे वार२ गर्भ में ही अवधान धरते ( मन लगाते ) हैं । या वार२ वकी कुत्ती की योनियों में प्राप्त होते हैं ॥ अथवा पूर्व साखी में शिष्य ने मनुष्य

के दोषों का अभाव ठहराया था, सद्गुरु ने इस साखी से उसका दोष बताया है ॥११७॥

मनुष विचारा क्या करे, कहे न खुले कपाट ।
स्वनहा चौक बिठाइये, फिरि फिरि ऐपन चाट ॥११८॥
मनुष विचारा क्या करै, जाके हृदया शून ।
स्वनहा चौक बिठाइये, फिरि फिरि चाटै चून ॥११९॥

येषां सदुपदेशेन मोक्षद्वारकपाटकम् ।
अज्ञानं भिद्यते नैव मोहार्गलशमो नहि ॥२२॥
श्वेवातो विरसे भोगे सक्ताः सत्त्वमानिनः ।
स्वापवर्गेऽक्षमा मूढाः स्मृताः कापुरुषा हि ते ॥२३॥
वेदिकास्थापितः श्वा वै चूर्णमत्ति मुहुर्मुहुः ।
उपदेशं न चादत्ते तथैवैतेऽविवेकिनः ॥२४॥
" गुरुरात्मवतां शास्ता राजा शास्ता दुरात्मनाम् ।
इह प्रच्छन्नपापानां शास्ता भवति वै यमः " ॥२५॥
यथा न तथ शास्ता स्यात्प्रधीः क्रूरः परे यमः ।
तथाऽत्रैवास्ति कर्तव्यं न स्थातव्यं प्रमादिना ॥२६-११९॥

वह बेचारा मनुष्य क्या करे, या उसमें मनुष्यपन का क्या विचार किया जाय, कि जिसके हृदय के कपाट ( मोहादि ) कहने से भी नहीं खुलते। उसकी तो ऐसी दशा है कि जैसे चावलादि के चूर्णरूप ऐपन से चौके को पूर्ण करके, यदि उसमें कुत्ता को बैठाया जाय तो वह बारर ऐपन को ही चाटता है, तैसे कुपुरुष उपदेश को भी भोगानुकूल करता है। तथा उसका तिरस्कार करता है ॥११८॥

अविवेकी कुत्ते की तरह भटककर तुच्छ भोग भोगते हैं, मत्योंप देशादि में स्थिर नहीं हो सकते ॥११९॥

मानुष जन्म दुर्लभ है, बहुरि न बारम्बार ।
पक्का फल ज्यों गिरि परा, बहुरि न लागै डार ॥१२०॥

मानुष्यं दुर्लभं पूर्ण सुकृतेनैव लभ्यते ।
अतोऽत्र त्वं सदा साधो श्रेयः स्वस्य समाचर ॥२७॥
यथा पक्वं फलं वृक्षात् पतित्वा नात्र वृक्षके ।
सज्जते किन्तु कालेन वृक्षभेदे फलान्तरम् ॥२८॥
जायते रससन्तत्या मनुष्यत्वं तथा भवेत् ।
कालेन कर्मसंतत्या देशान्तरकुलान्तरे ॥२९॥
को जानीते कदा कुत्र किं कर्मोल्लासमेष्यति ।
अतोऽत्रैव च सद्यश्च विमोक्षार्थं यतस्व भोः ॥३०॥
यावत्परात्मात्मविवेकसंस्कृतं स्यान्न मनो नैव न भक्तिसंयुतम् ।
बोधैर्विहीनं खलु हीनसंश्रयं यस्यास्य तावन्नरता न शोभते ॥
३१-१२०॥

इति साक्षिसाक्षात्कारे वामभूतमनश्चौरादिकृतदुर्गत्यादिवर्णनं नामैकविंशी त्रिवित्ति ॥२१॥

मनुष्यजन्म अत्यन्त दुर्लभ है, फिर भी बारर नहीं होगा । जैसे पक्का फल गिरता है तो फिर वही डार में नहीं लगता, किन्तु उसके बीज से वृक्ष होने पर फिर दूसरा फल लगता है, तैसेही इस मानवतनु के कर्मानुसार चौरासी भ्रमणादि के बाद किसी कुल में कभी मनुष्य तन मिलता है इत्यादि ॥१२०॥

इति कुटिल मनकृत कुगति प्रकरण ॥२१॥

## साखी १२१, स्वापराध दण्ड प्र. २२.

मानुष जन्महिं पायके, चूके अब की घात ।
जाय परे भवचक्र में, सहे घनेरी लात ॥१२१॥
रतन का तो यतन करू, माटी का सिंगार ।
आया कविरा फिरि गया, फीका है संसार ॥१२२॥

मानुष्यं दुर्लभं लब्ध्वा यः प्रमाद्यति मूढधीः ।
पतति भवचक्रे स सहते पादताडनाः ॥१॥
अतश्चेममनूल्यं त्वं समयं नैव यापय ।
आत्मज्ञानाख्यरत्नाय महायत्नं समाचर ॥२॥
ज्ञानं ज्ञानार्थयत्नश्च शरीरस्य महोज्ज्वलम् ।
मृण्मयस्य भवेद् धीमन् भूषणं हि महार्हणम् ॥३॥
एतेनापि विना योऽत्र जनित्वा म्रियते मुहुः ।
मानुष्यं निष्फलं तस्य नानन्दं लभते च सः ॥४॥
शरीरं मृण्मयं यस्य विनाढ्याभूषणोपमम् ।
तथैवास्ति च संसारः स सत्यो ह्यवबुध्यताम् ॥५॥
मिथ्यात्वाचिरसश्चायमिमं न स्वदते बुधः ।
मूढा एवात्र धावन्ति न लभन्ते च निर्वृतिम् ॥६॥
भवचक्रे प्रयातो हि सहते बहुवेदनाम् ।
स्वप्रस्तावं हि तस्मात्त्वं विद्धि रत्नं गृहाण च ॥७-१२२॥

जो जीव मनुष्य जन्म पाकर अबकी घात ( दाव-वार ) चूके, सो भवचक्र में जाकर पड़े, और घनेरी लात सहे। या जो अबकी चूके उनका घात ( नाश ) हुआ इत्यादि ॥१२१॥

तुम ज्ञानरूप रतन के लिये यतन करो, ज्ञानही इस माटी की देह की शोभा है। जो कबिरा ( जीव ) मानरतन में आया, और ज्ञान विना ही फिर गया, उसके लिये मानवससार फीका (निरस–कटु) है ॥१२२॥

बाँह मरोरे जात हौ, सोवत लिया जगाय।
कहहिं कबीर पुकारिके, यहि पिण्ड व्है कि जाय ॥१२३॥
बेरा बांधिन सर्प का, भवसागर के मांहिं।
जो छाड़ै तो डूबई, गहे तो डॅशय बॉहिं ॥१२४॥

बाहू संपीड्य यासि त्वं सुप्तं त्वाऽयोधयं त्वहम्।
ईशो बोधितवान् यत्र तत्र स्मरसि मूढ किम् ॥८॥
धावन्तमल्पबुद्धं हि श्रुत्वापि गुरुभाषितम्।
दृष्ट्वा दयापरः प्राह किं त्वं यासि प्रमत्तवत् ॥९॥
अनेन वपुषेव त्वं नित्यमुक्तो भविष्यसि।
प्रमादेनाथ गर्वाद्यैर्नरकेऽपि पतिष्यसि ॥१०॥
अतो गुरूननादृत्य कुमार्गेण न गम्यताम्।
भक्तिज्ञानमयीं नावं धृत्वा संसारमुत्तर ॥११-१२३॥
एतां नावमसम्पाद्य विषयादिमयीं तु ये।
कर्ममयीं च कुर्वंति पीड्यन्ते ते द्विधा खलु ॥१२॥
त्यागे तस्या निमज्जन्ति बहुले दुःखसागरे।
ग्रहणे रागरोषाद्यैः पीड्यन्ते च नराधमाः ॥१३॥
यथा सर्पमयीं नावं कृत्वा नद्यां मजेत् कुधीः।
निमज्जति हि तत्त्यागे दशति ग्रहणे च सा ॥१४-१२४॥

इति साक्षिसाक्षात्कारे स्वापराधदण्डवर्णन नाम द्वाविंशी वित्तिः ॥२२॥

हे मनुष्यो! गाढ मोहनिन्द से सोते हुए तुमको सद्गुरु ईश्वर

ने जगाया ( सचेत किया ) है। अब तुम उनके बाहु को मरोरे ( उपदेशोपकार का अनादर किये ) जाते हो, तौ भी गुरु पुकार,के कहते हैं कि इसी पिण्ड ( देह-ग्राम ) से तुम सदा मुक्त अजर होगे। या नष्ट होगे ॥१२३॥

जो लोग भवसागर में विषय काम्यकर्मादिरूप सर्प की वेड़ा बाँधे हैं सो विराग विज्ञानादि रूप जहाज की प्राप्ति विना यदि उसे त्यागते हैं, तो डूबते हैं, और पकड़े रहने पर भी विषयादि पीड़ित ही करते हैं ॥१२४॥

इति स्वापराधदण्ड प्रकरण ॥२२॥

## साखी १२५, समात्मतत्त्व प्र. २३.

हाथ कटोरा खवा भरा, मगु जोहत दिन जाय।
कबिरा उतरा चित्त सो, छांछ दिया नहिं जाय ॥१२५॥

सद्गुरोर्बुद्धिसत्पात्रे सुधासारेण पूरितम्।
वर्तते निर्मलश्चास्ते गुरुः शिष्यदयापरः ॥१॥
अन्वेषयति सच्छिष्यांस्तेभ्यो मोक्षं ददाति च।
ये तु तद्विमुखा मूढास्तेभ्यः किञ्चिद्ददाति न ॥२॥
दुर्बुद्ध्यानधिकारेण ह्युपयोगे विपर्ययात्।
करिष्यन्त्यहितं मूढा इति शास्ति न सद्गुरुः ॥३॥
सुजनाय यथा कश्चिद् दुग्धसारं प्ररक्षति।
दुर्जनाय न दत्ते च स तक्रमपि चाल्पकम् ॥४॥
सर्वेषां हृदि सत्यात्मा पीयूषमिह वर्तते।
जनाश्चित्तात्परिभ्रष्टा विषयाक्ता विदंति नो ॥५॥

अतश्चानन्दशून्येऽपि निजानन्दस्य लोभतः ।
न ददाति हि कस्मैचित् किञ्चिच्चित्तस्य शुद्धये ॥६-१२५॥

जैसे किसीके हाथ में खोवा ( मलाई ) से भरी कटोरी हो, और मोक्ता सत्पात्र की रास्ता देखते दिन जाता हो, तौभी जो जीव उसके चित्त से उतरा ( कुपात्र ) है, उपस्थित उसके प्रति उस दानी से छाँड़ देते भी नहीं बनता । इसी प्रकार उपकार को अनादर करनेवालों के प्रति सदुपदेश नहीं दिया जाता ( दयालु हरिगुरु भी अनधिकारी अभक्त को नहीं तार सकते ) ॥१२५॥

एक कहौं तो है नहीं, दोय कहौं तो गारि ।
हहु जैसे तैसे रहहु, कहहिं कबीर पुकारि ॥१२६॥

शुद्धबुद्धयैव लभ्यो यः शुद्ध आत्मा न तत्र हि ।
एकत्वमस्ति नैर्गुण्याद् द्वित्वादिभयकृन्न च ॥७॥
द्वित्वस्योक्तिः परे तत्त्वे भेदस्वीकृतिरेव च ।
अपशब्दसमा मिथ्यादोषस्योद्भावनैः समा ॥८॥
श्रुतौ श्रुतं यदेकत्वं तत्तु कैवल्यलक्षणम् ।
स्वरूपभूतमस्माच्च भयं नैव क्वचिद् भवेत् ॥९॥
द्वित्वादि न तथाप्यस्ति ह्यत एकोऽभिधीयते ।
द्वित्वादि निन्द्यते शश्वद् वस्तुतोऽत्र द्वयं नहि ॥१०॥
द्वित्वैकत्वादिहीनो य आत्मास्ति निर्विशेषकः ।
यथासि त्वं तथा तिष्ठ निर्विशेषात्मरूपतः ॥११॥
" सम्यग् ज्ञानवतो ह्यस्य यथाभूतार्थदर्शिनः ।
बुद्धिर्भवति चिन्मात्ररूपा द्वैतैक्यवर्जिता ॥१२॥
अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतं पश्यंति चापरे ।
समं तत्त्वं न जानंति त्वं समत्वेन तिष्ठ भोः ॥१३-१२६॥

खोवा तुल्य सार साक्षिस्वरूप को यदि एक कहौं, तो वह एक संख्यारूप गुणवाला नहीं है। उसे दो कहना गाली के तुल्य निन्दित है [ अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेव स देवानाम्। बृ. १।४।१० ] इससे एकत्व द्वित्वादि रहित जैसा स्वयंप्रकाश अवाच्य स्वरूप हौ, तैसा ही रहो, अर्थात् सब विकल्प को छोड़कर सम भाव से वर्तो ॥१२६॥

अमरित केरी पोटरी, बहुविधि दीन्हों छोरि।
आप सरीखे जो मिले, ताहि पियावों घोरि ॥१२७॥

ग्रन्थीनमृततत्त्वस्य बहुधाऽभितर्द्र ह्यहम्।
मत्समा ये मिलेयुस्तान् पाययेयं विलोड्य तत् ॥१४॥
शुद्धात्मैवामृतं तत्त्वं मोक्ष इत्यभिधीयते।
तस्य चात्रोपदेशो हि गुरुभिर्बहुधा कृतः ॥१५॥
संशयादिनिराशाय बहुधा सद्भिरुच्यते।
अधिकारिजनैश्चैतदनायासेन लभ्यते ॥१६॥
सद्गुरुश्चामृतं तत्त्वं पाययत्येव तान् जनान्।
निर्भिद्य ग्रन्थिकामादींस्तस्य वाक्येषु ये स्थिताः ॥१७॥
विरक्ताः शमनिष्ठाश्च सत्यस्था न च मायिनः।
ये नरास्तेषु सद्वाक्यं फलं सूते न संशयः ॥१८॥
मानुष्यं यदि दुर्लभं नरवरा लब्ध्वा न संशेरते,
मोहान्धे वितते भयावहतमे लोके मुधा मोहतः।
एकत्वादिगुणैरतीतमनघं तत्त्वं हि लब्ध्वा गुरो-
र्मोदन्ते तु भृशं विरक्तमनसो नायांति ते संसृतौ ॥१९-१२७॥

इति साक्षिसाक्षात्कारे समतत्त्वोपदेशवर्णनं नाम त्रयोविंशी वित्तिः ॥२३॥

सद्गुरु का कहना है कि मैं अमृत ( अविनाशी मुक्ति ) की पोटरी को बहुत प्रकार से छोर ( खोल ) दिया है। अपरोक्ष ज्ञान के लिये संशय कामादि का बहुधा निवारण किया है। जो कोई आप सरीखे ( योग्य अनुकूल शिष्य ) मिले तो मैं यह अमृत उसे घोरकर पिला दूं ॥१२७॥

इति समात्मतत्त्व प्रकरण ॥२३॥

## साखी १२८, समतत्त्वज्ञानविनाभेदसंसार प्र. २४.

अमरित केरी पोटरी, शिरसो धरी उतारि।
जाको मैं एके कहौं, सो कहै मोहि चारि ॥१२८॥

अमृतस्योपदेशं यमाविर्भाव्योत्तमाङ्गतः।
ग्रन्थे स्थापितवानत्र लोकानां हितकाङ्क्षया ॥१॥
तं जना नैव मन्यन्ते मोक्षं चैकं न मन्वते।
चतुर्विधं वदन्त्येतं श्रावयन्ति च मां तथा ॥२॥
यो यो यान् यान् यजेद्देवांस्तच्चतुर्मोक्षगो हि सः।
आत्मज्ञानं विना मोक्षो न भवेत्सच्चिदात्मनि ॥३॥
चतुर्व्यूहं वदन्त्यन्ये वासुदेवादिरूपतः।
मोक्षं सातिशयं चैव ह्यहो मोहस्य, वैभवम् ॥४॥
मोक्षः सातिशयश्चेत्स्याज्जगत् किम्वपराध्यति।
यदस्मान्मोक्षमिच्छन्ति भवन्तो मोक्षवादिनः ॥५॥
मोक्षः सातिशयो यस्तु कथ्यते भवता मुहुः।
स स्वर्गो न तु मोक्षोऽसौ भवतैवं विचार्यताम् ॥६॥
ईश्वरे चेद् भवेद् भेदो नूनं सातिशयश्च सः।
जीवात्तत्रास्ति को भेदो भवद्भिश्चेति चिन्त्यताम् ॥७॥

ईश्वरो मायया सर्वं कुर्वन्नपि न भेदवान्।
प्रतिबिम्बात्मजीवेषु भेदोऽयं कल्प्यते मृषा ॥८॥१२८॥

अमृत की पोटरी को शिर से उतार कर (मस्तिष्क से प्रगटकर) के इस ग्रन्थ में धरा है, परन्तु आश्चर्य है कि जिसके प्रति मैं एक कहता हूं सो मुझे चार तत्त्व चार मोक्ष बताता है ॥ या अविवेकियों ने अमृत की पोटरी को शिर से उतार (त्याग) दिया है। इत्यादि ॥१२८॥

जाको मुनिवर तप करै, वेद थके गुण गाय।
सोई देऊँ सिखापना, कहि न कोइ पतिआय ॥१२९॥

यदर्थं मुनयस्तीव्रं तपः कुर्वन्ति संयताः।
को अद्धा वेद नेत्यादि वेदाः श्रान्तवदासते ॥९॥
वचसोऽविषयत्वेन सर्वात्मत्वेन यं मुहुः।
सुश्रान्ता इव भाषन्ते तदन्यं वारयन् खलु ॥१०॥
साक्षिरूपस्य तस्यैव निर्विशेषस्य वस्तुतः।
दीयते ह्युपदेशोऽत्र साधनैः सहितः स्फुटम् ॥११॥
ऋजुनैव प्रकारेण न कोपि विश्वसित्यहो।
जिह्ममार्गे पतत्सन्धस्तदुःखान्नैव मुच्यते ॥१२-१२९॥

जाको (जिस एक अमृत तत्त्व के लिये) मुनिवर (निष्काम मुनि) तप (इन्द्रियनिग्रहादि) करते हैं। वेद जिसके गुणों को गायकर थक गये हैं [ को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आ जाता कुत इयं विसृष्टिः। ऋग्वे. मं. १०।११।१२९] अद्धा (सत्य) इस बात को कौन जानता है या कह सकता है कि किससे जन्म हुआ किससे यह सृष्टि हुई। साहब का कहना है कि उसी तत्त्व की शिक्षा मैं अति सुगम रीति से देता हूं, परन्तु कोई अविवेकी विश्वास नहीं कर सकता है ॥१२९॥

एकहिं ते अनन्त अनन्त, अनन्त एक हो आया ।
परिचय भया जु एकते, एकहिं माँह समाया ॥१३०॥

तपंति मुनयो यस्मै यं वेदाः प्रवदंति च ।
स केवलोऽपि सत्यात्मा स्यानन्तान्तभेदवान् ॥१३॥
भूत्वा मायामनोभिश्च पुनरेकत्वमश्नुते ।
अतो मायामयं विश्वं सत्यमेकमवस्थितम् ॥१४॥
बाधे ज्ञानेन जगतः स्याज्जनस्य विमुक्तता ।
नान्यथा युगकल्पान्तेऽप्येतत्सत्यं श्रुतीरितम् ॥१५॥
व्यष्टिजीवस्य बोधेन व्यष्टिविश्वं विलीयते ।
समष्टेर्बोधतस्तद्वत्समष्टिविलयो भवेत् ॥१६॥
एकस्मादात्मनोऽनन्ता भवंति जन्तुजातयः ।
तद्भेदै भिन्नवद्भाति सत्यात्मा तत्प्रवेशतः ॥१७॥
ज्ञानेन च विलीयन्ते भेदाः सत्योऽवशिष्यते ।
प्रविशन्तीव सर्वेऽस्मिन्नस्यैकस्य सुबोधतः ॥१८॥
एकानन्ततयोर्यस्तु प्रवाहो वर्तते सदा ।
निवर्तते न स श्रीमन् स्वात्मनोऽवगमादृते ॥१९-१३०॥

एक हि सत्यात्मदेव से अनन्तानन्त देव मनुष्यादि सब भेद माया मन आदि उपाधियों से हुए हैं । और वह सब भेद प्रलयकाल में एक होकर भी अज्ञानादि कारण से फिर आया ( उत्पन्न हुआ ) है । या अनन्तरूप से एकही वस्तु प्रगट हुआ है । जिस जीव को जब केवल एक का परिचय ( अनुभव ) हुआ, तब उसकी दृष्टि से अनन्त भेद एक ही में सदा के लिये समा गये, एकानेक का प्रवाह टूट गया इत्यादि ॥१३०॥

एक शब्द गुरुदेव का, तामें अनन्त विचार।
थाके ज्ञानी मुनिवर हुं, वेद न पावै पार ॥१३१॥

यस्य परिचयान्नेह भवबाधा प्रवर्तते।
तदर्थः सद्गुरोः शब्द एकोऽपि वर्तते ह्यलम् ॥२०॥
एकस्मिन् हि गुरोः शब्दे सारे त्वोंकारनामके।
विचारो वर्ततेऽनन्तः स्वात्मनोऽथ परस्य च ॥२१॥
अतस्तस्मिन् हि शब्दे त्वमनन्तस्य परात्मनः।
विचारं कुरु येनाङ्ग मुच्यसे भवबन्धनात् ॥२२॥
तत्रानन्तविचारे तु वेदाद्या मुनयस्तथा।
पारं न लेभिरे श्रान्ता निवृत्तास्ते ततोऽभवन् ॥२३॥
सत्यात्मनो विचारे तु कृते ज्ञानेन ते खलु।
सर्वं ज्ञात्वा विमुक्ताश्च लेभिरे निर्वृतिं पराम् ॥२४॥
यन्मूलाः सर्ववेदाश्च यन्मूलाः सर्वसृष्टयः।
तस्यानन्तविचारत्वे का कथा का चमत्कृतिः ॥२५-१३१॥

गुरुदेव ( ब्रह्मा वा सद्गुरु ) का एक ओंकाररूप शब्द में अनन्त प्रकार के विचार भरे पड़े हैं। या देशादिकृत अन्तरहित तत्त्व को उसमें विचारो। उसीमें विचारतेर ज्ञानी मुनिवर थके हैं ( अन्य विचारों से उपरत हुए हैं ) और वेद भी उसके विचारों को अन्त नहीं पाते हैं, तब नेति नेतीत्यादि कहते हैं। अर्थात् एकही शब्द में आत्मा अनात्मा एक अनेक सबके विचार सूक्ष्मरूप से वर्तमान हैं, तहाँ अनेक अनात्म के विचार से सब थकते हैं, पार नहीं पाते, और एक आत्मा के विचार से ज्ञानी द्वन्द्वमुक्त होते हैं इत्यादि ॥१३१॥

राउर के पिछुआरे, गावहिं चारों सैन।
जीव परा बहु लूट में, नहिं कछु लेन न दैन ॥१३२॥

यज्ज्ञानात्सर्वविद्त्वं यस्य ज्ञानाद्विमुक्तता ।
सर्वश्रेष्ठस्य राज्ञोऽस्य पुरी यास्ति हृदःस्थलम् ॥२६॥
पृष्ठभागे स्थितास्तस्या वेदाः सर्वेपि तं प्रभुम् ।
परोक्षत्वेन गायन्ति कर्मणा प्रतिपादकाः ॥२७॥
इङ्गितं कुर्वते वेदा जानंति जन्तवो न तत् ।
कामादिभिर्विमथ्यन्ते लभन्तेऽन्यो न किञ्चन ॥२८॥
परोक्षरूपेण हि यं वदंति, वेदास्तपास्येव यमुद्दिरन्ति ।
एकं ह्यलब्ध्वा तमनन्तरूपं, विमथ्यतेऽय खलु जीवसंघः ॥२९॥
इच्छत्यनेकं न सदेकमव्ययं नास्ति त्वनेके खलु सत्यता क्वचित् ।
लब्धोऽप्यनेको भवति ह्यलब्धवद् दत्तस्त्वदत्तेन समो विनाशतः ॥
३०॥१३२॥

इति साक्षिसाक्षात्कारे समतत्त्वोपलब्धि विना संसृतिवर्णन नाम चतुर्विंशी वित्ति ॥२४॥

गुरुदेव के शब्द महावाक्यादि जिसको अपरोक्ष आत्मस्वरूप बताते हैं, उसी राउर ( सर्वश्रेष्ठ स्वामी ) को कर्मकाण्डादिरूप चारों वेद पिछुआरे ( परोक्षरूप ) से सैन गाते हैं। या उस राउर ( राजा का पुर—हृदय ) के पिछुआरे से चारों वेद सैन ( इशारा ) गाते ( करते ) हैं [ सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति । कठ १ । २ । १५ ] परन्तु उस सैन को समझने विना जीव बहुत लूट में पड़ा है ( कामादि से लूटा जा रहा है ) या मिथ्या बहुत पदार्थों के लूटने ( प्राप्त करने ) में लगा है, और सच्चा कुछ लेना देना है नहीं ॥१३२॥

इति सम तत्त्वज्ञान विना भेद संसार प्रकरण ॥२४॥

## साखी १३३, आत्मानुभव से भयनिवृत्ति प्र. २५.

चौगोडा के देखते, व्याधा भागा जाय।
एक अचम्भा देखिया, मुवा काल को खाय ॥१३३॥

विश्वतैजसयोस्तद्वत्प्राज्ञस्यापि च साक्षिणः।
विवेकेन परिज्ञाने ह्रायन्ते सर्वशत्रवः ॥१॥
चतुष्पादोऽयमात्मा चेत्साक्षादेवानुभूयते।
तदा सर्वाभिमानादेः कामादेश्च लयो भवेत् ॥२॥
अभिमित्याद्यभावाच्च मृतवद्यो भवेन्मुनिः।
तेनैव नाश्यते कालो महाश्चर्यमिदं खलु ॥३॥
यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
स महाविजयी लोके नान्योऽस्ति बलवांस्ततः ॥४-१३३॥

चौगोड़ा (विश्वादि चार पादयुक्त) या [पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्याऽमृतं दिवि। ऋग्. म १० । ७ । ९० ] इन चारों पादों सहित, या चतुष्टय अन्तःकरणोपहित) आत्मदेव के देखते ही काल-कामादि व्याधा लुटेरे सब भाग जाते हैं। तथा चार साधनयुक्त अधिकारी से भी ये सब दूर रहते हैं। और यह एक आश्चर्य देखा जाता है कि जो महापुरुष अभिमानादि को त्यागने से मृतक तुल्य होते हैं, सोई काल को भी खाते (नष्ट करते) हैं॥ अथवा द्वैत को जाने विना पेदरूप चौगोड़ा को देखकर काम्यकर्मपरायण जीवरूप व्याधा (फल लक्ष्य के लोभी) सब स्वर्गादि संसार में भागा फिरती है। और आश्चर्य है कि मुवा (जड) विषय मन आदि काल (ज्ञान से इन्हें नाशक) जीव को ही खा रहे हैं ॥१३३॥

तीनि लोक चोरी भई, सर्वस सब का लीन ।
बिना मूड़ का चोरवा, परा न काहू चीन्ह ॥१३४॥

ज्ञानं विना त्रिलोकीषु चौर्यं जातं सुवस्तुनः ।
सर्वेषां शुभसर्वस्वं मोषित्वाऽऽदत्तवान् खलः ॥५॥
मनोमायाख्यचौरो हि निःशिरस्कस्त्वचेतनः ।
कुरुते सततं चौर्यं परिज्ञातो न केनचित् ॥६॥
स्वयं स सत्तया हीन आत्मनः सत्तया च सन् ।
चिदिवाभाति तेनासौ स्वरूपेण न लक्ष्यते ॥७-१३४॥

सैन के ज्ञान विना तीनों लोक में चोरी हुई। मन मायारूप चोर सबके सर्वस्व ( मूलधन ) को ले लिये, वे चोर बिना मूड़ के ( स्वयं सत्तारहित ) हैं। इससे किसीसे चीह्न नहीं पड़े। जैसे शिर बिना धड़ नहीं चीह्न पड़ता है। या शिरोबन्धन रहित ओंकारार्थरूप निरवयव तत्त्व में सब लोकादि का लय होता है, परन्तु उसे कोई समझ नहीं सका, उसे समझने पर कालादि का भय जाता रहता है इत्यादि ॥१३४॥

चलती चक्की देखिके, नयनन आया रोय ।
दोय पट्ट के अन्तरे, सालिम गया न कोय ॥१३५॥

चौरैः प्रवर्तिता चात्र लोकद्वन्द्वादिरूपिणी ।
पेषिणी चञ्चला नित्यं धावते भयकारिणी ॥८॥
घूर्णमानां विलोक्यैतां नेत्रेष्वस्रु प्रवर्तते ।
दलयोरन्तरे ह्यस्या आगतो न सुखी गतः ॥९॥
चूर्णिता जन्तवः सर्वे रुदन्तो विह्वलास्तथा ।
अखण्डं सत्सुखं नैव लभन्ते मोहिता मुहुः ॥१०॥

ये तु मोहैर्विनिर्मुक्ता अभिमानादिवर्जिताः ।
त एव चेह मोदन्ते जीवन्तोऽपि महाधियः ॥११-१३५॥

पुण्यपापादि द्वन्द्वरूप नीचे ऊपर के लोकरूप चलती हुई चक्की को देखने पर नेत्र से रुलाई आती है, क्योंकि जो कोई इसके दो पट्ट ( दल-द्वन्द्व-लोक ) के अन्दर आये, सो कोई अभिमानी सालिम ( सावित-आनन्दित-पूर्ण ) नहीं गये। किन्तु पिसाते रोते आये पिसाते रोते गये। इससे इन्हें देखकर भी रुलाई आती है॥ " पुण्यपाप दो चक्की कहिये, खूटा द्वैत लगाया है। तेहि चक्की तर सबै पिसाने, सुर नर मुनि न बचाया है॥१॥ चक्की चली जो रामकी, पीसा सब जग झार। कहहिं कबिर ते ऊबरे, खूटा दिया उखार "॥२॥१३५॥

चार चोर चोरी चले, पगु पनही उतारि।
चारों दर थूनी हरी, पण्डित करहु विचारि ॥१३६॥

ये हि द्वन्द्वैः पराभूतास्तदन्तःकरणानि वै ।
भवंति चतुराश्चौराश्चत्वारो भयदायकाः ॥१२॥
ते विवेकादिकां पादूं त्यक्त्वा यंति कुवर्त्मनि ।
शनकैर्विषये येन सर्वस्वं प्रविलीयते ॥१३॥
अतस्तत्र निजात्मानं हरिं स्थापय कीलकम् ।
सद्गुरुं शरणं गत्वा तद्विचारं कुरुष्व च ॥१४॥
अविचारे हि ते चौरा अण्डजादिषु योनिषु ।
चतुर्षु पातयित्वा त्वां नाशयिष्यन्ति सर्वदा ॥१५॥
वेदाद्या अपि वै चौरा भवंति कामिनं प्रति ।
असुखे सुखबुद्ध्याद्यैर्हरंति सुखमव्ययम् ॥१६॥
तेषां सारं हरिं ज्ञात्वा विश्वस्य चैकमाश्रयम् ।
विचारेण बुधो ह्यस्य मुच्यते भवबन्धनात् ॥१७-१३६॥

मोहकाल में चार अन्तःकरणरूप चोर चोरी के लिये चले हैं। इन्द्रियरूप पाद के रक्षक विवेक सत्कर्मादिरूप पनही ( जूता ) को त्याग दिये हैं। चार वेदादि भी अविवेकी के लिये चोर ही हैं॥ इससे हे पण्डितो ! उन चारों ( स्थानों ) में सर्वात्मा हरिरूप थूनी (कील) को स्थिर करके ( हरि को ही अन्तःकरण वेदादि का सार जानकरके ) उसीकी अपरोक्षता के लिये विचारादि करो ॥१३६॥

बलिहारी वा दूध की, जामें निकरत घीव ।
आधी साखी कविर की, चार वेद का जीव ॥१३७॥

विचारेण विशुद्धं च दुग्धतुल्यं स्वभावतः ।
तदन्तःकरणं धन्यं यत्रात्मा लभ्यते घृतम् ॥१८॥
ओंकारस्यापि वाक्यस्य लक्ष्यश्च क्रमशः खलु ।
य एव वेदसारः स प्राणतुल्यः कलेवरे ॥१९॥
सद्गुरोः सम्मतश्चायमर्द्धवाक्यस्वरूपवान् ।
ओंकारः साक्षिरूपश्च साक्षाद्बोधस्य हेतुतः ॥२०॥
तदेव चान्तःकरणं हि धन्यं यत्रात्मदेवं लभते सुधन्यः ।
यस्यात्मनो ज्ञानबलेन सद्यो द्रवंति वै कालमुखाः किराताः ॥२१॥
१३७॥

इति साक्षिसाक्षात्कारे स्वान्तःकरणसारानुभूत्या कालादिभयनिवृत्तिवर्णनं नाम पञ्चविंशी विंशिः ॥२५॥

उस शुद्धान्तःकरणरूप और वेदरूप दूध की बलिहारी है, कि जिस में से ओंकारार्थरूप आधी साखीरूप घीव निकलता है। जो चार वेद के जीव ( प्राण ) तुल्य है, कबीरगुरु का मान्य है। अर्थात् जिस वाक्य से जिस अन्तःकरण में साक्षिस्वरूप का अनुभव होवै, वे दोनों

धन्य हैं। और ( भजिये निर्गुण राम को, तजिये विषय विकार ) इत्यादि आधीर कबीर साहब की साखियाँ चारों वेद के सारतुल्य हैं, इत्यादि स्थूलार्थ है ॥१३७॥

इति आत्मानुभव से भयनिवृत्ति प्रकरण ॥२५॥

## साखी १३८, सद्गुरु विना कुवासनाविकार प्र. २६.

बलिहारी तिहि पुरुष की, पर चित परखनहार ।
साईं दीन्हो खांड़ के, खारी बोझु गमार ॥१३८॥

स सद्गुरुर्महाधन्यः शिष्यस्य हृदयं हि यः ।
वेत्ति तस्यानुसारेण ददाति चोपदेशनम् ॥१॥
परं चैतन्यमात्मानं वेत्ति यश्च हृदि स्थितम् ।
स गुरुः परमो धन्यः शिष्यसंतापहारकः ॥२॥
शिष्यस्य हृदयं यस्तु वेत्ति नो न विवेकवान् ।
मिथ्योपदेशकत्वेन स मूढ इति कथ्यते ॥३॥
यथा खण्डप्रदानाय पुरा मूल्यं प्रगृह्य यः ।
पश्चाद्ददाति पिण्याकं तादृशोऽयं गुरुः खलः ॥४॥
मोक्षायाथ च बोधाय स्वोपहारं प्रगृह्य यः ।
दत्ते मिथ्योपदेशं चेत् स मूर्खो न गुरुर्हितः ॥५॥
एव गुरोः परिज्ञाता शिष्यो धन्यो न पामरः ।
मोक्षाय प्राभृतं दत्त्वा हृदि क्षारं बिभर्ति यः ॥६-१३८॥

तिस गुरुरूप पुरुष की बलिहारी ( धन्यवाद ) है कि जो परचित ( शिष्य के मन ) को परखनेवाले हैं। या कार्यकरण से पर ( भिन्न ) चित ( चेतन ) को जाननेवाले हैं। और अधिकारी को सत्य उपदेश,

देनेवाले हैं। और जिस पुरुष के प्रति शिष्य ने खांड़ ( मोक्ष ) के लिये साई ( बयाना ) रूप पूजा भेंट दिया, और वह उसके लिये खारी बोजता है ( मिथ्या उपदेश देता है ) सो गमार है। इसी प्रकार सद्गुरु सत्यात्मा को पहचाननेवाला शिष्य धन्य है, मोक्ष के साई देकर खारी के बोझ को मन पर लादनेवाला गमार है ॥१३८॥

विष के बिरवे घर किया, रहा सर्प लपटाय।
ताते जियरहिं डर भया, जागत रैनि बिहाय ॥१३९॥

अप्राप्त्या सद्गुरोश्चैव वञ्चकेन समागमात्।
स्वतश्चैवाविवेकेन जीवोऽयं विषवृक्षकम् ॥७॥
संसारं स्वशरीरं च गृहं संपरिकल्प्य वै।
नित्यमात्मगृहं शुद्धमधिष्ठानं न विन्दते ॥८॥
यं च वेत्ति गृहं तत्र विषया मन इन्द्रियम्।
सर्पाः क्रूरा हि तिष्ठन्ति भयं तेभ्यो नृणां सदा ॥९॥
कालादिभ्यो भयं चात्र बाधते सर्वदेहिनः।
अतश्च विकलाः सर्वे जाग्रतो नन्वहर्निशम् ॥१०॥
लभन्ते शांतिनिद्रां नो धावन्त्येव यतस्ततः।
मोहनिद्रां परित्यज्याऽबोधरात्रिं विनाशय ॥११॥
ततो भयं न बाधेत शांतिस्वप्नस्तदा भवेत्।
इत्येवं सद्गुरुः प्राह शिष्याणां हितकाङ्क्षया ॥१२-१३९॥

जिन लोगों ने संसार या शरीररूप विषवृक्ष को ही अपना घर बनाया है ( इनमें आसक्ति किया है ) जिसमें विषय इन्द्रिय कालादिरूप सर्प सदा लिपटे रहते हैं। इसी कारण से उन जीवों को भय भी प्राप्त हुआ है, जिससे रातदिन जागते रहते हैं, कभी शान्तिसुख

नहीं पाते हैं। या जिसको भय हुआ है, उसको उचित है कि मोहनिन्द को त्यागकर अज्ञानादि रूप संसाररात्रि को विहाय (त्याग) दे इत्यादि ॥१३९॥

जो घर हैगा सर्प का, सो घर साधु न होय ।
सकल सम्पदा ले गया, विषहर लागा सोय ॥१४०॥

सद्गुरोरुपदेशेन स्वत एव च साधवः ।
उक्ते सर्पयुते गेहे न तिष्ठन्ति कदाचन ॥१३॥
आसक्तेरभिमानस्य त्यागेन च पृथक् स्थिताः ।
तटस्था इव वर्तन्ते शरीरादिषु सत्स्वपि ॥१४॥
आत्मज्ञानशमादीनां सम्पत्तीनां गणान् हि ते ।
समादाय पृथग् भूतास्तिष्ठंति विगतज्वराः ॥१५॥
यतस्तेषां कृते मन्त्रा गुरुभिर्ये समीरिताः ।
विषापहारकास्तेषां तिष्ठंति ते हृदि श्रिताः ॥१६॥
यदन्तःकरणं नानाऽहङ्कारवासनाकुधाम् ।
सर्पाणां निलयं शश्वत्तत्र साधु भवेन्न वा ॥१७॥
यतस्त एव सर्पा हि सर्वसम्पद्विनाशकाः ॥
लग्ना यत्र कुतः सौख्यं कुतो मोक्षोऽत्र वा भवेत् ॥१८-१४०॥

जो संसार शरीररूप घर, अहंकारादि कालादि उक्त सर्पों के वासस्थान ना भस्म है, उस घर में साधु (सज्जन विवेकी) लोग नहीं आसक्त होते हैं। किन्तु शमदमादिरूप सब सम्पत्तियों को लेकर (प्राप्त करके) वे उस घर से चले गये, क्योंकि सोय (उन्हें) विषहर (गुरुमन्त्र) लग गया है। या जो उक्त सर्पों का घर है, उसमें कभी साधु (कुशल) नहीं होता, क्योंकि सो विषहर (विषधर-सर्प) ही सब सम्पत्ति ले जाते (नष्ट करते) हैं ॥१४०॥

## क्षेपक साखी.

घूँघुची भरके बोये, उपिजु पसेरी आठ ।
डेरा परिया काल का, झांझ सकारे जात (ठ) ॥३॥
मनभर के जो बोइये, घूँघुची भर न होय ।
कहा हमार माने नहिं, अन्तहु चला बिगोय ॥४॥

वासनाबीजवापेन यदल्पं कर्म जायते ।
प्रपुष्यति मनस्तेन जन्मनस्ततिकारणम् ॥१९॥
गुञ्जामात्रस्य वापेन ह्यन्नं द्रोणचतुष्टयम् ।
भवेद्यथा तथा तेन प्राप्ता कालस्य संस्थितिः ॥२०॥
वासनाबीजवैधूर्ये यद्दु कर्म कृतं यदि ।
न पुष्यति मनस्तेन न च जन्मततिर्भवेत् ॥२१॥
भृष्टबीजस्य वापेन मनकस्यापि नान्नकम् ॥
जायते कृष्णलामात्रं तथैवात्र विनिश्चिनु ॥२२॥
वासनामृत्युरद्दिष्टा सा नश्यति विवेकतः ।
ज्ञानाऽभ्यासेन वैराग्यादित्यादि गुरुदेशना ॥२३॥
इत्थं सत्योपदेशो हि श्रूयते नैव केश्चन ।
तस्मात्सर्वं विलोप्यात्र ह्यन्ते गच्छन्ति मानवाः ॥२४॥३-४

घूँघुची ( गुञ्जा ) मात्र पुष्ट बीज के बोने से जैसे आठ पसेरी को अन्न उपजे, तैसे वासनादियुक्त कर्मादि से मन दिन२ पुष्ट होता है या पांच तत्त्व तीन गुणमय शरीर, पुर्यष्टक, प्रकृत्यष्टक मय सस बारर प्राप्त होता है, जिससे काल का डेरा पड़ा है, साझ सबेरे का के वश में जीव जाता है ॥३॥ वासनादिरहित भुना हुआ मनभ अन्नतुल्य कर्म करने पर भी बन्धन के हेतु अदृष्टादि कुछ नहीं हो

हैं, परन्तु मेरे कहने को लोग नहीं मानते हैं, इससे अन्त में सब खोय कर चलना पड़ता है ॥४॥

गुरु की भेली जिव डरै, काया सींचनहार।
कुमति कमाई मन बसे, लागि जुआ की लार ॥५॥

शरीरपोषणे सक्तो गुरोर्मधुरवाक्यतः।
तदीयशरणप्राप्ते र्विभेति स्वाऽविवेकतः ॥२५॥
श्रवणादेरभावेन धर्मबुद्ध्याद्यभावतः।
अन्यायेन धनार्थं च मनोऽप्यस्य प्रवर्तते ॥२६॥
ततः कितवतां प्राप्य द्यूतार्थं यततेऽनिशम्।
कुकर्मसु प्रवृत्तौ च वर्द्धते हृदये तमः ॥२७॥
कुसङ्गमाद्यो गुरुवाक्यभीतो निषेवते संसृतिवृक्षमूलम्।
स वासनासंततिजे विरूढे, तमोव्रजे नश्यति वै विमूढः ॥२८॥५॥

इति साक्षिसाक्षात्कारे सद्गुरु विना कुवासनाविकारवर्णनं नाम षड्विंशी वित्तिः॥२६॥

गुड़ की भेली (मोदक लड्डू) तुल्य गुरु की भेली (मीठी बात या शरणागति) से मूढ जीव डरता है। और काया (देह) क्षेत्र के ही विषयवारि से सींचनहार हुआ है। और देह के लिये कुबुद्धि अन्याय से कमाई (द्रव्योपार्जन) में इसका मन बसता है, तथा महाव्यसन पापरूप जूआ की लार (आदत) लगी है॥ [जाया तप्यते कितवस्य हीना माता पुत्रस्य चरतः क्वचित्। ऋणवाबिभ्यद्धनमिच्छमानोऽन्येषामस्तमुपनक्तमेति॥ अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व वित्ते रमस्व बहुमन्यमानः। तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे विचष्टे सवितायमर्यः॥

ऋग्. मं. १०।३।३४।४-५ ] जुआरी की हीना ( त्यक्त ) जाया ( स्त्री ) और कहीं विचरता हुआ उस पुत्र की माता सतत होती हैं। और यह आप ऋणी होकर सबका भय से धन को चाहता हुआ रात में अन्य के अस्त ( मकान ) में घूमता है ॥ हे कितव ! मेरी बात को बहुत मानकर, पाशा से जूआ नहीं खेलो, खेती ही करो, प्राप्त धन से सन्तुष्ट रहो, इत्यादि। यह उपदेश अर्य ( सूर्यरूप ईश्वर ) मुझे दिया है, यह अक्ष ऋषि का कथन है ॥५॥

इति सद्गुरु विना कुवासना विकार प्रकरण ॥२६॥

## साखी १४१, तामसमनमाया और उनका त्याग प्र.२७.

तामस केरे तीन गुण, भवँर लेहिं तहँ वास ।
एकहिं डारी तीन फल, भाँटा ऊँख कपास ॥१४१॥

तमसोऽतिविवृद्धौ हि त्यक्तसर्वविचारणाः ।
जीवभृङ्गा महामूढाः शब्दादिरसलोभिनः ॥१॥
तामसे प्राकृते कार्ये निवसन्ति फलेच्छया ।
तस्मिंस्तमःप्रधाने तु त्रिगुणे त्रिविधं फलम् ॥२॥
लभन्ते हीक्षुवृन्ताककार्पाससदृशं सदा ।
न तु निर्गुणमत्यच्छं स्वानन्दं तत्र वासतः ॥३॥
तामसादिप्रभेदेन भिन्नं तत्सफलं फलम् ।
वर्तते ह्येकशाखायां त्रिलोक्यां जायतेऽनृतम् ॥४॥
श्रवणे गुरुवाक्यस्य विचारादौ कृते सति ।
फलं हि निर्गुणं नित्यं लभ्यते नान्यथा कचित् ॥५॥१४१॥

तामस ( तमःप्रधान ) प्रकृति के कार्य तीन गुण ( त्रिगुण ) शब्दादि हैं, तहँ ( तिनमें ) भवँर ( विषयादि में आसक्त जीव ) श्वास लेते ( चखते वा गन्ध स्वाद लेते ) हैं । इससे प्रकृति के एक तामस डार ( शाखा ) में ही भाटा, ऊख, कपास तुल्य तामस, राजस, सात्विक तीनों फल, या अर्थ, काम, धर्म रूप तीनों फल लगते ( प्राप्त होते ) हैं । त्रिगुण से परतत्त्व निष्काम कर्मादि से अनासक्त ज्ञानी को ही मिल सकते हैं इत्यादि ॥१४१॥

मन मसलन्द गयन्द है, मनसा भयो सचान ।
यन्त्र मन्त्र मानै नहीं, उड़ि उड़ि लागै खान ॥१४२॥

अश्रुतौ गुरुवाक्यस्य विचारे चाकृते सति ।
विषयादौ समासक्तं मनोमत्तमतङ्गजः ॥६॥
कामैर्मनोरथैः पक्षैः पक्षित्वं श्येननामकम् ।
अनुगम्य फलं भुंक्ते त्रिगुणं न ततः परम् ॥७॥
उड्डीयोड्डीय भुञ्जानः सदा भोगैर्वशीकृतः ।
वृत्त्या चलति शश्वत्स गुरुमन्त्रं शृणोति न ॥८-१४२॥

विषयासक्त मन मसलन्द ( उन्मत्त ) गयन्द ( गजेन्द्र हाथी ) है । सो मनसा ( मनोरथ ) से सचान ) बाज पक्षी ) हुआ है । या उसके मनोरथ ही बाज हुआ है । इससे वह मन हाथी गुरु के उपदेश युक्ति-रूप यन्त्र मन्त्र को नहीं मानता है, किन्तु उड २ कर उक्त तीनों फलों को खाने में लगता है ॥१४२॥

मन गयन्द मानै नहीं, चलै सुरति के साथ ।
म्हावत बिचारा क्या करु, जो अंकुश नहिं हाथ ॥१४३॥

यदा मनो गजेन्द्रो न गुरुमन्त्रं हि मन्यते ।
विवेकाद्यंकुशो नास्ति तदा जीवः करोतु किम् ॥९॥
मनसा स पराभूतस्तामस्या मायया हृतः ।
कृतकार्योऽनुवेलं स धावते भोगलालसः ॥१० १४३॥

यदि मनरूप हाथी नहीं मानता, सुरति ( मनोरथादि वृत्ति ) के साथ चलता है । तो जीव वा बुद्धिरूप महावत बेचारा ( दीन ) करही क्या सकता है, कि यदि उसके हाथ ( पास ) में विवेकादि अंकुश नहीं है ॥१४३॥

ई माया है चूहड़ी, औ चुहड़े की जोय ।
बाप पूत अरुझावई, संग न काहुक होय ॥१४४॥

माया चेयं महाचण्डी चाण्डाली तामसी मता ।
कामिनः क्रूरचित्तस्य चाण्डालस्य प्रिया हि सा ॥११॥
योधयित्वा पितापुत्रावप्येषा कामचारिणी ।
सर्वांस्तान् वञ्चयित्वाऽन्ते न केन सहगामिनी ॥१२॥
तमोविवृद्धौ खलु बाधते भृशं मनोगजेन्द्रस्तमसा वशीकृतः ।
स मायया चैव सदा तिरस्कृतश्चिराय दुःखस्य भवेद्धि भाजनम् ॥
॥१३-१४४॥

यह तामसी माया चूहड़ी ( चाण्डाली ) है, या चोरिनी है। और चुहड़ों के ही जोय ( जाया भोग्या स्त्री ) है । और बाप पूत ( पितापुत्र ) दोनों को अपने में अरुझाती ( फँसाती ) है, या दोनों को परस्पर लड़ाती है, तथा ईश्वर जीव में कर्तृत्व भोक्तृत्वादि की प्रतीति कराती है । परन्तु अन्त में किसीके संग नहीं होती है, न अन्तिम ज्ञान दशा में किसी जीव से इसका संग रहता है इत्यादि ॥१४४॥

कनक कामिनी देखिके, तूं मति भूल सुरंग।
मिलन विछुरन दुहेलरा, केचुली तजै भुवंग ॥१४५॥

एवं बुद्ध्वा महासत्त्व! तत्त्वमालोक्य युक्तितः।
हिरण्यप्रभृतिं दृष्ट्वा तथा च कामुकीं स्त्रियम् ॥१४॥
सर्वं मायामयं ज्ञात्वाऽपवित्रं चातिदुःखदम्।
भ्रमितव्यं त्वया नैव सुखबुद्ध्या कदाचन ॥१५॥
सर्पः स्वकञ्चुकं त्यक्त्वा यथोदास्ते सदा ततः।
तथैव भवताऽप्यत्र वर्तितव्यं नचाऽन्यथा ॥१६॥
संबन्धे हि महद्दुःखं भ्रमोन्मादादिलक्षणम्।
चौराद्यैरपहारेण वियोगे तु ततोऽधिकम् ॥१७॥
कान्ताकटाक्षदृक्पातैः क्षिणोति हृदयं क्षुरैः।
क्षमादामादयो जातु न जाने क्व क्षयन्ति हि ॥१८॥
मद्याक्षीमधुरालापैरुन्मत्तमतिचेतसाम्।
तस्या वियोगजं दुःखं योगी को वेत्तुमर्हति ॥१९॥
उष्णो दहति वै वन्हिः शीतः कृष्णायते करम्।
तथैव विषयाः सर्वे पीडयन्ति सदा नरम् ॥२०॥
उदासीना विवेकेन सदा स्वस्था गतव्यथाः।
न मिलंति त्यजन्तीत्थं जीवन्मुक्ता भवंति ते ॥२१॥
नैतस्मादेव लोकात्तु ब्रह्मलोकसुखादपि।
वैराग्यमधिगम्यैव परं ब्रह्माधिगम्यते ॥२२॥१४५॥

हे सुरंग ( विवेकियो ! ) कनक कामिनी आदि मायिक वस्तुओं को देखकर नहीं भुलना ( लोभकामादि के वश नहीं होना ) किन्तु इन्हें त्याग कर फिर इनसे मिलना विछुड़ना दु ( दोनों ) हे ( सुरंग ) लरा ( त्यागो )। जैसे साप केचुरी को त्यागकर उदासीन हो जाता है, तैसे

होवो। या उनसे मिलना बिछुड़ना दोनों हेलरा ( हेय–दुःखद ) हैं, जैसे केचुरी के रहते त्यागते समय साप को कष्ट होता है, तैसे ही समझो॥१४५॥

माया के वशि सब परे, ब्रह्मा विष्णु महेश।
सनक सनन्दन नारदहुं, गौरी पूत गणेश ॥१४६॥

ब्रह्मविष्णुहरास्तद्वत्सनकश्च सनन्दनः।
गणेशो नारदाद्याश्च सर्वे देवगणास्तथा ॥२३॥
यावत्स्वस्वाधिकारं तेऽतिवर्तन्ते न शाम्बरीम्।
अतो मायावशे सर्वे नैव ध्येया मुमुक्षुभिः ॥२४॥
पूर्वजन्मनि काम्येन कृतेन निजकर्मणा।
भवंति देवता मर्त्या रागद्वेषादिसंयुताः ॥२५॥
तत्र केचिद्विवेकेन ज्ञानान्मुक्ता भवन्त्यपि।
अन्ये संसारिणः सर्वे देवा अपि न संशयः ॥२६॥
अतोऽत्र देवमायाय कर्तव्यं न मुमुक्षुभिः।
देवानपि स्त्रियो ज्ञात्वा क्रीडामृगवशंवदान् ॥२७॥
" देवा देववधूवक्त्रमद्यपानविमोहिताः।
जानन्तोऽपि न जानंति मद्यपा इव भूमिगाः" ॥२८॥
मायाया या वशे भूत्वा ब्रह्माद्याः सनकादयः।
सर्वे पश्चात्परं तत्त्वं तत्त्यागेनैव लेभिरे ॥२९॥
तस्मात्त्वयापि तत्त्यागः कर्तव्यः सुखमिच्छता।
अभ्युपगमवादेन चोच्यते गुरुभिस्त्विदम् ॥३०-१४६॥

ब्रह्मा आदि सब देव भी माया के वश में हैं ( उनकी भी विभूति सिद्धि सब मायिक हैं) पूर्वजन्म के काम्यकर्म से मिले हैं। तुम उनकी इच्छा नहीं करो, त्रिगुणपर को समझो यह भाव है ॥ या ब्रह्मा आदि प्रथम माया

के वश में होकर फिर पर तत्त्व में पहुंचे, तैसे ही तुम पहुंचो ॥ या अभ्युपगमवाद और माया की प्रबलता दृष्टि से वर्णन है इत्यादि ॥१४६॥

तन संशय मन श्वनहा, काल अहेरी नीत।
एकहिं डांग बसेड़वा, कुशल पुछहु का मीत ॥१४७॥

सर्वेषां हि शरीराणि संशयैः पूरितानि च।
अविवेकदशास्त्वे नश्वराणि स्वतस्तथा ॥३१॥
स्वरूपेणापवित्राणि मनःश्वा तत्र तिष्ठति।
कालश्च लुब्धको नित्यं छिद्राऽन्वेषणतत्परः ॥३२॥
एवं सति च देवेषु कं विशेषं विलोक्य वै।
तत्र त्वं कुशलं बुद्ध्वा साधनं परिपृच्छसि ॥३३॥
संसारविपिने वासो देवानामपि वा तव।
यावद्वै विद्यते विद्वंस्तावद् भव्यं भवेत् कुतः ॥३४॥१४७॥

हे मित्रो! देव मनुष्यादि सबही के तनु संशयमय विनश्वर हैं। और मन कुत्तातुल्य है। सदा सर्वत्र काल अहेरी (व्याधा) है। और एकही डाँग में (संसारवन में वा पर्वत पर) सबके बसेड़ा (स्थिति) है, तो फिर कहाँ की कौन कुशल किससे पूछते हो, अज्ञानदशा में सर्वत्र दुःख ही है ॥१४७॥

साहु चोर चीन्है नहीं, अन्धा मति के हीन।
पारख विना विनाश है, करु विचार ह्वे भिन्न ॥१४८॥

सद्गुरुं च निजात्मानं सत्यदं सत्यरूपिणम्।
विषयं वञ्चकं चैव सर्वस्वस्य विनाशकम् ॥३५॥
यः कामान्धोऽकृतप्रज्ञो विवेकेन न पश्यति।
स नश्यति सदा मूढो नैव रूढो निजात्मनि ॥३६॥

विज्ञानमन्तरा यस्मादन्तरायै विहन्यते ।
तस्मात्संगं परित्यज्य स्वात्मानं प्रविचारय ॥३७॥
विवेकाढ्यकं त्यक्त्वा चित्तस्य रञ्जक जनम् ।
सद्गुरुं परमानन्दं सद्भक्तिं च समाश्रय ॥३८॥
सुवर्णकान्तादिमयं हि केचिद् दृष्ट्वैव मायां परिमुग्धचित्ताः ।
धूर्तान् गुरूंश्चापि हि मन्यमाना जना भ्रमन्तीति च पश्यतात्तान्॥३९॥
अहिमिव जनयोग सर्वदा वर्जयेद्यः,
कुणपमिव सुनारीं जातविद्यो विरागी ।
उपरतियुतचेता मानदम्भादिहीनः,
स हि भवति विमुक्तो जातु नैवेह रागी ॥४० १४८॥

इति साक्षिसाक्षात्कारे तामसमनोमायातत्त्यागवर्णनं नाम सप्तविंशी वित्तिः ॥२७॥

अन्धा ( अविवेकी ) मति के हीन ( भावी हितबुद्धि रहित ) पुरुष सद्गुरु सत्यात्मा रूप साहु, और वंचक मनमायादिरूप चोर को नहीं चीन्हता है, इसीसे पारख ( अपरोक्षात्मानुभव ) विना इसका बार २ नाश हो रहा है, तुम विवेकपूर्वक साहु चोर को पहचानो, और चोरों से भिन्न होकर विचार करो, तबही काल से बचोगे इत्यादि ॥१४८॥

इति तामस मनमाया और उनका त्याग प्रकरण ॥२७॥

## साखी १४९, चित्तदर्पण कुशिष्य प्र. २८.

गुरु सिकलीगर करि लेहु, मनहिं मसकला देइ ।
शब्द छोलना छोलि के, चित दर्पण करि लेइ ॥१४९॥
चित दर्पण मन मसकला, कलमा कुलुफ लगाय ।
ये अजीज मॉजत रहू, मूर्चा लागि न जाय ॥१५०॥

चित्तदर्पणकारं त्वं गुरुं मत्वा मनः स्वयम्।
संविश्राणय तस्मै तत् सहायकरणाय हि ॥१॥
सद्गुरोः शब्दशाणेन चित्तमतिनिकष्य वै।
अपविध्य मलं सर्वं दर्पणं तत् कुरुष्व च ॥२॥
मनसा गुरुशब्देन चित्तादर्शे सुसंस्कृते।
निभालयस्व चात्मानं तत्र स्वस्थः सदा प्रिय! ॥३-१४९॥
उपनेत्रं गुरोर्मन्त्रं बुद्धिनेत्रे सदाऽर्पय।
यावन्न दृश्यते चात्मा मुकुरं तावदात्मनः ॥४॥
परिमार्जय येनायं मोहान्न मलिनायते।
चित्ते स्वे दर्पणे यद्वा मनः स्वं पारदादिकम् ॥५॥
यन्त्रं॰ काष्ठादिसंभूतं साधनं तत्र दीयताम्।
विवेकेन विशोध्याशु तत्रैवात्मा निरीक्ष्यताम् ॥६-१५०॥

सद्गुरु को सिकलीगर (चित्त दर्पण के शोधक वा कर्ता) कर लो। मनरूप मसकला (मसाला–साधन) उनके प्रति अर्पण करो, और उनके शब्दरूप छोलना (सान) से चित्त के दोषों को छोलकर, चित्त को शुद्ध दर्पण बना लो ॥१४९॥

ये अजीज (हे प्यारे!) चित्त दर्पण में मन मसकला लगाकर बुद्धि नेत्र में कलमा (गुरुमन्त्र) कुलुफ (चश्मा) लगाकर सत्संगादि से सदा इन्हें माजते रहो कि जिससे इनमें मूर्चा (काई) नहीं लगे, सदा स्वस्वरूप का भान हुआ करे इत्यादि ॥१५०॥

गुरु बेचारा क्या करै, शिष्य हि में है चूक।
शब्द बाण वेधे नहीं, बांस बजाय फूंक ॥१५१॥

दर्पत्यागेन शिष्यश्चेद्दर्पणं न विशोधयेत्।
प्रमादाद्यदि वाऽऽलस्याद्गुरुस्तस्य करोतु किम् ॥७॥

वंशवाद्यं यथा वातैर्मुहुः शब्दायते स्वयम् ।
तथापि तत्र कश्चिन्न शब्दं स्थापयितुं क्षमः ॥८॥
तथैव स्वप्रमादादियुक्ते शून्ये वहिर्मुखे ।
शब्दं स्थापयितुं शक्तो गुरुर्यत्नशतै र्नहि ॥९॥
ये तु फल्गूपदेशेन जनान् वञ्चयितुं क्षमाः ।
ते कामं तादृशान् मूढान् वञ्चयन्तामहर्निशम् ॥१०॥
योऽसमर्थो गुरुः शिष्यं योग्यं वोधयितुं तथा ।
स किं करिष्यति श्रेयः शब्दस्य श्रावणादृते ॥११॥१५१॥

यदि शिष्य में अनवधानता प्रमादादि चूक है तो बेचारे दयालु गुरु भी क्या कर सकते हैं । यदि शब्दबाण शिष्य में नहीं वेधता, तो जैसे बास की बंसुरी फूंक से बजाया जाता है, परन्तु उसमें शब्द नहीं वेधता, तैसाही वह शिष्य है इत्यादि ॥

या यदि असमर्थ गुरु के अपराध से शिष्य में चूक ( अज्ञान ) है, तो वह गुरु करही क्या सकता है, सारशब्द को स्वयं नहीं जानता केवल बासुरी की तरह कान में फूंक मारता है । [ कनफूका गुरु हद का, वेहद का गुरु और । वेहद का गुरु जब मिले, लहै ठिकाना ठौर ॥] अंग की साखी ॥१५१॥

सब तरुवर तर जायके, सब फल लीन्हा चीख ।
कबीर फिरि फिरि मांगई, शब्दों हीं का भीख ॥१५२॥
शब्द स्वरूपी ते भये, किया शब्द सो मेल ।
शब्द न चीन्है बावरा, फिरि फिरि खेलु अहेर ॥१५३॥

सर्वेषु तरुलोकेषु गामं गामं जनो मुहुः ।
योनिष्वपि च सर्वासु जनित्वाऽयं पुनः पुनः ॥१२॥

पुनरुक्तेन भुक्तानि विषयांश्च फलानि वै ।
मूढो वाञ्छति फल्गूनि नैव हन्त महत् फलम् ॥१३॥
विवेकिनो विचिन्त्यैवं विरक्ता भवसागरात् ।
सद्गुरुं शरणं प्राप्य सारशब्दस्य भिक्षुकाः ॥
भवंति न च तेऽसारे संसारे संसरन्ति हि ॥१४-१५२॥
यतोऽसारेण संसर्गादसारत्वं प्रपद्यते ।
सारेण खलु शब्देन सारत्वं सचिदात्मकम् ॥१५॥
सारशब्दाविवेकेन मूढा जन्मनि जन्मनि ।
असारे सारबुद्ध्यैव म्रियन्ते जननाय वै ॥१६-१५३॥

अज्ञ जीव ! सब लोक योनिरूप तरु ( वृक्ष ) तर बार २ जाकर सब फलों ( भोगों ) के चीख ( भोग ) लिये हैं । और उनसे तृप्ति हुई नहीं, तौभी फिर २ कर देवादि से उन शब्दादि भोगों की ही भिक्षा मांगते हैं । या विवेकी लोग भोगों से तृप्ति का अभाव जानकर सार-शब्दों की भिक्षा सद्गुरु से बार २ मांगते हैं ॥१५२॥

जो पुरुष जिस शब्द से मेल ( प्रेम ) किया सो तिसी स्वरूप हो गया । जो बावरा सारासार शब्द को विवेकपूर्वक नहीं चीन्हता है, सो मिथ्या शब्दार्थ के ही लिये बार २ अहेर खेलता है ॥ या अविनाशी सारशब्द से मेल करनेवाले अविनाशी हो गये, असार के प्रेमी सार ज्ञान रहितों का काल बार २ अहेर खेलता है इत्यादि ॥१५३॥

मूरख के समुझावते, ज्ञान गाँठि को जाय ।
कोयला होय न ऊजरो, सौ मन साबुन लाय ॥१५४॥

मूर्खशिष्योपदेशेन ज्ञानं हृद्ग्रन्थिसंचितम् ।
अपयाति स शुद्धत्वं नैति यत्नशतैरपि ॥
यथा नैङ्गालकः क्वापि क्षारद्रव्ये विशुद्ध्यते ॥१७॥

ये हि मूढतमा लोका निकृष्टेराग्रहग्रहैः ।
गृहीता मानिनस्तेषु नोपदेशाः फलंति हि ॥१८॥
नो व्यापारशतेनापि ह्यलातं श्वेततां व्रजेत् ।
नापि यत्नशतैः काकः शुकवत्पाठ्यते क्वचित् ॥१९॥
यथाङ्गारः पुनर्दाहाद्विकाराच्छेत्यते स्वयम् ।
जन्मान्तरं गतस्तद्वन्मूढोऽपि भोगतः क्वचित् ॥२०॥
शिष्यो भवेन्नैव समाहितश्चेद्विभिन्नचेता विषयेषु सक्तः ।
शश्वद् गृहीतो हि दुराग्रहैश्च नैवाऽत्र साध्यः स भवेत्कथञ्चित्
॥२१॥१५४॥

मूरख ( दुराग्रही–ज्ञानाभिमानी ) के समझाते में गाठि ( हृदय ) के तत्त्वज्ञान (उपदेश) व्यर्थ जाता है। जैसे सौ मन साबुन लगाने से भी कोयला उजला नहीं होता, वैसाही मूरख को जानो ॥१५४॥

मूढ कर्मि मानै नहीं, नख शिख पाखण्ड आहिं ।
बाहनिहारा क्या करै, बाह न लागे ताहि ॥१५५॥

पाषण्डैर्हतबोधो यो नारोहेदिह कर्मठः ।
शीघ्रगामिनि बोधाख्ये संसारचमवारके ॥२२॥
बुधाः किं तस्य कुर्वन्तु दयया प्रेरिता अपि ।
तिष्ठन्तीह न यो मार्गे विपरीतगतिस्तु यः ॥२३॥
न स वर्षसहस्रान्ते गन्तव्यमधिगच्छति ।
यस्तु प्राच्यां भवेद्यस्य प्रतीच्यां चेत्स गच्छति ॥२४॥
गमनाद्दूरता भूयो वर्द्धतेऽकर्मतस्तथा ।
मोक्षो दूरतरं याति न पश्यन्ति विकर्मिणः ॥२५॥
मोहकवचसंनद्धः कर्मकंचुकितो हि यः ।
वर्तते ह्यच्छिरो यस्य दर्पशीर्षकसंयुतम् ॥२६॥

तत्र वै सद्गुरोर्वाणाः सारशब्दमया अपि।
विशन्ति ज्ञानवैराग्यमहाशास्त्रधरस्य न ॥२७-१५५॥

जिस मूढ कर्मी के नख से शिखा तक दम्भवेषाभिमानादि पाखंड से भरा है। सो सद्गुरु के सारशब्द को नहीं मानता है। और यदि उसको थाह ( शक्ति ) नहीं लगती, या थाह (ओर आदि तत्त्व का भेद) के पता नहीं लगता तो थाहनिहारा ( पहुंचानेवाला शक्ति देनेवाला ) गुरु क्या करें। या ज्ञानबाण चलानेवाले क्या करें इत्यादि ॥१५५॥

सीमर केरा सूगना, छिहुले बैठा जाय।
चोंच समारे शिर धुने, ई उसही का भाय ॥१५६॥

शालमलिस्थः शुकः कश्चिद्गत्वा तस्य फलांतिके।
शिरः कृत्वा तिरश्चीनं चञ्चुकं संदधाति च ॥२८॥
आनन्दोल्लसितश्चास्ते तत्त्वं तस्य न वेत्ति सः।
अतत्त्वज्ञास्तथैवैते मूढाः पण्डितमानिनः ॥२९॥
संसारशालमलेस्तुच्छफलायैवोल्लसंति वै।
कीराणां भ्रातरस्तेऽस्माद्गणनार्हा न मानुषे ॥३०॥
शालमलिस्थो यथा कीरो ह्यतृप्तस्तत्फलेन वा।
किंशुकं रसलोभेन पुनर्मूढो निषेवते ॥३१॥
तथैव कर्मठोऽप्यत्रातृप्तो विषयभोगतः।
लोकान्तरं पुनर्गत्वा विषयानेव सेवते ॥३२॥
तृप्तेरजनकत्वं तु नैव जानाति मूढधीः।
संसारशाल्मलिं चातः कीरवत्सेवते सदा ॥३३॥
धुनोति स्वशिरः कामान्मनोऽत्र संदधाति सः।
अतृप्त एव तेनापि याति कुत्रापि कीरवत् ॥३४॥१५६॥

जैसे सीमर पर बसनेवाला सूगा, उसके ढेंढुला ( फल ) के पास जाकर बैठता है, चोंच समारता है, आनन्द से शिर धूनता है। तैसेही धर्मंड जीव ससार में कनक कामिनी के पास बैठते हैं इत्यादि, क्योंकि ये भी उस अविवेकी सूगा के भ्राता हैं॥ या जैसे वह सीमर के फल से नहीं तृप्त होकर पलास पर जा बैठता है, तैसे ये लोग इस लोक में नहीं तृप्त होकर परलोक में जा बैठते हैं, और दोनों को तुल्य नहीं समझते इत्यादि ॥१५६॥

सुगना सीमर सेइया, दो ढेंढी की आश।
ढेंढी फुटी चनाक दे, सुगना चला निराश ॥१५७॥

फलद्वयाशया यद्वच्छाल्मलिं सेवते शुकः।
चणकृत्य हि तद्भङ्गे हताशो गच्छति क्वचित् ॥३५॥
कान्ताकनकयोस्तद्वदुभयोर्लोकयोस्तथा।
प्राप्त्यर्थं सेवते मूढोऽसुहितो हि जगत्तरुम् ॥३६॥
व्रजन् स जन्मनो जन्म निर्वृतिं लभते नच।
शोकाचैश्च परीताङ्गो नूनं याति हताशताम् ॥३७॥
मूढो नरो यस्तु शुकेन तुल्यः संसेवते शाल्मलितुल्यवल्गुम्।
स वञ्चितः कर्मवशो विपन्नः शोच्यः सदा तं पुनराश्रयन् स्यात्॥
॥३८ १५७॥

इति साक्षिसाक्षात्कारे चित्तदर्पणकुशिष्यादिवर्णनं नामाष्टाविंशी रितिः ॥२८॥

मूढ़ जीवरूप सुगना, लोक परलोक, या कनक कामिनी रूप दो ढेंढी ( फल ) की आशा से ससार सीमर को सेवता है। परन्तु जैसे

ढेंढी चन शब्द करके फूटती है; तैसेही इन फलों के नष्ट होने पर जीव हताश होकर चलता है। इत्यादि ॥१५७॥

इति चित्त दर्पण कुशिष्य प्रकरण ॥२८॥

## साखी १५८, सद्धारणा हरिहीरादि प्र. २९.

सुगना सीमर वेगि तजु, घनी बिगूचन पांख।
ऐसा सीमर स सेवे, जाके हृदय न आंख ॥१५८॥

कृपाऽकूपारसंसारपरो वै सद्गुरुः सदा।
संतापैः संपरीतान् हि दृष्ट्वा जीवान् सुविह्वलान् ॥१॥
संसारदुःखशान्त्यर्थमनुत्तमसुखाप्तये।
दयाज्ञानघनः शश्वत्सत्तत्त्वं प्राह सज्जनम् ॥२॥
सुशीघ्रं त्यज कीर त्वं शाल्मलिं वर्तते घनः।
सुस्निग्धः सुन्दरः पक्षः विवेकोऽक्षिबलं तथा ॥३॥
संसारशाल्मलिं सद्यस्त्यजातिनिरसं बुध।
अत्रासक्तिर्न कर्तव्या कदापि जगति त्वया ॥४॥
एनं त्यक्त्वाऽभिगन्तुं ते बुद्धिर्वै वर्तते दृढा।
कर्तुं शक्यो विवेकोऽपि प्रमादो न विधीयताम् ॥५॥
बुद्धिहीना विमूढा हि सेवनेऽस्याधिकारिणः।
त्वं भव्यो न तथा धीमन् भाविनाशो विचिन्त्यताम् ॥६-१५८॥

हे विवेकी सुगना (जीव)! संसार सीमर को वेगि (शीघ्र) त्यागो। आसक्ति छोड़ो। तेरी पांख (शुद्ध मन बुद्धि) घनी बिगुचन सघन सुन्दर रचनायुक्त) है। ऐसा (असार) सीमर को सोई पुरुष सेवता है, कि जिसके हृदय में विवेक विज्ञान आँख नहीं रहती है॥

या इस सीमर को शीघ्र त्यागो नहीं तो तेरे पाँख पर घनी बिगुचन ( भारी आपत्ति ) आनेवाली है, जैसे रूआ लिपटने से सूआ के पाख पर आपत्ति आती है इत्यादि ॥१५८॥

जानि बूझि जड़ ह्वै रहै, बल तजि निर्बल होय ।
कहहिं कबिर ता सन्त के, पला न पकरै कोय ॥१५९॥

सङ्गं त्यक्त्वा सुमूढानां लोके मूढ इवाचरन् ।
क्षमया च बलं त्यक्त्वा निर्द्वन्द्वं रमते बुधः ॥७॥
जानन्नपि च मेधावी जडवच्चरतीह यः ।
बली निर्बलवच्चैव स नैवासज्जते क्वचित् ॥८॥
बुधोऽतो बालवत्क्रीडेत् कुशलो जडवच्चरेत् ।
वदेदुन्मत्तवद्विद्वान् गोचर्या नैगमश्चरेत् ॥९॥
यो वा विश्वमसज्ज्ञात्वा पुनस्तत्रैव मज्जति ।
विवेकादिस्वसामर्थ्यं त्यक्त्वा यश्चाबलायते ॥१०॥
सह तेन न गन्तव्यं श्रोतव्यं भाषितं न च ।
कदापि तस्य भोः साधो नासौ तारयितुं क्षमः ॥११॥
य आत्मना स्वमात्मानं नोद्धरेद्धि कथंचन ।
उद्धरिष्यति चान्यं स कथं चित्ते कुरुष्व तत् ।१२॥
यश्चात्मना स्वमात्मानं नैवोद्धरति मूढधीः ।
तं न देवा न वा लोकाः सेश्वराः प्रोद्धरन्ति हि ॥१३॥
ज्ञात्वाऽपि विश्वं क्षणभंगुरं ये, बध्नन्ति चास्थां पुनरत्र मोहात् ।
तत्सङ्गमाश्रैव तरन्ति केऽपि, भवं ततस्ते न भवंति सेव्याः॥१४-१५९

जो विवेकी स्वय जान बूझ ( पूछ समझ ) कर जडतुल्य अस रहते हैं। तथा बलप्रयोग को त्यागकर निर्बलतुल्य क्षमाशील रह हैं, उन सतों के पला ( गूट-कपड़ा ) कोई नहीं पकड़ सकता है

या जो संसार को नीरसादि जानकर भी आसक्त रहते हैं, जड़वत् बने रहते हैं, विवेकादि बल को त्यागकर निर्बल होते हैं, देवादि के भरोसे रहते हैं; विचारादि नहीं करते, उन तांत्रिक वेषधारियों का पक्ष कोई नहीं पकड़ो। जिन देवादि के भरोसे रहते हैं वे भी उनके पक्ष नहीं पकड़ते, पुरुषार्थी के ही सब सहायक होते हैं ॥१५९॥

लोग भरोसे कौन के, बैठ रहे अरगाय।
जियरहिं लूटत यम फिरै, मेढ़हिं लुटै कसाय ॥१६०॥

अहो कस्याशया लोकास्तुर्ष्णीभूय सदासते।
स्वविचारं विना चैनान् को जनस्तारयिष्यति ॥१५॥
यो विचारं न कुरुते सङ्गं त्यक्त्वाऽतिदुर्मतिः।
विवेकं लभते नासौ सद्भक्तिं वा विरक्तताम् ॥१६॥
तं यमः कसंठं मूढं निहन्यात्पुक्सो यथा।
मेषं हन्त्यविचारेण क्रूरश्चाहो दयां विना ॥१७॥
त्राणे देवा न वै शक्ता नेश्वराः सचराचराः।
अहो तथापि लोकोऽयं मूढस्तिष्ठति चाशया ॥१८॥
"उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः" ॥१९॥
इति न बालिशो वेत्ति ततो नश्यति चाशया।
आशानिर्मूलनं कृत्वा बुधस्तु मोदते सदा ॥२०-१६०॥

अविवेकी लोग न मालूम किसके भरोसे (आशा) से अरगाय (चुप हो) कर बैठे हैं (विचारादि पुरुषार्थ नहीं करते हैं)। अज्ञ जीवों को यम तो इस प्रकार लूटता (नष्ट करता) फिरता है, कि जैसे मेढा (मेषादि) को कसाई लूटता है, इस अवस्था में चुप होकर बैठना उचित नहीं है ॥१६०॥

हीरा सोइ सराहिये, सहै घनहु की चोट ।
कपट कुरङ्गी मानवा, परखत निकला खोंट ॥१६१॥

विनश्वरा हि सर्वेऽमी देवाद्या सचराचराः ।
हीरका न भवन्त्येते स्वात्मैव हीरकोऽमलः ॥२१॥
हतो घनेन हीरो यो भिद्यते न कदाचन ।
लोके सैव भवेच्छ्लाघ्यो भिद्यमानो न भवेद्यथा ॥२२॥
तथाऽमेयश्च निर्बाधस्तर्ककर्कशयुक्तिभिः ।
कालस्यापि हि कालत्वादात्मत्वादपि च स्वयम् ॥२३॥
अनर्घरत्नमेवासौ श्लाघ्यो नान्यो हि सज्जनैः ।
त्रिगुणो बाधितो भावो मायया रचितो मृषा ॥२४॥
अज्ञाने सति सन् भाति ज्ञाने सति विलीयते ।
मूढानां शरणं स स्यान्नतु जातु विपश्चिताम् ॥२५॥
कामाद्यमेयसच्छिष्यो योऽमेयात्माभिलाषुकः ।
जनाऽलङ्कारहीरश्च कपटो यत्र नास्ति च ॥२६॥
अञ्जसा लभ्यते तेन ह्यात्मरत्नं महाप्रभम् ।
लोकाऽलङ्कारभूतेन नान्यैस्तु जनपेलवैः ॥२७-१६१

हे मानवा ! सोई ( अखण्डात्म ) हीरा सराहिये ( प्रशसनी जानिये ) । जो तर्कादि घनों की चोट को सहता है । सर्वात्मा होने जिसका बाध नाशादि नहीं होता है। और कपटरूप माया से सिर कुरङ्गी ( त्रिगुण ) नकली हीरा तो परख ( विचारादि ) करने प खोंट ( तुच्छ ) ही निकलता ( सिद्ध होता ) है ॥ या जान बूझक भी शान्त क्षमाशील योग्य पुरुषरूप हीरा प्रशसा योग्य हैं, वे स विघ्नबाधा को सहकर अगाह लक्ष्य का लाभ करते हैं । और कपटयुक कुरंगी ( कुरागी ) परीक्षा में नहीं ठहर सकते इति ॥१६१॥

हरि हीरा जन जौंहरी, सबन पसारी हाट ।
जब आये जन पारखी, तब हीरों की साट ॥१६२॥

सर्वात्मा हि हरिर्हीरः सोऽखण्डो ज्योतिरव्ययः ।
तस्य लाभाय योग्यास्तु सज्जनास्तद्विवेकिनः ॥२८॥
वञ्चकाः कल्पितान् हीरान् संसारिजनहट्टके ।
प्रसारयन्ति सर्वेषां जनानां वञ्चनाय हि ॥२९॥
तत्र चेल्लभ्यते भाग्यात्सद्गुरुः करुणार्णवः ।
तदैव प्राप्यते ज्ञानं सत्तत्त्वस्य मुमुक्षुभिः ॥३०॥
मूढा अपि भवन्तीह तावत्खलु परीक्षकाः ।
मिलन्ति स्वस्य यावन्नो गुरवः सत्परीक्षकाः ॥३१॥
परीक्षकैर्मिलित्वा च सत्याऽसत्यात्मरत्नयोः ।
याथात्म्यं संपरिज्ञाय सद्लब्ध्वा त्वं सुखी भव ॥३२॥
साधवः समचित्ता ये ज्ञातज्ञेया मनीषिणः ।
वृजिनैरहताः कामैर्भवन्ति ते परीक्षकाः ॥३३-१६२॥

सर्वात्मा हरि हीरा हैं, सज्जन ज्ञानीजन जौंहरी हैं (पारखी हैं) अन्य सब लोग भी अपने२ मत के अनुसार अनेक हीरा हाट (संप्रदाय) में पसारे हैं। परन्तु जब पारखी (ज्ञानी) जन आये तब हीरों के यथायोग्य साट (मूल्य) हुआ या नकली अनेक हीरों की साट (सट्ट—जूआ) समझी गई [ झूठ जवाहिर के वणिज, तबलगि परि हैं पूर । जबलगि मिले न पारखी, घन पर चढे न कूर ॥ ] आग की साखी ॥१६२॥

हीरा तहाँ न खोलिये, जहँमा खोटी हाट ।
सहजहिं गाँठी बांधिये, लगिये अपनी बाट ॥१६३॥
हीरा परा बजार मे, रहा छार लपटाय ।
मूरख था सो चलि गया, पारखि लिया उठाय ॥१६४॥

लब्ध्वा त्वं सद्गुरो रत्नमात्मानं हरिमव्ययम् ।
हट्टे साधुजनानां हि तत्प्रकाशं प्रवर्तय ॥३४॥
यत्रानृतस्य रत्नस्य मूढैः संकल्पितस्य च ।
हट्टः स्यात्तत्र सद्रत्नं न वै विक्रियतां त्वया ॥
सद्वृत्त्या हृदि संरुध्य मार्गोऽनुस्त्रियतां स्वयम् ।३५-१६३॥
हरिर्हीरोऽत्र संसारे नगरे स्वात्मरूपतः ।
साक्षाद्वै वर्तते किन्तु नामरूपेण भस्मना ॥
कोशैश्च लिप्तवत्तेन मूढैरेष न लभ्यते ॥३६॥
अतस्तत्सद्धनं त्यक्त्वा ते गच्छन्ति भवार्णवे ।
रत्नार्थं खलु सन्तस्तु गृह्णन्ति हरिमादरात् ॥३७-१६४॥

जहाँ अज्ञ लोग खोटी हाट लगाये हों, वहाँ सत्य हीरा को ग्राहक विना नहीं खोलना ( बोलना ) चाहिये । किन्तु सहज स्वभाव से गाठि ( हृदय ) में बाध कर अपनी बाट ( मार्ग ) में लगो ॥१६३॥

सर्वात्मा हीरा ससार बजार में प्रत्यक्षही पड़ा है । परन्तु उसमें नामरूप कोशात्मक छार लिपटे हैं, इससे मूरख ( अज्ञ ) इसके ज्ञानप्राप्ति विना चले गये, कोई विरला पारखी उसे उठाय लिये ( प्राप्त किये ) इत्यादि ॥१६४॥

अपने अपने शीर की, सबहिन लीन्हो मानि ।
हरि की बात दुरन्तरे, परी न काहू जानि ॥१६५॥
हाड़ जरै जस लाकड़ी, केश जरै जस घास ।
कबीरा जरै रामरस, कोठी जरै कपास ॥१६६॥

सर्वे स्वस्वशिरोधार्यं किञ्चिन्मत्या हरिं नहि ।
मन्यते ह्यस्य वार्तोऽतो दूरस्था ज्ञायते नहि ॥३८॥

मूढाश्च कर्मठाश्चेव देवादिषु सुहीग्ताम् ।
मनोमुकुटशोभार्थं कल्पयन्त्यविवेकत ॥३९॥
विधाय तत्र बोध्यत्वं ध्येयत्वं भवकानने ।
विचरति भयस्थाने तेभ्यो दूरतरो हरिः ॥४०-१६५॥
हरेर्दूरतरत्वे च पादकौशिककलेवरे ।
विकुर्वते स्ववुद्धयापि ह्यग्निदाह्ये तृणादिवत् ॥४१॥
अस्थ्यादौ काष्ठवद्दग्धे घासवच्चिकुरादिषु ।
हरेर्वियोगिनो मूढाः कुशूलस्थिततूलवत् ॥४२॥
शनैः शनैर्हि दह्यन्ते पुनर्गर्भादिषु स्थिताः ।
अनात्मप्रेमशोकाभ्यां विरहाग्निजवेन च ॥४३-१६६॥

सत्य हीरा को त्यागनेवाले सब लोग अपने२ शिर की (दिमाग की) बात या शिर की ( शिरोधार्य पूज्य ) वस्तु भिन्न२ मान लिये हैं। अनेक सत्यादि समझे हैं, जिससे सत्य एक हरि की बात बहुत दूर के अन्तर ( पड़दा ) में पड़ गई है, इससे किसीको जान नहीं पड़ी ॥१६५॥

हरि की बात को दूर होने से लोग देहाभिमानी हुए हैं जिस देह के हाड़ लकड़ी की नाईं केश घास की नाईं जलता है। और राम वियोगी कबीरा ( जीव ) कोठागर्भादि के अन्दर अनात्म रामरस ( प्रेम ) से इस प्रकार जलता है कि जैसे कोठी के अन्दर कपास धीरे२ जलता है॥१६६॥

घाट भुलाना बाट बिन, भेष भुलाना कानि ।
जाकी माँडी जगत में, सो न परा पहिचानि ॥१६७॥

मूढैर्देहाभिमानैर्हि शमादीनामभावतः ।
जगदम्बुनिधेरेतैः सुघट्टो नोपलभ्यते ॥४४॥

मार्गैः शमादिभिर्लभ्या ज्ञानाद्याः संतरा इह ।
भवंति तैर्विना मूढा दीनास्तिष्ठंति सर्वदा ॥४५॥
वेषिणां नियमैस्तैस्तैर्वद्धाः सर्वे हि वेषिणः ।
संस्मरंति नचात्मानं यन्मायाकल्पितं जगत् ॥४६॥
यावन्न तद्विचारोऽत्र सत्साचाररतैरपि ।
क्रियते स्वाश्रमाविष्टैस्तावदात्मा न लभ्यते ॥४७॥
शमादिमार्गैः सुलभः सुघट्टो, हट्टस्तथा सन्निजबोधरत्नः ।
भवाम्बुधेः संतरणाय मुक्त्यै, तं निर्मलं हन्त नरो न वेत्ति ॥४८-१६७॥

इति साक्षिसाक्षात्कारे सद्वारणाहरिहीरकादिवर्णन नामैकोनत्रिंशी वित्तिः ॥२९॥

शमदमादिरूप बाट ( मार्ग ) बिना विराग योग ज्ञानादिरूप घाट भूले हैं जिससे संसार के पार होना असम्भव हो रहा है। और घाट के भूलने से वेषधारी लोग अपने२ कानि ( मर्यादा–इज्जत–बडाई ) में भूले ( फसे ) हैं ॥ इससे जिसकी माया की जगत में माड़ी ( विस्तार–पसारा ) है, सो इन्हें नहीं पहचान पड़ा ॥१६७॥

इति सद्वारणा हरिहीरादि प्रकरण ॥२९॥

## साखी १६८, असाध्य शिष्य प्र. ३०.

मूरखन सो का कहिये, शठ सो क्या बौसाय ।
पाहन में का मारना, चोखो तीर नशाय ॥१६८॥
जैसे गोली गुमुज की, नीच परे ढहराय ।
तैसे हृदया मूर्ख का, शब्द नहीं ठहराय ॥१६९॥

आत्मनोऽनवबोधेऽपि ये मूर्खा बुद्धमानिनः ।
तेभ्यः किमुच्यतां धीरैर्बालिशैर्नैव बुध्यते ॥१॥
शठा वक्राशयाः शश्वत्तेषां शक्नोति नो बुधः ।
किञ्चित्कर्तुं यथा तीक्ष्णैर्बाणैर्वै प्रस्तरस्य हि ॥२॥
पाषाणे सघने यद्वत्प्रयुक्तो ह्याशुगः स्वयम् ।
प्रणश्यति फलं नात्र कुरुतेऽत्र तथैव हि ॥३-१६८॥
यथा चैवोन्नते त्यक्ताः कन्दुकाद्या न वर्तुलाः ।
तिष्ठन्त्यवनते चैते प्रतिष्ठन्ते स्वयं यथा ॥४॥
शठे मूर्खे न शब्दोपि सद्गुरोरवतिष्ठते ।
वितिष्ठते मृदौ भक्ते प्रगुणे स्वयमेव तु ॥५॥१६९॥

मूरख ( ज्ञानाभिमानी ) से क्या कहा जाय । शठ ( दुराग्रही दुरात्मा ) से बौसाय ( बल ) क्या किया जाय । पत्थर में मारने से चोखा तीर भी नष्ट होता है, तैसेही मूर्ख और शठ में सुन्दर उपदेश और बल निष्फल नष्ट होते हैं ॥१६८॥

जैसे मन्दिर आदि के गुमज ( शिखर ) पर की गोली ढहराय ( लुढ़क ) कर नीचे में पड़ती और ठहरती है । उस गुमज के तुल्य ही मूर्ख का हृदय होता है, इससे उसमें सारशब्द नहीं ठहर सकता, किन्तु नम्र के हृदय में ठहरता है [ मूरख हृदय न चेत; जो गुरु मिलैं विरञ्चि सम । ] ॥१६९॥

ऊपर की दोऊ गईं, हिय की फूटी आँखि ।
कबिर बिचारा क्या करे, जो जीवहिं नहिं झाँखि ॥१७०॥

यो न स्याल्लौकिको नापि स्वयं यः स्यात्परीक्षकः ।
तस्यात्मदर्शनं जातु जायते न कथञ्चन ॥६॥

तावद् बुद्ध्या हि लौकिक्या शरीरादावनात्मता ।
अशुद्धजडताद्यश्च प्रत्यक्षेणावगम्यते ॥७॥
शास्त्रैर्जनितया बुद्ध्या सद्गुरुं प्रति लब्धया ।
आत्मा सच्चित्सुखाकारः प्रत्यक्षेणोपलभ्यते ॥८॥
बाह्यदृष्ट्या विहीनो यो नान्तर्दृष्टौ प्रयत्नवान् ।
नैव बोधो भवेद्यस्य गुरुस्तस्य करोतु किम् ॥९-१७०॥

जिन शठों के ऊपर की भी मानो दोनों आंखें नष्ट हो गई हैं कि जिससे शरीरादि में वर्तमान जड़ता आदि को नहीं प्रत्यक्ष कर सकते । और हृदय की भी विवेकादि आंखें फूटी हैं, जिससे सारशब्दादि को नहीं पहचान सकते, ऐसे जीवों को यदि ज्ञानादि (आत्मदर्शनादि) नहीं उत्पन्न होते तो कबीर (सद्गुरु वा वे जीव) बेचारे करहीं क्या सकते हैं ॥१७०॥

केते दिन एहूं गया, अनरूचे का नेह ।
ऊपर बोय न ऊपजे, जो घन बर्षे मेह ॥१७१॥

बहवो वासरा व्यर्थं गताः प्रीतिविवर्जितान् ।
जनान् बोधयतः प्रेम्णा सत्सत्त्वं वै महात्मनः ॥१०॥
यः कश्चिद्दययाऽऽक्रान्तो देशिको बहु भाषते ।
अभक्ताय कुरक्ताय स्नेहेनात्मोपदेशनम् ॥११॥
तद्गच्छति हि नैष्फल्यमूपरेप्तबीजवत् ।
करोति ज्ञानशस्यं न मृत्स्नायामुप्तबीजवत् ॥१२॥
अतो यत्र न धर्मः स्याच्छुश्रूषा वा न सत्तमा ।
तत्र विद्या न वक्तव्या शुभबीजमिवोषरे ॥१३-१७१॥

जिन्हें सदुपदेश नहीं रुचता ( नहीं अच्छा लगता ) उन अनरुचे ( प्रीति रहित ) पुरुषों के प्रति कितने दिनों का नेह ( स्नेह ) एहू

(व्यर्थ) गया। या उनके साथ प्रेम करने से कितने दिन व्यर्थ गये, उन्हें ज्ञान नहीं हुआ, जैसे अतिघनी वृष्टि मेघ करे तौभी ऊपर में बोने से उपज नहीं होती ॥१७१॥

मैं रोवों यह जगत को, मोको रोव न कोय ।
मोको रोवै सो जना, शब्द विवेकी होय ॥१७२॥

अहं रोदिमि सर्वार्थं मदर्थं नैव कश्चन ।
रोदिष्यति मदर्थं यः स विवेकी भविष्यति ॥१४॥
यस्य स्थैर्यमिहेच्छामः कैवल्यं चोत्तमं सुखम् ।
स चेन्नेच्छति कैवल्यं शब्दं न विविनक्ति वा ॥१५॥
ऊपरोऽसौ सदा ज्ञेयो मृत्खातुल्यो विवेकवान् ।
मत्प्राप्त्यर्थं स यतते नोपरस्तु कदाचन ॥१६-१७२॥

मैं इस जगत को रोता हू (इसका हित के लिये प्रेम विचारादि करता हू) परन्तु मोको कोई नहीं रोता (मेरे प्रेम परिश्रम को कोई नहीं समझता) मोको वही रोवेगा जो सार शब्द का विवेकी होगा इत्यादि ॥१७२॥

साहब साहब सब कहै, मोहि अँदेशा और ।
साहब सो परिचय नहीं, बैठहु गे किहि ठौर ॥१७३॥

ईशोऽसीत्यादि सर्वेऽमी वदन्त्यज्ञानिनो जनाः ।
साधयन्त्यनुभूतिं नो निपत्स्यन्ति हि कुत्र ते ॥१७॥
इत्येवं संशयो मेऽस्ति पश्यन्तु सज्जनाः परम् ।
कुर्वन्तु चानुभूतिं साऽवश्यं वै स्थितये भवेत् ॥१८॥
नैव ज्ञानादृते मर्त्यः कैवल्यं लभते ध्रुवम् ।
वर्तते महदाश्चर्यं जनैरेतन्न बुध्यते ॥१९॥

न नाममात्राल्लभते विमुक्तिं ज्ञानादृते तच्छ्रुतयो वदन्ति ।
न कर्मणा नैव धनादिभिश्च त्यागं विना क्वापि भवेत्स्थितिश्च ॥
२०-१७३॥

इति साक्षिमाक्षात्कारेऽसाध्यशिष्यादिनिर्णयन नाम त्रिंशी वित्तिः ॥३०॥

साहब२ (ईश्वर२ राम२ इत्यादि) सब कोई कहते हैं, और साहब के अनुभवादि नहीं करते, परन्तु मुझे तो और ही बात की अंदेशा ( संशय ) है कि यदि साहब से परिचय नहीं करते हो, तो अन्त में किस ठौर ( स्थान ) में बैठोगे ( स्थिर होगे ) इसलिये परिचय करो ॥१७३॥

इति असाध्य शिष्य प्रकरण ॥३०॥

## साखी १७४, पुरुषार्थावलम्बनादि प्र. ३१.

जीव बिना जिव जिवै नहीं, जिव का जीव अधार ।
जीव दया करि पालिये, पण्डित करहु विचार ॥१७४॥

पौरुषेण विना जीवो नाममात्रान्न जीवति ।
सच्चिदानन्दरूपेण न तिष्ठति कदाचन ॥१॥
आत्मोपरि दयां कृत्वा स्वात्मानं परिपालय ।
विचारं च कुरुष्वातो मा प्रमादं कुरुष्व च ॥२॥
अन्तःकरणशुद्ध्यर्थं सर्वोपरि दयां कुरु ।
जानीह्येतच्च जीवेन जीवो हि ध्रियते सदा ॥
माम्रा राज्ञा च लोकेषु ध्रियन्ते वै यथा प्रजाः ॥३॥
एवं गुरुं विना नैव स्वात्मना कोपि जीवति ।
देहाभिमानतः शश्वज्जायते म्रियतेऽपि च ॥४॥

अतो गुरोः कृपातस्त्व गुरुत्वं प्राप्य सज्जनात् ।
दयया परिरक्षस्व विचारं कुरु सर्वदा ॥५॥
मोहेन रक्षका लोके सन्त्येव तु सहस्रशः ।
पुत्रादीनां महाधीमन् विचाराद्विरला जनाः ॥६॥
विचारेण दयावान् यः सत्यभाषी सदा शुचिः ।
स एव मानवो लोके निर्दयस्तु पशुः स्मृतः ॥७॥
दयाधर्मो हि सर्वेषां सामान्योऽत्राभिधीयते ।
तथैव सुविचारश्च ययो धर्मः समाप्यते ॥८॥
अहिंसा परमो धर्मो दया च तत्स्वरूपिणी ।
अहिंसापरिरक्षाये धर्मः सर्वो विधीयते ॥९॥
विद्यते न दया यत्र विचारो वा सुनिर्मलः ।
न स धर्मः कुकर्मासौ तत्र यत् हन्यते जनः ॥१०॥
" न जीवेन विना तृप्ति जीवस्यापि हि सर्वदा ।
अतः ससर्ज भगवान् जीवो जीवेन हिंस्यते ॥११॥
कारुण्यं प्राणिषु प्रायः कर्तव्यं पुण्यहेतवे ।
अहिंसा परमो धर्मस्तस्मादात्मवदाचरेत्" ॥१२॥

हे पण्डितो ! ( विवेकियो ! ) गुरुरूप जीव विना अज्ञ जीव नहीं जीते ( नित्य चेतनरूप से स्थिर नहीं होते ) तथा माता व राजा आदिरूप जीव विना पुत्र प्रजा आदिरूप जीव नहीं जीते हैं। इससे परस्पर जीव के जीव आधार हैं। इसलिये दया करके जीवों का पालन करो, और विचार करो, क्योंकि मोहादि से तो सभी प्राणी में एक दूसरे का पालक होते हैं, सर्प भी सर्पिनी की रक्षा करता ही है इत्यादि। परन्तु दयाविचारादि से सब प्राणी दूसरे के रक्षक नहीं हो सकते। यह काम सत्पुरुषों का ही है। और इसके लिये मनुष्य मात्र का अधिकार है॥ और यह समझो कि मानव तनधारी जीव

अपने विचारादि पुरुषार्थ बिना सदा जीवित नहीं रह सकता, इससे अपना आधार आप है। तथा मांसाहारी सिंहादि दूसरे जीव के मांसादि विना नहीं रह सकते, तैसा तुम नहीं हो, इसलिये विचार करो और यथाशक्ति दया रक्षा करो इत्यादि ॥१७४॥

हौं तो सबही की कही, मोको काहु न जान ।
तबभि अछा अबभी अछा, युग युग होउँ न आन ॥१७५॥

मया सर्वहितं प्रोक्त मां जानन्ति न केचन ।
तदेदानीमहं स्वच्छो युगेष्वन्यो भवामि न ॥१३॥
इत्थ सद्गुरुणा ह्यत्र सर्वस्मै भाषितं शुभम् ।
गुरुं तं न विजानंति लोकाः सर्वे विमोहिताः ॥१४॥
जानन्तु वा न जानन्तु ते गच्छन्तु सुवर्त्मनि ।
इच्छन्ति गुरवश्चेत्थं चित्ते कुर्वन्ति नान्यथा ॥१५॥
ये जानंति गुरुं भक्ताः स्वस्वरूपान् करोति तान् ।
कीटान् भृङ्गो यथा लोके रहस्यं चैतदद्भुतम् ॥१६॥
बोधनायेतदर्थस्य स्वस्वच्छत्वादिवर्णनम् ।
क्रियते ह्यात्मदृष्ट्यैव देहदृष्ट्या न बुध्यताम् ॥१७-१७५॥

मैंने सबकी हित की बात कही है, सर्वात्मा का उपदेश दिया है। परन्तु मुझे कोई जानता नहीं है, कि तब भी अब भी (भूत वर्तमान काल में पहचान अपहचान दशा में) सदा मैं अच्छा ( निर्मल निर्विकार ) ही रहता हू, युग२ में भी अन्य स्वरूप नहीं होता हू इत्यादि ॥१७५॥

प्रगट कहौं तो मारिया, परदहिं लखै न कोय ।
सहना छपा पुआर तर, को कहि बैरी होय ॥१७६॥

प्रत्यक्षं वच्मि चेद्धन्ति वेत्ति कोपि न निह्नुतम् ।
पलाले यामिकं मग्नमुक्त्या शत्रुश्च को भवेत् ॥१८॥
ये गुरुं नैव जानंति वाञ्छन्ति विषयांस्तु ये ।
साक्षाद्दोषाभिधाने ते वक्तारं घ्नन्ति शत्रुवत् ॥१९॥
प्रत्यक्षात्मोपदेशे वा विचारस्योपदेशने ।
साक्षादभिहिते सर्वे कुप्यंति गुरवे भृशम् ॥२०॥
अतश्च गुरुभिस्तत्त्वं रहस्येनोपदिश्यते ।
कदाचित्तेऽपि वेत्स्यंति को विद्वेषं करोतु तैः ॥२१-१७६॥

प्रगट ( प्रत्यक्ष ) साक्षिस्वरूप का उपदेश देने से लोग मारने दौड़ते हैं। तथा उनके दोषों को भी प्रगट कहने से मारते हैं। और पड़दा ( सैन–इसारा ) से कहने पर कोई अविवेकी नहीं समझता है। या कोशरूप पड़दा में वर्तमान साक्षी को नहीं जानता है। और सहना ( शहना–मनरूप कोतवाल ) विषयरूप पुआर तर छिपा है, गुरुआ लोग देहासक्त हैं, इस अवस्था में प्रगट कहकर कौन इन लोगों के वैरी होय ॥१७६॥

कलि खोटा जग आँधरा, शब्द न चीन्है कोय ।
जाहि कहो हित आपना, सो उठि वैरी होय ॥१७७॥

देश विदेशे हौं फिरा, मनहीं भरा सुकाल ।
जाको खोजत हौं फिरो, ताका परा दुकाल ॥१७८॥

कालः कष्टः कलिर्लोका मोहापिहितदृष्टयः ।
सारशब्दं न जानन्ति विवेकेन कुबुद्धयः ॥२२॥
अतो यस्मै हितं वच्मि यं वा स्वात्महितं तथा ।
सोऽपि वैरायते नित्यं भावस्यानवबोधतः ॥२३-१७७॥

भ्रमं भ्रमं हि देशेषु मयाऽत्र यो विमृग्यते ।
अधिकारिजनस्तस्य दौर्लभ्यं लक्ष्यते सदा ॥२४॥

मनोऽनुगामिनश्चात्र लक्ष्यन्ते बहवो जनाः ।
शमाद्यैश्च विवेकाद्यै र्युक्तो हि विरलो भवेत् ॥२५॥

देशे विदेशे परितश्चरन्नहं चेतस्सुकालः परितो विलोकितः ।
अन्वेषयंश्चाचरमत्र यं जनं दुष्काल एवात्र समागतोऽस्य तु ॥२६॥

दया गुरौ भक्तिरथोऽविहिंसा शमादयो योगबलो विचारः ।
विवेकवैराग्यमुमुक्षुताद्या ह्यपक्षपातश्च विमुक्तिदाः स्युः ॥२७॥

एतैर्विना ये मनसाऽभिभूता रागादिदोषैः कलितान्तराश्च ।
गुरोर्नरास्ते हि पराङ्मुखाश्च जघन्यमानाः परितो भ्रमन्ति ॥
२८-१७८॥

इति साक्षिसाक्षात्कारे स्वपौरुषावलम्बनादिवर्णनं नामैकत्रिंशी विवृतिः ॥३१॥

यह कलि खोटा (हीन) काल है । संसारी लोग अविवेकान्ध हैं, कोई शब्द को पहचानता नहीं, इससे जिससे खास उसका हित की बात कहता हूं या जिसको अपना हित कहता हूं सो भी बैरी होकर उठता है १७७॥

देश विदेश में मैं फिरा तो सर्वत्र मन का सुकाल भरा (पूर्ण) देखा ( मन मानिक काम करने वाले सर्वत्र मिले ) और जिन विवेकियों को खोजता फिरता हूं, उनका कठिन दुकाल ( दुष्काल दुर्भिक्ष ) पड़ा है ॥१७८॥

इति पुरुषार्थावलम्बनादि प्रकरण ॥३१॥

## साखी १७९, संक्षिप्त सारोपदेश प्र. ३२.

मसि कागज छूवों नहीं, कलम धरों नहिं हात ।
चारिहुं युग के महातम, मुखहिं जनाई बात ॥१७९॥

तत्त्वमुक्त्वा गुरुः प्राह समासेन पुनर्हि तत् ।
यतो व्याससमासाभ्यां बोधो दृढतरो भवेत् ॥१॥
गुरोश्चात्र प्रतिभास्ति मया नैवात्र किञ्चन ।
असत्तत्त्वं समाख्यातं नातत्त्वं कथयिष्यते ॥२॥
किन्तु मुख्यं हि यत्तत्त्वं तदेवात्रोपदिष्टवान् ।
समाधनं यतो जन्तुः कैवल्यं लभते ध्रुवम् ॥३॥
एतदुक्त्वा पुनर्नाहं ग्रहीष्ये लेखनीं मसीम् ।
चतुर्युगेऽपि यन्मुख्यं हितं तत्प्रोक्तवान् यतः ॥४॥
किं तन्मुख्यमिति स्याच्चेत्तवाकाङ्क्षा महामते ।
तदा त्वं सावधानेन पुनस्तत्त्वं निशामय ॥५-१७९॥

सद्गुरु का कहना है कि इस ग्रन्थ को लिखने के बाद मैं मसी कागज नहीं छूऊंगा, न हाथ में कलम धरूंगा। क्योंकि जो चारों युग के महातम ( महत्त्वयुक्त ) मुखहिं (-मुख्य–असली ही ) बात है, उस बात को मैं इस ग्रन्थ में जनाया हूं। या चारों युग के महात्माओं ने मुख से ही बात जनाई है। इससे मैंने भी ऐसा ही किया है॥ मैंने मसी आदि नहीं छुआ है, केवल मौखिक व्याख्यान किया है यह स्थूलार्थ है ॥१७९॥

फहमे आगे फहमे पीछे, फहमे बायें डेरी ।
फहमें पर जो फहम निवेरै, सोइ फहम है मेरी ॥१८०॥

अग्रे पश्चाच्च यज्ज्ञानं वामदक्षिणपार्श्वयोः ।
वृत्तिज्ञानात्परं यच्च विवेकोऽस्य मतो मम ॥६॥
ज्ञानमेव पुरस्तात्ते तत्पश्चात्तच्च दक्षिणे ।
उत्तरे च तदेवास्ति तदेवोर्ध्वमधः स्थितम् ॥७॥
एतन्मात्रं हि सत्तत्त्वमिति ज्ञानं तु यद्भवेत् ।
तच्च मे सम्मतं बोध्यं तस्माद्धि लभते परम् ॥८॥
भवद्भूतभविष्यद्भ्यो ज्ञानेभ्यो हि परश्च यः ।
हीनोत्तममतिभ्यश्च साक्ष्यात्मा बोधविग्रहः ॥९॥
तस्य नित्यस्य विज्ञानं संशयादिविवर्जितम् ।
सम्मतं मे सदा मुक्त्यै युक्त्या सम्यग् विनिश्चितम् ॥१०-१८०॥

फहम (स्फुरण-ज्ञान) ही आगे पीछे बायें दहिने सर्वत्र साक्षिस्वरूप से वर्तमान है, वृद्धिरूप फहम से परे इस व्यापक फहम पर जो फहम निवेरे (उसका निश्चय विवेक विज्ञान करे) सोई फहम (विज्ञान) मेरा अत्यन्त मुख्य बात है ॥ या आगे पीछे (भूत भावी) बायें डेरे (शुभाशुभ) सबरा फहम (विचार अनुभव) करे और सब फहमों (तर्कों) से परे साक्षिरूप फहम का प्रकाश अनुभव करे सोई मेरा फहम है इत्यादि ॥१८०॥

हद चलै सो मानवा, वेहद चलु सो साध ।
हद वेहद दोनों तजै, ताकी मता अगाध ॥१८१॥

वर्णाश्रमादिसंस्थायां ससीमवस्तुसंहतौ ।
वर्ततेऽभिनिवेशेन सामान्यो मानवो हि सः ॥११॥
सर्वत्राभिनिवेशं यः परित्यज्य विवेकतः ।
लोकबन्धननिर्मुक्तो विभावात्मनि वर्तते ॥१२॥

न साधुः प्रोच्यते सद्भिरुत्तमः पुरुषस्तथा ।
तुरीयस्थो ह्ययं प्रोक्तस्तदतीतस्ततः परः ॥१३॥
अनुभूत्यात्मनो यो हि स्वच्छिन्नादिवर्जितः ।
न ससीमो न निःसीमः स वाचां विषयो नहि ॥१४॥
अगाधमतिमानेष सुखसिन्धुर्महाद्भुतः ।
लभ्यते साधुभिश्चैव नान्येन केनचित् क्वचित् ॥१५ १८१॥

वर्णाश्रमादि या किसी धर्म सम्प्रदाय के हद (मर्यादा) में चलने वाले, या एकदेशी पदार्थों म मन लगानेवाले सामान्य मनुष्य हैं। और सद्विवेकादि से वर्णाश्रमधर्मादि के अभिमानरहित होकर बेहदगामी विमुतत्त्वपरायण निर्पक्ष पुरुष साधु हैं। बेहद में चलकर हद बेहद दोनों को त्यागनेवाले सम्हत्यागादि रहित विधिनिषेध के अविषय समाधिस्थ महात्माओं की मता (मति) अगाध (अगम्य अथाह) होती है। परन्तु विवेकादि विना बेहद चलनेवाले तो मनुष्य नहीं समझे जा सकते, वे पशु हैं ॥१८१॥

समुझे की मति एक है, जिन देखा सब ठोर।
कहहिं कबिर वे बीचके, बलकहिं औरक और ॥१८२॥

यैः सर्वत्र निजात्मैव दृष्टस्तेषां मतिः सदा ।
एकैव वर्ततेऽन्ये तं वदन्ति चान्यथाऽन्यथा ॥१६॥
भूमिकासु प्रभेदेऽपि सर्वेषां ज्ञानिनां मतिः ।
भवति ह्येकरूपैव न कदापि विभिद्यते ॥१७॥
भूतेषु स्वात्मदर्शित्वात्सर्वात्मत्वाच्च सर्वदा ।
भेदं वदन्ति ते नैव त्वभेदो वर्तते [illegible] ॥१८॥
संसारिणो वदन्त्यत्र सत्यतो [illegible] ।
आत्मनो बहुधा भेदं शक्तिकार्यादि[illegible] ॥१९॥

यश्च मूढतमो लोके यश्च बुद्धेः परं गतः ।
तावुभौ सुखिनौ स्यातां मध्यमाः क्लेशभागिनः ॥२०॥
यो न मूढतमो नैव बुद्धेः पारंगतोऽचलः ।
स्थितिमुल्लंघ्य गच्छन् स पशुर्नरकभाग् भवेत् ॥२१-१८२॥

जिन महात्माओं ने सब ठौर ( सब स्थान ) में सत्यात्मा को देख लिया ( प्रत्यक्ष किया ) है उन सब समझे ( ज्ञानियों ) की मति ( ज्ञान ) एक है। अभ्यासादि के भेद से धारणा में भेद रहने पर भी ज्ञान में भेद नहीं रहता है। और वे लोग संसार के बीच ( मध्य ) के हैं, जो ज्ञानाभिमानी और के और बलकते ( बकते ) हैं। अर्थात् मध्य दर्जे के लोगों में ज्ञान बात व्यवहार सब भिन्न ही रहते हैं ॥१८२॥

राह बिचारी क्या करै, पन्थि न चलै सुधारि ।
अपने मारग छोड़ि के, चले उजारि उजारि ॥१८३॥

किं करोतु हि सन्मार्गः पान्थश्चेन्न सुगच्छति ।
स्वमध्वानं परित्यज्य शून्ये शून्ये मजत्यसौ ॥२२॥
गुरुभिर्वर्णिता मार्गाः सर्वे सन्ति सुखावहाः ।
तत्र चेन्नैव गच्छति पान्थाः स्युः सुखिनः कथम् ॥२३॥
विचारेण शमादौ ये मार्गे तिष्ठंति निर्भयाः ।
अमार्गांश्च कुमार्गांश्च त्यजन्ति यत्नतः सदा ॥२४॥
सद्भक्तौ श्रवणादौ च गच्छन्तस्ते शनैरपि ।
अवश्यं हि लभन्ते तद् यन्मुक्तिरवगम्यते ॥२५॥
जनाः सन्त्यतिविभ्रान्ता मार्गे तिष्ठंति न स्वके ।
कुमार्गे परिधावंति यत्र किञ्चिन्न लभ्यते ॥२६॥
अत्र मार्गस्य दोषः कः कथ्यतां स करोतु किम् ।
दोषस्तेषां हि ये त्यक्त्वा मार्गं शून्येषु यांति हि ॥२७-१८३॥

महात्माओं के उपदेशादिरूप बेचारी राह ( मार्ग ) क्या करे, यदि पथिक जीव सम्हारकर नहीं चलता। यह जीव अपने मोक्षसुख के सन्मार्ग ( निष्काम शुभ कर्म भक्ति उपासना विवेक, विचारादि ) को त्यागकर उजारि२ ( सुखछाया रहित उजाड़ ) सांसारिक काम कर्मादि में ही भटकता फिरता है ॥१८३॥

ऊजर जाय बसाइया, छाड़ि बसन्ता गाम।
न वह बसा न ऊजरा, भया बसे का नाम ॥१८४॥

त्यक्त्वा ग्रामं वसन्तं स्वं वासयामास शून्यके।
न सोवासोदुवासोऽपि नामाऽभूद्वसतस्य तु ॥२८॥
शून्ये लोकान् हि संकल्प्य स्थितिं तत्र निरूप्य च।
आत्मलोकं न पश्यंति यत्र लोका वसंति हि ॥२९॥
ग्रामो वसति नो यश्च नो यश्च प्रविनश्यति।
नाममात्रं तु तस्याभूद्वासस्यापि विकल्पनात् ॥३०॥
कल्पिते नाममात्रेण सक्ताः सर्वे हि मानवाः।
देवदुर्लभमानुष्यं कुमार्गे नाशयन्त्यहो ॥३१॥
ज्ञानस्वरूपं हि यदात्मतत्त्वमाधारभूतं ह्यखिलस्य सत्यम्।
भ्रान्तो कुमार्गस्य न वेत्ति तद्धि शून्येऽल्पकेऽतः परिखिद्यतेऽसौ ॥
३२-१८४॥

शून्य में भटकनेवालों ने बसन्ता गाम ( सर्वनिवासी सर्वाधार ) सर्वात्मा को तथा सब साधन के धाम मानवलोकादि को त्यागकर उजाड़ ( शून्य ) में जाकर गाम बसाया है ( लोकादि की कल्पना की गया है ) और जिसे बसाया है, वह वस्तुतः न बसा है, न उजड़ा है, किन्तु केवल बसने का नाममात्र कल्पना से सिद्ध हुआ है, विकार कल्पनमात्र ही है ॥१८४॥

बोलि हमारी पूरबी, बूझै बिरला कोय ।
मेरी बोली सो बुझै, धूर्व पूर्व का होय ॥१८५॥

प्राची भाषाऽस्मदीयेयं जानाति कोपि तां जनः ।
ध्रुवप्राच्यो हि यो लोके ध्रुवाद् ध्रुवतरं विदन् ॥३३॥
सद्गुरोर्वचनं ह्रीदं पुराणस्य स्वयंभुवः ।
अनादेर्नित्यसत्यस्य सर्वभूतान्तरात्मनः ॥३४॥
चेतनस्य विशुद्धस्य बोधकं पापशोधकम् ।
शाश्वतस्य सुखस्यास्मिन्नञ्जसा प्रापकं तथा ॥३५॥
तं जना नैव जानन्ति मिथ्याकल्पनमोहिताः ।
जानन्ति कल्पनामुक्ताः सत्यस्याऽन्वेषिणः सदा ॥३६॥
ध्रुवाद् ध्रुवतरं यद्धि परात्परतरं तथा ।
पूर्वात्पूर्वतरं यच्च तद्बोधायेदमुच्यते ॥३७॥
प्राच्या यथा विदन्त्येव प्राचीं भाषां सुखं तथा ।
ध्रुवप्राच्या विदन्त्येतत्सद्गुरोर्भाषयाऽमृतम् ॥३८ १८५॥

सद्गुरु का कहना है कि मेरी बोली पूरबी ( पूर्वदेश की तथा सबसे प्रथम वर्तमान वस्तु के बोधक ) है, इससे विरले कोई अधिकारी ही मेरी बोली समझेंगे, जोकि ध्रुव ( अविनाशी-निश्चल ) पूर्व ( देश-वस्तु ) के ही जिज्ञासु खोजी होंगे, जैसे पूवा भाषा को निश्चित पूर्विया समझता है ॥१८५॥

मूआ है मरि जाहु गे, बिनु शर थोथे भाल ।
परेहु कराइल वृक्षतर, आज मरहु की काल ॥१८६॥

मृतोऽसि कुण्ठितैर्भल्लैः शरेणापि विना तथा ।
स्थितः करीरवृक्षाधो ह्यद्य श्वो वा मरिष्यसि ॥३९॥

भो धत्त माऽध्रुवे चित्तं कुमार्गेण न गम्यताम् ।
एताभ्यां वै मृता भूयो मरिष्यथ पुनस्तथा ॥४०॥
करीरकर्मवृक्षस्य विलपन्तोऽन्तिके सदा ।
कुण्ठितभल्लकल्पैश्च कामशोकाशुगैर्हताः ॥४१॥
पीडिता यै म्रियन्ते च भवन्तो दिष्टसंक्षये ।
अद्य श्वो वा मृतौ चात्र निश्चयो नैव विद्यते ॥४२॥
द्रुतं तस्माद्विधेयं तद्येन स्यान्न कदर्थना ।
जन्ममृत्युस्वरूपा वा कामशोकादिलक्षणा ॥४३-१८६॥

हे मनुष्यो ! उजाड़ में ग्राम बसाकर अनन्त बार मरे हो, और
र भी मर जावोगे, सो भी जैसे कोई बिना तीक्ष्ण शर के, और
थे भाला से अत्यन्त पीड़ित करके मारा जाय तैसे मरे हो और
रोगे। अबही कराइल ( कर्म ) वृक्ष तर पड़े हो, या सकण्टक
पत्र करील वृक्षतुल्य संसारवृक्ष तर पड़े हो। मरना बहुत समीप
चाहे आज मरो या काल्ह, इससे शीघ्र होश करो ॥१८६॥

जा चलते बन्दे पड़ा, धरती भई बिहाल ।
स सामन्त घामे जरै, पण्डित करहु विचार ॥१८७॥
पावन पुहुमी नॉपते, दरिया करते फाल ।
हाथन पर्वत तौलते, तिहि धरि खायो काल ॥१८८॥

अधीश्वराश्च सामन्ता.ये स्वभृत्यै र्नमस्कृताः ।
आदृता यत्प्रतापेन पृथिवी कम्पते स्म च ॥४४॥
तेऽपि तापैर्हि दह्यन्ते गार्भनारकयन्त्रिषु ।
नैव शान्तिमवाप्नोति कोपि देहीति निश्चयः ॥४५॥
सज्ज्ञानादि विना तस्मात्तापानां विनिवृत्तये ।
शान्तये च विचारं स्वं कुर्वन्तु पण्डिताः सदा ॥४६-१८७॥

यैरियं निर्मिता पृथ्वी पद्भिः कतिपयैरिह ।
लंघितश्चोदधिर्यैस्तु हस्तेन विधृतो गिरिः ॥४७॥
कालैः कवलितास्तेऽपि दिनैः कतिपयैर्यदि ।
तदाऽन्येषां मृतौ धीमन् किं वक्तव्यं विशेषतः ॥४८॥
देवाश्च सिद्धयः सर्वा लीयन्ते कालवारिधौ ।
निधयोऽपि विनश्यंति कालो हि बलवत्तमः ॥४९-१८८॥

जा ( जिस ) सामन्त ( राजाविशेष ) के चलते ( यात्रा ) में बन्दे ( दास सिपाही ) हुकुम में पड़ा ( खड़ा ) रहता है। या जिसके प्रमुत्व चलने पर लोग बन्दिखाना ( जेल ) में पड़े रहते हैं। सो सामन्तादि भी कभी ताप घाम में जलते हैं। हे पण्डितो ! इन बातों को विचारो [ जाते रवि परदे पड़ा—जा चलते रौंदे पड़ा ] ये पाठ भेद हैं, जिस विन्ध्य के बढ़ने से सूर्य भी छिप गये, जिसके लिये रौंद ( तम्बू ) पड़ा इत्यादि अर्थ हैं ॥१८७॥

जिस त्रिविक्रम भगवान ने पाँव से पृथिवी को नापा, हनुमानजी ने समुद्र को एक फाल ( डेग ) किया, रावण हाथों से पर्वत को तौला, इन सबको भी काल धरकर खाया, संसार में एकरस सदा नहीं रहने दिया फिर अन्य की कथा ही क्या अर्थात् महत्त्वादि सिद्धिवाले भी सिद्धिसहित नष्ट हुए, तो असिद्धों की क्या बात है ॥१८८॥

नव मन दूध बटोरि के, टिपके किया विनाश ।
दूध फाटि कांजी भया, भया घीव का नाश ॥१८९॥
सब ही ते लघुता भला, लघुता ते सब होय ।
ज्यों द्वितीया के चन्द्रमा, शिर नावै सब कोय ॥१९०॥

दुग्धानां नवमनकं नाशयत्यम्लविन्दुकः।
निध्यादिनवकं तद्वत्कालो नाशयति द्रुतम् ॥५०॥
यथा दुग्धसमूहोऽपि सघृतोऽम्लेन नश्यति।
कालेन ससुखं सर्वे नश्यन्ति निधयस्तथा ॥५१॥
अतः सर्वाभिमानं च मृषाऽऽसक्तिं सुतादिषु।
त्यक्त्वैव निर्ममो भूत्वा नम्रत्वेनैव वर्तताम् ॥५२-१८९॥
सद्गुरौ लघुता या च शुश्रूषा या च दीनता।
साधनेषु हि सर्वेषु साऽति ,श्रेष्ठतमा मता ॥५३॥
अनया सिद्ध्यते सर्वं स्वर्गः सौख्यं परं पदम्।
द्वितीयाचन्द्रवन्नम्रः सर्वैर्लोकैः प्रणम्यते ॥५४॥
नम्रता भक्तिराख्याता लघुतारूपिणी च सा।
अन्तरात्मा हरिर्भक्त्या तुष्यतीति विनिश्चयः ॥५५-१९०॥

जैसे सिद्धियाँ काल से नष्ट होती हैं तैसे नवनिधि भक्ति आदि भी काल अभिमानादि से नष्ट होते हैं। जैसे नव मन बटोरा हुआ दूध को टिपका (तीक्ष्ण खटाई के बिन्दु) नष्ट करता है, दूध फाटकर काँजी (पानीसा) हो जाता है। घी नष्ट हो जाता है। तैसेही निधियों को काल नष्ट करता है। आनन्द घी नहीं मिलता। अभिमान कामादि से भक्ति निकम्मी हो जाती है। उससे मोक्षादि नहीं मिलते। इसलिये धन निधि सिद्धि भक्ति आदि का भी अभिमानादि को त्यागकर विचारादि करना चाहिये ॥१८९॥

सुख मोक्षादि सबही श्रेयः कल्याण के लिये सब साधनों से लघुता (नम्रता–गुरुभक्ति) ही भला (श्रेष्ठ) है, लघुता से ही सब पुरुषार्थ सब साधन प्राप्त होते हैं, द्वितीया के चन्द्रतुल्य नम्र के प्रति सब कोई शिर झुकाते हैं ॥१९०॥

आपा तजै हरि भजै, नख शिख तजै विकार ।
जीवन ते निर्वैरता, सन्त मता है सार ॥१९१॥

ममत्वस्य परित्यागो भजनं च हरेः सदा ।
आशिखान्तविकाराणां नखादारभ्य वर्जनम् ॥
निर्वैरत्वं हि जीवैश्च सारः साधुमतो ह्ययम् ॥५६॥
ममत्वं च विकारांश्च मनोवाग्देहसम्भवान् ।
देहादावभिमानं च त्यक्त्वात्मानं हरिं भजेत् ॥५७॥
निर्वैरत्वं च भूतेभ्यः सदा कुर्यात्समाहितः ।
विश्वात्मस्थितसाधूनां मतमेतत्सनातनम् ॥५८॥
गुरोर्हि बुद्ध्वैव निजात्मतत्त्वं भूतेषु दत्ते स्वमनः सदा यः ।
गर्वादिमुक्तो हरिभक्तियुक्तः सुहृत्स सर्वस्य विमुक्तिमेति ॥
५९-१९१॥

जो पुरुष वेदगामी साधु होना चाहे सो आपा (पक्षपात–ममता) को सर्वथा त्यागे, और सर्वात्मा हरि को भजै ( सेवै चिन्तन विचारादि करै ) और नख से शिखा तक विकार को त्यागै, अर्थात् देह को विकाररूप मलिन जानकर इसके अभिमानादि को और इससे होनेवाले बुरे कर्मों को त्यागे। तथा सब जीवों से निर्वैरता का धारण करे, यही मोक्षप्रद साधुओं के सार ( सत्य ) मता ( सिद्धान्त ) है ॥१९१॥

पक्षापक्षिक कारणे, जगतो जात भुलान ।
निर्पक्षी हे हरि भजै, सोई सन्त सुजान ॥१९२॥

पक्षैश्च प्रतिपक्षैर्हि भ्रान्तं भ्रमति वै जगत् ।
हरिं भजति निष्पक्षो यः सुज्ञः साधुरेव सः ॥६०॥
ममताया हि जायेते रागद्वेषौ दुरुद्धरौ ।

अनौचित्येन जातौ तौ महानर्थप्रवर्तिनौ ।
भवतस्तेन लोकोऽयं भ्रमत्यज्ञो विमोहितः ॥६२॥
असाधुरिति स प्रोक्तः साधवस्तद्विलक्षणाः ।
महाभयकृतत्राणाः समचित्ता विमत्सराः ॥६३॥
निष्पक्षा निर्ममाः सन्तो भजन्तो हरिमादरात् ।
ये सुज्ञास्ते हि विज्ञेयाः साधवो दीनवत्सलाः ॥६४-१९२॥

पक्ष और अपक्ष ( अपनी पराई बुद्धि मत सम्प्रदायादि के भेद ) के कारण रागद्वेषादि करनेवाले जग के प्राणी, अपने सुखद मार्ग को भूलकर कुमार्ग में जा रहे हैं, वे असाधु हैं । और निर्पक्षी ( पक्षपातादि रहित ) होकर जो सर्वात्मा हरि को भजते हैं, सोई सुजान ( चतुर विवेकी ) सन्त हैं, उन्हींका उक्त सार मत है ॥१९२॥

बूड़े बड़े बड़ापने, रोम रोम हंकार ।
सतगुरु के परिचय बिना, चारों बरण चमार ॥१९३॥

महत्त्वस्याभिमानाब्धौ सर्वलोभाभिमानिनः ।
महान्तोऽपि निमज्जन्ति ये सजंति शरीरके ॥६५॥
विवेकेन विना ये हि कुलजात्यादिगर्विताः ।
ते महान्तोऽपि संसारेऽहङ्कारेण ब्रुडंति हि ॥६६॥
अहङ्कारविलासेन सद्गुरोर्विमुखीकृताः ।
तस्यापरिचयाद्देहे चर्मादिभिर्विनिर्मिते ॥६७॥
सर्वथा स्वात्मभावेन सर्वे वर्णाभिमानिनः ।
अन्त्यजत्वं समापन्नाश्चर्मकारत्वनामकम् ॥६८॥
ये हि मांसाशिनो मूढाः स्वधर्मस्याववीरकाः ।
ते वृथैवेह जल्पंति स्वात्मनां वर्णगौरवम् ॥६९॥

"*मद्यपी मांसभोजी च मत्स्यभोजी तथैव च ।
तेन पापप्रभावेण चर्मकारो हि जायते" ॥७०-१९३॥

उक्त नम्रता या साधुता विना बड़े २ लोग भी बड़ापन के रोम २ में अहंकार करके संसारसमुद्र में डूब गये। और अभिमान के मारे सद्गुरु के परिचय ( ज्ञानादि ) विना चारों वर्ण भी चमार ( चर्मादिमय देह के अभिमानी इसीमें आसक्त, और चर्मकार तुल्य मांसभोजी ) हुए हैं ॥ या सद्गुरु से आत्मपरिचय विना चार वर्ण अन्त्यजादि भेद सिद्ध हुए हैं, निष्पक्ष विमल साधुता नहीं आती है ॥१९३॥

माया तेजे क्या भया, मान तजा नहिं जाय ।
जिहि माने मुनिवर ढहे, मान सबन को खाय ॥१९४॥
माया के झँक जग जरै, कनक कामिनी लागि ।
कहहिं कबिर कस बांचि हो, रूइ लपेटी आगि ॥१९५॥

मायात्यागेन किं तस्य योऽभिमानं त्यजेन्नहि ।
मानेन मुनयो भ्रष्टा मानः सर्वान् हि खादति ॥७१॥
गोगृहादिकमायां ये त्यजंति प्राज्ञमानिनः ।
त्यजंति नाभिमानं चेत्तेषां त्यागो हि निष्फलः ॥७२॥
अभिमानो महाशत्रुरेष सर्वविनाशकः ।
मुनयोऽप्यभिमानेन बहुमान्याः क्षयंगताः ॥७३-१९४॥
अभिमानो न चेत्त्यक्तो मायापि त्यज्यते नहि ।
मायाऽग्निज्वालया तेन दह्यते सकलं जगत् ॥७४॥
कनकेन च कामिन्या सम्बन्धो ज्वलनोपमः ।
तूलतुल्योऽभिमितया यः कथं स शांतिमेष्यति ॥७५॥

* कर्मविपाकस. अ. २।२८॥

कनकार्थं च कान्तार्थं मायाग्निज्वालया जगत् ।
दह्यते शिष्यते तच्च कथं व्याताग्नितूलवत् ॥७६-१९५॥

यदि मान ( अभिमान ) न त्यागा, तो स्त्री धनादिरूप बाह्य माया के त्यागने से क्या हुआ । जिस अभिमान के मारे बड़े २ मुनिलोग निजपद से ढहे ( गिरे ) सो मान सबको खाता है, बाह्य त्याग से नहीं छोड़ता ॥१९४॥

अभिमान को त्यागने बिना सब संसारी कनक कामिनी के लिये वा उसके अभिमान सम्बन्ध से मायाग्नि के झँक ( ज्वाला ) में जर रहे हैं । साहब का कहना है कि अग्नि से लपेटी गई रूई की तरह माया कामादि के घेरे में तुम कैसे बच सकते हो, यदि बचना चाहो तो शीघ्र अभिमानरूप घेरे से भगो ॥१९५॥

माया जग सापिनी भई, विष लै बैठी वाटि ।
सब जग फन्दे फन्दिया, चले कबीरू काटि ॥१९६॥
साँप बिछी का मन्त्र है, महुरो झारा जाय ।
विकट नारि पाले परे, काढि कलेजा खाय ॥१९७॥

मायैषा भुजगी जाता कामादिविषसंयुता ।
या मार्गानवरुध्यैव कर्मयोगादिलक्षणान् ॥७७॥
तिष्ठत्यत्र निरातङ्का भीषयन्ती च मानिनः ।
ब्रह्माण्डे कुण्डले कृत्वा मोहदंष्ट्राऽभिदश्य च ॥७८॥
नाशयित्वा जगत् सर्वं सा गच्छति निजेच्छया ।
शातिता मोहतः सर्वे सीदन्तीह भवार्णवे ॥७९॥
ज्ञानखड्गैर्विभिद्यैनां सुखं गच्छति साधवः ।
जीवन्मुक्ताः स्वमार्गेण ते यान्त्येव निजेप्सितम् ॥८०-१९६॥

कामुक्या चै स्त्रिया केऽपि भुजंगया भक्षिता जनाः ।
ते शृण्वंति न सन्मन्त्रांल्लभन्ते न निजेप्सितम् ॥८१॥
सर्पादीनां विषं नावंद्धाल्हाहलविषं तथा ।
मन्त्राद्यैर्हि चिकित्संति स्त्रिया नैव विषं क्वचित् ॥८२॥
अतः सा हृदयं जन्तोरुन्माद्याकृष्य सर्वथा ।
करोति कवलं नूनं जानन्त्वपि कथं जनाः ॥८३-१९७॥

अभिमानी अविवेकी के लिये माया ससार में या ससार रूप सापिनी हुई है, सो कर्मादि सभी शुभ मार्गों में काम लोभादि विष लेकर बैठी है, और सब कबीरू (जीवों) को कनकादि फन्दों में फन्दिया (फँसाया) है, और काटकर (मोहमत्त कर) के चल देती है ॥ या माया जग को फसाती है, परन्तु कबीरू (विवेकी) उसके फन्दे (मोहादि) को काटकर चलते (मुक्त होते) हैं ॥१९६॥

सापादि के विष के मन्त्र हैं। माहुर के विष भी झारे (उतारे) जाते हैं। परन्तु साक्षात् मायारूप विकट (दुष्टा—कामुकी) स्त्री के पाले (वश या पास) में पड़ने पर वह आसक्त पुरुष के कलेजा काढ़कर खाती है, उसका विष नहीं उतरता, अवश्य मृत्यु होती है ॥१९७॥

पीपरि एक जु महागम्हानी । ताको मरम कोइ नहिं जानी ॥
डारि लभाय कोइ नहिं खाये । खसम अछत बहु पीपरि जाये ॥१९८॥

साहू से भौ चोरवा, चोरन ते भौ सूझ ।
तब जानेगा जीयरा, मार परेगा तूझ ॥१९९॥

संसाराश्वत्थवृक्षेऽनाद्वितीयं विद्यते फलम् ।
अखण्डं तद्गभीरं च महत्तन्मर्म नो विदुः ॥८४॥

केऽप्यतो विश्ववृक्षस्येन्द्रियशाखा निरुध्य वै ।
नास्वादन्ते रसं मूढास्तस्याद्भुतफलस्य च ॥८५॥
सद्गुरौ विद्यमानेऽपि प्रभौ चैव निजात्मनि ।
मायया च स्त्रिया साधो हृतज्ञाना: कुबुद्धयः ॥
बहुतुच्छफलार्थं हि धावन्त्येव यतस्ततः ॥८६-१९८॥
साधुभ्यः सद्गुरुभ्यश्च प्लायन्ते तस्करा इव ।
चौराणां सम्मुखे यांति वञ्चकानामिमे जनाः ॥८७॥
वेदिष्यति.फलं चास्याऽवधीरणस्य ते सताम् ।
यदा नरकगर्भादौ प्राप्स्यंति बहुयातना: ॥८८॥
मायाममत्वादिहृतात्मबोधा दुर्बुद्धयहङ्कारमुखैश्च युक्ताः ।
निजेन्द्रियाख्ये च रिपौ न शक्ता जनाः सहन्ते हि कुयातना वै ॥
८९-१९९॥

इति साक्षिसाक्षात्कारे संक्षितसारोपदेशो नाम द्वात्रिंशी वित्तिः ॥३२॥

संसार पीपर के वृक्ष में एक ( अद्वितीय ) महान् ( विभु ) गभानी ( गभीर ) पीपरि ( आनन्द मोक्ष रूप फल ) वर्तमान है, परन्तु उसका भेद कोई अविवेकी नहीं जानते। या सब विष को नष्ट करनेवाली पिप्पली औषधिरूप ज्ञान निष्पक्ष भक्ति है, उसका भेद कोई नहीं जानते। इससे उक्त वृक्ष की शाखारूप इन्द्रियों को नगाकर ( निरुद्ध कर ) के उस फल को कोई नहीं खाते हैं। किन्तु सर्वात्मा सद्गुरुरूप स्वामी के पास रहते भी तुच्छ बहुत फलों के लिये दौड़ते हैं ॥१९८॥

हे जियरा (जीव) ! तुम अभी तुच्छ फलों के लिये सद्गुरु आदि साधु से चोरों की तरह छिपते हो, विषय वञ्चकादि चोरों से सम्मुख (प्रगट) होते मिलते हो, परन्तु इस कुविचार का फल को तब जानोगे कि जब तुझे मार पड़ेगी (यमयातनादि सहना पड़ेगा) इससे अभी चेतो कुविचार छोड़ो ॥१९९॥

इति संक्षित सारोपदेश प्रकरण ॥३२॥

## साखी २००, गुरुगम विना अनर्थवर्णन प्र. ३३.

ताकी पूरी क्यों परै, गुरु न लखाई बाट ।
ताके बेड़ा बूड़हीं, फिरि फिरि औघट घाट ॥२००॥
जाका गुरु है आँधरा, चेला काह कराय ।
अन्धे अन्धा ठेलिया, दोनों कूप पराय ॥२०१॥

सद्गुरुभ्यो न बुद्धो यैः सन्मार्गो भववारिधौ ।
तेषां वै मानवो देहो नौः कुघट्टे निमज्जति ॥१॥
तृप्तिस्तै लभ्यतां कस्मात्पदं पूर्ण ददातु कः ।
कथं पश्यन्तु सत्तत्वं विवेकेन विना च ते ॥२॥
वञ्चकस्य च संसर्गात्कुमार्गे हीयते सदा ।
जनस्यायुस्ततस्तेन परं पारं न याति सः ॥३-२००॥
विवेकान्धो जनो येन गुरुत्वेनाभिसम्मतः ।
किं करिष्यति सात्मार्थे परार्थे हितमन्धधीः ॥४॥
अन्धलग्नो यथा चान्धः कूपादौ पतति स्वयम् ।
तथैवायं जनो मोहान्नरकादौ पतिष्यति ॥५-२०१॥

सद्गुरु से छिपे रहने के कारण जिसको सद्गुरु ने सची बाट (मार्ग) नहीं बताई है। उसकी पूरी कैसे परै ( पूर्णपद की प्राप्ति कैसे हो ) उसका मानवतन की आयुरूप बेड़ा बार २ औघट घाट ( कुघाट ) में ही बूड़ता ( नष्ट होता ) है, संसार से पार नहीं करता ॥२००॥

जिस पुरुष का गुरु ही अन्धा ( अज्ञ ) है, तो सो गुरु उस चेला का कौन सचा उपकार कर सकता है। या अन्धा गुरुवाला चेलाही कौन पुरुषार्थ कर सकता है। जैसे अन्धा अन्धे को ठेले और दोनों कूप में पड़ जाय, सोई दशा अज्ञ गुरुशिष्य की होती है ॥२०१॥

चारि मास घन वर्षिया, अतिरे परबल नीर।
पेन्हे जड़ तन बखतरी, चुभी न एको तीर ॥२०२॥

चतुर्षु मासतुल्येषु युगेषु ज्ञानवर्षणम्।
कृतं, ह्यविरलं सद्भिर्न्तीव्रधारं सुनिर्मलम् ॥६॥
कश्मलस्य विनाशार्थं बोधचक्षुःप्रवृत्तये।
सुखार्थं सर्वभूतानां कैवल्यस्य च लब्धये ॥७॥
देहात्मबुद्धिसंनाहसन्नद्धेष्वविवेकिषु।
जडताऽऽच्छन्नगात्रेषु वाक्यबाणा विशन्ति न ॥८॥
जडताऽऽच्छन्नबुद्धित्वाद्रोदमेन सदैव; वा।
प्रावृण्वं वै प्रकुर्वन्तो दुःखे सौख्यं च मन्वते ॥९॥
नैकं विशति सद्वाक्यं यदि त्वेषु जनेषु वै।
मानुष्यं निष्फलं तेषां पशुत्वं हि ततो वरम् ॥१०-२०२॥

सद्गुरुरूप घन (मेघ) ने चारि मास (चारों युग) में अति प्रबल (समर्थ) ज्ञानादि नीर की वर्षा की है। जो नीर तीर की तरह हृदय में पैठनेवाला है, परन्तु रे जड़ मनुष्य! तुमने तो तनरूप बखतर पहिरा है (देहाभिमान किया है) या मन बुद्धिरूप तन में जडता (अविवेक) रूप बखतर पहिरा है, जिससे एक भी तीर (उपदेश) तेरे हृदय में नहीं चुभी ॥२०२॥

मानुष का गुणही बड़ा, मांस न आव काज।
हाड़ न होते आभरण, त्वचा न वाजन बाज ॥२०३॥

गुणा दयादयो ज्ञानं सद्विवेकः शमादयः।
पूज्या भवंति मानुष्ये विचारश्च क्षमादयः ॥११॥

नैवास्यास्थ्नो भवेद् भूषा नास्य वाद्यं च चर्मणः ।
मांसं नास्ति मनुष्योऽस्य नार्थोऽस्यास्ति गुणैर्विना ॥१२॥
गुणाः शमादयो यस्य विवेकश्च सुनिर्मलः ।
स धन्यो मानवोऽमानी लभ्यते विरलो भुवि ॥१३॥
सार्थकं यस्य नो मांसमस्थि स्यान्न विभूषणम् ।
त्वग्वाद्यं न स देहोऽयं विमोक्षाय विवेकिनाम् ॥१४॥
जाता यत्र गुणाः शमादिसहिता नम्रत्वबोधादिका-
स्ते धन्याः खलु मानवाः क्षितितले पुण्या गुरोर्वल्लभाः ।
ये चान्ये मदमानमोहसहिताः क्रूरास्त्वबोधैर्हता-
स्ते निन्द्याः कुलपांसना गुरुजनैर्नैव क्वचित्सत्कृताः ॥१५-२०३

मनुष्यों के अहिंसादि शानशमादि गुण ही श्रेष्ठ हैं। इनका मांस किसी कार्य के साधक नहीं होता, हाड़ का आभरण ( भूषण ) नहीं होता, न त्वचा ( चाम ) के बाजन ही बाजता है, इससे सद्गुण बिना देह का अभिमान सर्वथा अनुचित है ॥२०३॥

सवन की उतपति धरती, सब जीवन प्रतिपाल ।
धरति न जानै आप गुण, ऐसा गुरू विचार ॥२०४॥

सर्वस्य जनिका पृथ्वी सर्वस्य प्रतिपालिका ।
स्वगुणाज्ञानतस्सापि भीता इव विकम्पते ॥१६॥
तथैव मानवो देही सर्वहेतुर्गुणैः स्वयम् ।
कर्माभिधैर्न जानाति बिभेत्येव सदा ततः ॥१७॥
संजानाति यदा चाऽयं स्वस्याज्ञानजकर्मणः ।
विलासं स्वात्मतत्त्वं च तदाऽयं मुच्यते भयात् ॥१८॥
सर्वस्योत्पादिकां यद्वा धारिकां देहरूपिणीम् ।
पृथ्वीं नात्मगुणत्वेन विदीति गुरुदेशना ॥१९-२०४॥

मानवदेह तथा देही रूप धरती ( पृथिवी ) कर्मादि द्वारा सबकी उत्पत्ति तथा प्रतिपाल ( रक्षा–स्थिति ) के हेतु है। परन्तु यह धरती ( सबके धारणकर्ता मनुष्य ) अपने गुणों को विवेकपूर्वक नहीं जानती है। इसीसे सद्गुणों का धारण नहीं करके मिथ्या अभिमानादि करती है॥ या सबकी उत्पत्ति आदि करनेवाली धरती ( देह ) को भी अपना ( आत्मा का ) गुण ( सम्बन्धी ) नहीं जानो, किन्तु आत्मा को असग निर्गुण समझो, यह सद्गुरु का उपदेश है॥ अथवा पृथिवी की तरह क्षमाशील, और गुणज्ञ गुरु को प्राप्त करो, और स्वय गुणाभिमान को त्यागो, यह उपदेश है॥२०४॥

धरती जो जानति आप गुण, कबहिं न होती डोल।
तीले तील गरुई होति, होती ठिको की मोल॥२०५॥

पृथिवी चेद्गुणान् स्वस्या जानीयात्सा कदापि न।
कम्पेत तिलशश्चास्या गुरुत्वेन युता भवेत्॥२०॥
मूल्यं नास्या भवेन्नैषा कस्यापि वशगा भवेत्।
अज्ञानात्कम्पमूल्यादि ज्ञानात्सर्वं विनश्यति॥२१॥
सर्वकार्येषु शक्तोऽपि जडत्वान्नात्मनो गुणः।
देहो नचास्य सङ्गश्चात्मा सूर्यं संतमसो यथा॥२२॥
इत्येवं ह्यात्मविज्ञाने स्वतन्त्रो मानवो भवेत्।
अन्यथा पशुवच्चैष पराधीनो हि कम्पते॥२३॥
ज्ञानाद् गुरूणां परिचिन्तनाच्च तेषां यथाशक्ति समाश्रयाच्च।
चिदात्मतत्त्वो हि न कम्पते ज्ञो न सज्जते नैव तु जायते च॥
२४–२०५॥

इति साक्षिसाक्षात्कारे गुरुज्ञानादिमन्तराऽनर्थादिवर्णनं नाम त्रयस्त्रिंशी वित्तिः॥३३॥

धरती ( मानवतनुधारी जीव ) यदि अपने गुणों को जाने, तो इस में कभी डोल (क्षोभ गमनाऽऽगमनादि) नहीं होय। ई (यह) तीले तील ( सर्वत्र ) गुरु ( अचचल गंभीर ) होय, तो इसका ठिको ( सत्य ) की मोल होय । या गुरु होने पर ठीका मोल ( पराधीनता ) नहीं होय ॥ अथवा ज्ञानी गुरु से पृथिवी में यही भेद है कि यह अपने गुणों को नहीं जानती, जिससे डोलती है इत्यादि ॥२०५॥

इति गुरुगम विना अनर्थ वर्णन प्रकरण ॥३३॥

## साखी २०६, ज्ञानाऽज्ञान दशा प्र. ३४.

तहिया कृतम ना होता, धरति न होते नीर।
उतपति परलय ना हुते, तब की कहैं कबीर ॥२०६॥

*आत्मनो ज्ञानमात्रेण विवेकेन स्थितौ तथा ।*
शरीरादीनि कार्याणि पुनर्नैव भवन्ति हि ॥१॥
उपदेशफलं नैव विशिष्टं विद्यते तदा ।
अयमेव मनुष्यैर्हि ज्ञातव्यः कार्य एव सः ॥२॥
नातः परं हि कर्तव्यं ज्ञातव्यं चाऽवशिष्यते ।
किमर्थं किं ब्रुवन्त्वेभ्यो गुरवोऽपि महाधियः ॥३॥
यैश्चैतत्साधितं ज्ञानं विवेकेन स्थिताश्च ये ।
तैरेव पृथिवी धन्या तीर्थीभूता विधीयते ॥४॥
कार्यवर्गो यदा नासीदुत्पत्तिः प्रलयस्तथा ।
तदात्मनं स्वरूपं च गुरुणैवोपदिश्यते ॥५-२०६॥

तहिया ( अपने गुण स्वरूप के जानने प्राप्त करने पर ) कृतम ( कार्य ) शरीरादि फिर नहीं होते हैं ), न उस मुक्त का भोगादि के

लिये पृथिवी जलादिक ही समर्थ होते हैं। इससे उस जीव के फिर उत्पत्ति प्रलय ( जन्ममरण ) नहीं होते हैं। तो उसके प्रति कबीर (कवि–गुरु–आचार्य ) भी की ( क्या ) कहैं। अर्थात् फिर उपदेश गुरु आदि की भी जरूरत नहीं रहती है। या तब की ( उस मुक्त दशा की ) बात कबीर ( गुरु ) कहते हैं ॥२०६॥

जहॅा बोल तहॅ अक्षर आया, जहॅ अक्षर तहॅ मनहिं दृढाया।
बोल अबोल एक है सोई, जिन यह लखा सो बिरला होई ॥२०७॥

यत्र ब्रूते जनः किञ्चित्तत्र वर्णो हि जायते।
यत्र वर्णो मनस्तत्र स्थाप्यते न निरक्षरे ॥६॥
शुद्धे नास्ति वच.शक्ति. शक्ये सा वर्तते यतः।
यत्रैव वचसः शक्तिर्मनस्तत्रावलम्बते ॥७॥
अतश्च मनसा वाचा न गम्यो लक्षणां विना।
लक्षणायाः कथञ्चित्स स्वप्रभोप्यनुभूयते ॥८॥
चराचरेशजीवेषु वाच्याऽवाच्येषु सर्वथा।
नात्माऽयं भिद्यते क्वापि केऽपि पश्यन्ति सत्तमाः ॥९॥
यत्किञ्चिचोच्यते तत्र सर्वत्रात्मोपलक्ष्यते।
कूटस्थेन स्वरूपेण ह्यक्षरत्वेन सर्वथा ॥१०॥
मनस्तत्र धृत येन ज्ञातश्च सर्ववस्तुषु।
स जनो विरलो लोके कर्मबन्धाद्विनिर्गतः ॥११-२०७॥

मुक्त के प्रति इससे भी कुछ कहते नहीं बनता है, कि जहाँ ( व्यवहार में ) बोली होती है, तहाँ शब्द ( विकार–नाममात्र ) ही आता ( प्रसिद्ध होता ) है। और जहाँ ( जिसका वाचक ) अक्षर (शब्द) होता है, तहाँ लोग मन को दृढ़ (स्थिर) करते हैं। या मन उस नामी का

निश्चय करता है । और सोई (वह ज्ञानी या आत्मा) बोल अबोलादि सब दशा में एक असंग है, मन वचन का अविषय है । जिन पुरुषों ने इस स्वयप्रकाश को लखा, सो विरले होते हैं ॥ या जहाँ बोल है तहाँ अक्षर ( अविनाशी ) जीव की वर्तमानता है । जिन पुरुषों ने जहाँ वह अक्षर है तहाँ मन को स्थिर किया, और बोल (अक्षर–जीव) अबोल (निरक्षर–ईश्वर ) इन दोनों में सोई एक आत्मा है । इस प्रकार अपरोक्ष जाना, सो पुरुष विरले होते हैं ॥२०७॥

तौं लगि तारा जगमगै, जौं लगि उगै न सूर ।
तौं लगि जीव कर्म वशी, जौं लगि ज्ञान न पूर ॥२०८॥
नाम न जानै गाम का, भूला मारग जाय ।
काल्ह गड़े हिंगा कांटा, अगमन कस न खराय ॥२०९॥

यावन्नोदेति सूर्योऽत्र तारकास्तावदेव हि ।
दीप्यन्ते परिदृश्यन्ते यथा लोके तथैव हि ॥१२॥
यावदात्मापरोक्षो नो जायते तावदन्धधीः ।
जीवः कर्मवशो भूत्वा संसारित्वेन दृश्यते ॥१३-२०८॥
ग्रामस्य वेत्ति नो नाम भ्रान्तोऽमार्गेन याति यः ।
कण्टकाः श्वोऽत्र वेक्ष्यन्ति साध्वग्रे क्रियते न किम् ॥१४॥
प्राप्तव्यस्यात्मतत्त्वस्य संज्ञामात्रं न वेत्ति यः ।
गच्छत्यनवधानेन दुःखैर्वेभियते हि सः ॥१५॥
भाविदुःखं कुमार्गेण गच्छतो भवति ध्रुवम् ।
अतश्चात्महितं शश्वत्पुरैव क्रियते न किम् ॥१६॥
यावन्न बोधं लभते निजात्मनः शब्दं न सारं विमलं गुरोर्मुखात् ।
तावज्जनाः कर्मवशा भवन्त्यलं भ्राम्यन्ति किं नात्महितं हि कुर्वते ॥
१७–२०९॥

इति गाञ्जिसाक्षात्कारे ज्ञानाज्ञानदशावर्णनं नाम चतुस्त्रिंशी वित्तिः ॥३४॥

सूर्योदय जबतक नहीं होता, तभी तक तारे जैसे जगमगाते (प्रकाशते संसार में दीखते) हैं। तैसे ही जबतक पूर्ण ज्ञान नहीं होता तब तक जीव सब कर्म के वश होकर संसारी बने हैं ॥२०८॥

जो पुरुष गन्तव्य ग्रामतुल्य प्राप्तव्य वस्तु का नाम (विवेकादि) तक नहीं जानता, और भूलता भटकता कुमार्ग से कहीं जाता कुछ करता है, तो उसको काल्ह (जन्मान्तरादि में) काटे अवश्य गड़ेंगे (महाकष्ट होगा) तौ भी अगमन (प्रथम ही) कस (क्यों) खरा (सत्य विचारादि) नहीं करता है ॥२०९॥

इति ज्ञानाऽज्ञानदशा प्रकरण ॥३४॥

## साखी २१०, सत्संग कुसंग हिंसाफल प्र. ३५.

संगत करिये साधु की, हरै और की व्याधि ॥
ओछी संगति क्रूर की, आठों पहर उपाधि ॥२१०॥
संगति ते सुख ऊपजै, कुसंगति ते दुख होय।
कहहिं कबिर तहँ जाइये, अपनी संगति होय ॥२११॥

सत्सङ्गः क्रियतां सर्वैरन्यादिव्याधिबाधनः।
क्रूरसङ्गो न कर्तव्यो ह्यनिशं बाधते खलः ॥१॥
सत्संगाज्जायते सौख्यं कुसङ्गाद्दुःखमेव हि।
विचार्य तत्र गन्तव्यं यत्र स्यादात्मसंगतिः ॥२॥
"यादृशैः सन्निविशते यादृशांश्चोपसेवते।
यादृगिच्छेच्च भवितुं तादृग् भवति पूरुषः ॥३॥
महानुभावसंपर्कः कस्य नोन्नतिकारकः।
अशुच्यपि पयः प्राप्य गंगां याति पवित्रताम्" ॥४॥

सुसाधुसङ्गाच्च परोस्ति कुत्रचित् सुखस्य हेतुश्च विमुक्तिसाधनम् ।
कुसङ्गतश्चापि न दुःखहेतवो न चाऽपरे दुर्गतिहेतवः क्वचित् ॥५॥
तस्माज्जनः साधुजनान् विविच्य वै कर्मस्वभावैश्च वचोभिरद्भुतैः ।
तेषां हि सङ्गेन विचारतस्तथा तत्प्राप्नुयान्नैव यतो निवर्तते ॥६-२११॥

साधु संगति करना चाहिये, सो ओर की ( अनादि अविद्या कामादि ) व्याधि ( रोग ) को हरती है । और ओछी (हीन) कूर ( क्रूर शठ ) की संगति है, उससे आठों पहर ( रातदिन—सदा ) उपद्रव कलहादि होते हैं ॥२१०॥

संगति ( सत्संग ) से सुख उत्पन्न होता है, कुसंग से दुःख होता है । इसलिये विचार कर तहाँ जाना चाहिये कि जहाँ अपनी संगति (अनुकूल संगति आत्मप्राप्ति ) हो, यह सबसे पहला मुख्य खरा काम है ॥२११॥

आजु कालहु दिन कैक में, अस्थिर नाहिं शरीर ।
कहहिं कबिर कस राखिहो, कांचे बासन नीर ॥२१२॥
बहु बंधन ते बांधिया, एक बिचारा जीव ।
की बल छूटै आपनो, की छोडावै पीव ॥२१३॥

अद्य श्वो वा दिनैर्छिन्नैः कतिभिर्वा कलेवरम् ।
नैव स्थास्यति यत्नेऽपि ह्यामकुम्भे जलं यथा ॥७॥
अपि प्राणाश्च नंक्ष्यन्ति क्षणादेव न संशयः ।
न जाने कुत्र यास्यन्ति किं भविष्यंति ते खलु ॥८॥
तस्मिंश्चैव तदर्थं च निःसहायोऽतिबन्धनैः ।
बद्धो जीवः स्वसामर्थ्याद्धर्मज्ञानादिलक्षणात् ॥९॥
विमुच्यतेऽथवा स्वामी गुरुरीशो विमोचयेत् ।
उपदेशेन साम्मुख्यात्सर्वस्यात्मस्वरूपतः ॥१०-२१३॥

आत्मप्राप्ति के लिये कुसंग का त्याग और सत्सगादि अति शीघ्र करना चाहिये; क्योंकि आज या काल्ह या कैक ( कुछ ) दिनों में यह शरीर स्थिर रहनेवाला नहीं है। गला काचे बासन में जल की तरह इस में प्राण को स्थिर कैसे रख सकते हो, यह तो स्वयं अस्थिर ( क्षण-भंगुर ) है ॥२१२॥

ऐसे देहप्राणादि के लिये एक (निःसहाय) वेचारा (असमर्थ) जीव बहुत बंधन ( कर्मादि नियमादि ) से बंधा है, सो की ( चाहे ) अपना बल ( सत्संग विचारादि ) से छूट सकता है, की ( या ) सद्गुरु सर्वात्मा परमेश्वररूप पीव ( स्वामी ) उपदेश सन्मुखता आदि द्वारा छुड़ा सकते हैं, और कोई उपाय नहीं है ॥२१३॥

जिव जनि मारहु बापुरा, सबका एकै प्राण।
तीरथ गये न बाँचि हो, कोटि हिरा दे दान ॥२१४॥
जिव जनि मारहु बापुरा, बहुरि लेत वै कान।
हत्या कबहुं न छूटि हैं, कोटिन सुनहु पुराण ॥२१५॥

सर्वेत्रात्मबलं मुख्यमहिंसाधर्मलक्षणम्।
अतो जीवो न हन्तव्यो जीवितैषी स्वभावतः ॥११॥
सर्वेषां प्राणिनां प्राणानात्मप्राणसमानिह।
ज्ञात्वा घातान्निवर्तेत नरके ह्यन्यथा पतेत् ॥१२॥
" प्राणा यथात्मनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा।
आत्मौपम्येन भूतेषु दयां कुर्वन्ति साधवः "॥१३॥
प्राणघातं विधायात्र तीर्थं त्वं चेद्गमिष्यसि।
कोटीश्च हीरकान् दत्त्वा नहि पापाद्विमोक्ष्यसे ॥१४॥
" दानमिज्या तपः शौचं तीर्थं सेवा तथा श्रुतम्।
प्रदुष्टमनसः पुंसः सर्वमेतदनर्थकम् " ॥१५-२१४

अतो मारय नो मुग्ध कमपि प्राणिनं खलु ।
सोऽपि त्वामन्यथा भूयो निश्चितं मारयिष्यति ॥१६॥
" सुखं वा यदि वा दुःखं यत्किञ्चित् क्रियते परे ।
तत्कृतं तु पुनः पश्चात्सर्वमात्मनि संभवेत् " ॥१७॥
कोटिकृत्वः पुराणानां श्रवणेऽपि न ते तदा ।
हत्यादोषाद्विमुक्तिः स्यात्तस्माद्धिंसां विवर्जय ॥१८॥
" प्रायश्चित्तैरपैत्येनो यदज्ञानकृतं भवेत् ।
कामतो व्यवहार्यस्तु वचनादिह जायते " ॥१९॥
र्हिंसया धर्मबलेन साधोः सङ्गेन दानेन कुसङ्गतेश्च ।
प्राप्यते तत्परमं स्वबोधाद्वाचो ह्यतीतं सुखमक्षयं यत् ॥२०॥
वच सत्यस्य भवेद्धि लाभस्तावत्स्वकर्मादिवशाश्च जीवाः ।
रिभ्रमन्तीह सदा जगत्यां तल्लब्धयेऽतस्तु सदा यतस्व ॥२१॥
वेहाय हिंसामदमानदम्भान् चौर्यानृतामर्षकुमैथुनानि ।
गरुष्यपैशुन्यमनोरथादीन् दयालवो मोक्षपरा भवंति ॥२२-२१४॥

इति साक्षिसाक्षात्कारे सत्संगमहिमदयादिवर्णनं नाम पञ्चत्रिंशी विर्तिः ॥३५॥

हे बापुरे ( बावरे ) लोगो ! जीवों को नहीं मारो, अब भी हिंसा त्यागो । सबका प्राण एकसा प्यारा है । नहीं तो तीर्थों में जाकर करोड़ों हीराओं का भी दान देकर हिंसाजन्य पाप से नहीं छुटकारा पावोगे ॥२१४॥

हे बावरे ! जीवों को नहीं मारो, नहीं तो वे ( वे प्राणी निश्चय ) बहुरि ( फिर ) कान ( बदला–इज्जत–मर्यादा ) लेंगे । या इस बात का फिर ईश्वर के यहाँ कान ( खबर ) लिया जाता है । या विचार सुनसुन होता है, चाहे करोड़ों बार पुराण सुनो परन्तु बदला देने आदि विना कभी हत्या छूट नहीं सकती । अज्ञान भूलचूकजन्य पाप की ही प्रायश्चित्त

से निवृत्ति होती है, इच्छापूर्वक ज्ञात पाप की निवृत्ति नहीं होती। किन्तु प्रायश्चित्त विधायक वचन के बल से सकाम पाप के बाद प्रायश्चित्त करने से लोकव्यवहार मात्र के लिये पुरुष शुद्ध होता है, यह याज्ञवल्क्यजी का भी कथन है ॥२१५॥

इति सत्सङ्गकुसङ्गहिंसाफल प्रकरण ॥३५॥

## साखी २१६, दुष्ट की तीर्थयात्रा प्र. ३६.

तीर्थ गये ते बहि मुये, जूड़े पानि नहाय।
कहहिं कबीर पुकारिके, राक्षस व्है पछताय ॥२१६॥
तीर्थ भई विष बेलरी, रही युगहुं युग छाय।
कबिरन मूल निकन्दिया, क्यों न हलाहल खाय ॥२१७॥

यो हिंसादीनमुक्त्वैव तीर्थेष्वपि गतो नरः।
स स्नात्वापि जले शीते न किञ्चिल्लब्धवान् फलम् ॥१॥
तीर्थनामाशया पापं कृत्वा चासौ विमुग्धधीः।
राक्षसत्वं प्रपद्याशु पश्चात्तापेन दूयते ॥२॥
तीर्थाशया नरश्चायं भवनद्या सदोह्यते।
तीर्थं च तत्कृते जाता विषवल्ली महाविषा ॥३॥
युगसंघेषु सा व्याप्ता मारयन्ती जनान् मुहुः।
किल्विषं च विषं पीत्वा म्रियन्ते च स्वयं जनाः ॥४॥
तीर्थे मरणमात्रेण यात्रादर्शनतस्तथा।
स्नानपानादितो मुक्तिं वर्णयन्तः कवीश्वराः ॥५॥
मोक्षमूलमहिंसादीन् समूलं चखनुर्हि ये।
तेषां वाक्येषु विश्वासात्कथं खादन्तु नो विषम् ॥६-२१७॥

हिंसा आदि दुष्कर्मों को त्यागने विना, तीर्थों के भरोसे पाप आत्म घातादि करनेवाले यदि तीर्थ गये, तो वे लोग, जूड़े ( ठढे ) पानी में नहाकर भी बह ( दह–भटक ) मरे, और पापों की निवृत्ति नहीं होने से राक्षस होकर पश्चात्ताप किये और करते हैं ॥२१६॥

उनके लिये तीर्थ भी विष की बेलरी ( लता ) हुई। सो युग २ में छा रही है, तीर्थ में जाने मरने आदि मात्र से मोक्षादि का वर्णन करनेवाले कवियों ने धर्मादि का मूल ( जड़ ) को निकन्दन ( नष्ट ) किया है। फिर अविवेकी जीव सब हलाहल क्यों न खाय ( पाप आत्म घात क्यों न करें ) ॥२१७॥

तीरथ गये तीन जना, चित खोंटा मन चोर।
एको पाप न काटिया, लादिन मन दश और ॥२१८॥

येषां चित्तं वशे नास्ति मनः पापाशयं चलम् ।
बुद्धौ वैगुण्यचौर्याशा ते तीर्थंप्रगमन् यदि ॥७॥
एकमपि हि पाप्मानं खण्डयंतिस्म नो तदा ।
कुर्वन्ति दशधा तेन तीर्थ तेभ्यो विषायते ॥८॥
चित्तादेरवशित्वे हि हिंसा चौर्य कुमैथुनम् ।
पारुष्यानृतपैशुन्यनिःसम्बन्धप्रभाषणम् ॥
द्रोहलोभभ्रमाश्चैते पाप्मानो वै भवंति हि ॥९॥
" चित्तमन्तर्गतं दुष्टं तीर्थस्नानैर्न शुद्ध्यति ।
शतशोऽपि जलैर्धौतं सुराभाण्डमिवाशुचिः" ॥१०॥
विशुद्धं यन्मनस्तीर्थमिन्द्रियाणां च निग्रहः
शरीरस्थं हि तत्तीर्थं शोधयत्येव सज्जनान् ॥११॥

अक्रोधनः सुसंतुष्टः सत्यशीलो दृढव्रतः ।
आत्मोपमश्च भूतेषु स तीर्थफलमश्नुते ॥१२॥
उत्तमा तत्त्वचिन्तैव मध्यमं शास्त्रचिन्तनम् ।
अधमा मन्त्रचिन्ता च तीर्थभ्रान्त्यधमाऽधमा" ॥१३॥
लब्ध्वा नचात्मानमखण्डबोधं नवाऽऽत्मशोधं न सदाऽनुरोधम्।
तीर्थे भ्रमंश्चैव दुराशयाऽऽशु चाश्चल्यमोहप्रमुखैर्विनश्येत्॥
१४–२१८॥

इति साक्षिसाक्षात्कारे भावदुष्टानां तीर्थभ्रान्त्या निश्रान्त्यभाववर्णन
षट्त्रिंशी त्रिति. ॥३६॥

जिनका चित्त खोटा (चचल) है। मन भी खोटा (दुर्वासना आदि युक्त) है, और जो चोर हैं, ऐसे तीनों जने (मनुष्य) यदि तीर्थ गये, तो एक पाप भी नहीं काट सके। और दश मन (दश इन्द्रिय जन्य या हिंसा आदि दश प्रकार के) पाप वहाँ से लाद लाये ॥ भाव है कि विराट् के उत्तमांगरूप तीर्थ अवश्य हैं। जहाँ जाने से भाव बदलता है, तौभी श्रद्धा सदाचारादिवाला ही तीर्थफल के भागी होता है, पुण्य के श्रद्धा आदि भी हेतु हैं, पाप के नहीं। तीर्थ में बहुत दुराचारादि से उसकी शक्ति नष्ट भी हो जाती है, इससे उलटा फल देती है इत्यादि ॥२१८॥

इति दुष्ट की तीर्थयात्रा प्रकरण ॥३६॥

## साखी २१९, मायावेली आदि में अनासक्त सन्त प्र. ३७.

ए गुणवन्ती बेलरी, तव गुण बरणि न जाय ।
जहँ काटे तहँ हरियरी, सींचे ते कुम्हिलाय ॥२१९॥

अये गुणाश्रये माये ! ब्रह्मवल्लयतिविस्तृते ।
वर्णयितुं न शक्यन्ते विचित्रास्ते गुणा जनैः ॥१॥
यत्र त्वं खण्ड्यसे बुद्धे तत्रोल्लासः प्रवर्तते ।
सेचने म्लायसे नित्यं ह्यबुधे पापकर्मणि ॥२॥
गुणानां तव वा यत्र खण्डनं विद्यतेऽखिलम् ।
तत्रानन्दः सदा भाति सेचने ग्लानिरद्भुता ॥३॥
हे गुणवति माये त्वं विचित्रा लक्ष्यसे बुधैः ।
सुखी छिनत्ति यस्त्वां स दुःखी सिञ्चति यो भवेत् ॥४-२१९॥

हे गुणवति ! मायावेलरी (वेली) तेरा गुण स्वभाव कुछ कहा नहीं जा सकता, गुणसहित तुम अनिर्वचनीया हो, इसीसे तुझे जहाँ ज्ञानी लोग काटते हैं, तहाँ हरिअरी ( आनन्द ) रहता है, और जहाँ अज्ञ लोग तुझे सींचते ( सत्य समझते ) है, तहाँ वे लोग कुम्हिलाते हैं ॥ या जहाँ ( दुष्कर्मादि में ) जीव दुःख पाते हैं, तहाँ कुबुद्धिरूप माया आनन्द मानती है । सत्संग सद्विचारादि में खेद समझती है इत्यादि ॥२१९॥

बेलि कुढंगी फल बुरा, फुलवा कुबुधि गँधाय ।
ओर विनष्टी तूमरी, सरो पात करुआय ॥२२०॥

अविद्यारूपिणी माया दुर्बुद्धिपुष्पसंयुता ।
जनुरादिफला शश्वन्महानर्थप्रवर्तिनी ॥५॥
शश्वत्परिणतौ दक्षा स्वात्मज्ञानविनश्वरी ।
आनन्दजननी चाद्या मूढानां हि भयंकरी ॥६॥
मायावल्ल्यास्तु पत्राणि कार्याणि खलु सर्वशः ।
कटूनि विरसान्येव मूढानां भांति चान्यथा ॥७॥
कुफला कुत्सिताकारा कुधीपूतिसुमैर्युता ।
आदिनष्टा हि तुम्बीयं कटुपत्रा कुतुम्बिका ॥८-२२०॥

यह अविद्या मायारूप वेलि कुढंगी (कुत्सिताकारवाली) है । इसीके जन्ममरण रागद्वेषादिरूप बुरे फल होते हैं । इसके कुबुद्धिरूप फूल अत्यन्त दुर्गंध होने से गधाते ( अपयश-दुःखादि को उत्पन्न करते ) हैं । यह तुमरी ओर ( अनादि से ही विनष्टि ( विनाशशीला ) है । इसके खरो ( सब ) पात ( पत्ते-कार्य ) करुआ ( कटु-दुःखद ) ही हैं । या इसके खरे गले पत्ते करुआ हो जाते हैं; नवीन रहते कुछ मधुर मालूम पड़ते हैं इत्यादि ॥२२०॥

परदे पानी ढारिया, सन्तो करहु विचार ।
शरमा शरमी पचि मुआ, काल घसीटनिहार ॥२२१॥

विद्यया बाधयस्वैनां स्थालीस्थं हि जलं यथा ।
वन्हिर्दहति संरुद्धमविद्यास्थं तथैव च ॥९॥
समारुद्धं हि कामाद्यैस्त्वां वियोगमुखाग्नयः ।
संदहन्ति महाबुद्धे ! तस्मान्नाशे त्वरस्व त्वम् ॥१०॥
लोकलज्जाम्भसि प्राप्ता निमग्ना ये प्रमादिनः ।
ते कालस्य वशे भूत्वा लुप्यन्ते भवकानने ॥११॥
अतः साधो विचारं त्वं विवेकं कुरु सर्वदा ।
बोधेनावरणं भित्त्वा भिंधि लज्जादिजं भयम् ॥१२॥
अन्यथाऽऽकर्षति क्रूरः कालः सर्वासु योनिषु ।
यान् मुहुस्तेऽत्र जायन्ते म्रियन्ते पीडिता मुहुः॥१३-२२१॥

हे सतो ! अग्नि के नाशक भी पानी पड़दे में अग्नि से जलाया जाता है । इसी प्रकार अविद्या मोह ममतादि के परदे में जीवात्मा काम विरहादि अग्नि से जलता है । इसलिये विचार करो, और ज्ञान से आवरण को नष्ट करो । जो लोग विचारादि नहीं करके लोकलाज दुविधा-

दिरूर शरमाशरमी में पचरर मुये उन्हे काल नरकयोनि भवकानन में घसीटनेवाला है सो जानो ॥२२१॥

आस्ति कहौं तो कोइ न पतिजै, विना आस्तिका सिद्धा ।
कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो, हीरी हीरहिं बिद्धा ॥२२२॥
सोना सज्जन साधु जन, टूटि जुटहिं सौ बार ।
दुर्जन भाँड़ कुम्हार का, एकहिं चोट दरार ॥२२३॥

विचारेण विना सत्यमुक्तं प्रत्येति कोऽपि न ।
प्रत्येति च सदाऽसत्यं सतः सिद्धिं च मन्यते ॥१४॥
अहो मूढैर्हि काचेन विध्यते हीरको मुहुः ।
विचारेणत्वया देव ! काचो हीरेण विध्यताम् ॥१५-२२२॥
विघ्नशतनिपाते च शते क्षोभेषु सज्जनाः ।
साधवो हि मिलन्त्येव विचारेण च सज्जनैः ॥१६॥
सुवर्ण इव दुर्भेद्या भवन्त्येव हि सज्जनाः ।
संधेयास्तूर्णमेवैते दुर्जनाः कुम्भवन्मृदः ॥
आशु भेद्या न संधेया भवंति जातु यत्नतः ॥१७-२२३॥

अविचारी कोई जीव आस्ति ( सत्य ) कहने पर न पतिजै ( विश्वास-प्रतीति नहीं करता है ) किन्तु विना आस्तिका ( असत्य ) वस्तु बात लोगों को सिद्धा ( सिद्धिप्रद-सत्य ) प्रतीत होती है, इससे मानो हीरी ( काच ) हीरा को वेध दिया, यह अविचार का फल है ॥२२२॥

सज्जन साधुजन सोना ( सुवर्ण ) तुल्य होते हैं, इससे विचारादि से सैंकड़ों बार टूटने पर भी ( विक्षेपादि होने पर भी ) फिर उसीमें जुट जाते हैं । दुर्जन कुम्हार के भाँड़ा तुल्य होता है, इससे दैवयोग से

हीं सुमार्ग में लगने पर भी एक ही चोट (विघ्नादि) से दरार (भिन्न) हो जाता है ॥ यही दशा सज्जन दुर्जन की भक्ति प्रीति मित्रता आदि की भी होती है ॥२२३॥

काजर की है कोठरी, बुड़ता ई संसार।
बलिहारी तिहि सन्त की, पैठि जु निकलनिहार ॥२२४॥
काजर की है कोठरी, काजरहीं का कोट।
तोंदी कारी ना भई, रह्यसु ओटहिं ओट ॥२२५॥

संसाराऽऽडम्बरश्चैव कज्जलैर्निर्मितं गृहम्।
आसक्ता मलिनायन्ते ह्यनासक्तास्तु निर्मलाः ॥१८॥
संसारोऽयं महाम्भोधिर्निमज्जन्त्यत्र दुर्जनाः।
विचारविकलाः स्तेना निर्विवेकाः कुबुद्धयः ॥१९॥
कामद्वेषादिभिश्चाक्ता मलिना हतदृष्टयः।
नो निमज्जन्ति कुत्रापि तदन्ये ये सुदृष्टयः ॥२०॥
मायाकज्जलकार्येऽपि देहे विश्वे गृहे तथा।
प्राकारे सद्मनि प्राप्याप्युन्मज्जन्ति हि सज्जनाः ॥२१॥
धन्यास्ते सर्वपूज्याश्च कज्जलैर्न संगताः।
विवेकेन च संप्राप्ताः पावनं परमं पदम् ॥२२॥
सद्गुरोः शरणे भक्तौ मार्गे ये चाऽभये सदा।
वर्तन्ते ते न कुत्रापि संसजंति महाशयाः ॥२३॥
बोधेन मायां खलु बाधयित्वा ह्यसङ्गबुद्ध्या रमते सदा यः।
गुणात्परं स्वं प्रतिलभ्य शुद्धं तदात्मना तिष्ठति वै विशुद्धः ॥२४॥

नाल्पं तमस्तं नहि किल्विषं वा रागो नच द्वेषमुखा विकल्पाः ।
केनापि मार्गेण कदापि किञ्चित् कथञ्चिदप्यत्र हि संश्रयंति ॥
२५-२२४, २२५॥

इति साक्षिसाक्षात्कारे मायावल्ल्यादिवर्णनं नाम सप्तत्रिंशी वित्तिः ॥३७॥

मनोमायामय संसार काजर की कोठरी है, रागद्वेषादि काजर से पूर्ण है, और अपार समुद्रतुल्य है । इसमें सभी संसारी डूब रहे हैं, काजर से रंगा रहे हैं, उन सन्तों की बलिहारी है कि जो इसमें पैठकर भी दागरहित रत्नसहित निकलनेवाले हैं ॥२२४॥

शरीर लोकादि काजर की कोठरी है, ब्रह्माण्डादि काजर के कोट हैं, अविवेकी इसमें रंग जाते हैं, परन्तु जो सन्त सद्गुरु सद्विचारादि के ओटही ओट ( छायाही में ) रह गये, या बेलाग असङ्ग रहे, उनको तोंदीमात्र भी कालिमा नहीं हुई, नित्यमुक्त शुद्ध रह गये ॥२२५॥

इति मायावेली आदि में अनासक्त सन्त प्रकरण ॥३७॥

## साखी २२६, भक्तिमाहात्म्य राज्यादिबन्धन प्र. ३८

अर्ब खर्ब ले द्रव्य है, उदय अस्त ले राज ।
भक्ति महातम ना तुलै, ई सब कौने काज ॥२२६॥

खर्वाद्यन्तानि वित्तानि स्यू राज्यश्चोदयाचलम् ।
यद्यस्ताचलपर्यन्तं यान्ति भक्त्या न तुल्यताम् ॥१॥
भक्तिर्मुक्तेर्विधात्री स्याद्राज्यं बन्धप्रवर्द्धनम् ।
भयं ददति सर्वत्र वित्तानि सर्वसंचयाः ॥२॥

साधुरेभिस्तु किं कुर्याज्जनानां स्याद्धिमण्डनम्।
तेषामपि न सत्कार्यं किञ्चिदेतैस्तु साध्यते ॥३॥
परस्वादानविरतिस्ततः पूर्वं प्रवर्तते।
विवेकिनो निजार्थेषु सन्तोषश्चाभिजायते ॥४॥
परस्वादानविरतः संतोषामृतनिर्भरः।
विवेकी क्रमशः स्वार्थानुपेक्ष्य वर्तते सुखम् ॥५-२२६॥

सद्गुरु सत्यात्मा की भक्ति से ज्ञानादिद्वारा मुक्ति होती है, द्रव्य राज्यादि की आसक्ति से ससारबन्धन होता है, इस कारण से अर्वसर्वादि पर्यन्त द्रव्य, और उदयास्त पर्यन्त राज्य की महिमा भी भक्ति का माहात्म्य के तुल्य नहीं है, इससे सन्तों की दृष्टि में ये द्रव्यादि किस काम के हैं। या इन सबसे किसीका कौन सुखद कार्य की सिद्धि हो सकती है ॥२२६॥

मच्छ विकाने सब गये, धीमर के दरबार।
अँखिया तेरि रतनारी, क्यों करि पैन्ही जाल ॥२२७॥

वित्तार्थैर्हि भवाब्धेस्ते मत्स्यतां प्राप्य निन्दिताम्।
यमादेर्वशमायांति विक्रीयन्ते जनाः पुनः ॥६॥
कर्मजालसमाकृष्ट मोहपाशैर्वशीकृताः।
भक्तिहीना नरा भूयो यान्त्येव यमसादनम् ॥७॥
निषादा हि यथा क्रूरा घ्नन्ति मत्स्यांस्तथा यमः।
हन्त्येवात्राकृतप्रज्ञान् संशयो नाऽत्र विद्यते ॥८॥
भो भद्र! भवता भूयो विचारोऽयं विधीयताम्।
रत्नतुल्येऽक्षिण सत्त्वेऽत्र मनोबुद्ध्यादिलक्षणे ॥९॥
भवान् किं बध्यते जालैः कर्ममोहादिलक्षणैः।
यथा मत्स्यो हि बध्येत रत्नतुल्येऽक्षिण सत्यपि॥१०-२२७॥

द्रव्यादि जल से पूर्ण संसारसागर के मीनतुल्य भक्ति विचारादि रहित मनुष्य, कर्मजाल मायापाश में फसकर लोभ वासनादि के वश में होकर, स्वय ब्रह्मानन्द महासमुद्र को त्यागकर, गुरुशा यमादिरूप धीमर ( निषाद ) के दरबार में बिकने ( विवश होने ) गये हैं। तहा सद्गुरु का कहना है कि तेरी अखिया ( बुद्धि नेत्र ) रतनारी ( रत्न तुल्य–चमकदार ) है, फिर कर्मादि जाल क्यों पहिर लिया, इस बात को अवश्य समझ लो ॥२२७॥

पानी भीतर घर किया, शय्या किया पताल।
पासा परा करीम का, मैं तें पेन्ही जाल ॥२२८॥

संसाराब्धिजले यच्च गृहं वै भवता कृतम्।
शरीरं विषये धीमन् पाताले च त्वयासनम् ॥११॥
पितुर्वीर्ये त्वया यच्च वासनाभिर्गृहं कृतम्।
आसनं मातुरुदरे पाताले ह्यतिसंकटे ॥१२॥
पापे कर्मण्यविद्यायां तेन मोहैर्नियंत्रितः।
तव ममादिबुद्धौ त्वं जाले चाविशसि स्वयम् ॥१३॥
त्वया चैवं न मन्तव्यं बध्नात्येवेश्वरो बलात्।
आप्तकामस्य शुद्धस्य त्वद्बन्धे किं प्रयोजनम् ॥१४॥
गर्भादौ विषये चापि त्वमेवं वासनादिभिः।
बद्धो यास्यविवेकेन कर्मपाशेन पाशितः ॥१५॥२२८॥

अज्ञ जीव समझते हैं कि हमने सुखदायी विषय पानी के भीतर घर किया है, स्वर्ग हृदयादि पाताल को शय्या बनाया है। तौभी करीम ( ईश्वराधीन कर्म ) का पासा पड़ा, तें ( तिससे ) मैं ( हम ) ने जाल पहिरा, ईश्वर जो चाहे सो करे॥

या सद्गुरु का कहना है कि जीवों ने विषय तथा पिता के वीर्य-रूप पानी में घर किया, अविद्या गर्भादि को शय्या बनाया, और कर्म के पासा ( फन्दे ) में पड़कर तैं मैं ( तेरी मेरी तुम हम ) इत्यादि बुद्धि रूप जाल पहिरा है इत्यादि ॥२२८॥

## क्षेपक साखी.

मच्छा भये न. बाँचि हो, धीमर तेरो काल ।
जिहि जिहि डाबर तूँ फिरो, तहँ तहँ मेलिहिं जाल ॥६॥

भवाब्धौ मत्स्यतां प्राप्य न कदापि विमुच्यसे ।
कालरूपो निषादो हि सर्वलोकेषु धावति ॥१६॥
गृह्णाति ममताऽऽविष्टाञ्जीवमत्स्यान्न संशयः ।
कर्मजाले निबध्नाति कालः सर्वासु योनिषु ॥१७॥
संसारसिन्धौ खलु मत्स्यवद्धि ये पातालवह्लोकदरीषु सक्तकाः ।
सद्भक्तिहीनाश्च धनादिलुब्धकाः सर्वत्र कालस्य वशा भवंति ते ॥
१८-६॥

संसार सागर के मछली होने से, या मीनमार्गी योगी होने से नहीं बचोगे, तेरे ( अज्ञों के ) लिये काल धीमर है, जिस२ लोकादिरूप डाबर ( तुच्छ जलाशय ) में तुम फिरते हो, तहाँ२ वह अवश्य, कर्मजाल मेलता (डारता) है । इसलिये काल का अविषय भक्तिज्ञानादि से प्राप्त होने योग्य महासमुद्र की तैयारी करो, या मछलीपन छोड़ो ॥६॥

बिनु रसरी खलको बँधा, तासू बँधा अलेख ।
दीन्हा दर्पण हस्त मधे, चसम बिना क्यों देख ॥२२९॥

रज्जुं विना भ्रमेणैव बद्धास्ते प्राणिनः समे ।
कलने सति कालोऽपि न कश्चिच्चोपलभ्यते ॥१९॥
भ्रमैर्जीवेषु बद्धेषु ह्यदृश्यात्माऽपि बद्धवत् ।
भाति सर्वेषु लोकेषु जनैर्न लक्ष्यते स्वतः ॥२०॥
यथा मुखमदृश्यं हि स्वेनैव चक्षुषा स्वयम् ।
ज्ञायते दर्पणैर्लोके चक्षुर्मद्भिर्विचक्षणैः ॥२१॥
अदृश्योऽपि तथैवात्मा मनसा चेन्द्रियादिभिः ।
सतां वाग्दर्पणैः स्वान्ते दर्पणे स विवेकिभिः ॥
लक्ष्यते स्वविचारेण शुद्धे स्थिरतरे ननु ॥२२॥
यस्मै सद्गुरुभिर्दत्तः स्यादर्शो विमलः करे ।
सत्योपदेशरूपो वै कर्णे च कलुषापहः ॥२३॥
विवेकचक्षुषोऽभावे विचारे चाकृते तथा ।
कथञ्चित्स स्वमात्मानं नैव पश्यति दुर्मतिः ॥२४॥
अतः स्वस्य विवेकाय विचारः क्रियतां त्वया ।
विचाराय सतां सङ्गः सुशीघ्रं च विधीयताम् ॥२५-२२९॥

यह खलक ( संसारी ) रस्सी आदि विना ही भ्रम से बँधा है, और इसे बँधने पर तासु (इसमें) इसका अलेख ( अदृश्य साक्षिस्वरूप ) बँधा प्रतीत होता है, उस भ्रम की निवृत्ति के लिये उपदेशरूप दर्पण लोगों के हाथ में देने पर भी, विवेकादि नेन विना कोई कैसे देखेगा ॥२२९॥

समुझाये समुझे नहीं, परहथ हाथ बिकाय ।
मैं खैंचत हौं आपको, यह चल यमपुर जाय ॥२३०॥
नित खरसान लोह घुन छूटै ।
नित कि गुष्टि माया मोह टूटै ॥२३१॥

विचारायोपदेशेन नावगच्छति यो नरः।
वञ्चकादिवशे भूत्वा कालस्य वशमेति सः ॥२६॥
अहो मोहबलं तीव्रमाकर्षामि स्वयं हि यम्।
मोचयितुं स मोहेन याति वै यमपत्तने ॥२७-२३०॥
नित्यं संमार्जनाल्लौहं निर्मलं जायते यथा।
सत्सङ्गत्या तथा नित्यं मोहमुक्तो भवेज्जनः ॥२८॥
मोहस्य विगमे चाऽयं संसाराब्धिं सुखं तरेत्।
इत्येवं सद्गुरुः प्राह नरस्तु मन्यतेऽन्यथा ॥२९-२३१॥

दुरदृष्ट दुराग्रहादि वश जो समझाने पर भी नहीं समझते, वे लोग विवेकादि बिना परहथ ( परवश ) होकर यम के हाथ बिक जाते हैं। और मैं जिसको अपने मोक्षमार्ग के तरफ खींचता हूं। सो भी प्रबल कामादि के वश होकर यमपुर में जा रहा है ॥२३०॥

नित ( सदा ) खरसान करने ( माजने ) से, जैसे लोहा के घुन ( जंग–काई ) छूटा रहता है। तैसे नित की शुद्धि ( सत्संग विचारादि ) से माया मोहादि छूटे रहते हैं ॥२३१॥

लोहा केरी नावरी, पाहन गरुआ भार।
शिर पर विष की मोटरी, उतरन चाहै पार ॥२३२॥

अहो मोहस्य माहात्म्यं सद्गुरुं नाविकं निजम्।
सुहृदं सर्वभूतानां त्यक्त्वा नावं विवेकजाम् ॥३०॥
विज्ञानं विरतिं चैव भक्त्यादीन् सुसहायकान्।
काम्यकर्ममयीं नावं स्वमनोरथदुर्वहाम् ॥३१॥
कुवासनाभराक्रान्तां कृत्वा संगृह्य गोचरान्।
संसाराब्धेः परं पारं प्राप्तुमिच्छन्ति मोहतः ॥३२॥

महाभयं न पश्यंति ब्रुडन्ति च भवार्णवे।
सत्संगादि विना मर्त्या विपरीतैः स्वकर्मभिः ॥३३॥
लौहीं दासंस्कृतां नावं कृत्वाऽऽरोप्य महाशिलाम्।
मस्तके विषपात्रं च धृत्वैव तरितुं नदीम् ॥३४॥
समिच्छति यथा कोपि मन्दप्रज्ञो विमूढधीः।
निमज्जति तथा तेऽपि निमज्जंति न संशयः ॥३५-२३२॥

सत्संगादिरूप मोक्षमार्ग में नहीं आनेवाले, सकाम कर्मोपासनादिरूप मानो अनगढ लोह की नौका बनाये हैं। उस पर मनोरथाशादिरूप पत्थर के गुरुतर भार लादे हैं। और मनरूप शिर पर वर्तमान विषय विष की मोटरी (गठरी) लादे हैं, तौभी संसारसागर दुःखमहोदधि से पार होना चाहते हैं, सो आश्चर्य है ॥२३२॥

कृष्ण समीपी पाण्डवा, गले हिमालय जाय।
लोहा को पारस मिले, काहे काई खाय ॥२३३॥

श्रीकृष्णस्य प्रिया दासाः समीपस्था हि पाण्डवाः।
इन्द्रियार्थे हृतज्ञानाः शोकेन विवशीकृताः ॥३६॥
हिमालये गताश्चार्ता जातास्ते वै गतासवः।
वैराग्यदृढबोधाभ्यां विना शर्म न लेभिरे ॥३७॥
यथा पार्श्वमणेर्लाभे लौहो न लिप्यते मलैः।
तथा ज्ञानस्य लाभे हि मोहादैन्यं भवेत्कुतः ॥३८॥
कृष्णस्य दासाः खलु ये हि पाण्डवास्तेऽपीह शब्दादिषु सक्तमानसाः।
इष्टादियोगादिजशोकसंप्लुता नष्टा हिमैश्चेदितरस्य का कथा ॥
३९-२३३॥

इति शक्तिसाक्षात्कारे भक्तिमाहात्म्यराज्यबन्धनादिवर्णनं नामाष्टत्रिंशी वित्तिः ॥३८॥

समझाने पर भी नहीं समझने से, या उक्त लोहा आदि के नावरी आदि बनाने से ही श्रीकृष्णजी के समीपी भी पाण्डव (युधिष्ठिरादि) वियोगजन्य शोक से तप्त होकर, हिमालय में जाकर गल गये। लोहा को यदि सचा पारस मिल जाय, तो उसे काई (जंग) काहे (कैसे) खा सकती है। सचा अनुभव होवे तो शोकादि कैसे हो सकते हैं॥२३३॥

इति भक्ति माहात्म्य राज्यादि प्रकरण ॥३८॥

## साखी २३४, गर्वप्रमादादि निषेध प्र. ३९.

पूर्व उगै पश्चिम विशवे, भखे पवन के फूल।
ताहु को राहु गरसिया, मानुप काहे भूल ॥२३४॥
नयन क आगे मन वसे, पलक पलक कर दौर।
तीनि लोक मन भूप है, मन पूजा सब ठौर ॥२३५॥

पूर्वामुदेत्य यः सूर्यः प्रतीच्यामस्तमेति च।
भक्षते वातपुष्पं च राहुणा ग्रस्यते हि सः ॥१॥
ईदृशानां यदा ग्रासो निम्लोचश्चैव वर्तते।
तुच्छेन मानवः कस्मात्सामर्थ्येन प्रमाद्यति ॥२॥२३४॥
प्रमादिनां मनश्चैतन्नेत्रमारुह्य तिष्ठति।
धावते गोचरे शश्वच्छिस्तारयति कल्पनाम् ॥३॥
विकल्पजालयुक्तश्च मनः सर्वत्र पूज्यते।
भूपवद्वर्तते चैतदहो मोहविडम्बना ॥४॥
शुद्धवायोः प्रभोक्तारं राहुर्वै बाधते यथा।
तथैतद्विपयासक्तान् मनः सर्वान् प्रबाधते ॥५॥२३५॥

जो सूर्य पूर्वदिशा मे उगते ( प्रगट होते ) हैं । पश्चिमदिशा में प्रवेश करते ( अस्त होते ) हैं, और वायु के फूल ( सुन्दर सार ) का भक्षण करते हैं । उनको भी राहु ग्रसता ( ढापता ) है । तो तुच्छ बल प्रताप मे मनुष्य क्यों भूलते हैं कि जिससे सच्चा अनुभव नहीं होने पाता है ॥२३४॥

भूले हुए मनुष्यों का मन जाग्रत दशा मे सदा नेत्र के अग्रभाग में बसता है, और पल २ में बाहर की तरफ स्वतन्त्र दौर ( धावा) करता है । या पल २ में विकल्प जाल का विस्तार करता है । और आत्मपारख से मेल विना, तीनों लोक में मनही राजा है, मनही की पूजा सब ठिकाने हो रही है । कहीं भी विवेकवती बुद्धि से नहीं काम लिया जाता, न मन को अन्तर्मुख किया जाता है इत्यादि ॥२३५॥

मन स्वारथी आपरस, विषय लहर फहराय ।
मन क चलाय तन चले, ताते सर्बस जाय ॥२३६॥
मन गया तो जाने दे, गहि के राखु शरीर ।
उतरा रोद कमान का, क्यों कर लागै तीर ॥२३७॥

स्वार्थसक्तं मनश्चैतच्छन्दादेर्लोभलालसम् ।
विषयाख्यविषैर्मग्नं मुहुः स्फुरति सर्वदा ॥६॥
तेन संप्रेरितो देही संचलेद्विषये यदि ।
तस्य नश्येद्धि सर्वस्वं कुचर्मसु कुसंगतः ॥७॥२३६॥
मनो गच्छति चेद्यातु शरीरं त्वं निरोधय ।
एवमभ्यासतो धीमन् मनोऽपि न गमिष्यति ॥८॥
गुणहीनो धनुर्वंशो यथा किञ्चित्करोति न ।
शरीरेण विना तद्वन्मनः किं कर्तुमर्हति ॥९॥

" मनसा चिन्तितं पापं कर्मणा नैव रोचयेत् ।
न प्राप्नोति फलं तस्येत्येवं धर्मविदो विदुः" ॥१०॥
गुणहीनाद्यथा वंशाल्लक्ष्ये याति न मार्गणः ।
देहहीनात्तथा स्वान्तात् क्रिया निष्पद्यते नहि ॥११-२३७॥

कुसङ्गी अज्ञ का मन स्वार्थपरायण होकर अपने रस ( आनन्द ) में लगा रहता है, और विषयविष का लहर ( तरंग या ज्वाला ) से वायुप्रेरित पताका की तरह फहराया ( चला ) करता है। और उस मन के चलाये ( प्रेरणा ) से तनु चलता है, इससे सर्वस्व नष्ट होता है ॥२३६॥

यदि सर्वस्व की रक्षा चाहो तो, मन कहीं कुमार्ग में गया तो उसे जाने दो, परन्तु शरीर को बुद्धि विवेक से गहि ( रोक ) रखो। यदि कमान ( धनुष ) का रोदा उतर गया तो तीर कैसे लगेगा, शरीर रुका तो पापादि कैसे होंगे ॥२३७॥

काशी गति संसार की, ज्यों गाड़र की गाड़ ।
एक परा जिहि गाड़ में, सबे परे वहि गाड़ ॥२३८॥
मारग तो अति कठिन है, तहां कोइ मति जाय ।
गया सोइ बहुरा नहीं, कुशल कहै को आय ॥२३९॥

मनसोऽसंयमे तद्वच्छरीरस्याविनिग्रहे ।
काश्यां गच्छति मुक्त्यर्थमहो मोहमहोदयः ॥१२॥
गतिः काश्यां तथा नृणां मेषाणां हि यथाऽवटे।
एकः पतति यस्मिन्स्त तस्मिन्सर्वे पतंति हि ॥१३-२३८॥
मरणान्मुक्तियादस्य मार्गोऽतिविषमो मतः ।
तत्र केन न गन्तव्यमन्धकूपसमो हि सः ॥१४॥

गतास्तेन हि मार्गेण नागत्य कथयंति हि ।
तत्रत्यं कुशलं येन प्रत्ययोऽपि दृढो भवेत् ॥१५॥
जीवन्मुक्तास्तु विद्वांसोऽनुभूयैहैव सर्वथा ।
वदंति शिष्यवर्गेभ्यः प्रत्ययो जायते दृढः ॥१६॥
नातः काश्यां न वा क्वापि मर्तव्यं मोक्षवांछया ।
जीवन्नेव स्वबोधेन भव्यो मुक्तो न चान्यथा ॥१७-२३९॥

तन मन निरोधादि विना ससारियों की काशी करवटादि में इस प्रकार की गति ( प्राप्ति--मुक्ति ) होती है, कि जैसे गाड़रों ( भेड़ियों ) की गाड़ ( गड्ढे ) में होती है। एक आगे का गाड़र जिस गाड़ में पड़ता है, पीछेवाले सब उसीमें पड़ जाते हैं, तैसेही तीर्थों में देखादेखी *लोग आत्मघात करते हैं, और मोक्ष मानते हैं ॥२३८॥*

सद्गुरु का कहना है कि वह भेंड़ीधसान मार्ग मरण से मुक्तिमार्ग अति कठिन ( दुःखप्रद ) है, उसमें कोई नहीं जावो, जो मरकर गया सोई लौटकर आया नहीं तो उसका कुशल ( मोक्ष ) की कथा आकर कौन कहे, इससे जीवन्मुक्ति का यत्न करो [ जियत न तरहु मुये का तरि हो ] ॥२३९॥

मारे मरै कुसङ्ग के, ज्यों केला संग बेर ।
ये हालै वे चीरवै, विधिना संग निवेर ॥२४०॥
केला तबहिं न चेतिया, जब ढिग लागा बेर ।
अबके चेते क्या भया, काँटन लीन्हो घेर ॥२४१॥

कुसङ्गेन जना मोहान् म्रियन्ते मोक्षवाञ्छकाः ।
कदली कुबदर्या हि यथा नश्यति संगतः ॥१८॥

वायुना चालितां तां हि दृणाति वदरी यथा।
आशाया चलितं जीवं दृणंति कुजनास्तथा ॥१९॥
अतस्त्वं पुरुषव्याघ्र! कुसङ्गं ह्याशु संत्यज।
जीवन्मुक्तास्तु ये प्राज्ञास्तेषां सङ्गं कुरुष्व च ॥२०-२४०॥
ये तु स्वस्थे शरीरेऽस्मिन् कुसङ्गं न त्यजंति हि।
वृद्धत्वे मरणे प्राप्ते किं करिष्यंति ते तदा ॥२१॥
कर्कन्धूकण्टकारुद्धरम्भातुल्यास्तु ते तदा।
अपि तं दुःखदं बुद्ध्वा संत्यक्तुं शक्नुवंति नो ॥२२-२४१॥

कितने सज्जन भी कुसङ्ग के मारे ( वश से ) मरते हैं, उनकी कोमल बुद्धि इस प्रकार नष्ट होती है, कि जैसे केला बैर के संग से नष्ट होती है। वह केला वायु से हिलती है, वह बैर उसे चीरता फाड़ता है। प्रयोजनवश सज्जन कुछ बात व्यवहार करते हैं, कुपुरुष उन्हें पीड़ित करते हैं। इसलिये विधिना ( उपाय–युक्ति से ) कुसंग का शीघ्र निवेश ( त्याग ) करो ॥२४०॥

केलातुल्य कोमल चित्त सज्जन, यदि उस समय नहीं चेता, कि जब उसके साथ बैरतुल्य पुरुष लगे, तो अब वृद्धावस्था मरणादि काल में चेतने ( शोचने ) से क्या हुआ और होगा, अब तो वासना मोहादि कांट घेर लिये हैं। भोगने विना छुटकारा नहीं है। [ स्मृतिभ्रंशात्प्रणश्यति। भ. गी. ] ॥२४१॥

जीव मरण जानै नहीं, अन्ध भया सब जाय।
यादी द्वारे दाद नहिं, जन्म जन्म पछताय ॥२४२॥

कुसङ्गाच्चेज्जना लुब्धा बुध्यन्ते मरणं नहि।
कामान्धाः स्वाविवेकेन गच्छन्ति च कुवर्त्मसु ॥२३॥

सत्पथं न लभन्ते ते मरणे मोक्षवादिनः ।
पश्चात्तापेन तप्यन्ते जनित्वाऽतो मुहुर्मुहुः ॥२४॥
कुसङ्गमात्रार्थपरैर्विमोहिता विदन्ति मृत्युं हि जना न तत्त्वतः ।
वदावदानां हि सदैव सङ्गतस्तत्त्वं न कश्चिल्लभते विपद्यते ॥२५-२४२

इति साक्षिसाक्षात्कारे गर्वप्रमादादिवर्जनार्थोपदेशवर्णनं नामैकानच त्वारिंशी वित्ति. ॥३९॥

कुसङ्गी जीव मरण को नहीं जानते ( मृत्यु को भूले रहते ) हैं। इसीसे अनर्थ ( पाप ) करते हैं। तथा पुनर्मरणरहित मरणरूप मोक्ष को नहीं समझते, इसीसे अविवेकान्ध होकर काल के वश में मर जा रहे हैं। असत् मत परोक्ष मुक्तिवाद के वादियों द्वारा इन्हें दाद ( सत्य तत्त्व—न्यायपथ ) नहीं मिल सकता, इससे बार२ जन्म लेकर पछताते हैं॥ जीव को भी मरण ( काल ) कुछ नहीं समझता ( भोगादि की प्रतीक्षा नहीं करता ) है। इत्यादि॥ और वादी ( विवादी ) जीव वादरूप दाद ( रोग ) वश संसार कोट से निकलने का द्वार को नहीं पा सकता है इत्यादि ॥२४२॥

इति गर्वप्रमादादि निषेध प्रकरण ॥३९॥

## क्षेपक साखी, सद्गुरु बिना भ्रमसंशयादि प्र. ४०.

जाको सतगुरु नहिं मिला, व्याकुल दहुदिशि धाव ।
ऑखि न सूझै बावरा, घर जरु घूर बुताव ॥७॥
वस्तु अनत खोजे अनत, कैसे आवै हाथ ।
ज्ञानी सोइ सराहिये, पारख राखै साथ ॥८॥

सद्गुरुर्नहि लब्धो यैर्दिक्षु धावंति विह्वलाः।
विवेकदृष्ट्यभावात्ते हृत्तापानां निवृत्तये ॥१॥
नाधितिष्ठंति यद्यत्नं स्वास्थ्यमिच्छंति सन्ततेः।
कदाचिद्वनपद्यादेर्लब्धं स्वास्थ्यादिकं तथा ॥२॥
गृहे जाज्वल्यमानेऽन्धः संकराग्नेर्निवृत्तये।
यत्नं कुर्यान्न गेहाग्नेस्तथा कुर्वंति ते जडाः ॥३-७॥
आनन्दात्मा महिम्नि स्वे हृन्मध्ये चैव तिष्ठति।
बाह्ये मृगयमाणस्य कथं मिलतु स स्वयम् ॥४॥
न एव ज्ञानिनो धन्या बाह्ये मृग्यंति नैव ये।
स्वे महिम्नि स्थितं स्वान्ते पश्यंति च निरन्तरम् ॥५॥
वस्तु चेद्विद्यतेऽन्यत्र ततोऽन्यत्र च मृग्यति।
कश्चित्तस्य कथं हस्ते तदायातु सुसंचितम् ॥६-८॥

कुसङ्गादिवश जिन्हें सद्गुरु नहीं मिले हैं, वे लोग व्याकुल होकर दशोंदिशाओं में दौड़ते हैं, और विवेक बिना उन बावरों को आंखों से कुछ नहीं सूझता, इससे शोक कामादि से हृदयघर को जलता हुआ छोड़कर, शरीर स्त्रीपुत्रादिरूप घूरों को शान्त बुझा करना चाहते हैं ॥७॥

सत्य वस्तु सुख अनत ( अन्यत्र ) हृदय में है, अज्ञ लोग उसे अन्यत्र ( लोक विषयादि में ) खोजते हैं। तो वह किस प्रकार हाथ में आवै ( प्राप्त होवै ) वही ज्ञानी सराहने ( स्तुति ) योग्य है, जो पारख ( विवेक अनुभव ) को साथ रखता है ॥८॥

सुनिये सब की बारता, निबेरिये अपना।
सिन्धोरे का सिन्धोरा, झपने का झपना ॥९॥
बाजन दे बाजन्तरी, कलि कुकुरी मति छेर।
तुझे बिरानी क्या परी, तुं अपनी आप निबेर ॥१०॥

सर्वेषां वचनं श्रुत्वा विवेकोऽतो विधीयताम् ।
आत्ममोह निराकृत्य तत्रैव स्थीयतां सदा ॥७॥
भवाब्धेरप्ययं ग्रन्थिः सर्वाधारस्त्वतो मतः ।
आच्छादकस्य सर्वस्य विभुः प्रावारको हि सः ॥८॥
सद्विवेको हि बुद्धयाख्यकान्तासौभाग्यसूचकम् ।
रत्नपात्र सरक्ष वै ढकनं सेव च स्मृतम् ॥९॥
आत्मनिष्ठश्च भूयस्त्वं संसारे न पतिष्यसि ।
न पुनस्त्वं च दुःखस्य नामापि श्रोष्यसि ध्रुवम् ॥१०-९॥
शरीरयन्त्रसक्ता ये जल्पंति वाग्मिनो बहु ।
वदन्तु तेऽस्ति किं तेन फलं तव महामते ॥११॥
वाचाला दुर्मुखा ये च तान् किञ्चिद्वदस्व भोः ।
अन्यैस्ते विद्यते किं वा स्वात्मनाऽऽत्मनि शाम्यतु ॥१२॥
यैर्नैव लब्धः सुगुरुर्जनैरिह ते यान्तु कुत्रापि कुमार्गतो जनाः ।
त्वं नैव तद्वत्कुरु चात्मगौरवं रक्षस्व यत्नेन परं विवेकवान् ॥
१३-१०॥

सब वादियों की बातों को सुनो परन्तु अपना स्वरूप का निबेरा (विवेक अनुभव) करो। अपना स्वरूप ही ससार या सुरसत्व सिन्धोरा (समुद्र) का भी सिन्धोरा (सिन्धु) है। या विद्या बुद्धि भक्ति महारानी के सोहागादि का सूचक सब स्वाधार सिन्धोरा का भी सिन्धोरा विवेक और आत्मा है। और अविद्यादि सब झपनाओं (आवरणों) का भी वह झपना है। (ईशा वास्यमिदं ॰ सर्वम्। ईशोप. १) या विवेक ही ज्ञान दर्पण मोक्ष रत्नादि के लिये झपने का झपना (श्रेष्ठ रक्षक) है इत्यादि ॥९॥

बाजन्तरी (शरीरयन्त्राभिमानी–निरर्थक वक्ता) को बाजने (कहने) दो। कलि के कुकुरी तुल्य बकवादी को नहीं छेड़ो, बिरानी ( अनात्म

सम्बन्धी—अन्य की) बातों से तुझे क्या पड़ी है (कौन जरूरत है) अपनी निबेरा आप करो ॥१०॥

गावै पढै विचारै नाहीं, अनजाने का दोहा ।
कहहिं कबिर पारस परसे बिनु, पाहन भीतर लोहा ॥२४३॥
मरणे मरणे सब कहै, मरण न जानै कोय ।
ऐसा होय के न मुआ, बहुरि न मरणा होय ॥२४४॥

गायकाः पाठकाश्चैव शब्दानां ये वदावदाः ।
विचारं कुर्वते नैव नार्थतत्त्वं च मन्वते ॥१४॥
पाषाणस्थं यथा लोहं पार्श्वाख्यमणिना सह ।
असंस्पर्शाद् भवेल्लोहं सुवर्णत्वं न गच्छति ॥१५॥
तथा ते स्वात्मनः स्पर्शं विना देहाभिमानतः ।
व्याकुला विचरन्तीह भवंति द्वन्द्वभागिनः ॥१६-२४३॥
व्याकुला मृत्युमिच्छन्ति भवंति विह्वला मुहुः ।
वर्णयन्त्यनिशं मृत्युं मरणं न विदन्त्यहो ॥१७॥
मरणं तन्महापुण्यं यतो न मरणं पुनः ।
कदापि स्याद्धि संसारे स्वात्मना च स्थितिर्भवेत् ॥१८॥
इत्थं भूत्वा जना नैव म्रियन्ते वै पुनर्यतः ।
मरणं न भवेन्नापि शोकमोहविडम्बना ॥१९-२४४॥

जो लोग अनजाने (अज्ञातार्थं) दोहा आदि का गानपाठादि करते हैं, परन्तु उनके अर्थ (आत्मादि) को नहीं जानते हैं, वे लोग इस प्रकार संसारी बने रहते हैं, कि जैसे पत्थर के भीतर का लोहा पारस से परस (संबंध) विना लोहाही रहता है, सुवर्ण नहीं होता ॥ या जो गाते पढ़ते हैं, परन्तु आत्मपरिचय नहीं करते, उन अनजाने

( अज्ञों ) को दोहा ( स्थूल सूक्ष्म दो देह ) बारर प्राप्त होते हैं। क्योंकि आत्मा गुरुरूप पारस से परम विना पत्थर के लोहा तुल्य रहते हैं, सद्गुरु के सम्बन्ध से पारस होते हैं [ पारस ते पारस भया, परख भया टकसार ] ॥२४३॥

मरणे २ सब कहते हैं, दुःख आने पर मरण चाहते हैं, उसकी चर्चा करते हैं; परन्तु पुनर्मरण रहित मरण का भेद कोई नहीं जानते, न मरण काल के दुःखादि को याद (स्मरण) रखते हैं, इसीसे कोई अविवेकी ऐसा होकर नहीं मुआ कि जिससे फिर नहीं मरण हो ॥२४४॥

मरते मरते जग मुआ, बहुरि न किया विचार ।
एक सयानप आपनी, परवश मुआ संसार ॥२४५॥
कबिरन भक्ति बिगारिया, कंकर पत्थर धोय ।
अन्दर में विष डारि के, अमरित डारिन खोय ॥२४६॥

विह्वलीभूय सर्वे ते मृत्वा मृत्वा गता नराः ।
कुसङ्गादीन् परित्यज्य विचारो न कृतो हि यैः ॥२०॥
विचारजं सुविज्ञानं प्राविण्यं परमं मतम् ।
विना तेन तु सर्वेऽमी म्रियन्ते विवशा नराः ॥२१-२४५॥
विचाराभावतश्चामी कवयो मानवाः सदा ।
जडपूजापरा जाताः सुभक्तिस्तैर्विनाशिता ॥२२॥
यथा विषस्य संसर्गादमृतं वै विनश्यते ।
तथा विषयसंसर्गाद्भक्तिर्विषफलाऽभवत् ॥२३॥
सुभक्तिश्चात्मदेवस्य विचारादिस्वरूपिणी ।
स्मरणध्यानरूपा च सद्गुरोः सेवनं हरेः ॥२४॥

परावृत्य हि संसारात्परित्यज्य विषं समम् ।
भावयश्चामृतं ह्येकममृतत्वाय कल्पते ॥२५-२४६॥

मरते २ सब ससारी कुसंगादिक ही में मरा, कुसंगादि से बहुरि (विमुख हो) कर विचार नहीं किया, और आत्मविचारादिक ही एक अपनी चतुराई है, इसके विना ससारी परवश होकर मरा ॥ या सद्गुरु विना एक अपने मन की चतुराई से कामादि के वश होकर मरा, पुनर्मरण रहित नहीं हुआ ॥२४५॥

लौटकर विचारने विना कविरन (कवियों वा जीवों) ने ककड़ पत्थर (मूर्ति आदि) को धोय (स्नानादि) मात्र कराय कर, सच्ची भक्ति को बिगाड़ दिया। और अपने अन्तःकरण में विषय विष को धर कर, तथा भक्ति में मूर्ति कामादि विष मिलाकर अमृत (मोक्ष) को खोय डाला ॥२४६॥

रही एक की भइ अनेक की, वेश्या बहुत भतारी ।
कहहिं कविर काके संग जरिहैं, बहुत पुरुष की नारी ॥२४७॥

एकात्मभक्तियोग्या च सद्गुरोः सत्कृतौ तथा ।
समर्था या पुरा बुद्धिरासीत्सैव कुसङ्गतः ॥२६॥
पांशुला ननु संजाता बहुदेवादिसङ्गमात् ।
तस्या जीवोऽपि सम्बन्धाद् व्यभिचारीव लक्ष्यते ॥२७॥
सम्बन्धिनीयमेकस्य धावते चेयतस्ततः ।
कस्माच्च लभतां शर्म कुतो भूयात्पतिव्रता ॥२८॥
इतस्ततश्च धावन्ती क्वचिन्न लभते सुखम् ।
प्रसक्ता कामभोगेषु जनयन्ती भ्रमं च सा ॥२९॥

प्रागेकस्य यथा कान्ता संजाता बहुभर्तृका ।
अनेकस्य प्रिया केन ज्वलिष्यति तथैव सा ॥३०॥
सर्वं तु परितस्त्यक्त्वा सच्चिदानन्दमद्वयम् ।
भावयन् सा हि तेनैक्यं याति नास्त्यत्र संशयः ॥३१-२४७॥

जो बुद्धि एक सर्वात्मदेव की स्त्री ( भक्तियोग्य ) थी, सो भक्ति के बिगड़ने से अनेक देव भूत प्रेतादि के अधीन हो गई। जिससे मानो बहुत भर्तावाली वेश्या हो गई। साहब का कहना है कि बहुत पुरुष की नारीतुल्य वह बुद्धि जीवसहित अन्त में किसके साथ जलेगी ( किसमें लीन होगी ) जीव कहाँ परमानन्द पायगा। ( अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः। प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥ भ गी. १६।१६ ) ॥२४७॥

तन बोहित मन काग है, लक्ष योजन उड़ि जाय ।
कबहु अगम दरिया भ्रमे, कबहुंक गगन समाय ॥२४८॥
ज्ञान रतन की कोठरी, चुपक दियो है ताल ।
पारखि आगे खोलिये, कूंजी वचन रसाल ॥२४९॥

विभ्रमे विविधे जाते मनः काक इवाचरन् ।
तनुं तरणिमास्थाय भ्रमतीह भवार्णवे ॥३२॥
क्षणाद्याति च चाञ्चल्याद्दूराद्दूरतरं मनः ।
कदाचिद्गगने चेदं हृदये विशति स्वयम् ॥३३-२४८॥
एवं भ्रमति तावत्तद्यावज्ज्ञानं न लभ्यते ।
गृहं च ज्ञानरत्नस्य सद्गुरुर्नात्र संशयः ॥३४॥
मूढेभ्यो रत्नरक्षार्थं मौनवृत्त्यादिना गुरुः ।
संतिष्ठते गतोद्वेगो विचाराद्यैः सुरक्षयन् ॥३५॥

विवेकिने सुशिष्याय ददते स उदारधी ।
न दत्ते जातु मूढेभ्यो दु सम्यन्धविशङ्कया ॥३६ २४९॥

बहुत वे दासादि होने से देह ससारसिन्धु के चचल नौका हुआ है, अभिमानी मन काक है, सो कामवासनादि वश लाखों योजन उड़ जाता है, कभी अगम ससारसमुद्र मे भ्रमता है, कभी सुषुप्ति आदि काल मे हृदय ईश्वरादिरूप गगन में समाता है, परन्तु स्थिर सुखी नहीं होता ॥२४८॥

ऐसे मनवाले जीवों को देखकर, सद्गुरु ने ज्ञानरत्न की कोठरी रूप अपने तन मन में चुपक ( मौन ) रूप ताला दिये ( लगाये ) हैं। और प्रतीक्षा कर रहे हैं कि कोई पारखी ( विवेकी ) मिले तो रसाल वचन रूप कूजी से कोठरी को खोलें। ये लोग रतन का दुरुपयोग करेंगे ॥२४९॥

स्वर्ग पताल के बीच मे, दुई तुमरिया विद्ध।
षट दर्शन सशय परी, लख चोरासी सिद्ध ॥२५०॥

कुबुद्धि· कुमनश्चैते मायाऽविद्ये उभे तु वा।
स्वर्गपातालयोर्मध्ये कटुतुम्ब्यौ हि तिष्ठत· ॥३७॥
व्याप्ते सर्वेषु भावेषु जनयेते च संशयान्।
योगिजङ्गमसुख्येषु षट्सु दर्शनमानिषु ॥३८॥
सिद्धेष्वपि च सर्वेषु यावदात्मा न लभ्यते।
भ्रामयन्त्यौ स्थिते चैते योनिषु द्वापरात्मतः* ॥३९॥
एताभ्या किल जायन्ते सिद्धा दार्शनिका अपि।
व्याकुला विह्वलाश्चैव तदन्येषा कथैव का ॥४०॥

* सदायात्मत इत्यर्थ ॥

यावदेते हि वर्तंते तावत्सर्वासु योनिषु ।
सर्वेषां भ्रमणं नित्यं भवत्येवानिवारितम् ॥४१-२५०॥

उक्त ज्ञानरत्न की प्राप्ति बिना स्वर्ग और पाताल के बीच में सर्वत्र, तनमनरूप, या माया अविद्यारूप दो तुमरी विद्ध ( व्याप्त ) है, या जानो )। और यही तुमरी योगी आदि षट् दर्शन ( धर्म–सम्प्रदाय ) में संशयरूप होकर पड़ी ( पैठी ) है, जिससे चौरासी लाख योनियों में भटकना सिद्ध ( बना ) है। या चौरासी लाख सिद्ध ( योगी ) में भी यह संशय व्याप्त है, कोई विरल ही ज्ञानरत्न के प्रकाश से संशयादि तमरहित होते हैं ॥२५०॥

कबीर दुर्मति दूरि करु, अच्छा जन्म बनाव ।
काग गमन बुधि छोडि दे, हंस गमन चलि आव ॥२५१॥

यतः सर्वस्य दुर्बुद्ध्या मनसा कुत्सितेन च ।
भवति भ्रमणं तस्मात्सावधानमना भव ॥४२॥
हित्वा बोधेन दुर्बुद्धिं त्यक्त्वा काकमनस्तथा ।
विवेकात्कुगतिं त्यक्त्वा कुरुष्व सफलं जनुः ॥४३॥
हंसानां गतिराख्याता सुविवेको महामते ।
तामाश्रित्य मनोद्वेगं द्रुतं जहि मुदाऽरिहन् ॥४४॥
यावन्न हंसस्य गतिं श्रयेत त्यजेन्न वै काकगतिं जनोऽयम् ।
तावत्तरेन्नैव भवाब्धिदुःखं तस्मात्तदर्थं सुगुणे यतस्व ॥४५-२५१॥

इति साक्षिसाक्षात्कारे सद्गुरु विना भ्रमसंशयादिवर्णनं नाम चत्वारिंशी विंशतिः ॥४०॥

सद्गुरु का कहना है कि यदि ज्ञानरत्न की प्राप्ति चाहो तो तनु पोषण परायणता क्रूरता अविवेकादिरूप दुर्मति को दूर (नष्ट) करो, और

इस जन्म को अच्छा ( पवित्र-सफल ) बनावो ( करो ) और काक की तरह हिंसा अपवित्रता आदि का हेतु गमन ( व्यापार-मार्ग ) के कारण दुर्बुद्धि को छोड़कर, हंसगमन ( विवेकमय शुद्ध मार्ग ) में चले आवो ॥२५१॥

इति सद्गुरु विना भ्रम संशयादि प्रकरण ॥४०॥

## साखी २५२, मनोवैभव सन्तमहत्त्वादि प्र. ४१.

मन का दौर अनेक है, तीन लोक पगु एक।
बलिहारी तिहि सन्त के, मन को राखै टेक ॥२५२॥
जैसी कहै करै जो तैसी, रागद्वेष निरुआरै।
तामहँ घटै बढ़ै रतियो नहिं, यहि विधि आपु समारै ॥२५३॥

मनसोऽनेकशक्तिर्हि विद्यते गमनादिषु।
क्रमणेन तदेकेन मिमीते भुवनत्रयम् ॥१॥
धन्यास्ते सुजना यैस्तु तादृगेतन्मनो जितम्।
जित्वा तच्च समाक्षिप्तं सुखसिन्धौ सदाऽव्यये ॥२॥
मनसो विजये जाते जेतव्यं नावशिष्यते।
अतस्ते कृतकृत्याश्च विचरन्ति यथासुखम् ॥३-२५२॥
रागद्वेषौ व्युदस्यात्र वचसा कर्मणा सदा।
समं व्यवहरन् धीरो विजेता मनसो भवेत् ॥४॥
अन्यदुक्त्वा करोत्यन्यन्मनसा स विजीयते।
वचसा कर्मणा चैकं बुधः कुर्यादतोऽनिशम् ॥५॥
सद्गुरुप्रोक्तमार्गेण गच्छन्नेह व्यतिक्रमेत्।
रेखामात्रं ततो गच्छेद्विवेकेन परं पदम् ॥६॥

वक्ति यो यादृशं वाक्य कुरुते तादृशं शुभम् ।
न्यूनाधिक्यं न चाल्प तु रागद्वेषौ जहाति च ॥
सोऽनेन विधिनाऽवश्यमात्मानं शोधयत्यलम् ॥७ २५३॥

दुर्गति का त्याग विना मन का दौड़ ( दौड़ान–निमित्त–विषयादि ) अनेक हैं। यह मन तीनों लोक को एक पगु ( धाप–डेग ) करता है। इसगतिवाले तिन सन्तों की बलिहारी ( धन्यवाद ) है, कि जो ऐसा मन को भी टेक ( पकड़ ) रखते हैं ॥२५२॥

जो पुरुष सत्यप्रतिज्ञ होकर जैसा कहता है, तैसाही करता है, और रागद्वेष का निरुआर ( त्याग ) करता है, और तामहँ ( कथनक्रिया में ) जो रती मात्र भी घटता बढ़ता नहीं है, या सद्गुरु सत्शास्त्र के कथनानुसार ही जो करता है, सो इसी प्रकार अपना मन को टेककर अपने को समारता ( सुधारता ) है ॥२५३॥

भरम भरा तिहु लोक मे, भरम भरा सब ठाम ।
कहहिं कबीर पुकारि के, बसहु भरम के गाम ॥२५४॥
रतन लडाइन रेत मे, कंकड़ चुनिचुनि खाय ।
कहहिं कबीर पुकारि के, बहुरि चले पछताय ॥२५५॥

विवेकेन विना भ्रान्तिस्त्रिलोकीं व्याप्य तिष्ठति ।
भ्रान्त्यैवं कल्पिते ग्रामे त्वं ममत्वेन वर्तसे ॥८-२५४॥
सर्वत्र भ्रान्तिसंव्याप्ता ममतामोहविह्वलाः ।
सर्वाण्युज्वलरत्नानि क्षिपन्त्येव कुरेणुषु ॥९॥
आत्मज्ञानादिरत्नानि यैः क्षिप्तानि कुकर्मसु ।
भ्रमे रजसि मौढ्येन गृहीत्वा विषयानहो ॥१०॥

शर्करान् विषयाँल्लब्ध्वा भुक्त्वाऽपि ते मुहुर्मुहुः।
न तृप्यंति तु गच्छंति योन्यादावेव सर्वदा ॥११॥
पश्चात्तापैः सुतप्ताश्च लभन्ते न सुखं क्वचित्।
तस्मात्तथा विधेयोऽत्र तृप्तिर्येन भवेद् ध्रुवा ॥१२॥
आत्मनः शोधनात्सत्याद्रागद्वेषविवर्जनात्।
अमानित्वादिभिर्नित्यं पुनस्तापो न जायते ॥१३-२५५॥

अपना सुधार करे विना तीनों लोक और सब ठौर मे भ्रम (मिथ्या ज्ञान वस्तु) ही भरा है, और तुम भी भ्रम के ही ग्राम मे बसे हो ॥२५४॥

और भ्रम मे बसने के कारण जिन लोगों ने ज्ञानादि रत्नों को कर्मादि रेत (धूलि) में लड़ाइन (गमाया—गिराया) और विषयादि कंकड़ों को काम्यकर्मादि द्वारा चुन २ कर खाते हैं, वे लोग शरीर विषयादि के नष्ट होने पर पश्चात्ताप करके बहुरि (फिर—बार २) चलते हैं ॥२५५॥

जेते पत्र वनास्पति, औ गंगा के रैणु।
पण्डित विचारा क्या कैरे, कविर कहे मुख वैनु ॥२५६॥
सद्गुरु वचन सुनहु हो सन्तो, मति लेहू शिर भार।
हौं हजूर ठाढ कहते हौं, तैं सम्भार सँभार ॥२५७॥

वनस्पतेर्हि यावन्ति पत्राणि खलु रेणवः।
यावन्तः संति गंगायास्तावद्वाग्विभवा इह ॥१४॥
कृतानि कविवाक्यानि नानाभावजुषाणि चेत्।
स्वेष्टं कुर्वन्तु किं तावत्पाठकाः पण्डिता अपि ॥१५॥
विस्तराः क्लेशसंयुक्ताः संक्षेपस्तु सुखावहः।
अतस्त्यक्त्वा तु विस्तारान् बुधैराद्रियते हि सः ॥१६-२५६॥

भो साधो ! सद्गुरोर्वाक्यं श्रुत्वा शिरसि नार्पय ।
शब्दभारं यतो भुग्नो भवे भ्रमति वै भवान् ॥१७॥
शब्दजालं महारण्यं चित्तभ्रमणकारणम् ।
अतः सर्वप्रयत्नेन तत्त्वमेव बुभुत्स्यताम् ॥१८॥
प्रत्यक्षोऽहं स्थितो वच्मि प्रत्यक्षं च हित परम् ।
स्मर तत्त्वं स्मरात्मानं जहि काममदादिकम् ॥१९-२५७॥

इति साक्षिसाक्षात्कारे मनोवैभवसन्महत्त्ववर्णनं नामैकचत्वारिंशी विचिः ॥४१॥

वनस्पतियों में जितने पत्ते होते हैं, गंगा में जितनी रेणु ( धूली ) हैं, भ्रान्त कवियों ने उतनी ( अठारह भार–अनन्त ) वाणी मुख से कही है, पुस्तकपाठी पण्डित बेचारे इन शब्दों के फेर में पड़कर क्या कर सकते हैं। या अनन्त शब्दजाल में जिज्ञासु भी कुछ विचार नहीं कर सकता । इसलिये कबीर ( सद्गुरु ) ने मुख्य ही वाणी कही है ॥२५६॥

हे सन्तो ! सद्गुरु के सारशब्द सुनो, असारशब्दादि के भार शिर पर मत ( नहीं ) लो। हीं ( मैं ) हजूर ( प्रत्यक्ष ) खड़े होकर कहता हू कि तुम सम्हारोर ॥२५७॥

इति मनोवैभव सन्त महत्त्वादि प्रकरण ॥४१॥

## साखी २५८, ज्ञानाऽज्ञान की परिपाकावस्था प्र. ४२.

आगे आगे दौ बरै, पीछे हरियर होय ।
बलिहारी वहि वृक्ष की, जर काटे फल होय ॥२५८॥

क्षुभुत्सायां प्रवृत्तायां ज्ञानाग्नौ ज्वलिते पुरा।
कर्मावकरसंदाहे छिन्ने कामादिबन्धने ॥१॥
मनोमोहादिसिंहादौ संप्लुष्टे तु भयावहे।
संसारविपिनं ह्येतत्सुप्रकाशं भवत्यलम् ॥२॥
यथा पूर्वं दवैर्दग्धं विपिनं हरितं पुनः।
भवत्येवं महानन्दं भात्यत्र ज्ञानिनां पुनः ॥३॥
संसारवनसंजातो धन्योऽसौ देहपादपः।
छिन्नेऽविद्याऽऽख्यमूले यो दत्ते फलमनुत्तमम् ॥४-२५८॥

सद्गुरु के वचनों के श्रवणादि से संसारवन में आगे २ ज्ञानाग्नि रूप दौ ( दावानल ) बरती ( धधकती ) है। जिससे अज्ञानकामादि कुवृक्ष सब जल जाते हैं। और उसके पीछे ( बाद ) यह संसार हरियर ( हरा—आनन्दमय ) उस ज्ञानी की दृष्टि में हो जाता है। इस विश्व-वन के तिस देहादिरूप वृक्ष की बलिहारी है, कि जिसके अविद्यादि-रूप जर ( मूल ) के काटने से नित्य तृप्ति जीवन्मुक्तिरूप फल होता है ॥२५८॥

गुणिया तो गुण ही कहै, निर्गुण गुणहिं घिनाय।
जायफर दीजै बैलहीं, क्या बूझै क्या खाय ॥२५९॥
गुरु की मीठी जो कहै, हृदया है मति आन।
कहहिं कबिर ता लोक से, तैसे राम सयान ॥२६०॥

लब्धात्मानुभवो योगी भाषते तद् ध्रुवं सुखम्।
विस्तारे न मनो दत्ते मूढस्तु तज्जुगुप्सते ॥५॥
यथा जातीफलं नैव वृषभाय प्ररोचते।
मूढेभ्योऽपि तथा तात विज्ञानं रोचते नहि ॥६-२५९॥

यश्चानभिलपञ् ज्ञान हृदि कृत्वाऽन्यथा मतिम् ।
बहिर्वै मधुरं वक्ति तस्मै रामोऽपि तादृशः ॥७॥
बहिरस्यान्यथा भाति वर्तते हृदि चान्यथा ।
अखण्डेन स्वरूपेण दृश्यते न कदाचन ॥८॥
तत्कर्मसचिवो भूत्वा बहिः सौख्यं प्रदर्श्य सः ।
अन्तस्तीव्रेण तापेन चित्तं दहति सर्वदा ॥९-२६०॥

आनन्दमय गुणिया ( सद्गुणाकर ) ज्ञानी सद्गुण ज्ञान ही की बात कहते हैं। परन्तु निर्गुण ( अविवेकी ) सद्गुण ज्ञान से घृणा करता है, भला बैल को जायफर दिया जाय, तो वह क्या समझेगा, और क्या खायगा, सोई दशा निर्गुण के प्रति सदुपदेश की है ॥२५९॥

सद्गुण की प्राप्ति विना, जो लोग केवल मुख की मीठी ( मनोरञ्जक-मधुर-झूठी ) बात कहते हैं, और जिनके हृदय में आन ( भेद भिन्न ) मति ( बुद्धि ) वर्तमान है, तो उन लोगों से सर्वात्मा राम भी तैसेही सयान ( सावधान ) हैं। या सयान राम उनके लिये बाहर भीतर भिन्न भासते हैं, सर्वत्र एकरस नहीं दीखते ॥२६०॥

इत ते तो सबही गये, भार लदाय लदाय ।
उत ते कोइ न आइया, जासों पूछौं धाय ॥२६१॥

तापयुक्ता जनाः सर्वे कृत्वा कर्मादिसंचयम् ।
तापहृत्यै प्रयान्त्यस्माल्लोकाल्लोकान्तरं सदा ॥१०॥
लोकान्तरात्समायान्ति वक्तुं पृच्छन्तु यानिह ।
निश्चयं चाधिगच्छन्तु तापाऽपायस्य वै जनाः ॥११॥

अतोऽत्रैव विधानस्य उपायस्तापशान्तये ।
लोकान्तरस्य कामस्तु कर्तव्यो न कदाचन ॥१२॥
सत्येन योधेन मनोविजेता भवेद्विवेकी नतु जातु कामी ।
अतो विजित्यैव मनःप्रपञ्चं द्वन्द्वैर्विमुक्तः सततं रमस्व ॥१३-२६१॥

इति साक्षिसाक्षात्कारे ज्ञानाऽज्ञानयोः परिपाकदशावर्णनं नाम द्विचत्वारिंशी वित्तिः ॥४२॥

उक्त ज्ञानगुणादि विना इतते ( इस लोक-देह से ) काम्यकर्मादि भार लाद लदाय कर सब लोग गये, परन्तु परलोक से मोक्षसुख की खबर देने कोई भेदवादी नहीं आया, कि जिससे दौड़कर पूछा जाय और शीघ्र निश्चय किया जाय। और जीवन्मुक्त तो स्वप्रत्यक्ष सिद्ध सुखादि के साधन बताते हैं, इससे योई कर्तव्य है ॥ और सब साधन का धाम मानवदेह है, स्वर्गादि भोग के स्थान हैं, इससे वहाँ के कर्मादि से देवादि बनकर कोई नहीं आया, यहाँसे कमायकर तो सबही गये इत्यादि भाव है ॥२६१॥

इति मनोवैभव सन्तमहत्त्वादि प्रकरण ॥४१॥

## साखी २६२, भक्तिभेदादि प्र. ४३.

भक्ति पियारी राम की, जैसी प्यारी आगि ।
सारा पट्टन जरि गया, फिरिफिरि लावै माँगि ॥२६२॥

देवस्यैवात्मरामस्य भक्तिर्वन्हिरिव प्रिया ।
विज्ञानं जनयत्येषा जगत्तेनैव दह्यते ॥१॥
ज्ञानाज्ज्ञपुरदाहेऽपि धन्या जिज्ञासवस्तु ये ।
अहो अभ्यर्थ्य विज्ञेभ्यः स्वगृहे धारयंति ते ॥२॥

आत्मभिन्नस्य देवस्य भक्तिरज्ञजनप्रिया ।
अतो विरहतापेऽपि गृह्णन्ति तां पुनर्जनाः ॥३॥
" अप्रियाण्यपि कुर्वाणो यः प्रियः प्रिय एव सः ।
दग्धमंदिरसारेऽपि कस्य वन्हावनादरः " ॥४-२६२॥

कष्टसाध्य होने पर भी आशादिरहित सर्वात्मा राग की भक्ति ( ध्यान विचारादिक ) ही, सबके लिये इस प्रकार प्यारी (हितकारिणी) है, कि जैसे शीतादि से पीडित के लिये अग्नि प्यारी होती है। प्यारी होने ही से सारा पट्टन ( शहर ) के अग्नि से जलने पर भी लोग फिर२ अग्नि माग लाते हैं। और ससार शरीरादि दुःखद नगर को जलानेवाली भक्ति ज्ञानाग्नि को जिज्ञासु जन सद्गुरु से प्राप्त करते हैं॥ हृदय में आन ( भेदादि ) को रखनेवालों के लिये अनात्मराग भी भक्तिही अग्नि की तरह स्वभाव से प्यारी होती है। इससे विरह रागादि से सब ससार को संतप्त देखकर भी वे लोग भेद भक्तिरूप अग्नि ही माग लाते हैं इत्यादि ॥२६२॥

प्रथम एक जो हौं किया, भै सो बारह बान ।
कसत कसौटी ना टिका, पीतर भया निदान ॥२६३॥

अस्माभिरादिसर्गे हि भक्तिरेका प्रसाधिता ।
विज्ञानजननी शुद्धा पूज्या सर्वमलापहा ॥५॥
सा जाता वादिसंसर्गाद्बहुभेदविकल्पिता ।
विचारनिकषेऽनन्ता दुर्वर्णा तु प्रसिद्ध्यति ॥६॥
सुवर्णा भक्तिरेकैव गुरुभिः प्रकटीकृता ।
अहंकारेण कैश्चित्तु बहुवाराः प्रवर्तिताः ॥७॥
" मोहो दैन्यं भयं हासं हानिर्ग्लानिः क्षुधा तृषा ।
मृत्युः क्षोभस्तथाऽकीर्तिर्वादाश्चाहंकृतिप्रजाः " ॥८-२६३॥

हौं ( मैं—सद्गुरु ने ) जो एक सच्ची भक्ति प्रथम प्रगट किया [ सन्तो भक्ति सद्गुरु आनी। शब्द ] सो भक्ति अनधिकारियों द्वारा बारह बाट ( अनन्त—छिन्नभिन्न ) हो गई। और वह अनन्त कल्पित भक्ति, कल्पित सुवर्ण की तरह विचारादि कसौटी पर कसने ( परखने ) पर नहीं ठहर सकती, किन्तु निदान (निपट—केवल) पीतल की तरह तुच्छ हो जाती है॥ या जिन पुरुषों ने प्रथम एक हौं ( अहंकार ) किया, वे बारह बाट ( नष्टभ्रष्ट ) हो गये इत्यादि॥२६३॥

सज्जन हता दुर्जन भया, सुनि काहू की बोल।
तामें काँसा ह्वै रहा, हता हिरण्य का मोल॥२६४॥
अपनि कहै मेरी सुनै, सुनि मिलि एकै होय।
हमरहिं देखत जग गया, ऐसा मिला न कोय॥२६५॥

कस्यचिद्वचः श्रुत्वा सज्जनाः सुतपस्विनः।
कुसंगकामलोभाद्यैर्दुर्जनत्वं प्रपेदिरे॥९॥
अहङ्काराऽभिभूतास्तु सुवर्णत्वं विहाय ते।
गता दुर्वर्णतां लोके सुवर्णस्ताम्रतादिवत्॥१०॥
प्रवृद्धेषु च वादेषु मूल्यं यस्य हिरण्यवत्।
आसीत्तस्यापि जिज्ञासा नास्ति किं शृणुयाद्धि सः॥११-२६४॥
लभ्यते न जनस्तादृग् यो गत्वा गुरुसन्निधौ।
वदेच्च शृणुयाच्चैव गुरुभिश्चैकतां व्रजेत्॥१२॥
मृत्वा मृत्वा प्रजायन्ते जनित्वा यन्ति मे तथा।
पश्यतोऽग्रे न पश्यंति मोक्षद्वारमपावृतम्॥१३-२६५॥

बारह बाट या बाट के होने से जो रागद्वेषादि रहित सज्जन थे, सो भी किसी अज्ञ की बोली सुनकर दुर्जन ( पक्षपाती हिंसक ) हो गये,

इससे जिसका प्रथम सुवर्ण ( भक्तादि ) का मोल ( आदरादि ) था, सो भी तामाँ काँसा ( तुच्छ संसारी ) होकर रहा इत्यादि ॥२६४॥

दुर्जनता आदि के फैलने से, ऐसा कोई नहीं मिला कि जो अपनी कहै, जिज्ञासा दशा सुनावै, और मेरी ( गुरु ) की वाणी को सुनै, और सुनकर मनन ध्यानादि द्वारा सद्गुरु सत्यात्मा से मिलकर एक ही हो रहै, रागद्वेषादि को सर्वथा त्यागे, इससे यह ससारी हमारे देखतेर जा रहा है, परन्तु ऐसा विरल मिलता है ॥२६५॥

बैठा रहै सो बाणियाँ, खड़ा रहै सो ग्वाल ।
जागत रहै सो पाहरु, तिहि धरि खायो काल ॥२६६॥
विरहिनि साजी आरती, दरसन दीजै राम ।
मूये दरशन देहुगे, आवत कौनै काम ॥२६७॥

श्रवणाद्यैर्विना ये हि जपध्यानेष्ववस्थिताः ।
वणिक्तुल्या हि ते तुच्छलाभार्थं गोपवत्तु ये ॥१४॥
तपसे सुव्रता यद्वा जाग्रत्येव कुयोगिनः ।
यामिका इव तान् सर्वानत्ति कालो विमृश्य वै ॥१५-२६६॥
श्रवणादेरभावेन विरहादिविपीडिताः ।
पूजाविधिं प्रकल्प्याथ कुर्वन्ति स्तुतिमादरात् ॥१६॥
आर्तनादेन भो राम ! दर्शनं दीयतां प्रभो ! ।
मृतौ दास्यसि किं तेन कार्यं सेत्स्यति मे विभो ! ॥१७॥
अद्य म्रियामहे नाथ ! त्वां विना नात्र संशयः ।
नीराजनं प्रकुर्वाणा वदन्त्येवं स्तुवन्ति च ॥१८-२६७॥

श्रवण विचारादि विना जो लोग तुच्छ लाभ के लिये जपध्यानादि में बैठे रहते हैं, वे लोग बणिया की तरह व्यापारी हैं । सकाम तप में

खड़े रहनेवाले इन्द्रिय गो के पालक ग्वाल ( गोप ) हैं। सिद्धि आदि की इच्छा से जागनेवाले विषयरक्षक पाहरु ( कोतवाल ) हैं। आत्म-निष्ठा बिना इन सबको काल धरके खाता ही है ॥२६६॥

सद्गुरु से मिलने आदि बिना आत्माराम के विरहिनी (वियोगिनी) जीवनायिका ने तटस्थ राम के लिये आरती साजी है। और विनय करती है कि हे राम! अबही दर्शन दो, मरने पर यदि दर्शन दोगे, तो अबही कौन काम आता है, विरहव्यथा से मरती हू इत्यादि। या विरही मुमुक्षु चाहता है कि जो कुछ हो सो यहाँ ही हो, आगे का क्या पता है कि कहाँ जन्म होगा ॥२६७॥

पलमहँ परलय बीतिया, लोगन लागु दवारि ॥
आगिल शोच निवारिके, पाछे करहु गुहारि ॥२६८॥

स्तुवन्तोऽपि जना रामं साक्षात्कारं विना नहि।
कालात्कामादिशत्रुभ्यो मुच्यन्ते वै कदाचन ॥१९॥
क्षणाद्धि प्रलये जाते लोके दावाग्निरुज्ज्वलेत्।
तापादिलक्षणो यद्वा कामादिलक्षणो मुहुः ॥२०॥
अतो भो भावुकातीतं वर्तमानं ह्युदस्य च।
अनागतस्य तापस्य शान्त्यर्थं क्रियतां विधिः ॥२१॥
दृश्यवर्गं परित्यज्य ह्यदृश्ये ध्रियतां मतिः।
या निशा सर्वभूतानां तत्र जागर्यतां तथा ॥२२॥
सद्भक्तिरेका गुरुभिः प्रवर्तिता भक्त्या यया ज्ञानजनिर्भवेदिह।
दृश्ये रतास्तां लभते न वै यतो दृश्यं परित्यज्य रमस्व दृश्यतः ॥
२३-२६८॥

इति साक्षिसाक्षात्कारे भक्तिभेदादिवर्णनं नाम त्रिचत्वारिंशी वित्तिः ॥४३॥

ज्ञान बिना पलमात्र में प्रलय बीता ( हुआ ) और लोगों के हृदयवन मे विरह कामादिरूप दवागि ( दवाग्नि और शत्रु ) लग गये, यदि इनसे बचना चाहो तो आगिल ( भूत वर्तमान ) की चिन्ता को निवारि ( छोड ) कर, पाछे ( भावी ) का गोहार करो ( हेय दुःख-मनागतम् । योग सूत्र, २।१६। इस उपदेश के अनुसार भावी दुःख की निवृत्ति के लिये सद्गुरु से पूछो ) । या आगिल ( प्रत्यक्ष ) संसार के शोच को छोड़कर, ससारियों से अदृश्य के विचारादि करो ॥२६८॥

इति भक्ति भेदादि प्रकरण ॥४३॥

## साखी २६९, अद्वैतनिश्चयतदभावकालिकस्थिति प्र.४४.

एक समाना सकल में, सकल समाना ताहि ।
कबिर समाना बूझ में, तहाँ दूसरो नाहि ॥२६९॥

एक एष समश्चात्मा सर्वभूतेषु वर्तते ।
तत्र सर्वाणि भूतानि वर्तन्ते सच्चिदात्मनि ॥१॥
तं जानाति विवेकेन स्वात्मनिष्ठो मुनिर्हि यः ।
तस्य द्वंद्वानि नश्यन्ति सूर्येणेह तमो यथा ॥२॥
सर्वत्रैव प्रविष्टोऽयमात्माऽऽत्मन्यखिलं जगत् ।
प्रविष्टस्तस्य बोधे यस्तत्र द्वैतं न विद्यते ॥३॥
इहैव तैर्जितः सर्गः समात्मन्येव ये स्थिताः ।
समस्य नैव सर्गोऽस्ति तस्मात्तेषां न विद्यते ॥४॥२६९॥

एकही सच्चिदानन्दात्मा चराचर सब संसार में समरस से समाया है, और सब संसार उस एक आत्मा में समाया ( कल्पित–वर्तमान )

है। सद्गुरु का कहना है कि जो लोग उसके वृक्ष (ज्ञाननिष्ठा) में समाये (तत्पर) हैं, तहाँ (उनमें) दूसरो (कोई द्वन्द्व भेदादि) नहीं रहते हैं ॥२६९॥

इक साधे सब साधिया, एक विना सब जाय।
उलटि जु सींचै मूल को, फूलै फलै अघाय ॥२७०॥

एकस्मिन् साधिते स्वात्माऽनुभवे यत्नतः किल।
सर्वकार्याणि सिद्ध्यन्ति ज्ञानानि च स्वयं तथा ॥५॥
सिद्ध्यश्चोपतिष्ठंति देवा दीव्यंति तेन च।
उल्लसंति तथाऽऽनन्दाश्छिद्यन्ते भववागुराः ॥६॥
आप्तकामो गतध्वान्तो जनो भवति निर्वृतः।
किं साध्यं विद्यते तस्य ह्यर्थधर्मैस्तदा विभोः ॥७॥
असाधिते तु बोधेऽस्मिन् यत्किञ्चित्साध्यते जनैः।
नश्यत्येव हि तत्सर्वं व्यर्थीभवति चान्ततः ॥८॥
यथा मूलाऽवसेकेन पत्रपुष्पफलादयः।
पुष्यंति चाभिपूर्यंति न तु पत्रादिसेचनैः ॥९॥
तथैवात्मावलोकेन रक्षिते स्वात्मनि प्रभौ।
रक्ष्यन्ते देवताः सर्वाः सर्वे भूतगणास्तथा ॥१०-२७०॥

एक वृक्ष (आत्मानुभव) के साधे (सिद्धि) से सब पुरुषार्थ देवादि साधे (प्राप्त-सिद्ध-प्रसन्न किये) जाते हैं। और एक वृक्ष (ज्ञान) के विना सब जाय (व्यर्थ-नष्ट) हैं। जैसे शाखापत्रादि के सेंचन से उलट (लौट) कर, यदि मूल को ही सींचा जाय, तो फूल फल लगते हैं। और सब अघाते (पुष्ट-तृप्त होते) हैं, तैसेही अनन्त काम्यकर्मादि से लौटकर, आत्मभक्ति ज्ञान से सब प्रयोजन की सिद्धि होती है ॥२७०॥

जेहि वन सिंह न संचरै, पक्षी नहिं उड़ि जाय ।
सो वन कबिरन हींड़िया, शून्य समाधि लगाय ॥२७१॥

बोली एक अमोल है, जु कोइ बोले जान ।
हिये तराजू तौलके, तब मुख बाहर आन ॥२७२॥

सिंहसंचारसंशून्ये खगादिगतिवर्जिते ।
वने केचिद्विमृग्यंति भक्तिध्यानसमाधिभिः ॥११॥
अनात्मानं हि यं मत्वा त्वानन्दात्मानमव्ययम् ।
लभन्ते न विना ज्ञानमुपदेशं विना च तम् ॥१२-२७१॥
सम्यगऽनूनविवेकेन गदितुं ये हि जानते ।
हृत्तुलायां विमार्यैव हितं च मधुराक्षरम् ॥१३॥
तत्संसर्गोपदेशाभ्यां विचाराद्यैः शमादिभिः ।
लभ्यतेऽनुभवो येन सिद्धयंति सर्वसिद्धयः ॥१४॥
अमूल्यं तद्वचः केचिद् वदंति ज्ञानिनो हृदि ।
विमार्यैव वहिश्चास्यादानयंति नचान्यथा ॥१५-२७२॥

जिस भयानक सघन वन में सिंह भी सचार ( गमन ) नहीं कर सकता, न पक्षी उड़कर जा सकता, सो ( उस ) शून्य ( निर्जन ) वन में समाधि लगाकर कबिरन ( विरही जीव सब ) तटस्थ राम को हींडिया ( खोजा ) परन्तु सद्गुरु बिना सत्य राम का भेद नहीं पाया ॥२७१॥

जो कोई विवेक से जानकर बोलते हैं, उनकी ही एक बोली अमोल (अमूल्य—सर्वोत्तम ) है। वे लोग हृदयरूप तराजू पर तौलकर फिर मुख से बाहर बोली ( शब्द ) को निकालते हैं, व्यर्थ विवादादि नहीं करते, इनके ही उपदेश से सत्य राम का अनुभव होता है ॥२७२॥

करु बहियाँ बल आपनी, छाडु बिरानी आश ।
जिहि अँगना नदिया बहै, सो कस मरै पियास ॥२७३॥
ऊ तो वैसे ही हुआ, तू मति होवहु आन ।
तैं गुणवत वे निर्गुणी, मति एके के सान ॥२७४॥

अनात्माशां परित्यज्य कुरुष्व सत्स्वपौरुषम् ।
विचार्य स्वहृदिस्थं च लभस्वानन्दवारिधिम् ॥१६॥
हृदङ्गने महानन्दवाहिनी वै सरिद्वरा ।
विद्यते तदबोधेन तप्यसे तृष्णया भवान् ॥१७ २७३॥
शमादिरहितं कञ्चिद् दृष्ट्वा चाशासमन्वितम् ।
त्वं न तत्समतामिच्छ गुणिनस्तव तेन किम् ॥१८॥
शमादिगुणहीनानां सद्विवेकं विना सदा ।
आशा भवति शोभायै भवेन्नासौ तथा तव ॥१९ २७४॥

अपनी बुद्धिबाहु में विवेकादि बल का सम्पादन करो, बिरानी ( अन्य की ) आशा को छोड़ो। भला जिसके हृदयाङ्गन में ही आनन्दजल की धारा बह रही है, सो ( वह ) जीव पियासे ( आशा तृष्णादि से ) कैसे मर सकता है, अर्थात् विवेकादि होने पर किसी प्रकार भी आशा आदि से पीड़ित नहीं हो सकता, विवेकादि बिना ही पीड़ित होता है ॥२७३॥

. ऊ तो ( वह अविवेकी तो ) वैसे ही ( भेदादियुक्त गुरुविमुख ) हुआ। तुम आन ( गुरुविमुख-भिन्न ) मति ( नहीं ) होवो। तुम शमादिगुणवाला हो, वह निर्गुण है, तुम अपने को उनके साथ एक करके नहीं सानो ( समझो-मिलावो ) इत्यादि ॥२७४॥

साधु भया जो चाहहु, पक्का होके खेल ।
कच्चा सरसो पेरिके, खरी भया न तेल ॥२७५॥

इष्टं चेत्तव साधुत्वं तदा धैर्यं समाश्रय ।
विवेकेन फलं तुच्छमनित्यं त्यज्यतां त्वया ॥२०॥
अनासक्तमना· पक्कमल· सत्सङ्गतिं कुरु ।
मायामात्रं जगत्पश्य क्रीडामात्रं परेशितुः ॥२१॥
अपक्काना तिलादीना पीडनेन यथा नहि ।
तैलादि लभते कश्चिदशुद्धमनसा तथा ॥२२॥
ज्ञान न लभते नापि सौख्यं न परम पदम् ।
अतः शमादिभिर्नित्यं चित्तं स्वस्य विशोधय ॥२३॥
परिपक्कमलः सत्यसंगरो बोधनिर्मल· ।
निर्मूल्य निखिलानर्थमर्थं प्राप्य प्रमोदते ॥२४-२७५॥

यदि सच्चा साधु ( परोपकारी–गुणी–चतुर ज्ञानी ) होना चाहो तो पक्का ( धीर–विवेकी–निष्काम–सत्यवक्ता ) होकर खेलो ( सत्संग–विचारादि करो ) या ससार के व्यवहारों को अनासक्त होकर खेल समान करो । क्योंकि जैसे कच्चा सरसों के पेरने से खली तेल कुछ नहीं होता, तैसे कच्चे दिलवालों से भक्ति ज्ञान ध्यानादि कुछ नहीं होता है ॥२७५॥

ज्ञानी सोइ सराहिये, कच्चा फल नहिं खाय ।
किञ्चित्फल पक्का मिले, युग युग छुधा बुताय ॥२७६॥

यो नापक्कफलं ह्यत्ति कदर्थकामलक्षणम् ।
स धन्यो ज्ञानिना मुख्यो नित्यमस्य मिलेत्फलम् ॥२५॥

ये हि पक्वमलाः सन्तो ज्ञानिनो विगतैषणाः ।
ते किञ्चिदिह नेच्छन्ति भुञ्जते विषयान्न च ॥२६॥
धन्याः संस्तुतियोग्यास्तेऽवाच्यमेषां मिलेत्फलम् ।
यस्य सुस्वादमात्रेण वीततृष्णा भवंति ते ॥२७॥
ते कर्मयोगिनो धन्याः काम्यं कर्म त्यजंति ये ।
विकर्माकर्मणी त्यक्त्वा सुकर्मोऽनुसरंति च ॥२८॥
" नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् " ॥२९॥
असत्फलं ये परिहाय सर्वं ज्ञानेन सत्यं परिमार्गयंति ।
आशापिशाचीं च सुदूरतो ये त्यजंति धन्याः खलु ते भवंति ॥
३०-२७६॥

इति साक्षिसाक्षात्कारेऽद्वयात्मनिश्चयतदभावकालिकस्थितिवर्णनं नाम चतुश्चत्वारिंशी वित्तिः ॥४४॥

सोई ज्ञानी ( विवेकी-विद्वान् ) सराहने ( स्तुति ) योग्य हैं, जो कचा फल ( अर्थ धर्म काम ) को नहीं खाते ( चाहते ) हैं, न इनमें आसक्त होते हैं, उनको ही किञ्चित् ( कोई-अवाच्य-अद्भुत ) फल ( सत्य मोक्ष ) मिलता है, जिससे युग २ ( सदा ) के लिये क्षुधा ( भूख-आशा-तृष्णादि ) बुताय ( नष्ट हो ) जाती है ॥ निष्काम कर्म थोड़ा भी किया जाय, तो ज्ञानादिद्वारा उससे नित्य तृप्ति होती है, इससे निष्काम कर्मोपासनादि करनेवाले भी धन्य हैं ॥२७६॥

इति अद्वैतनिश्चयतदभावकालिक स्थिति प्रकरण ॥४४॥

## साखी २७७, मनुष्याकारपशुतत्संगनिषेध प्र. ४५.

सिंहों केरी खोलरी, मेढ़ा ओढ़े जाय ।
बानी ते पहिचानिये, शब्दै देत लखाय ॥२७७॥
जो मतवाले राम के, मगन रहे मन माहिं ।
ज्यों दर्पण के सुन्दरी, गहै न आवै बाहिं ॥२७८॥

उभाभ्यामुक्तयोगाभ्यां हीनाः सद्भक्तिवर्जिताः ।
मनुष्याकारदृग्ग्रास्ते मनुष्या न भवन्ति हि ॥१॥
किं पुनः साधवो मान्या ब्राह्मणा ऋषयोऽथवा ।
वेषैश्चापि न पूज्याः स्युर्न च मुक्ता भवंति च ॥२॥
शब्दैरेव च बुध्यन्ते ते सुयोगबहिष्कृताः ।
सिंहचर्मावृतो मेषो यथा शब्देन बुध्यते ॥३-२७७॥
अनात्मनि हि देवादौ राममत्या तु ये नराः ।
मोदं मनसि मन्यन्ते न रामं प्राप्नुवन्ति ते ॥४॥
प्रतिबिम्बितमादर्शे स्त्रिया रूपं यथा करे ।
ग्रहीतुर्न समायाति तथैवात्रापि निश्चिनु ॥५॥
स्वात्मरामेऽथवा मग्नाः सत्ये परमधामनि ।
ये ते न वशमायान्ति कस्यापीह कदाचन ॥६-२७८॥

जैसे सिंह की खाल को मेंढ़ा ( भेंडा ) ओढे ( पहने ) जाता हो, तो बोली से पहचाना जाता है, उसको शब्द ही लखाय ( ज्ञान कराय ) देता है । तैसे अज्ञ भी मनुष्याकार साधु सन्यासी आदि वेषधारी दीखता है, परन्तु शब्द से पहचाना जाता है ॥२७७॥

सत्य ज्ञान विना जो लोग तटस्थ राम के मतवाले ( प्रेमी ) हैं, सो अपने मन में मग्न ( आनन्द ) रहते हैं, परन्तु दर्पण की सुन्दरी

( स्त्रीप्रतिबिम्ब ) की तरह वह राम ग्राहु गहने ( पकड़ने ) से हाथ में नहीं आता ॥ अथवा अज्ञ वेषादि में आसक्त रहते हैं, परन्तु आत्माराम के मतवाले तो अपने मन में आत्मानन्द से ही मग्न रहते हैं, उनके देहादि दर्पण की सुन्दरी की तरह आभासमात्र रहते हैं। वे किसीके वश में नहीं होते ( अशरीर वाव सन्त न प्रियाऽप्रिये स्पृशत. ) ॥२७८॥

जिहि खोजत कल्पो गया, घटहिं हती सो मूरि ।
बाढे गर्व गुमान कें, अन्तर परिगौ दूरि ॥२७९॥

अनात्मत्वेन यं सम्यग् गवेषयन्नयं पुमान् ।
नाप्नोद्बहुषु कल्पेषु सैव संजीवनः पर. ॥७॥
अनादिभवरोगस्य विद्यते परमौषधम् ।
आत्मा ह्येव सर्वस्य लभ्यते नाविवेकिभिः ॥८॥
सर्वस्य मूलभूतं यत् सर्वाधिव्याधिनाशनम् ।
ज्ञातमात्रं तदेवात्मा परं ब्रह्म सनातनम् ॥९॥
मायया कारणं मूल जगतो ब्रह्म यद् भवेत् ।
आत्मत्वेन परिज्ञातमाधिव्याधिनिवर्तनम् ॥१०॥
मानदम्भादिवृद्धौ च दूराद्दूरतरो यथा ।
भवति स्वातिकस्थोऽपि दिग्भ्रमादिविमोहवत् ॥११-२७९॥

अनात्मा तटस्थ मानकर जिस राम को खोजतेर ( जगलादि में ध्यानादि से ढूढतेर ) अनन्त कल्प बीत गये, सब तापादि के नाशक, सो मूरि ( मूलौषधि ) घट ही में हती ( थी ) और है। परन्तु शरीरादि के गर्व ( अहकार ) गुण जाति आदि के गुमान ( अभिमान ) के बढ जाने से वह दूर के अन्तर ( पड़दा ) में पड़ गई ॥ अर्थात्

भ. गी. १३।७। में वर्णित अमानित्वादि विना राम बहुत दूर हैं। और अमानित्वादि साधनवालों के लिये अति निकट हैं इत्यादि ॥२७९॥

रामहिं सुमिरै रण मरै, फिरै और के गैल।
मानुष केरी खोलरी, ओढे फिरै बैल ॥२८०॥
लोगन केर अथाइया, मति कोइ बैठु जाय।
एकहिं खेत चरत हैं, बाघ गदहरा गाय ॥२८१॥

रामं स्मरन् रणे यश्च म्रियते विचरन् पथि।
पश्चादन्यस्य मानुष्यचर्मच्छन्नो वृषो हि सः ॥१२॥
गर्वादेरभिवृद्धौ च रामे दूरतरे स्थिते।
अनात्मत्वेन रामं हि स्मरन्तो नाममात्रतः ॥१३॥
क्रोधादेर्विवशीभूता युद्धाय समुपस्थिताः।
देवाद्यनुचरा लोका मनुष्याकारसंवृताः ॥१४॥
ते देवपशवो नूनं भ्रमन्त्येवात्र सर्वदा।
राजसादिप्रभेदेन गृहीत्वा त्रिविधास्तनूः ॥१५॥
चरन्तः प्रकृतौ क्षेत्रे ह्यदन्तः कर्मजान् गुणान्।
तेषां संसदि कश्चिन्नो गत्वा तिष्ठतु सज्जनः ॥१६॥
व्याघ्रगर्दभगोभिस्ते तुल्या एकत्र चारिणः।
वैरायन्ते च खिद्यन्ते खेदयंति स्वसङ्गिनः ॥१७-२८१॥

गर्वादि से सत्य राम के दूर अन्तराय में पड़ने से जो लोग रामही को स्मरते हैं सो भी रण में भीड़ते–मरते हैं_ ( ज्ञान विना रागद्वेषादि द्वन्द्व के वश होते हैं ) तथा और ( अनात्म कुदेवादि ) के गैल ( मार्ग–पीछे ) में फिरते हैं। ऐसे लोग देवादि के बैल ( पशु ) हैं, परन्तु मनुष्य के खाल ओढ़े फिरते हैं ॥२८०॥

कोई सज्जन ऐसे लोगों की अथाइया ( सभा ) में जाकर नहीं बैठो। किसी एक मायिक खेत ( क्षेत्र ) में बाघ गदहा गायतुल्य राजस तामस सात्विक, सबही विवेक विना चरते (विचरते उसे भोगते) हैं, क्षेत्रज्ञ को नहीं जानते, इससे परस्पर विरोध करके अवश्य लड़ते मरते हैं, इनके संग का त्याग ही में कुशल है ॥२८१॥

खेत भला औ बिज भला, बोइन मुठि के फेर ।
काहे बिरवा रूखरा, ई गुण खेतहिं केर ॥२८२॥

नरदेहात्मके क्षेत्रे बीजे च वासनामये ।
शुभेऽसौ देहिवृक्षोऽपि कुसङ्गाद् याति हीनताम् ॥१८॥
जनानां सङ्गमे चैते शब्दजालैर्बृहत्तमैः ।
वपन्ति वासनाबीजानशुभानेव दुःखदान् ॥१९॥
कुसङ्गे क्षेत्रसामर्थ्यं बीजसामर्थ्यमेव च ।
नश्यत्येवैति वा ह्रासं कुरुतां किं च ते उभे ॥२०॥
सद्भिरुप्तं च सद् बीजं तत्त्वाख्यानैकलक्षणम् ।
बहुयत्नं पुरस्कृत्य सत्क्षेत्रेऽपि सुसंस्कृते ॥२१॥
क्षेत्रासक्तिकुसङ्गाभ्यां नाशावुल्लासमेति च ।
ज्ञानरूपस्तरुस्तेन त्यक्तव्यौ तौ प्रयत्नतः ॥२२-२८२॥

मानवदेह शुद्धान्तःकरणादिरूप खेत भले हैं, वासना कर्मादि बीज भी भले ही हैं; तौभी गुरुआ लोगों ने मूठी के फेर ( मत भेद ) से भिन्न २ बीज बोया है। इस अवस्था में विवेकादिरूप वा देही रूप बिरवा ( पौधा-वृक्ष ) काहे रूखरा ( रूक्ष-खिन्न ) है। क्या यह खेत ही का गुण है। नहीं, किन्तु संगादि का गुण है, इसलिये कुसंगादि को त्यागो॥ या मातृकुलादिरूप खेतादि के अच्छे रहते,

शुभोपदेशरूप बीज के भले होते भी देहासक्ति से ज्ञानपौधा म्लान रहता है, इससे क्षेत्रासक्ति को त्यागो ॥२८२॥

गुरु सीढ़ी से ऊतरे, शब्द विमूखा होय ।
ताको काल घसीटि हैं, राखि सकै नहिं कोय ॥२८३॥

ये कुसङ्गेन चासक्त्या गुरोर्मार्गात्पतन्ति हि ।
विमुखा वा भवन्तीह सारशब्दात्प्रमादतः ॥२३॥
निपात्य नरके तांस्तु कालो वै बलवत्तमः ।
आकर्षति भृशं येन ते तपन्ति निरन्तरम् ॥२४॥
भ्रष्टानां तु गुरोर्मार्गात्कुमार्गेणैव गच्छताम् ।
रक्षको न भवेत्कश्चिदपि ब्रह्मा हरिर्हरः ॥२५॥
सोपानभूता गुरुभिश्च दर्शिता ये वै शमाद्याः खलु मोक्षलब्धये ।
अमानिताद्याश्च दयादमादयस्तेभ्यश्च्युताः कालवशाः भवंति हि ॥
२६–२८३॥

इति साखिसाक्षात्कारे मनुष्याकारपश्वादिवर्णनं नाम पञ्चचत्वारिंशी विचिः ॥४५॥

जो लोग कुसङ्ग प्रमादादि वश अमानित्वादि विवेकविचारादिरूप गुरुसीढी ( मार्ग–निसैनी ) से उतरते ( गिरते ) हैं, और सारशब्द के श्रवणादि से विमुख होते हैं, उन्हें काल अवश्य घसीटेगा, और कोई भी उनकी रक्षा नहीं कर सकेगा। इसलिये अतिशीघ्र कुसङ्गादि को त्यागकर श्रवणादि करना चाहिये ॥२८३॥

इति मनुष्याकारपशुतत्संगति निषेध प्रकरण ॥४५॥

## साखी २८४, सद्गुरु की भक्तिसत्यशम्बलादि प्र. ४६.

दादा भाइ बाप के लेखो, चरणन होइ हो बन्दा ।
अब की पुरिये जो नर समझै, सो नर सदा अनन्दा ॥२८४॥

गुरुरेव पिता भ्राता पूज्यश्चायं पितामहः ।
हितकारी सहायश्च तं विना नेह कश्चन ॥१॥
तत्पादपद्मयोः सेवां कुरुष्वैव त्वमादरात् ।
चरणालम्बनं कृत्वा दुस्तरस्तीर्यतां भवः ॥२॥
मानवेन हि देहेन योऽनेन भवसागरम् ।
प्राप्य वै तरति ज्ञानं सद्गुरोः करुणानिधेः ॥३॥
स तिष्ठति सदाऽऽनन्दमयो नित्यगतव्यथः ।
नावर्तेत च भूयोऽसौ कृतकृत्यो यतोऽभवत् ॥४-२८४॥

सद्गुरु और सारशब्द से विमुखता महाऽनर्थों का कारण है, इसलिये सद्गुरु को ही दादा ( पितामह ) बड़ा भाई ( भ्राता ) और बाप ( पिता ) के ( करके ) लेखो ( देखो—समझो ) अर्थात् पितामहादि तुल्य पूज्य सहायक हितचिन्तक जानो। और सद्गुरु के चरणों का बन्दा ( वन्दनशील दास ) होइ हो ( होना ), जो मनुष्य अबकी पुरिया ( इस देहरूप पुर ) में आत्माराम को गुरुकृपा से समझ लेता है, सोई सदा आनन्दरूप रहता है। ( सोइ हित बंधु मोहि मन भावै ) ॥२८४॥

जहँ गाहक तहँ हौं नहीं, हौं तहँ गाहक नाहिं ।
बिनु विवेक भरमत फिरे, पकरि शब्द की छाँहिं ॥२८५॥

केना यत्र न तत्राऽहं यत्राऽहं तत्र नास्त्यसौ ।
विवेकेन विना शब्दच्छायामाश्रित्य घूर्णते ॥५॥
कामिनो यत्र तिष्ठन्ति भोगैश्वर्यादिवर्त्मसु ।
गुरवो नात्र गच्छन्ति नैव शक्ता भवंति वा ॥६॥
गुरवो यत्र तिष्ठन्ति कामिनस्तत्र यान्ति नो ।
सद्विवेकमतोऽप्राप्याऽसारशब्दाद् भ्रमन्ति ते ॥७॥
जिज्ञासा विद्यते यत्र तत्र गर्वो न संभवेत् ।
अहंकारस्य सत्त्वे तु सज्जिज्ञासाकथा कुतः ॥८॥
सज्जिज्ञासायसंप्राप्तौ शब्दाभासं सुगृह्य वै ।
भ्रमंति मानिनो मूढा अहंकारेण पाप्मना ॥९॥
ग्राहकत्वं ध्रुवो यत्र तत्राहंभावना नहि ।
यत्राहंभावना तत्र ग्राहकत्वं सतः कुतः ॥१०-२८५॥

गाहक ( विषयग्राहक-कामी ) जीव जहाँ ( भोग कुसगादि में ) है, तहाँ हीं ( सद्गुरु ) नहीं मिलते। जहाँ सद्गुरु हैं, तहाँ कामी नहीं आते। इससे शब्द की छाँह ( शब्दाभास-असारशब्द ) अर्थवा दादि को पकड़कर कामी जीव ससार में भ्रमते फिरते है ॥ या जहाँ ( जिसमें ) गाहक ( ग्राहक-जिज्ञासु ) पन रहती है, वहाँ हीं (अहकार) नहीं रहता। और जहाँ अहकार है, वहाँ श्रेष्ठ जिज्ञासुपन नहीं हो सकती ( भ. गी. अ. २।४३ ) इत्यादि में यह बात स्पष्ट है ॥२८५॥

स्वप्ने सोवै मानवा, खोलि न देखै नैन ।
जीव परा बहु लूट में, ना कछु लेन न देन ॥२८६॥

स्वप्नोपमे प्रसुप्तोऽयं नेत्रे नोन्मील्य पश्यति ।
मानवस्तेन जीवोऽयं प्राप्तो बहुविलुण्टने ॥११॥

अहंकारयुताः सर्वे मोहनिद्राशयालयः ।
विवेकनेत्रमुन्मील्य पश्यंति न कदाचन ॥१२॥
अतस्तेषां हि सर्वस्वं कामाद्यास्तस्कराः सदा ।
हरंति पीडयन्तस्तान् सिद्धयंति न मनोरथाः ॥१३॥
स्वप्ने सुप्तश्च जीवोऽपि वह्वर्थलुण्टनेऽलगत् ।
तत्र किञ्चित्सत्यादानं दानं वा विद्यते तु सत् ॥१४॥
स्वप्नोपमस्यैव विनश्वरस्य ये कामुकास्ते न गुरुं लभन्ते ।
कामादिचौरैश्च विपीड्यमाना भवाटवीस्थाश्च मुधा भ्रमंति ॥
१५-२८६॥

सद्गुरु विना अहंकारी मनुष्य मोहनिद्रा से संसार में सोया है, मिथ्या प्रपञ्चात्मक स्वप्न देख रहा है। विवेक विज्ञाननेत्र को खोल ( प्रगट ) करके सत्य को नहीं देखता, इससे यह जीव मिथ्या बहुत पदार्थ के लूट ( संग्रहादि ) में पड़ा है, या कामादि बहुत लुटेरे के वश में पड़ा है और यहाँ सचा लेनदेन कुछ है ही नहीं। ( भ. गी. अ. १६।७ ) इत्यादि में इस विषय को स्पष्ट देखिये ॥२८६॥

नष्टा का यह राज्य है, नफरक वर्ते टेक ( तेज )।
सारशब्द टकसार है, हृदया माँह विवेक ॥२८७॥

प्रणष्टाया इदं राज्यं दासस्य वर्तते वलम् ।
सारशब्दोऽत्र सत्योऽस्ति विवेको हृदये तथा ॥१६॥
सततं परिणामिन्या मायायाः खल्विदं जगत् ।
अखिलं वर्तते राज्यं मनस्तस्या वशंवदम् ॥१७॥
तेजोऽस्य नियमो यावत्प्रभुत्वं वर्तते जने ।
तावत्संपीड्यते जन्तुस्तेन कामादिहेतुना ॥१८॥
सारशब्दविवेकाभ्यां स्वानुभावे प्रसाधिते ।
साहंकारं मनश्चैतत्र जाने क्व विलीयते ॥१९॥

उल्लासोऽस्ति विवेकस्य यत्रैव जनमानसे ।
सारशब्दोऽपि तत्रैव बोधस्य कारणं भवेत् ॥२०॥
अतो विचारतः शश्वद्विवेकं समुपार्जय ।
तर्जयस्व च कामादीनहंकारं विसर्जय ॥२१-२८७॥

यह स्वप्नतुल्य ससार नष्ट ( सदा परिणामशीला माया ) का राज्य है, और उसीका नफर ( दास-सेवक ) मन वा देवादि का टेक ( नियम–प्रभुत्व ) वा तेज इस ससार में वर्तमान है। केवल *सारशब्द* टकसार ( *सत्यज्ञान का हेतु* ) है। सोभी उसीके लिये कि जिसके हृदय में विवेक है। या सारशब्द और विवेक दोनों टकसार ( अनुभव के स्थान और साँचे ) हैं ॥२८७॥

छप्पर छाये कौन गुन, सबे बाँध चुचुआय ।
जिहि निति छप्पर छाइया, सो परदेशहिं जाय ॥२८८॥

विवेकेन विना त्वस्य देहस्य परिपालने ।
फलं न वर्तते किञ्चिद्विपच्छिरसि वर्तते ॥२२॥
सर्वथा पोषणेऽप्यस्य मलं स्रवति सर्वतः ।
द्वारैस्तु रोमकूपैश्च रुजा च बाधते भृशम् ॥२३॥
इमं रक्षति यो नित्यं त्यक्त्वेमं सोऽपि सेन्द्रियः ।
अवश्यं याति चाऽन्यत्र किमस्य रक्षणाद् भवेत् ॥२४॥
छदिषश्छादने को वै गुणोऽत्र विद्यते शुभः ।
सर्वत्र बन्धनस्थाने जलं स्रवति तस्य चेत् ॥२५॥
यश्च तच्छादने सक्तः प्रवासोऽप्यस्य चेद् भवेत्।
किमर्थं छादने सोऽपि वर्तेताज्ञानमन्तरा ॥२६-२८८॥

उक्त मन माया के वश मे रहकर इस देह रूप छप्पर के छाने (पोपणे) में कौन गुण (फल) है, इसको किसी प्रकार भी छाया जाय, तौ भी इसके सब वान (मधि-द्वार) चुचुआते (चूते) हैं। और जिस जीव ने सदा इसको छाया (पोपा) है, सो भी इसे त्याग कर इन्द्रियादि परिवार सहित परदेश (परलोक) ही जाता है, इससे स्वार्थ परमार्थ रहित गृह को केवल छाने में कोई गुण नहीं है। विवेकादि करना ही श्रेष्ठ है ॥२८८॥

इहहँ सम्बल करि लेहु, आगे विषमी बाट।
स्वर्ग बिसाहन सब चले, जहँ बणियाँ न हाट ॥२८९॥

पाथेयं क्रियतामत्र विषथोऽग्रे हि वर्तते।
स्वर्गं क्रेतुं जना यान्ति यत्र हट्टो वणिग् नच ॥२७॥
अहंकारं परित्यज्य परलोकस्य शम्बलम्।
अत्रैव कुरु धीर त्वं नान्यत्र लभते हि तत् ॥२८॥
पश्वादौ तमउद्रेको देवादौ च प्रमादिता।
गुर्वादि दुर्लभस्तेन बोधमत्र समाप्नुहि ॥२९॥
अहो अत्र महाहट्टं सत्सङ्गं सद्गुरुं तथा।
हित्वाऽन्यत्र जना यान्ति स्वर्गं क्रेतुमबोधतः ॥३०॥
यत्र न लभ्यते ज्ञानं नच सौख्यं सनातनम्।
प्राप्यते न गुरुर्यत्र तत्र याति विमूढधीः ॥३१-२८९॥

इहहैं ( इस मानव देह और लोक में ही ) मोक्षमार्ग सुखशान्ति का हेतु शम्बल ( बाटखर्च-साधन ) कर लो। आगे की बाट ( राह ) विषम ( कठिन ) है। पशु आदि योनियों में जडता भरी है, देवादि में प्रमादादि पूर्ण हैं, इस बात को जानने बिना सब लोग वहाँ स्वर्ग

( सुख–मोक्ष ) बिसाहने ( खरीदने ) चले हैं, कि जहाँ सद्गुरुरूप बणियाँ, सत्संगादिरूप हाट का पता नहीं है ॥२८९॥

जिन जिन सम्बल नहिं किया, अस पुर पट्टन पाय ।
झालि परे दिन अस्त भै, सम्बल किया न जाय ॥२९०॥
सम्बल सम्बल सब कहै, सम्बल परो न हाथ ।
सम्बल घटये, पशु थके, जीव बिराने हाथ ॥२९१॥

लब्ध्वेदं पत्तनं ग्राममीदृशं ये न शम्बलम् ।
कृतवन्तो दिनस्यान्ते न कर्तुं शक्नुवन्ति ते ॥३२॥
स्वस्थेऽत्र मानवे देहे शम्बलं क्रियते न चेत् ।
वृद्धत्वे मृतिकाले वा तत्कर्तुं शक्यते कथम् ॥३३॥
मोहान्धेन समाच्छन्नाः प्राणभानौ लयं गते ।
शक्नुवन्ति न केऽप्यत्र त्रातुमात्मनमञ्जसा ॥३४-२९०॥
यद्येते काम्यकर्मादिलक्षणं शम्बलं जनाः ।
प्रभापन्ते च कुर्वन्ति जानंति नाक्षयं तदा ॥३५॥
अज्ञानाच्च तल्लब्धं क्षीणे च नश्वरे क्षणात् ।
सामर्थ्यविगमे जीवा भवंति विवशा मुहुः ॥३६-२९१॥

अस ( ऐसा ) देहरूप पुर ( ग्राम ) लोकरूप पट्टन (पत्तन–शहर) पाकर भी स्वस्थ युवा अवस्था में जिन२ लोगों ने शम्बल सुकर्म भक्ति विवेकादि नहीं किया, उन लोगों से, झालि ( झोली ) परने पर ( वृद्ध होने पर ) तथा प्राण दिनकर के अस्त होने पर, फिर शम्बल नहीं किया जा सकता ॥२९०॥

सम्बल२ सब कहते हैं, और कुछ काम्यकर्मादि करते भी हैं, परन्तु सद्गुरु आदि बिना सचा अक्षय शम्बल किसीके हाथ में नहीं

प्राप्त हुआ। इससे उस तुच्छ सम्बल के घटने (क्षीण होने) पर, और कर्मादि के शक्ति साधनरूप पशु के थकने पर, ये कामी जीव विराने (कालकर्मादि) के हाथ (वश) में होते हैं ॥२९१॥

तीनि लोक भौ पींजडा, पाप पुण्य भौ जाल।
सकल जीव सावज भये, एक अहेरी काल ॥२९२
ई जग तो जहड़े गया, भया जोग नहिं भोग।
तील झारि कबीर लिया, तिलठी झारै लोग ॥२९३॥

सत्यशम्बलहीनानां पततां प्राणिनां कृते।
त्रिलोकी पिञ्जरं जातं जाले तु पुण्यपापके ॥३७॥
लक्ष्याः सर्वेऽभवन् जीवाः काल एकस्तु लुब्धकः।
क्षुभितास्तेन धावंति लोकेषु ते निरन्तरम् ॥३८-२९२॥
कालस्य तु शरव्यत्वादिमे संसारिणो जनाः।
नरकादौ गता नैषां भवतो योगभोगकौ ॥३९॥
व्याकुला मोहजालेन बद्धाः सर्वेऽपि जन्तवः।
अतो न साधितो योगो न भोगस्तैः कथञ्चन ॥४०॥
धीरो विवेकतः सारमुद्धृत्योन्मोदते भृशम्।
मृग्यन्ते जडाः सारमसारे भोगगर्द्धया ॥४१॥
यथा कश्चित्तिलानेव गृह्णीयात्कुशलो नरः।
मूढस्तु तिलकाष्ठानि धुनुयात्तिलवांछया ॥४२-२९३॥

सत्य शम्बलरहित के लिये तीन लोक पींजड़ा है, वह तुरीयावस्था में नहीं जा सकता, पापपुण्य (अधर्म-और धर्म) जालतुल्य हैं। अज्ञ जीव सब सावज (लक्ष्य-शिकार) हैं, एक काल अहेरी (शिकारी-व्याध) है ॥२९२॥

ई जग ( यह ससारी कामी जीव ) तो जहड़े ( जड़लग–नरक–धोखे–विपत्ति) में गया ( पड़ा ) इससे योग ( निष्काम कर्म ज्ञान भक्ति ) कुछ नहीं हुआ, न भोग ( सुख स्वर्ग ) हुआ। ज्ञानियों ने तिल ( सार ) ही झारि ( विवेक ) करके लिया। लोग तिलठी ( तिलकाष्ठ-तुच्छ विषय ) झारते ( भोगते ) हैं ॥२९३॥

शब्द सँभारे बोलिये, शब्द को हाथ न पॉव ।
एक शब्द कर औषधी, एक शब्द करु घाव ॥२९४॥

सावधानेन वक्तव्यः पाणिपादं न यस्य वै ।
स एकः शमयेद्रोगमेकश्च कुरुते छिदाम् ॥४३॥
असारे हि समासक्तास्तृतेः शान्तेरभावतः ।
वाग्बाणान् विसृजन्तीत्थं भिद्यन्ते हृदयानि यैः ॥४४॥
विदीर्यन्ते च मर्माणि दह्यन्ते ह्यसवस्तथा ।
धीरास्तु सारशब्देन भिषज्यन्ति हि तानपि ॥४५॥
अतो नित्यं विचारेण शब्दैर्व्यवहरेन्नरः ।
हस्तपादादिहीनास्ते कुर्वंति साध्वसाध्वपि ॥४६॥
असारजालेष्विह सारबुद्ध्या परिभ्रमन्छम्यलसंगहीनः ।
लभेत न क्वापि नरो हि शर्म तस्माद्विचारादिरतः सदा स्यात् ॥
४७–२९४॥

इति साक्षिसाक्षात्कारे गुरुभक्तिशम्बलादिवर्णन नाम षट्चत्वारिंशी वित्तिः ॥४६॥

सँभारे ( सभाल–विचारकर ) शब्द बोलना चाहिये। क्योंकि शब्द को हाथपॉव नहीं है, तौभी विचारादि सहित एक शब्द औषधि का काम करता है, और विचारादि रहित एक शब्द घाव करता है ॥२९४॥

इति सद्गुरु की भक्ति सत्य शम्बलादि प्रकरण ॥४६॥

## साखी २९५, यन्त्रयन्त्रिविवेक प्र. ४७.

यन्त्र बजावत हौं सुना, टूटि गये सब तार ।
यन्त्र बेचारा क्या करै, चले बजावनिहार ॥२९५॥

रणयन् हि यथा यन्त्रं यन्त्री कश्चिन्मया श्रुतः ।
छिन्ने तन्त्रिणि संयाते यन्त्रिणि क्वचिदेव तु ॥१॥
किं करिष्यति तद्यन्त्रं तथैवात्र विनिश्चिनु ।
वागस्वादौ परिच्छिन्ने मनसि क्वापि गच्छति ॥२॥
यन्त्ररूपशरीरस्थो यन्त्री यन्त्रै रणन् मुहुः ।
श्रूयते तस्य बोधाय सारशब्दं विचारय ॥३॥
प्राणादीनां वियोगे हि यन्त्रैः किञ्चिन्न साध्यते ।
अतः प्राणादिसत्त्वेऽत्र स्वस्थः सर्वं समाचर ॥४॥
वाक्कण्टकैर्न कश्चित्त्वं तुद मर्माणि भिंधि नो ।
रूक्षवाचां समालोक्य ह्यनाप्याशु विपर्ययम् ॥५-२९५॥

जीवात्मारूप यन्त्री ( सितारी ) देहरूप यन्त्र को, बजाता है, सो गुरु शास्त्रादि से सुना जाना जाता है। तथा बजाता हुआ प्रत्यक्ष ही सुन पड़ता है। जब स्वास नाड़ी आदिरूप सब तार टूट गये, और बजानेवाला भी चल पड़ा, तब यह बेचारा ( असमर्थ ) यन्त्र क्या कर सकता है। ऐसा जानकर अबही सँभारकर मधुर हित बोलो, यन्त्री को समझो इत्यादि ॥२९५॥

जौं लगि ढोला तौं लगी, चोला धन व्यवहार ।
ढोला फूटा धन गया, कोइ न झाकै द्वार ॥२९६॥
जैसी लागी ओर की, तैसि निवाहै छोर ।
कौड़ी कौड़ी जोरि के, जूटे लक्ष करोर ॥२९७॥

यावद्देहाख्यवाद्यं ये स्त्रीपुत्रधनधामदम् ।
कुर्वते व्यवहारं नो मृतौ तेषां हि कश्चन ॥६॥
जाता तच्च धनं नष्टं नास्य द्वारं निरुध्यते ।
केनापि न तदा कश्चिन्मोक्षद्वारं च पश्यति ॥७॥
धने नष्टे न कश्चिच्च द्वारमस्य प्रपश्यति ।२९६॥
लोकास्तथापि संगृह्य प्राप्य प्राप्य वराटकान् ॥८॥
लक्षं कुर्वन्ति कोटिं वा विवेकं साधयन्ति नो ।
यस्मिन् सुसाधिते भूयो भयं कालान्न विद्यते ॥९॥
" न तादृशं जगत्यस्मिन् दुःखं नरककोटिषु ।
यादृशं यावदायुष्कमर्थोपार्जनशासनम् " ॥१०-२९७॥

उक्त विवेक विना जबतक देहरूप ढोल ( बाजा ) रहता है, तबतक लोग धनादि के ही व्यवहार बोलते हैं । परन्तु इसके फूटने पर धनादि गये, कोई भी उनके जाने का द्वार को झाँक ( रोक ) नहीं सका । या इसे नष्ट होने पर कोई मोक्षद्वार को झाक ( देख ) नहीं सका । न फिर इसके द्वार पर कोई झाँकने (देखने) आता है ॥२९६।

कुछ भी साथ नहीं लगने पर भी लोग जैसी वृत्ति से ओर ( आदि–बचपन ) में धनादि के व्यवहार में लगते हैं, तैसी ही वृत्ति को छोर ( अन्त ) तक निबाहते हैं, और कौडी२ जोरकर लक्ष करोड़ जुटाते हैं । उचित था कि इसी प्रकार पारलौकिक सत्य शम्बल के लिये प्रवृत्त होते ॥२९७॥

पारस परसि तामाँ भौ कचन, बहुरि न तामाँ होय ।
परिमल बास परासहिं बेधे, काष्ठ कहै नहिं कोय ॥२९८॥

यथा पार्श्वमणेः सङ्गाल्लोहं हाटकतां व्रजेत् ।
पुनर्नायाति लौहत्वं मलतापैर्न नश्यति ॥११॥
एवं मलयसंसर्गात् पालाशश्चन्दनायते ।
काष्ठं च नोच्यते कैश्चिच्छैत्यं भजति सर्वदा ॥१२॥
तथा सत्तत्त्वसंसर्गात्संसारित्वं निवर्तते ।
पुनर्नैव भवेत्क्वापि मलतापादिसङ्गतिः ॥१३॥
गुरूणां सङ्गमाच्चैवं गुरुत्वं चैव मुक्तता ।
आनन्दरूपता नित्यं शान्तता च सदा भवेत् ॥१४॥
तादृशा गुरवश्चात्र विद्यन्ते विरला भुवि ।
येषां सङ्गाद्विवेकित्वं गुरुत्वं चैव जायते ॥१५-२९८॥

पारलौकिक सत्य शम्बल के लिये यथोचित प्रवृत्त होने पर, सद्गुरु सत्यात्मा का सम्बन्ध परिचित होने से, वह जीवन्मुक्त जीव, फिर ससार के व्यवहारी ससारी इस प्रकार नहीं होता है, कि जैसे पारसमणि के सम्बन्ध से तामा सुवर्ण होता है, सो फिर तामा नहीं होता, और परिमल ( मलयचन्दन ) का गन्ध के पालास में वेधने पर उसे कोई काष्ठ नहीं कहता है ॥२९८॥

सारा पट्टन जरि गया, अपनी अपनी आगि ।
ऐसा कोइ न देखिये, जासो रहिये लागि ॥२९९॥
ताहि न कहिये पारखी, पाहन लखै जु कोय ।
ई दिल नग जु कोइ लखै, रतन पारखी सोय ॥३००॥

सकलं पत्तनं दग्धं स्वस्वज्वलनकीलया ।
ईदृशो दृश्यते नाऽत्र येन लग्नः सुखी भवेत् ॥१६॥
सर्वे संसारिणस्तीव्रकामक्रोधादिपावकैः ।
स्वकीयैरेव दह्यन्ते दग्धाः संति च सर्वशः ॥१७॥

दुर्लभास्तु जनास्तेऽत्र येषां वाक्याच्च संगमात् ।
शांतिः सौख्यं भवेल्लोके कामबाधा भवेन्नहि ॥१८॥
ये तु कामैः पराभूता लोभग्रस्ताः क्षुधा हताः ।
दह्यन्ते सङ्गतस्तेषां स्याद्विवेककथा कुतः ॥१९-२९९॥
हीरकादिविवेकेऽपि विवेकित्वं भवेन्नहि ।
चित्तस्थाचलतत्त्वस्य विवेकेन भवेत्तु तत् ॥२०॥
शिलापरीक्षको यस्मात् परीक्षको न भण्यते ।
यो जानाति स्वचित्तस्थं रत्नं स च परीक्षकः ॥२१-३००॥

उक्त सद्गुरु सत्यात्मा की प्राप्ति विना सारा पट्टन (नगर) अपनी२ कामादि अग्नियों से जल गया, इसमें ऐसा ( सद्गुरु सत्यात्मा तुल्य ) कोई पुरुष पदार्थ नहीं दीख पड़ता है, कि जिससे लाग ( प्रेम ) करके रहा जाय, और शान्ति मिले ॥२९९॥

जो कोई पाहन ( हीरादि प्रकृति आदि जड़ ) को लखै ( परखै ) उसे सचा पारखी ( विवेकी-परीक्षक-ज्ञानी ) नहीं कहना चाहिये, किन्तु इस दिल ( अन्तःकरण ) रूप अंगुठी के नग ( हीरा ) को, या शिष्य के मनरूप हीरा को परखनेवाला ही रत्न के पारखी है ॥३००॥

तीनि लोक में लागि आगि । कहहिं कबिर कहँ जैहहु भागि ॥३०१॥
नग पषाण जग सकल है, लखवैया सब कोय ।
या नग उत्तम पारखी, जग में विरला होय ॥३०२॥

त्रिषु लोकेषु लग्नोऽग्निर्धावित्वा कुत्र यास्यसि ।
स्वविवेकं विना ह्यत्र बहुज्ञानेषु सत्स्वपि ॥
कामाद्यो ज्वलन्त्येव त्रिषु लोकेषु सर्वदा ॥२२॥

अतो गत्वा न कुत्रापि कामादेर्मुक्तिमेष्यसि ।
ऋते ज्ञानाद्यतस्त्वातो ज्ञानस्यैवाऽत्र लब्धये ॥२३-३०१॥
विद्येते नगपाषाणौ विश्वे विश्वं तदात्मकम् ।
परीक्षकोऽनयोः सर्वे स्वात्मनो विरलोत्तमः ॥२४॥
कूटस्थात्माऽत्र संसारे विद्यते हृदयेऽपि तम् ।
अहंत्वादिस्वरूपेण ज्ञातारो मानवाः समे ॥२५॥
साक्षात्साक्षिस्वरूपेण ज्ञातारो मानवाः सदा ।
भवंति विरला एवाऽनुत्तमा विमलाशयाः ॥२६॥
ज्ञातारो जडमण्यादेः सन्त्येवात्र जडाशयाः ।
वोद्धारः सद्गुरोर्वित्तेर्विरलाः सज्जनाः सदा ॥२७॥
विना विवेकं न विरागसंभवो विना न ताभ्याञ्च शमादिसंकथा ।
अमानिताद्या न भवंति तैर्विना कुतो जनः शांतिमुपैतु चाऽव्ययाम् ॥ २८-३०२॥

इति साक्षिसाक्षात्कारे यन्त्रयन्त्रिविवेकवर्णनं नाम सप्तचत्वारिंशी वित्तिः ॥४७॥

उक्त रत्न के पारखादि विना तीनों लोक में कामादि अग्नि लगी है, भागकर कहाँ जावोगे, यहाँही उसकी शान्ति के लिये विवेकादि करो ॥३०१॥

नग ( निष्क्रिय-निर्विकार ) पाषाण ( ज्ञानमात्र से दुःखादि को चूर्णकर्ता ) आत्मा सर्वत्र व्यापक है। और अहमादिरूप से उसके ज्ञाता भी सब हैं। परन्तु उसके उत्तम पारखी जग में विरला ही होते हैं। या यह सब संसार नग पाषाण ( जड ) स्वरूप है। या सब जगह नगपाषाणादि हैं, और इन्हें लखनेवाले भी बहुत हैं इत्यादि ॥३०२॥

इति यंत्रयंत्रिविवेक प्रकरण ॥४७॥

## साखी ३०३, विवेकी की दुर्लभता प्र. ४८.

एक न भूला दोय न भूला, भूला सब संसार ।
जानि बूझि के जो नर भूला, ताकोवार न पार ॥३०३॥
जरा युवा कुमार बालापन, चारि अवस्था आय ।
जस मुसवा को तकै बिलइया, अस यम घात लगाय ॥३०४॥

एकः कश्चिन्न विभ्रान्तो द्वयो र्वास्ति भ्रमो नहि ।
सर्वे संसारिणो भ्रान्त्या कदध्वन्येव संगताः ॥१॥
येन जानंति किञ्चित्ते भ्रमन्तु सन्तु वै तथा ।
ज्ञात्वा नैवाऽऽचरन्तो ये वाच्यास्तेऽत्र प्रमादिनः ॥२॥
प्रमादकारिभिश्चायं संसारस्तीर्यते नहि ।
अपि जन्मसहस्रान्ते काललक्ष्या भवंति ते ॥३-३०३॥
बाल्याद्यासु ह्यवस्थासु चतसृष्वपि ये नराः ।
आत्मानं नैव बुध्यन्ते दशां तेषामिमां शृणु ॥४॥
सर्वावस्थासु कालो हि तन्नाशायावधानवान् ।
मूषिकस्यात्र नाशाय विडाल इव वर्तते ॥५-३०४॥

एक वा दो उत्तम पारखी ही भूल रहित हैं, अन्य सब संसारी भूले हैं। या एक वा दो ही नहीं भूले हैं, किन्तु उत्तम पारख विना सब संसारी भूल से भटक रहे हैं। तिनमें भी जो कुछ बूझ समझकर भूले ( कामादिवश हुए ) हैं उन्हें तो कभी संसार के वारपार सूझता ही नहीं है ( जानि बूझि अजगुत करे, ताहि कहाँ कुशलात ) ॥३०३॥

जरा, युवा, कुमार, बाल्य, ये चार अवस्था देही की होती हैं, तहाँ जैसे मूसा को बिल्ली देखती है, तैसे सब देही के लिये यम भी घात ( घाई ) लगाया रहता है, सो अभिमानी नहीं समझते ॥३०४॥

श्रोता तो घर मे नहीं, वक्ता बकै सो बादि ।
श्रोता वक्ता एक ह्वे, कथा सुनावहु आदि ॥३०५॥
औरन को उपदेश ते, मुँहडे परिहैं रेत ।
राशि बिराने राखते, खाइन घर का खेत ॥३०६॥

ये हि कामैः पराभूता लोभग्रस्ताः कुबुद्धयः ।
सावधानेन वर्तन्ते तस्माच्च हृदये स्वके ॥६॥
उपदेशो न युक्तोऽत्र श्रद्धादिमति युज्यते ।
अन्यथा कथितं वाक्यं निष्फलं जायते ध्रुवम् ॥७॥
" वक्ता श्रोता च वाक्यं च यदा त्वविकलं भवेत् ।
सममेति विवक्षायां तदोक्तार्थः प्रकाशते " ॥८॥
अतो यदैव हि श्रोता वक्त्रैकत्वं समाव्रजेत् ।
कथा तदैव वक्तव्या सर्वादेरखिलात्मनः ॥९-३०५॥
अन्येभ्य उपदेशेन ह्यात्मरत्ने रजः स्फुरेत् ।
वाक्पीडादि भवेद् व्यर्थं विक्षेपादि विचारणे ॥१०॥
रक्षन् राशिं यथाऽन्यस्य स्वक्षेत्रमपि नाशयेत् ।
मूढः कश्चित्तथैवायमन्येषामुपदेशकः ॥११॥
न जानंति न चेहन्ते रहस्यं वेदितुं हि ये ।
वक्तारः किं करिष्यंति त्वहो तेषां कदर्थना ॥१२-३०६॥

कामादि के वशी जो श्रोता अपने घर ( हृदय-देह ) में स्थिर नहीं है, उसके प्रति जो कोई वक्ता बकता ( कहता ) है, सो कहना

वादि ( व्यर्थ ) होता है । इससे जब श्रोता वक्ता के साथ एक चित्त हो, तबही आदि की कथा सुनावो ॥३०५॥

अन्यथा औरन को ( असारभान को ) उपदेश देने से मुँहडे ( मुख में, वा आत्मविवेकादिरूप मोहर–सुवर्ण ) मे रेत ( धूली ) पड़ेगी ( व्यर्थ हैरानी होगी, क्रोधादि होंगे ) इससे ऐसे उपदेशकों ने मानो अन्य की राशि को रखते में अपने घर का खेत भी खा गये ( नष्ट किये ) और उसकी रक्षा भी नहीं कर सके ॥३०६॥

कबिरा कुत्ता राम का, मुतिया वाका नाँय ।
गले प्रेम की जेवरी, जित खींचे तित जाय ॥३०७॥

ईशदेवादिभक्ता ये भोगमार्गैकलालसाः ।
श्वभिस्तुल्या गले बद्धाः स्नेहरज्ज्वा च सर्वदा ॥१३॥

मानवा नाममात्रेण मुक्ता वा नहि तत्त्वतः ।
भवंति परवशास्ते गच्छंति प्रेरिताश्च तैः ॥
देवाद्या यत्र कर्षन्ति तत्र लोभेन यांति च ॥१४॥

ये तु सत्यात्मदेवस्य गुरोर्दासा विवेकिनः ।
अभिमानादिहीनाश्च प्रेमभक्तियुतास्तथा ॥१५॥

सद्गुरुप्रेरितास्ते हि कृत्वा पुष्कलसाधनम् ।
रागद्वेषादिहीनत्वाच्छुद्धा मुक्ता भवंति हि ॥१६॥

प्रेमरज्ज्वा सुवद्धत्वात्कुमार्गे नहि यांति ते ।
अभिमानादिहीनत्वाद् बाध्यन्ते मायया न च ॥१७॥

श्वतुल्यहरिभक्तत्वाद्गुरुभक्तत्वतस्तथा ।
सर्वेषां हि कृपापात्रभूता विघ्नस्ततो नहि ॥१८-३०७॥

कबिरा ( अज्ञ लोलुप जीव ) राम ( तटस्थेश देवादि ) का कुत्ता हुआ है। तुच्छ भोगों के लिये सिर पटकता फिरता है। केवल इसका नाम मोतिया ( श्रेष्ठ ) है। कामी लोभी वस्तुतः श्रेष्ठ नहीं है, इस के मनरूप गले में देव विषयादि का प्रेमरूप रस्सी लगी है, इससे देवादि इसे जित ( जहाँ ) खींचते हैं, वहाँ जाता है॥

सद्गुरु सर्वात्मा राम के भक्त जीव उनके प्रति कुत्ते की तरह निरभिमानी रहता है। उसके मन में सत्य प्रेम की रस्सी रहती है, सद्गुरु जैसे चलाते हैं, वैसे ही चलता है, इससे उसका मोतिया (मुक्त) नाम हो जाता है॥२०७॥

चाखा चाहै प्रेम रस, राखा चाहै मान।
दो खाँड़ एक म्यान में, अबतक सुना न कान॥२०८॥

परप्रेमरसं यो हि पिपासुरथवा भवेत्।
परप्रेमपदानन्दं जिज्ञासितुमिहेच्छति॥१९॥
जहाति चेदहंकारं तदा तल्लभते ध्रुवम्।
अहो रक्षत्यहंकारं कुतस्तल्लभतामयम्॥२०॥
अद्यावधि न चैकस्मिन् कोशे खड्गद्वयं श्रुतम्।
तथैकस्मिन्न तिष्ठेद्धि मनस्येतद् द्वयं खलु॥२१॥
यावन्न मानं त्यजति ह्यनर्थदं लोभं विमोहं त्वनृतं तथा क्रुधाम्।
ईर्ष्याहतो मन्युपरीतमानसस्तावत्परप्रेमपदं लभेत नो॥२२-२०८॥

सच्ची भक्ति तथा परप्रेमास्पद आत्मानन्द रूप प्रेमरस को चाखना ( प्राप्त ज्ञात करना ) चाहे, और मान ( गर्व ) भी रखना चाहे, तो ये दोनों बातें एक समय हो नहीं सकती, क्योंकि एक

म्यान (कोश) में जैसे दो खाँड़े (खड्ग) अबतक कान से नहीं सुना गया है, तैसे ही प्रेमरस और अभिमान एक हृदय में नहीं सुना गया है ॥३०८॥

अहिरहुं तजि खसमहुं तजी, बिना दांत का ढोर ।
मुक्ति बिना बिललात है, वृन्दावन की खोर ॥३०९॥
धरती फाटे मेघ जल, कपड़ा फाटे डोर ।
तन फाटे की औषधी, मन फाटे नहिं ठौर ॥३१०॥

गुरुभिश्चात्मदेवैश्च संत्यक्तो ह्यभिमानवान् ।
विना ज्ञानं भ्रमन्मोहात्तीर्थादौ न सुखं वसेत् ॥२३॥
यथा दन्तैर्विहीनो वै पशुस्त्यक्तः स्वरक्षकैः ।
भ्रमन्न लभते शर्म तथा मुक्तिं विना नरः ॥२४॥
जीवन्मुक्तिमनादृत्य चरन् वृन्दावनेष्वपि ।
अनुभूतिं ,विना मूढः खिद्यते सर्वयोनिषु ॥२५-३०९॥
जलैः सन्धीयते भिन्ना भूमिस्तु दोरकैः पटः ।
औषधैश्च शरीरं हि मनो भेदे न सङ्गतिः ॥२६-३१०॥

जैसे दांत रहित वृद्ध ढोर ( बैल ) को निकम्मा जानकर, चराने-वाला अहीर और उसका खसम ( स्वामी ) दोनों त्याग देते हैं । तो वह शरीर से मुक्ति बिना वृन्दा ( तुलसी ) के वन में भी भक्ष्य घास बिना बेहाल हुआ फिरता है । तैसेही सत्य प्रेमरहित अभिमानी को सद्गुरु ईश्वर भी त्याग देते हैं, जिससे वह पवित्र तीर्थादि के खोरियों ( गलियों ) में भी व्याकुल ही फिरता है ॥३०९॥

फटी हुई भूमि मेघ का जल से, फटा हुआ कपड़ा (डोरा-धागा) से, फटा देह औषधि से जुटता ( मिलता ) है, परन्तु सद्गुरु सत्यात्मा से मन के फटने पर कहीं भी ठौर ( ठिकाना ) नहीं मिलता ॥३१०॥

दिल का महरमि कोइ न मिलिया, जो मिलिया सो गरजी ।
कहहिं कविर असमानहिं फाटा, केतिक सीवै दरजी ॥३११॥

सर्वे स्वार्थपरा लोका मनः संदधते नहि ।
गुरौ वा स्वात्मदेवे वा जायन्ते विह्वलास्ततः ॥२७॥
हृदयस्य रहस्यज्ञाः संमिलति न केचन ।
स्वार्थिनश्चेन्मिलन्त्यज्ञास्तेषां सङ्गाद् भवेत् किमु ॥२८॥
सन्त्येव गुरव' केऽपि स्वार्थशून्या मनीषिणः ।
परार्थघटका नित्यं मेलयन्तु च ते कियत् ॥२९॥
आकाशेऽत्र विभिन्ने हि कः संधातु तमर्हति ।
तुन्नवायोऽथवाऽन्योऽपि तथाऽसाध्या जगन्मतिः॥३०-३११॥

इस फाटा हुआ दिल ( मन ) का महरमि ( मर्मज्ञ—सधाता ) कोई नहीं मिला। किन्तु जो कोई मिला सो लौकिक स्वार्थ के ही गरजी ( प्रेमी—इच्छुक ) मिला। जो कोई विरले स्वार्थ रहित महात्मा मिलते हैं, सो भी सबके चित्त का सधान कहाँ तक करें, यदि असमान ही फाटा है तो दरजी कहाँतक सी सकता है ॥३११॥

एक विराजु महल में बैठा, दोसर कहहु कौन वे पैठा ।
जाके घर में लागी भूता, सो कस बकै हरामी पूता ॥३१२॥

किञ्च यद्धृदये नित्यमनात्मप्रेम वर्तते ।
हृदयं स्ववरुद्धयेव सत्प्रेमा वर्ततां कुतः ॥३१॥
सत्यप्रेम्णोऽप्रवेशेन भूताऽवेशीव सर्वदा ।
जल्पति इवेव वा नित्यं न शृण्वति सुभाषितम् ॥३२॥
सत्यात्मा हृदये नित्यं निष्क्रियः सन् विराजते ।
*द्वितीयस्य प्रवेशे तु द्वारं नैवात्र विद्यते ॥३३॥*

अतोऽसत्यमिदं द्वैतमद्वैतं सदखण्डितम् ।
भौतिकेऽप्यात्मभावेन भपतीव नरः क्रुधा ॥३४-३१२॥

जबतक हृदयमहल में अनात्मप्रेमादि एक वस्तु बैठकर विराज रही है, तबतक सत्यप्रेमादि दूसरी वस्तु किस द्वारे कैसे पैठ सकती है। और जिसके घर ( हृदय ) में देहाभिमानादि भूत लगे हैं, सो बकता भी कैसे है कि जैसे हरामी (हरामजादी, या कुत्ती) का पुत्र बके॥ अथवा एक विभु सत्यात्मा सबके हृदय में बैठकर विराजता है, तो दूसरा परमात्मा किस रास्ते क्यों पैठा, वह एकही माया अन्त करणादि द्वारा सब कुछ कर कराय सकता है। तौभी जिसके हृदय में भौतिक देहादि का अभिमान हुआ है, सो अनापशनाप बकता है इत्यादि ॥३१२॥

कबहुंक मन खल गल हँसे, कबहुक ऊठे रोय ।
कबहुक मनुआ पर जरे, कबहुंक चला बिगोय ॥३१३॥
जासु गोइ भीतर रहै, सो जानै सब बात ।
जानि बूझि अजगुत करै, ताहि कहाँ कुशलात ॥३१४॥

उक्ताद्धि मनसो भेदादभिमानवशात्तथा ।
नरो द्वन्द्वैः समाक्रान्तो हसति क्वापि रोदिति ॥३५॥
कदाचिन्मानसं ह्यस्य मुहुरुच्चैर्हसत्यलम् ।
कदाचित्तु रुदित्वाऽलमुत्तिष्ठति च धावति ॥३६॥
कदाचित्सम्पदं दृष्ट्वा परस्य तपति स्वयम् ।
ईर्ष्ययाऽभिध्यया वापि न शांतिमभिविन्दते ॥३७॥
सर्वं त्यक्त्वा कदाचित्तु गच्छत्यपि यतस्ततः ।
भूतावेशीव सर्वं हि कुरुते नान्यथा क्वचित् ॥३८-३१३॥

यो ज्ञात्वा कुरुते पापं सद्गुरोर्विमुखो नरः ।
संगोपयति चान्यस्मात्सोऽतिमूढतमः शठः ॥३९॥
सर्वसाक्षिस्वरूपाद्धि न किञ्चिद् गोपितुं क्षमम् ।
स्वमनःसहितः साक्षी योग्यं दण्डं विधास्यति ॥४०-३१४॥

अभिमानी का मन कभी सल २ शब्द करके हसता है, कभी रोष उठता है, कभी परपुरुष से तथा उसके सुखसम्पत्ति से जलता है, ईर्ष्या करता है। और कभी स्वयप्राप्त धनादि को दिगोय कर चल देता है, इस प्रकार सदा द्वन्द्वों से भूतावेशी की तरह बेहाल रहता है॥३१३॥

और स्वार्थी लोग जिसे दूसरे से गोय (छिपाय) कर पापकर्मादि को अपने भीतर रखते हैं, सो दूसरा अन्तर्यामी सब बातों को जानता ही है, इससे जानबूझकर अजगुत (अनर्थ) करने पर कुशल कहा है॥३१४॥

सांकठ कोइ न देखिये, सबे वैष्णवा झारि।
संशय ते सांकठ भया, कहहिं कबीर पुकारि॥३१५॥

गुरुहीना न केऽप्यत्र दृश्यन्ते मानवा भुवि ।
वैष्णवा एव दृश्यन्ते सर्वे च बुधमानिनः ॥४१॥
संशयाद्गुरुहीनास्ते जाता एव कुबुद्धयः ।
उच्चैस्तत्सद्गुरुः प्राह कबीरो बोधसिद्धये ॥४२॥
यं कञ्चापि गुरुं मत्वा जायन्ते वैष्णवा जनाः ।
देवभक्ताश्च नो पापं संशयं नाशयंति च ॥४३॥
यावन्न संशयो नष्टस्तावत् किं गुरुभिः कृतम् ।
शिष्या अपि न ते जाता ये संशयितमानसाः ॥४४॥
इदं तत्त्वमिदं तत्त्वमिदं सेव्यमिदं नहि ।
इत्येवं भ्रमतां तेषां सुखं नेह परत्र च ॥४५॥

नात्रासौ लभ्यते देवः परत्र प्राप्यते न वा ।
इत्यादिसंशयाक्रान्ता विन्दन्त्यत्र हरिं कथम् ॥४६-३१५॥

साहब पुकार के कहते हैं कि साकठ ( गुरुरहित ) कोई नहीं दीखता, सबके सब वैष्णव ( विष्णुभक्त–गुरुमन्त्रेश्वरसेवी ) दीखते हैं। परन्तु संशय से सब साकठ हुए हैं। आत्मपरमात्मतत्त्व का यथार्थ निश्चय विना कोई सच्चा वैष्णव नहीं होता ॥३१५॥

छौ दर्शन का एक विचारा, तासु नाम बनवारी ।
कहहिं कबिर सब खलक सयाना, इसमे हमहिं अनारी ॥३१६॥
सुर नर मुनि औ देवता, सात द्वीप नव खण्ड ।
कहहिं कबिर सबको लगे, देह धरे का दण्ड ॥३१७॥

आत्मादिसंशयैर्युक्ता योग्याद्या दर्शनानुगाः ।
परोक्षं देहिनं त्वीशं मत्वाऽतो मन्वते गतिम् ॥४७॥
एक एव विचारोऽपि षण्णां दर्शनिनामिति ।
स देवो वनवारी वै नामतो वनवारकः ॥४८॥
अतस्तेऽत्र प्रदृश्यन्ते वेषाद्यैः सुबुधा इव ।
तेषां मध्ये वयं विज्ञा अज्ञतुल्याः सदाऽऽस्महे ॥४९॥
दर्शनैर्लब्धदीक्षा हि सर्वे संसारिणो यतः ।
ज्ञानित्वं मन्वते स्वेषां विज्ञेष्वेवाज्ञतां तथा ॥५०-३१६॥
शरीरिणां तु सर्वेषां तापान्मोक्षो न विद्यते ।
देशे क्वापीति वेदा हि भाषन्ते दृश्यते तथा ॥५१॥
सुराऽसुरा नराश्चैव मुनयोऽपि बहुश्रुताः ।
दैहिकान्न कचिन्मुक्ता दुःखात् खण्डादिषु क्वचित् ॥५२-३१

संशयग्रस्त योगी आदि छौ दर्शनों का यह एक विचार (समझ) है कि तासु (उस तटस्थ परमात्मा का) नाम ही बन (संसार जंगल समुद्र) का बारण (निवारण) कर्ता बनवारी है, आत्मज्ञानादि की जरूरत नहीं है। और इस विचारवाला यह सब खलक सयान (अपने मन का ज्ञानी) है, इसमें हमही लोग अनारी (अज्ञ) सा हो रहे हैं ॥३१६॥

यों तो लोग किसी देही को भी बनवारी मानते हैं, परन्तु सातद्वीप नवखण्ड में जो सुर नर मुनि और देवता (देवी) आदि देही हैं, वे सबही देह धरने का दण्ड भोगते ही हैं [ आत्तो वै सशरीरः प्रियाऽप्रियाभ्याम्। छा. ८।१२।१ ] शरीरी सुखदुःख से व्याप्त ही रहता है ॥३१७॥

पूछत बात करै हंकारा, ज्यों आरण बन बड़ हड़वारा।
सांची बात कही मैं अपनी, भया रोष तब लागी कपनी ॥३१८॥

अभिमानाद्धरा जाताः क्रूरा वन्यमृगा इव।
प्रमत्ता ज्ञानिता भ्रान्त्या न पृच्छन्ति गुरूनपि ॥५३॥
यदि पृच्छन्त्यहङ्काराद् ऋजुप्रश्नं न मन्वते।
सत्यं चेत्सद्गुरुर्ब्रूते तस्मै क्रुध्यंति ते भृशम् ॥५४॥
अवोचं सत्यमेवाहं स्वकीयं नानृतं वचः।
अभूत्तेन च रुद् तेषां यया कम्पोऽप्यजायत ॥५५॥
कम्पे क्रोधे च संजाते को वक्ति सुविवेकतः।
अतः क्रूरा वदन्त्येव ह्यवक्तव्यं गुरावपि ॥५६-३१८॥

जैसे आरणबन (महाजंगल) के बड़ा हड़वार (क्रूर पशु आदि) हो, तैसे ही अभिमानी लोग बात पूछते में (बात २ में) अहंकार

करते हैं। सशय से साकठ हुआ, कोई शरीरी मुक्त नही है, इत्यादि मैं अपनी सची बात कही है, इसे सुनकर भी जिन्हें क्रोध हुआ तो फिर उन्हें कपनी लग गई ॥३१८॥

बानी ते पहिचानिये, चोर साधु की घाट ।
जो करनी अन्दर बसे, निकले मुख की बाट ॥३१९॥

अतश्च वचनैः प्रष्टुर्ज्ञात्वैव हृदये गतम् ।
साधुत्वं विपरीतं वा प्रवक्तव्यं सदा बुधैः ॥५७॥
हृदि यद्वर्तते यस्य निर्गच्छति तदेव हि ।
मुखमार्गादतो विद्वन् विद्धि तेनैव तद्गतम् ॥५८॥
" अन्यथैव हि सौहार्दं भवेत्स्वच्छान्तरात्मनः ।
प्रवर्ततेऽन्यथा वाणी शाठ्योपहतचेतसः " ॥५९॥

सम्यक् परिज्ञाय च साध्वसाधु वा प्रज्ञागतं स्वान्तगतं च भावया ।
स्वान्ते विविच्यैव च मेधया पुनर्योग्य हि वाच्यं नतु वाच्यमन्यथा ॥
६०-३१९॥

इति साक्षिसाक्षात्कारे विवेकिसदुपदेशादिदुर्लभतावर्णनं नामाष्टचत्वारिंशी वित्तिः ॥४८॥

चोर साधु ( *अभिमानी निरभिमानी* ) की घाट ( *गुप्त भेदमार्ग* ) को उनकी वाणी से ही पहचान कर कुछ कहना चाहिये, जो करणी अन्दर बसती है, सो मुखद्वारा अवश्य निकलती है ॥३१९॥

इति विवेकी की दुर्लभता प्रकरण ॥४८॥

## साखी ३२०, अवश्य ज्ञेयानुष्ठेय प्र. ४९.

कहँ उतपति का पेंड़ है, कहँ परलय का ठाम ।
तन छूटे कहँ जाहुगे, कहाँ बसायहु गाम ॥३२०॥

साधुत्वे संपरिज्ञाते तेभ्यश्चेत्युपदिश्यताम् ।
उत्पत्तिप्रलयस्थानमात्मनोऽन्यन्न विद्यते ॥१॥
विदेहो मुक्तिकाले च न कचित्त्वं गमिष्यसि ।
ग्रामो नास्ति च मुक्तानामिति तत्त्वं विनिश्चिनु ॥२॥
अन्यसाधुजनेभ्यस्तु तादृशो नैव दीयताम् ।
उपदेशस्त्वया विद्वन्न साध्या गुरुभिर्हि ते ॥३॥
जगद्वृक्षस्य चोत्पत्तेर्मूलं क्व विद्यते तथा ।
लयस्थानं च कुत्रास्ते मृतौ यास्यसि कुत्र च ॥४॥
इदानीं कुत्र ते ग्रामो यद्वासो भवता कृतः ।
इति प्रश्नैर्नरं ज्ञात्वा वक्तव्यमन्यथा नहि ॥५-३२०॥

वाणी से साधुता जानकर कहना चाहिये, कि उत्पत्ति आदि का पेंड ( मूल आदि ) आत्मा से अन्यत्र कहाँ है, आत्मा को ही सर्वाश्रय विभु जानो । या इन प्रश्नों से साधुताऽसाधुता [विवेकित्वाऽविवेकित्व] को पता लगाकर ही यथोचित उपदेश करना चाहिये, अन्यथा नहीं ॥३२०॥

कहहिं कबिर मैं हारिया, कोटि यतन समुझाय ।
चांड़ी पूंछ उठाय के, चली बेढ को जाय ॥३२१॥
शुअरहिं दूध पियायके, राखे पलँग सुताय ।
गुरु के शब्द चिन्हे नहीं, फिर चहले को जाय ॥३२२॥

पराजितोऽस्म्यहं मूढान् कोटियत्नैः प्रबोध्य वै ।
सोत्कण्ठमनसो यस्मान्नरकादौ प्रयान्ति ते ॥६॥
यथाऽत्र शूकरः खर्वं स्वकमुच्छ्रित्य पुच्छकम् ।
गच्छति स्वयमेवासौ बन्धाय वरणं गृहम् ॥७॥
तथोच्छ्रित्य मनो मूढा नरकादौ प्रयान्ति चेत् ।
तत्र गत्वाऽनुवध्यन्ते गर्भे च शेरते पुनः ॥८-३२१॥
शूकरं हि यथा दुग्धं पाययित्वा सुशाययेत् ।
पर्यङ्के स न तत्रास्ते तथैते मूढमानवाः ॥९॥
शुद्धे धर्मे स्वरूपे वा तिष्ठन्ति न कदाचन ।
धावन्तोऽपि कुमार्गे च लज्जन्ते नहि कर्हिचित् ॥१०॥
गुरोः शब्दं न जानन्ति पंके यान्ति पुनः पुनः ।
शूकरा इव ते मूढा अहो संसारविभ्रमः ॥११-३२२॥

साहब का कहना है कि मैं ( गुरु ) अभिमानी असाधुओं को करोड़ों यतन से समझाकर हार गया, वे लोग नहीं समझते । किन्तु जैसे शूकरी धाड़ी पूंछ उठाकर स्वयं बेढ ( घेरा ) में जाती है, तैसे इनकी बुद्धि उत्कण्ठापूर्वक स्वयं गर्भादि में जाती है ॥३२१॥

शूकरतुल्य मनुष्य गुरु के शब्द को नहीं चिन्हते ( पहचानते ) इससे बार २ नहला ( कीचड़ ) तुल्य गर्भ नरक कुमार्गादि में जाते हैं, विमल ब्रह्मानन्दामृत पीकर हृदयपलंग पर नहीं सोते इत्यादि ॥३२२॥

चित चञ्चलता छोड़ि दे, माया ते मन फेर ।
जाही ते सब कुछ भया, ताहीं काह न हेर ॥३२३॥

ते वै यथा तथा सन्तु त्वमात्मानं प्रसाधय ।
सज्जनैः सह संसर्गात्साधंश्चोपदिशंस्तथा ॥१२॥

मनसोऽप्यतिचाञ्चल्यं विरागाभ्यासयोगतः ।
सदा जहि च मायाया तन्निरोधं समाचर ॥१३॥
यस्य सत्ताप्रकाशाभ्यां जगत्सर्वं चराचरम् ।
जायते वर्द्धते नित्यं स एवान्विष्यतां त्वया ॥१४॥
अन्यत्सर्वं करोषि त्वं तं न मृगयसे कथम् ।
यस्यैवात्र हि लाभेन कृतकृत्यो भविष्यसि ॥१५॥
अहो महादुःखमिदं जगत्यामसङ्गमात्मानमजं विभुं च ।
ज्ञाने विमुक्तिप्रदमव्ययं यन्नान्वेषते वै हरिमत्र लोकः ॥१६-३२३॥

चाहे अभिमानी लोग जैसे रहें, परन्तु हे सज्जनो ! तुम अभ्यास वैराग्यादि से चित्त की चञ्चलता को छोड़ दो। और दोषदर्शन विचारादि करके माया ( मायिक वस्तु ) से मन को फेर लो। फिर जिसकी सत्ता शक्ति और प्रकाश से सब कुछ ( सब संसार ) हुआ है, उसको क्यों नहीं हेरते ( ढूंढते ) हो। उसे अवश्य ढूंढो ॥३२३॥

मन माया के चोट ते, मारे सकल जहान ।
सुरनर मुनि घायल भये, ऐसो जोर कमान ॥३२४॥

मनसश्चञ्चलस्यास्य मायाया रोधनं विना ।
तया संघट्टनाघातान्मृताः संसारिणो जनाः ॥१७॥
मनश्च मायया सर्वान् संगिण्य भोगलालसान् ।
द्वन्द्वाघातमहातीव्रशस्त्रैर्मारयति ध्रुवम् ॥१८॥
मनोमायानिपिष्टाश्च सर्वे संसारिणो जनाः ।
म्रियन्ते सौख्यमिच्छन्तो लभन्ते न च किञ्चन ॥१९॥
देवाश्च मुनयोऽप्याभ्यां विद्धाः क्लिश्यन्ति चेत्तदा ।
अन्येषां का कथैवात्र हतानां स्वमनोरथैः ॥२०॥

मनो मायां धनुः कृत्वा तया हंति जगत्त्रयम् ।
विद्धास्तेन सुराद्या वा सामर्थ्य धनुषस्तथा ॥२१॥
अतोऽवश्यं मनो रुध्वा ह्यन्विष्यात्मानमत्र च ।
जन्ममृत्युभयं विश्वसिन्धुं तर स्वबोधतः ॥२२-३२४॥

माया से मन को फेरने विना, उस मन माया के चोट (धक्का–मार) से सब ससार मारा गया, या माया की चोट ( इच्छा–चाह ) से मन सब ससारी को नष्ट किया, जो बड़े २ सुर नर मुनि नष्ट नहीं हुए, वे भी घायल ( क्षत विक्षत ) हो गये। यह मनोरथादिरूप कमान (धनुष) ऐसा ही जोरदार है, कि जिससे घायल होने विना कोई नहीं रहता ॥३२४॥

एक बात की बात है, बहु विधि कहा बनाय ।
भारी परदा बीच का, ताते लखा न जाय ॥३२५॥
जो मुहि जानै तिहि मैं जानौ, लोक वेद के कहा न मानौ ॥३२६॥

एतावदेव पर्याप्तं मुक्तये सर्वदेहिनाम् ।
यद्धि मनोनिरोधेन स्वात्मतत्त्वस्य वेदनम् ॥२३॥
एतदर्थं सदा सद्भिर्बहुधा वर्ण्यते विधिः ।
अविद्याघनरुद्धाक्षः स्वात्मसूर्यं न पश्यति ॥२४॥
मध्ये जाते शरीरादावात्माद्यध्यासतो जनाः ।
परं तत्त्वं न जानंति स्वान्तस्थं सर्वदा विभुम् ॥२५-३२५॥
सर्वसाक्षिस्वरूपं तं पश्यंति विमलाशयाः ।
वेदादियन्त्रणामुक्ता विचरंति यथासुखम् ॥२६॥
उपासते तु भक्त्या ये तेभ्यस्ते वितरंति हि ।
ज्ञानं तु लोकवेदाभ्यामुक्तं शृण्वंति नो तदा ॥२७॥
अतो मां यो हि जानाति तं जानामि परं त्वहम् ।
नैवोक्तं लोकवेदाभ्यां मन्ये चात्र कथंचन ॥२८-३२६॥

माया से मन को फेर कर सर्वादि तत्त्व को जानना, इसी एक बात ( उपदेश आचार ) की बात ( जरूरत ) है, या इसी एक बात ( कार्य ) के लिये सब बात कही जाती है। और इसी एक कार्य के लिये महात्माओं ने बहुत प्रकार के ग्रन्थ पुराण इतिहास बनाकर कहा है। एक माया ही बीच का भारी पड़दा है, कि जिससे स्वयंप्रकाश सर्वादि सूर्य नहीं लखा ( जाना ) जाता है ॥३२५॥

जो सर्वसाक्षी मुझे जानता है, या जो शिष्य मुझे ( गुरु को ) समझता है, उसीको मैं भी जानता ( भजता या समझता ) हूं, फिर लोक वेद का कहा भी मैं नहीं मानता हूं ॥३२६॥

पैठा है घट भीतरे, बैठा है सहचेत।
जब जैसी गति चाहये, तब तैसी मति देत ॥३२७॥

पावँ पलक के गम नहीं, करै काल्हु का साज।
काल अचानक मारि हैं, ज्यों तीतर को बाज ॥३२८॥

सर्वात्मा साक्षिरूपोऽपि चित्तेन सहितः सदा।
वर्तते हृदि सर्वस्य फलं संददिच्छया ॥२९॥
जीवकर्मानुसारेण वासनाज्ञानयोः समम्।
यदा यादृग् गतिं वाञ्छेद् दयात्तादृङ्मतिं तदा ॥३०-३२७॥
तस्य ज्ञानं विना लोको भौतिके क्षणभंगुरे।
अभिमानेन बद्धोऽस्ति संधत्ते विषयांस्तथा ॥३१॥
क्षणादूर्ध्वं हि किं भावीत्येवं वेत्ति न यो नरः।
स मासवत्सराद्यर्थं संचयं कुरुते मुधा ॥३२॥
संचये च प्रमग्नं तं कालो ग्रसति वै तथा।
यथा तित्तिरिं काङ्श्येनोऽतर्कितं खलु बाधते ॥३३-३२८॥

सर्वसाक्षीरूप परमात्मा सबके देह में पैठा है, और सद्चेत ( चित्तोपाधि सहित–जीव बन कर, वा सावधानी से ) बैठा है । कर्म वासनादि के अनुसार जब जिसको जैसी गति देना चाहता है तब तैसी ही बुद्धि देता है ॥३२७॥

इसीसे जिसको एक पैर आगे बढ़ाने तक वा पलभर का भी गम ( होश–ज्ञान ) नहीं है, सो भी काल्हु ( कालान्तर ) के भोगों का साज ( साधन ) करता है । और काल तो ऐसे अचानक में ही मारेगा कि जैसे तित्तिर को बाज मारता है ॥३२८॥

भूला सो भूला, बहुरि के चेतना ।
ज्ञान की छूरि सो, सशय को रेतना ॥३२९॥

भो नरा ये गतास्ते ते स्मयास्ते गता भ्रमात् ।
मोहेनानवधानेन चिन्तया तत्र किं भवेत् ॥३४॥
इदानीमपि मायायाश्चेतो रोधं विधाय वै ।
ज्ञानेन निशिताश्त्रेण भिन्द्तां संशयं सता ॥३५॥
पुरुषे पुरुषत्वं तद् यद्गतं नेव चिन्तयेत् ।
भाविदुःख प्रयत्नेन नाशयेन्मूलसंयुतम् ॥३६॥
शरीरेण यथा सन्तु तथा तेनात्र किं भवेत् ।
इत्थंभूतसमाचारा भवन्ति पुरुषोत्तमाः ॥३७॥
यदा परात्मात्मविभेदभेदकं ज्ञानं भवेच्छास्त्रसतां विलोकनात् ।
तदा च माया प्रविलीयतेऽञ्जसा भवेन्न सा कारणमात्मसंसृते· ॥
३८–३२९॥

इति साक्षिसाक्षात्कारेऽवश्यानुष्ठेयश्रेयादिवर्णन नामैकोनपञ्चाशी विक्ति ॥४९॥

हे मनुष्यों ! भोगासक्ति आदिरूप भूल कियो सो कियो, अब भी बहुरि ( माया से मन को रोक ) के चेतना ( सावधान होना ) चाहिये या हे ना ( पुरुष ) तुम चेत ( समझ ), या ना ( पुरुष–आत्मा ) को चेत ( जान ) और सर्वसाक्षिरूप आत्मा का ज्ञान की छूरी से संशय मिथ्याज्ञानादि को रेतना (नष्ट करना) चाहिये। या हे ना ! ( पुरुष ! ) रेतो इत्यादि ॥३२९॥

इति अवश्यज्ञेयानुष्ठेय प्रकरण ॥४९॥

## साखी ३३०, गुरुज्ञान से द्वन्द्वनिवृत्ति प्रकरण ५०.

जो मीला सो गुरु मिला, शिष्य मिला नहिं कोय ।
छौ लाख छानवे सहस, रमयनि जिव पर होय ॥३३०॥

वेपादिमात्रतः सर्वे गुरुत्वस्याभिमानिन ।
प्राप्यन्ते नैव शिष्याश्च ज्ञानं कस्य तु जायताम् ॥१॥
ज्ञानाभावात्तु मिथ्यैव षड्लक्ष्यादिप्रभेदत. ।
पदार्थाः शब्दसंघाश्च कल्प्यन्ते बहुधा जनैः ॥२॥
योग्यादौ दर्शने ज्ञेय षड्विधं कल्पयति हि ।
षण्णवतिसहस्राणि नामानि मतभेदतः ॥३॥
अज्ञानां रमणार्थाय भवन्त्येतानि सर्वथा ।
बहुलक्षाण्यनन्तानि किमज्ञान्विष्यते त्वया ॥४ ३३०॥

उक्त आत्मज्ञान बिना भी जो कोई मिलता है, सो गुरुत्व के अभिमानी ही मिलता है, योग्य शिष्य कोई नहीं मिलता। इसीसे छौ लाख छयानवे सहस्र रमयणी एक २ जीव पर होते हैं, अर्थात् छौ दर्शनों में छौ लक्ष्य, ज्ञेय, ध्येय, एक २ जीव का रमण के लिये बताये जाते

हैं, तथा छ्यानवे सहस्र नामों का वर्णन किये जाते हैं, मिथ्या गुरुत्वादि के अभिमानादि से ही सो विस्तार नाना भेदादि सिद्ध हुए हैं, सच्चा ज्ञानमार्ग एक है ॥३३०॥

कर बन्दगी विवेक की, वेष धरे सब कोय ।
सो बन्दगि बहि जान दे, शब्द विवेक न होय ॥३३१॥

शब्दादौ रमणं त्यक्त्वा स्वात्मैवान्विष्यतां त्वया ।
सत्तत्त्वे रममाणं च सद्गुरुं शरणं व्रज ॥५॥
स्वात्मज्ञानस्य लाभाय कुरुष्वास्याभिवादनम् ।
वेषस्तु ध्रियते सर्वैर्नाभिवादय तावता ॥६॥
अन्यस्य शरणं त्यक्त्वा गुरवे सर्वमर्पय ।
सारशब्दाविवेकी यो जहीहि तस्य वन्दनाम् ॥७॥
विद्धि तत्प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
ज्ञानी दास्यति ते ज्ञानं परब्रह्मपरायणः ॥८॥
यस्तु स्वयं न जानाति वेषमात्रेण गर्वितः ।
जात्यादिनाऽथवा मत्तः स तु ते किं विधास्यति ॥९॥
योऽस्ति स्वयमसिद्धः स कथं त्वां साधयिष्यति ।
शब्दाविवेकिनस्तस्माद्वन्दनं त्वं परित्यज ॥१०-३३१॥

हे मुमुक्षु जनो ! तुम विवेक की (विवेकी के प्रति) बन्दगी (वन्दना) करो । वेष का धारण तो सबही कर लेते हैं, वेष देखकर नहीं भूलो । उस बन्दगी को बहि जान दो ( त्यागो ) कि जहा सारादि शब्दों का विवेक नहीं हो [ तुलसी देखि सुवेष, भूलहिं मूढ न चतुर नर ] ॥३३१॥

यह मन तो शीतल भया, जब उपजा ब्रह्मज्ञान ।
जिहि बैसन्दर जग जरै, सो पुनि उदक समान ॥३३२॥

तदेदं शीतलं जातं मनस्तप्तं भृशं पुरा।
ब्रह्मज्ञानं यदोत्पन्नं निर्मलं शोकबाधनम् ॥११॥
यस्माज्ज्वलति संसारोदकवच्चाभवद्धि सः।
महाग्निर्नात्र संदेहो ज्ञानाग्नेः सुप्रभावतः ॥१२॥
सद्गुरोर्वन्दनाभ्यासाच्छ्रवणोन्मननादिभिः ।
ज्ञानस्योत्पत्तिकाले हि मनस्तापो निवर्तते ॥१३॥
ब्रह्मज्ञानेन संशान्तं गततापमिदं मनः।
तापहेतुं जगज्जालं शान्तमेव प्रपश्यति ॥१४॥
संसारतापतप्तानां कृते तप्तमिदं जगत्।
शान्तस्वमनसां चैव शान्तमेवावशिष्यते ॥१५-३३२॥

सद्गुरु की भक्ति वन्दना आदि से जब जिसको ब्रह्मज्ञान उत्पन्न हुआ, तब उसका यह अत्यन्त तप्त भी मन परम शीतल हुआ और होता है। क्योंकि जिस बैसन्दर ( विदारणशील कामादि अग्नि ) से संसार जलता है, सो फिर ब्रह्मज्ञान में निष्ठा होते ही उदकतुल्य हो जाता है ॥३३२॥

साँचहिं शाप न लागये, साँचहिं काल न खाय।
साँचहिं साँचे जो रहै, ताको काह नशाय ॥३३३॥

मनसः शीतलत्वे हि सत्यनिष्ठो भवेन्नरः।
निर्द्वन्द्वो नित्यमुक्तश्च निर्वैरः सर्वसौहृदः ॥१६॥
ये हि सत्यरताः शान्ता ब्रह्मनिष्ठा मनस्विनः।
शापस्यागोचरास्ते तु प्रपीड्यन्ते न कालतः ॥१७॥
यतश्चासत्यसंधस्य देहादावभिमानिनः।
देहादिनाशातस्तावत्सर्वस्वमेव नश्यति ॥१८॥

सत्यसंधस्य विज्ञस्य ब्रह्मनिष्ठस्य सर्वदा ।
देहनाशेऽपि किं नश्येत्स सदैवाऽजरोऽमर. ॥१९-३३३॥

सत्यात्मा सत्य में निष्ठावाला सत्यवक्ता को न किसीका शाप लगता है, न उसे काल ही खा सकता है । जो देहादि के अभिमान रहित पुरुष सत्यस्वरूप होकर सत्य ही में स्थिर रहता है, शाप वा कालादि से उसका क्या नष्ट हो सकता है । अभिमानियों का ही देहादि के नाश से नाश होता है ॥३३३॥

केते योगी योग करु, केते भस्म शरीर ।
एक शब्द के कारणे, आलम भया फकीर ॥३३४॥

कियन्तो योगिनो योगं कुर्वते चित्तशुद्धये ।
भस्मनो धारणं देहे कियन्तः कुर्वते तथा ॥२०॥
कियन्तः सिद्धिभोगार्थं योगादि कुर्वतेऽथवा ।
एकशब्दार्थमन्ये च संघा वै साधवोऽभवन् ॥२१॥
आत्मानः स्वस्य बोधाय सारशब्दस्य लब्धये ।
केचिज्जिज्ञासवो योगं कुर्वते भस्मधारणम् ॥२२॥
केचिद्वैराग्यमाश्रित्य ह्यवगुण्ठ्य कलेवरम् ।
भस्मना चिन्तयन्ते च स्वात्मतत्त्वं निरन्तरम् ॥२३॥
विवेकादि विना त्वन्ये सिद्ध्यादेर्लोभवाञ्छया ।
वाचारम्भणमात्रस्य योगादीन् वै प्रकुर्वते ॥२४-३३४॥

सर्व भयनाशक एक सारशब्द के लिये कितने सच्चा योगी योग करते है । कितने तप आदि से देह को भस्म करते हैं, या देह पर भस्म रमाते हैं । और उसीके लिये आलम ( जमात के जमात ) फकीर

( साधु ) हुए हैं ॥ अथवा सत्य ज्ञान विना सिद्धि आदि वाचारम्भण-मात्र कार्यवस्तुओं के लिये कितने योगादि करते हैं ॥३३४॥

एक फेर का फेर है, फेरहिं लखै न कोय।
कहहिं कबिर फेरहिं लखे, छत्र धनी है सोय ॥३३५॥

आत्माज्ञानस्य चैकस्य विपर्यासस्वरूपिणः * ।
मिथ्याज्ञानस्य कार्योऽयं सर्वैः संसारविभ्रमः ॥२५॥
अहो भ्रमं न जानंति केऽपि श्रीसद्गुरुं विना ।
ये वै जानंति तत्त्वं ते वै संति महेश्वराः ॥२६॥
निजात्मनोऽबोधविलाससम्भवं द्वन्द्वं समस्तं बहुमोहमत्तता।
अनित्यवर्गादिषु नित्यतामुखा भ्रमास्ततो बोधमुपार्जयेद् बुधात् ॥
२७-३३५॥

इति साक्षिसाक्षात्कारे गुरुवचनाद्ब्रह्मज्ञानाप्तौ द्वन्द्वाऽविषयत्वादिवर्णनं नाम पञ्चाशी वित्तिः ॥५०॥

एक फेर ( आत्मा के अज्ञान विपर्यय ज्ञान ) का ही फेर ( नका था कार्य ) रूप सब फेर ( भ्रम—जन्ममरणादि चक्र ) हैं । और इस कार्य कारण रूप फेर ( भ्रम ) को कोई सद्गुरु विना नहीं समझता है, जो कोई गुरुकृपा से इसको जानता है, सोई छत्रधारी ( स्वतन्त्र ) धनी ( राजा ) है ॥३३५॥

इति गुरु ज्ञान से द्वन्द्व निवृत्ति प्रकरण ॥५०॥

---

* अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या । योगसू. ॥ देहादिष्वनात्मस्वहमस्मीत्यात्मबुद्धिरविद्या ॥ मिथ्याज्ञाननिमित्तः सत्यानृते मिथुनीकृत्याऽहमिदं ममेदमिति नैसर्गिको लोकव्यवहारः । इत्यादि

## साखी ३३६, सत्यादृश्यादिविवेक प्र. ५१.

सॉचा शब्द कबीर का, प्रगट कहै जग माहिं ।
जैसा को तैसा कहै, सो तो निन्दा नाहिं ॥३३६॥

सत्यः शब्दः कबीरस्य व्यक्तं तं भाषतेऽत्र सः ।
यो यादृक् तादृशं वक्ति न सा निन्दा न निन्दकः ॥१॥
परकर्मस्वभावानां स्तवनं निन्दनं तथा ।
सज्जनैर्नैव कर्तव्यमाशु भ्रंशप्रदत्त्वतः ॥२॥
गुरुभिर्गुणदोषाणां कथनं क्रियते तु यत् ।
तत्त्वस्य कथनं चेतन्न निन्दा न प्रशंसनम् ॥३॥
अतश्च गुरुभिः पूर्वं संसारस्य कदर्थना ।
बहुधा वर्णिता साक्षान्माहात्म्यं ज्ञानिनां तथा ॥४॥
तत्त्वस्य कथनं तच्च शिष्यबोधार्थमेव हि ।
क्रियते सुखसिद्ध्यर्थं रागद्वेषादिकं विना ॥५-३३६॥

[ परस्वभावकर्माणि न प्रशंसेन्न गर्हयेत् । भा. स्क. ११।२८।१ ]
इत्यादि वाक्यों से पर के स्वभाव कर्म की निन्दा स्तुति का निषेध

---

शाकरभाष्याद्यनुसारेण कार्यभूताऽविद्याऽपि प्रतीयते, तदभ्युपगम्यानन्त्योक्तिः॥ नासदासीन्नोऽसदासीदित्याद्याः श्रुतयोऽखिलाः । प्रमाण स्युरनिर्वाच्यभाव *एव विचारतः ॥ अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिरनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका* परा । कार्याऽनुमेया सुधियैव माया यया जगत् सर्वमिदं प्रसूयते ॥ इति विवेकचूडामण्यादावनादिरूपा श्रुत्यनुसारेण वर्णिता, अनादित्वेऽपि कूटस्थानादित्वाभावाज्ज्ञानाद् बाध्यत एवेति । अनादित्वादनिवृत्तिशङ्का प्रमादजन्येव सद्गुरुणा चोक्तम्– "बाढत बढी घटावत छोटी । परखत खर परखावत खोटी" ॥

होते भी ज्ञानी भक्तादि की स्तुति, अज्ञ हिंसकादि की निन्दा क्यों की गई है, ऐसी जिज्ञासा होने पर कहा गया है कि, साचा शब्द इत्यादि। लोकहित के लिये सत्य शब्द प्रगट कहा गया है, निन्दक तो परोक्ष में ईर्ष्या आदि के मारे शत्रु आदि की निन्दा करता है, लोभ अभिमानादि वश अपने सम्बन्धी आदि की स्तुति करता है ॥३३६॥

दृश्यमान सो विनशये, अदृश्यहिं लखै न कोय।
नाहीं कोइ गाहक है, जाहि मिले सुख होय ॥३३७॥

निन्दादिबुद्धिमत्र त्वं त्यक्त्वा वाक्यं विचारय।
विचारेण च जानीहि दृश्यं सर्वं विनश्वरम् ॥६॥
अदृश्यं च स्वमात्मानं साक्षिरूपं निभालय।
यस्य ज्ञानं विना जन्तुर्जायते म्रियतेऽपि च ॥७॥
नश्यति दृश्यमानं हि नादृश्यं कोपि वेत्ति च।
नाप्यस्य ग्राहकः कश्चिन्मिलेद्यस्य सुखं भवेत् ॥८॥
अदृश्यस्य न विज्ञानी जिज्ञासुर्वेह दृश्यते।
यत्सङ्गाद्यैर्मनुष्याणां सुखमेव भवेत्सदा ॥९॥
दृश्यते न स जिज्ञासुर्मिलेद्यस्य हरिर्गुरुः।
अखण्डं च भवेत्सौख्यमेकं वै सच्चिदात्मकम् ॥१०-३३७॥

नेत्रादि के विषय दृश्य वस्तु विनश्वर हैं, उक्त अदृश्य आत्मा ही स्थिर अविनाशी है, परन्तु कोई अविवेकी उसको लखता (समझता) नहीं है। न उसका ग्राहक (जिज्ञासु) कोई मिलता है कि जिसको वह अदृश्यात्मा मिले (प्राप्त हो) और उसे सुख हो। या जिसके मिलने से विचारादिजन्य आनन्द अन्य को भी मिले इत्यादि ॥३३७॥

जो तैं चाहै मूझ को, छाड़ सकल की आस ।
मूझहिं ऐसा होय रहु, सब कछु तेरे पास ॥३३८॥
साँच बरोबर तप नहीं, झूठ बरोबर पाप ।
जाके हृदया साँच है, ताके हृदया आप ॥३३९॥

चेत्त्वमिच्छसि मामाप्तुमात्मानं वा हरिं गुरुम् ।
भूत्वा मया समस्तिष्ठ त्यक्त्वाऽऽशां तेऽन्तिकेऽखिलम् ॥११॥
मत्समः सर्वदा भूत्वा सर्वाशां त्यज भद्र हे ।
त्वत्समीपेऽखिलं ह्येवं वर्तते यत्तु वाञ्छितम् ॥१२॥
यदि च त्वं गुरोः प्राप्तिं गुरुत्वं वेह वांछसि ।
तन्न दूरं नचाप्राप्यमाशया दूरतां गतम् ॥१३॥
आशां त्यक्त्वा प्रयत्नेन गुरोराज्ञापरः सदा ।
आत्मन्येव हि सर्वं त्वं लप्स्यसे यद्धि वाञ्छितम् ॥१४॥३३८
सत्येन न तपस्तुल्यं नानृतेन च दुष्कृतम् ।
यच्चित्ते सत्यमेवास्ते तत्रास्ते हि स्वयं हरिः ॥१५॥
अतः सर्वप्रयत्नेन सत्यं सर्वात्मना भज ।
गुरुं तेनैव चात्मानं लप्स्यसे हरिमेव च ॥१६॥३३९॥

यदि तुम मुझ ( हरि गुरु ) को प्राप्त करना चाहो तो सकल दृश्य की आशा छोड़ दो, और मुझहि ऐसा (मुझसा) सत्य वक्ता असंग अहिंसकादि मेरी आज्ञा के अनुसार हो रहो, तो जो कुछ चाहते हो सो सब तेरे पास ही है । आशा आदि से दूर हुआ है ॥३३८॥

हरिगुरु की प्राप्ति के हेतु तपों में साँचा ( सत्यभाषण सत्यनिष्ठा ) के बराबर कोई तप नहीं है। न झूठ के बराबर ज्ञान के प्रतिबंधक

कोई पाप है, जिसके हृदय में सत्यही बसता है उसके हृदय में हरि गुरु आप प्रगट होते हैं ॥३३९॥

बना बनाया मानवा, बिना बुद्धि बेतूल ।
कहाँ लाल लै कीजिये, बिना बास का फूल ॥३४०॥
जासो दिल नाहीं मिला, शब्द न बेधा अंग ।
कहहिं कबिर कैसे बने, हंस बके का संग ॥३४१॥

सिद्धश्च साधितो यस्तु मया नैव समोऽभवत् ।
बुद्धिं विना किमेतेन रक्तकुसुमसमेन वै ॥१७॥
वस्त्राऽलङ्कारजात्यादिशोभितोऽपि पुमानयम् ।
सत्यबुद्धिविहीनश्चेन्मतो निर्गन्धपुष्पवत् ॥१८॥
यथा किंशुकपुष्पाणि घ्राणतृप्तिकराणि नो ।
आद्रियन्ते न रक्तानि तथा बुद्धिं विना नराः ॥१९-३४०॥
सत्यबुद्धेरभावेन यस्य नो गुरुणा सह ।
मनो मिलति नो यत्र सारशब्दो विशत्यथ ॥२०॥
तस्य सद्गुरुभिः सार्द्धं कथं सङ्गोऽत्र संभवेत् ।
हंसेन हि बकस्येव तस्मात्सत्यं समाश्रय ॥२१-३४१॥

वस्त्रालंकारादि से बना बनाया (सुशोभित) मनुष्य भी सत्य प्रेमादि युक्त बुद्धि बिना बेतूल (अयोग्य–तुच्छ) हुआ है । बेपादि के तुल्य व्यवहार नहीं कर सकता है । इससे गंधरहित लाल पुष्पतुल्य उस मनुष्य को लेकर (अपनाकर) भी क्या किया जा सकता है ॥३४०॥

जिससे सद्गुरु सत्पुरुषों का दिल नहीं मिला, न जिसके अन्तःकरण में सारशब्द ही बेधा, तो सद्गुरु रूप हंस के साथ उस बकवृत्ति का संग कैसे बन सकता है ॥३४१॥

*हौं बिगराने ओर के, बिगरों नाहिं बिगारों ।*
*सब घट मेरो प्राण है, चोट काहि पर डारों ॥३४२॥*

वयं ये ज्ञानिनो लोके सुधियोऽनन्तकालतः ।
वर्तामहे स्वरूपे स्वे विविक्ते निर्जने पृथक् ॥२२॥
असङ्गत्वात्मनिष्ठत्वान्न विकारं भजामहे ।
नैव कस्यापि हानेर्वा भवामो हेतवो वयम् ॥२३॥
व्यवहारेऽपि सर्वत्र तुल्यप्राणस्य दर्शनात् ।
पीडयामो न कञ्चित्तु सुधां विश्राणयामहि ॥२४॥
अतस्त्वमपि सर्वत्र सुहृद् भूत्वैव देहिनः ।
केनाप्यपकृते विद्वन् जानीहि कर्मजं फलम् ॥२५॥
असङ्गश्च स्वरूप ते किं भूतैस्ते विहन्यते ।
इति निश्चित्य निर्द्वन्द्वः सुखं तिष्ठ निरामयः ॥२६॥
अनाद्यविद्यया यद्वा कर्मणा मनसा तथा ।
स्वयं त्वं पीड्यसे नान्यैः क्रोधस्यावसरः कुतः ॥२७॥
इत्येवमालोच्य बुधैर्मिलित्वा ह्याशापिशाचीमपवाह्य दूरम् ।
त्वं सत्यसंधो वृजिनान्निवृत्तो दृश्यात्परोऽदृश्यतयाऽत्र तिष्ठ ॥
२८-३४२

इति साक्षिसाक्षात्कारे सत्यादृश्यादिविवेकवर्णन नामैकपञ्चाश वित्ति ॥५१॥

हौं ( हम ) ज्ञानी लोग ओर ( अनादि ) के बिगराने ( पृथ असंग ) हैं, इससे न बिगड़ते ( विकृत नष्ट होते ) हैं, न किसीन बिगाड़ते हैं। और सब घट में मेरेही प्राणादि हैं, तो फिर चोट कि पर डारें ( किसे दुखावें ) ॥ हौ बिगराने, इत्यादि पाठपक्ष में अर्थ। कि, अविद्यादि के वश तुम अनादि काल के बिगड़े या पृथक् हौ, यां

ई बिगाड़ (अपकार) करे, तो अपकृत होने पर भी किसीका बिगाड़ हीं करो, सब घट में अपना ही प्राण समझो इत्यादि ॥३४२॥

इति सत्यादयादिविवेक प्रकरण ॥५१॥

## साखी ३४३, सिद्धसंसार प्र. ५२.

ये करुवन्ती बेलरी, करुआहीं फल होय।
सिद्ध नाम तब पाइये, बेलि बिछोहा होय ॥३४३॥
सिद्ध भया तो क्या भया, चहुंदिशि फूटी बास।
अंकुर बीज अन्तर में, फिरि जामन की आस ॥३४४॥

मायाख्या कटुवल्लीयं विश्वरूपेण दृश्यते।
फलं कटुतरं चास्या वियोगिनिधनात्मकम् ॥१॥
अविद्याविषवल्ल्येषा ह्याशाव्रततिसंयुता।
महादुःखफला चास्याः प्रोच्छेदायैव यत्यताम् ॥२॥
यदा चास्या वियुक्तस्त्वं स्वरूपे स्थास्यसि स्वके।
तदा त्वं सिद्धनामा सन् द्वन्द्वमुक्तो भविष्यसि ॥३-३४३॥
यावत्संसारवृक्षोऽयमविद्यासंयुतो नहि।
संछिन्नो बोधशस्त्रेण किं तावत् सिद्धितो भवेत् ॥४॥
वासनाबीजमच्छिन्नं वर्तते सर्वतो यदि।
कर्माङ्कुरो न नष्टश्चेदणिमाद्यैर्भवेत् किमु ॥५॥
हृदये वासनाबीजे सति कर्माङ्कुरे तथा।
जायते जन्मवृक्षस्य पुनराशा भयावहा ॥६॥
तस्मादविद्यया सार्द्धं वासनाकर्मपञ्जरम्।
दग्ध्वा ज्ञानाग्निना त्वं हि जन्ममुक्तत्वमाप्नुहि ॥७-३४४॥

ये ( माया अविद्या आशा परापकारादि ) करुवन्ती ( करुई ) वेली ( लता ) रूप हैं, और जन्ममरणादिरूप कटु ही फल इनमें लगते हैं। जब इन वेलियों से बिछोहा ( वियोग ) होय, या क्षोभरहित विद्या वेली की प्राप्ति हो, तबही सच्चा सिद्ध नाम पाया जाता है ॥३४३॥

यदि अविद्यादि की निवृत्ति बिना अणिमादि सिद्धिवाला हुआ, तो इससे क्या फल मिला। अज्ञों को सिद्धि से चारों तरफ अधिक वासना फूटी ( फैली ) और उनके अन्त करण में कर्मवासनारूप अकुर बीज के बसने से फिर जन्म की आशा भी होती है ॥३४४॥

सबे हमारे देश के, वचक भूले आय ।
देखि शरद की चान्दनी, परे भुलाय भुलाय ॥३४५॥

सर्वेऽपि मानवाः संति मद्देशगामिनो मृतौ ।
मद्देशादागताश्चात्र मायया भ्रामितास्तथा ॥८॥
अनिर्वाच्या तु मायैषा कामाविद्यादिरूपिणी ।
यदा नश्यति बोधेन तदा नायाति संसृतौ ॥९॥
अहो वञ्चकसंसर्गाद् भ्रामितो मनसा सह ।
लोकसिद्धयादिकामेन रतः काम्येषु कर्मसु ॥१०॥
विविधान् विषयान् दृष्ट्वा श्रुत्वाऽनुश्रविकांस्तथा ।
शारदीं कौमुदीं दृष्ट्वा कामीव मुह्यति ध्रुवम् ॥११॥
ब्रह्मणश्चागता ब्रह्मनिष्ठाश्च ब्रह्मगामिनः ।
मोहेन जन्तवः सर्वे पुनर्जन्मादिभागिनः ॥१२॥३४५॥

सबही मनुष्य हमारे ( गुरु ) के देश ( उपदेश–मार्ग–स्थान ) के योग्य हैं। परन्तु वञ्चक ( ठग ) लोग विषयादि के सग में आकर

भूल पड़े हैं। और शरद की चान्दनी (उज्जल रात्रि) की तरह सिद्धि लोकमान्यता आदि को देख सुनकर भूल भटक में पड़े हैं। कामान्ध हुए हैं, उन्हींको मोक्ष सुखादि मान बैठे हैं ॥३४५॥

जासो नाता आदि का, विसरि गया सो ठौर।
चौरासी के वशि परे, कहत और की और ॥३४६॥

येन शाश्वतिकः सङ्गः सता तादात्म्यलक्षणः।
तं विस्मृत्य पदं चायं मोहेनाऽन्यत्र धावति ॥१३॥
वेदाष्टलक्षयोनीनां मूढधीर्वशगो भवन्।
स्वात्मज्ञानं विनैवाऽयं मिथ्यैव बहु भाषते ॥१४॥
अनादिमात्मानमखण्डविग्रहं विहाय मूढो हरिमायया चिरम्।
परिभ्रमन् वासनया हतस्तथा भगेन योनौ लभते न निर्वृतिम् ॥
१५॥३४६॥

इति साक्षिसाक्षात्कारे सवासनसिद्धानामपि संसारवर्णनं नाम द्विपञ्चाशी विवृत्तिः ॥५२॥

वञ्चकों के संग से भूलने ही के कारण जिससे आदि का नाता (सम्बन्ध) है, सो ठौर (स्थान) जीवों को भूल गया है, और चौरासी लाख योनियों के वश में पड़े हैं,और के और कहते हैं ॥३४६॥

इति सिद्धसंसार प्रकरण ॥५२॥

## साखी ३४७, ब्रह्मादि के प्रति माता का उपदेश प्र. ५३.

ब्रह्मा पूछल जननि से, कर जुरि शीश नवाय।
कौन रूप यह पुरुष है, कहु माता समुझाय ॥३४७॥

रेख रूप जिहि है नहीं, अधर धरो नहिं देह ।
गगन मण्डल के मध्य में, देखहु पुरुष विदेह ॥३४८॥

आत्मज्ञानं हि कुत्रापि लभ्यते न गुरुं विना ।
अतो ब्रह्मापि बोधार्थं मातरं पृष्टवानिमम् ॥१॥
पादयोः शिर अधाय प्राञ्जलिं प्रविधाय च ।
सर्वस्यादिस्वरूपोऽसौ किंरूपः पुरुषो मतः ॥२॥
भो मातः ! कृपया मह्यं त्वयैतदुपदिश्यताम् ।
कथ्यतां मे विविक्तोऽसौ सम्यग् येन प्रबुध्यते ॥३॥३४७॥
यस्य नास्त्याकृतिः काचिद् रूपं किञ्चिन्न विद्यते ।
अकायः पुरुषोऽसौ वै न देहं धृतवान् क्वचित् ॥४॥
अदेहमपि तं बुद्ध्या हृदाकाशस्य मण्डले ।
निरीक्षस्व विवेकेन ध्यानाभ्यासेन तत्परः ॥५॥
सच्चिद्रूपा हि माताऽसौ विद्याकायस्वरूपिणी ।
इच्छया रूपिणी जाता शिष्यानुपदिदेश सा ॥६-३४८॥

अन्य की कथा ही क्या है, ब्रह्मा आदि भी प्रथम सगादि वश उस अनादि ठौर को बिसरे थे। फिर ब्रह्माजी ने भ्राताओं के साथ कर जोरकर और शिर नवाय कर माता से पूछा कि वह सबके आदिस्वरूप पुरुष कौन रूपवाला है, सो मुझे समझाकर कहो ॥३४७॥

माता बोली कि रेख ( आकार ) और शुक्लादिरूप जिसके नहीं हैं, और अधर ( धड़रहित ) होनेके कारण, जो कभी देह नहीं धरा है। उस विदेह पुरुष को हृदयाकाश ब्रह्माण्डमण्डल के मध्य में देखो ॥३४८॥

धरिन ध्यान गगन को, लाइन वज्र किंवार ।
देखी प्रतिमा आपनी, तीनो भये निहाल ॥३४९॥

द्वारवज्रकपाटांस्ते पिधाय ध्यानतत्पराः ।
गगने गगनस्येवाऽसङ्गस्य सर्वसाक्षिणः ॥७॥
इन्द्रियाणि निरुद्ध्यासन् समाधिस्थास्तु ते तदा ।
गगने गगनाकारमसङ्गं च विदुस्तथा ॥८॥
प्रतिमासदृशं स्पष्टं ज्ञात्वा ब्रह्मादयस्तदा ।
जीवन्मुक्ता बभूवुश्च नियत्या कर्मतत्पराः ॥९॥
स्वस्वाधिकारपर्यन्तं भुक्त्वाऽऽरब्धगुणानिमे ।
विदेहमुक्तिमापन्नाः प्राप्स्यन्ते चापरे तथा ॥१०॥
अनादिमायामवधूय चाञ्जसा विकारशीलामनृतां सुबोधतः ।
भवंति मुक्ता हि समाधितत्परास्ततो बुधो ध्यानसमाधिमान् भवेत् ॥
।११-३४९॥

इति साक्षिसाक्षात्कारे ब्रह्मादीन् प्रति मातुरुपदेशवर्णनं नाम त्रिपञ्चाशी वित्तिः ॥५३॥

श्रीब्रह्माजी आदि तीनों भाइयों ने इन्द्रियों के द्वारों पर, वज्रतुल्य किंवार लगाया, मन इन्द्रिय का अच्छी तरह निरोध किया, और हृदयाकाश में आकाशवद् विभु असग आदितत्त्व का ध्यान धरा, तो उसे प्रतिमा की तरह स्वेष्ट स्वात्मस्वरूप से जानकर तीनों भाई निहाल (कृतकृत्य–जीवन्मुक्त) हो गये [ यथाऽऽदर्शे तथाऽऽत्मनि । कठ. २।६।५ ] ॥३४९॥

इति ब्रह्मादि के प्रति माता का उपदेश प्रकरण ॥५३॥

## साखी ३५०, मन आदि की एकता असंगता प्र. ५४.

अंकुर ते बीज बीज ते अंकुर, अंकुर बिजहिं सुधारै ।
काया ते कर्म कर्म ते काया, विरला जन निरुआरै ॥३५०॥

अङ्कुराज्जायते बीजं बीजाच्च पुनरङ्कुरः ।
देहात्तथैव कर्माणि कर्मभ्यश्च कलेवरम् ॥१॥
एवं संतायमानोऽसावनादिर्भवसंक्रमः ।
एतं छिन्दति ये ज्ञानाद्विरला पुरुषा हि ते ॥२॥
अनादेरपि बन्धस्य परिणामहतत्वतः ।
अविद्यामूलकत्वेन विद्यया विनिवर्तते ॥३॥
कूटस्थं न निवर्तेत ह्यनादि वस्तु यद्भवेत् ।
अनादि परिणामि स्याद्यत्तन्नश्यति वै समम् ॥४॥
यथा ब्रह्मादयो जातास्तथाऽद्यापि भवन्ति हि ।
ज्ञानिनो जनमान्याश्च ते पूज्या वै विवेकिभिः ॥५-३५०॥

जैसे अकुर ( वृक्षादि ) से बीज होता है, और बीज से अकुर होता है, और फिर वह अकुर बीज को सुधारता ( बनाता या सम्यग् धरता ) है । तैसेही काया ( देह ) से कर्म, और कर्म से काया सदा होते हैं । इस अनादि मायिक प्रवाह का निरुआर ( विच्छेद-निवृत्ति ) कोई विरला जन करते हैं ॥३५०॥

कहहिं कबिर कैसे बनै, बिनु करते की दाव ।
ई तीनों मीले नहीं, सूरति बोल सुभाव ॥३५१॥

मनसा कर्मणा वाचा ह्येकतानो भवेच्च यः ।
नचासौ लभते मुक्तिमपि जन्मशतैरपि ॥६॥
मनसा कल्पयन्त्येके वाचा केपि वदन्ति च ।
केचित् कुर्वन्ति वै देहैरेकताना भवंति न ॥७॥
कथं सिद्ध्यतु वै मोक्षोऽकुर्वतां साधनं सदा ।
कृते तु साधने मोक्षो जीवतामेव जायते ॥८॥

मनोवचःशरीराणामैक्येन मेलनं हि यत्।
तत्कर्तव्यं जनैर्नित्यं मिलन्त्येतानि नोऽविदाम् ॥९॥
नाकुर्वतां भवेन्मोक्षो न स्वर्गो न सुखं त्विह।
कुर्वतां सर्वमेवैतद्यात्र कार्या विचारणा ॥१०-३५१॥

साहब का कहना है कि इस अनादि प्रवाह की निवृत्ति के लिये *बिनु करते ( नहीं करनेवालों ) की दाव ( मुक्ति-विजय )* कैसे बनै। साधनाभ्यास करने बिना सुरति ( मनोवृत्ति ) बोल ( वचन ) स्वभाव ( दैहिक चेष्टा) ये तीनों नहीं मिलते हैं ( एक नहीं होते हैं ) और इन्हें एक होने बिना दाव नहीं बनता है, इसलिये प्रथम निष्काम शुभ कर्म भक्ति अभ्यासविचारादि अवश्य करना चाहिये॥३५१॥

ज्यों गिरि सायर मुकुर मे, भींज भार कछु नाहिं।
ऐसे सुख दुख रहित है, ज्ञानी के घट माहिं ॥३५२॥
अनुभव कूप अखण्ड जल, निगम कलस है चारि।
कहहिं कविर ता नीर के, पण्डित सब पनिहारि ॥३५३॥

यथाऽऽदर्शे गिरिश्चाब्धि र्भाति तेन भवेन्नहि।
गुरुत्वं क्लेदनं चापि ह्येवं विद्धि चिदात्मनि ॥११॥
सुखदुःखादिहीनोऽयमात्मा ज्ञहृदि वर्तते।
न द्वन्द्वैः कल्पितैश्चाऽयं स्पृश्यतेऽबोधमन्तरा ॥१२॥३५२॥
विज्ञस्यानुभवः कूपो ह्यखण्डानन्दनीरवान्।
चत्वारः कलशा वेदा जलवोढा बुधोऽखिलः ॥१३॥
सर्वस्यानुभवो यद्वा कूपो विषयगोचरः।
अखण्डं सच्चिदानन्दं जलं तत्राभिव्यज्यते ॥१४॥
चत्वारो निगमाश्चात्र घटास्तैर्हि विवेकिनः।
चोढारः सजलस्यास्य कबीरो भाषते गुरः ॥१५॥३५३॥

निष्प्रपञ्चं मुनिं दृष्ट्वा ब्रह्मभूतमकल्मषम् ।
व्यवहारपरो ब्रह्मा साश्चर्यं मन्यते पुरः ॥२१-३५५॥

हे कबीरा! (जीव!) तेरे द्वारे पर (नेत्रादिजन्य सब वृत्तियों में) सर्वात्मा रामजी प्रगट ही वर्तमान हैं। यदि तुम उनसे मिलना चाहो तो प्रथम मोहि (साधुगुरु) से मिलो। परन्तु यह निश्चय जानो कि जबतक तुम सब संसार से मिल रहे हो, तबतक मैं तुझे नहीं मिलूंगा। इसलिये प्रथम सब संग आसक्ति को त्यागो ॥३५४॥

जब संगादि छोड़कर, गुरु से मिलकर, यह जीव राम से मिलने चला, तब इन्द्रलोक में आश्चर्य हुआ (भोगासक्त देव आश्चर्य में मग्न हुए) प्रपञ्चपरायण ब्रह्माजी निष्प्रपञ्च जीव को देखकर भारी विचार में लगे (उसे अपने से भाग्यशील समझा) और सर्वत्र कहर (गंभीर) कौतुक हो गया ॥३५५॥

त्यागी त्यागी सब कहै, और त्याग सब थोर ।
त्यागी तबही जानिये, त्यागै घट का चोर ॥३५६॥

त्यागचर्चाऽत्र लोकेषु सर्वत्र वर्तते ह्यलम् ।
त्यागेन धनपुत्रादेस्त्यागित्वं मन्यते तथा ॥२२॥
त्यागवन्तं च सर्वेऽन्यं वदन्त्यात्मानमेव वा ।
अन्यत्यागोऽल्प एवात्र दुराशात्यागमन्तरा ॥२३॥
कामतृष्णादिचौराणां तिष्ठतामंतरे तु यः ।
कुरुते सर्वथा त्यागं स त्यागी परमो मतः ॥२४॥
सैव सद्गुरुभिः सार्द्धं मिलति त्यागवान्नरः ।
आशाद्यभिहताश्चान्ये संगन्तुं शक्नुवंति नो ॥२५॥

अभ्यासविचारादि करने पर दाव बनने से तो जैसे दर्पण में पर्वत समुद्रादि की प्रतीति होने पर भी उसमें भींजना वा भार ( बोझ ) कुछ विकार नहीं होता, तैसेही मिथ्या संसार की बाहर प्रतीति होने पर भी ज्ञानी के घट ( देह ) में आत्मा असङ्ग सुखदुःखरहित सुखरूप ही रहता है ॥३५२॥

ज्ञानी का अनुभव कूप है, उसमें अखण्डानन्दात्मा जल है, चार बेद कलश ( घड़ा ) हैं, और विवेकी पण्डित सब उसी नीर के पनिहारि ( प्राप्त करनेवाले ) हैं। अथवा सबही के अनुभव ( ज्ञानवृत्ति ) कूप है [ प्रतिबोधं विदित मतममृतत्वं हि विन्दते। केनो. २।४ ] ॥३५३॥

*द्वारे तेरे रामजी, मिलहु कबीरा मोहि ।*
तैं तो सबमें मिलि रहा, मैं न मिलूंगा तोहि ॥३५४॥
इन्द्रलोक अचरज भया, ब्रह्मा बड़ा विचार ।
कबीरा चला राम पै, कौतुक कहर अपार ॥३५५॥

तव द्वारि हि रामोस्ति मया त्वं मिल जीव हे ।
सर्वैस्त्वं मिलितो यावत्तावन्नाहं मिलामि तु ॥१६॥
ब्रह्मानन्दो हि सर्वस्य हृदि द्वारेषु वर्तते ।
विदितः प्रतिबोधं च लक्ष्यते न गुरुं विना ॥१७॥
आसक्तिसङ्गयोस्त्यागमन्तरा गुरवोऽपि न ।
प्राप्यन्ते न भवेत्क्षेमस्तस्मात्संगादिकं त्यज ॥१८-३५४॥
यदा संगादिकं त्यक्त्वा मिलित्वा गुरुभिः सह ।
आप्तकामेन रामेण स्वात्मारामेण वै बुधः ॥१९॥
यतते संगमायाऽत्र तदा देवेषु कौतुकम् ।
जायते मघवाऽप्यत्र साश्चर्यं मन्यते बहु ॥२०॥

निष्प्रपञ्चं मुनिं दृष्ट्वा ब्रह्मभूतमकल्मषम्।
व्यवहारपरो ब्रह्मा साश्चर्यं मन्यते पुरु ॥२१-३५५॥

हे कबीरा! (जीव!) तेरे द्वारे पर (नेत्रादिजन्य सब वृत्तियों में) सर्वात्मा रामजी प्रगट ही वर्तमान हैं। यदि तुम उनसे मिलना चाहो तो प्रथम मोहि (साधुगुरु) से मिलो। परन्तु यह निश्चय जानो कि *जबतक तुम सब संसार से मिल रहे हो, तबतक मैं तुझे नहीं मिलूंगा।* इसलिये प्रथम सब संग आसक्ति को त्यागो ॥३५४॥

जब संगादि छोड़कर, गुरु से मिलकर, यह जीव राम से मिलने चला, तब इन्द्रलोक में आश्चर्य हुआ (भोगासक्त देव आश्चर्य में मग्न हुए) प्रपञ्चपरायण ब्रह्माजी निष्प्रपञ्च जीव को देखकर भारी विचार में लगे (उसे अपने से भाग्यशील समझा) और सर्वत्र कहर (गभीर) कौतुक हो गया ॥३५५॥

त्यागी त्यागी सब कहैं, और त्याग सब थोर।
त्यागी तबही जानियें, त्यागै घट का चोर ॥३५६॥

त्यागचर्चाऽत्र लोकेषु सर्वत्र वर्तते ह्यलम्।
त्यागेन धनपुत्रादेस्त्यागित्वं मन्यते तथा ॥२२॥
त्यागवन्तं च सर्वेऽन्यं यदन्त्यात्मानमेव वा।
अन्यत्यागोऽल्प एवात्र दुराशात्यागमन्तरा ॥२३॥
कामतृष्णादिचौराणां तिष्ठतामंतरे तु यः।
कुरुते सर्वथा त्यागं स त्यागी परमो मतः ॥२४॥
सैव सद्गुरुभिः सार्द्धं मिलति त्यागवाद्वरः।
आशाद्यभिहताश्चान्ये संगन्तुं शक्नुवंति नो ॥२५॥

अन्तःस्थपाटच्चरहानवाग्नरः सद्यो मिलित्वा गुरुभिर्विचारतः ।
ध्यानैश्च लब्ध्वा निधिराममव्ययं द्वन्द्वैर्विमुक्तो हृदि मोदते भृशम्
॥२६॥३५६॥

इति साक्षिसाक्षात्कारे मनःकर्मवचसामैक्यतानेऽसङ्गात्मप्राप्त्यादिवर्णन नाम चतुष्पञ्चाशी वित्तिः ॥५४॥

बाहरी वस्तुओं के त्याग से ही लोग त्यागी २ कहते हैं, परन्तु अन्य सब त्याग थोर ( तुच्छ ) हैं, सद्गुरु से मिलने योग्य सच्चा त्याग तबही जानना चाहिये कि जब आशातृष्णा कामादिरूप घट के चो सब त्याग दिये जायं ॥३५६॥

इति मन आदि की एकताप्रसंगता प्रकरण ॥५४॥

## साखी ३५७, दुराशानिवृत्ति का उपदेश प्र. ५५.

बाट चढन्ती बेलरी, अरुझी आशा फन्द ।
टूटे पर छूटै नहीं, भया जो वाचा बन्द ॥३५७॥

गच्छन्ती ब्रतति र्बुद्धिर्लोकादौ कर्मवर्त्मभिः ।
आशाप्रतानबद्धत्वात्तं मुञ्चति न कर्हिचित् ॥१॥
असद्रागादियद्धत्वान्नितरां साऽवशा सती ।
निष्फलस्त्वाशया व्याप्ता तां नाशयितुमक्षमा ॥२॥
आशया बद्धबुद्धिश्च बञ्चकैर्मिलति स्वयम् ।
न जातु गुरुभिश्चैव नैति चातो निराशताम् ॥३॥
आशा शुष्यति नित्यं सा मुच्यते न कदाचन ।
सारशब्दं परं ज्ञानं गुरोः पादाश्रयं विना ॥४॥३५

जैसे अपने मार्ग से वृक्षादि पर चढती हुई वेलि ( लता ) के प्रतान तन्तु डालियों में अरुझती जाती है, सो टूटती है, परन्तु छोड़ाने से शीघ्र छूटती नहीं है। तैसे ही कर्मादि मार्ग से ससार लोक वृक्ष पर चढती हुई बुद्धि वेलरी के आशारूप फन्द ( फास-प्रतान ) लोकादि में अरुझी है, सो निष्फल होती है, परन्तु समूल नष्ट नहीं होती, और इसके नष्ट न होने में यह भी कारण है कि वञ्चक गुरु आदि के साथ वाचाबन्द ( कौल-करार-प्रतिज्ञा ) हुआ है ॥३५७॥

गुरु गुरुअन मे भेद है, गुरु गुरुअन मे भाव।
गुरू सदा सोइ वन्दिये, शब्द चिन्हावै दाव ॥३५८॥

सद्गुरौ कुगुरौ चैव विद्यते महदन्तरम्।
भावश्च वर्तते भिन्नो बन्धदो मोक्षदस्तथा ॥५॥
अतो विवेकतो बुद्ध्वा सद्गुरोर्वन्दनं कुरु।
सदा यद्वन्दनादत्र सारशब्दो हि लभ्यते ॥६॥
सारशब्दो हि स ज्ञेयः सर्गवारिधिलङ्घने।
उपायो लभ्यते येन यस्माच्च न पुनर्भवः ॥७॥
सविरक्तो गुरुर्ज्ञेयः सारशब्दप्रदर्शकः।
धारणाज्ञानसंयुक्तोऽहेतुः सर्वप्रियोऽपि यः ॥८-३५८॥

सद्गुरु का कहना है कि गुरु और गुरुअन (सद्गुरु-वञ्चक गुरु) में बहुत भेद है, इससे इनके भाव ( तात्पर्य ) में भी भेद रहता है। या इनके भाव भक्ति में भेद करना चाहिये, और उस सद्गुरु की सदा वन्दना करना चाहिये, जो सारशब्द द्वारा ससार से तरने का दाव ( उपाय ) लखावें, या सारशब्दरूप दाव चिन्हावें ॥३५८॥

सारो जो जन वेधिया, निर्गुण सो गुण नाहिं ।
लागेउ चोट शब्द का, करक करेजे माहिं ॥३५९॥

सारशब्दोऽविशद्यस्मिञ्जने सो निर्गुणोऽभवत् ।
नाऽसौ गुणमयो भूयो भवति क्वापि मोहतः ॥९॥
निर्गुणं हि परं ब्रह्म सर्वं व्याप्याभिवर्तते ।
तस्य ज्ञानाद् गुणांस्त्यक्त्वा निर्भरानन्दभाग् भवेत् ॥१०॥
स्वान्ते यस्य हि संलग्न आघातः सारशब्दतः ।
स हि दुःखमयं सर्वं संसारं वेत्ति मूर्तितः ॥११॥
नित्यं स्फुरति शब्दोऽसौ हृदि तस्य मनस्विनः ।
स्फोरयन् निजतत्त्वं तत्तत्राऽसौ रमते बुधः ॥१२॥
यच्चित्ते सारशब्दो हि प्राप्यते गुरुणेरितः ।
तस्य मर्मसु शब्दोऽसौ बाणवद्विध्यति ध्रुवम् ॥१३॥
तस्माद्विस्मृत्य विश्वं स परं ब्रह्म स्मरत्यलम् ।
कीटो भृङ्गत्ववच्चाऽयं निर्गुणत्वं प्रपद्यते ॥१४॥
हृदयं यस्य संविद्धमज्ञोदितवचोमयैः ।
शल्यैः स पीड्यते तैश्च हृद्येव दारितस्ततः ॥१५॥३५९॥

जो जन ( जिन जनों ) में सद्गुरु के सारो ( सार ) शब्द वेध गया, सो निर्गुण ( नित्यमुक्त ब्रह्म ) हो गये, त्रिगुण फन्द में गुण अभिमानी नहीं रहे। क्योंकि जिन्हें सारशब्द का चोट लगा, उनके कलेजे में सदा वही करकता ( चुभता ) रहता है, देहादि गुण का होश रहने नहीं देता ॥

( सारो योजन ) इस पाठपक्ष में [ योजनं परमात्मनि चतुष्कोश्य च योगे च ] इस कोश के अनुसार अर्थ है कि, परमात्मा सारे संसा

में व्यापक है, और वह निर्गुण है इत्यादि। परन्तु जिसे असारशब्द का चोट लगा है, सो उसीसे व्याकुल रहता है, परमात्मात्मा को नहीं समझता ॥३५९॥

सारा बहुत पुकारिया, पीव पुकारै और।
लागेउ चोट शब्द का, रहा कबीरा ठौर ॥३६०॥
शब्द कहै सो कीजिये, गुरुआ बडे लबार।
अपने अपने लोभ के, ठाम ठाम बटवार ॥३६१॥

गुरुभिः सारशब्दस्योपदेशो बहुधा कृतः।
आत्मतत्त्वस्य बोधाय तथापि स्वाविवेकतः ॥१६॥
अनात्मानं पतिं मत्वा ह्याह्वयंति तमादरात्।
आत्मानं नैव मन्यन्ते सच्चिदानन्दमद्वयम् ॥१७॥
अज्ञैर्वा बहवः साराः कथ्यन्ते च पतिः परः।
गुरुशब्देन विद्धस्तु शिष्यः स्वात्मनि तिष्ठति ॥१८-३६०॥
गुरूणां सारशब्दो हि यथा वक्ति विशुद्धये।
तथैव क्रियतां धीर! धूर्तभाषा न कर्ण्यताम् ॥१९॥
स्वंस्वमर्थमपेक्षन्ते लोभेरभिहता हि ते।
कुर्वते सर्वमार्गेषु वञ्चकत्वं च वस्तुषु ॥२०॥
मिथ्याप्रभाषिणस्ते हि कृत्वा बहुविकल्पनाम्।
सर्वस्थानेषु कुर्वन्ति जीवानां हि कदर्थनाम् ॥२१-३६१॥

सद्गुरु का कहना है कि मैं निर्गुण सारवस्तु का ही बहुत प्रकार से पुकार २ के उपदेश दिया है, जिसको और लोग पीव (स्वामीश्वर) कहकर पुकारते हैं, उसीको मैं साक्षी आत्मा कहा है। और इस सारशब्द का चोट जिसको लगा, सो कबीरा (जीव) सत्य ठौर में स्थिर

रहा ॥ या और ( अन्य ) गुरुलोग बहुत वस्तु को सारा ( सत्य ) कहते हैं, और पीन कहकर पुकारते हैं इत्यादि ॥३६०॥

सारशब्द जैसे कहै, सो करो, और गुरुआ लोग बड़े लबार ( झूठे ) हैं, अपनेर लोभ के मारे जगहर पर बटवारी ( वञ्चकता ) करते हैं। उनके जाल से बचो ॥३६१॥

बरिया बीते बल घटे, केश पलटि भौ और ।
बिगरा काज समार ले, कर छूटे नहिं ठौर ॥३६२॥

सामर्थ्यं विगतं सर्वं देहशक्तिश्च हीयते ।
केशेषु पलितत्वं ते वैपरीत्यं च दृश्यते ॥२२॥
इदानीमपि नष्टं स्वं कार्यं साधो सुसाधय ।
करावलम्बविश्लेषे स्थानं क्वापि न लभ्यते ॥२३॥
मध्ये वयस्यतो नष्टे वृद्धत्वे समुपस्थिते ।
यथाशक्ति विचारेण विगुणार्थं सुसेधय ॥२४॥
अत्र चेन्मानवे देहे कार्यं न सेधयिष्यसि ।
तर्हि ते नहि कुत्रापि स्थितेर्लाभो भविष्यति ॥२५॥
यो मानवं देहमवाप्य दुर्लभमाशानिबद्धो नहि वेत्ति चिद्धनम् ।
वृद्धे शरीरेऽपि स चात्महा नरो लोभाद् व्रजन् संसृतिमेव दीयते ।
२६–३६२॥

'इति साक्षिसाक्षात्कारे दुराशानिवृत्त्यर्थोपदेशवर्णनं नाम पञ्चपञ्चाशी त्तिः ॥५५॥

बरिआई (बलीपन) बीत गई। और इन्द्रियादि के बल (सामर्थ्य) घट गये, काले केश पलट कर और ( श्वेत ) हो गये । अबही भी

बिगड़े हुए कार्यों को सारशब्द के श्रवणादि से समार ( सुधार ) लो। नहीं तो इस देह के छूटने पर कहीं ठौर नहीं मिलेगा, जैसे तालवृक्षादि पर से हाथ छूटने पर कहीं ठिकाना नहीं मिलता ॥३६२॥

इति दुराशानिवृत्ति का उपदेश प्रकरण ॥५५॥

## साखी ३६३, कर्तव्यशीघ्रतादि प्र. ५६.

काल्ह करण ते आजु कर, आजु करण ते अब ।
पल में परलय होयगा, बहुरि करेगा कब ॥३६३॥
टाला टोली दिन गया, व्याज बढन्ता जाय ।
न हरि भजये न खत फटे, काल पहुंचा आय ॥३६४॥

अमूल्योऽवसरो याति कालक्षेपो न युज्यते ।
अतः श्वः करणीयानि ह्यद्यैव कुरु मा चिरम् ॥१॥
अद्य कार्यमिदानीं च कुरुष्व विधिपूर्वकम् ।
क्षणाद्धि प्रलये जाते पुनस्त्वं किं करिष्यसि ॥२॥
" श्वः कार्यमद्य कुर्वीत पूर्वाह्णे चापराह्णिकम् ।
नहि प्रतीक्षते मृत्युः कृतमस्य न चाऽकृतम्" ॥३-३६३॥
श्वः परश्वः करिष्येऽहं भक्तिं चेति प्रजल्पतः ।
अत्यगाद् बहुकालोऽयं नष्टा कर्मलिपिर्न च ॥४॥
श्वः परश्वः प्रदास्येऽहमृणमेवं प्रजल्पतः ।
कालं यापयतः कालो यातो वृद्धिश्च वर्द्धते ॥५॥
कुरुते न नरो यावद्धरेः सर्वात्मनो हृदि ।
भक्तिं वै वर्त्तते तावदृणं कर्म ससर्वितम ॥६॥

कुसीदकर्मवृद्धौ च कर्मलिप्यां स्थितौ तथा ।
महाकालोऽयमागत्य न जाने कुत्र नेष्यति ॥७॥
अनादिरोगशान्त्यर्थं गत्वा सद्गुरुसन्निधौ ।
अनामयाय नार्यं तु पृच्छति स्वादरं जनः ॥८-३६४॥

जो काल्ह करना है ते ( उसे ) आज करो, आज करना हो सो अबही करो। नहीं तो पलभर में प्रलय ( देहान्त ) होने पर फिर कब करोगे। अर्थात् बिगड़ा कार्य को अति शीघ्र सुधारो, उसमें टालमटोल नहीं करो ॥३६३॥

टालमटोल ( कल्ह परले दिन ) करते में बहुत दिन बीत गये, और ब्याज ( सूद ) की तरह आगामी कर्मवासनादि बढते ही जाते हैं। सर्वात्मा हरि को भजने बिना कर्मपत्र अविद्यादि नहीं नष्ट हुए, इससे काल भी आ पहुचा ॥३६४॥

कबिर बैद्य बोलाइया, पकरि दिखाई बाहिं ।
बेदन बैद्य न जानई, कफ्फ कलेजे माहिं ॥३६५॥
रामनाम जान्यो नहीं, लागी मोटी खोरि ।
काया हाँड़ी काठकी, ना वह चढ़ै बहोरि ॥३६६॥

योऽन्तराधिं न जानाति श्लेष्माणं वा हृदि स्थितम् ।
भिषजं तं समाहूय ग्राहयित्वा करं तथा ॥९॥
मूढो गुरूनपृष्ट्वैव पृच्छति यदि तं हितम् ।
चिन्तयति स्वयं चेतसि किं करोतु तथापि सः ॥१०॥
मोहाद्गुरूनपृष्ट्वैव वञ्चकं यदि पृच्छति ।
संसारे सारबुद्ध्या स म्रियते हृद्रुजा मुहुः ॥११॥

यो हृद्रोगं न जानाति तमोग्रस्तं हि तं नरम्।
पृच्छत्याहूय मन्दश्चेत् किं करोतु स मन्दधीः ॥१२-३६५॥
आत्मरामं न चेद्वेत्ति रामनामामृताक्षरम्।
महादोषस्ततो मोदोऽलगत्कामादिकस्तथा ॥१३॥
आत्मरामं न चेद्वेत्ति सुगुरोः सद्गमन्तग।
महादोषस्य मोहस्य भागी भवति स स्वयम् ॥१४॥
काष्ठस्थालीसमो देहस्तापाच्छीघ्रं विनश्यति।
जीवः कर्मवशे प्राप्तस्तप्यते सर्वयोनिषु ॥१५-३६६॥

जो वैद्य ( गुरु ) कलेजे में ( भीतर ) वर्तमान अविद्यादि रूप और तज्जन्य वेदन ( पीड़ा, या मारशब्दरूप चेदी ) को स्वयं नहीं जानता, उसको बोलाकर, और अपना बाँह ( हाथ ) उससे पकड़वाकर मनुष्यों ने देखाया ॥३६५॥

इससे जिसका रामनाम है उस सर्वात्मा हरि को लोग नहीं जान सके, और रागद्वेष मोहरूप मोटी ( भारी ) खोरि ( दोष ) लग गये। और यह देह तो काठ की हाड़ी की तरह किसी पकड़ी ताप से नष्ट हो जाता है, फिर काम का नहीं रहता ॥३६६॥

जानै सो पूछै नहीं, पूछि करै नहिं गौन।
अन्धे को अन्धा मिला, पन्थ बतावै कौन ॥३६७॥
एक शब्द में सब कहा, सबहीं अर्थ विचार।
भजिये निर्गुण राम को, तजिये विषय विकार ॥३६८॥

तापेष्युपस्थिते लोको ह्रां पृष्ट्वा नैति सत्पथे।
अन्धो मिलति चेदन्धं मार्गं को दर्शयिष्यति ॥१६॥

प्राज्ञं पृच्छति नो मूढः पृष्ट्वा गच्छति नो पथि ।
व्यध्वे गच्छति चेदन्धैः कथं नात्र पतिष्यति ॥१७-३६७॥
विकारान् विषयांस्त्यक्त्वा भजस्व निर्गुणं हरिम् ।
रामनामानमित्येवं गुरुराहैकवाक्यतः ॥१८॥
सर्वार्थो वर्तते चात्र विचारः परमस्तथा ।
अनेनैवोपदेशेन नरः कुर्वस्तरेद् भवम् ॥१९॥
भजनं चिन्तनं तस्य ध्यानं श्रवणमादरात् ।
सत्सङ्गश्च सदाचारः साधुसेवा यथोचिता ॥२०॥
कामक्रोधादिकं हिंसां त्यक्त्वा दम्भादिकं तथा ।
दीने दयादिकं सर्वं मोक्षसाधनमुत्तमम् ॥२१-३६८॥

कुमार्ग में रत होता हुआ भी यह जीव, मोहादि वश, जाननेवाला ज्ञानी से सुमार्ग नहीं पूछता है, दैवयोग से पूछने पर भी उस मार्ग से गमन नहीं करता, किन्तु एक अन्धा ( अज्ञ ) दूसरा अन्धा से मिलता है, तो स्वर्गापवर्ग के मार्ग कौन किसको बतावे ॥३६७॥

अज्ञ गुरुओं ने तो मार्ग का बहुत विस्तार किया है, जिसमें भूल भटक की सम्भावना है, परन्तु सद्गुरु ने तो एक शब्द ही में सबके अर्थ ( प्रयोजन ) को विचारकर सब कुछ कह दिया है कि नामादि द्वारा निर्गुण राम को भजो, और विषय तथा कामादि विकारों को त्यागो। ( आपा तजै हरि भजै, नखशिख तजै विकार। जीवन ते निर्वैरता, सन्तमता है सार ) ॥३६८॥

कबीर माया मोहिनी, भई अँधेरी लोय ।
जे सूता तिहि मूसिया, रहे वस्तु को रोय ॥३६९॥

* मायैषा मोहिनी शश्वदकुर्वन् मोहमाप्नुवन्।
तयाऽपहृतसर्वस्वो मोहान्धो रोदिति ध्रुवम् ॥२२॥
अविद्यारजनीसुप्तो मोहस्वप्नयुतो नरः।
तमःकामसमाच्छन्नो न सत्यं वेत्ति वै स्थितम् ॥२३॥
ततस्तदर्थमप्येष नष्टं मत्वा प्ररोदिति।
स्वप्नवच्चैव सर्वत्र विपरीतं स पश्यति ॥२४॥
विपरीतकरी माया नश्यत्येषा विवेकिषु।
मोहान्धकारसम्बन्धः पुनस्तत्र न जायते ॥२५-३६९॥

विवेकादि रहित जीवों को माया मोहनेवाली है, जिससे लोक में
री (अविद्या) भई (छा रही) है, जो लोग मोह से सोये हैं,
के निर्गुणस्वरूप वस्तु को वह मूसा~ (छिपाया) है। तिससे रहे
र्तमान) वस्तु के लिये भी सब रोते हैं। या सत्यात्मा के छिपने
तुच्छ वस्तुओं के लिये रो रहे हैं ॥३६९॥

पहिले दही जमाइया, पीछे दुहिया गाय।
बछवा वाके पेट में, गोरस हाट बिकाय ॥३७०॥

सर्वस्य हृदये माया विकारमदधाद्दधि।
ततो रागादिकं दुग्धं तया प्रकटितं तथा ॥२६॥

---

* आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं दृश्यते श्रूयते च यत्। सैषा प्रकृतिरित्युक्ता
मायेति कीर्तिता॥ अध्यात्मरा. २।६।५०॥ योषिद्रूपा च मायैषा
॥ मोहकारिणी। लीलया कुरुते मोहं स्वात्मरामस्य सततम्॥
बीजं सुखं मत्वा मूढाश्च दैवदोषतः। परस्त्रीसेवनं प्रीत्या कुर्वन्ति
मुदा॥ विपत्तिः सततं तस्य परवस्तुषु यन्मनः। विशेषतः परस्त्रीषु
षु च भूमिषु। ब्रह्मवैवर्तपु. कृ. अ. ३५॥

समुद्भवे च रागादेर्निमित्तः सर्वसम्भवः ।
सर्वात्मा हरिरव्यक्त ह्यन्तरेवाविशत्स्वयम् ॥२७॥
मायायां गवि चावृत्या शक्त्या संछादिते हरौ ।
तस्या विकाररूपोऽयं रसो वै क्रीयते जनैः ॥२८॥
यावन्न चात्मा परिदृश्यते स्वयं बुद्धः सदानन्दनिरञ्जनो हृदि ।
तावद्धि मायाऽतिविमोहकारिणी देयं च संवार्य विकारहारिणी॥
२९-३७०॥

इति साक्षिसाक्षात्कारे कर्तव्यशीघ्रतादिवर्णनं नाम षट्पञ्चाशी वित्तिः ॥५६॥

उक्त माया ने सबके हृदयों में प्रथम भूतभौतिक कार्यरूप दधि जमाया ( इनमें सत्यात्मत्वादि बुद्धि कराया ) है। फिर सुखदुःख मोहरूप, या रागद्वेष मोहरूप दूध अविद्यान्तःकरणादिरूप गाय से दूहा ( प्रगट किया ) है। तब उस दूध के निमित्त कारणरूप सर्वात्मा हरि बछवा, उस माया वा उस गौ के पेट ( अन्तर ) में छिप गया ( गर्भगत वत्स की तरह अलक्ष्य हो गया ) इससे संसारहाट में इन्द्रियों के विषयजन्य मिथ्या आनन्द ही बिरते ( मिलते ) हैं इत्यादि ॥३७०॥

इति कर्तव्य शीघ्रतादि प्रकरण ॥५६॥

## साखी ३७१, अदृश्य सर्वाधार साक्षिस्वरूप प्र. ५७.

देखी तो सब कहत हैं, अनदेखी नहिं कोय ।
अनदेखी तो सो कहै, भीतर पैठा होय ॥३७१॥
चिड़िया तो तिल भर नहीं, डैना है नव हाथ ।
भरि भरि मांस परोसई, खलरि अठारह हाथ ३७२॥

हरौ हि माययाच्छन्ने दृश्यं सर्वे वदन्ति च ।
नादृश्यं साक्षिणं नित्यं विवेकादि विना नराः ॥१॥

विवेकेन तु मायायां प्रविष्टो वै हरिं वदेत्।
एकं सत्यं चिदानन्दं पश्येदन्यं मृषात्मकम् ॥२-३७१॥
माया पक्षिमहासूक्ष्मा तिलमात्रा न मानतः।
प्राणान्तःकरणैः पक्षै भूतेन्द्रियगुणत्वचा ॥३॥
युक्ता सैव च कामिभ्य एनैर्विषयमांसकम्।
ददाति नैव सत्त्वं दातुमर्हति सा स्वयम् ॥४-३७२॥

उक्त गौ के अन्दर सर्वात्मा हरि के छिपे रहने से दृश्य मिथ्या वस्तु का ही कथनादि सब लोग करते हैं। अनदेखी (अदृश्य) साक्षी की चर्चा नहीं करते, उस अदृश्य की चर्चा कोई पुरुष कर सकता है कि जो उस गौ और दृश्य वर्ग के भीतर विवेकदृष्टि से पैठ गया हो ॥३७१॥

माया जीवरूप चिड़िया ( पक्षी ) कल्पित या अतिसूक्ष्म होने से तिल भर भी नहीं है, परन्तु पाच प्राण चार अन्तःकरणरूप नौ हाथ के डैना (पांख) हैं। और पाचभूत दशेन्द्रिय तीन गुणरूप अठारह हाथ के खाल ( त्वचा ) हैं। और इनमें भर २ कर विषयरूप मांस परोसता ( प्राप्त करता कराता) है, इससे जीव भीतर नहीं पैठने पाते हैं, इत्यादि ॥३७२॥

चींटी निकलि बजार में, नव मन कज्जल लाय।
हाथी लिहिस गोद में, ऊंट लिहिस लटकाय ॥३७३॥
तीन लोक लीटी भया, गीध लिये मड़राय।
मैं तोहि पूछौं पण्डिता, कौन वृक्ष चढि खाय ॥३७४॥

पिपीलिका मनोमाया सूक्ष्मा कुश्रवणादिजम्।
कज्जलं नवधा पापं नवधैव जगत्तथा ॥५॥
लोकादिद्वीपमादाय देवादं च क्रमेलकम्।
अङ्के कृत्वाऽत्र हट्टे सा व्यवहारं करोति वै ॥६॥

व्यवहारवती सैव सत्यात्मा निर्गुणोऽक्रियः ।
इति योऽभिजानाति स भूयो नेह जायते ॥७ ३७३॥
लोकत्रयमिदं जातं लघुमार्जपिसन्निभम् ।
मनोमायामयो गृध्रो गृहीत्वा भ्राम्यतीव तत् ॥८॥
तस्मिन् विचार्यतां विद्वन् कुत्र स्थित्वा तदत्ति स. ।
तदधिष्ठानविज्ञानाज्जीवन्मुक्तो भविष्यसि ॥९॥
कुक्करपट्टिका सूक्ष्मा यथैवं हि जगत्त्रयम् ।
मायामयं चलं शश्वदसत्यं क्षणभंगुरम् ॥१०॥
विभुरात्माऽचलं ब्रह्म सर्वाधिष्ठानमद्वयम् ।
स वृक्षो न ततोऽन्यत्तज्ज्ञात्वैवेदं विमुच्यते ॥११-३७४॥

मनोमायारूप चींटी लोकादि बाजार में नवधा ससार वा पापरूप काजर लादकर निकली है। ब्रह्मा ब्रह्माण्डरूप हाथी को, विराट् देवादिरूप ऊंट को गोद ( बगल ) में लिये लटकाई फिरती है। अर्थात् परम सूक्ष्म तुच्छ होते भी आत्मसत्ता से सब काम वही करती है ॥३७३॥

उपदेश देकर अन्त में अवश्य परीक्षा लेनी चाहिये, इस आशय से सद्गुरु का प्रश्न है कि हे पण्डितो ! तीन लोक एक लीटी ( छोटी रोटी ) बना है, उसे लेकर मनरूप गीध घूम रहा है, मैं पूछता हू कि किस वृक्ष पर चढकर वह लीटी को खाता है ( लीन करता वा भोगता है ) ॥३७४॥

आँगन बेलि अकाश फल, अन ब्यानी के दूध ।
शशा सींग के धनुष करि, खेले बाझक पूत ॥३७५॥

इति सद्गुरुकबीरकृते बधबीजविध्वसने बीजकनाम्नि ग्रन्थे साखि स्वरूपप्रदर्शक नामैकादश प्रकरण समाप्तम् ।

हृदये सर्गाजिरे चैषा माया वेल्ल्यवलम्बिता ।
फलत्येषा चिदाकाशे तस्य सत्ताप्रकाशतः ॥१२॥
सत्तया भासमानं च चित्सत्त्वेन जगत् खलु ।
वस्तुतोऽधेनुदुग्धेन तुल्यं चेदमसत्सदा ॥१३॥
अहो तथापि वंध्याया मायायास्तनुजा इमे ।
शशशृङ्गसमं शास्त्रं कर्मादिकमसन्मयम् ॥१४॥
धनुर्विधाय तेनैव क्रीडन्ति भुवने वने ।
त्रिवर्गं प्राप्नुवन्त्यत्र नापवर्गं गुरुं विना ॥१५॥
सर्वाधारमधिष्ठानं सत्यमानन्दविग्रहम् ।
निर्द्वन्द्वं हि हरिं ज्ञात्वा साक्षिवद्विज्वरोस्म्यहम् ॥१६॥
सर्वाधारं परं शुद्धं निर्द्वन्द्वमव्ययं हरिम् ।
साक्षिरूपं तमात्मानं ज्ञात्वैव विज्वरो भवेत् ॥१७॥
गुरोः करुणयाऽऽत्मत्वं ब्रह्मत्वं साक्षिता स्वयम् ।
जीवस्य हि यतस्तस्माद्वन्दे तं करुणानिधिम् ॥१८॥

गुरुवरं हृदयङ्गमरूपिणं हृदयभावधुरं सुमनोहरम् ।
भवहरं विजरं नयशालिनं परतरं जगतः प्रणमाम्यहम् ॥१९॥
गुरुवचोऽमृतपानपरं मनो भजति सान्द्ररसं हि यतस्ततः ।
प्रचुरबोधकरं तमसः परं परतरं जगतो गुरुमाश्रये ॥२०॥
कविम्नामयुतं सुकलेवरं निगिलनामपरं स्वमनोगतम् ।
कविवरं करुणाकरमादरात् परतरं जगतः प्रणमाम्यहम् ॥२१॥
कलिमलापहरं हरिरूपिणं हरसखं विमलं गुणवर्जितम् ।
विधिविधानपरं विधिरूपिणं विरजसं रजसः खलु साक्षिणम् ॥२२॥
श्रुतिशिरःप्रतिपादितमव्ययं हरिमिमं सदमायिनमक्षयम् ।
जयकरं विमलं जयशालिनं विजयिनं जगतः प्रणमाम्यहम् ॥२३॥

हनुमतो हृदि तापहरं विधुं सकलविघ्नहरं तु विनायकम् ।
तिमिरराशिहरं हरिरूपिणं परतरं जगतः प्रणमाम्यहम् ॥२४-३७५॥

इति साक्षिसाक्षात्कारेऽहृदयसर्वाधारसाक्षिस्वरूपवर्णनं नाम सप्तपञ्चाशी विवृत्तिः ॥५७॥ समाप्तोऽयं साक्षिसाक्षात्कारः ॥

"मन माया दुइ एक है, माया मनहिं समाय ।" इस पूर्वोक्त उपदेश के अनुसार शिष्य कहता है कि हृदय वा संसाररूप आँगन (अजिर) में माया वा देहरूप बेली लगी है। उसके अर्थ धर्म काम रूप वा सुखदुःखरूप फल चिदाकाश में प्रतीत होते हैं। सो फल अनब्यानी (वध्या) गौ का दूध के तुल्य कल्पित हैं। तौभी वध्यातुल्य माया के पुत्रतुल्य जीव सब शशशृङ्गतुल्य शास्त्रादि के धनुष बनाकर उन्हीं फलों के लिये शिकार खेल रहे हैं (*अर्थात् चिदाकाश में रहकर उक्त गीध लीटी खाता है।* और वास्तव में भक्ष्यभक्षकादिभाव नहीं है, मायामात्र संसार है) इत्यादि ॥३७५॥

इति अहृदय सर्वाधार साक्षिस्वरूप प्रकरण ॥५७॥

सकल जनों के हित लिये, हिन्दी टीका सार ।
करिया यह हनुमान ने, श्रीगुरु पद उर धार ॥१॥
न्यूनाधिक सब जोरि करि, पढ़िये सुजन सुधार ।
पाइय परमस्वरूप शुभ, जाइय भव दुख पार ॥२॥
साहब हैं सब ठौर में, सबके हृदया माहिं ।
मिलना तो अति सुगम है, जन खोजि है नाहिं ॥३॥
खोजी को सहजे मिलैं, जो जन होय निराश ।
हरि गुरु हैं आगे खड़े, सकल सिद्धि लै पास ॥४॥

इति एकादश साखी प्रकरण संपूर्ण ॥

श्रीमद्गुरुचरणकमलेभ्यो नमः।

—ः सद्गुरुः—

# कबीर साहेब कृत बीजक।

[ स्वानुभूतिसंस्कृतव्याख्यासहित ]

## अथ द्वादश परिशिष्ट साखी प्रकरण।

वन्दे भवाम्भोधिपरं विशुद्धं वेद्यं सदानन्दघनं हृदिस्थम्।
चिदम्बरं साम्बरविश्वनाग्नं त्रासो यतो नैव भवेन्न नाशः ॥१॥

### प्रथमा विप्तिः।

साखि पुरन्दर ढहि परे, विवि अक्षर युग चार।
रसना रम्भण होत है, करि न सकै निरुआर ॥१॥
केते मनवाँ पावँ परि, केते मनवाँ रोय।
हिन्दू पूजै देवता, तुरुक न काहुक होय ॥२॥

साक्षिरूपाद्धि विभ्रष्टो जीव इन्द्रोऽक्षरद्वयम्।
वेत्ति तस्य रसनायास्तदेवारभ्यते मुहुः ॥१॥
साक्षीन्द्रात्पतितो जीवो नामधेयं जपन्तु वा।
भवाब्धौ वर्तते नैव विवेकोऽस्त्यस्य तावता ॥२॥

यावन्नार्यं विचारादि कुरुते सावधानतः ।
नाममात्राद् भवेदस्य कथं सन्निर्णयोऽमलः ॥३-१॥
विवेकादि विना चार्या देवानेव हि मन्वते ।
म्लेच्छास्तु नैव किञ्चिद्धि नास्तिका भिन्नवृत्तयः ॥४॥
पतित्वा पादयोर्वास्य रुदित्वा वा मुहुस्तथा ।
बोधितो नैति सन्मार्गं बिभेति सर्वतस्ततः ॥५-२॥

साक्षीस्वरूप इन्द्र ( परमात्मा ) से ढह ( गिर ) कर जीव सब संसार में पड़े हैं । और इनकी रसनाओं से विनि ( द्वैतमय, वा रागादि दोष ) अक्षरों ही का आरम्भ चारों युग में होता है, इससे ससार का निरुआर ( निवृत्ति ) विवेकादि विना नहीं कर सकते ॥१॥

और विवेक परमात्मपरायणता के लिये, पावँ परके रोके कितना हू मनाने ( समझाने ) पर भी, जन्मान्तरवादी हिन्दू देवताओं को पूजते हैं । नास्तिक तुरुक तो किसीके नहीं होते, मनमाना काम करते हैं ( तुरकन के हू होय ) ऐसा पाठ हो तो हू भय को कहते हैं ॥२॥

धीमर जाल पसारि के, आपु गया अरुझाय ।
ताके पाछे मच्छ सब, जाले जाल समाय ॥३॥
साधू राम न मीलिया, पहुंचे जाय अनन्त ।
कहहिं कबिर पुकारि के, गावहु जाय वसन्त ॥४॥

वञ्चका मत्स्यघातीव शब्दजालं विधाय वै ।
ते तत्रैव स्वयं बद्धास्ततस्त्वन्येऽनुयायिनः ॥६॥
भक्तिं सद्धर्मयोगादीन्नास्तिका मन्वते नहि ।
तानाहुर्जालरूपांस्ते तत्कर्तॄंश्च विडम्बकान् ॥७॥

तत्र युक्तं यतो लोके नेत्थंभूतोऽस्ति वञ्चकः।
यः सर्वस्वं परित्यज्य प्रवञ्चयेत वै जनान् ॥८॥
तपोयोगादिभिर्नैव वञ्चना कापि संभवेत्।
कष्टसाध्यैश्च पश्यन्तु सज्जनाः कुसुमाञ्जलौ ॥९-३॥
रामेण साधुना सार्द्धं मिलति यो न मन्दधीः।
सोऽनन्ते जगतां जाले निबद्धो भ्रमति भ्रमात् ॥१०॥
अतः साधून् समाश्रित्य मिलित्वा रामरूपतः।
सर्वत्रावासिनं ज्ञात्वा रामं भजत सज्जनाः ॥११-४॥

वञ्चक गुरुदेवादिरूप धीमर शब्द मायाजाल पसारकर उसमें आप अरुझाय (फंस.) गया। उसके पीछे जीव सब मछली की तरह जाल से जाल मे गमाते हैं॥ या नास्तिक का कहना है कि आचार्य लोग योगध्यानादि का पाखण्ड रचकर, परवञ्चनार्थ उसमें आप फस गये इत्यादि। परन्तु सो कहना ठीक नहीं, क्योंकि सर्वस्वत्यागादि से वञ्चना नहीं होती, और आचार्यों ने सर्वस्वत्यागादि किया है, विशेष कुसुमाञ्जलि में देखिये ॥३॥

शब्दजाल में फंसने से जीव सब साधु (सचा) राम से नहीं मिल सके, या वेषधारी साधु भी राम से नहीं मिल सके। किन्तु अनन्त मायाजाल में जा पहुचे। साहब का कहना है कि अब भी गुरुशरण में जाकर सर्वनिवासी सर्वाश्रय राम को गावो, नास्तिकों की बात में नहीं भूलो। या जो साधु तटस्थ राम से नहीं मिला सो अनन्त राम में जा पहुचा इत्यादि ॥४॥

नारि कहावै पीव की, रहै और संग सोय।
जार मीत हृदया बसे, खसम खुसी क्यों होय ॥५॥

साँच कहों तो मारिया, झूठहिं लागु पियारि ।
मो शिर ढारे ढेकुरी, सींचे और कियारि ॥६॥

परयुर्या कथ्यते नारी सान्यैः स्वपिति चेदिह ।
जारो वसति चेत्स्वान्ते पतिः केन प्रसीदतु ॥१२॥
भक्तिः पतिव्रताधर्मः साधुभिः परिपूजितः ।
एतेनैव विना बुद्धिः कुलटेव न शाम्यति ॥१३॥
बुद्धिश्चेन्न च रामेण सज्जते दारणाऽसती ।
सर्वात्मा हरिरव्यग्रः कथमस्यै प्रसीदतु ॥१४-५॥
बुद्धेश्चानात्मसङ्गेन सत्यात् क्रुद्ध्वा हि ताडयन् ।
असत्यं च प्रियं मत्वा तत्रैव च निमज्जति ॥१५॥
गुरोर्नाम गृहीत्वा चाऽसत्यसंधो नरः सदा ।
धावते जन्मजन्मान्ते निर्वृतिं लभते नच ॥१६॥
भारं शिरसि मे कृत्वा सिञ्चत्यन्यस्य चेन्नरः ।
केदारं सर्वदा मूढः सत्यं स लभतां कथम् ॥१७-६॥

सद्गुरु परमात्मा का भक्त कहाकर भी विषय देवादि में ही जीव आसक्त रहते हैं। और असत् पतिरूप मित्र ही हृदय में सदा बसता है, तो साक्षिस्वरूप स्वामी कैसे प्रसन्न हो ॥५॥

सत्य स्वामीरूप साक्षी का उपदेश देने पर अविवेकी लोग मारते हैं। इन्हें झूठही प्रिय लगता है। ये लोग मो शिर (गुरु के शिर पर) ढेकुरी ढार (धर) कर, अन्य की कियारी को सींचते हैं। अर्थात् गुरु का नाम लेकर संसारपरायण रहते हैं ॥६॥

दृष्टिहिं माहिं विचार है, बूझै विरला कोय ।
चरम दृष्टि छूटै नहीं, तातें शब्दी होय ॥७॥

दृष्टिष्वेव विचारोऽत्र कर्तव्योऽस्ति हि साक्षिणः।
विरलाः केऽपि जानन्ति तज्ज्ञानेन विना ततः ॥१८॥
नश्यति चर्मदृष्टि र्न शब्दी भवति मानवः।
विचारेण तु तज्ज्ञाने चरमां दृष्टिमाप्नुयात् ॥१९॥
सत्यसंन्धो नरो यस्तु तस्यातिनिकटे हरिः।
ज्ञानवृत्तिषु सर्वासु विचारेणाशु लक्ष्यते ॥२०॥
मनोवृत्तौ विचारेण साक्षिणश्चाव्ययं हरिम्।
नरा नेवेह जानन्ति नाभिमान त्यजन्त्यतः ॥२१॥
शरीरेऽभिमिति कृत्वा नामजल्पनतत्पराः।
दृश्यन्ते न विचारेण चरमज्ञानभागिनः ॥२२॥
न मानहानिर्विषये न यस्य ग्लानि र्न भक्तिर्गुरुपादपद्मे।
बोधो विरागो न विचारयोगस्तस्माद्धरिर्दूरतरो हृदिस्थः ॥२३॥
विचारतो यश्चरमां सुदृष्टिं संपादयेच्चैव गुरौ सुभक्तिम्।
न तस्य सा कापि वियुज्यतेऽच्छा तस्मादसौ शब्दमयो न शब्दी ॥२४-७॥

इति साक्षिसाक्षात्कारपरिशिष्टे प्रथमा वित्ति ॥१॥

सत्य शब्द को माननेवालों के लिये दृष्टि ( ज्ञानरूप मनोवृत्ति ) में ही आत्मविचार सुलभ है। परन्तु इस विचार की रीति को कोई विरला ही जानता है, जो देहाभिमानरूप चर्मदृष्टि को त्यागता है। और सो चर्मदृष्टि लोगों से नहीं छूटती, इससे केवल शब्दी ( शब्द कहनेवाले ) होते हैं। तत्त्व नहीं समझते ॥ अथवा दृष्टिगत के विचार को जानने पर चरम ( अन्तिम ) ज्ञानदृष्टि नहीं छूटती, इससे वह ज्ञानी शब्द का अधिष्ठान होता है, नाममात्र नहीं होता ॥७॥

इति प्रथमा वित्ति ॥१॥

## द्वितीया विवृत्तिः ।

साधु भया तो क्या भया, बोलै नाहिं विचार ।
हते पराई आतमा, जीभ लिये तरवार ॥८॥
मधुर वचन है औषधी, कटुक वचन है तीर ।
श्रवण द्वार है सचरै, शालै सकल शरीर ॥९॥

यो न वक्ति विचार्येह न वा वेत्ति विचारणाम् ।
तस्य साधुसुवेषेण न किञ्चिद्भवत्फलम् ॥१॥
साधुवेषं विधायासावसत्यभूरिभाषया ।
निहन्त्येव परात्मानं जिह्वानिस्त्रिंशकेन हि ॥२-८॥
मधुरं सत्यसंयुक्तं हितं च यद्भवेद्वचः ।
तत्परं ह्यौषधं लोके लोकद्वयकरं भवेत् ॥३॥
असत्यं चाप्रियं वाक्यं बाणतुल्यं भवेत् खलु ।
श्रोत्रेण हृदयं गत्वा दुनोत्येव कलेवरम् ॥४॥
"वाक्सायका वदनान्निष्पतन्ति यैराहतः शोचति रात्र्यहानि ॥
परस्य नाममर्मसु ते पतन्ति तान् पण्डितो नावसृजेत् परेषु" ॥५ ९॥

साधु भया (साधु का वेष किया) तो क्या भया (कौन फल मिला) यदि विचारकर नहीं बोलना जानता है, तो वह जीभरूप तरवार लेकर पराई ( दूसरे के ) आत्मा ( देह-मन ) को हतता ( पीड़ित करता ) है ॥ इससे उसके वेषादि निष्फल हैं ॥८॥

सत्य हित मधुर वचन औषध का काम करता है, कटुक वचन तीर का काम करता है । और वह कटु वचन श्रवण ( कान ) द्वारा होकर शरीर के अन्दर सचार ( प्रवेश ) करके सपूर्ण शरीर में शालता ( शूल पीड़ा को उत्पन्न करता ) है ॥९॥

हीरों की बोरी नहीं, मलयागिरि नहिं पाँति।
सिंहन के लेहँड़ा नहीं, साधु न चलै जमाँति ॥१०॥

हीरकानां न वै भारो राशिर्वा दृश्यते क्वचित्।
न पंक्ति मैलयस्याथ सिंहानां यूथ एव वा ॥६॥
साधूनां नियतस्तद्वद् विचारिणां न दृश्यते।
विज्ञानां समचित्तानां हितसत्यसुभाषिणाम् ॥७-१०॥

हीरों की बोरी ( भारी बोझ राशि ) नहीं होती। मलय की पाँति ( पंक्ति ) नहीं होती, सिंहों के लेहड़ा ( यूथ-झुंड ) जैसे नहीं होता, तैसे ही विचारशील साधु की जमात नहीं चलती ॥१०॥

ढाढस देखु मरजिव के, धसिके पैठि पताल।
जीव अटक मानै नहीं, ले गहि निकला लाल ॥११॥

विरलत्वाद्धि साधूनां सर्वे साहसिका जनाः।
वर्तन्ते साहसं तेषां निरीक्ष्यतां तु सज्जनैः ॥८॥
अविवेकेन ते मूढाः सुखरत्नस्य लब्धये।
समुद्रोपमगर्भादौ विशन्त्यायान्ति सादराः ॥९॥
मोक्षस्य दुर्लभत्वं तु ततो भवति सर्वथा।
तत्रैव गणयन्तस्ते जायन्ते सहवासनाः ॥१०॥
शोणरत्नं गृहीत्वेव गृहीत्वा गोगृहादिकम्।
जायन्ते च म्रियन्तेऽज्ञा ज्ञानिनो न कथञ्चन ॥११-११॥

( जो धन सायर मूक्ष वे, रसिया, लाल कराहिं ) इस साखी के अनुसार, संसारसमुद्र में अमूल्य रत्न जानकर गोता लगानेवाला मरजीवा के ढाढस देखो कि यह सुखादि के लोभ से गर्भ नरकाधर्मादि

पाताल में भी धस कर पैठता है। और वहाँ जो जीवात्मा को अँटक लगता ( कठिनाई पड़ता ) है, उसे नहीं समझता है। तुच्छ विषयादि को ही प्राप्त करके समझता है कि मैं लाल लेकर निकला हूँ ॥११॥

रे मरजीवा अमरित पीवा, का धसि मरै पताल ।
गुरु की दया साधु की संगति,निकसि आव यहि द्वार ॥१२॥
दश द्वारे का पींजड़ा, तामें पक्षी पौन ।
रहवे को आश्चर्य है, जात अचम्भा कौन ॥१३॥

अये जले मृतात्मानः पिबतात्माऽमृतं सदा ।
पातालोपमगर्भादौ म्रियन्ते ब्रुडिताः कथम् ॥१२॥
गुरूणां दयया शीघ्रं साधूनां सङ्गमात्तथा ।
नरकाद्गर्भपातालात्स्वात्मैवोद्भ्रियतामिह ॥१३॥
रत्नान्वेषीव सिन्धौ वै ब्रुडित्वा म्रियतां नहि ।
सुखेन तुच्छरत्नेन शान्तिर्जातु न जायते ॥१४-१२॥
उद्घाटितनवद्वारं शरीरं पञ्जरोपमम् ।
प्राणपक्षी यदत्रास्ते तदाश्चर्यं गतौ किमु ॥१५॥
उद्घाटितनवद्वारे दशद्वारयुते गृहे ।
स्थितिर्न शाश्वती तस्मादाशु यत्नो विधीयताम् ॥१६-१३॥

गुरु कहते हैं कि रे मरजीवा ! अमृत ( ब्रह्मानन्द ) पीवो। पाताल में धस ( डूब ) कर क्यों मरता है। गुरु की दया और साधु की सगतिरूप इस श्रेष्ठ द्वार से पाताल से निकल पड़ो ॥१२॥

दश द्वारवाला पींजड़ा के समान देह है, उसमें पौन ( प्राण ) पक्षी समान है। वह इसमें निलमा है सोई आश्चर्य है, जानेमें नहीं ॥१३॥

जबलगि दिन पर दिल नहीं, तबलगि सब सुख नाहिं ।
चारिउ युगन पुकारिया, सो संशय दिल माहिं ॥१४॥
बूझो करता आपना, मानो वचन हमार ।
पांच तत्त्व के भीतरे, जिसका यह विस्तार ॥१५॥

अपूर्वः समयो याति तं यावद् बुध्यते नहि ।
तावच लभ्यते सर्व सौख्यं ह्यनामृतात्मकम् ॥१७॥
दीने दयां विना तद्वद्धर्मे सद्ध्यानमन्तरा ।
सौख्यं न लभते सर्व सत्यमेतच संशयः ॥१८॥
अतो युगेषु सर्वेषु ह्युपदेशेषु सत्स्वपि ।
दृश्यन्ते संशयाक्रान्ता मनोह्यपरसंयुताः ॥१९-१४॥
तस्माच्चात्रावधानेन कर्तारमात्मरूपिणम् ।
शरीरे मन्यतां विद्वन् विस्तारोऽस्य चराचरम् ॥२०॥
विश्वासो वचनेऽस्माकं क्रियतां च त्वया सदा ।
तस्यैव मननाद् ध्यानात् कर्तारं विद्धि च स्फुटम् ॥२१-१५॥

जबलगि (जबतक) दिन (समय, धर्म, वा दीन जन) पर दिल (मन) ध्यान नहीं देता, तबतक सब सुख (मोक्ष) नहीं मिलता। महात्माओं ने चारों युगों में पुकार के कहा है (मोक्ष का उपाय बताया है) परन्तु दिन पर दिल के बिना मोक्ष का सशय ही दिल में रहता है ॥१४॥

दिन पर दिल लगाकर अपना स्वरूपभूत कर्ता को बूझो (समझो) जो पाञ्चतत्त्व का कार्यदेह के अन्दर भी वर्तमान है, और जिसके कार्यरूप भूतभौतिक ये सब विस्तार हैं। इस मेरे वचन को मानो इत्यादि ॥१५॥

हम कर्ता तिहुं लोक का, हम पर दूसर नाहिं ।
कहहिं कबिर हम नहिं चिन्हे, सकल समाना ताहि ॥१६॥
सिंह अकेला बन रमै, पलक पलक करु दौर ।
जैसा बन है आपना, तैसा बन है और ॥१७॥

अहं वै जगतः कर्ता परो मत्तो न विद्यते ।
आत्मानं बुध्यते नैवं सर्व तस्मिंश्च वर्तते ॥२२॥
अहं कर्ता त्रिलोक्या वै तुरीयः सत्प्रकाशकः ।
प्रकृत्या कर्तृरूपोऽहं स्वरूपेण तु केवलः ॥२३॥
इति ज्ञात्वा सुधीर्नित्यं रागादिमलवर्जितः ।
जीवन्मुक्तो विमुक्तश्च कृतकृत्यो हि जायते ॥२४-१६॥
धन्यः पुरुषसिंहो यो विद्यते सद्विवेकवान् ।
स इमं मानवं लोकमिव सर्वं प्रपश्यति ॥२५॥
मायामात्रं जगत्पश्यन्नद्वैते रमते सदा ।
एकान्ते च स्थितः शश्वन्न स्वर्गमपि वांछति ॥२६॥
स्वर्गादिकामं परिहाय धीरो वीरः सदा स्वेन्द्रियमानसेषु ।
स्वप्नोपमं सर्वमिदं प्रपश्यन्नेकान्तवासी रमते स्वरूपे ॥२७-१७॥

इति साक्षिसाक्षात्कारपरिशिष्टे द्वितीया वित्तिः ॥२॥

समझना चाहिये कि हम ( हमारा आत्मा ) ही माया आदि द्वारा सब सृष्टि का कर्ता है, उससे पर ( सूक्ष्म-श्रेष्ठ ) दूसरा कोई नहीं है । जबतक जीव हम ( आत्मा ) को नहीं चिन्हता है, तबतक, उसमें जन्मादि समाये हुए प्रतीत होते हैं। या जीव जिसको नहीं पहचानता, उसीमें सब संसार समाया ( कल्पित ) है ॥१६॥

जैसे सिंह वन में अकेला विचरता है, और समझता है कि जैसा मेरा वन है तैसाही और भी है, तैसेही ज्ञानी भी संसार में असंग अद्वितीयरूप से विचरते हैं, और पल २ में गौर ( विचार ) करते हैं कि सब लोक मायामय तुल्यही हैं ॥१७॥

इति द्वितीया विधि ॥२॥

## तृतीया विधिः ।

जो जियरा अकसर बसै, आश न राखै कोय ।
कहहिं कबिर तिहि दुचित का, मिला मिलाया सोय ॥१८॥
घर महँ बैठा आपु बिराजै, बाहर दीसै सोय ।
खोजि खोजि सब थकित भये हैं, पार न पावै कोय ॥१९॥

एकात्मन्यास्थितो यो हि निराशो निष्परिग्रहः ।
तस्य संशयवार्ता का मिलितः स परात्मना ॥१॥
गते देहाभिमाने च विज्ञाते परमात्मनि ।
एकान्तवासिनो नित्यं वर्तन्ते वै समाधयः ॥२॥
प्रवृत्तौ कारणं रागो निवृत्तौ द्वेष एव च ।
निर्द्वन्द्वो बालवद्धीमान् निर्मले वर्तते पथि ॥३-१८॥
शरीरेषु स्थितः कर्ता राजते सैव दृश्यते ।
बाह्ये सत्त्वादिरूपेण श्रान्तं सर्वैविमृग्य तु ॥४॥
बाह्ये विमृग्यते यावदनात्मत्वेन वा पुनः ।
तावदस्य न पारं तु केनापारस्य लभ्यते ॥५॥
यदा विमृग्यते चायमात्मत्वेन सनातनः ।
अपरोक्षं तदा लब्ध्वा सर्वाशारहितो भवेत् ॥६-१९॥

जो जीव अकसर ( अकेला–एकान्त में ) बसे, और कोय ( कोई या किसीकी ) आशा नहीं रखे, उसको दुचित ( दुविधा–संशय ) क्या, वह तो परम तत्त्व से मिला मिलाया है ॥१८॥

एकान्तवासी ज्ञानी की दृष्टि में जो आत्मा घर ( देह ) में बैठा आप विराज रहा है, सोई बाहर अनन्तरूप दीखता है। अज्ञ जीव उसीको खोजर कर थाक गये, कोई पार नहीं पाये ॥१९॥

भक्ति भक्ति सब कोइ कहै, भक्ति न आई काज ।
जहँ के किया भरोसवा, तहँ ते आई गाज ॥२०॥
समुझो भाई ज्ञानियों, काहु न कहा सँदेश ।
जेइ गये बहुरे नहीं, है वह कैसा देश ॥२१॥

भक्तिभक्तीति कुर्वन्ति व्यवहारं समे जनाः ।
यामुद्दिश्य न सा भक्तिरभवत्कार्यसाधिका ॥७॥
अनन्तापारदेवस्य भक्तिं कुर्वन्ति नो जनाः ।
कुर्वंति कल्पितामन्यां लोकपुत्रादितृष्णया ॥८॥
आशां कुर्वंति येषां ते तेभ्यः सत्यं न लभ्यते ।
फेनवद्विषयाँल्लब्ध्वा जना मोदं तु मन्वते ॥९-२०॥
यस्य देशादिभेदं च कोपि नैवोक्तवान् सुधीः ।
तदेव शायनां धीर ! यद्गत्वा न निवर्तते ॥१०॥
यस्मात्स्वर्गादिलोकाच्च नागत्य कश्चिदुक्तवान् ।
तत्रत्यं निश्चितं तत्त्वं तद्बुधादवबुध्यताम् ॥११-२१॥

भिन्न मानकर खोजनेवाले भी भक्तिर कहते हैं, परन्तु वह भक्ति काज नहीं आई ( सत्य फल नहीं दिया ) और जहाँके लोग भरोसा

(आशा) किये, वहाँसे भी गाज (फेन या शब्द) ही आई। अर्थात् बछड़ा जैसे दूध पीकर गाज गिराता है, तैसे देवादि जिन विषयों को भोगकर त्यागते हैं, सो उनके भक्तों को मिलता है इत्यादि ॥२०॥

हे भाई ज्ञानियो! जिस ब्रह्मात्मदेश में जो गये सो फिर संसार में नहीं लौटे, उसी देश को समझो कि वह देश कैसा है। उसकी सदेशा कोई गुरुआ नहीं कहा है॥ या दूर देश की आशा त्यागो, और ज्ञानियों से समझो, ज्ञानी विना कोई सच्ची सदेशा नहीं कहा है, जो कोई स्वर्गादि में गये, सो भी कहने नहीं आये, कि वह देश कैसा है इत्यादि ॥२१॥

धोखे सब जग बीतिया, धोखे गई सिराय।
थिति नहिं पकरै आपनी, यह दुख कहा न जाय ॥२२॥
राम कहत जग बीतिया, कोई भया न राम।
कहहिं कबिर जिन राम ही, तिनके भै सब काम ॥२३॥

बुधाद्बोधं विना सर्वे भ्रमे नश्यन्ति सर्वदा।
तत्रैव च विलीयन्ते तिष्ठन्ति न निजात्मनि ॥१२॥
सदात्मन्यस्थितिर्भ्रान्तिरेतदेव महद् भयम्।
वाचामगोचरं दुःखं तत्र वेत्तीह कश्चन ॥१३-२२॥
आत्मस्थितिं विना लोको रामेत्यादि ब्रुवन्नपि।
अनश्यन्नैव कोप्यत्र राम एवाऽभवत्स्वयम् ॥१४॥
ये वै विवेकिनो लब्ध्वा सद्गुरोरुपदेशनम्।
अतिष्ठन् रामरूपेण प्राप्तकामा भवंति ते ॥१५-२३॥

समझने विना सब संसारी धोखा (भ्रम) में पड़कर बीता (नष्ट हुआ) और भ्रमही में सिराय गया (लीन हुआ) अपने स्वरूप में स्थिति को नहीं पकड़ा, इससे जो दुःख होता है, सो कहा नहीं जा सकता ॥२२॥

राम को भिन्न दूर मानकर राम कहतेर लोग नष्ट हुए, कोई सत्य रामस्वरूप नहीं हुआ, परन्तु जो कोई रामरूप से स्थिर हुए उनके सब कार्य सिद्ध हो गये ॥२३॥

माया ते मन ऊपजे, मन ते दश अवतार ।
ब्रह्म विष्णु धोखे गया, भरम परा संसार ॥२४॥
देवन देखा सेवकहिं, सेवक देवन दीख ।
कहहिं कबिर मरते दिखो, यह गुरु देई सीख ॥२५॥

मायाया मनसः सृष्टिर्हिरण्यगर्भरूपिणः ।
अवताराः प्रतायन्ते ततो दश मनोमयाः ॥१६॥
ब्रह्मेशविष्णुबुद्धयाऽत्र ह्यसत्यैः संगता नराः ।
भ्रमन्ति कल्पिते व्यक्ते ब्रह्माद्या नियतौ तथा ॥१७-२४॥
देवा उशन्ति मर्त्येभ्यो मर्त्यो देवान्निरीक्षते ।
आशया चोभये बद्धा भवन्ति देहपञ्जरे ॥१८॥
देवादीन् म्रियमाणान्तु मुहुः पश्यत भो नराः ।
गुरवः शिक्षयन्त्येवमाशापाशनिवृत्तये ॥१९॥
मनोमायामयं विश्वं सदेवासुरमानुपम् ।
विनश्वरमिति ज्ञात्वा भज देवं परात्परम् ॥२०-२५॥

माया से समष्टि मन उत्पन्न होता है, और उससे विराट् की उत्पत्तिपूर्वक दश अवतार उत्पन्न होते हैं, उन व्यक्त अवतारों वा

मन में ब्रह्म और विष्णु ( ईश्वर ) पन के धोखे में सब संसारी गया, और भ्रम में पड़ा ॥२४॥

देवलोग सेवकों की आशा करते हैं, सेवक लोग देव सबको अमर आनन्दमय जानकर उनकी आशा करते हैं। साहब का कहना है कि इन्हें मरते ( विनश्वर ) देखो, यह सद्गुरु की दी हुई शिक्षा है इत्यादि ॥२५॥

तेरी गति तैं जानै देवा, हम में समरथ नाहिं ।
कहहिं कबिर यह भूल सबन की, सब परु संशय माहिं ॥२६॥
खालि देखि के भरमिया, ढुंढत फिरै चहुं देश ।
ढूंढ़त ढूंढ़त मर गये, मिला न निर्गुण वेष ॥२७॥

आत्ममोक्षप्रदान् देवान् स्वस्मिन्नप्यसमर्थताम् ।
मत्वा यदास्यते तुष्ट्या संशयैर्ग्रस्यते ततः ॥२१॥
निमग्नाः संशये सर्वे भ्रमसिन्धे स्थितास्तथा ।
लभन्ते न गतिं क्वापि भ्रमंति दीनमानसाः ॥२२-२६॥
विवेकेन विनाऽऽत्मानं रामाद्यैनं विलोक्य च ।
अमृतं मार्गयन् देशे निर्गुणं नैव चाप्तवान् ॥२३॥
विवेकेन विना स्वस्य विश्वं शून्यं विलोक्य वा ।
चतुर्षु मार्गयन् दिक्षु मृतो नालभताऽव्ययम् ॥२४-२७॥

तुम अपनी गति ( मुक्ति ) का हेतु देवताओं को जानते हो, और समझते हो कि हममें सामर्थ्य नहीं है, परन्तु यह तुम सब में भूल है, इसीसे सब संशय में पड़े हो। विचारादि की शक्ति तुममें है, विचारादि करके निःसंशय बनो ॥२६॥

अपने को राम से खाली ( रहित ) जानकर भ्रान्त विचारहीन लोग निर्गुण राम को चारों तरफ देशों में खोजते फिरते हैं, और खोजते२ कितने मर गये, परन्तु निर्गुण वेष ( स्वरूप ) नहीं मिला ॥२७॥

बुझ आपनी थिर रहै, योगी अमरसु होय ।
अब बूझै भरमहिं तजै, आपै और न कोय ॥२८॥
देखा देखी सब जग भरमा, मिला न सद्गुरु कोय ।
कहहिं कबीर करत नित संशय, जियरा डारा खोय ॥२९॥
काकी आश लगाइया, झूठी ह्वॉ की आश ।
गृह तजि वन खण्ड मानिया, युग युग फिरै निराश ॥३०॥

स्वस्वरूपं गतिं मत्वा यः सदात्मनि तिष्ठति ।
योगिवर्यः स मुक्तः सन् भवत्येवाजरामरः ॥२५॥
अतश्चात्मैव योद्धव्यस्त्यक्तव्या भ्रान्तिरेव च ।
य एवं कुरुते जन्तुः स्वयमेव स शिष्यते ॥२६-२८॥
अन्यं दृष्ट्वा भ्रमन्तश्च गतानुगतिका जनाः ।
नाश्रयंति गुरुं मोहान्नदयन्तः संशयात्स्वयम् ॥२७-२९॥
कस्याशा क्रियते धीर ! परोक्षाशाऽनृताऽफला ।
आशात्यागं विना गेहं त्यक्त्वा याति हताशताम् ॥२८॥
गृहं त्यक्त्वा वनैकान्ते चरंश्चिन्तापरो नरः ।
स्थितिं न लभते तावद्यावदाशेह वर्तते ॥२९॥
आशया संयतो जीवो निर्वृतिं विन्दते नहि ।
आशापाशविनिर्मुक्तः प्राप्नोति परमं सुखम् ॥३०-३०॥

अपनी गतिरूप अपने स्वरूप को जानकर जो ज्ञानी योगी स्थिर रहता है, सो अमर होता है । इससे अबही अपने स्वरूप को जाने,

और भ्रम को त्यागे, तो आत्मा ही आत्मा रहता है, दूसरा कोई नहीं रहता ॥२८॥

दूसरे के देखादेखी से सब संसार भ्रम में पड़ा, कोई सद्गुरु से नहीं मिला। इसीसे सदा सशय करता है, और जियरा (जीवन) को व्यर्थ खोय दिया ॥२९॥

प्रत्यक्ष साक्षी को छोड़कर किसकी आशा करते हो, उस दूर देशादि की आशा झूठी है। आशा को त्यागने बिना, घर छोड़कर वनखंड को माननेवाले भी युग२ में निराश (हताश) होकर फिरते (भटकते) हैं। या आशा के झूठ होने ही से विज्ञ लोग, गृह त्यागकर *वनखण्ड को माना है, और सदा निराश होकर विचरते हैं। या* आशा करनेवाले मानों घर की वस्तु को छोड़कर उसे वन२ खोजते हैं इत्यादि ॥३०॥

नेवक विचले सब घर विचला, अब कछु नाहिं बसाय।
कहहिं कबिर जो अबकी समुझे, ताको काल न खाय ॥३१॥
राम रहे वन भीतरे, गुरु की पूजि न आश।
कहहिं कबिर पाखण्ड सब, झूठे सदा निराश ॥३२॥

अत्र चेन् मानवे देहे दुराशा न विजीयते।
अशक्या सा विजेतुं स्याज्जन्मान्तरगतै र्जनैः ॥३१॥
यथाऽऽधारस्य नाशेन नश्यन्त्येव गृहादिकाः।
कम्पन्ते कम्पनाच्चैव स्थिते तिष्ठन्ति सुस्थिराः ॥३२॥
तथैवात्र विनाशेन नाशः सर्वासु योनिषु।
कम्पने कम्पनं चैव स्थितिस्तु जायते स्थितौ ॥३३॥

गुरोर्यैस्तु कृपापात्रैस्तत्त्वमत्रैव बुध्यते ।
तेषां कुत्रापि नेव स्यान्नाशः कालादिनः सदा ॥३४ ३१॥
तत्त्वज्ञान विना चात्मा रामः संसारकानने ।
वर्ततेऽथ हताशश्च जीवो भ्रमति सर्वदा ॥३५॥
पाषण्डहतबुद्धित्वाद्यो गुरुं नाभिमन्यते ।
तदर्थश्च गुरोर्यत्नः कृतो भवति निष्फलः ॥३६॥
रामचन्द्रो वने वाऽऽसीद्गुरुर्दशरथो यथा ।
हताशोऽभूत्तथा सर्वेऽसत्यसंधा विकर्मिणः ॥३७-३२॥

जैसे घर के नेव (जड) के विचलित होने पर सम्पूर्ण घर विचलित होता है। तैसे सब सुख साधन का मूल मानवतन के विचलने ( आशादि से व्यर्थ नष्ट होने ) पर सब घर ( देह ) विचलता है, फिर कुछ वश की बात नहीं रहती। और जो कोई अबकी ( इस देह में ) समझता है, उसको कभी काल नहीं खाता, वह स्थिर पद को पाता है इत्यादि ॥३१॥

जैसे रामचन्द्रजी वन में रहे, और गुरु ( पिता ) की आशा पूर्ण नहीं हुई। तैसे आत्माराम ससार वन के भीतर रहता है, गुरु की आशा पूर्ण नहीं होती। क्योंकि पाखण्डी झूठे लोग सब गुरु के कहा नहीं मानते, इससे सदा हताश होकर फिरते हैं ॥३२॥

विना रूप विनु रेख को, जगत नचावै सोय ।
मारै पांचो जो नहीं, ताहि डरै सब कोय ॥३३॥
डर उपजा जिय है डरा, डर ते परा न चैन ।
देखा रामहिं है नहीं, यही कहै दिन रैन ॥३४॥

सुख का सागर मैं रचा, दुख दुख मेला पाँव ।
थिति नहिं पकड़ै आपनी, चले रंक औ राव ॥३५॥

रूपाकृतिविहीनोऽसावात्मरामः स्वमायया ।
भ्रामयत्यखिलं विश्वमश्नस्तस्माद्बिभेति च ॥३८॥
यश्चाजितेन्द्रियो मूढस्तस्माल्लोकाश्च बिभ्यति ।
हिंसकत्वाद्धि दुर्बुद्धेस्तत्फलं सोऽवशोऽश्नुते ॥३९-३३॥
भीतो विह्वलचित्तश्च भयाच्छर्म नचाच्छति ।
हा न दृष्ट्वा हरिं जीवस्तद्भावं तु भाषते ॥४०-३४॥
अस्माभिश्च कृतो योऽयमुपदेशो निजात्मनः ।
सुखसिन्धुस्वरूपोऽयं सुमार्गोऽयं सुखावहः ॥४१॥
आत्मस्थितिं न गृह्णंति ये चेहोच्चावचा जनाः ।
दुःखमार्गे मनो दत्वा गच्छंति ते भवार्णवम् ॥४२-३५॥

रूप आकारादिरहित रामही मनमाया द्वारा सबको नचाते हैं, जो लोग पाच ज्ञानेन्द्रिय, या पाँच कोश को नहीं मारते ( स्ववश तुच्छ नहीं करते ) वे सब लोग उसी राम से सदा डरते हैं ( भयादस्याग्नि स्तपति । कठ. २।६।३ ) या अजितेन्द्रिय से सब प्राणी डरते हैं ॥३३॥

जितेन्द्रिय विवेकी होनेही बिना, मन में भय उत्पन्न हुआ, और अब भी मन भयभीत है। जिस भय से कभी चैन ( आराम ) नहीं प्राप्त हुआ। और आनन्दघन राम को भी नहीं देख सका, किन्तु रातदिन इस भय की ही बात सब कहते हैं, या विवेक बिना कहते हैं कि हमने देख ( जान ) लिया है कि राम है नहीं इत्यादि ॥३४॥

साहब का कहना है कि आत्मस्थिति पकड़नेवालों के लिये मैंने यह उपदेश सुख का समुद्र ही रचा है, परन्तु रंक राजा सब लोग अपनी

स्थिति नहीं पकड़ते, इससे दुःख से दुःखप्रद मार्ग में पाँव देकर चलते हैं ॥३५॥

दुख न हता संसार में हता न शोग बियोग ।
सुख हीं में दुख लादिया, बोलै बोली लोग ॥३६॥

आत्मदृष्ट्याऽत्र संसारे दुःखशोकादयः खलु ।
ऊर्मयो नैव विद्यन्ते न वियोगमयो भ्रमः ॥४३॥
अनात्मदृष्टिमाश्रित्य जनाः सौख्येऽपि दुःखताम् ।
कल्पयित्वा भयाम्भोधौ निमज्जन्ति स्वमोहतः ॥४४॥
दुःखं न शोको न वियोगरोगावास्तां पुरा ब्रह्मणि वाऽऽत्मतत्त्वे ।
तथापि लोकाः खलु कल्पयित्वा मोहेन दुःखानि वदन्ति तत्र ॥४५
न यत्र भेदोऽस्ति नचास्ति खेदो यस्यैव वेदोऽस्ति सुवेदवेदः ।
स एव पायान्निखिलादपायाज्ज्ञातो नरोऽज्ञाततमं न वेद ॥४६-३६

इति साक्षिसाक्षात्कारपरिशिष्टे तृतीया वित्तिः ॥३॥

संसार में प्रथम दुःख नहीं था, न शोकवियोगादिक ही थे, किन्तु अनादि अविद्यावश जीवों ने सुखस्वरूप ही में दुःख लाद लिया है, इस प्रकार ज्ञानी लोग बोलते हैं, अर्थात् दुःखादि मोहादिजन्य ही हैं इससे कल्पित मिथ्या है। सत्य होवें तो इनकी ज्ञान से निवृत्ति नहीं हो सकती, यह महात्माओं का सिद्धान्त है ॥३६॥

इति तृतीया वित्ति ॥३॥

## चतुर्थी वित्तिः ।

लिखा पढी में पड़े सब, यह गुण तजै न कोय ।
सबै परे भ्रम जाल में, डारा यह जिय खोय ॥३७॥

बूझो शब्द कहाँसे आया, कहाँ शब्द ठहराय।
कहहिं कबिर हम शब्द सनेही, दीन्हा अलख लखाय ॥३८॥

लेखितुं पठितुं चैव प्रवर्तन्ते सदा जनाः।
अनात्मदृष्टिमाशां च त्यजन्ति न गुणांस्तथा ॥१॥
भ्रमजालैः समाबद्धास्ततः सर्वेऽप्यबुद्धयः।
अमूल्यं जीवनं शश्वन्नाशयन्ति कुवर्त्मसु ॥२-३७॥
लेखनादौ प्रवर्तन्ते यस्य सर्वे जनाः सदा।
तं विजानीहि शब्दं त्वं कुत आगच्छतीति सः ॥३॥
कुत्र तिष्ठति कस्मिंश्च लीयते प्रलयादिषु।
किंरूपः किंफलश्चासौ कतिधा वर्तते तथा ॥४॥
सारशब्दमनस्काश्च वयं वर्तामहे सदा।
तमवश्यं विजानीहि तेनादृश्यं प्रदृश्यते ॥५॥
वयं नित्यं सुशिष्येभ्यो निर्मलं निर्गुणं हरिम्।
तेनैव सारशब्देन ह्यदृश्यं दर्शयामहे ॥६-३८॥

लिखने पढ़ने में सब पड़े हैं; और यह ( त्रिगुणाशा सुख में दुःख लादना आदि) गुण को कोई नहीं त्यागता। इससे सब भ्रमजाल में पड़े, औ यह जिय ( जीवन ) को व्यर्थ खो डारा ॥३७॥

जिसके लिखापढ़ी में सब लगे हैं, उसे समझो कि वह कहाँसे आया ( उत्पन्न हुआ ) कहाँ ठहरता है ( सब शब्द का आधार कौन है, सारशब्द का अधिकारी अर्थ क्या है, अनहद का कारण कौन है ) मैं सारशब्द का प्रेमी हू, उसीके द्वारा सज्जनों को अलख (अदृश्य) भी लखाया हूं ॥३८॥

शब्द शब्द सब कोइ कहै, वो तो शब्द विदेह ।
जिव्हा पर आवै नहीं, निरख परख कर लेह ॥३९॥
सुत नहिं मानै बात पिता की, सेवै पुरुष विदेह ।
कहहिं कबीर अबहु किन चेतो, छाड़ो झूठ सनेह ॥४०॥

शब्दशब्देति सर्वेऽत्र भाषन्तेऽज्ञजना अपि ।
विदेहस्य सुशब्दो न तज्जिह्वामधिरोहति ॥७॥
विदेहस्य च शब्दोऽसावनाहतसुनामकः ।
सारशब्दोऽथवा ज्ञेयो येनालक्ष्योऽपि लक्ष्यते ॥८-३९॥
सारशब्दं न मन्यन्ते सर्वात्मपितृबोधकम् ।
ते प्रेतं वा विदेहाख्यां सेवन्ते देवतामिह ॥९॥
मिथ्यास्नेहं त्वमद्यापि त्यक्त्वा सत्यं समाश्रय ।
रक्षकस्य गुरोर्वाक्यं शृणु प्रेमावधानतः ॥१०-४०॥

शब्द शब्द सब कोई कहते हैं, परन्तु वह परा पश्यन्ती वाग् या सारशब्द विदेह ( निर्गुण ) आत्मस्वरूप या उसका बोधक है, वह शब्द सबके जिह्वा पर नहीं आता, निरख परख ( देख विचार ) कर, उसी शब्द का धारण करो ॥ या विदेह ( आत्मा ) का सूचक अनहद शब्द जिह्वा पर नहीं आता, उस द्वारा आत्मा को समझो ( तथैषा श्रुतिः । छा. ३।१३।७ ) ॥३९॥

सारासार शब्दादि के विवेक बिना सुत ( जीव ) सर्वात्मा पिता सम्बन्धी सद्गुरु की बात को नहीं मानता है, किन्तु विदेह ( देवविशेष, वा प्रेतादि ) कल्पित पुरुष को सेवता है । साहब का कहना है कि अब भी क्यों नहीं चेतते हो, अब भी झूठ प्रेम को छोड़ो ॥४०॥

सबै आश करु शून्य नगर की, जहाँ न कर्ता कोय।
कहहिं कबीर बुझो जिय अपने, जाते भरम न होय ॥४१॥
दाग जु लागा नील का, सौ मन साबुन धोय।
कोटि यतन परबोधिय, कागा हंस न होय ॥४२॥

शून्ये कल्पितकल्पस्य ह्याशां कुर्वन्ति मानवाः।
नगरस्य न यत्रास्ति कर्ता सत्योऽथ कश्चन ॥११॥
स्वं मनोमन्दिरस्थं च सत्यकर्तारमेव हि।
प्रतीहि न यतो भूयो भ्रमस्य प्रसरो भवेत् ॥१२-४१॥
कामाद्यैः कज्जलैर्व्याप्ता मलिनाः काकवृत्तयः।
न श्वेतन्ते न मुच्यन्ते हंसायन्ते न बोधनैः ॥१३॥
यथा नील्याऽङ्कितं वस्त्रं मनकानां शतैर्नहि।
क्षारैः शुद्ध्यंति काको न हंसः कोटिप्रबोधनैः ॥१४-४२॥

झूठ स्नेह से ही जहाँ कोई सत्य कर्ता नहीं है, उस शून्यनगर (आकाश) की आशा, कर्ता की प्राप्ति के लिये, सब लोग करते हैं। साहब का कहना है कि तुम अपने अन्तःकरण में ही सत्य कर्ता को समझो, कि जिससे फिर भ्रम नहीं होवे ॥४१॥

जैसे नील का दाग सौ मन साबुन से भी नहीं छूटता, करोड़ों यतन से समझाने पर भी काक हंस नहीं होता। तैसेही शून्यनगर की आशा आदि रहते, किसी प्रकार भी काम कर्मादि नहीं नष्ट होते हैं, न काकवृत्तिवाला विवेकी हो सकता है इत्यादि ॥४२॥

यह दुनियाँ भौ बावरी, अदृष्ट सु बाँधी नेह।
दृष्टमान को छोड़ि के, सेवै पुरुष विदेह ॥४३॥
राजा रैयत व्है रहा, रैयत लीन्ही राज।
रैयत चाहै सब लिया, ताते भयो अकाज ॥४४॥

मालिन्यादविवेकेन जनो मुग्धवदाचरन् ।
वध्नात्यनुमितेष्वास्थां प्रेतादीन् सेवते तथा ॥१५॥
प्रत्यक्षं साक्षिरूपं च त्यक्त्वा सर्वोत्तमोत्तमम् ।
साक्ष्येष्वास्थां तु वध्नाति वध्यते च निजेच्छया ॥१६॥
आश्चर्यं महदेतद्धि यदात्मानन्दमक्षयम् ।
त्यक्त्वाऽतिनिकटे मूढः सदैवान्यान्निषेवते ॥१७-४३॥
अहो सर्वेश्वरो जातः प्रजा स्वस्यैव मोहतः ।
प्रजा चैवेश्वरो जाता सर्वं साऽऽदातुमिच्छति ॥१८॥
तस्मान्न लभते तत्त्वं कैवल्यं यत्सनातनम् ।
सत्कार्याणि न सिद्ध्यंति ह्यकार्याणि भवंति च ॥१९॥
ईश्वरेऽनीशबुद्धिश्चानीशे हीश्वरबुद्धिता ।
सर्वानर्थस्य हेतुर्हि तथाऽनात्मसु चात्मता ॥२०-४४॥

अदृष्ट ( परोक्ष-दृष्टिरहित जड़ ) दृश्यमान ( अपरोक्ष-साक्षीचेतन ) विदेह ( कल्पित-देवविशेष ) ॥४३॥

राजा ( स्वयंप्रकाश चेतनात्मा ) रैयत ( पराधीन प्रजा ) प्रतीत होता है । रैयत ( देवादि ) राज लिया है ( तटस्थ ईश्वर बना है ) और सब लिया चाहता है ( सर्वथा स्वतन्त्र हुआ चाहता है ) इससे प्रयोजन नहीं सिद्ध होता है ॥४४॥

जिसका मन्त्र जपै सब सिखिके, तिसको हाथ न पाँव ।
कहहिं कबीर मातु सुत काही, दिया निरञ्जन नाँव ॥४५॥

श्रुत्वा जपंति यन्मन्त्रं तदपाण्यादिलक्षणम् ।
पितरौ वै कुतस्तस्य सुतनामादिकं कुतः ॥२१॥
अपाणिपादस्य हि यस्य नाम जपंति लोकाः खलु कल्पयित्वा ।
तदेव तत्त्वं ननु तस्य बोधान्निरञ्जनस्यैव भवेद्धि मुक्तिः ॥२२॥

विमुक्तिभाजां नहि कामकल्पना भवेन्नचास्था खलु दृश्यसंहतौ।
परात्परं वै सततं सुपश्यतां कुतो भवेन्मोहद्रुहादिसंकथा॥
२३-४५॥

इति साक्षिसाक्षात्कारपरिशिष्टे चतुर्थी वित्तिः॥४॥

जिस परमात्मा का मन्त्र को लोग सिखकर जपते हैं, उसको हाथ पैरादि तो है नहीं, तो फिर मातापिता आदि किसके हो सकते हैं, और कौन कैसे उसका निरञ्जन नाम धरा, किसका वह पुत्रादि हुआ। अर्थात् उसके नामादि कल्पित ही हैं, मातापिता आदि तो उसके कल्पित भी नहीं हो सकते, वह स्वयं सर्वाधार सर्वजनक है॥४५॥

इति चतुर्थी वित्ति॥४॥

## पञ्चमी वित्तिः।

जनि भूलो रे ब्रह्म ज्ञानी, लोक वेद के साथ।
कहहिं कविर यह बूझ हमारा, सो दीपक लिय हाथ॥४६॥
धोखे धोखे सब जग बीता, द्वै अगुआ के साथ।
कहहिं कबीर पेंड़ जो बिगड़े, अब का आवे हाथ॥४७॥

परोक्षब्रह्मबोधेन युक्ता यूयं विवेकिनः।
कुरुध्वं नो प्रमादं हि लोकवेदप्रसङ्गतः॥१॥
अस्माकं सन्नयं बोधो दीपकः सर्ववस्तुनः।
तं कुरुध्वं करस्थं च सन्निरीक्ष्यैव गच्छत॥२-४६॥
सद्बोधेन विना सर्वं जगन्नष्टं कुसङ्गतः।
अग्रगद्वयसंगत्या द्वैतवाचां निरीक्षणात्॥३॥
वञ्चकानां कुसंगत्या मानुष्ये निष्फले गते।
मूले नष्टे पुनः पश्चात् किं फलं स्यात्सुखं कुतः॥४॥

मूलं सर्वस्य मानुष्यं मोक्षस्य च सुखस्य च ।
ज्ञानस्याथ च धर्मस्य तत्प्रयत्नेन रक्ष्यताम् ॥५-४७॥

रे ब्रह्मज्ञानी (हे विवेकी जिज्ञासु) ! लोकवेदवादी आदि के संग वश जनि भूलो ( ब्रह्म के मातापिता पुत्रनामादि सत्य नहीं समझो ) यह हमारा बूझ ( सद्गुरु का उपदेश ) रूप दीपक को अपने हाथ ( हृदय ) में लिये रहो ॥४६॥

धोखे२ ( मिथ्या नामरूप ) में सब संसारी बीता ( नष्ट हुआ ) द्वै अगुआ ( द्वैतवादी गुरु वा हिन्दू तुरुक के अग्रणी ) के साथ (संग) से यदि पेंड़ ( मूल–मानवतनु ) बिगड़ा तो फिर क्या हाथ आवेगा। या मूल अगुआ (गुरु) बिगड़ा तो शिष्य को क्या मिल सकता है ॥४७॥

मैं जाना कुल हंस हौ, ताते कीन्हा संग ।
जो जानत बक बावरा, छुवन न देता अंग ॥४८॥
ढूंढ़त ढूंढ़त ढूंढिया, भया सु गूनाऽगून ।
ढूंढ़त ढूंढ़त नहिं मिला, हारि कहा बेचून ॥४९॥

सदा विवेकिन विज्ञं ज्ञात्वा कुर्याद्धि संगतिम् ।
नैव मूढे· कदाचिच्च हासमाभिश्चरितं त्विदम् ॥६॥
कुलहंसं विदित्वैव कृता ये तव सङ्गतिः ।
बकवृत्तिं प्रमत्तं चेदविदं नाङ्ग सा भवेत् ॥७ ४८॥
विमृग्यन् ह्यसत्सङ्गेन स्वात्मानं लभते नच ।
गुणे निर्गुणता बुद्ध्या जनो मोमुह्यते सदा ॥८॥
मोहान्निर्गुणमप्राप्य तमप्राप्यं तु मन्यते ।
दूरस्थमिव सभ्रान्तः कण्ठ्यापारगतैर्यथा ॥९–४९॥

मैं कुलहंस ( विवेकी ) जानकर संग किया है। बकध्यानी उन्मत्त समझता तो हे अंग ( प्यारे )! छूने भी नहीं देता। या अंग भी नहीं छूने देता, तुम भी ऐसाही करना ॥४८॥

जिसको दूर भिन्न मानकर ढूंढ़तेर लोगों ने किसी अनात्मा को ढूंढा, और गुणही इनकी दृष्टि में अगुण ( निर्गुण ) सिद्ध हुआ। किसीको ढूंढतेर कुछ नहीं मिला, तब हारकर बेचून अप्राप्यानुपमादि कहकर संतोष किया ॥४९॥

बेचूने जग चूनिया, साईं नूर निनार।
आखिर ताके वखत में, किसका करो दिदार ॥५०॥
सोइ नूर दिल पाक है, सोइ नूर पहिचान।
जाके कीये जग हुआ, सो बेचून क्यों जान ॥५१॥

आत्माऽसङ्गोऽपि सर्वत्र व्याप्यैव वर्ततेऽनिशम्।
प्रकाशात्मा जगज्ज्योतिः कर्ता धर्ता निरामयः ॥१०॥
प्रभुः सर्वस्य लोकस्य विचित्रदीप्तिपावनः।
यस्य संदर्शनादेव द्रष्टव्यं नावशिष्यते ॥११॥
पूयन्ते सर्वभूतानि येऽपि स्युर्मलिनाशयाः।
तस्य संदर्शने जाते कं पश्यामि करोमि किम् ॥१२-५०॥
वर्तते पावनं ज्योतिः सर्वस्य हृदि पश्य तत्।
यस्य कार्यं जगत्सर्वं तदप्राप्यं कथं भवेत् ॥१३॥
अप्राप्यत्वे निमित्तं यदज्ञानं विद्धि तद् बुधः।
तद्धानं ज्ञानतः कृत्वा कृतकृत्यः सुखी भव ॥१४-५१॥

साहब का कहना है कि जिसे बेचून कहते हो, सो संसार में चूना ( व्यापक है। या बेचून ही जग को चूना ( रचा ) है। सोई सबके

साईं ( स्वामी ) है, उसका नूर निनार ( न्यारा–विलक्षण ) है, और उसका दर्शनरूप संसार के आखिर ( अन्त ) वखत ( काल ) में फिर किसका दिदार ( दर्शन ) किया जाय। अर्थात् उसका दर्शन के बाद कोई सत्य द्रष्टव्य बाकी नहीं रहता है ॥५०॥

सोई ( पूर्वोक्त ) नूर ( प्रकाश ) ही सबके दिल ( मन ) में पाक ( पवित्र ) है। इससे सोई ( उसी ) नूर को पहचानो। और जिस के करने से संसार हुआ है, सो वेचून कैसे है, यह भी जानो। अर्थात् सर्वात्मा में कर्मकर्तृभाव विरुद्ध होने से, या अज्ञान से ही अप्राप्य है, दूरता आदि से नहीं ॥५१॥

आपु भुलावे आप में, आपु न चीन्है आपु।
और होय तो पाइये, यह तो आपुहिं आपु ॥५२॥
आपु शब्द सन्धिक लखो, कहे बिना नहिं ठौर।
ताते सार असारहीं, गुरु पारख शिर मौर ॥५३॥

आत्माऽज्ञाने स्वयं स्वं हि स्वस्मिन् विस्मृत्य मूढवत्।
स्वयं स्वं नैव जानाति मृग्यन् स्वं वर्तते मुहुः ॥१५॥
ज्ञानकाले निजात्मानं प्रतिपद्याऽद्वयं विभुम्।
अन्यश्चेत्स्याल्लभेतात्मा स्वयमस्मीति मन्यते ॥१६–५२॥
गुरूणां सारशब्दस्य तात्पर्येण निजाऽद्वयम्।
स्वरूपं पश्य नान्यस्माल्लभ्यतेऽयं परो यतः ॥१७॥
सारासारविवेकाय हानाय जनुषां तथा।
गुरुलब्धो विचारो हि पर्याप्तः सर्वसाधनात् ॥१८॥
कुसङ्गहानेन समाहितस्य विवेकनिष्ठस्य विरक्तबुद्धेः।
शमादियुक्तस्य मुमुक्षितस्य गुरावगम्यं नहि किञ्चिदस्ति ॥१९–५३॥
इति साक्षिसाक्षात्कारे पञ्चमी वित्तिः ॥५॥

अज्ञान दशा में वह नूर अपने में अपने को भुलाता है । अज्ञान माया आदि की सत्ता उससे भिन्न नहीं है । अपने को आप नहीं चीन्हता है । ज्ञानदशा में कहता है कि और कोई सत्य होय तो प्राप्त किया जाय, यह सत्य नूर तो आपे आप ( सर्वात्मा ) है ॥५२॥

शब्दों के सन्धि ( तात्पर्य ) द्वारा तुम अपने को आप समझो । या शब्दों के संधि को समझो । सद्गुरु के कहे शब्द विना कहीं ठौर नहीं मिलता । तिस कारण सारासार वस्तु को जानने के लिये, गुरुपारख ही सिरमौर है । उसीसे सत्य ठौर की प्राप्ति हो सकती है, अन्यथा नहीं ॥५३॥

इति पञ्चमी वित्ति ॥५॥

## षष्ठी वित्तिः ।

जागे से स्वपना नहीं, स्वपना सार असार ।
सारशब्द निशिदिन रखे, जाते मिटे विकार ॥५४॥
अलख लखो अलखे लखो, लखो निरञ्जन तोहि ।
हौं कबीर सबको लखों, मोको लखै न कोहि ॥५५॥

सद्गुरोः सारशब्देन मोहस्वप्ने गते स्मृते ।
आत्मदेवे पुनर्नैव जगत्स्वप्नः प्रवर्तते ॥१॥
दृश्यमानो जगत्स्वप्नो मिथ्यात्वेनैव भासते ।
काशते ज्ञानसूर्योऽयमनिम्लोचन् स्वयंप्रभः ॥२॥
ज्ञानसूर्यप्रकाशे तु कामादितमसः कुतः ।
सम्भवोऽपि भवेदङ्ग तच्छब्दो दृश्यतामतः ॥३॥
अनिशं दर्शनीयोऽयं सारशब्दो हि यत्नतः ।
यस्मात्सर्वविकाराणां निवृत्तिर्जायते स्वतः ॥४-५४॥

> आत्मानमप्रमेयं तं स्वयं चाविषयः स्थितः ।
> निरञ्जनमदृश्य च जानीहि स्वयमात्मना ॥५॥
> अहं सर्वं प्रपश्यामि साक्षिरूपेण सर्वदा ।
> मां तु कश्चिन्न जानाति विवेकविकलो जनः ॥६-५५॥

सारशब्द से जागने ( मोहादि त्यागने ) से फिर ससारस्वप्न नहीं होता, और वर्तमान ससारस्वप्न का सार भी असार दीखने लगता है। इसलिये निशिदिन ( सदा ) सद्गुरु के सारशब्द ही को हृदय में रखना चाहिये कि जिससे कामादि और जन्मादि विकार समूल नष्ट हो जाय ॥५४॥

अलख ( अदृश्य ) आत्मा को स्वयं अलख होकर जानो, तोहि ( तुम अपने ) को निरञ्जन समझो। मैं कबीर साक्षिरूप से सबको जानता हू, मुझे जाननेवाला कोई नहीं है ॥५५॥

हमहिं लखा तिहु लोक में, तू क्यों कहे अलेख ।
सारशब्द जाना नहीं, धोखे पहिरा भेख ॥५६॥
साखी ऑखी ज्ञान की, समुझि देखु मन माहिं ।
बिनु साखी ससार की, झगडा छूटत नाहिं ॥५७॥

> आत्मनोऽविषयत्वेऽपि साक्षित्वेन स भासते ।
> सारशब्देन सैवेह लक्ष्यते नात्र संशयः ॥७॥
> अलक्ष्यं सर्वथा मत्वा तं जानाति न यो नरः ।
> सारशब्दं विना वेषं मुधा गृह्णाति सोऽधमः ॥८॥
> साक्ष्यश्च सर्वलोकेषु लक्ष्यमाणः सदाऽस्म्यहम् ।
> अलक्ष्यं भाषसे कस्माद्वेषं धृत्वा भ्रमात्मकम् ॥९-५६॥
> ज्ञानाक्ष्णा साक्षिणं चित्ते सम्यक् पश्यतु वै भवान् ।
> तज्ज्ञानेन विना यस्माद् द्वन्द्वं नैव निवर्तते ॥१०॥

ज्ञानदृष्ट्या स्वयं दृष्ट्वा साक्षिणं निर्मलं हरिम्।
विचारादियुतो विद्वान् निर्द्वन्द्वो राजते सदा ॥११-५७॥

साक्षीस्वरूप हम ( आत्मा ) ही तीनों लोक में लखा (प्रत्यक्ष) हैं॥ तुम उसे सर्वथा अलेख ( अलक्ष्य-अप्राप्य ) क्यों कहते हो। या अहंकार तीनों लोक में प्रत्यक्ष है, उसे अदृश्यात्मा क्यों समझते हो। सारशब्द को जानने बिना तुमने धोखे ही में भेष पहिरा है ॥५६॥

साक्षीस्वरूप आत्मा को अपने मन में विचारकर ज्ञाननेत्र से देखो। साक्षी के ज्ञान बिना संसार के द्वन्द्वरूप झगड़ा नहीं छूटता है ॥५७॥

पूरा साहब सेइये, सब विधि पूरा होय।
ओछे नेह लगाय के, मूलहुं आवै खोय ॥५८॥
जाहु वैद्य घर आपना, बात न पूछै कोय।
जिन यह भार लदाइया, निर्वाहैगा सोय ॥५९॥

ज्ञानार्थं पुरुषं पूर्णं सद्गुरुं सेवतां तथा।
सर्वथा लप्स्यसे पूर्णं पदं यस्मादखण्डितम् ॥१२॥
हीनेन सह संगत्या नाशयित्वा धनं स्वकम्।
मूलमायाति तस्मात्तं न सेवस्व न पृच्छ वा ॥१३॥
साधुभिः सह सत्प्रीतिः स्वर्गमोक्षप्रदा सदा।
असद्भिः सा कृता प्रीतिः सर्वनाशकरी भवेत् ॥१४-५८॥
वैद्यवद्यः शरीरार्थं वक्ति नात्मनिबन्धनम्।
तं ब्रूहि त्वं गृहं गच्छ वार्तां काञ्चिन्न पृच्छ तम् ॥१५॥
शरीरधारणायापि तमपृष्ट्वा निवर्तय।
यैरयं भर उद्गूर्णो निर्वक्ष्यन्ति हि ते त्वयि ॥१६-५९॥

उस साक्षी को जानने के लिये पूरा ( पूर्ण ज्ञानी विभु ) साहब ( सद्गुरु–ईश्वर ) को सेवो, कि जिससे सब प्रकार पूर्ण ज्ञानी सुखी होवोगे। और ओछे ( अल्प अपूर्ण तुच्छ ) से नेह ( प्रेम ) लगाकर तो मनुष्य मूल भी खो आता है ॥५८॥

इसलिये हीन वैद्य गुरु से कह दो कि महाराज ! आपने घर पधारिये। आपसे कुछ बात नहीं पूछना है। जिन कर्मेश्वरादिकों ने यह देहादि भार लदाया है, वे ही इसका निर्वाह करेंगे ( योगक्षेम वहाम्यहम्। भ. गी. ) ॥५९॥

मैं चितवत हौं तोहि को, तूं चितवत है वोहि ।
कहहिं कबिर कैसे बनै, मोहि तोहि औ वोहि ॥६०॥
तकत तकावत तकि रहा, सका न वेझा मार ।
सबे तीर खाली परा, चला कमानहिं डार ॥६१॥

अहं त्वामत्र पश्यामि त्वं चेदन्यान्निरीक्षसे ।
कथं ममतवान्येषां संगादि संभवेद्धितम् ॥१७॥
गुरुर्यस्य हितं वष्टि स यं हीनं निरीक्षते ।
तयोः सद्गुरुणा सङ्गो जायते न कदाचन ॥१८-६०॥
अन्यान् संदर्शयन् पश्यन्नात्मभिन्ने स्थितो नरः ।
लक्ष्यं न लब्धवांश्चैव कालं नाशितवांस्तथा ॥१९॥
श्वासवृत्यात्मबाणानां नाशे त्यक्त्वा धनुर्गतः ।
गच्छति च शरीराख्यं जीवो दिष्टस्य संक्षये ॥२०॥
लब्धवान्न सुखं शांतिं न ज्ञानं ध्यानमुत्तमम् ।
आत्मभिन्ने स्थितो जीवस्तस्मात्तं परिवर्जयेत् ॥२१-६१॥

मैं ( सद्गुरु ) तेरे हित के लिये तुझे देखता हूं। तूं यदि उस हीन को देखते ( उसकी आशा करते ) हो, तो मेरा तेरा और उसका संग कैसे बनेगा ॥६०॥

अनात्मा को ही देखता देखाता उसीमें दत्तचित्त मनुष्य वेझा ( वेध्य–लक्ष्य ) को मार ( प्राप्त ) नहीं कर सका। न कालादि को नष्ट कर सका। फिर प्रारब्ध कर्म श्वासायुरूप सब तीर के खतम होने पर, देहरूप कमान ( धनुष ) को त्याग कर योंही चल दिया ॥६१॥

जस कथनी करनी तसी, जस चुम्बक तस ज्ञान।
कहहिं कबिर चुम्बक बिना, क्यों जीते संग्राम ॥६२॥
देश बिदेशन हौं फिरा, गाम गाम की खोरि।
ऐसा जियरा ना मिला, लेवे फटक पछोरि ॥६३॥

यथैवोक्तिस्तथा कर्म ज्ञानं च लौहकान्तवत्।
वासनाकर्षणे शक्तं यस्य सैव जगज्जयेत् ॥२२॥
वासनाविगमायाऽलं विज्ञानमन्तरा कथम्।
संसारो जीयतेऽप्रज्ञैः कर्मकोटिशतैरपि ॥२३-६२॥
अस्माभिः सर्वदेशेषु ग्रामादिषु च सर्वतः।
मृग्यद्भिर्नैव लब्धोऽसौ विवेककुशलो नरः ॥२४॥
स्वदेशे चान्यदेशेऽहं ग्रामे नगरवीथिषु।
व्यचरं नच लब्धोऽत्र जीवश्चैतादृशोऽधिकः ॥२५॥
यो विवेकादसत्यक्त्वा ह्युन्मूल्य वासनादिकम्।
सत्यमेव विजानीयात्तादृग् देशेषु दुर्लभः ॥२६-६३॥

जिस प्रकार सद्धर्मादि का कथन करे, तैसाही निष्कपट व्यवहार करे, और चुम्बक की तरह ज्ञान हो। जो तीर गोली की तरह भीतर घुसे, वासना

कामादि को निकाल सक्ता हो, तो जीव संसार में मोहादि शत्रु से विजय पाता है। चुम्बकतुल्य ज्ञान बिना संग्राम में कैसे जीत सकता है ॥६२॥

हों ( मैं ) देशविदेश में ग्रामनगर की खोरि ( गलि ) में फिरा, परन्तु ऐसा मनुष्य बहुत नहीं मिला जो विवेकविचारादि सूप से फटक पछोर ( अनात्म को त्याग ) कर सार ही सार लेवे ॥६३॥

मैं चितवत हौं तोहि को, तूं चितवत किछु और ।
लानत ऐसे चित्त पर, एक चित्त दुइ ठौर ॥६४॥
वेद कहै सो नहिं करै, समुझै और कि और ।
चौरासी के धार में, कबहुं न पावै ठौर ॥६५॥
फेर परा नहिं अंग में, नहिं इन्द्रिन के माहिं ।
फेर परा है बूझ में, सो निरुआरैं नाहिं ॥६६॥

अहं त्वां चिन्तयाम्यङ्ग ! त्वं चेदन्यं निरीक्षसे ।
धिक् त्वच्चित्तं. यतो द्वैधे संदिग्धे संप्रवर्तते ॥२७-६४॥
कुरुते यो न वेदोक्तं सत्यात्मानं न पश्यति ।
जानाति विपरीतं चेत्संसाराब्धौ स घूर्णते ॥२८॥
सर्वयोनिषु स भ्रान्तो भ्रमन्न लभते स्थितिम् ।
कदाचिदपि कुत्रापि तस्माद्वेदोक्तमाचरेत् ॥२९-६५॥
वैपरीत्यं न चाङ्गेषु नेन्द्रियेषु च वर्तते ।
बुद्धौ तद्वर्तते येन विपरीतं प्रपश्यति ॥३०॥
हा नरः स हि निन्द्योऽत्र यो गत्वा गुरुसन्निधौ।
तं नाशयति नो मोहं लोभेन च विनश्यति ॥३१-६६॥

मै तेरा हित चितवत ( देखता-शोचता ) हूं, और तूं यदि औ कुछ शोचते हो, तो ऐसे तेरे चित्त पर लानत ( धिक्कार ) है, जो ए होते दो ठौर रहता है ॥६४॥

वेद जिस साक्षीस्वरूप अहिंसा सत्यादि का वर्णन करते हैं, उसके अनुभव आचरणादि जो नहीं करते, और अन्य वे अन्य ही समझते करते हैं, वे लोग चौरासी लक्षयोनिरूप ससार के प्रवाह में कहीं ठौर भी नहीं पाते हैं, निरन्तर इसीमें रहते हैं ॥६५॥

इनके अङ्गों या इन्द्रियों में फेर नहीं पड़ा है, स्वस्थ कायेन्द्रिय हैं, तो भी जो बूझ ( ज्ञान ) में फेर पड़ा है, उसका निरुआर ( निवारण ) नहीं करते हैं तो ठौर कैसे मिले ॥६६॥

तिमिर जाय रवि देखते, कुबुधि जाय गुरु ज्ञान ।
सुमति जाय एक लोभते, जामें भुला जहान ॥६७॥

सूर्यमाम्मुख्यतो यद्वत्तमो नश्यति तत्क्षणात् ।
गुरोर्लब्धेन बोधेन वैपरीत्यं मतेस्तथा ॥३२॥
एकेनैव तु लोभेन सुबुद्धिश्च विनश्यति ।
कामेन दारुणेनेह भ्रमन्ति भ्रान्तजन्तवः ॥३३-६७॥

जैसे सूर्य के देखते ( प्रगट होते ) ही अन्धकार नष्ट होता है तैसे ही सद्गुरु से ज्ञान की प्राप्ति होते ही कुबुद्धि जाती रहती है। और गुरुज्ञान का हेतु सुमति एक लोभ से नष्ट होती है, जिस लोभ में सब ससारी भूले हैं ॥६७॥

यह मन तो लोभी भया, खेत बिरानी खाय ।
वाका फल आगे मिले, काल घसीटे धाय ॥६८॥
बिगरी जन्म अनेक की, सुधरी अबही आय ।
जब गुरु आप कृपा करी, शब्द दियो परखाय ॥६९॥

इति श्रीसद्गुरुकबीरकृते महामोहनिष्प्रसने बीजकनाम्नि ग्रन्थे द्वादश साखिपरिशिष्ट प्रकरण समाप्तम् ॥

॥ समाप्तश्चाय बीजकग्रन्थ. ॥

लोभाऽऽक्रान्तं मनोऽभूत्तत्परस्वं क्षेत्रमत्ति च ।
फलं ह्यस्य मिलत्यग्रे कालः कर्षति वेगतः ॥६८॥
अनन्तजन्मतो नष्टा सुबुद्धिः सुस्मृतिर्धृतिः ।
यदा गुरोः कृपा जाता सारशब्देन साऽभवत् ॥६९॥६८,६९॥

इति साक्षिसाक्षात्कारपरिशिष्टे षष्ठी चितिः ॥६॥

लोगों का यह मन लोभी हुआ है, जिससे बिरानी ( अन्य के) स्त्रीधनादिरूप खेतों को खाया ( भोगा ) करता है, परन्तु इसका फल आगे अवश्य मिलता है कि जब काल धाय ( दौड़ ) कर पकड़ता और घसीटता है ॥६८॥

जब सद्गुरु ने स्वयं कृपा किया, और जिसे सारशब्द प्रदान दिया, तो उसके अनेक जन्म की बिगड़ी हुई बुद्धि-बात, अरही (बुद्धि) सुधर गई, लोभमोहादि स्वयं नष्ट हो गये । जितनी वस्तु अप्राप्त रही थी सब स्वयं प्राप्त हो गई ॥६९॥

नि गर्म ॥६॥

हृदय कमल के ... बुधि केर ।
रमता सकल ... गुरु मेर
बाहर भीतर ... दरशाव
राम

# अथोपसंहारः ।

कामः शत्रुः शरीरस्थो लोभस्तस्य प्रियः सुहृत् ।
क्रोधस्तस्य प्रियः पुत्रो मोहश्चाऽस्ति पिता तथा ॥१॥
अविद्या जननी तस्य ह्यहंकारस्तु बन्धुकः ।
कुबुद्धिर्भगिनी ज्ञेया भागिनेया मदादयः ॥२॥
भागिनेयी त्वसूया स्यादीर्ष्या तस्याः प्रिया सखी ।
विरोधशोकतापादि ह्येतेभ्यः संप्रवर्तते ॥३॥
अतः कामात्मता नैव प्रशस्ता सम्मता सताम् ।
अकामता न चेदस्ति थयेद्धर्मादिकामताम् ॥४॥
"कामेन स्वर्गमाप्नोति कामेन नरकं ततः ।
विधिना सेवितः कामः स्वर्गदः श्वभ्रमन्यथा" ॥५॥
धर्मे कामस्य भार्याऽस्ति श्रद्धा भक्तिश्च साधुषु ।
सच्छास्त्रेश्वरकर्माद्यौ मित्रं संतोष एव च ॥६॥
शमाद्यास्तनयास्तस्य विवेकश्च पिता मतः ।
विद्या सत्सङ्गतिर्माता नम्रत्वं बन्धुरेव च ॥७॥
सुबुद्धिर्भगिनी ज्ञेया सद्गुणो भागिनेयकः ।
क्षमाऽस्ति भागिनेयी चानभिध्याऽस्याः सखी मता ॥८॥
शमादिभ्यश्च जायेत यदि शानं कथञ्चन ।
तदा नश्यति वै कामः समूलो जगदान्ध्यकृत् ॥९॥
संकल्पाज्जायते कामः संकल्पो गुणबोधनात् ।
तस्य नाशो भवत्येव दोषाणामवलोकनात् ॥१०॥

लोभाऽऽक्रान्तं मनोऽभूत्तत्परस्वं क्षेत्रमत्ति च ।
फलं ह्यस्य मिलत्यग्रे कालः कर्षति वेगतः ॥३४॥
अनन्तजन्मतो नष्टा सुबुद्धिः सुस्मृतिर्धृतिः ।
यदा गुरोः कृपा जाता सारशब्देन साऽभवत् ॥३५-६८,६९॥

इति साक्षिसाक्षात्कारपरिशिष्टे षष्ठी त्रिति ॥६॥

लोगों का यह मन लोभी हुआ है, जिससे बिरानी ( अन्य के ) स्त्रीधनादिरूप खेतों को खाया ( भोगा ) करता है, परन्तु इसका फल आगे अवश्य मिलता है कि जब काल धाय ( दौड़ ) कर पकड़ता और घसीटता है ॥६८॥

जब सद्गुरु ने स्वयं कृपा किया, और जिसे सारशब्द परखाय दिया, तो उसके अनेक जन्म की बिगड़ी हुई बुद्धि-घात, अबही (तुरन्त) सुधर गई, लोभमोहादि स्वय नष्ट हो गये । जितनी वस्तु अप्राप्त रही सो सब स्वय प्राप्त हो गई ॥६९॥

इति षष्ठी त्रित्ति ॥६॥

हृदय कमल के कान्तवर, बीज विमल बुधि केर ।
रमता सकल जहान में, सो कबीर गुरु मेर ॥१॥
बाहर भीतर कमल मे, बसि बीजक दरशाय ।
रमिता राम मिलाइया, ताको लागौं पाँय ॥२॥
सबका हित कल्याणकर, बंध बीज करि चूर ।
रामत शुद्ध स्वरूप में, सो हनुमत गुरु पूर ॥३॥
इति द्वादश परिशिष्ट साखी प्रकरण सम्पूर्ण ।

## ॥ बीजक ग्रंथ समाप्त ॥

# अथोपसंहारः ।

कामः शत्रुः शरीरस्थो लोभस्तस्य प्रियः सुहृत् ।
क्रोधस्तस्य प्रियः पुत्रो मोहश्चास्ति पिता तथा ॥१॥
अविद्या जननी तस्य ह्यहंकारस्तु बन्धुकः ।
कुबुद्धिर्भगिनी ज्ञेया भागिनेया मदादयः ॥२॥
भागिनेयी त्वसूया स्यादीर्ष्या तस्याः प्रिया सखी ।
विरोधशोककृतापादि ह्येतेभ्यः संप्रवर्तते ॥३॥
अतः कामात्मता नैव प्रशस्ता सम्मता सताम् ।
अकामता न चेदस्ति श्रयेद्धर्मादिकामताम् ॥४॥
"कामेन स्वर्गमाप्नोति कामेन नरकं ततः ।
विधिना सेवितः कामः स्वर्गदः श्वभ्रमन्यथा" ॥५॥
धर्मे कामस्य भार्याऽस्ति श्रद्धा भक्तिश्च साधुषु ।
सच्छास्त्रेश्वरकर्मादौ मित्रं संतोष एव च ॥६॥
शमाद्यास्तनयास्तस्य विवेकश्च पिता मतः ।
विद्या सत्सङ्गतिर्माता नम्रत्वं बन्धुरेव च ॥७॥
सुबुद्धिर्भगिनी ज्ञेया सद्गुणो भागिनेयकः ।
क्षमाऽस्ति भागिनेयी चानभिध्याऽस्याः सखी मता ॥८॥
शमादिभ्यश्च जायेत यदि ज्ञानं कथञ्चन ।
तदा नश्यति वै कामः समूलो जगदान्ध्यकृत् ॥९॥
संकल्पाज्जायते कामः संकल्पो गुणबोधनात् ।
तस्य नाशो भवत्येव दोषाणामवलोकनात् ॥१०॥

दोषाणामवलोकेन मोहोऽपि जगतामरिः ।
अतत्त्वे तत्त्वधीहेतुर्लोभबीजं विनश्यति ॥११॥

तस्मिन्नष्टे स्वयं कामो निर्मूलः पादपो यथा ।
नश्यत्येव क्षणादस्मिन्नष्टे क्रोधो विलीयते ॥१२॥

इच्छाविघाते सत्येव क्रोधो द्वेषादिलक्षणः ।
जायतेऽनिच्छतश्चात्र क्रोधस्यावसरः कुतः ॥१३॥

विवेकवन्हिना दग्धे कामे क्रोधे समूलके ।
ईर्ष्यादयोऽपि नश्यंति विनश्यंति मदादयः ॥१४॥

एतेषां विलये शीले जाते वै मङ्गलात्मके ।
संसारे भगवानेष नित्यचैतन्यविग्रहः ॥१५॥

सर्वात्मा साक्षिसद्रूप आनन्दात्मा प्रसीदति ।
यतः कालादिजं दुःखं पुनर्नैवानुभूयते ॥१६॥

अर्थफलाज्जिते कामे क्रोधे कामविवर्जनात् ।
अर्थाऽनवेक्षया लोभे मोहे तत्त्वावमर्शनात् ॥१७॥

जेतव्यं शिष्यते नाऽत्र गुरौ भक्त्या च तद्भवेत् ।
सर्वशत्रुजये तस्माद्गुरोर्भक्ति हिं कारणम् ॥१८॥

अनन्तजन्मसंप्राप्तं वैपरीत्यमनर्थदम् ।
सम्यग्गुरुकृपालब्धबोधेनाशु विनश्यति ॥१९॥

ज्ञानं मृत्युहरं ह्येकं ध्यानमेक तु पावनम् ।
सत्संगो हि परानन्दो विचारः परमं पदम् ॥२०॥

सत्सङ्गः सुविवेकश्च परलोकभयं तथा ।
एतत्त्रयं भवेत्पुंसां लोकेषु भयनाशनम् ॥२१॥

संतोषः परमो लाभो ह्यहिंसा धर्म उत्तमः ।
रामादिश्च सतां मार्गो वैराग्यं मोक्ष उच्यते ॥२२॥

दोषैः सर्वैरसंसर्गो दाक्षिण्येन दयादिभिः ।
शीलादिसुगुणैः सङ्गः श्रैष्ठ्यमेतद्विधीयते ॥२३॥

सद्भक्तिः परमा सम्पद्विपत्तिर्मोहमत्तता ।
इत्यादिर्गुरुकारुण्यात्सद्विवेकोऽत्र लभ्यते ॥२४॥

यस्योपदेशसाम्राज्ये कामक्रोधादयोऽरयः ।
नश्यंत्यपुनरावृत्ति तं कबीरं भजाम्यहम् ॥२५॥

यस्य वाक्यात्सुमन्दोऽपि द्वन्द्वमुक्तो भवत्यलम् ।
स्वच्छन्दं तमहं वन्दे कबीरं भावभास्करम् ॥२६॥

यस्य वाक्यसुधायाश्च सङ्कृत्पानाद् बुधोऽमरः ।
जायते च सुधा विश्वं तं कबीरं भजाम्यहम् ॥२७॥

सर्वभावात्मकं यद्वा सर्वभावात्परं च यः ।
एकं सत्यं हरिं रामं प्राह तं संश्रयाम्यहम् ॥२८॥

स्वल्पाक्षरैश्च येनोक्तो वेदसारो जगद्धितः ।
हिंसाकल्कादिसंशुद्धमास्तिकस्तं श्रयेन्न कः ॥२९॥

यत्प्रकाशाच्च सत्ताया ब्रह्मविष्णुहरादयः ।
अवतारान् प्रतन्वन्ति दिशन्तं तं भजाम्यहम् ॥३०॥

गुणभेदेन यद्भिन्नं ब्रह्मविष्णुहराभिधाम् ।
धत्ते तत्संदिशन्तं वै कबीरं गुरुमाश्रये ॥३१॥

साक्षात्कारेण तुष्टोऽस्तु साक्षिणः परमेश्वरः ।
सर्वभूतानि संपातु तुष्यन्तु गुरवो मम ॥३२॥

दापयेत्परमात्माऽसौ भूतेभ्यश्चाभयं मया ।
मह्यं च प्रापयेदेव भूतैस्तत् स्वस्य बोधतः ॥३३॥

न स्यान्मे हि भयं केभ्यो मत्तो मास्तु भयं कचित् ।
एवं चेत्स्याच्छरीरेण निःशरीरेण किं भवेत् ॥३४॥

दीक्षाप्रदं गुरुं वन्दे श्रीमोहनमहोदयम् ।
यत्कृपाङ्घ्रिपातेन मुक्तोऽस्मि लोकबन्धनात् ॥३५॥
गुरुश्रीरमितापादौ वन्दे विघ्नहरौ शुभौ ।
यत्कृपालेशमात्रेण त्रातोऽस्मि संशयग्रहात् ॥३६॥
श्रीलं हरिहरं वन्दे शास्त्रग्रन्थिप्रदर्शकम् ।
प्राज्ञं विघ्नहरं शुद्धं लोकमान्यं महोदयम् ॥३७॥
देवी कुन्नेमणी यं हि श्रीरामश्च सुभक्तिमान् ।
कार्यं सुकल्पयामास तेनेदं भणितं मया ॥३८॥
नाहं देहो न वै प्राणो मनो बुद्धीन्द्रियाणि नो ।
साक्षिरूपश्चिदात्माऽहं कर्तोपाधिसमाश्रयात् ॥३९॥
अहंकारेण चाभासाद्रागद्वादिमयोऽप्यहम् ।
कुर्वंश्च मननाद्येवं करोमि नैव साक्ष्यहम् ॥४०॥

यत्कृपातो ह्यहं ब्रह्म न जीवो मृत्युगोचरः ।
तान् गुरुन् सुकृतीन् वन्दे देवाञ्छास्त्रैः सहेश्वरान् ॥४१॥
वन्दे वेदान्तसंवेद्यं लभ्यं सद्गुरुभाषितैः ।
विशुद्धं सद्गुणागारं निष्कलं सर्वचित्तमम् ॥४२॥
धृत्वा हृदि हरिं सत्यं ध्यात्वा गुरुपदाम्बुजम् ।
मुमुक्षवोऽनया लब्ध्या नावेव टीकया परम् ॥४३॥
बीजकाब्धेः सुखं पारं लभन्तां चामृतं ततः ।
शान्ताः सुचरिताः प्राज्ञाः सुजना ये समाहिताः ॥४४॥
स्वात्मनोऽनुभवो यस्माज्जायेताञ्जसा सताम् ।
तस्माद्धि स्वानुभूत्याख्या व्याख्यैषाऽभूदविघ्नतः ॥४५॥
भास्वत्येषा गुरोर्वाक्यैः संसर्गादगुणा अपि ।
यथा सूर्यप्रभायोगाद् भाति लोके स चन्द्रमाः ॥४६॥
भवन्तु सुखिनो लोका गततापा विकल्मषाः ।
प्रेमक्षेमयुता विज्ञा जीवन्मु[illegible]ः स[illegible]र्मिकाः ॥४[illegible]

दीक्षाशिक्षाप्रदान् वन्दे विद्यादातॄन् सुसज्जनान् ।
पूज्यान् सर्वान् नमस्यामः कुर्वन्तु श्रोतृमङ्गलम् ॥४८॥
वक्तॄणां मंगलं भूयाच्छ्रोतॄणां सर्वदेहिनाम् ।
यथा तथैव कुर्वन्तु सर्वे पूज्याः सहेश्वराः ॥४९॥

इतिसद्गुरुकबीरचरणकमलभृङ्गश्रीमोहनश्रीरमितागुरुचरणदासश्रीहरि-
हरबुधान्तेवासिहनुमद्दासकृतः साक्षिसाक्षात्कारः समाप्तः ॥
समाप्ता च स्वानुभूतिव्याख्या ॥ मङ्गलं भूयात् ॥

## अवश्यं द्रष्टव्यो विषयः।

२४ पृष्ठे १२ पंक्तौ चितिशब्दस्य 'चिती सञ्ज्ञाने' इति भौवादिकाद्धातोः 'सर्वधातुभ्य' इन्, इगुपधात् कित् इत्यौणादिकेन्प्रत्ययेन ज्ञानार्थे साधुत्वं बोध्यम् ॥१॥

४३२ पृष्ठे १८ पंक्तौ क्षुब्धशब्दस्य क्षुब्धस्वान्तेत्यादि नियमसूत्रेण मन्थादन्यत्रार्थे क्षुभितेति युक्तत्वेऽपि क्षुब्धो राजेतिवदागमशास्त्रस्यानित्यत्वेन साधुत्वमेवंततुमित्यादावपि॥२॥

४५२ पृष्ठे २० पंक्तौ संचिन्तयानशब्दस्यापि मुगागमशास्त्रस्यानित्यत्वेन साधुत्वम् । सम्यक्चिन्ता यस्य स संचिन्तः, यातीति विग्रहे नन्द्यादित्वाल्ल्युट्प्रत्ययान्तो यानः । संचिन्तश्चासौ यान इति रीत्यावा साधुत्वम् ॥३॥

४६४ पृष्ठे १२ पंक्तौ रामकृष्णौ व्रदन्तीत्यत्र इतिशब्दस्याध्याहारः कर्तव्यः ॥४॥

४८३ पृष्ठे १३ पंक्तौ सर्वविश्वशब्दस्य सर्वे विश्वनामनो जीवा यस्मिन् स विराट् संसारो वेति रीत्या साधुत्वम् ॥५॥

सत्यनाम।

# संस्कृत बीजक के ग्राहकों के शुभनाम।

यह निवेदन करते हुए मुझे अत्यंत हर्ष होता है कि मेरी वि
प्रार्थना पर ध्यान देकर बहुत से महात्माओं ने तथा प्यारे बंधुओं
प्रथम से मनीआर्डर द्वारा रुपया भेजकर और बीजक के ग्राहक बन
मेरे उत्साह को बढ़ाया है। मैं उनका हृदय से कृतज्ञ हूं। उनके शुभन
यहां पर सधन्यवाद प्रकाशित किये जाते हैं।

इनमें कराची के स्वनामधन्य श्रीमान् १०८ महंत साहेब स्वामी
बालकृष्णदासजी साहेब विशेष आदरणीय हैं। आप एक साथ
ग्रंथ के ग्राहक बने, इससे मुझे बहुत प्रोत्साहन मिला है। आप
इस अनुकंपा के लिये मैं बहुत उपकृत हुआ हूं। आपकी यह साहित
सेवा सर्वथा स्तुत्य और आदर्शरूप है। वैसे ही करखडी के योगसाध
श्री मोहनदासजी साहेब, राजकोट के छोटे महंतश्री माणेकदासजी साहे
तथा कुंडल के महंतश्री हनुमानदासजी साहेब ने भी पांच२ और
ग्रंथों के ग्राहक होकर मुझे प्रोत्साहित किया है। मैं आप लोगों का
कृतज्ञ हूं और अन्य भाइयों का भी कि जिन्होंने इस ग्रंथ को अपनाक
अमूल्य मदद की है।

अपनी इस अपूर्व कृति को जनता के लाभार्थ स्वामी श्री
हनुमानदासजी साहेब पडुआरी ने सर्वाधिकार और स्वत्वाधिकार के

| | | | |
|---|---|---|---|
| १४ | श्री. | भक्त योभनभाई मूलजीभाई, वडोदरा | १ |
| १५ | ,, | छोटे महंतश्री नारायणदासजी साहेब, खेडा | ,, |
| १६ | ,, | छोटालाल नरसीभाई, वडोदरा | ,, |
| १७ | ,, | महन्तश्री ईश्वरदासजी साहेब, पैन | ,, |
| १८ | ,, | सरजुगदासजी, लक्ष्मीपुर बगीचा | ,, |
| १९ | ,, | चटकदासजी कबीरपंथी भगत, चौपारा | ,, |
| २० | ,, | शेठ भगवानदास मगनलाल, वडोदरा | ,, |
| २१ | ,, | श्रीमान् लाला हरनामदास पेन्सनर, वेजवाडा | ,, |
| २२ | ,, | प. मुरलीधर, नई देहली, | ,, |
| २३ | ,, | बाबू महावीरप्रसाद वर्म्मा, हरक | ,, |
| २४ | ,, | साधु कञ्चनदासजी साहेब, गरेज | ,, |
| २५ | ,, | साधु गंगादासजी क. प., शागनगर | ,, |
| २६ | ,, | उमरावदास साध, बरेठ | ,, |
| २७ | ,, | मास्तर नरसिंहदास वालजीभाई, पोरबंदर | ,, |
| २८ | ,, | महतश्री सुखदेवदासजी साहेब, परवता | ,, |
| २९ | ,, | गयादास मुकुन्दीलाल क. प., सागर | ,, |
| ३० | ,, | गोरेलाल तेजीलाल, कान्हीवाडा | , |
| ३१ | ,, | म० तोतारामदासजी साहेब, भद्धआ | , |
| ३२ | ,, | पा. माधवभाई कीलाभाई, मुवाल | |
| ३३ | ,, | गुंददासी बाई, बनारस | |
| ३४ | ,, | महंत हरिदासजी साहेब, पावा | |
| ३५ | ,, | आत्मानन्द, फतेहगढ | |
| ३६ | ,, | दूधशाला त्रीकमलाल जमनादास, वडोदरा | |

| | | | |
|---|---|---|---|
| १४ | श्री. | भक्त धोमनभाई मूलजीभाई, वडोदरा | १ |
| १५ | ,, | छोटे महंतश्री नारायणदासजी साहेब, खेडा | ,, |
| १६ | ,, | छोटालाल नरसीभाई, वडोदरा | ,, |
| १७ | ,, | महन्तश्री ईश्वरदासजी साहेब, पेन | ,, |
| १८ | ,, | सरजुगदासजी, लक्ष्मीपुर बगीचा | ,, |
| १९ | ,, | चटकदासजी कबीरपंथी भगत, चौपारा | ,, |
| २० | ,, | शेठ भगवानदास मगनलाल, वडोदरा | ,, |
| २१ | ,, | श्रीमान् लाला हरनामदास पेन्सनर, वेजवाड़ा | ,, |
| २२ | ,, | प. मुरलीधर, नई देहली, | ,, |
| २३ | ,, | बाबू महावीरप्रसाद वर्म्मा, इरक | ,, |
| २४ | ,, | साधु कंचनदासजी साहेब, गरेज | ,, |
| २५ | ,, | साधु गयादासजी क. प., सागनगर | ,, |
| २६ | ,, | उमरावदास साध, बरेठ | ,, |
| २७ | ,, | मास्तर नरसिंहदास वालजीभाई, पोरबंदर | ,, |
| २८ | ,, | महंतश्री सुखदेवदासजी साहेब, परवता | ,, |
| २९ | ,, | गयादास मुकुन्दीलाल क. प., सागर | ,, |
| ३० | ,, | गोरेलाल तेजीलाल, कान्हीवाडा | ,, |
| ३१ | ,, | म० तोतारामदासजी साहेब, मलुआ | ,, |
| ३२ | ,, | पा. माधवभाई कीलाभाई, मुवाल | ,, |
| ३३ | ,, | गुरुदासी बाई, बनारस | ,, |
| ३४ | ,, | महंत हरिदासजी साहेब, पावा | ,, |
| ३५ | ,, | आत्मानन्द, फत्तेहगढ | ,, |
| ३६ | ,, | दूधवाला त्रीकमलाल जमनादास, वडोदरा | ,, |

---